सम्पूर्ण जीवन दर्शन

भाग – १०
(जीवन विवेचन)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹ 2500

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।

सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

विषय सूची

प्रवचन(83)....1
प्रवचन(84)....9
प्रवचन(85)....18
प्रवचन(86)....24
प्रवचन(87)....31
प्रवचन(88)....41
प्रवचन(89)....46
प्रवचन(90)....52
प्रवचन(91)....58
प्रवचन(92)....67
प्रवचन(93)....75
प्रवचन(94)....82
प्रवचन(95)....89
प्रवचन(96)....98
प्रवचन(97)....104
प्रवचन(98)....109
प्रवचन(99)....116
प्रवचन(100)....121
प्रवचन(101)....125
प्रवचन(103)....135
प्रवचन 1....140
प्रवचन 2....148
प्रवचन 3....155
प्रवचन 4....165
प्रवचन 5....174
प्रवचन 6....183
प्रवचन 7....191
प्रवचन 8....200
प्रवचन 9....208
प्रवचन 10....216
प्रवचन(11)....224
प्रवचन(12)....232
प्रवचन(13)....241
प्रवचन(14)....249
प्रवचन(15)....257
प्रवचन(16)....265
प्रवचन(17)....273
प्रवचन(18)....281
प्रवचन(19)....291
प्रवचन(20)....298
प्रवचन 1....306
प्रवचन 2....313
प्रवचन 3....319
प्रवचन 4....327
प्रवचन 5....330
प्रवचन 6....336
प्रवचन 7....342
प्रवचन 8....344
प्रवचन 9....355
प्रवचन 10....359
प्रवचन(11)....365
प्रवचन(12)....375
प्रवचन(13)....383
प्रवचन(14)....390
प्रवचन(15)....399
प्रवचन(16)....406
प्रवचन(17)....415
प्रवचन(18)....424
प्रवचन(19)....433
प्रवचन(20)....441

प्रवचन(83)

उपस्थित महानुभव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग मानव हैं और मानव होने के नाते साधक हैं और साधक के जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसे अपने वर्तमान में सिद्धि मिलनी चाहिए। वर्तमान में सिद्धि मिलने का अर्थ क्या है? कि आज हम अपने वर्तमान क्षण को देखें। थोड़ी देर के लिए अकेले होकर अपने सम्बन्ध में विचार करें तो ऐसा मालूम होता है कि स्वतः अपने आप में ऐसा भरपूर नहीं लगता है कि हम अकेले शान्तिपूर्वक, आनन्दपूर्वक रह सकें। अकेले होने पर यदि थोड़ी देर के बाद जी ऊबता है और ऐसा लगता है कि कहीं घूमने चलें, किसी से मिलने चलें या कुछ करने लग जाएँ तो इसका अर्थ यह है कि भीतर अभाव है और वह अभाव की पीड़ा अपने को सहन नहीं होती, अच्छी नहीं लगती। जी बहलाने का हम बाहरी आधार कुछ खोजने लगते हैं। ऐसा होना तो नहीं चाहिए। होना चाहिए ऐसा कि जब संसार के साथ संयोग बने तो हम उसके काम आएँ, उसको सहयोग दें, उसके प्रति सद्भाव रखें। ईश्वर विश्वासी हैं तो अपने प्यारे प्रभु की लीला देखें, ऐसा होना चाहिए और यदि संसार के साथ हम नहीं है, उसके काम आने का अवसर नहीं है, उसको सहयोग देने का अवसर नहीं है, तो अकेले होने पर, शान्त होने पर जीवन अपने आप में इतना पूर्ण होना चाहिए, अपने आनन्द में इतनी मस्ती रहनी चाहिए कि शरीर और संसार की याद भी न आए। सच्ची बात तो यही है।

अब जब तक स्वतः अपने आप में हमें भरापूरा नहीं लगता, अभाव सताता है, अपने से भिन्न की जरूरत महसूस होती है, तो इसका अर्थ है कि हम अभाव से पीड़ित हैं। साधक के जीवन की सफलता क्या है? साधक के जीवन की सफलता यह है कि शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ जो मिली हैं, बल मिला है, ये सब संसार के काम आ जाएँ। हमारे पास जो कुछ है, वह संसार के काम आ जाए और हमें स्वयं अपने लिए शरीर और संसार की आवश्यकता न रहे इसी को साधक के जीवन की सफलता कहते हैं। इसी को विकास कहते हैं।

आज अपनी दशा सोचकर देखा जाए कि कैसा लगता है? क्या हमारे पास जो कुछ है, वह जगत् के काम आ गया? क्या यह जीवन सब प्रकार से संसार के लिए उपयोगी हो गया, हितकर हो गया? क्या बिना शरीर और संसार की सहायता के अपने आप में, अपने आनन्द में रहना आ गया? यदि ऐसा लगता है कि मेरे पास जो कुछ है, वह संसार के लिए हितकारी कार्य में लग गया, क्योंकि इन सब तत्त्वों की आवश्यकता संसार को है, तो ऐसा जो व्यक्तित्व होता है, वह संसार के काम आता है, उसकी आवश्यकता संसार महसूस करता ही है। और विकसित जीवन का अर्थ होता है कि अपने और शरीर के लिए संसार की आवश्यकता न रहे।

व्यक्ति को जब अभाव सताता है तो विचार के आधार पर विवेक के प्रकाश में वह अपने जीवन का अध्ययन करता है और उस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो व्यक्ति अपने से भिन्न, पराश्रय के द्वारा अपने को पूर्ण बनाना पड़ेगा, वह कभी भी निश्चिन्त और निर्भय नहीं हो सकेगा। 'स्व' से भिन्न 'पर' का

आश्रय लेना, इस जीवन का बहुत बड़ा अनादर है। हम सभी, मानव होने के नाते इस जीवन में जो अभाव सताता है, उस अभाव को मिटाने के लिए जीवन के सत्य की चर्चा करने यहाँ बैठे हैं। तो अभाव का अभाव कैसे होता है? इस पर विचार कर लें।

मानव का जो अपना व्यक्तित्व है, उसमें क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति और विचार-शक्ति ये तीनों प्रकार की शक्तियाँ जन्म-जात है। यदि हम ऐसा मानते हैं कि हमारा जीवन-दाता हमारा रचयिता परमात्मा है, तो हमें ऐसा भी मानना चाहिए कि उन्होंने हमाारे व्यक्तित्व की रचना में ही इन तीनों प्रकार की शक्तियों को देकर बनाया है। तो क्रिया-शक्ति का सदुपयोग किया जाए। उपयोग क्या है? कि कोई भी कर्म अपना विवेक विरोधी न हो। संसार के लिए किसी भी प्रकार से अहितकर न हो। साधना के जीवन का आरम्भ ही तब होता है जब हम विवेक विरोधी कर्मों का त्याग करते हैं। किसी भी प्रकार से किसी भी प्राणी को क्षति पहुँचाने वाला कोई भी काम हमारे द्वारा नहीं होना चाहिए। यह पहली बात हो गई।

दूसरी बात क्या है? कि जो भी दृश्य-जगत् अपने सामने दिखाई दे रहा है, उस दृश्य-जगत का कोई अंश ऐसा नहीं है, जो सदा के लिए हमारा साथ दे सके। इसका परिचय आपने संसार में रहते हुए पाया ही है। ऐसा कोई दृश्य हो ही नहीं सकता जो सदा के लिए आपका साथ दे सके। दूसरी बात तो दार्शनिक सत्य है, वह यह है कि जो आपका दृश्य बन सकता है वह जीवन नहीं हो सकता। जीवन का दृश्य नहीं बनता। जो जीवन है, वह सत्य है। जो 'स्व' है, वह 'स्व' में ही है, उसका दृश्य नहीं बनता है। इससे यह अर्थ निकला कि जिसका दृश्य नहीं बनता है। इससे यह अर्थ निकला कि जिसका दृश्य बन सकता है अर्थात् जो मेरी इन्द्रियों का विषय बन सकता है, जो मेरी बुद्धि का विषय बन सकता है, वह जीवन नहीं है।

इससे स्पष्ट हो गया कि जो दृश्य बन गया वह हमारा जीवन नहीं है, वह सदा के लिए हमारे साथ रह नहीं सकता और वह हमारे अन्त£नहित अभाव को मिटा भी नहीं सकता। उसमें हम सदा के लिए सन्तुष्ट रह भी नहीं सकते। फिर भी, जब हम देखे हुए जगत् के महत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं, उसके संयोग-जनित सुख से, अपने भीतर के अभाव को ढक देना पसन्द करते हैं, तो इसमें अपने को सफलता नहीं मिलती है। थोड़ी देर तो अच्छा लगता है। भीतर से अभाव सता रहा है और उसकी पीड़ा से बचने के लिए दृश्य-जगत् में कुछ-कुछ वस्तुओं को, कुछ-कुछ व्यक्तियों को, कुछ-कुछ परिस्थितियों को पसन्द कर लेते हैं और उनके संयोग से सुख लेना चाहते हैं, तो इस प्रयास में व्यक्ति को सफलता नहीं मिलती। संयोग-जनित सुख थोड़ी देर के लिए सुख मालूम होता है, कुछ देर के बाद वह अप्रिय लगने लगता है, और कुछ देर के बाद वह छूट जाता है अथवा छोड़ने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह आपकी जानी हुई बात है कि नहीं? ऐसा कभी अनुभव किया ही होगा। हमेशा से एक ऐसा स्वभाव ही है।

इस पर अनुभवी संत ने परामर्श दिया कि हम मानव हैं और मानव होने के नाते, इस बात को अपने आप जानते हैं कि संसार में जहाँ-जहाँ हमने संयोग-जनित सुख पसन्द किया, उससे जीवन का अभाव मिटा नहीं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह बताया गया, कि अभाव का कष्ट जो है, वह उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। कैसे बढ़ता जाता है? कि परिस्थिति सदैव एक-सी रह नहीं सकती, वस्तु

व्यक्ति का संयोग सदा के लिए हो नहीं सकता। जो सदा के लिए हमारे साथ नहीं रह सकता, उसको हमने पसन्द किया, उसमें हमने सुख माना तो हमारे सुख मानने के प्रभाव से उनका राग अपने में अंकित हो जाता है। वस्तुओं और व्यक्तियों के संयोग का जो एक सुखद भास हमको होता है, उसका एक प्रभाव अहं में अंकित हो जाता है। परिस्थिति बदल जाती है और उसमें जो सुख माना था, उसका एक राग अपने में रह जाता है। क्या होता है फिर? परिस्थिति के चले जाने पर रह-रहकर उसकी याद आती है। और अभाव सताता है, किसी व्यक्ति का संयोग अपने को बहुत प्रिय लगा, उसमें सुख माना, फिर व्यक्ति का संयोग तो वियोग में बदल जाता है, मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि जब हमने सुख माना, तो उसका प्रभाव हमारे अहं में अंकित हो गया। जब परिस्थिति बदल गई, व्यक्ति का संयोग छूट गया तो वियोग हो गया। वह हमसे दूर चला गया अथवा उसका शरीर नाश हो गया। चाहे जो भी हुआ हो, संयोग तो वियोग में बदल गया परन्तु संयोग-जनित सुख का राग जो मस्तिष्क में रह गया, वह बार-बार ध्यान में आएगा। रह-रहकर उसकी याद आएगी। फिर सुख को अपनाने की अनेक प्रकार से कामनाएँ उत्पन्न होती रहेंगी और वो मिलेगा फिर वैसा कभी नहीं। तो भाव भरेगा कि अभाव सताएगा? जी? यही होता है, यह जीवन का सत्य है।

तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि इस बात को पुस्तक में से पढ़ना पड़ेगा, दूसरों से सलाह लेनी पड़ेगी, कि विश्वविद्यालय की डिग्री लेनी पड़ेगी? भैया! जो जीवन तुम दिन-रात संसार में बिता रहे हो, उसी में से इस सत्य को जान लेते हो कि नहीं? जाने लेते हैं। तो जान लेने की जीवन दाता ने जो शक्ति प्रदान की, उस शक्ति के आधार पर जब आपने इस सत्य को जान लिया कि दृश्य-जगत् में से कोई भी दृश्य ऐसा नहीं है जो सदा के लिए मेरा साथ दे सके तो फिर उसके संयोग के सुख में अपने को बहलाने का कोई अर्थ नहीं निकलता है। जब जानते हैं कि सदा के लिए यह बना नहीं रहेगा तो उसको अपने जीवन का आधार बनाने का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य होकर अपनी जो जानकारी है, उस जानकारी से लाभ नहीं उठाना, यही असत् का संग है।

सत्संग क्या है? सत्यंग यह है कि जीवन की घटनाओं ने जो जानकारी हमें दी, उस जानकारी से हम लाभ उठाएँ। क्या करें? जब यह स्पष्ट है कि कोई भी दृश्य सदा के लिए सुख नहीं लगता, सदा के लिए उसका संयोग बना नहीं रह सकता, तो जितना-जितना उसके संयोग-जनित सुख को लेंगे हम, उतना ही अधिक-अधिक भीतर से अभाव बढ़ता जाएगा, असमर्थता बढ़ती जाएगी, नीरसता बढ़ती जाएगी।

अब मान लीजिए कि कोई भी परिस्थिति जो आपको अति सुखद लग रही थी, वह बदल गई तो परिस्थितियाँ तो बदलती ही हैं, स्थिर रह नहीं सकतीं, तो बदल जाने के बाद यदि उसी परिस्थिति के सुख को आप याद करते रहें, उसी को पाने के लिए तरसते रहें, उस परिस्थिति को पा भी नहीं सकेंगे और उसके चिन्तन से छूट भी नहीं सकेंगे, तो यह सामर्थ् की पहचान है कि असमर्थता की। यह असमर्थता हम लोगों ने, अपने द्वारा अपने जीवन में अनुभव की है। तो अभाव हो गया, असमर्थता हो गई, नीरसता हो गई।

संसार की ऊँची परिस्थिति को अपने सामने रखकर देख लीजिए। उसमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो आपको अभाव से मुक्त कर सके,

नीरसता से मुक्त कर सके। जितना ही अधिक भोगे हुए सुख और अतृप्त वासनाओं का प्रभाव होता है मस्तिष्क में, उतना ही व्यक्ति अपने को असमर्थ पाता है; अभाव ओर नीरसता से पीड़ित पाता है तो आप सभी विचारशील व्यक्ति जिस परिस्थिति में हैं, जहा पर हैं, उसी परिवेश में अपने को रखकर देखिए कि जितना समय जीवन का बिताया, उसमें कौन-सी ऐसी उपलब्धि हुई अपनी जो कि इस नीरसता, असमर्थता और अभाव से मुक्त कर दे। ऐसी कोई उपलब्धि हुई क्या? ऐसा सोच करके देखिए।

पहले साधारण वर्ग के व्यक्ति थे। अब पुरुषार्थ किया, प्रारब्ध ने कुछ साथ दिया, अधिक सम्पत्तिशली हो गए। तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि भैया, तीन बटे चार को, पिचहत्तर बटे सौ कर लिया तुमने, तो तुम्हारा मूल्य कुछ बढ़ गया क्या? पहले थोड़ा झंझट था अब ज्यादा कर लिया। पहले थोड़ी वस्तुएँ पास में थीं, अब अधिक विस्तार हो गया। तो ठीक है, ज्ञान के प्रकाश में देखिए कि ये वस्तुएँ मेरे काम नहीं आएँगी। मृत्यु का भय बना हुआ है तो वस्तुओं के संग्रह से मृत्यु का भय नहीं मिटेगा। वस्तुओं के संग्रह से भीतर का अभाव नहीं मिटा, वस्तुओं के संग्रह से नीरसता और असमर्थता का नाश नहीं हुआ तो मनुष्य होने के नाते विचार के प्रकाश में इन बातों को देखकर यदि आपने साधना का दृष्टिकोण अपना लिया अर्थात् आयी हुई वस्तुएँ किस काम के लिए हैं, मुझको हृदय से उदार हो करके प्राप्त वस्तुओं का पीड़ित जनों की सेवा में सदुपयोग करना चाहिए, यदि विचार से आपने काम ले लिया तो वस्तु का मूल्य आपकी दृष्टि में घट जाएगा और वस्तुओं के सदुपयोग से आपका चित्त उदार हो जाएगा, शुद्ध हो जाएगा। तो साधना आरम्भ हो गई।

आयी हुई सुखद परिस्थिति ने हमारे भीतर सुख-भोग के परिणाम से पराधीनता और असमर्थता को बढ़ाया था। इस बात को आपने अपने द्वारा जाना। अब क्या करेंगे? अब आयी हुई सुख परिस्थिति का दुखियों की सेवा में सदुपयेग करके हम परिस्थितियों के ऊपर उठेंगे, अर्थात् हृदय को उदार बनायेंगे, चित्त को शुद्ध बनायेंगे, तो साधना आरम्भ हो गई। वस्तुओं का आना बुरा नहीं है, सम्पत्ति का आना गलत नहीं है, शक्ति की वृद्धि में कोई बोझ नहीं है यदि शक्ति की वृद्धि हो, सम्पत्ति की वृद्धि हो, वस्तुओं का उत्पादन हो, तो वो शरीरों की सेवा में लग जाए ओर निःस्पृह भाव से लग जाए और इस बात की पक्की जानकारी लेकर यदि आप उनका सदुपयोग कर डाले कि ये संसार की वस्तुएँ यहीं रहेंगी, मेरे साथ जाएँगी नहीं, इनसे मेरा काम बनेगा नहीं, ये तो प्रकृति के विधान से मेरे पास आयी हैं, केवल इसलिए कि मुझे अपने चित्त को शुद्ध करना है, मुझे इनके लोभ से मुक्त होना है, मुझे इनके संयोग के सुख की आसक्ति से मुक्त होना है, तो सुख की आसक्ति से मुक्त होने के लिए सुख-भोग की वासना का त्याग करके, उदारता पूर्वक यदि प्राप्त बल का सदुपयोग दुर्बलों की सेवा में कर डालें तो आप साधक हो गए। और सब सुख के साधन मेरे ही काम आएँ, परिवार के ही काम आएँ और एक पीढ़ी का इन्तजाम हो गया तो दो चार पीढ़ी का इन्तजाम हो जाना चाहिए, अगर यही भ्रम घेरे हुए है आपको तो फिर तो साधना नहीं बनेगी। आप शान्त होना पसन्द करेंगे, अकेले बैठेंगे तो वही चिन्ता आपके मस्तिष्क को घेर कर रखेगा। तो

दिन में कार्य करते समय वही चिन्तन अपने में भरा है। शान्त होते समय उसी का चिन्तन सताता है। गहरी निद्रा में सोते समय स्वप्न में वही भरा हुआ है। तो जो बन रहा है, बदल रहा है, बिगड़ रहा है, मिट रहा है, जिसका नाम संसार है, जिसका नाम दृश्य है, सब समय मैंने उसी के साथ अपने को मिलाकर रखा तो-ईश्वर अंश जीवन अविनाशी' कहने का कोई अर्थ नहीं निकलता है। अपने ही स्वतंत्र अस्तित्व जिसका कि कभी नाश नहीं होता उस सत्ता के रहते हुए भी मृत्यु के भय से भयभीत रहने से दुःख कभी मिटेगा नही। अनुभवी सन्त जन सलाह देते हैं और जब-मैंने महाराजजी के पास बैठकर अपनी दुःख निवृत्ति का उपाय पूछा और उनके बताए हुए उपाय को मै किस तरह से अपने जीवन पर लागू करूँ इस विषय में अधिक-अधिक विचार करने लगी तो मुझे एक बड़ी बात मालूम हुई जो कि पहले नहीं मालूम थी। संत मिलन से पहले मुझे उस बात का पता नहीं था।

स्वामीजी महाराज की शरण में बैठकर मैंने यह पाया कि मनुष्य जो है वह पूरा का पूरा भौतिक तत्त्वों से बना हुआ नहीं है। शरीरों का भाग जो कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर है—ये तो भौतिक तत्त्वों से निर्मित है, लेकिन वह कहता है कि ये शरीर मेरे हैं। वह स्वयं भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं है। अगर भौतिक तत्त्वों का बना हुआ होता तो भौतिक जगत् के सम्बन्ध में उसमें प्रश्न नहीं उठता कि संसार क्या है? भौतिक तत्त्व जो हैं, वे भौतिक तत्त्वों के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करते। लेकिन आप जब देखते हैं संसार की परिवर्तनशीलता को जब आप देखते है, अपनी बनी बनाई योजना को फेल होते हुए, तो आपके भीतर प्रश्न उठता है कि यह सब क्या है? तो इसका अर्थ है कि मनुष्य केवल भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं है। फिर मेरे ध्यान में आया कि स्वामीजी महाराज यह सलाह देते हैं कि भाई, यह दृश्य जगत् तुम्हारे काम नहीं आएगा। यह तुम्हारे काम की चीज नहीं है। तुम्हारी नहीं, तुम्हारे लिए नहीं है। ऐसा उन्होंने बारम्बार कहा। तो ध्यान देने से एकदम बात समझ में आ गई कि मेरी उत्पत्ति उस अनन्त तत्त्व से हुई है जो अविनाशी है, अनन्त है, सत्य स्वरूप है, आनन्द-स्वरूप है, शान्ति स्वरूप है और प्रेम स्वरूप है। उसमें से हम भाई बहनों की उत्पत्ति हुई है। उन्होंने अपने ही में से हम सब भाई बहनों को बनाया है।

फिर जब मैंने शरीर के साथ अपने को मिला लिया तो शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यवहार करने पर दृष्टि गई। तो मुझे दृश्य जगत् की आवश्यकता महसूस होने लग गई। मेरे पास एक शरीर है और उसमें बहुत प्रकार की कमी है और मेरे सामने एक विशाल सृष्टि है और शरीर की कमी को पूरी करने की बहुत सी सामग्री इस संसार में हैं, तो मुझसे बड़ी भारी भूल यह हो गई कि शरीर की कमियों को दूर करने के लिए, उसकी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए, संसार के साथ निपटने में ही मैंने बहुत सारा समय निकाल दिया। मुझे स्वयं क्या चाहिए, इस पर ध्यान ही नहीं गया। तो कितने प्रकार के विकार उत्पन्न हो गए, दीनता-हीनता आ गई, कहीं अभिमान आ गया, कहीं राग बन गया, कहीं द्वेष बन गया। इतनी बीमारियाँ लग गईं कि उस बेचैनी में भीतर विश्राम नहीं मिलता।

जब संत ने मुझे सुझाव दिया कि यह सब तो तुम्हारा है नहीं। और यह सब तुम्हारे काम आएगा नहीं, तो मुझे स्पष्ट दिखाई देने लग गया कि मैं उस अनन्त तत्त्व के समान ही अविनाशी

स्वरूप, अविनाशी सत्ता रखती हूँ। तो फिर क्या बात हो गई? तो बात केवल इतनी सी है कि मैं सभी भाई-बहिनों को आज ईमानदारी से यह सलाह देती हूँ कि दिन का सुबह से शाम तक का अपना रूटीन देख लीजिए। सोने से पहले थोड़ा सा अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिए तो आपको स्पष्ट पता चल जाएगा कि सारा समय और सारी शक्ति, मैने शरीर और संसार के ।करनेजउमदज में बिताया है, इन्हीं दोनों के अभियोजन में बिताया है कि अपने अविनी स्वरूप में स्थित होकर उसमें जो स्वयं का आनन्द है, उस आनन्द को अनुभव करने को भी कोई समय दिया क्या? अगर दिया होता तो दुःखों का अंत हो जाता, मृत्यु का भय चला गया होता, अभाव का अभाव हो गया होता। सब प्रकार के अभाव मिट गए होते। ध्यान नहीं दिया तो भी कोई बात नहीं। अभी भी समय है। वर्तमान हमारा-आपका सामयिक है। अब वे भी मानव-जीवन का यह आवश्यक कार्य पूरा कर सकते हैं। वस्तुतः अपना जो आकर्षण है, हमारा जो खिंचाव है, वह उस अनन्त तत्त्व की ही ओर है। महाराज जी ने एक जगह कहा था कि भाई! जैसी धरती में आकर्षण शक्ति है और उस आकर्षण से आकर्षित होकर सारे भौतिक तत्त्व उसी की ओर खिंचते हैं, ऐसे ही मनुष्य का सम्बन्ध उस अनन्त तत्त्व से है। कितना ही संसार आपको फुसलाने की, बहलाने की चेष्ट करें, भीतर से एक खिंचाव, एक आकर्षण हर भाई-बहन का उस अनन्त तत्त्व की ओर लगा ही रहता है। किसी न किसी रूप में उसका चिन्तन भी आता है, किसी न किसी रूप में उसकी चर्चा भी आती है, यह मनुष्य के लिए बिल्कुल स्वाभाविक बात है।

अब उत्थान का उपाय क्या होगा? इस उत्थान का उपाय यह होगा कि सारा समय और सारी शक्ति, हम भाई-बहनों को शरीर और संसारके अभियोजन में खपा नहीं देना चाहिए। चैबीस घण्टे के समय को इतनी अच्छी तरह से ंकरनेज कर लेना चाहिए, कि आवश्यक कार्य को पूरा करने के बाद थोड़ा-थोड़ समय अपने लिए बचाकर रखें। जबकि हम अकेले होंगे, शरीर और संसार हमें उत्तेजित नहीं करेगा और स्वयं अपने आपके सम्बन्ध में, विचार करेंगे। अपने में जो शान्ति विद्यमान है, उस शान्ति में रह कर उस अलौकिक जीवन का अनुभव लेंगे। यह एक आवश्यक कार्यक्रम है। सभी भाई-बहनों को अपने द्वारा अपने में निर्णय लेना ही चाहिए। आप किस मत के हैं, की मजहब के मानने वाले हैं, किस सम्प्रदाय के हैं, किस गुरु से दीक्षा ली है आपने। क्या आपका विधि-विधान है, मानव-सेवा-संघ को इन विध्यात्मक बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम लोग कुछ पूछते ही नहीं हैं। कुछ पूछताछ नहीं करते हैं। जैसी आपकी रुचि है, ठीक है। भाई! जैसा आपका विश्वास है-ठीक है।

यह जीवन का वैज्ञानिक सत्य है कि जो भौतिक तत्त्व हैं, उनमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, और परिवर्तनशील उनका स्वभाव ही है। इसलिए कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर, इनके निर्माण में विनाश का क्रम जुटा हुआ होता है। यह तो एक विशेष काल की अवधि में बनी हुई एक आकृति दिखाई देती है और प्रतिदिन परिवर्तन उसमें प्रत्येक क्षण हो रहा है। उस परिवर्तन को हम सूक्ष्म दृष्टि से नहीं देखते हैं तो ऐसा सोचते हैं कि यह तो वही व्यक्ति है, वही मेरा मित्र है, वही मेरा विरोधी है, ऐसा देखते हैं और नही तो आज के युग के मनोविज्ञानवेत्ता भी कहते हैं छव चमतबमचजनंस मगचमतपमदबमे ंतम तमचमंजमक कि जिन अनुभवों की पुनरावृत्ति

नहीं होती। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम जो कुछ भी दृश्य-जगत् की आकृति ग्रहण करते हैं ज्ञान क्षेत्र में, वह जाता है मस्तिष्क में। एक बार का आपका जो दृश्य का अनुभव है, वह कभी भी दोहराया नहीं जाता। पलक खोलकर आप दूसरी बार देखना आरम्भ करेंगे तो देखने का ंचचंतंजने जो है वह आपके मस्तिष्क में, देखे हुए दृश्य के प्रभाव को ग्रहण करने की मशीन है, वह भी बदल गई और पृष्ठभूमि भी बदल गई और बाहर का दृश्य भी बदल गया।

जहाँ ऐसा निरन्तर परिवर्तन है, उसको अपने जीवन का आधार नहीं बनाना, उसमें विश्वास नहीं करना, उसका संग्रह नहीं करना। क्या करना है? केवल उसका सदुपयोग मात्र ही मनुष्य जीवन में अर्थ रखता है, दूसरा अन्य कोई नहीं। इस सत्य को आप स्वीकार करें। वैज्ञानिक दृष्टि से इस सत्य को आप स्वीकार करें। दार्शनिक दृष्टि से इस सत्य को स्वीकार करें। कौनसा सत्य? कि जो बन रहा है, बदल रहा है, बिगड़ रहा है, वह जीवन नहीं हो सकता। यह दार्शनिक सत्य है। अगर जीवन के केवल वैज्ञानिक सत्य को लीजियेगा, दार्शनिक सत्य को स्वीकार नहीं कीजिए तो समस्याओं का समाधान नहीं होगा। क्योंकि वह बहुत जोरदार है।

विज्ञान का जो क्षेत्र है, वह तो उस अविनाशी सत्य की, उस अव्यक्त तत्त्व की व्यक्त अभिव्यक्ति है। वह तो बाहरी अभिव्यक्ति हो गई। जिससे यहाँ सब उत्पन्न हो रहा है, जिस अव्यक्त तत्त्व की यह बाह्य अभिव्यक्ति आप देख रहे हैं, उस सत्य को स्वीकार नहीं करियेगा तो समस्याओं का समाधान नहीं होगा। इसलिए सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। इस सत्य को भी स्वीकार करें आप कि मेरा तो स्वतन्त्र अस्तित्व है, मैं तो अविनाशी तत्त्व से बना हूँ और मुझे तो वहीं अविनाशी आनन्द चाहिए। मुझे तो वह कभी न मिटने वाली शान्ति चाहिए। मुझे तो वह कभी न घटने वाला प्रेम का रस चाहिए। अगर जीवन की इस मौलिक माँग को आप स्वीकार करते हैं तो समस्या का समाधान बहुत सहज से हो सकता है। कैसे सहज हो सकता है? कि जब-जब संसार पर दृष्टि पड़े तो उसके काम आने को सोचिए, और संसार के काम आने का समय निकल जाए, शक्ति खर्च हो चुके तो विश्राम का समय निकालिए और विश्राम के समय में आपको यह जानकारी बहुत मदद करेगी कि देखा हुआ दृश्य मेरा जीवन नहीं है।

तो जीवन कहाँ है? अपने में है। कैसे मिलेगा? 'पर' की ओर से अपने को हटाने से मिलेगा। जो 'पर' है, जो 'स्व' नहीं है, उसकी ओर से अपने को हटा लीजिए। यदि कामनाओं का वेग नहीं है, यदि अतृप्त वासनाओं का उद्वेग नहीं है, यदि आपने प्राप्त सामर्थ् का सदुपयोग किया है, ये सब बातें यदि ठीक-ठीक आपके जीवन में प्रवृत्ति काल में निभ रही हैं तो शान्ति काल में सहज भाव से शरीर और संसार से असंग होकर अपने आप में शान्त रह सकेंगे।

प्रयोग करके देखना होगा। मुँह जुबानी कहने से काम नहीं बनता है, न व्याख्यान देने से काम बनता है, न व्याख्यान सुनने से काम बनता है। बोलने-सुनने से काम नहीं बनता। कैसे बनता है? प्रयोग में लाया जाए। प्रवृत्ति काल को हम साधना-दृष्टि से बिताएँ तो निवृत्ति काल में कोई कारण नहीं है कि सहज भाव से शान्ति की अभिव्यक्ति न हो जाए। और आप देखिए! जीवन का जो तत्त्व है, वह अविनाशी तत्त्व है जिसका कभी नाश नहीं होता, उसमें प्रवेश शान्ति की भूमि

से ही आरम्भ होता है। बाहर की हलचल से हटने के बाद ही उस शान्ति में प्रवेश होता है।

समग्र दृष्टि की सारी क्रियाओं में प्रकृति का तत्त्व स्वतः ही विद्यमान है। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन में जहाँ हम प्रयोगशाला में प्रयोग करते रहते थे, वहाँ देखते थे हमेशा, कि शरीर की कितनी ही क्रियाएँ ऐसी हैं कि हमारे बिना जानते ही, उसमें कार्य और विराम अपने आप चलता रहता है। शान्ति की वह भूमि है जिसमें से सब प्रकार की गति का आरम्भ होता है और शान्ति ही वह भूमि है जहाँ जाकर सब गतियाँ विलीन होती हैं। तो अनन्त जीवन के अनुभव का आरम्भ शान्ति से होता है। इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहनों को यदि जीवन में से अभाव का नाश करना है, पराधीनता का नाश करना है, नीरसता का नाश करना है तो शान्ति सम्पादन को दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बनाना होगा। आप देखेंगे कि जितना अधिक आप शरीर और संसार की संयोग-जनित व्यस्तता में जीवन बिताते है, उतनी जल्दी-जल्दी प्राण-शक्ति का ट्रास होता है। भोजन किया जाता है तो स्थूल शरीर का थोड़ा-थोड़ा पोषण हो जाता है। थोड़ी देर प्रकृति बाध्य करके स्नायु-मण्डल के सूत्रों को इतना शिथिल कर देती है कि आदमी विवश हो जाता है सो जाने के लिये। सो जाने से सूक्ष्म तन्तुओं को भी पोषण मिल जाता है।

भोजन और शयन से भौतिक तत्त्वों में थोड़ा विराम आ करके खर्च की हुई शक्ति को पुनः संचित करने का काम हो जाता है, परन्तु आवश्यकता तो ऐसी है- कि जीवन में ऐसी अजस्त्र रस-धारा बह जाए कि कभी भी नीरसता आए ही नहीं। विश्राम में शक्ति की वृद्धि होती है, इस बात का अनुभव अपने लोगों को हैं, और स्थूल निद्रा की जड़ता में उस जड़ स्वरूप की शक्ति की जो वृद्धि होती है उसको लेकर हम जड़ जगत् में खर्च कर देते हैं, इन बातों का अनुभव भी अपने लोगों को है। परन्तु जाग्रत-सुषुप्ति में निद्रा की जड़ता भी नहीं होती, शरीर और संसार के योग का भोग भी नहीं होता और उसके चिन्तन का दुःख भी नहीं होता। उस समय की जो शान्ति है, उस शान्ति में अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होती है। उन अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होने पर, संयोग-वियोग की दासता का नाश होता है। उन अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होने पर शरीर और संसार तो ऐसे छूटता है, ऐसी उनकी विस्मृति होती है, कि फिर उसमें से पुराने राग के कारण कभी उत्थान हो जाए और संसार भासित होने लगे, दृश्य दिखाई देने लगे तो अच्छा नहीं लगता। इतना बढ़िया वह जीवन है

उस जीवन का अनुभव हम भाई-बहनों को प्रतिदिन के तवनजपदम में आना चाहिए। ऐसा मत सोचिए कि आप वेश बदल देंगे कि समाज छोड़ देंगे, घर छोड़ देंगे, कि बच्चों का लालन-पालन छोड़ देंगे, जब उसके अधिकारी बनेंगे। ऐसी बात नहीं है। संसार किसी को नहीं पकड़ता है। बाल बच्चे किसी को नहीं पकड़ते हैं। घर-गृहस्थी की परिस्थिति में कोई सामर्थ् नहीं है कि वह विवेकशील के विवेक पर पर्दा डाल दें। जगत् में सामर्थ् नहीं है। यह मेरी अपनी भूल है कि मुझे दोनों बातें स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। और फिर भी आश्चर्य है कि कभी न मिलने वाले संसार के पीछे दौड़-दौड़ कर मृत्यु के मुख में हम लोग समाने को तैयार हैं, और कभी न साथ छोड़ने वाले नित्य साथी परमात्मा के बारे में सोचने के लिए फुर्सत ही नहीं है। अजीब बात है।

हमारे दुःखों का नाश किसी और उपाय से हो नहीं सकता। मैं देहातीत जीवन की बात को क्या कहूँगी, वह तो कहने की होती नहीं है, आज से आरम्भ कर सकते हैं, वह मैं आपको बताती हूँ। यदि वस्तु और व्यक्तियों का महत्त्व आपके जीवन में से निकल जाए, अपने लिए इनकी आवश्यकता नहीं है, हमारे भीतर जो पुराना राग बन गया है, स्वार्थ-बुद्धि से, सुख-बुद्धि से जो बीमारियाँ हमने अपने भीतर पैदा कर लीं, प्रकृति और प्रकृति-पति परमात्मा ने, उन बीमारियों से मुक्त होने के लिए, आज हमें यह परिस्थिति दी है, ऐसा आप सोच लीजिए, तो क्या करेंगे इसका? सदुपयोग करेंगे। काम करने के समय बहुत ही उत्साहपूर्वक, बिल्कुल निस्पृह भाव से अच्छी तरह से काम करते रहिए, खूब प्रसन्नता पूर्वक। काम खत्म होते ही अपनी शान्ति में, अपने परम प्रेमास्पद प्रभु की याद में अपने निज स्वरूप की स्थिति के आनन्द में रहेंगे।

ऐसे ही आप देखेंगे कि यदि एक बार जीवन में साधना का दृष्टिकोण बना लिया आपने और आपके ध्यान में आ गया कि भाई! सारा काम मुझे क्यों करना है? तो इसलिए करना है कि करने के राग से छुट्टी पाकर उस विश्राम में रहेंगे जहाँ अपना जीवन है, जहाँ अपने में से शान्ति अभिव्यक्त होगी, जहाँ अपने में से आनन्द का अजस्त्र स्त्रोत फूटेगा। अगर यह दृष्टिकोण आपने बना लिया तो शान्त रहने के लिए बड़ा चाव हो जाएगा। मैं तो साधन-काल की बात आपको बताती हूँ, थोड़ी देर के लिए आप शान्त हो जाइए, शरीर और संसार के चिन्तन से मुक्त हो जाइये, तो जैसे ही बाहरी कार्य आप छोड़ेंगे, स्थूल शरीर से साथ छूट जाएगा। और जब आप इसके साथ को छोड़ कर अपनी शान्ति में रहने का उद्देश्य लेकर बैठेंगे तो इसका भास खत्म होने में देर नहीं लगती है। और जैसे ही स्थूल शरीर का भास खत्म होता है, सूक्ष्म शरीर में बुद्धि आकर के सिमटती है, तो अच्छा लगने लगता है। और थोड़ी ही देर में चिन्तन बन्द हो जाए तो कारण शरीर की स्थिति की शान्ति इतनी अच्छी लगती है कि जितनी दुनियाँ में संसार की कोई प्रवृत्ति सुखद नहीं लगी थी।

आपको स्वयं ही इतना अच्छा लगेगा कि आप उसे छोड़ना पसन्द नहीं करेंगे। प्रयोग आरम्भ कीजिए तो आपको पता चलेगा आज से ही आरम्भ करिये।

प्रवचन(84)

उपस्थित महानुभव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयो!

मन और चित्त की अशुद्धि का नाश कैसे हो? अशान्ति का नाश कैसे हो? यह एक प्रश्न है हम सबके सामने। मन और चित्त की क्रियाओं पर यदि ध्यान दिया जाए तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि जिन वस्तुओं की आवश्यकता हम अनुभव करते हैं, वे न मिलें तो अशान्ति मालूम हेाती है। विविध प्रकार की कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और कामनाओं की उत्पत्ति मात्र से अशान्ति की पीड़ा होती है। कामनाओं का उत्पन्न होना, फिर उनकी पूर्ति के लिए प्रयास करना, उस प्रयास में कभी सफलता कभी विफलता ऐसा तो होता ही है। उत्पत्ति, पूर्ति-अपूर्ति-ये तीनों ही घटनाएँ मानव-जीवन में दुःख पैदा करने वाली होती हैं। मनोवैज्ञानिक स्तर पर ऐसा देखा गया है कि मनुष्य

यदि कामनाओं से मुक्त है, तो वह अपनी स्वाभाविकता में स्थित रह सकता है। जब तक किसी प्रकार की कामना उत्पन्न नहीं होती, तब तक, उसका भ्वउमव ेजंजने बना रहता है, शान्ति बनी रहती है। परन्तु जिस समय, उसमें किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है, कोई संकल्प बनता है या कोई कामना जगती है, तो तत्काल ही उसकी शान्ति भंग हो जाती है। उत्पत्ति मात्र से ही, व्यक्ति अपनी स्वाभाविकता से हट जाता है। उसमें एक प्रकार का तनाव ज्मदेपवद उत्पन्न हो जाता है।

मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है कि जिन व्यक्तियों के जीवन में परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, वे कामनाओं की उत्पत्ति से बचने की अधिक चेष्ट नहीं करते हैं। क्योंकि उनको उम्मीद है कि ऐसी कोई बात मन में उठी, तो वे झटपट उसको पूरा कर सकते हैं, परन्तु जीवन के विज्ञान पर यदि वे दृष्टि डालें तो उन्हें इस बात का पता चलेगा कि कामनाओं की उत्पत्ति मात्र से जिस शान्ति में हलचल पैदा हो गई, वह अपनी स्वाभाविक दशा थी। वह बिगड़ गई तो फिर उसकी पूर्ति-अपूर्ति के प्रयास में तो और भी अधिक प्राण-शक्ति का ट्रास होगा। साधक समाज के लिए अनुभवी संत जनों की सलाह यह है कि अगर आप मन और चित्त को शुद्ध और शान्त रखना चाहते हैं, उन्हें स्वस्थ रखना चाहते हैं तो कामनाओं के फेर में मत पड़िए। कुछ भाई-बहिन ऐसा सोचते होंगे कि किसी प्रकार का संकल्प ही नहीं रहेगा, कोई इच्छा ही नहीं रहेगी तो जीवन क्या रहेगा? इसका अर्थ यह है कि जीवन की माँग, जीवन का लक्ष्य और उठती कामनाओं का अन्तर उनको मालूम नहीं है।

माँग तो कहते हैं उसको कि जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। परम् शान्ति की माँग, अमर जीवन की माँग, परम प्रेम की माँग कही जाती है। ये अविनाशी तत्त्व हैं, इनका अस्तित्व सदैव के लिए विद्यमान है। इनकी आवश्यकता जब जगती है मनुष्य के जीवन में, तो उससे न अशान्ति होती है, न असमर्थता आती है, न दुर्बलता आती है, और न पराधीनता ही आती है। परन्तु अपने से भिन्न जो 'पर' के प्रति आकर्षण होता है, दृश्य के प्रति अपना खिंचाव होता है, उसकी कामना जगती है तो उसमें आसक्ति बनती है, पराधीनता आती है, अशान्ति उपजती है। इसलिए प्राप्त सामर्थ् के सदुपयोग की सलाह दी गई। अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से बचने के लिए कहा गया, इतना अन्तर है। तो पहला कदम क्या होगा इस दिशा में? चित्त और मन की शान्ति के लिए जीवन को बहुत ही संयमित और नियमित बनाना चाहिए।

शरीर है, और थोड़ी-थोड़ी देर में उस शरीर की कुछ आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे जल चाहिए या कुछ खाद्य पदार्थ चाहिए, तो सचमुच शरीर के लिए जितना हितकर है, जिस मात्रा में और जिस रूप में, उतना शरीर की सेवा की दृष्टि से उसको अर्पण कर देना चाहिए इसमें दोष नहीं है। लेकिन शारीरिक स्वास्थ्य का ख्याल किए बिना मन की विकृति पर ध्यान दिए बिना यदि स्वाद के सुख के लिए खाना पसन्द करेंगे तो अशान्ति और विकृति से बच नहीं सकेंगे। स्वामीजी महाराज ने कहा कि देखों, स्थूल शरीर की पूर्ति के लिए अगर बच्चों को रूखा-सूखा खाते हुए देखकर भी, स्वयं अच्छा भोजन ग्रहण कर लोगे तो इससे स्थूल शरीर तो पोषित हो जाएगा, उसमें बल आ जायेगा लेकिन इस व्यवहार से, इस कठोरता से चित्त अशुद्ध हो जाएगा, मन विकृत हो जायेगा और शरीर के प्रति बहुत घना मोह पैदा हो जाएगा।

शरीर, मन चित्त और बुद्धि, सबको शुद्ध रखने के लिए संयमित-नियमित होने की आवश्यकता है और संयम-नियम के अर्थ में उपर्युक्त सारी बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। इस दृष्टि से शरीर के भरण-पोषण की आवश्यकता और उसमें भी हृदय की उदारता, सरसता को सुरक्षित रखते हुए उनकी जितनी सेवा करते बनें, अवश्य कर दीजिए, लेकिन ऐसा न हो कि स्थूल शरीर के पोषण के लिए सूक्ष्म शरीर को विकृत बना दिया जाये, और मन को खुश करने के लिए स्थूल शरीर को रोगी बना दिया जाये। मन को खुश करने के लिए शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान न देना, मन को खुश करने के लिए तन को रोगी बना देना, और तन को पुष्ट करने के लिए मन को रोगी बना देना-यह साधना नहीं है।

इससे अशुद्धि उत्पन्न होती है। इस प्रकार से साधन के आरम्भ में ही, अपने लोगों को जीवन की सेवा में बहुत ही सावधानी से, संयमित, नियमित होकर रहना चाहिए और इसकी सुरक्षा में, इसकी सेवा में किसी प्रकार की आसक्ति न रखते हुए, प्रकृति की सम्पत्ति मान कर इसके साथ सही व्यवहार करना चाहिए और इसका ठीक उपयोग भी करना चाहिए। यह तो पहली बात हो गई।

अब दूसरी बात देखे। 'पर' के प्रति व्यक्ति का जो आकर्षण होता हैं, उसको कामना कहते हैं। 'पर' के प्रति आक£षत होने का आधार मानव जीवन में नहीं है। इसलिए नहीं है कि जो 'स्व' नहीं है, वह 'पर' है, उसके साथ न कभी सन्तुष्टि होगी, न उसका सदा संयोग रहेगा और न ही उससे अपना कोई उपकार होगा। इसके विपरीत, यदि उठते हुए संकल्पों का हम समर्थन कर दें तो समर्थन करते ही गतिशीलता आरम्भ हो जाती है। बुद्धि उसी कामना-पूर्ति की दिशा में सोचना आरम्भ कर देती है और सारा व्यक्तित्व बहुत ही गतिशील हो उठता है। उसी कामना-पूर्ति के फेर में परिश्रम आरम्भ हो जाता है विविध प्रकार से। किससे सहयोग लेना होगा? कहाँ जाना होगा? किसको कहना होगा? इस प्रकार अपना मूल्य घट जाता है और वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति का मूल्य बढ़ जाता है। अशान्ति बढ़ती चली जाती है, गतिशीलता तीव्र होती जाती है और प्राकृतिक विधान से कभी वह संकल्प पूरा हो गया, तो थोड़ी देर के लिए व्यक्ति को बड़ा सुख मालूम होता है। फिर क्या होता है? कि जिन व्यक्तियों ने संकल्प की पूर्ति में सहायता की उन व्यक्तियों का महत्त्व जीवन में आ जाता है। उनकी पराधीनता अपने में आ जाती है। उनकी गलतियों में अपने को शामिल करने के लिए व्यक्ति तैयार हो जाता है, क्योंकि उन्होंने संकल्प—पूर्ति में मदद की। तो इस प्रकार अपना मूल्य घट जाता है।

व्यक्ति के प्रति आसक्ति पैदा हो जाने पर फिर वस्तु में सुख-बुद्धि उपजती है। यह भूल है। वस्तु में सुख नहीं है, लेकिन संकल्प-पूर्ति के फेर में पड़े हुए व्यक्ति को वस्तु बड़ी सुखद दिखाई देती है। मनसविद ;चीलबीवसवहपेजेद्ध कहते हैं कि नहीं भाई! उस वस्तु में तो सुखद-दुःखद कोई बात नहीं है लेकिन, संकल्प के उठने से तुम्हारे मस्तिष्क में, स्नायु में जो ;जमदेपवदद्ध पैदा हुआ था, थोड़ी देर के लिए, वह ढीला हो गया। मस्तिष्क में एक तनाव पैदा हो गया। जैसे ही कामना उत्पन्न हुई तो उमदजंस मुनपसपइतपनउ बिगड़ गया, सन्तुलन थोड़ी देर के उद्वेलित हो गया। उसके बाद बहुत प्रयास करने से अगर इच्छा की पूर्ति हुई, तो इच्छा के पूर्ति-काल में, जब तक कोई नई इच्छा उत्पन्न नहीं

होती उतनी देर के लिए मानसिक स्थिति स्वाभाविक बन जाती है। उस स्वाभाविकता में आदमी को आराम मिलता है। यह आराम किसका है? प्राप्त हुई वस्तु का आराम नहीं है, मदद देने वाले व्यक्तियों के संयोग का आराम नहीं है, यह आराम तो आपके भीतर ही पैदा हुआ। स्नायु में तनाव उत्पन्न हुआ था कामना की उत्पत्ति से, और कामना पूर्ति-काल में थोड़ी देर के लिए व्यक्ति का मस्तिष्क कामना रहित होता है, तो यह आराम कामना रहित दशा का आराम है। वस्तु का मूल्य नहीं है। भूल से व्यक्ति उस वस्तु के महत्त्व को मान लेता है, कि यह बड़ी सुखद है। फिर क्या होता है? कि प्राप्ति के बाद उसकी सुरक्षा की चिन्ता आरम्भ होती है। उसके संग्रह का लोभ आरम्भ होता है। इस प्रकार वह वस्तु का उपयोग न एक शरीर के लिए कर सकेंगा, न अन्य शरीरों की सेवा में ही उसे लगा सकेगा। उसके संग्रह और उसके लोभ में ग्रसित होकर चित्त को अशुद्ध और मन को अशान्त बना लेगा। यह रहस्य है।

अनुभवीजन कहते हैं कि आप अपना मूल्यांकन सत्य के आधार पर कीजिए। आपके भीतर मृत्यु रहित जीवन की माँग है, शुद्धि और शान्ति की माँग है, प्रेम की सरसता की माँग है तो आप अपना मूल्यांकन, इस जीवन के आधार पर कीजिए। वस्तु और व्यक्तियों की पराधीनता स्वीकार करेंगे तो उनकी आसक्ति में फँसेंगे। वस्तुओं के लोभ में और व्यक्तियों के मोह में ग्रसित हो जाएँगे, तो चित्त और मन अशुद्ध हो जाएँगे, और इनकी अशुद्धि आपको न कहीं दिन में चैन से रहने देगी और न रात्रि में अच्छी तरह से सोने देगी। विविध प्रकार के स्वप्न बनते रहते हैं। मैंने कितने ही अध्ययन किए इस प्रकार के उदाहरण के। और ऐसा पाया कि बहुत अच्छे-अच्छे लोग, जिन्होंने जीवन भर खूब कर्मठतापूर्वक काम किया, धन कमाया, यश कमाया और इस तरह से बहुत गतिशील रहे, रिटायरमेंट के बाद कुछ दिनों घर में बैठने के बाद, जब चाहते थे कि इस समय तो उन्हें बहुत ही शान्ति मिलनी चाहिए, ऐसे लोगों को भी मैंने आखिर समय तक मस्तिष्क की, स्नायु की दुर्बलता के कारण, व्यर्थ चिन्तन और अनर्गल स्वप्न का दुखड़ा ही सुनाते हुए पाया। ऐसा होता है।

जब कुछ कम उम्र रहती है, साठ से पहले, तो स्नायु पर अपना नियन्त्रण चलता है। उसको व्यक्ति थोड़ा ब्वदजतवस कर सकता है लेकिन संकल्प पूर्ति के फेर में पड़ने वाले युवा अवस्था में ही, शक्ति के रहते-रहते ही, इतनी अशुद्धि और इतनी गतिशीलता के शिकार हो जाते है। कि बाद में सुख भोगने की सामर्थ् भी नहीं रहती और स्नायु पर नियन्त्रण करने की सामर्थ् भी नहीं रहती। तो भोग भी नहीं सकते हैं और चिन्तन को छोड़ भी नहीं सकते हैं, और परेशान होते रहते हैं। तब किसी का ध्यान इस बात पर नहीं जाता है लेकिन हमारी संस्ड्डति के निर्माण करने वाले मनीषियों की सूझ-बूझ देखिए कि वे कहाँ तक सोच सकते थे?

यह एक पृष्ठभूमि ऐसी बनी रहती है कि नाशवान शक्तियों के नाश होने से पहले अविनाशी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है, इसलिए यहाँ के लोग अधीर नहीं होते। इससे भी अच्छी बात क्या है? कि जैसे ही चैथेपन आने का समय होता है, पुरुष-स्त्री साधारण वर्ग के सब प्रकार के लोग, जो इस संसार से प्रभावित हैं, वे सोचने लग जाते हैं, कि अब बहुत हो गया, देख लिये संसार के खेल तमाशे, अब तो चैथापन आने लगा है, अब तो यह

सब छोड़-छाड़ करके, भगवद् चिन्तन करना चाहिए, सत्संग में रहना चाहिये, परोपकार में लगना चाहिये। इसका परिणाम क्या होता है? कि नाशवान शक्तियों के नाश होने से पहले अविनाशी शक्तियों के विकास पर उनकी दृष्टि चली जाती है। आँखों की दृष्टि कम होने लगे, कानों से सुनाई कम देने लगे, कि दाँत झड़ने लगे या हाथ-पाँव दुर्बल होने लगे, तो इनसे वे ज्यादा घबराते नहीं हैं, क्योंकि उनके भजन का समय आ गया, उनके आश्रित होने का समय आ गया, सुख-भोग के त्याग का समय आ गया। तो यह तैयारी भारतवासियों की पृष्ठभूमि में इतनी अच्छी रहती है कि छूटने वाली चीज छूटती जाएँ, इससे वे अधीर नहीं होते, म्उवजपवदंस डमसंदबीवसपं के रोगी नहीं बनते। यह उदारहण, यह रहस्य, मैंने उन लोगों को बताया, जो अध्ययन करने के लिए आए थे। रिसर्च करते रहियेगा, आप लोग खोजते रहिएगा। आज अपने भाई-बहनों के सामने यह तथ्य निवेदन करके मैं इस रहस्य को स्पष्ट करना चाहती हूँ कि वस्तुतः मन और चित्त की अशुद्धि में, हमीं सहायक होते हैं तभी ये अशुद्ध होते हैं अन्यथा वंशावली और परम्परा ;भ्मतमकपजल मदअपतवदउमदजद्ध सम्बन्ध पर जो शोध कार्य हुआ है, त्मेमंतबी हुई है उसके सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के विधान से वो शक्तियाँ सदैव ही शुद्धि की ओर चलती हैं। हम अपनी ओर से, अपनी भूल से, ज्ञान का अनादर करके, बल का दुरुपयोग करके, यदि इन शक्तियों को अशुद्ध न बनाएँ तो ये अशुद्ध नहीं होती हैं।

प्रारम्भ में किसी को भी मन और चित्त अशुद्ध रूप में नहीं मिलता है। सब शुद्ध धातुओं से बने अवयव हैं। अपनी भूल से, अपने ज्ञान का अनादर करके, अपने बल का दुरुपयोग करके, मन और चित्त को हम अशुद्ध कर देते हैं। और हमारी भूल से जब इनमें विकृति पैदा हो जाती है तो हम बहुत परेशान हो जाते हैं। फिर जब शान्ति की बात सूझती है, जब साधना की बात सूझती है, तब हम सोचने लगते हैं कि हम तो शान्त रहना पसन्द करते हैं और मन के व्यर्थ चिन्तन को मिटा कर सार्थक चिन्तन में, भगवत् चिन्तन में लगाना चाहते हैं। लेकिन यह मन बड़ा खराब है, कहना नहीं मानता है, और व्यर्थ चिन्तन को छोड़ करके सार्थक चिन्तन में नहीं लगता है। यह कहना आरम्भ करते हैं। यह बिल्कुल उल्टी बात है।

चित्त-शुद्धि पर एक पूरा ग्रन्थ लिखवाया है, स्वामीजी महाराज ने। उसमें यह प्रसंग आया है। चित्त को संतुलित बनाए रखना और उसको ।इदवतउंसपजल से बचाना, यह सब तो मैं पढ़कर आयी थी। स्वामी जी महाराज को सुनाती रहती थी। महाराज जी ने उसमें जो सुझाव दिया, उससे मुझे यह प्रकाश मिला कि प्राकृतिक शक्तियाँ स्वतः अपने आप में अशुद्ध होती ही नहीं है। हमारी भूल से उनमें अशुद्धि उत्पन्न होती है। हाँ! यह है कि वह ।चचंतंजने की तरह है, यंत्र की तरह है, पर्दे की तरह है, जिस पर की हुई अशुद्धियाँ दिखाई देने लगती हैं। इसी कारण से व्यक्ति को भ्रम हो जाता है कि हमें तो भवगत्-चिन्तन पसन्द है, हम चाहते हैं भगवत्-चिन्तन करना और यह मन इतना खराब है कि यह संसार के चिन्तन में लगा रहता है।

इस भूल को मिटा दीजिए। यह भ्रम छोड़ दीजिए। व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति हमारी भूल से होती है, ओर उसको मिटाना हमारा पुरुषार्थ है। अब तक जो हो चुका सो हो चुका। आगे से क्या करें? सोचिए कि अब तक तो मैंने वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों को पसन्द किया,

उनका आश्रय लेकर अपने को निश्चिन्त और निर्भय बनाना पसन्द किया, लेकिन वे 'पर' हैं, उनका संयोग बना नहीं रह सकता। अतः उनको पसन्द करने का परिणाम तो होगा ही, कि मन और चित्त दुर्बल हो जायेंगे, अशुद्ध हो जाएँगे, गतिशील हो जाएँगे और अस्वस्थ हो जाएँगे। तो अब हम लोगों को आगे बढ़ना चाहिए कि इस बिगड़ी हुई दशा को सँभालें कैसे?

तो सँभालने के लिए पहली बात यह रखनी होगी अपने सामने, कि संयम और मर्यादा के साथ शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाए। एक शारीरिक भूख होती है अन्न, जल, हवा, सुरक्षा इत्यादि की, और एक मानसिक भूख होती है सुख-दुःख में भाग लेने वाले साथी सम्बन्धियों के संग की। दुःख सुनने के लिए भी साथी चाहिए और सुख को बढ़ाने के लिए भी साथी चाहिए, यह मानसिक भूख होती है। इन बातों की पूर्ति में बहुत ही ज्ञान-पूर्वक अपने लोगों को काम करना चाहिए।

दूसरी बात यह होगी कि अब जो अशुद्धि और अशान्ति उत्पन्न हो गई है, उसको मिटाने के लिए, और ऊँचे स्तर से, हम लोगों को साधना अपनानी पड़ेगी। ऊँचे स्तर का अर्थ क्या है? कि आप दार्शनिक दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करें कि जितने अवयव हैं, मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ इत्यादि, ये सबके सब भौतिक तत्त्व हैं। इसकी अशुद्धि से बड़ी खिन्नता मालूम होती है। रात्रि में नींद नहीं आती, अनिद्रा का दोष हो जाता है, काम में मन नहीं लगता है, भजन में रहा नहीं जाता है, समाधि नहीं लगती है। सब ले लीजिए। व्यावहारिक काम से लेकर साधना की उपलब्धियों तक चले जाइए। मन और चित्त की अशुद्धि और विकृति के कारण व्यक्ति को न संसार में सफलता मिल पाती है न साधना में। तो इस दोष को मिटाने के लिए आप इस दार्शनिक सत्य को सामने रखें ये सारे अवयव, भौतिक तत्त्वों से निर्मित हैं, इनका अलौकिक तत्त्व से अर्थात् अपने 'स्व' से कोई सम्बन्ध नहीं है। आप अविनाशी तत्त्व से रचे हुए अविनाशी हैं। इसलिए आपको अविनाशी आनन्द की माँग है, अविनाशी प्रेम-रस की मधुरता की प्यास है। ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि आप मौलिक रूप से उसी तत्त्व से निर्मित हैं। तो फिर हम उस सृष्टि में क्यों आए? इस भौतिक जगत् से हमें क्या लेना है? अविनाशी से रचे हुए, अमर पद के अधिकारी, अनन्त प्रेम-स्वरूप परमात्मा के प्रेम-रस के पात्र, आपको इस संसार से क्या लेना था?

जीवन के सत्य पर विचार करने से, पता चलता है कि यह भौतिक जगत् भी उस अनन्त तत्त्व का विस्तार है। उस अव्यक्त तत्त्व का व्यक्त स्वरूप है और उसने अपनी ही प्रसन्नता से, अपना प्रतिरूप देकर हम लोगों को इस दुनियाँ में भेजा। किसलिए? कि अपनी ऊँचाई से, अपने औदार्य से, अपने सौजन्य से, अपनी सेवा और हृदय के प्रेम-भाव से, इस सृष्टि को सुन्दर और सरस बनाएँ। इसलिए हम आए, लेकिन आकर के भूल हो गई। जिसको सेवा देने आए थे, उसको अपनी खुराक बना बैठे, परिणाम में मन और चित्त अशुद्ध हो गया। अब शुद्धि का प्रश्न आया है तो क्या साधन करें?

इस दार्शनिक सत्य को स्वीकार करें कि मन, बुद्धि, चित्त इन्द्रियाँ, तीनों शरीर और समग्र जगत्, यह दृश्य-जगत् जो दिखाई देता है, इससे मेरा त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ है, मैंने मान लिया था। मान्यता के अनुरूप कर्त्तव्य करेंगे तो उस मान्यता से छूट जाएँगे। मान्यता के

अनुरूप सुख भोगना पसन्द करेंगे तो उसकी आसक्ति में फँस जाएँगे। अब सोच लीजिएगा कि अपने का क्या करना है? यह थ्तमम जतंबा नहीं है कि जब जो जी में आया सो किया, जब आएगा जी में तो छोड़ देंगे। इतना सहज नहीं है। 'कुछ नहीं' का इतना जबरदस्त प्रभाव है अपने पर, इतना आश्चर्य होता है, मुझे, कभी-कभी तरस भी आता है कि, हाय रे मनुष्य! कितनी जरा-सी बात के लिए, ऐसे कठिन फंदे में फँस जाता है, कि तड़प-तड़प के जीता है, कराह-कराह के मरता है। कष्ट होता है सोच-कर। और फिर यदि सत्संग के प्रकाश में आपने जीवन के वैज्ञानिक सत्य को स्वीकार किया, दार्शनिक सत्य को स्वीकार किया तो इस मन और चित्त को, जिसको अपनी भूल से विकृत बनाया था, शुद्ध करने में जरा भी न बाधा लगेगी, न देर लगेगी। कैसे?

आप इस सत्य को स्वीकार करिये, कि तीनों शरीरों से त्रिकाल में भी मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। नहीं है, लेकिन मालूम होता है कि है अगर सर्दी लगे तो ऐसा लगता है कि इसे बचाना चाहिए ओर गर्मी लगे तो ऐसा मालूम लगता है कि इसको ठण्डक देनी चाहिए और यदि मालूम होता है कि 'है' तो इसमें कोई दोष नहीं है। ये प्राकृतिक तथ्य हैं, बन रहे हैं, बदल रहे हैं, बिगड़ रहे हैं मिट रहे हैं। जब तक ये काम के लायक आपके पास रहें, इनसे काम ले लीजिए। जैसे लिखने के लिए कलम उठाकर लिखना आरम्भ करते हैं और लिखना खत्म हो जाने पर, कलम को पकड़े नहीं रहते, उसे रख देते हैं। ऐसे ही तीनों शरीरों से संसार की सेवा के लिए, उसको सुन्दर बनाने के लिए, अपनी प्रियता के व्यवहार से उसे सरस बनाने के लिए जब-जब कुछ करने का मौका आए तो शरीरों का साथ लेकर कुछ काम कर लीजिए और जब काम करने का चमतपवक न रहे, तो शरीरों के साथ मत रहिए। उसके चिन्तन में मत फँसे रहिए। उसे पकड़े मत रहिए। उनमें अपने को पकड़ाकर मत रखिए।

इस सत्य को स्वीकार करने से बड़ी शक्ति मिलती है कि मेरा इन तीनों शरीरों से त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा सोच कर जब आप चुप हो जाएँगे, तो पुरानी विकृतियाँ सब सामने आएँगी। आप आँख बन्द करके बैठेंगे, तो बाहर के दृश्य तो नहीं दिखाई देंगे, लेकिन बाहर के दृश्यों का जो चित्र बना है भीतर, वह दिखता रहेगा। ऐसा होता है। स्वाभाविक है। चाहे दृश्य जगत् बाहर दिखाई दे चहे भीतर, उसमें अपने को फँसाइये मत। उससे मिलाइए मत। यह तो पुरानी विकृतियों का फल दिखाई दे रहा है, और प्रकृति माता इसको साफ कर रही हैं। हमको दिखा-दिखाकर निकाल रही हैं। कूड़ा करकट बाहर जा रहा है। तो सच मानिए, यह ऐसा अटूट सत्य है कि मस्तिष्क में उठने वाले व्यर्थ चिन्तन से आप अपने को मिलायेंगे नहीं, उनके प्रभाव से प्रभावित नहीं होंगे, उनको देखकर डरेंगे नहीं, तो वे चीत्त आपकी शान्ति को भंग नहीं करेंगे।

मस्तिष्क में पुराने चित्र शान्ति को भंग नहीं करते हैं। उन चित्रों को देखकर आदमी, उलझन में पड़ जाता है, डर जाता है, क्षुब्ध हो जाता है। जैसे मान लीजिए, कि भूतकाल में किसी के साथ आपकी कुछ खटपट हो गयी, अनबन हो गयी, झड़ हो गई। अब तो परिस्थिति खत्म हो गई, वो आदमी चला गया, उससे कोई सम्बन्ध नहीं है और आप शान्ति-सम्पादन के लिए, अपनी स्वाभाविकता में ठहरने के लिए, अकेले होकर बैठे है। तो उस व्यक्ति का चित्र आ गया, वो घटना याद आ गई, उसमें जो अपना अपमान हुआ था

वह याद आ गया, तो संत-जन कहते हैं कि वह बात तो बीत गई है, उसका चित्र जो तुम्हारे मस्तिष्क में अंकित था, वह विकृति, वह अशुद्धि, प्रकृति माता साफ कर रही है। तो भीतर जो कूड़ा भरा था वह निकाल-निकालकर फेंकने से, दिखता तो है न? तो दिखाई देता है तो डरा मत। भूतकाल की बीती हुई घटनाओं को देखकर, वर्तमान में म्उवजपवदंस मत हो जाओ। फिर उस बात को याद करके संवेग में मत आ जाओ कि अरे! उसने ऐसे किया था, वैसे किया था। ऐसे तो वे केवल एक स्मृति चित्र है, एक डमउवतल पउचतमेे◌पवद है और अगर आप उसमें मउवजपवद जोड़ देंगे, किसी प्रकार से उसे देखकर दुःखी हो जाएँगे, तो वे भूतकाल की बीती हुई घटना भी आपके चित्त को विकृत करने के लिए वर्तमान में सजीव हो जाएगी। आप ही कि सत्ता से मरी हुई बात फिर आप पर शासन करने लग जाएगी।

तो दार्शनिक दृष्टिकोण क्या है? कि शरीरों से सम्बन्ध तोड़कर, इस बात को जान कर, कि इनसे मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, चुपचाप शान्त हो जाइए। मस्तिष्क में यदि पुरानी बातों की याद आती है तो आएगी, चली जाएगी, आप शान्त, स्थिर अपनी जगह पर ज्यों के त्यों बने रहिए। थोड़े दिनों तक यह क्रम चलेगा, उसके बाद फिर यह सब समाप्त हो जाएगा। अगर नए-नए सुख भोग की वासनाओं से, नई-नई विकृति चित्त में पैदा नहीं करेंगे तो शान्त् िकाल में, पुरानी विकृतियाँ निकल जाएँगी और सब खत्म हो जाएगा। चित्त शान्त हो जाएगा, शुद्ध हो जाएगा तो बहुत आराम मिलेगा। संत कबीर ने कहा है --

'मन थिर, तन थिर, वचन थिर, सुरति निरति थिर होय।
कहें कबीर वा क्षणक को, कल्प न पावे कोय।।'

एक श्रणी की उस शान्ति का आनन्द इतना गहरा होता है, उसमें भौतिक और अलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों का ऐसा विकास होता है कि उस जैसा अलौकिक जीवन का आनन्द संसार की किसी प्रवृत्ति में कभी भी सम्भव नहीं है।

आप चाहें तो प्रयोग करके देखिए। मैंने जब प्रयोग आरम्भ किया तो अन्त की बातों से बहुत परेशान रहती थी, और शिकायत करती रहती थी। महाराज जी ने एक दिन कहा कि देखो! ये प्राकृतिक शक्तियाँ जो हैं, स्वभाव से तो शुद्ध ही मिली थीं, आपने अपनी भूल से इन्हें विकृत बनाया। जब साधना आरम्भ हुई, जब तुमने ऊँचा दृष्टिकोण लेकर अमर जीवन से, परम-प्रेम से अपने को अभिन्न करने का क्रम आरम्भ किया तो तुम इनका मोह छोड़ दो। इन पर अपना अधिकार जमाना छोड़ दो। इनको शुद्ध और शान्त होना ही चाहिए और मेरे करने से होना चाहिए- इस प्रकार का आग्रह छोड़ दो। तुमने इनको मेरा करके पकड़ रखा है तो तुम्हारी ममता के भार से दबा हुआ यह चित्त, तुम्हारी ममता के भार से दबा हुआ यह मन, स्वस्थ और शुद्ध नहीं होता है।

ज्ञान के आधार पर तुम इनसे सम्बन्ध तोड़ लो तो प्रकृति की सम्पत्ति प्रकृति स्वयं सुधार लेगी। और ईश्वर-विश्वास के आधार पर सबके सहित अपने को उस अनन्त तत्त्व के समर्पित कर दो। प्रभु की चीज, प्रभु स्वयं सुधार लेंगे। कितनी अच्छी बात है! तो नई-नई विकृति उसमें पैदा करते जाओ और अपनी ओर से उससे संघर्ष करते जाओ तो जो मन और चित्त की अशान्तियों और विकृतियों को बलपूर्वक रोक लेना पसन्द

करते हैं, उनको सफलता नहीं मिलती है। बल का प्रयोग यहाँ नहीं चलता है। यहाँ क्या चलता है? कि ज्ञानूर्वक उनसे असंग हो जाओ। नई विकृति विकसित होने का ब्ीं दबम और मत दो। यह पुरूषार्थ हम लोगों का है। पुराना जो कुछ हमने खराब करके रख दिया, वह स्वयं ही प्राकृतिक प्रक्रिया से धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है।

ज्ञान के आधार पर शरीरों से सम्बन्ध तोड़कर, भीतर और बाहर सब प्रकार के दृश्यों का एक ही वर्ग मानकर, उनसे असंग हो जाना— मन और चित्त की शुद्धि का साधक है। विश्वास के आधार पर सर्व समर्थ प्रभु का आश्रय लेकर, अपने सहित अपने पास जो कुछ था जो कुछ अपना मान लिया था, वह सब कुछ उनके समर्पित कर देने पर साधक को अप्रयत्न होने का अवसर मिलता है। बहुत बढ़िया बात है। बहुत सरल बात है।

एक साधक महाराज जी के पास आए। उन्होंने कहा क एक प्रश्न है मेरा, मुझे उत्तर दे दीजिए, तो मैं चला जाऊँ। स्वामीजी महाराज ने प्रश्न पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं यही पूछने आया हूँ कि मस्तिष्क की जो अशान्ति है और चित्त के जो विकार हैं, वे पूरे के पूरे नाश होते हैं कि नहीं? दबाव डालने से, जोर डालकर ब्वदजतवस करने से, कम तो हो जाते हैं। आप भी इन सब बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। बहुत से भाई-बहन सज्जन कोटि के लोग हैं, साधक और सिद्ध न होने पर भी, मन और चित्त की अशान्ति और विकृति पर थोड़ा बहुत नियंत्रण तो रखते ही हैं। साधक कोटि के लोग उस पर ज्यादा नियंत्रण रखते हैं, फिर भी पूरा का पूरा वो मिटता नहीं हैं। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि भैया! सच्ची बात बताऊँ मैं, कि यह समूल नष्ट होता है। पहले अशुद्धि का नाश होगा, ये सब शुद्ध होंगे, फिर इनसे तुम्हारा तादात्मय टूटेगा, तब नित्य तत्त्व से अभिन्नता होगी। यह तो अनिवार्य बात है।

कैसे होता है? इसका उपाय बताते समय महाराज जी ने उनको सुझाव दिया कि ज्ञान के आधार पर तुम इनसे सम्बन्ध तोड़ो। और मेरी जो शिकायत थी कि महाराज जी, मेरा मन शान्त नहीं होता, तो एक दिन भरी सभा में महाराज जी ने कह दिया, 'तुम्हारा मन और शान्त हो जाये, यह सम्भवनहीं है।' क्या बात हो गई? मन तो प्राकृतिक तत्त्व है, मेरा-मेरा कह करके तुमने उसकी दुर्गति की। अब मेरा-मेरा कह करके तुम शुद्ध करना चाहती हो, नही होगा। क्या करें महाराज? ज्ञान के आधार पर उससे सम्बन्ध तोड़ो। ये तीनों शरीर, इनके सहित सारे व्यापार, तुमसे भिन्न हैं। तुम्हारी जाति के नहीं हैं। तुम्हारे नहीं हैं। तुम्हारे स्व-स्वरूप में नहीं है। ठीक है? ;हास्यद्ध इसलिए तुम इनसे संबंध तोड़ों, तब ये शुद्ध होंगे, अथवा हृदय की भावुकता के आधार पर, सहज विश्वास और सर्व समर्थ की निष्ठा के आधार पर, इन सबके सहित अपने को, उनके समर्पित करके शान्त हो जाओ। बिगाड़ दिया मैंने, कोई चिन्ता की बात नहीं है? हम कितना बिगाड़ेंगे? उतना बिगाड़ हम कर ही नहीं सकते, जितना सुधारने की शक्ति प्रभु की कृपा में हैं। उतना बिगाड़ हम नहीं कर सकते। उस महामहिम की महिमा, अपरम्पार है।

इस समर्पण योग में सबसे बढ़िया बात है कि व्यक्ति बिल्कुल निरीह और अबोध बालक की तरह उस महामहिम, उस करुणामयी जगत्-जननी, उस करुणा-सागर जगत्-पिता की गोद में अपने को छोड़ दे-थोड़ी देर के लिए। पकड़े रहोगे, निरीक्षण करते रहोगे, प्दजतवेचमबजपवद करते रहोगे, तो कृपा-शक्ति का कार्य जो है, उसका पूरा लाभ अपने को नहीं मिलेगा। जो समर्पित होता है,

वह अपने कर्तापन को समर्पिता करता है, अहं को समर्पित करता है। और इस प्रकार समर्पण भाव से दो-चार मिनिट के लिए भी, अप्रयत्न होकर उस कृपामयी गोद में विश्राम ले सकें तो उतनी ही देर में, इतना विकास होगा जितना वर्षों का अभ्यास फल नहीं दे सका।

प्रवचन(85)

उपस्थित महानुभव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयो!

हम लोगों को अपने भीतर कई प्रकार की कमी महसूस होती है। जो अपने में अभाव अनुभव करता है, जो किसी भी परिस्थिति में अपने को असमर्थ अनुभव करता है, वह एक सामर्थ्वान् और सब प्रकार से पूर्ण की कल्पना किए बिनाऋ उसका चिन्तन किए बिनाऋ उस धारणा को जीवन में धारण किए बिना रह ही नहीं सकता। यह खास बात है अब उस नित्य आनन्द और अनन्त रस को परमात्मा की विभूति कह कर स्वीकार करो, चाहे स्व-स्वरूप का प्राकट्य कहो, चाहे नित्य जीवन कहो, चाहे परम तत्त्व कहो-किसी भी भाषा में उसे अभिव्यक्ति दीजिए, लेकिन वह है। यह बड़ी जोरदार बात है। जब तक भीतर किसी भी प्रकार का अभाव हम लोग अनुभव करेंगे, तब तक चैन से रह नहीं सकते। अभाव का पूरा नाश कब होता है? स्वामीजी महाराज कहते हैं, जब मानव जीवन पूर्ण होता है तब। पूर्णता कहाँ है? प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति में है; रस की अभिव्यक्ति में है। रस का स्त्रोत क्या है? अगाध प्रियता। और अगाध प्रियता कैसे उदित होती है मनुष्य के जीवन में? प्रेम स्वरूप परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने से होती है।

अब सभी साधक भाई-बहन जिन्होंने ईश्वर-विश्वास के आधार पर साधन का निर्माण पसन्द किया है, जीवन को पूर्ण करना पसन्द किया है, परमात्मा को रिझाना पसन्द किया है, परमात्मा को पाकर स्वयं अपने को सब प्रकार से कृत-कृत्य करना पसन्द किया है, उन लोगों के लिए ये सब बिल्कुल च्तंबजपबंस चवपदजे हैं। जैसे-जैसे एक-एक कदम का हम अनुसरण करते जाएँगे वैसे-वैसे हमारा जीवन पूर्ण होता जाएगा।

स्वाजी जी महाराज ने पाँच महावाक्य बताए। जगह-जगह पर उन्होंने इनका उल्लेख किया है और कहा है कि विश्वास-पथ के साधक अर्थात् प्रेम-पथ के जो साधक हैं, उनको इन पाँच महावाक्यों को धारण करना ही चाहिए। ये मौलिक बातें हैं। किस नाम से पुकारेगें, किस रूप की आराधना करोगे, साकार मानोगे कि निराकार मानोगे, मन्दिर में जाओगे कि मस्जिद में जाओगे, गिरिजाघर में जाओगे कि गुरुद्वारे में जाओगे, जितने भी ये प्रतीक हम शरीर धारियों के लिए बनाये गये हैं, उनमें कौन सा आप पसन्द करेंगे, कहाँ जाएँगे और क्या करेगे-ये सारी बातें मौलिक पाँच महावाक्यों के आधार पर आधारित हैं। अगर मूल में इन पाँच वाक्यों की स्वीकृति नहीं है, तो किसी प्रकार से प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति नहीं होगी और परमात्मा से अभिन्न होकर जीवन पूर्ण करने का जो लक्ष्य है, उसमें बहुत देर लग जाएगी। अगर इन पाँच बातों को हम मान लेते हैं तो बाहर की सारी साधनाएँ सजीव हो जाएँगीऋ सफल हो जाएँगी।

साधना को सजीव बनाने के लिए पहली बात क्या है? कि हम इस सत्य को स्वीकार करें कि हमारी और परमात्मा की जातीय एकता है।

परमात्मा ने स्वयं अपनी ही धातु से हम लोगों को बनाया है, इसलिए हम उनकी जाति के हैं। इसमें किसी भाई-बहन को कोई सन्देह है क्या? - परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है क्या, जिससे हम लोग बनेंगे? उनके अतिरिक्त और किसी की कोई स्वतन्त्र सत्ता है। क्या, जो हम लोगों को बनाएगा? तो इस सत्य को स्वीकार करने में हम लोगों को कठिनाई नहीं होनी चाहिए। पहले से अगर इस ढंग से कभी विचार न किया हो तो आज करिए। ईश्वर भी हैं और हम सब सुख-दुःख के द्वन्द्व में फँसे हुए, ईश्वर में विश्वास करने वाले साधक भी हैं। अपने होने में कोई शक तो नहीं है? उनके होने में, कभी-कभी बल और गुण का अभिमान आदमी को भ्रम में डाल देता है, लेकिन अपने होने में किसी का कोई शक नहीं है? 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं दीन हूँ', 'मैं दुर्बल हूँ', मैं अकेला हूँ', मैं समर्थ हूँ', 'मैं रूपवान हूँ', 'मैं गुणवान हूँ', इस प्रकार 'मैं हूँ', यह तो सब किसी को इसी वर्तमान क्षण में अपने द्वारा भासित हो ही रहा है। अपने को इन्कार हम कर ही नहीं सकते। यह 'मैं' पन, जिसका होना हम लोग हर परिस्थिति में अनुभव करते हैंऋ शरीरों के नाश के बाद भी रहता है। इस 'मैं' पन का अस्तित्व जो है।, जिसमें से वह निकला, उसकी सत्ता को भी हम लोग इन्कार नहीं कर सकते हैं।

जैसे यह मशीन है तो किसी थ्बजवतल में यह बनाई गई। अगर इस मशीन को हम लोग मानते हैं कि यह बनी हुई चीज है तो जहाँ यह बनी, उसको मानना ही पड़ेगा। जिस धातु से बनी, उसको भी मानना पड़ेगा। इसी तरह से आप सोचिए कि हम सभी भाई-बहनों को जब अपने 'मैं' पन का भास होता है तो यह भास शरीर से निरपेक्ष होता है। शरीर रहे तब भी, न रहे तब भी, 'मैं' पन का भास समाप्त नहीं होता है। ऐसा जो हम लोग अपने 'अस्तित्व' को अनुभव करते हैं, यह अस्तित्व जिस परम सत्ता में से निकला है, उस परम सत्ता को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि अपने में से तो अपने को हमने बना नहीं लिया। तो जहाँ से भी वह निकला है, उस सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः यह पहली बात है। यह पहली शर्त है कि हम उस सत्ता को स्वीकार करें और इस सत्य को अपने द्वारा मान लें कि 'मैं' उन्हीं की धातु का बना हुआ हूँ, उन्हीं की जाति का हूँ।

परमात्मा के साथ जो आपका यह जातीय सम्बन्ध है, इससे बढ़कर गौरव प्रदान करने वाला कोई सम्बन्ध संसार में आपके लिए हो सकता है क्या? नहीं हो सकता है। अब विचार करके देखों कि हम लोग अपना गौरव परमात्मा की जाति के होने के आधार पर मानते हैं कि ब्राह्मण कुल में पैदा होने की एक ब्वदेपवनेदमे रखते हैं। अब कोई ब्राह्मण दुःखी न हो। मै केवल ब्राह्मण के लिए ही नहीं, यूँ ही एक उदाहरण के लिए यह बात रख रही हूँ। जन्म से जिसे श्रेष्ठ वर्ग मानते हैं, उसका महत्त्व अपने सामने ज्यादा आता है, कि हम परमात्मा की जाति के हैं, इसका गौरव ज्यादा आता है? होना क्या चाहिए? कि शरीर के नाते से कोई भी बड़ी बात दुनियाँ में मिले तो उसके आधार पर अपना मूल्यांकन कभी नहीं करना चाहिए।

एक बेपढ़ी-लिखी माताजी थी। सत्संग के प्रकाश में उनको शरीरों से असंगता सिद्ध हो गई थी। महाराज जी ने उनका नाम रख दिया शुद्ध-बोध। केवल नाम ही नहीं था, उसको अशरीरी जीवन का, सब समय स्वाधीनता और आनन्द का अनुभव होता रहता था। सांसारिक दृष्टि से बहुत दुःखमय जीवन था उनका। उनके पास दो चार

साधक लोग बैठे बातचीत कर रहे थे कि भिक्षा आई और सब लोग बाँट कर खाने लगे। उनमें से कोई एक साधक कहने लगे कि हम लोग तो इस तरह से, इसमें से नही ले सकते। माताजी ने पूछा कि भाई! क्या बात है? वे बोले कि हम तो ब्राह्मण है। तो माताजी ने कहा कि ठीक है भैया! आप कह सकते हो अपने को, कि ब्राह्मण हैं, तो मैं कह सकती हूँ कि हम तो ब्रह्म की जाति के हैं। तो कौन सा ठीक रहा? ब्रह्म की जाति के। देखों, ये बातें केवल कहने सुनने की नहीं। समझने का एक सुख होता है और दूसरों को समझाने का उससे भी बड़ा सुख होता है। इसकी सीमा में नहीं रहना चाहिए।

आज ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से, अपने ही में नित्य विद्यमान, नित्य सम्बन्धी के अनुभव से हम लोग वंचित हैं। तो इस दशा को मिटाने के लिए अभी से इस सत्य को इतनी सजीवता से मानिए कि आप अपना मूल्यांकन कभी संसार के सम्बन्ध से नहीं करेंगे। शरीर तो संसार की जाति का है ही। शरीर का उससे अधिक कोई मूल्य हो ही नहीं सकता। इसलिए शरीर का अभिमान अपने को नहीं रखना है। शरीर की जाति-पाँति, गोत्र, दशा से अपने को नहीं जुटाना है। इसको इसकी जाति के साथ मिलने दो। अपने को अपने सजातीय के साथ रखो।

अब दूसरी बात देखो! सजातीयता तो है उन्हीं से, और किसी से है ही नहींऋ हो ही नहीं सकती। महाराज जी कह रहे हैं कि सत्य के रूप में यह स्वीकार करो कि केवल उन्हीं से हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, जो अपना है। एक तो सजातीयता हो गई, दूसरी आत्मीयता। हमारी जाति उन्हीं की है और वे हमारे अपने हैं-सगे जिसको हम लोग कहते हैं। अपने से भी अपने अधिक आत्मीय, प्रिय, हितचित्त के रक्षक वे ही है। उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना-यह भक्त होने की मौलिक बात है। परमात्मा हैं- ऐसा जिसने स्वीकार किया, वह आस्तिक हो गया। लेकिन उससे मेरा अपना आत्मीय सम्बन्ध है, यह भक्ति के प्रारम्भ के लिए आधार है।

संसार में जितने भी भक्त हुए हैं चाहे वे उच्च वर्ग में पैदा हुए चाहे, निम्न वर्ग में, सम्पन्न परिवार में जन्मे हों, या विपन्न परिवार में, बहुत ही पढ़े-लिखे हों, या बिल्कुल अनपढ़ रहे हों-उन सभी के सम्बन्ध में यह एक तथ्य निर्विवाद रूप से पाया जाता है, कि उन भक्तों ने सहज भाव से परमात्मा को अपना आत्मीय कह कर स्वीकार किया था। मीरा जी ने अपना 'पति- कहकर स्वीकार किया, गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'स्वामी' कह कर स्वीकार किया। मैया यशोदा ने 'लाला' कहकर स्वीकारकिया, पैगम्बर मोहम्द ने 'दोस्त' कहकर स्वीकार किया। ये सभी ईश्वरवादी हैं। ये सभी प्रभु के भक्त हुए, जिन्होंने उस अनन्त परमात्मा को अपना आत्मीय कहकर स्वीकार किया और उसी आत्मीय सम्बन्ध के अनुसार परमात्मा को रस देने में ये भक्त समर्थ हो गए।

मनुष्य की इतनी बहादुरी है कि वह बिल्कुल निद्रवन्द्व होकर, निश्चिन्त होकर और बड़े अधिकार के साथ परमात्मा को अपना सगा सम्बंध बना लेता है। यहाँ एक साधक आए थे। कई बार मेरा उनसे मिलना जुलना हुआ था। अच्छे निष्ठावान् साधक हैं, एक बार वे बीच में से जाने लगे तो मैंने कहा भाई जी! आप क्यों जा रहे हैं? कहने लगे कि पोती की शादी है। वह लड़की कहती है कि बाबूजी नहीं आएँगे तो मै वेदी पर बैठूँगी नहीं, इसलिए जाना ही पड़ेगा। मैंने उनको याद दिलाया, कहा कि नरसी मेहता के यहाँ समधी

के घर से चिट्ठी आई थी। वे ले गये ठाकुर जी के मन्दिर में, बहुत ही कमजंबीमक बिल्कुल ही अनासक्त। उनकी अपनी धेवती की शादी थी, ;लड़की की लड़कीद्ध पर उनको अपना उससे कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता था। नाचते-नाचते, गाते-गाते चिट्ठी लेकर वे मन्दिर में। ठाकुर जी के चरणों में पत्र रखा और कहने लगे, 'ठाकुर तेरे समधी की चिट्ठी आई है। हमको क्या करना है, तेरा समधी, तू जाने! अपने को कोई मतलब ही नहीं हैं। मैंने उन सज्जन को याद दिलाया। मैंने कहा-भाई जी! एक बार प्रयोग करके तो देखो, बढ़िया मौका है आपके सामने। तो कहने लगे-बहन जी! बात तो बहुत बढ़िया है। मैंने कहा कि आप जाइए यहाँ से, अकेले में बैठिए थोड़ी देर, और सोचकर देखिए। अगर यह बात सत्य है कि आपकी पोती की शादी है, तब तो जरूर चले जाना चाहिए। अगर यह बात सत्य है कि ठाकुर जी की पोती की शादी है, तो जाने की बिल्कुल जरूरत नहीं है।

स्वामी जी महाराज ने दो मिनिट में, इन पाँच वाक्यों को सुना दिया। फिर मैं याद दिला दूँ।

1. हम लोगों की परमात्मा से जातीय एकता है।

2. हम लोगों की परमात्मा से अतिय एकता है, अर्थात् हम सब उनके आत्मीय हैं।। हमारे वे ही आत्मीय सम्बन्धी हैं। नित्य सम्बन्धी हैं, अपने हैं।

3. तीसरी बात, उनसे मुझे कुछ नहीं चाहिए।

4. चैथी बात, सब कुछ उनका है।

5. पाँचवी बात यह है, कि मैं उनका हूँ।

अब हम लोग इन बातों को अपने सामने रखकर देखें कि इनका अनुसरण करने में क्या कठिनाई है? हम लोगों का इतना समय गया। कितना हम मान पाए? और कितना अभी बाकी है? उनको आज मानकर ही छोड़ेंगे। अपना-अपना दिल टटोलकर देखो भाई! अगर इस सत्य में आप आस्था रखते हैं कि सचमुच ऐसा होता है, और सचमुच मैं ऐसा कर सकता हूँ, तो सन्त की कृपा और भगवत्-कृपा के भरोसे, मैं बहुत ही प्रसन्नता के साथ कह सकती हूँ कि किसी भी तरह से अपने को मना लीजिए, जो केवल स्वीकृति मात्र की बात है, उसके प्रभाव से जीवन में इतने रस की अभिव्यक्ति होती है कि आप अन्दाजा ही नहीं लगा सकते। उस रस स्वरूप की आत्मीयता की स्वीकृति मात्र से शुष्क जीवन में रस की अभिव्यक्ति जब होने लगती है, तो जिन विकारों से संघर्ष करके आप थक गए थे, उन विकारों का पता नहीं चलता। समय शांति और आनन्द के साथ निकल जाता है। काफी-काफी दिनों के बाद याद आता है कि अरे! जिन विकारों को हटाने के लिए हम परेशान थे, अब तो बहुत दिनों से उनका दर्शन हीं नहीं हुआ। क्यों? क्योंकि उस पवित्र प्रेम के रस की एक बूँद आपके हृदय को सरल बनाने में समर्थ है; सरस बनाने में समर्थ है।

लेकिन रस का भूखा बेचाना मनुष्य कहाँ-कहाँ जगत् की धूल फाँकता फिरता है। रस का प्यासा मन बेचारा पागल होकर कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। उसकी चंचल गति-मति का कोई ओर-छोर ही नहीं है। साधक लोग बैठे-बैठे मन को गाली देते रहते हैं कि क्यों करें? हम तो चाहते हैं कि परमात्मा के पास रहें और यह मन ऐसा खराब है कि यहाँ-वहाँ दौड़ रहा है। अरे! यदि वह बेचारा खराब है तो उसका बस चले तो वो ही तुम पर मुकदमा चलाए कि मैं तो परमात्मा के यहाँ से बिल्कुल शुद्ध आया था, तुमने अपनी सुख-

लोलुपता से मेरी दुर्दशा की, अब मुझे दोषी बनाते हो। यह बड़ा गहन प्रश्न है मानव-जीवन का, और बहुत ही व्यावहारिक स्तर पर साधना के बिल्कुल दैनिक जीवन में साधकों के काम आने वाली बात है।

स्वामी जी महाराज हम लोगों के सामने पाँच वाक्यों में कह रहे हैं। अब मैं अपनी कथा सुना दूँ जरा सी, आपको बहुत रुचिकर तो लगेगी ही और उसके साथ अपने को आगे बढ़ने में मदद भी मिल सकती है। मैंने महाराज जी को कहा था कि दुनियाँ में अपना कहने के लायक कोई दिखता नहीं है और बिना किसी को अपना बनाए, जीवन सूना-सूना लगता है तो हमारी समस्या का समाधान कीजिए।

उन्होंने कहा कि एक है बहुत बढ़िया, बहुत प्रेमी स्वभाव का, और उसमें किसी तरह की कमी भी नहीं है। भगवान का नाम नहीं लिया। भगवान कहते तो मैं बिगड़ जाती। तो कहा, एक है, मेरा मित्र है। देवकी जी! उसको जो अपना बना लेते हैं उनसे बदले में वह प्रेम भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता है। अगर तुम स्वीकार करो, तो मैं सगाई की बात करूँ। मैं सुनती रही, मुझे मालूम तो हो ही गया कि किस ओर संकेत है महाराज जी का। मैंने कहा कि स्वामी जी, मुझे एक बड़ी भारी दुविधा है। आपका कहना तो मैं मान लेती, लेकिन एक शंका है मेरी, जिस कारण मैं अभी तक अलग से बैठकर सुन रही हूँ, मान नहीं रही हूँ। शंका यह है कि मैं अपनी ओर देखती हूँ तो बहुत दयनीय दशा दिखाई देती है। कितना तो भय है जीवन में, कितनी चिन्ताएँ हैं, कितने अभाव हैं, कितने लालच हैं, कितना राग-द्वेष है। ऐसी जो मेरी दशा है उससे मालूम होता है कि जैसे काँटे चुभ रहे हैं जीवन में। तो मेरे जैसे साधक का साहस कैसे होगा? यह आप जिस ओर संकेत कर रहे हैं, उससे मै सगा सम्बन्धी होने का प्रयास कैसे करूँ।

यह मैंने बात बनाने के लिए नहीं कहा, सन्त के साथ बहस करने के लिए नहीं कहा, सचमुच वह मेरी दशा थी। अपने को आत्मीय कहने के लायक नहीं समझती थी। कैसे कहें, कौन मुख से कहें। ऐसा भी कभी हो सकता है? जो परम सुन्दर है और सारे विश्व को सुन्दरता प्रदान करता है, उससे मैं इतने दुर्गुणों से भरी, कौन मुख से कहूँ। तो स्वामी जी ने कहा कि अच्छा देखो, प्रेमी भक्तों ने तो यह कह दिया है कि 'हे प्रभु! तू मेरा'। मैया यशोदा ने कहा, 'मेरा लाला'। मीरा ने कहा 'माई मैंने गोविन्दा लीनो मोल'। इतना ब्वदपिकमदबम आ गया उनको भीतर से, प्रियतम से निकट होने का, इतना प्रत्यक्ष हो गया उनके सामने, कि वह दुनियाँ को सुना करके कहने लगीं कि 'माई मैंने गोविन्दा लीना मोल'। मैने उनको मोल खरीद लिया है। उनके पास इतनी प्रीति थी और उन्होंने प्रीति की सगाई के बल पर, उस प्रेम स्वरूप को अपना बना लिया और वे प्रेम के धनी, अपने भक्तों के हाथ बिक जाने में अपनी महिमा मानते हैं। उनको अच्छा लगता है।

महाराज जी ने कहा कि ऐसे भावपूर्ण भक्त हुए संसार में, जिन्होंने खुले दिल से, डंके की चोट, दुनियाँ को सुनाकर कह दिया-हे प्रभु! तू मेरा। लाली, तुम्हारा साहस नहीं होता है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। तुम अपनी असमर्थता, अपनी वेदना, अपना दुःख-सब सहित अपने को उनके समर्पित कर दो और कह दो कि हे प्यारे! मैं जैसी भी हूँ, तेरी हूँ। ऐसा कह दो। तो सामर्थ्वानों ने कह दिया, 'हे प्रभु! तू मेरा है'। असमर्थों ने कह दिया, 'हे प्रभु! मैं तेरा हूँ'।

मैं, अहं का अभिमान पालने वाली, कई महीनों का समय लग गया यह सोचने में, कि इतनी गन्दगी लेकर कैसे जाऊँ। अच्छा हो पहले सफाई हो जाए, पहले दोष मिट जाएँ, पहले लोभ मिट जाए, तो साफ होकर, स्वस्थ होकर अच्छी बनकर जाऊँ, तो कहूँगी, 'हे प्रभु! मैं तेरी।' कुछ समय लगाया, कुछ बल लगाया कि सफाई करूँ, पर हुआ नहीं। तो मैंने कहा महाराज जी! मैं तो दोनों में से कुछ नहीं कर सकती। यह कहने का साहस नहीं है कि 'हे प्रभु तू मेरा' और यह कहने का भी साहस नहीं है कि 'मैं तेरी'। चाहें तो वे खुद सुन लें। समय लगाना पड़ता है। मैं यही जानती थी, सफाई तो मुझसे कुछ हो नहीं पाई, लेकिन संत की कृपा होगी, भगवत् कृपा होगी, चाहे जैसे भी हो, मुँह खोल करके भले मैंने कहा नहीं हो, लेकिन भीतर-भीतर अपनी दुर्गति की पीड़ा को बताती रही। प्रतिक्रिया में उस दुःखहारी की ओर से सहारा मुझे मिलता रहा। कैसे अहं की धारणा में परिवर्तन हुआ, मैं कुछ कह नहीं सकती हूँ, लेकिन हो गया।

आज, आप भाई-बहनों से उन्हीं की महिमा को सुनाने में आनन्द आ रहा है। अब अपने सामने रख लीजिए यह बात। इससे अधिक लेकर, तो आप भाई-बहनों की है नहीं। सहज भाव से, स्नेह हृदय लेकर, आप सब कार्य करते हैं, समाज के साथ रहते हैं, स्नेह-सिक्त हृदय आपका है। अब आगे बढ़ने की बात है तो बढ़ें, चाहे जिधर से अच्छा लगे, उधर ही से। इस स्वीकृति को सजीव बनाइए, छोड़िए मत। और कोई दूसरी बात सुनिए मत और कोई चीज पढ़िए मत। कोई कारण नहीं है कि यह सत् आपके जीवन में सजीव न हो जाए और जन्म-जन्मान्तर की नीरसता मिट न जाए। कोई कारण नहीं है। मनुष्य ने हवा में उड़ना सम्भव माना, तो उड़ने लगे। मनुष्य ने जल के ऊपर पुल बनाना सम्भव माना, तो पुल बनाने लगे। मनुष्य ने चन्द्रलोक की यात्रा को सम्भव माना, तो कर लिया। इन बातों में मनुष्य को बड़ा आत्म-विश्वास है। जिसका अन्त, मृत्यु का भय है उसके साथ में तो आपका बड़ा उत्साह है और जिसका अन्त अमर जीवन है, कभी न मिटने वाला आनन्द है, कभी न घटने वाला प्रेम का रस है, उसके लिए और कितने दिन लगेंगे, सोचो तो भाई!

दो ही सूत्र आज हुए। अब इस पर आज थोड़ा मनन कर लें अपने को समझा लें। किसी भी प्रकार से अपने को मना लेना है। आपको मैं क्या सुनाऊँ। आपको सुनान तो मेरे लिए सहज है। आपको समझाने के लिए तो मैं बड़ी बहादुर हूँ। लेकिन इसके पहले, सन्त की वाणी सुन करके, अपने को कसौटी पर रखकर मैंने देखा है। आप भाई-बहनों से भी निवेदन कर रही हूँ कि अपने-अपने को, कसौटी पर रखकर देखने का समय अपने को दो। एक चर्चा सुन ली। फिर दूसरी फिर तीसरी चर्चा सुन ली। तो परिणाम क्या है? वैज्ञानिक परिणाम यह है कि ऊपर से भरते जाओगे-नीचे से निकलता जाएगा। खूब अध्ययन किया है मैंने इस विषय पर, और खूब च्तंबजपपबंस मगचमतपउमदज किया है इस सम्बन्ध में एक पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा, तीसरे पर चैथा। उसप भरते जाओ, नीचे-नीचे से निकलता जाएगा। ठहरने के लिए उसको कोई मौका ही नहीं दिया जाए, तो कैसे ठहरे! और फिर आप कहते हैं, इतना सुना है कि ठहरा ही नहीं। इन्तजाम ही आपने ऐसा किया था कि न ठहरे। आखिर यह भी तो मशीन ही है और क्या है? टेप पर आप वचन भर लेते हैं और थोड़ी देर बाद उसी पर दूसरा भर लो, तो दोनों सुनने में आएगा क्या?

क्या होगा दूसरा सुनाई देगा, पहला खत्म। इसी पर तीसरा भर लो तो तीसरा सुनाई देगा, पहला व दूसरा खत्म। ऐसे ही यह भी एक मशीन होती है, प्रकृति की बनाई हुई, भौतिक तत्त्वों से रची हुई। जो काम यन्त्र हो होता है, वही काम शरीर से होता है। तब भरते जाओ, भतरे जाओ पीछे का सब निकलता जाएगा, तो काम क्या आएगा?

इसलिए, मैं बहुत जरूरी बात आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि सचमुच आप थ्तमम हैं इस मामले में, कि ईश्वर विश्वास का पंथ आपने पकड़ा है, तो शरीर के नाश होने से पहले, वह ईश्वर मिल ही जाना चाहिए और जन्म-जन्मान्तर की सारी समस्याओं का समाधान हो ही जाना चाहिए। ऐसा अगर आपका निश्चय है तो वैज्ञानिक स्तर पर, दार्शनिक स्तर पर, भावात्मक स्तर पर, ठीक प्रयोग करिए जीवन पर। बहुत अच्छा फल आपको दिखाई देगा और मेरा विश्वास तो इसलिए बढ़ गया कि मैंने अपने को जब हारते हुए पाया तब-तब सन्त ओर भगवन्त ने अपनी करुणा-कृपा से मेरे रास्ते की बाधाओं को मिटाया। तो मुझे बहुत दृढ़ता के साथ उनके मंगलमय विधान में आस्था जम गई। ऐसे ही जितना तुम्हें करना है, तुम करो और जहाँ तुम्हारा किए नहीं चलेगा, वे खुद ही कर देंगे। हद कदम पर वे मदद करने के लिए तैयार हैं। हमारे भीतर ही विद्यमान हैं। उन्हें देर ही नहीं लगती और हमारे समान हठी स्वभाव होना और भी अच्छा हो गया।

हठीला स्वभाव होने का क्या मतलब है? खूब प्रयास करती रही हँू, अपने को गन्दगी से ऊपर उठाने के लिए, और प्रयास करने में उनको प्रसन्नता नहीं मिलती है। विकारों के नाश के लिये तो मैं पुकारती कभी नहीं थी कि अब मेरा वश नहीं चल रहा है, तुम्हीं कृपा करो। कभी भी पुकारती नहीं थी। लेकिन जब मैं छटपटाती थी तो वे खुद अपने आपसे मदद कर देते थे और जब मेरा जी हल्का हो जाता था तो फिर ध्यान में आता था कि मेरे किए तो हो नहीं नहीं रहा था, यह कैसे हो गया? तब मैं प्रणाम करती, तब मैं कृतज्ञता प्रकट करती कि अच्छा! वे मुझमें बसते हैं, बड़ी भूल हो गई, मैंने उनकी उपस्थिति और करुणामय व्यवहार को पहले से स्वीकार नहीं किया। अगर स्वीकार कर लिया होता, तो इतनी परेशानी नहीं झेंलनी पड़ती। बाद में ध्यान में आता, काम जब कर चुकते, मेरे को उबार देते, जब हल्कापन आ जाता, जब निश्चिन्तता आ जाती, तो भीतर में उनकी विभूतियों के प्राकट्य से आन्नद भर जाता। तब मैं सोचती यह कहाँ से आया। हम तो कह रहे थे कि हो ही नहीं रहा था, तो बाद में ध्यान में आता कि स्वामीजी ने कहा था, जहाँ साधक हारता है, करुणामय की करूणा का दरवाजा खुलता है। तो अच्छा! मैंने नहीं पुकारा, तो भी आपने करुणा बरसा दी। तब आप अच्छे हैं, बढ़िया हैं, ठीक हैं। बस! अब शान्त हो जाओ।

प्रवचन(86)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग विश्वास-पथ की दृष्टि से, ईश्वर विश्वास को सजीव बनाने के उपायों पर विचार कर रहे हैं। पाँच वाक्य श्री महाराज जी ने बताए।

;1) परमात्मा से अपना नित्य सम्बन्ध है।

;2) परमात्मा से हम सभी का जातीय सम्बन्ध है।

;3) परमात्मा से हम सभी का आत्मीय सम्बन्ध है।

;4) उनसे अपने को कुछ नहीं चाहिए।

;5) और अपने सहित, अपने पास जो कुछ दिखाई देता है, वह सब उनका है।

सर्वस्व समर्पण कहाँ सजीव होता है? निष्कामता की पृष्ठ-भूमि में। प्रथम तीन वाक्यों के सम्बन्ध में कल तक हम लोगों ने कुछ-कुछ चर्चा की थी। शेष दो बातें और रह गईं, जिसकी चर्चा अब होगी।

सब कुछ उनका है, अपना कुछ नहीं है और अपने को कुछ नहीं चाहिए। निष्कामता की पृष्ठ-भूमि में समर्पण सजीव होता है। सब कुछ परमात्मा का है-ऐसा मानने में हम लोगों की कोई अपनी उदारता काम करती हो या अपनी कोई विशेषता हो, ऐसी बात नहीं है। जब परमात्मा को ही सृष्टि का मालिक कह कर स्वीकार करते हैं, तो सारी सृष्टि में से किसी भी वस्तु पर हमारा अधिकार कैसे हो सकता है? एक मिलकियत के दो मालिक कैसे हो सकते हैं? ऐसा विचार करने से भी यही बात ठीक मालूम होती है कि इस प्रतीत होने वाले जगत् में किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। शरीर अपने पास दिखाई देता है तो उसको हम बहुत निकट मान लेते हैं, उस शरीर को अपना करके मान लेते हैं। इस भूल के कारण बहुत सी वस्तुओं से और बहुत से व्यक्तियों से लगाव बन जाता है।

विवेक के प्रकाश में विचार करके देखो तो ऐसा मालूम होता है कि भौतिक तत्त्वों का बना शरीर, प्राकृतिक विधान से संचालित शरीर बन गया है। इस भौतिक सीमा के भीतर जिसको उंपदजंपद किया जा रहा है, इसी के भीतर, प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से और प्राकृतिक विधान से इसमें क्षति आरम्भी होती है, बिगाड़ होता है, गिरावट आती है। ये सारी प्रक्रियाँ, सार्वभौमिक सीमा के भीतर प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा संचालित होती हैं। हमने इस शरीर को बनाया नहीं और हम इसको रख भी नहीं सकते और अपनी मर्जी के अनुसार इसका जैसा चाहें, वैसा उपयोग भी नहीं कर सकते। फिर भी इसको अपना मानते रहते हैं-इसी भूल के कारण इसमें हमारी आसक्ति हो जाती है और इसी भूल के कारण, जन्म-जन्मान्तर तक, हम वस्तुओं के लोभ और व्यक्तियों के मोह में फँसे रहते हैं।

अब विश्वास-पथ की साधना के लिए, जिसने परमात्मा में विश्वास किया, उनको सृष्टि का मालिक माना, उस साधक के लिए बड़ी आवश्यक बात यह होती है कि वह सब कुछ परमात्मा का मान लें। है तो उनका ही, कभी भी इससे अलग कोई बात और हो नहीं सकती है, लेकिन अब तक हमने अपनी भूल से, एक शरीर को अपना माना, दूसरे शरीर को पराया माना। इस एक के सम्बन्ध से बहुतों से राग हो गया और बहुतों से द्वेष हो गया। आसक्ति, ममता, राग-द्वेष इन दोषों से हम पीड़ित हो गए। और अपनी आवश्यकता कैसी है? आवश्यकता ऐसी है कि कितना अच्छा होता कि हृदय में सदैव प्रेम का रस लहराता।

ऐसी सरसता की आवश्यकता हर भाई-बहन अनुभव करते हैं, लेकिन प्रेम-रस की कमी में नीरसता से पीड़ित हम अपने को पाते हैं और अपनी ओर देखते हैं तो राग-द्वेष की ज्वाला दिखाई देती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह विकारों की दशा दिखाई देती है। उस दशा को मिटाने के लिए हम सब लोग, मानव-जीवन के सत्य को स्वीकार करने के लिए सत्संग की मण्डली में बैठे हैं। तो दो बातें जो आज विचार के लिए सामने हैं, उनमें से एक बात यह है कि अगर आप ईश्वर विश्वासी हैं, तो अपने सहित अपने पास जो कुछ है, इस पर ममता की मोहर मत लगाइए। सब कुछ

प्रभु का है, सब कुछ उन्हीं का है, इसको स्वीकार करिए। यह हमारी कल्पना नहीं, है यह हमारी मान्यता नहीं है, यह सत्य है कि किसी का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। किसका है? भौतिक वाद की दृष्टि जिसने जगत् की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया, वह कहेगा कि सब कुछ जगत् का है और जिसने आस्तिक होने के नाते, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया, वह कहेगा कि सब कुछ ईश्वर का है।

कभी-कभी ऐसा सोचने में कि मेरा कुछ नहीं है, आदमी को भय लगता है क्योंकि भीतर से उसे अभी अचल आधार नहीं मिला। वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़कर, उनको अपना मानकर, उस भ्रतात्मक आधार पर वह समय काट रहा है। उसको जब सलाह दी जाती है कि इस सत्य को स्वीकार करो कि तुम्हारा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, तो उसका साहस ही नहीं होता यह कहने का, उसे डर लगता है। भीतर से वह अधीर हो जाता है कि हाय! मेरा कुछ भी नहीं है, तो किसके आधार पर जिऊँ? उसकी घबराहट होती है, लेकिन प्रभु-विश्वासी भक्त-जन यह सुझाव देते हैं कि भाई मेरा नहीं है, ऐसा मनोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। एक तरह से तुम अपने को ममता से मुक्त करोगे तो बड़ा विकास होगा तुम्हारा। सब कुछ परमात्मा का है, और परमात्मा बड़ा समर्थ मालिक है। तुम क्यों डरते हो? डरने की कोई बात नहीं है। घबराने की कोई बात नहीं है। इस तरह ईश्वर विश्वासी साधकों के लिए, बहुत ही आवश्यक बात यह है कि अपने सहित अपने पास जो कुछ दिखाई देता है वह सब परमात्मा का है इस सत्य को स्वीकार कर लें।

अब देखिए, संसार बड़ा विस्तृत है। स्थूल शरीर और ज्ञानेन्द्रियाँ जो आँख, कान आदि हैं, इनकी सहायता से हम संसार के बहुत थोड़े से हिस्से को, देख-सुन सकते हैं। सारे संसार को नहीं देख-सुन सकते हैं। वह बहुत विस्तृत है। कोई भाई-बहन ऐसे नहीं है, जो सारे संसार को कहे कि मेरा है, और अगर कोई ऐसा कहना पसन्द करे, तो कोई उसको ऐसा कहने देगा भी नहीं। बड़ी छोटी सी बात है, जहाँ अटक कर, हम अनन्त परमात्मा के अनन्त प्रेम से वंचित रहे जाते हैं। सोचो, इस लम्बी-चैड़ी, धरती में से एक टुकड़े को लेकर हम कहते हैं, 'यह जमीन मेरी हैं'। और बहुत सारी संसार की वस्तुओं में से थोड़ी वस्तुएँ अपने पास रखकर हम कहते हैं, 'ये मेरी हैं।' सबको तो कह नहीं सकते। असंख्य-असंख्य शरीर धारी हैं संसार में, उनमें से थोड़े से लोगों को हम कहते हैं, कि ये मेरे हैं। इस भूल से आसक्ति उत्पन्न होती है। हृदय में शुष्कता, नीरसता, अभाव भर जाता है, और उसके कारण जीवन बहुत दुःखी हो जाता है, अच्छा नहीं लगता, जीने में कुछ मजा नहीं आता, भय और चिन्ता से छुट्टी नहीं मिलती है। जिन वस्तुओं को आप लेना चाहते हैं, वे नहीं मिलती हैं तो अभाव सताता है, गरीबी मालूम होती हैं और जिन वस्तुओं को आप लेना चाहते हैं, प्रकृति के विधान से वे वस्तुएँ मिल जाती हैं तो मिली हुई वस्तुओं के खो जाने का भय सताता रहता है।

अब देखिए, वस्तुएँ न मिलें तो अभाव सताए और मिल जाएँ तो उसके नष्ट होने की चिन्ता सताए यह भी कोई जिन्दगी है? कभी भय में फँसे रहो, कभी चिन्ता में फँसे रहो, कभी अभाव में फँसे रहो, कभी नीरसता से व्याकुल रहो। यह कोई जिन्दगी नहीं है। भाई! सन्त जन सलाह देते हैं कि ईश्वर विश्वास के आधार पर प्रभु की आत्मीयता से उदिता प्रियता व्यक्ति के भीतर

उपजती है तो बड़ा अच्छा लगता है। प्रेम का रस ऐसा विलक्षण है कि पहले तो वह साधक को ही भरपूर करता है। हृदय में प्रेम का रस बढ़ा नहीं कि उसके भीतर की सब विकृतियाँ अपने आप से ही मिट जाती हैं, धुल जाती हैं, साफ हो जाती हैं।

स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के व्यापार का अध्ययन करते-करते, यह भी देखने को मिला कि प्रेम-भाव की सरसता किसी के हृदय में बढ़ जाए तो बहुत सी शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ मिट जाती हैं। जीवन की सरसता के आते ही, बीमारी नष्ट हो जाती है। कोई बाहर की औषधि की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये भव रोग जितने भी है, स्थूल शरीर के स्तर पर प्रकट हुए तो क्या, और सूक्ष्म शरीर के स्तर पर मानसिक विकारों के रूप में प्रकट हुए तो क्या, सब अपनी भूल से उत्पन्न होते हैं। रस के अभाव में ही, नीरसता की पीड़ा से ही सब राग उत्पन्न होते हैं। भय और चिन्ता के कारण से बहुत सी बीमारियाँ होती हैं, जैसे डायबिटीज, डीसैन्ट्री, ब्लड प्रेशर, साँस, गैस की बीमारी और ऐलर्जी आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ मानसिक चिन्ता और भय से उत्पन्न होती हैं।

बड़ा ही अस्वाभाविक जीवन है, प्रेम-भाव से शून्य रहना, हृदय में शुष्कता और नीरसता को रहने देना। सन्त जन सलाह देते हैं कि भाई! रस के बिना तुमको जीना अच्छा नहीं लगता है तो रस का अथाह सागर तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है, तुम्हारे भीतर-बाहर सब तरफ समान रूप से भरपूर है, उस पर अगर तुम्हारी दृष्टि जाती, यदि उसका सहारा तुमने लिया होता, तो तुम्हारी दुर्दशा का अन्त हो जाता। ऐसा वे अनुभव सन्त जन कहते हैं। कल्पना के आधार पर नहीं कहते हैं, हम लोगों का मन बहलाव करने के लिए नहीं कहते हैं। उन्होंने ऐसा करके देखा है और अपने सारे दुःखों का अन्त करके आनन्दमय जीवन को अनुभव किया है। उस आनन्द से अभिभूत होकर, हमारे जैसे भटके हुए लोगों को देख कर सन्तों के हृदय में करुणा द्रवित होती है और उनका जी होताहै कि कितना अच्छा होता कि हर भाई-बहन को सन्मार्ग दिख जाता है और अपना कल्याण करके वे भी ऐसे ही आनन्दित हो जाते, जैसे हमने आनन्दित होकर जीवन को देखा है। ऐसा होता है।

स्पहीज व ि।ेपं नामक ग्रन्थ में यह पढ़ने को मिला कि परम कारुणिक महात्मा बुद्ध के जीवन में, इस बात की बड़ी व्याकुलता रहती थी कि जो मनुष्य पुरुषार्थ से परम स्वाधीन, परमानन्दमय जीवन पा सकता है, वही मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में, दुःखों के भार से दबा हुआ धरती पर बिना पैर के कीड़े की तरह रेंग रहा है। यह महात्मा बुद्ध की बात है। मनुष्य की इस दशा को देखकर उस महापुरूष के हृदय में करूणा उद्वेलित होती रहती थी और उस करुणा से प्रेरित हो करके वे महापुरूष ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त, अविराम गति से घूमते रहते थे, भटके हुए भाई-बहनों को सन्मार्ग दिखाने के लिए। अनुभवी जनों से रहा नहीं जाता है। ऐसे ही अनुभवी सन्तों ने हम लोगों की आँखों के आगे से निराशा और अन्धकार को मिटाने के लिए यह अनुभव-सिद्ध सत्य हमें सुनाया। ईश्वर को मानते ही हो और बिना माने रहे ही नहीं सकते, तो इतनी सजीवता से मानो कि उसका मानना तुम्हारी लौकिक और पारलौकिक, सब प्रकार की समस्याओं का समाधान कर दें, और फिर किसी और को मानने की आवश्कता शेष न रह जाए।

अगर सम्बन्ध जोड़ते हो तो सबसे जोड़ो जो सदा-सदा से तुम्हारा है और तुम्हारा ही होकर

रहता है। कभी भी उससे तुम्हारा सम्बन्ध-विच्छेद होता ही नहीं है। सब समय, सदैव, सर्वत्र, नित्य, निरन्तर वह तुम्हारे ही में विद्यमान है। हम लोगों के लिए ये सब बातें सुनी हुई हैं। सुनी हुई बातें जो सत्य के आधार पर हैं, उनको मान लिया जाए तो उनका अनुभव हर व्यक्ति के जीवन में हो जाता है। ईश्वर विश्वासी भाई-बहनों की थोड़ी सजीवता के साथ कदम उठाना चाहिए। यह केवल अपना मिथ्या भय है कि आज तक मैंने इस बात को पूरी तरह से नहीं माना कि मेरा कुछ नहीं है और मेरे सहित इस जगत् में मेरा करके जो दिखाई देता है वह सब परमात्मा का है। कोई चिन्ता की बात नहीं अब तक नहीं माना तो अब से सही। इसमें कोई शक, मतभेद, नहीं हो सकता। किसी तर्क के आधार पर इस बात को काटा नहीं जा सकता कि आपका व्यक्तित्व कुछ नहीं है। आज से इस सत्य को स्वीकार करना ही चाहिए कि जो कुछ दिखाई देता है, सब परमात्मा का है। आप सोचिए कि अगर कुछ भी आपका अपना व्यक्तिगत होता, तो आपकी इच्छानुरूप वह रह सकता था। लेकिन वह रहता नहीं है। इसलिए किसी का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। यह सत्य है कि ईश्वर विश्वास की दृष्टि से जिन भाईयों ने, जिन साधकों न केवल ईश्वर की ही स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया है, उनके लिए कोेई कठिन बात नहीं है कि वे मान लें कि सब कुछ परमात्मा का है। सब कुछ परमात्मा का मान लेने के बाद दो परिणाम बड़े सहज ही निकलते हैं, जिनको आप सभी भाई-बहन अनुभव कर सकते हैं।

एक तो यह कि 'मेरा कुछ नहीं है'— इसको मानने से ममता के रोग से मुक्त हो जाने पर वस्तुओं का चिन्तन मस्तिष्क से खत्म हो जाता है। और 'सब कुछ उनका है' ऐसा मान लेने का एक सहज परिणाम यह होता है कि संसार की जिस-जिस वस्तु पर आपकी दृष्टि जाएगी, वह वस्तु आपको प्यारे की याद दिलायेगी। आपने देखा होगा, घरों में छोटे-छोटे बच्चे होते हैं, उनके खेलने के लिए बहुत से खिलौने होते हैं। माँ-बाप की दृष्टि जब खिलौनों पर पड़ती है तो उन्हें बहुत ही अच्छा लगता है। बच्चे के सम्बन्ध से बच्चे का खिलौना देखकर माँ-बाप को बड़ा आनन्द आता है। उनका हृदय स्नेह से उमड़ने लगता है। ऐसे ही जो ईश्वर विश्वासी हर वस्तु को अपने प्यारे प्रभु की मान लेता है, उसी दृष्टि जिस-जिस वस्तु पर पड़ती है; उस-उस वस्तु के द्वारा उसे अपने प्यारे की याद आती है और याद आने मात्र से उसके हृदय में प्रेम उमड़ता है। यह अपनेपन के सम्बन्ध का बड़ा ही सुन्दर प्रभाव है। इस प्रकार का अपना मानना जीवन को बड़ा ही मधुर बना देता है।

एक बार की घटना है कि मैं अपनी सहेलियों के साथ बगीचे में घूम रही थी। हमारी एक सहेली के पिता बगीचे में कुछ काम कर रहे थे। धूप में उनके बदन पर कुछ पसीना आ रहा था। उनके वृद्ध पिता घर में से निकले और कहने लगे कि धूप है, पसीना आ रहा है, काम छोड़ दो। वे सज्जन फूल-पौधों की सेवा कर रहे थे, उसमें उनका मन लग गया था। उन्होंने सुना ही नहीं और छोड़कर हटे भी नहीं। वे वृद्ध व्यक्ति भीतर गए और अपने तीन साल के पोते को गोदी में उठाकर ले आए और धूप में खड़े हो गए। उसके पिताजी कहने लगे कि बाबू जी! बच्चे को धूप लग रही है, ले जाइए भीतर। तो वे कहने लगे कि तेरे बच्चे को धूप लग रही है तो तुझे दुःख हो रहा है, मेरे बच्चे को धूप लग रही है सो। मैं कह रहा हूँ कि पौधों में काम करना छोड़ दो। उठ जाओ, आ जाओ घर के भीतर तो क्यों नहीं करते? क्यों नही सुनते? अब

देखिए! कितना प्यार का वातावरण है। कितना बढ़िया बात है।

अब सोचिए! मनुष्य मनुष्य से सम्बन्ध मानता है, यद्यपि उसमें कोई सार नहीं है। यद्यपि वह माना हुआ सम्बन्ध मृत्यु के भय से मुक्त नहीं कर सकता। लोभ-मोह से, चिन्ता और अभाव से मुक्त नहीं कर सकता, फिर भी उस माने हुए सम्बन्ध का प्रभाव देखिए! बाप-बेटे का प्यार देखिए, कितना मीठा है! कितना बढ़िया है! संत जन कहते हैं कि जो नित्य सम्बन्ध है उसको अगर तुम स्वीकार करोगे तो क्या उसका प्रभाव जीवन पर नहीं होगा? जरूर होगा। जब अनित्य सम्बन्ध का प्रभाव होता है, तो नित्य सम्बन्ध का प्रभाव क्यों नहीं होगा। और नित्य सम्बन्ध के प्रभाव होने का अर्थ क्या है? उदाहरण देखिए। एक खिला हुआ फूल भक्त-जन देखते हैं तो देखकर उसी पर मुग्ध हो जाते हैं अहा! मेरे प्यारे ने यह बनाया! जिसने इस पुष्प को इतनी सुन्दरता दी वह मेरा प्यारा स्वयं कितना सुन्दर होगा! पुष्प रह गया जहाँ-का-तहाँ, आँखें खुल गईं भीतर-भीतर उस प्यारे की परम सुन्दरता की प्यास में। मस्ती भी भाव में बह गई। और अपनी दशा देखिए, सुख भोग की तृष्णा को लेकर जगत् की ओर हम देखते हैं, और जब उस जगत् का दृश्य अपने को उद्विग्न बनाता है, तो हम लोग जगत् को दोषी बताते हैं। फिर कहते हैं यह तो मायामयी सृष्टि है। इस सृष्टि में मैं परमात्मा को भूल गया। यह मायामयी सृष्टि का दोष है कि उसने हमें परमात्मा से दूर कर दिया?

अब आप सोचिये, कि आप परमात्मा से दूर हो गए तो इसमें सृष्टि का दोष है या आपका अपना दोष है। जरूर अपना दोष है। ईश्वरवादी प्यारे प्रभु की सृष्टि को देखते हैं, तो उनको अपने प्यारे की याद आती है। और जैसे ही प्रेम स्वरूप परमात्मा की याद उनको आती है, तो प्रेम का रस भीतर-भीतर उमड़ने लगता है। और हृदय प्रेम-रस से भरा नहीं, कि शरीर और संसार की विस्मृति हो जाती है। मनुष्य जिसकी भावना की रक्षा करने के लिए, जिसके प्रेम का आदर करने के लिए अत्यन्त कोमल, अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त रहस्यमय परमात्मा अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं, उस मनुष्य की कितनी महिमा है अत्यन्त कोमल परमात्मा, प्रहलाद जी के लिए पत्थर से बने हुए खम्भे में से निकल जाये। मनुष्य की महिमा कुछ कम है क्या? कम नहीं है, बड़ी भारी महिमा है।

अपनी महिमा भूल जाने से हम लोग, हाड़-मांस की महिमा स्वीकार कर लेते हैं। इस भूल को मिटाना है। आपके हृदय से उमड़े हुए प्रेम-भाव का आदर करने के लिए ब्रह्म, बह्मभाव को भुलाकर जीव-भाव स्वीकार कर लेता है। मैया यशोदा का आँचल पकड़कर दधि मथने वाली मथानी पकड़कर, विश्वम्भर खड़ा होकर मचल रहा है कि मैया! मुझे माखन दे। माखन माँग रहा है। मैया क्या करे? माखन निकले कैसे? थोड़ी देर में देख करके कि माखन तो निकल ही नहीं रहा है, मैया दे ही नहीं सकती है तो कहते हैं- मैया मुझे दूध पिला दे।

श्री महाराज जी हम लोगों को सुनाते हैं कि मानव जीवन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, इसकी बड़ी महिमा है इस सृष्टि से, कि मरणशील शरीर को लेकर नाशवान धरती पर विचरण करते हुए, वह अजर अमर-अविनाशी-अनन्त माधुर्यवान् परमात्मा को रस प्रदान करने में समर्थ है। अगर उस ऊँचाई तक हम लोगों ने इस जीवन को नहीं पहुँचाया तो जिन्दगी का क्या उपयोग किया, सोचा तो? उस ऊँचाई तक इस जीवन को पहुँचने देना है। अपने को और कुछ नहीं करना है केवल भूल

मिटाना है। कौन-सी भूल? सारी सृष्ठि का मालिक परमात्मा है लेकिन उसमें से एक-एक वस्तु हम पकड़ लेते हैं कि यह मेरी है; तो जड़ वस्तु के साथ मामला का विकार जुट जाता है और वह हृदय को आछन्न कर लेता है। जहाँ पर ईश्वरीय प्रेम की गंगा लहरानी चाहिए, वहाँ पर आसक्ति की जड़ता भर जाती है।

इसलिए दो महावाक्य, जिन पर हम विचार कर रहे हैं, उन्हें मैं फिर दोहरा दूँ। जहाँ जो कुछ दिखाई दे रहा है सब उनका है, सब उनका है-ऐसा मानो। डरने की कोई बात नहीं है कि उनका कहने से वो उठाकर ले जायेंगे। अरे! भाई, उनके यहाँ किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। मैंने ऐसा देखा है कि जब व्यक्ति भूलों का त्याग कर देता है और सचमुच जो मालिक है, उसी की दुनियाँ मान लेता है, तो वे मालिक अनाछित होकर और अधिक-अधिक उसके सामने सब कुछ बरसा देते हैं। प्रेमी की प्रसन्नता पर बरसा देते हैं। प्रेमी की प्रसन्नता पर वे त्रिभुवन को न्यौछावर कर सकते हैं, इतने उदार हैं। और ऐसे कथा हैं कि न कभी किसी वस्तु की कमी होने पाती है, न उनकी उदारता कभी खत्म होती है। जिस व्यक्ति ने ममता का त्याग किया, कि सचमुच मेरा कुछ नहीं है और यह कहा कि हे मेरे प्यारे, यह सारी सृष्टि आप ही की है, ये सारी वस्तुएँ आप ही की हैं, तो बस वह ममता से मुक्त हो गया। और सृष्टि के मालिक जो हैं, वे वस्तुओं को उपयोग में लाने से कभी मना नहीं करते हैं। देने में कभी कमी नहीं करते हैं। उठा कर ले भी नहीं जाते हैं, और अधिक से अधिक आपके सामने भर देते हैं। इसलिए इस एक सत्य को जीवन में प्रयोग करके हम लोगों को देखना चाहिए। यह बड़ा ही जोरदार प्रयोग है। अपने-अपने जीवन को लेकर के सत्य का प्रयोग हम लोगों को करना चाहिए जरूर।

मुझे इस प्रयोग में उत्साहित करने के लिए स्वामी जी महाराज ने एक बार सलाह दी, कि यह झूठी शिकायत है तुम्हारी, कि दुनियाँ को देखने से भगवान की विस्मृति हो जाती है, भगवान को हम भूल जाते हैं। तुम एक काम करो, हर वस्तु पर, जो-जो तुम्हें दिखाई दे, सब पर अपने प्यारे के नाम का स्टैम्प लगा दो। तब क्या होगा कि जिस पर तुम्हारी दृष्टि जाएगी तुमको याद आएगा कि यह मेरे प्यारे का है। प्यारे की वस्तु को देखने में भी प्रीति आती है। श्री महाराज जी ने कहा कि देखो, उन प्यारे का ऐसा विलक्षण ढंग है, आत्मीय सम्बन्ध उनको इतना अच्छा लगता है कि मैं क्या बताऊँ। वे क्या करते हैं कि किसी वस्तु को आपने देख लिया और देखते ही आपको याद आ गई कि यह तो मेरे प्यारे की है, तो जैसे-जैसे प्यारे की याद आने से आपके भीतर प्रीति बढेगी, परमात्मा को बड़ा रस मिलेगा।

वस्तु के रूप में वे स्वयं ही तो हैं। खूब आनन्द का आदान-प्रदान होता रहता है। दार्शनिक सत्य भी आपने सुना होगा कि वह एक ही अव्यक्त इस व्यक्त जगत् के रूप में विकसित हुआ है। आस्तिक दृष्टि से भी लीजिए, भोला-भाला भक्त बेचारा जो होता है, वह नहीं जानता दर्शन, वह नहीं जानता अव्यक्त, वह नहीं जानता विधान ये सब कुछ नहीं। उसके सामने एक गऊ का बच्चा आ जाय, एक बिल्ली का बच्चा आ जाय, एक खिला हुआ फूल दिखाई दे जाय, एक जल की बहती हुई धारा दिखाई दे जाय, वृक्ष के पत्ते हिलते हुए दिख जायं, जो जो दिखता जाय, उस सबके बारे में हृदय में उसके यही भाव उठता है कि यह भी मेरे प्यारे का, यह भी मेरे प्यारे का, यह भी मेरे

प्यारे का। तो जैसे-जैसे उसके हृदय में देखे हुए जगत् के माध्यम से अपने प्यारे की याद आती है, हृदय की प्रीति बढ़ती है, वैसे-वैसे भक्त-हृदय की बढ़ती हुई प्रीति का रसास्वादन करने के लिए वे ही बहुरूपिये अपना जगत् रूप छिपा करके अपने असली रूप में प्रकट हो जाते हैं। भक्त और भगवान के मिलन से सम्पर्ण जीवन ही बड़ा आनन्दमय हो जाता है।

प्रवचन(87)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

जीवन-मुक्ति और भगवद् भक्ति, इन दोनों तत्त्वों की चर्चा केवल मानव-समाज में है। सृष्टि में असंख्य प्राणी हैं। बहुत से प्राणी ऐसे हैं, जो हम लोगों की तुलना में विशालकाय हैं, लेकिन सभी प्राणियों के सामने जीवन-मुक्ति और भगवद्भक्ति का प्रश्न नहीं उठता है। केवल मनुष्य के सामने यह प्रश्न उठता है, इसीलिए कि उसमें विवेक का प्रकाश है। इस विवेक के प्रकाश में वह देखता है कि जो कुछ इन्द्रियों के स्तर पर देखने-सुनने में आया और जो कुछ बुद्धि के स्तर पर समझने में आया, वह सारा देखा हुआ, सुना हुआ और समझा हुआ जो है उससे परे, उससे भिन्ना एक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए, एक सत्य जीवन का होना चाहिए। इस प्रकार का आभास व्यक्ति को स्वतः ही होता है और वही उसे पे्ररित करता है कि वह जीवन-मुक्ति की चर्चा करे। जीवन-मुक्ति के लिए पुरुषार्थ करे और उस मुक्ति के आनन्द से भरपूर होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाए।

'जीवनमुक्ति' शब्द का अर्थ क्या है? केवल मुक्ति शब्द का प्रयोग मैं नहीं करती हूँ क्योंकि बचपन से मैं ऐसा सुना करती थी, घर में बात करते हुए चाची, दादी, माँ आदि की बातें सुना करती थी कि भाई! वह तो मर कर मुक्त हो गया। स्वामी जी महाराज के पास बैठकर ध्यान में बात आई कि शरीर के नाश हो जाने से, व्यक्ति मुक्त हो जाता है यह आवश्यक नहीं है। शरीर का नाश, मुक्ति की पहचान नहीं है। मुक्ति का अर्थ तो यह है कि मुझे अपने लिए पराश्रय की आवश्यकता न रह जाए। मुक्ति का भाव यह होता है कि यदि मैंने संसार के संयोग से मिलने वाले सुखों को पसन्द किया तो शरीरों के साथ तादात्म्य हो गया। आँखों के साथ तादात्म्य किये बिना, देखे हुए दृश्य का सुख नहीं लिया जा सकता। कान के साथ अपने को मिलाए बिना, श्रुति-मधुर ध्वनि का आनन्द नहीं लिया जा सकता। इसलिए बाह्य जगत् से आने वाली उत्तेजनाओं को ग्रहण करने के यन्त्र जो अपने पास हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियां, इन्हीं के आधार पर दृश्य जगत् का परिचय अपने लोगों को मिलता है। यदि उन उत्तेजनाओं के द्वारा हमने इस जगत् का सुख लेना पसन्द किया तो शरीरों के साथ हमारा तादात्म्य हो जाता है, अन्यथा अविनाशी अस्तित्व में और भौतिक तत्त्वों से बने शरीरों के अस्तित्व में कोई रचनात्मक सम्बन्ध है ही नहीं। अगर रचनात्मक सम्बन्ध होता, इन दोनों में किसी प्रकार की सजातीयता होती, तो फिर इसके बन्धन से, इसके लगाव से, इसके चिन्तन से मुक्त होने का प्रश्न पैदा ही नहीं होता।

आपका मेरा, मानव मात्र का अस्तित्व भासित होता है कि 'मैं हूँ'। वह अस्तित्व, यह 'मैं-पन', किसी भौतिक तत्त्व से बना हुआ नहीं है। ऐसा होने पर भी यदि हम भौतिक तत्त्वों को पसन्द करते हैं तो शरीर के साथ हमको लगाव रखना पड़ेगा और दृश्य-जगत् के संयोग का सुख पसन्द करने पर शरीर के साथ तादात्म्य रहेगा। परिणाम

क्या होता है? कि जब शरीर के साथ तादात्म्य रहता है, उसके प्रति आसक्ति रहती है, तो उसकी हमें सख्त जरूरत मालूम होती है; क्योंकि इसके माध्यम से ही व्यक्त जगत् के सुखों को हम ले पाते हैं। इसलिए इसकी बड़ी जरूरत मालूम होती है और प्राकृतिक तथ्य क्या है? कि आप जरूरत भी अनुभव करते रहिये और उसका सहारा लेकर दृश्य-जगत् का सुख भी लेना पसन्द करते रहिये। ऐसा करते रहने पर भी, इसका नाश हो जाता है। पसन्द करते रहो, तब भी इसका नाश हो जाएगा, इसकी जरूरत अनुभव करते रहो, तब भी इसका नाश निश्चित है। इस प्राकृतिक तथ्य से जन्म-मरण का ऐसा कठोर और ठोस सत्य मानव के सामने आता है कि इस प्राकृतिक तथ्य से मनुष्य सचेत होकर सोचने लग जाता है कि जिसको मैंने पसन्द किया, जिसको मैंने अपना माना, जिसके आश्रय से मैंने संसार में सुख लेना पसन्द किया, वह मेरे नियन्त्रण में रहा नहीं। मेरी इच्छा के अनुसार उसने काम किया नहीं। देखने का सुख लेना पसन्द है, पर आँखों की रोशनी घट गईऋ सुनने का सुख लेना पसन्द है, लेकिन कान की शक्ति गई, बहुत अच्छा-अच्छा स्वादिष्ट भोजन पसन्द है, पर पचाने की ताकत खत्म हो गई। यह सब होता है। इन घटनाओं से विवेकशील मनुष्य जो है, वह दृश्य-जगत् के पार और क्या है—यह सोचने लग जाता है; समझने लग जाता है और वहाँ से मुक्ति की साधना आरम्भ होती है।

शरीर की शक्ति घट जाए, प्राण-शक्ति का ह्रास हो जाए और अपने में उसकी आवश्यकता बनी रहे, तो इसका नाम है मृत्यु। शरीर की जरूरत मैं महसूस करूँ और प्राण-शक्ति खत्म हो जाए, तो इसका नाम है मृत्यु। और शरीरों के रहते-रहते, शरीरों से परे अपने अविनाशी अस्तित्व का अनुभव कर लें और शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाए तो इसका नाम है जीवन-मुक्ति। यह शरीरों के रहते-रहते होता है। प्राणों के रहते-रहते ही, इस प्रकार का पुरुषार्थ व्यक्ति करता है और शरीरों के रहते हुए भी वह जीवन-मुक्ति का आनन्द लेता है। अब आप सोच करके देखिये! शरीर की आवश्यकता अनुभव करते रहो, उसको पकड़कर रखना चाहो और प्राकृतिक विधान से उसका नाश हो जाए—इस प्रकार की बेबसी, इस प्रकार की पराधीनता आप पसन्द करेंगे? नहीं पसन्द करेंगे। अच्छा! अब अपनी ही भूल से प्राप्त-विवेक का अनुसरण हम न करें, उसका सदुपयोग न करें, तो बारम्बार जन्म-मरण का दुःख और पराधीनता सहन करनी पड़ेगी। लेकिन मनुष्य के लिए इसको सहन करना आवश्यक नहीं है। वह चाहे तो जन्म-मरण की बाध्यता को काट सकता है। वह चाहे तो प्राणों के रहते-रहते, शरीरों की आवश्यकता से मुक्त हो सकता है। इतनी स्वाधीनता बनाने वाले ने मनुष्य को दी है।

जीवनमुक्ति का अर्थ यही है। अब उसकी साधना क्या होगी? उसका पुरुषार्थ क्या होगा? सन्त की वाणी से जो कुछ समझ में आया और उनके साथ रहकर साधना की दृष्टि से जो कुछ अनुभव में आया, उसमें मैंने ऐसा पाया कि संसार के लगाव से अपने लिए कुछ भी लेने की इच्छा का अन्त कर दिया जाए तो शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाती है। यह मत समझियेगा कि हम इसकी जरूरत नहीं समझेंगे तो इसका नाश हो जाएगा। सो नहीं होता है। सृष्टि में बहुत से उत्पत्ति और विनाश के क्रम चल रहे हैं, जिन्हें हम अपने लिए आवश्यक नहीं मानते हैं। तो हमारे आवश्यक न मानने से उनका नाश हो

जाता हो, ऐसा नहीं है। प्राकृतिक विधान से सब कुछ अपने आप ठीक-ठीक समय से बनता रहता है, बिगड़ता रहता है। निर्माण और विनाश के अनवरत क्रम का नाम ही सृष्टि है। यह तो चलता ही रहेगा। इसमें केवल समझने की बात इतनी सी है, कि हममें सृष्टि को देखने का राग है, इसलिए शरीर धारण करना पड़ा। अन्यथा इसकी आवश्यकता नहीं रहती। न राग मिटे, न जन्म-मरण का बन्धन कटे—कैसा माया जाल है?

ऐसी चर्चा मैं एक बार कर रही थी। स्वामी जी महाराज लेटे-लेटे सुन रहे थे। बहुत उत्साह में आकर, उठकर बैठ गए कि क्या बात करती हो देवकी जी? तुम्हारी समझ में नहीं आती है। प्रकृति को अपना काम बढ़ाना नहीं है कि तुम्हारे जीवन-मुक्ति के पथ में बाधा डाल दे। प्रकृति को कितना काम करना पड़ता है, सोचो तो! व्यक्ति संसार में आए, विवेक का प्रकाश रखे, फिर भी उसका सदुपयोग न करे, विषय वासनाओं से अपने को न हटाए, संसार की पराधीनता से अपने को न छुड़ाए, तो बार-बार उसको जन्म देना, बार-बार उसको धरती पर सँभाल कर रखना, बार-बार उसकी अंत्येष्टि का इन्तजाम करना प्रकृति को सब काम करना पड़ता है कि नहीं? शक्तियाँ खर्च होती हैं कि नहीं? मुझे इतनी अच्छी लगी यह बात कि मैं सोचने लगी।

माताओं को देखकर ध्यान में आया कि बच्चा जब छोटा होता है, तो माँ को कितना ध्यान देना पड़ता है। उसकी रक्षा भी करो, उसको खुश भी रखो, उसको शिक्षित भी करो। सभी प्रकार के कार्य माता-पिता को करने पड़ते हैं और बच्चे जब सयाने हो जाते हैं, जब माँ-बाप बहुत ही प्रसन्न हो जाते हैं, निश्चिन्त हो जाते हैं, थ्तमम हो जाते हैं। ऐसे ही प्रकृति माता की सन्तान हम लोग, विवेक का प्रकाश लेकर, कार्य करने की क्षमता लेकर, हृदय में पे्रम-रस का भाव लेकर, दुनियाँ में आए और अगर क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति और विचार-शक्ति का सदुपयोग करके, बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरने की बाध्यता को जीत जाएँ, पार कर जाएँ अर्थात् इस तरह की बेबसी हमारी छूट जाए और एक शब्द मैं कहूँ कि हम सभी भाई-बहन जीवन-मुक्त हो जाएँ, जो प्रकृति माता का काम पूरा हो जाएगा कि नहीं? हो जाएगा।

मेरी आदत थी कि मेरे भीतर जो कमी दिखाई दे, तो मैं तो कमी को ही जानती थी, विशेषता तो मैं जानती नहीं थी, अपनी कमी उनको सुनाती रहती थी कि महाराज! मुझमें ऐसी कमी है, मेरा काम कैसे चलेगा? बार-बार मुझे राजकुमार सिद्धार्थ का चित्र दिखाई देता और मैं कहती कि महाराज, वह वीर पुरुष कैसा था? उसके एक बार मृतक को देखा तो सब जीवित शरीरों में उसे मृत्यु का दर्शन हो गया। वह जन्म-मरण के बन्धन को काटने के लिए खड़ा हो गया। सुना देती उनके वाक्य—

मैं त्रिविध दुःख, विनिवृत्ति हेतु,
बाधूँ अपना पुरुषार्थ सेतु,
सर्वत्र उड़े कल्याण केतु,
तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम,
हे क्षण भंगुर भव! राम राम!

खूब सुनाती स्वामी जी महाराज को, कि कैसे उन्होंने कर लिया। मैंने तो न जाने कितनी बार प्रियजनों को श्माशान-भूमि की ओर जाते देखा है, फिर भी इस शरीर में से मेरा मोह नहीं घटता है। क्या बात है? अपने पर मेरा ध्यान नहीं जाता। मैं बार-बार कहती कि शायद बनाने वाले ने राजकुमार सिद्धार्थ को बढ़िया मैटीरियल से बनाया था, हमको कुछ घटिया से बना दिया,

इसलिए हमारे से नहीं होता है। ऐसे-ऐसे कहकर मैं शिकायत करती रहती। स्वामी जी महाराज ने मुझे सुझाव दिया, कहा कि ऐसी बात नहीं है। न प्रकृति की ओर से कोई बाधा है, न परमात्मा की ओर से कोई बाधा है। संसार भी चाहता है कि व्यक्ति बुराइयों से मुक्त रहेऋ माता-पिता और समाज को भी प्रसन्नता होती है, अगर कोई व्यक्ति वीतराग हो जाए, राग-द्वेष से मुक्त हो जाएऋ सेवा-भाव से भर जाए, ईश्वरीय पे्रम से भर जाए। कोई दूसरा बाधक नहीं बनता है। बाधा अगर है तो बस अपनी ही ओर से है। हमने बेबसी में हाय करके रोते हुए जन्म लेना पसन्द किया और बेबसी में हाय करके मरना पसन्द किया। इसी भूल से जीवन-मुक्ति का आनन्द अभी तक नहीं आया। और कोई दूसरा इसमें बाधक नहीं होता है।

अब साधना कहाँ से आरम्भ होगी? पहली बात मुझे यह सूझती है कि अपने सम्बन्ध में हमें एक बहुत ही स्पष्ट दृष्टिकोण जीवन का बनाना चाहिए कि मुझे बेबसी में जीना और बेबसी में मरना पसन्द नहीं है। पराधीनता और पराश्रय को लेकर जीना भी पसन्द नहीं है और पराधीनता और पराश्रय को लेकर मरना भी पसन्द नहीं है। तो क्या हो सकता है? बड़े आनन्द की बात यह हो सकती है कि शरीर और संसार के सम्बन्ध को निभाने के लिए, सर्वहितकारी भाव से, पूरी शक्ति लगाकर, बहुत अच्छी तरह कार्य किया जाए। उसमें कोई बाधा नहीं होगी, वह साधन बनेगा। और अपने लिए, स्वयं के लिए, शरीर और संसार को पसन्द न किया जाए। क्यों? क्योंकि इनका निर्माण हुआ है अतः इनका विनाश हो जाएगा। अगर इन्हें हम पसन्द करेंगे और इनका सहारा लेते रहेंगे तो किसी भी समय बेसहारा होकर, अधीर होकर मर जाना पड़ेगा। अतः इनका सहारा अपने लिए न लिया जाए। इससे कोई क्षति नहीं होगी।

मनुष्य का मूल्य सारी सृष्टि से अधिक है, किसलिए? कि वह सृष्टि के पार, दृश्य जगत् के मूल में जो अनन्त तत्त्व है, जो आनन्द स्वरूप, रस स्वरूप है उससे अभिन्ना होकर, उसी अस्तित्व को, उसी व्यक्तित्व को, जिसे वह 'मैं' कहता है, उसी को वह आनन्दस्वरूप बना सकता है और पे्रम रस से भरपूर बना सकता है। आप अपने जीवन का सही मूल्यांकन करना आरम्भ कर दें तो सत्संग की योजना सफल मानी जाएगी। अपना मूल्य, संसार की दी हुई वस्तुओं के आधार पर करना, अपना मूल्य प्राकृतिक विधान से बनी हुई परिस्थितियों के आधार पर करना, मानव-जीवन का घोर अपमान है। कभी-कभी भ्रम हो जाता है तो अपनी दुर्बलताओं को औचित्य देते हुए कोई-कोई समझदार व्यक्ति ऐसा कहने लगते हैं भाई! मनुष्य तो कमजोरियांे से बना है। तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि अच्छा! मनुष्य, और यह स्वीकार करे कि वह कमजोरियों से बना है। इसका अर्थ यह है कि उन कमजोरियांे के नाश करने का तो कोई उपचार ही नहीं हो सकता। कोई-कोई कहता है कि बहुत अच्छी परिस्थिति हो जाए, बहुत सुन्दर सामाजिक पुनर्गठन कर दिया जाए, तो उसमें व्यक्तियों का बढ़िया विकास होगा। मनुष्य का विकास संसार के आधार पर कभी नहीं होगा। मनुष्य का विकास परिस्थितियों के आश्रित हो ही नहीं सकता। कभी-कभी मैं पूछती हूँ कि बड़ी-बड़ी कठिन परिस्थितियों में पड़े लोगों ने अपनी चेतना से, अपने ज्ञान से, अपने पुरुषार्थ से, अपने हृदय के भाव से, देश और संसार की परिस्थितियों को बदल देना पसन्द किया, वे कहाँ से आए? अगर परिस्थितियों में पैदा

होने वाले लोगों में, आजादी के लिए दीवानापन कहाँ से आता? यह बात गलत है कि मनुष्य परिस्थितियों के आश्रित हैं। ऐसा नहीं है।

मनुष्य के भीतर स्वयं अपने आप में ही संसार से बहुत अधिक मूल्यवान तत्त्व विद्यमान है कि जिसका कभी नाश नहीं होता। उन पर अपनी दृष्टि जानी चाहिए। हममें वह सत्य विद्यमान है कि जिसकी अभिव्यक्ति मात्र से हम मृत्युंजय हो जायेंगे। मृत्यु के भय का नाश हो जाएगा। ऐसे तत्त्व आपके भीतर विद्यमान हैं। यदि आप उसका विकास करना पसन्द करता हैं तो फिर संसार और शरीर के आश्रित मत रहिए। इन पर दृष्टि पड़ेगी, जैसे अभी हम लोग बैठे हैं, सारा दृश्य-जगत् दिखाई देगा, शरीर और संसार के सम्बन्ध का निर्वाह किया जाएगा, लेकिन उसी को पूरा जीवन मान लेना, यह भूल है। जहाँ तक शरीर और संसार के सम्बन्ध का निर्वाह है, एक शरीर दूसरे शरीरों को सहयोग देता ही रहता है। इस प्रकार परस्पर के सहयोग के आदान-प्रदान में शरीरों का निर्वाह होता रहता है। वहाँ तक तो ठीक है परन्तु इसी को पूरा जीवन नहीं मान करके इन दोनों से परे अपने ही में जो करना अविनाशी अस्तित्व है, उसके प्राकट्य की साधना करनी होगी। और वह साधना क्या है? वह साधना क्या है कि विवेक पूर्वक और भाव पूर्व काम करें। विवेक पूर्वक काम करने का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि किये हुए कार्य के बदले में, जो कुछ बनेगा वह शरीरों के काम आएगा, सृष्टि के काम आएगा। कार्य का जो फल होता है, वह किसी को अमरत्व प्रदान नहीं कर सकता। सोचिए इस पर। जैसे परिश्रम पूर्वक खेत में अनाज उपजाया गया, तो उपजा हुआ अन्न जो है, वह स्थूल शरीर के पोषण के काम आयेगा। उससे आगे उसका कोई अर्थ नहीं है। यदि भूखे शरीरों को खिलाने में उस अन्न को खर्च नहीं किया गया, बन्द करके रख दिया गया तो वह अन्न आपके साथ दुनियाँ के पास जाएगा क्या? ज्यादा दिन तब सँभाल कर रख सकियेगा क्या? नहीं रख सकिएगा। अगर समय पर उसका सदुपयोग नहीं किया गया तो प्रकृति के विधान से गोदाम में बन्द रहने पर सड़कर, वह मिट्टी के समान बन जाएगा। जिस मिट्टी में से निकला था वह उस मिट्टी में ही मिल जाएगा, अगर उसका सदुपयोग नहीं किया तो। स्थूल शरीर के पार अन्न नहीं पहुँचता है। वहाँ तक उसकी पहुँच ही नहीं है।

इस दृष्टि से आप देखेंगे तो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक श्रम तथा योग्यता के द्वारा जो कार्य किया जाता है उसका फल लोक-संग्रह के लिए, लोक-कल्याण के लिए, समाज की सेवा के लिए उपयोगी होता है। इतना ही उसका महत्त्व है। उसके आगे किये हुए कार्य का फल नहीं जाता है। आप सन्तों की भाषा में सुनते होंगे कि भाई! निष्काम कर्म करो। इस विषय में स्वामी जी महाराज का कहना था, कि भैया! कर्म तो अपने आप में न निष्काम होता और न सकाम होता है। कर्म को निष्काम क्यों कहते हो, तुम स्वयं निष्काम बनो। कर्त्ता निष्काम बने तो कर्त्ता का कल्याण हो जाए। इसका अर्थ क्या होगा? इसका अर्थ यह है कि आप कार्य अवश्य करें और उससे सही परिणाम अवश्य निकलेगा। औ कार्य को जो फल बनेगा वह समाज के लिए शरीरों के भरण-पोषण के काम आएगा। इतना ही महत्त्व उसका आपके जीवन में होना चाहिए। इसके आगे नहीं। किन्तु आप तो उसके आगे भी हैं। तो उसके बाद क्या होना चाहिए, कि कार्य को ्िरफलाहल का चिन्तन छोड़कर करें। अशुभ कर्म के लिए तो

मनुष्य के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। शुभ कर्म, हितकारी कर्म ज्ञान पूर्वक किया जाए। किए हुए कार्य का फल मुझे मृत्युजंय नहीं बनाएगा, मुझे परम प्रेमास्पद परमात्मा से नहीं मिलायेगा। जो फल बनेगा वह संसार में रहेगा और शरीरों के काम आएगा। ज्ञानपूर्वक कार्य करने का अर्थ यह है, कि कोई भी कार्य जब आप आरम्भ करते हैं दैनिक जीवन में, तो एक बार उसके सम्बन्ध में सोच लीजिए कि मेरे इस कार्य के द्वारा संसार के किसी भी प्राणी की क्षति न होः किसी को नुकसान न पहुँचे। फायदा तो पहुँचेगा ही, बुराई नहीं रहेगी जीवन में तो भलाई तो होगी ही। किस दायरे में होगी कि कुछ लोगों के साथ हम भला व्यवहार कर पायेंगे, लेकिन बुराई किसी के साथ नहीं करेंगे। तो पवित्र भाव से कार्य करने का अर्थ होता है कि मेरे कार्य के फल से किसी का भी नुकसान नहीं होगा। भाव की पवित्रता और विवेक के प्रकाश में, जी खोलकर पूरी शक्ति और पूरी योग्यता लगाकर काम कर डालिए, लेकिन उसके फल को जीवन का आधार मत बनाइये। तब क्या होगा? काम पूरा होने के बाद आपको अपनी शान्ति में रहने की सामर्थ् मिलेगी। आप जब स्वयं अपनी शान्ति में होंगे तो न शरीर से कुछ लेना है और न संसार से कुछ लेना है। शरीर और संसार का जो काम था वह पूरा हो गया। बहुत ही सहज भाव से ऐसे साधक इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लेते हैं। इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो जाती हैं, मन-निर्विकल्प हो जाता है, बुद्धि सम हो जाती है। अर्थात् उसमें हलचल बन्द हो जाती है। इस स्थान पर आकर बहुत ही शान्ति मिलती है अपने को। जैसे-जैसे हमारी जीवन शक्ति का व्यय होना बन्द होता चला जाता है, बहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होती चली जाती है, तो अपने को बहुत विश्राम मिलता है। थकान का अनुभव तो हम सब लोगों ने किया है, लेकिन सामान्य दृष्टिकोण ऐसा ही है कि बड़ा परिश्रम करना पड़ता है, परिस्थिति ऐसी है कि बहुत काम करना पड़ा इसलिए हम थक गए।

लेकिन मुझे तो सत्संग के प्रकाश में ऐसा दिखाई देने लगा कि परिश्रम से आदमी उतना नहीं थकता है जितना लोभ के वशीभूत होकर काम करने वाला, क्रोध के वशीभूत होकर गलत-सलत प्रतिक्रिया करने वाला, कामनाओं से प्रेरित रहने वाला थकता है। जिन्दगी का भार ढोने जैसे लगता है इन विकारों का बोझ ढ़ोना। बड़ी दयनीय दशा मुझे दिखाई देती है कि आदमी किस प्रकार से क्रोध कर रहा है, लोभ और अभिमान को भी संँभाल रहा है, जाती हुई प्राण शक्ति को भी सँभाल रहा है और बिगड़ती हुई परिस्थितियों से भी जूझ रहा है। क्या करे बेचारा! थके नहीं तो, कहाँ विश्राम मिले। उचित तरीके से कर्त्तव्य-पालन में थकान नहीं आती है। थकान तो विकारों से हो जाती है। आपको विश्राम चाहियें तो वह विश्राम किसी बाहर सहायता से मिले, ऐसी बात नहीं है। आप अपने विकारों से अपने को मुक्त कीजिए। फिर देखिए कैसा विश्राम मिलता है? आवश्यक कार्य करने के बाद सब अनावश्यक कार्यों को छोड़ दीजिए। हम लोग तो अनावश्यक चिन्तन में भी फँसे रहते हैं। काम करना है पाँच दिन के बाद और आज से ही उस चिन्तन में प्राण-शक्ति का ह्रास होता चला जा रहा है। पाँच दिन के बाद उस कार्य को करने की परिस्थिति रहेगी भी या नहीं रहेगी, कुछ मालूम नहीं है। उसकी जरूरत भी रहेगी या नहीं रहेगी सो भी पता नहीं है लेकिन जो समय मिला था, शान्त होकर शरीरों और संसार से अलग होकर अपने में अविनाशी अस्तित्व के आनन्द के अनुभव करने का, वह समय भी व्यर्थ

के चिन्तन में खो दिया, इसी से थकान आती है। बैठे-बैठे सोच-सोच कर भी आदमी थक जाता है। कन्ट्रोल अपना है नहीं, कोई बात अपने हाथ में है नहीं। फिर भी सोच-सोचकर थक जाता है आदमी।

साधना की दृष्टि से क्या होना चाहिए? श्री महाराज जी ने कुछ सूत्र बताए हैं ऐसे, कि विवेक पूर्वक, पवित्र भाव से, आवश्यक कार्य को पूरा कर दो और अनावश्यक कार्य को छोड़ दो। छोड़ सकते हैं आप। किये हुए काम के बदले में कुछ मिलेगा तो उसी से मेरा निर्वाह होगा इसी भ्रम के कारण हम लोग अनावश्यक कार्य को छोड़ नहीं पाते हैं। अगर यह भ्रम निकल गया आपके जीवन से कि किये हुए कार्य का जो फल बनेगा, वह शरीरों के काम आएगा और अपनी शान्ति में जो सत्य अभिव्यक्ति होगा वह मेरे काम आएगा, तो कितना स्पष्ट हो जाए। इन शरीरों का निर्वाह जितना आवश्यक है, अपने में अविनाशी सत्य की अभिव्यक्ति उससे अधिक आवश्यक है कि नहीं? दिन-रात धुन लगी है कि हाय-हाय! ऐसी व्यस्तता, ऐसी व्यस्तता कि फुर्सत ही नहीं है किसी बात के लिए। पता ही नहीं चलता है कि अपने आप में कितना आनन्द भरा है। जीवन अपने आप में कितने आनन्द और रस से भरा-पूरा है- इस पर न कभी ध्यान जाता है, न इसकी कभी याद आती है, न इसके आश्रित होकर हम थोड़ी देर के लिए शान्त हो पाते हैं और जो कभी नहीं मिला, कभी नहीं मिलेगा, उसके पीछे दौड़-दौड़कर अनमोल जीवन गँवा देते हैं। बेमोल बिक जाते हैं-ऐसा बुरा हाल हो जाता है।

तो जीवन-मुक्ति का जिनको साधन पसन्द है, वे ऐसा करते हैं कि आवश्यक कार्य को पूरा कर लिया, अनावश्यक कार्य को रख दिया। कैसे रख दें? ज्ञानी जन तो यूँ ही छोड़ देते हैं और मुझे जब जरूरत पड़ी, क्योंकि बहुत प्रकार के कार्य मैं एक साथ करती थी तो क्या करती थी कि डायरी और पैन्सिल साथ लेकर बैठती थी शान्त होने केलिए। और जरूरी काम खास समय के भीतर होता है, जितना होता है, जितना हम जानते हैं, सब थोड़े ही कर पाते हैं। तो बाकी जो रह गया, जो मस्तिष्क में भरा ही हुआ है, किसी तरह से मेरा पिण्ड छोड़ेगा ही नहीं, तो नम्बर लगाकर उन्हें डायरी में लिख लेती और फिर शान्त हो जाती। आप भी ऐसा कर सकते हैं। अनुभव करके मैंने देखा है कि शान्ति सम्पादन को जीवन का अनिवार्य अंग बना लीजिए, तो व्यावहारिक जगत् का भी काम करने में विस्मृति का दोष आपका मिट जाएगा। हलचल में पड़े रहना, लोभ में पड़े रहना, भय में पड़े रहना-इसी में तो हम लोग भूल जाते हैं। कागज कहीं रख दिया, ढूँढ रहे हैं कहीं, ताला डालकर चाबी कहीं छोड़ दी, समय पर मिले ही नहीं। दवा लेने जा रहे हैं प्रैसक्रिप्शन का पता ही नहीं-यह सब होता रहता है। क्यों? क्योंकि अनेक प्रकार के विकार, संवेग, भय और लोभ में पड़ा हुआ है व्यक्ति। उसकी बुद्धि भ्रमित होती चली जाती है, स्मृति कमजोर होती चली जाती है, और शिकायत भी करते रहते हैं, उपाय भी खोजते रहते हैं और डाॅक्टरों से सलाह भी लेते रहते हैं कि आजकल मेरी याद्ाश्त बहुत कमजोर हो गई। क्यों हो गई भाई? ंचचंतंजने तो तुम्हारे पास है, मशीन तो काम कर ही रही है, फेल क्यों हो रही है? इसी अस्वाभाविक जिन्दगी से फेल होने लगती है। अगर आपने शान्त रहने को जीवन का अनिवार्य अंग बनाया, तो विस्मृति का दोष भी मिट जाएगा, कार्य करने की क्षमता भी बढ़ जाएगी। सब प्रकार की शक्तियों की वृद्धि होती है उसमें

ओर सूक्ष्म शक्तियाँ भी बढ़ेगी। उनके आधार पर असत्य के संग का त्याग और सत्य की स्वीकृति आज अपने को बड़ी कठिन लग रही है, इसमें जो असमर्थता अनुभव हो रही है, यह असमर्थता भी मिट जाएगी, यह कठिनाई भी चली जाएगी। शक्ति की वृद्धि होती जाएगी भीतर-भीतर से, और बल आता जाएगा और आप अपनी दुर्बलताओं पर विजयी होते हुए लौकिक व्यवहार में भी व्यवहारकुशल होंगे और लोक की आसक्ति को छोड़कर, बन्धन को तोड़कर जीवन-मुक्ति के भी अधिकारी होंगे।

बहुत सी बातें हैं और बहुत अधिक कहने से भी कोई लाभ नहीं होने का हैं, लेकिन जो आरम्भ करेगा, उसके इस दिशा में नया-नया प्रकार अपने सामने आता जाएगा, अलगा ेजमच दिखाई देता रहेगा। आप अनुसरण करते जाइए और बिल्कुल स्वाभाविक बात है कि शान्ति जितनी गाढ़ी होती जाएगी, संकल्प-विकल्प का ताँता खत्म हो जाएगा। उस शान्ति में ही अपने आप से, बिना किसी प्रयास के शरीरों से तादात्म्य टूट जाएगा और यह दृश्य-जगत् जैसे दिखाई देता है, वह भी एक आकृति दिखाई देगी। इससे भिन्न आपका स्वतन्त्र आनन्दमय अस्तित्व है, इसका बोध हो जाएगा। इसका नाम है जीवन-मुक्ति।

अब भक्ति की अभिव्यक्ति सुनिए। यह बहुत ही सरस लगती है और मानव हृदय की रचना उस अविनाशी अलौकिक तत्त्व से हुई है, इसीलिए उस प्रेरमरस की चर्चा हर कोटि के व्यक्ति को पसन्द आती है। जीवन का रस ही है वो। प्रेम-तत्त्व के आधार पर ही व्यक्तित्व सुगठित होता है। उसी से सिंचित और उसी से पोषित होता रहता है। हर व्यक्ति को यह तत्त्व पसन्द आता है। यह जीवन रस है, अलौकिक है, अविनाशी है। इसका नाश नहीं होता।

सुख भोग की तृष्णा में पड़े हुए व्यक्ति का रस-स्त्रोत सूख जाता है। भीतर से वह नीरस-सा हो करके संसार में कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है। धूल फाँकता फिरता है। कहाँ रस मिलेेगा, कहाँ अच्छा लगेगा, कैसे सुख मिलेगा, पर सुख मिलता ही नहीं। बाहर है, नहीं, इसलिए मिलेगा नहीं। सत्संग के प्रकाश में, सन्तों के सम्पर्क में, भक्तों के सम्पर्क में, जो लोग रहते हैं, उनको इस बात का पता चल जाता है कि मेरा हृदय जो है, वह उसी मधुर रस की आवश्यकता का अनुभव कर रहा है और जब तक वह रस नहीं मिलेगा, तब तक तृप्ति नहीं होगी। सुख की तृष्णाओं से हृदय कठोर बनता है, शुष्क बनता है, निर्बलता बढ़ती है। स्नायु के कार्य में विखेप होता है, तरह-तरह की मानसिक विकृति होती है। और जैसे-जैसे हृदय को परम पवित्र प्रेम की सरसता मिलती है, तो तन का रोग और मन का रोग, ये सब मिटने लग जाते हैं। शरीर और संसार का मूल्य घटने लग जाता है। परम प्रेमास्पद प्रभु से मिलने की उत्पकण्ठा तीव्र हो जाती है। जीवनमुक्ति तो पहले ही आ जाती है और भगवद्भक्ति का रस मनुष्य को सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य कर देता है। भक्ति की अभिव्यक्ति भी मनुष्य के भीतर ही है।

अब वर्तमान दशा अपनी क्या है? थोड़ी देर के लिए देख लो इसको। पेरम-रस की आवश्यकता तो हम सब लोग महसूस करते हैं। मीठे वचन अच्छे लगते हैं, अपनापन अच्छा लगता है, दूसरों से प्रेम का व्यवहार हम लोग पाना चाहते हैं। नुकसान क्या हो गया कि जहाँ पेरम तत्त्व को हम लोगों ने किसी प्रकार कामना, वासना या संकल्प के साथ जोड़ दिया, तो वह पेरम-तत्त्व

शुद्ध न रह कर, आसक्ति के विकार का रूप धारण कर लेता है। व्यक्तियों के साथ जोड़ दो, वस्तुओं के साथ जोड़ दो, तो जो स्वयं अपने आप में पूर्ण नहीं है, वह पे्रम का पात्र नहीं हो सकता, वह पे्रम देने वाला नहीं हो सकता। कभी-कभी श्री महाराज जी कहते हैं कि भैया! इस सारी सृष्टि में, तुम्हारी रचना इतनी सुन्दर है कि पे्रम का दान केवल तुम्हीं कर सकते हो और इस पे्रम का पान केवल परमात्मा ही कर सकता है। न और कोई पे्रम का दान देने वाला है संसार में, न और कोई पे्रम के पान की क्षमता रखने वाला है। मनुष्य ही एक अकेला इस सारी सृष्टि का ऐसा श्रृंगार है कि जो पे्रम का दान कर सकता है और परमात्मा ही अकेला, एक ऐसा समर्थ अधिकारी है कि जो मानव-हृदय के पे्रम-रस का पान कर सकता है। और किसी में न देने की क्षमता है और न किसी में लेने की क्षमता है।

बाह्य दृष्टि से देखिए तो पशु-पक्षी, वनस्पति सबको पे्रम का रस प्रभावित करता है। करता है कि नहीं? यह एक अनोखा तत्त्व है। इस नाशवान् जगत् में हम भाई-बहनों के व्यक्तित्व से अभिव्यक्त होने वाला, यह अविनाशी तत्त्व है। कोई कितना ही अज्ञान में जीता हो और भूतकाल में कितनी प्रकार की भूलों को कर चुका हो, फिर भी वर्तमान में आप उससे पे्रम का व्यवहार करिये, तो वह स्वीकार करने को राजी रहेगा कि नहीं? कितनी भी कठोरता उसके जीवन में आ गई हो आपके द्वारा दी गई पे्रम की सरसता उसे अमृत के समान लगती है। बहुत पसन्द करता है उसे आदमी। मैं तो उसे जीवन-रस कहती हूँ। इतनी बढ़िया चीज है।

अब अभिव्यक्ति कैसे होती है? तो लेने वाले तो सब प्रकार से लायक हैं ही, उनके बारे में, मैं क्या कहूँ? विचार तो यह करना है कि हम देने वाले देने के लायक हैं कि नहीं? ऐसा सोचना है। तो पे्रम रस का दाता कौन बन सकता है? मह£ष बाल्मीकि जी की वाणी दोहरा लीजिएः-

'जिनहिं न चाहिए कबहुँ कछु,' यह पहली शर्त है। दूसरे, तुम सन सहज सनेह।' बार-बार मैं सोचती हूँ कि अदृश्य परमात्मा से पे्रम करने से जीवन का ताप मिटेगा, यह बात हम सब लोग जानते हैं। कभी भी किसी ने सन्त की, भक्त की वाणी को सुना होगा, कभी किसी ने सद्ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, तो हर भाई-बहन को इस बात का पता है। लेकिन प्रश्न क्या रहता है? अनेकों के मुख से मैंने सुना, स्वामीजी महाराज से प्रश्न करते और भी सन्तों से प्रश्न करते ही रहते हैं कि महाराज! परमात्मा तो दिखाई ही नहीं देता है तो उसको कैसे प्यार करें? दिखाई दे तो करें। मैंने बहुत सोचा इस बात पर कि हम ऐसा क्यों चाहते हैं कि दिखाई दे तो करें। अरे भाई, दिखाई देने वाला तो प्यार करने के लायक निकला नहीं, उसको भी काहे को दिखाई देने वाले में शामिल करते हो। जो कुछ दिखाई दे रहा है, सब तुम्हारी आँखों से ओझल होता जा रहा है, भागता जा रहा है, वह तो काम के लायक निकला नहीं। अब एक रह गया है जिसके बारे में भक्तजन कहते हैं कि वह सदा-सदा से तुम्हारा प्यारा है और कभी भी उसकी ओर से प्यार की रसधारा का आना बन्द नहीं हुआ। तो एक रह गया है ऐसा, उसको भी इसमें क्यों शामिल करना? रहने दो अदृश्य, अपने वह काम आएगा। एक बात हो गई।

दूसरी बात मेरे ध्यान में आयी, बहुत सोचा मैंने तो मेरे ध्यान में यह बात आयी कि परमात्मा से भी प्यार करने का प्रश्न जब मनुष्य के जीवन में आता है तो वह सोचता है कि दिखाई

देता तो अच्छा था। ऐसा क्यों सोचते हैं, हम क्यों चाहते हैं कि परमात्मा दिखाई दे, तो पसन्द करें? इसका अर्थ यह कि अपनी जो पुरानी आदत है कि संसार पर दृष्टि पड़े तो देखो कि कहाँ से कुछ मिल सकता है, तब उससे नाता जोड़ो। किसी से कुछ सहायता मिल सकती है, तो उससे सम्बन्ध बढ़ाओ। यह तो कुछ लेने की बात मनुष्य के भीतर रहती है, उसी के कारण तो वह परमात्मा के सम्बन्ध में भी सोचता है कि दिखाई दे, तो देखें वह कैसा है? मेरे काम आने के लायक हो, तो कुछ बात-चीत की जाए, और जब-जब ईश्वरीय पे्रम की अभिव्यक्ति की बात सामने आयी, तब-तब मैंने सुना और बारम्बार सुना। सन्त कबीर ने कहा—

"यह तो घर है पे्रम का, खाला का घर नाहिं।

सीस उतारे भुँहि धरे, सो पैठे घर माहिं।"

तो ईश्वरीय पे्रम से जीवन लहराता क्यों नहीं? वह उतना आवश्यक मुझे क्यों नहीं लगता? इन सब प्रश्नों को अपने सामने रखकर छानबीन करके मैंने देखा तो मुझे पता चला कि बढ़िया बात तो यह है कि भीतर में जितने विकार भरे पड़े हैं, जिनके कारण पे्रम-रस की अभिव्यक्ति में बाधा पड़ रही है, उन सब विकारों के सहित अपने को अनन्त परमात्मा के आगे समर्पित कर दो। बड़ा अच्छा लगा। मैंने कहा कि आपका दिया हुआ सब बढ़िया था, शुद्ध था, पवित्र था, कोमल था, सरस था। मैंने अपनी ही भूल से सबको बिगाड़ दिया। फिर भी आपकी बड़ी कृपालुता है कि मेरी दुर्दशा को देखकर, मेरी पीड़ा को देखकर, आप करुणा-सागर की ही करुणा में लहरियाँ उठने लग जाती है। उन्हीं की करुणा द्रवीभूत होकर मुझे छूने लगती है। इस विविध रूप प्रवृत्तियाँ में फँसा हुआ व्यक्ति भी परमात्मा की याद करता है। मैं महाराज जी से कहने लगी कि महाराज जी! बड़े अच्छे हैं आपके मित्र, बहुत प्रिय लगने लगे मुझे। इसलिए कि मैं तो उनको भूल गई थी, मैंने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। मुझमें सामर्थ् कहाँ जो मैं उनको याद करूँ। लेकिन सुख-दुःख के द्वन्द्व में फँसे हुए पीड़ित जीवन को देखकर, उन करुणा सागर की करुणा में रस लहराने लगा, उन करुणा सागर की करुणा द्रवित होकर मुझे छूने लगी। उन्होंने याद किया मुझे, दुःख से मुझे निकालकर अपने पे्रम का पात्र बनाकर, मुझे सरस बनाने की बात उधर से पैदा हुई। पीछे मुझे उनकी याद आई। बड़ा अच्छा लगने लगा। बहुत बल मिलने लगा कि बहुत बढ़िया बात है।

ऐसा आप देखिए, कि भूतकाल में हम लोगों ने कुछ भी किया हो, परवाह मत करो, डरने की कोई बात नहीं है। महाराजजी ने कहा कि भूतकाल में तुमने पाप का पहाड़ बनाकर खड़ा कर दिया तो भी तुम्हारे पाप के पहाड़ को खत्म करने के लिए प्रभु की करुणा की एक बूँद पर्याप्त है। डरो मत। निश्चिन्त हो जाओ। भूतकाल में हमने कुछ भी किया हो, वर्तमान में जब ध्यान में आये कि सम्पुर्ण व्यक्तित्व के भीतर मेरे पास एक अनमोल तत्त्व भी है, पे्रम तत्त्व। यद्यपि वह अनेक प्रकार के विकारों से दूषित हो चुका है, तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं। परमात्मा अनन्त सागर है पे्रम के। उनके यहाँ से पे्रम कभी नहीं घटेगा, उधर से उदारता का दरवाजा कभी संकीर्ण नहीं होगा। निश्चिन्त रहो बिल्कुल और अपने को, सबके सहित, जो अच्छा किया, जो बुरा किया, तो विफल हुआ सबके सहित अपने को उनके समर्पित करके, उनकी शरणागति लेकर, शान्त हो जाओ। थोड़ी-थोड़ी देर की शान्ति में

अनन्त की कृपा-शक्ति इतना काम कर देती है कि जितना बहुत दिनों के तप से नहीं हो सकता। इस प्रकार भक्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है।

वे तो बड़े वीर पुरुष थे, जिन्होंने लोक का सुख और परलोक का मोक्ष सब परमात्मा पर न्यौछावर कर, उन्हें प्यार करना पसन्द किया। वे तो बड़े वीर पुरुष थेऋ हम तो अपने को निर्बल देखते हैं। निर्बलों के भी वे हैं अपने। और कभी तो अपनी असमर्थता से पीड़ित निर्बल साधक, परमात्मा को बहुत प्रिय लगने लगता है। जैसे अबोध और निरीह बालक, दुःख में पड़कर अधीर होकर, माँ-बाप को पुकारे तो माता-पिता उनकी योग्यता नहीं देखते, उनका दोष नहीं देखते। उसकी पुकार पर दौड़कर उसे उठा लेते हैं। ऐसे ही वर्तमान क्षण में अपना चित्र कितना ही बिगड़ा हुआ क्यों न दिखाई देता होऋ अपने को न डरना है, न संकोच करना हे, न निराश होना है। अपने को सर्व-समर्थ के सामने समर्पित कर दो। शान्त हो जाओ। उनकी कृपा शक्ति सब प्रकार से सँभाल लेगी और अपने पे्रम का पात्र बनाकर, पे्रम के आदार-प्रदान में समर्थ बना देगी।

प्रवचन(88)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

सृष्टि में सब कुछ उत्पत्ति-विनाश युक्त है। बनता है, मिटता है, बदलता है, अर्थात् बिगड़ता है, दृश्य मात्र क्षण भंगुर है, परन्तु सर्व उत्पत्ति के आधार एवं सर्व प्रतीति के प्रकाशक परमात्मा अविनाशी हैं। वे ही अव्यक्त, अविनाशी भगवान्, कभी-कभी अपने व्यक्त विग्रह को लेकर संसार में आते हैं तथा अपनी प्रीति भरी दिव्य लीलाओं से अपने भक्तों का रंजन करते हैं। उनकी दिव्य लीलाओं का कभी नाश नहीं होता। जब से मुझे इस बात का पता चला, तब से बहुत आनन्दित रहती हूँ। अपने को समझती हूँ कि अगर तुम सुन्दर दृश्य ही देखना चाहती हो तो भुवन मोहन श्री श्याम सलोने की मधुर मूर्ति को देखो। उसको देखकर नेत्र सदा के लिए तृप्त हो जाएँगें। सोच कर ही बड़ा आनन्द आता है।

रामावतार और कृष्णावतार की लक्षित कथाएँ सुन-सुनकर मुझे बड़ा अच्छा लगता था बचपन से ही, कभी-कभी मैं गुरुजनों से पूछती थी कि जब भगवान् आए थे इस पृथ्वी पर और इतनी पे्रम भरी लीलाएँ उन्होंने की, तब मैं कहाँ थी। ऐसा मैं पूछती थी माताजी से, पिता जी से, दादी जी से और मन ही मन बड़ा दुःख लगता था कि न जाने मैं कहाँ थी? अगर उस समय मुझे पता चला होता कि भगवान इस धरती पर आए हैं, तो मैं उनसे चिपट जाती उनको छोड़ती ही नहीं। अब क्या हो? बाजी हार जाने की तरह एक पीड़ा भीतर-भीतर रहती थी।

एक बार सत्संग के क्रम में स्वामी जी महाराज के साथ मैं बैठी थी, एक संत के मुख से मैंने सुना कि बारम्बार प्रभु की लीलाएँ दोहराई जाती है। प्रत्येक कल्प में, प्रत्येक युग में, बारम्बार रामावतार होता है, बारम्बार कृष्णावतार होता है। जितनी बार त्रेता युग आएगा, उतनी बार रामावतार होगा और जितनी बार द्वापर युग आएगा, उतनी बार कृष्णावतार होगा। सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आशा जग गई कि बींदबम है! अभी लीला होने वाली है, बड़ी बढ़िया बात है। संसार के सम्बन्ध में नश्वरता के विचार से एक उदासी का भाव जगता था, वह उदासी दूर हो गई।

सृष्टि का कण-कण, प्यारे प्रभु की प्रियता एवं दिव्यता से अनुप्राणित मुझे अति प्रिय लगने

लगा। दृश्यों की परिवर्तनशीलता में, एकदम नवीनता बनाए रखने की कलाकृति को देखकर अनुपम अलौकिक कलाकार पर मैं बलिहारी जाती। इस दृश्य जगत् को भी, वे कितना प्यार करते हैं, वे अपने अलौकिक रूप से इसकी सुन्दरता बढ़ाते हैं, अपने-अनन्त माधुर्य से इसकी मधुरिमा बढ़ाते हैं, अपने अनन्त ऐश्वर्य से इसका नियमन करते हैं। आह! यह जगत् भी धन्य है। पे्रम स्वरूप की विहार-स्थली, इस लोक के वासी होकर रहने में भी बड़ा आनन्द है, जहाँ वे अगणित रूप बनाकर आते हैं, हमारे नयनों के विषय बनकर, सर्वेन्द्रियों सहित हमको अपने मधुर पे्रम के अथाह सागर में विलीन कर लेते हैं। धन्य हैं प्यारे प्रभु! धन्य है मानव और धन्य है यह वसुन्धरा! ये सब रहस्य की बातें सत्संग के प्रकाश में संत की वाणी में मुझे प्राप्त हुई। इस समग्र सृष्टि में अगर किसी दृश्य को, हम लोग दिव्य कह सकते हैं, नित्य कह सकते हैं, तो वह अवतारी पुरुष की लीला ही है। यह बात मुझे ठीक लगी है, जँच गई। इस आधार पर कि उनकी लीलाएँ दिव्य हैं, उनकी दिव्यता का प्रमाण यह है कि प्रत्येक कल्प की पुनरावृत्ति में, प्रत्येक युग में वे अपने ढंग से आते ही रहते हैं, अपने बच्चों को पे्रम प्रदान करते ही रहते हैं। बारम्बार यह बात होती रहती है। चिरपुरातन, चिर-नवीन का विशेषण सिद्ध होता रहता है।

ईश्वर की दिव्य लीलाओं में और सृष्टि के अन्य दृश्यों में, बड़ा भारी अन्तर है। युग-युग के भोगी, संसार में आए गए, आए गए। अनेकों बार जन्म हुआ, मरण हुआ लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि एक जन्म में जो कुछ घटनाएँ घटित हुई हों, वो फिर दोहराई जाएँ, ऐसा कभी नहीं होता है। सब कुछ परिस्थितियों के साथ बदलता जाता है, समय के साथ बदलता जाता है, लेकिन प्यारे प्रभु ने जो यह नर लीला इस धरती पर की है, वे लीलाएँ दिव्य हैं। उनका एक उद्देश्य है और उनका एक आनन्ददायक परिणाम हम लोगों के लिए यह है कि आज भी भक्त जिस भाव से उनको प्यार करते हैं, उस भाव का आदर करके उसी रूप में वे उनको दर्शन भी देते हैं और उनके साथ में विविध लीलाएँ भी करते हैं। अभी भी ऐसा हो रहा है। ऐसा होता रहता है।

एक उदाहरण मैं आपको सुनाती हूँ, सच्ची घटना है, वे सज्जन अभी सशरीर विराजमान हैं। पू£णयाँ में एक सज्जन मिले थे, उन्होंने अपनी कथा सुनाई, कि "मैं बैठा था, रामायण का पाठ हो रहा थाऋ खूब बाजा बज रहा थाऋ झाँझ मंजीरा बजाकर स्वर के साथ पाठ किया जा रहा था। हनुमान जी का मन्दिर था। खूब रोशनी हो रही थी और बड़ा समारोह था। उसमें मैं बैठा पाठ कर रहा था। मैं ब्राह्मण हूँ, बैंक में नौकरी करता हूँ। मित्रों ने मुझे बुला लिया था कि चलो पाठ में शामिल हो। मैं सबके स्वर में स्वर मिलाकर गा ही रहा था कि इतनी ही देर में पता नहीं, सब दृश्य कहाँ गायब हो गया। न लाइट है, न गाजा-बाजा है, न धूम-धाम है, न लोगों की भीड़-भाड़ है, कुछ नहीं है। सब कहाँ गायब हो गया। मैंने देखा कि मैं बैठा हूँ मिथिलापुरी में, जनकपुर की सभा में, धनुषयज्ञ की भीड़ में, मैं बैठा हूँ। रंग-भूमि में उसी तरह बड़ा विशाल धनुष रखा हुआ है। और मैंने देखा कि गुरु जी महाराज के पास बैठे हैं राजकुमार कौशल किशोर। गुरु जी ने आज्ञा दी।

उठहु राम भंजहुँ भव चापा।
मेटहुँ तात जनक परितापा।

इस चोपाई के गाते ही शरीर और संसार, मन्दिर और पाठ सब खत्म हो गया। अब

जनकपुर के धनुष यज्ञ का चित्र वहाँ उपस्थित हो गया। चारों ओर खूब भीड़ लगी है और राघवेन्द्र सरकार के प्रकाश से यज्ञ-भूमि में चारों ओर जगमग-जगमग हो रहा है। उसकें बाद मैंने देखा कि राम लला जी उठकर खड़े हो रहे हैं, उन्होंने गुरु महाराज को प्रणाम किया और मंच से उतरकर एक-एक कदम बड़े धीरज से बड़ी स्थिरता से रख रहे हैं। मैं देख-देखकर मोहित हो रहा था। इतना अच्छा लग रहा था, इतना अच्छा लग रहा था कि मैं क्या बताऊँ कि सभा में, सन्नाटे में सब लोग चुपचाप बैठे थे। श्री रामचन्द्र जी ने देखा, कि बड़े-बड़े वीर वहाँ हार चुके थे। सब लोग स्तब्ध होकर देख रहे थे कि पन्द्रह वर्ष का राजकुमार, अति सुकुमार बालक, विकराल धनुष तोड़ने जा रहा है, इसीलिए सब लोग आश्चर्यचकित थे। इधर राजकुमार धीरे-धीरे अपनी राजसी चाल में बड़े ही आत्म-विश्वास के साथ आ रहे थे धनुष के पास। उनके दर्शन से इतना आकर्षण हो गया, उनके मुख के प्रकाश से, उनके मुख से फैलने वाली मधुरता से मैं इतना मंत्र-मुग्ध हो गया था माता जी, कि मैं क्या बताऊँ, पता नहीं कि मैं कहाँ था। आप सुन रहे हैं? यह अनुभव है उस मानव का।

अब देखिए! दिव्य-दर्शन के रस अहं का पता कहाँ रहेगा। वह ब्राह्मण युवक लीन हो गया था उस पे्रम में, और संयोग की बात थी कि उसके साथ वहाँ के मानव सेवा-संघ के कार्यकर्त्ता बैठे थे। वे भाई उस पाठ-यज्ञ के आयोजक भी थे और इस ब्राह्मण युवक के साथ वे भी पाठ में शामिल थे। तो युवक अपने आनन्द की बात सुना रहे थे मुझको। उन्होंने उस आयोजनकर्त्ता की ओर बहुत ही अनासक्ति की दृष्टि से देखा और कहने लगे कि "माताजी, देखिए, यह यमुना प्रसाद जो है, जो आपके पास बैठा है, इसने बड़ा दुःख दिया मुझको। पाठ के बीच में इसने सोचा कि ब्राह्मण सो गया है तो मेरी बाँह पकड़कर मुझको हिला दिया। कहने लगा, कि पाठ करने आया है कि सोने? उठो! माता जी मैं सो नहीं रहा था। मैं तो अलौकिक आनन्द में था। क्या देख रहा था, मैं कहाँ था, कैसे क्या हो गया, मुझको कितना आनन्द में था-कितना आनन्द था यह मुख से कहने की बात नहीं है। और मेरे उस भाई ने मुझको पकड़कर हिला दिया। पलक मारते ही दृश्य बदल गया। फिर तो वही झाँझ-मँजीरा सुनाई देने लगा, वही चैपाइयाँ सुनाई देने लगीं। बत्ती दिखाई देने लग गई, मन्दिर दिख गया और मैं कहाँ से कहाँ आ गया। तो वह रूप, उस दिन से मेरी आँखों से निकला नहीं है। मैंने उनको कहा नहीं, कि मुझको दर्शन देना, मैंने उनको कहा नहीं था अपनी मोहिनी मुझ पर डालना और बिना मेरे कहे, उन्होंने मुझे दर्शन दे दिया, अपनी मोहिनी मुझ पर डाल दी, माताजी! अब तो मैं दुनियाँ के काम के लायक नहीं रह गया। किसी प्रकार से घबराकर चला रहा हूँ, किसी प्रकार से नौकरी चल रही है। दिन-रात यह मोहिनी मूरत मेरी आँख में बसी हुई है। अब मैं तड़प रहा हूँ कि प्यारे कब मुझको अपने पे्रम-स्वरूप में मिला करके, मेरे जीवन को पूरा करेंगे।

देखिए! इसी असार संसार में, उस युवक ने दिव्य चिन्मय का दिव्य दर्शन पाया। नाम-रूप, लीला और ध्यान की दिव्यता सिद्ध हो गई—यह एक उदाहरण है। और बाकी संसार का क्या हाल है? कि ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से, जगत् के सम्पर्क से, जिन दृश्यों को हम देखते हैं उनको दोबारा नहीं देखा जा सकता, क्योंकि पलक के उठने और गिरने के बाद आप भी बदल जाते हैं

और वह दृश्य भी बदल जाता है। इतना परिवर्तनशील दृश्यमान जगत् है, जिसमें निरन्तर परिवर्तन है और जरा सी देर के लिए भी ठहराव नहीं है। ऐसे अनित्य जगत् में वे लीलामय दिव्य रूप लेकर आते हैं, दिव्य लीलाएँ करते हैं और हमारे आपके बीच अद्‌भूत-अद्‌भूत क्रीडाएँ कर जाते हैं, जो बड़ी ही मनभावनी हैं। ये लीलाएँ इस मृत्यु-भवन में होती हैं, परन्तु लीलाएँ स्वयं दिव्य होती हैं। उनका नाश नहीं होता। इसलिए हमारे द्धषियों, मनीषियों, महापुरुषों ने संसार के कल्याण का मार्ग दिखाने वालों ने, हम लोगों को बताया कि यदि तुमको दृश्य ही पसन्द आता है, तो दिव्य दृश्य पर दृष्टि डालो। अगर तुमको नाता-रिश्ता, सम्बन्ध जोड़ना ही पसन्द आता है, तो उस दिव्य अवतारी से सम्बन्ध मानो।

राम विवाह की कथा आप लोगों ने सुनी होगी। मिथिलापुरी में विदाई के पहले, सखी-सहेलियों की बात हो रही थी तो उन्होंने बहुत प्रीति भरी बातें कही और प्रीति के ग्राहक रसिक शिरोमणि कौशल किशोर सुन-सुनकर पे्रम विभोर होते जा रहे थे। पे्रमियों की पे्रम भरी बात सुनना उनको अत्यन्त प्रिय लग रहा था। सखियों का अनुरोध था कि हे लालन! आप चले जाएँगे, तो दर्शनों के बिना हम कैसे रहेंगी। हम नहीं रह सकेंगी। सबको मालूम था कि ये मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। एक विवाह उनका हो गया, अब तो हम इनके महल में प्रवेश नहीं कर सकती, फिर भी वे मधुर प्रीति से पगी हुई सखियाँ प्रवाह में कहे चली जा रही हैं कि हे लालन! हम किशोरी जी की दासी होकर रहेंगी, हम आपके राज्य में महल के बाहर फूँस की झोपड़ियाँ बनाकर रहेंगी। अब आप देखिए, ऐसा कह रही हैं राजमहल की राजकुमारियाँ। किशोर जी के साथ थोड़े समय के आगे-पीछे तेरह सखियाँ मिथिलापुरी में अवतरित हुई थीं। उन्होंने कहा कि हम आप दोनों के दर्शन के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकती। बड़े से बड़ा त्याग, बड़ी से बड़ी कठिनाई उठाने की बात उन्होंने कही और कहा कि बस अब इतना ही है कि हमारी प्यारी किशोरी जी के सम्बन्ध से आप हमें, अपनी करके मानें। यह अपनापन अवश्य निभाना। इतना कहाँ सहन होता, उस पे्रम-स्वरूप से। सखियों के हृदय में अगर सीमित पे्रम-भाव उमड़ रहा है तो उस असीम अनन्त में असीम भाव उमड़ रहा है। और वहाँ उन्होंने कह दिया कि अच्छी बात है सखियों, आपने जो किया मेरे लिए, सो किसी ने नहीं किया। मैं आप ही का हूँ, मैं सदा-सदा से आपका हूँ और आपका होकर रहूँगा। आपको छोड़कर नहीं जाऊँगा—ऐसा कह दिया उन्होंने। और जैसे कहा, वैसा किया।

आज भी उस क्षेत्र में कई भक्त लोग मुझे मिले, जिन्होंने मुझे बताया कि वहाँ पर इस भाव से, आज भी अनेकों भक्त, युगल सरकार की उपासना करते हैं और इस बात को मानते हैं कि वे रसिक शिरोमणि मिथिला छोड़कर गए नहीं हैं। आज भी उन लोगों को वहाँ पर युगल जोड़ी का दर्शन होता रहता है, मुलाकात होती रहती है। कलिकाल में भी ऐसा हो रहा है, ऐसा हो सकता है, ऐसा होना सम्भव है और इन सारी बातों को ध्यान में आने से मुझे यह बहुत अच्छी बात लगती है कि अगर दृश्य देखे बिना अपने को सुना-सुना लगता है, यदि देखना ही पसन्द है, तो उस दिव्य लीला को ही क्यों न देखो, जिसका कभी नाश नहीं होगा। नाम लिए बिना यदि नहीं रहा जाता है, तो उस दिव्य नाम को क्यों न लो, जो सब प्रकार से तुम्हारा लोक-परलोक सुधार देगा। सम्बन्ध माने बिना यदि अकेले तुम से नहीं रहा जाता है, तो उस

नित्य सम्बन्धी से सम्बन्ध क्यों न मानो जो सब समय साथ देगा। बहुत अच्छी बात है। यह सब हो सकता है, परन्तु कब, जब हम पसन्द करें तब। अगर कोई नापसन्द करे तो भगवान को कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन अपने से रहा कहाँ जाता है।

और भी बढ़िया बात है देखिए! अगर बिना देखे, बिना जाने, पे्रम स्वरूप परमात्मा से ;कपतमबजद्ध सीधा विश्वास करके सम्बन्ध आप न मान सकें, तो किसी भगवद्-भक्त, अनुरागी संत के कहने से मान लेना चाहिए। ऐसा भी होता है। जीवन की आवश्यकता देख कर भी उनको अपना मानता है आदमी, गुरु के वाक्यों को सुनकर भी मानता है, सद्ग्रन्थों के वाक्यों को पढ़कर भी मानता है, ये तीनों ही आधार हैं। अपने में आवश्यकता है, रहा ही नहीं जाता बिना सम्बन्ध माने, तो नित्य सम्बन्धी से ही सम्बन्ध मानना अच्छा है। उसके अतिरिक्त इस जगत् में ऐसा सम्बन्ध क्या माने, जो बन भी जाता है, बिगड़ भी जाता है। मीरा जी ने कहा था कि --

ऐसे वर को क्या वरूँ रे, जो जन्मे मर जाए।

वर वरिये एक साँवरिया रे, चुडलो अमर हो जाए।

मीरा जी ने ऐसे नित्य सम्बन्धी को अपना माना था, तो वे चिर सुहागिन हो गई। अचल सुहागवती हो गई हमेशा के लिए। फिर कभी उनको दुःख देखना नहीं पड़ा। इसी प्रकार भक्त जन जो हैं, सन्त जन जो हैं, हम लोगों को दुःख से छुड़ाने के लिए, अमर आनन्द देने के लिए, अनन्त रस का पान कराने के लिए, सलाह देते हैं कि सम्बन्ध माने बिना तुमसे रहा नहीं जाता, तो उस नित्य सम्बन्धी को अपना मानो, जो लोक-परलोक सब निभा देगा। यहाँ का भी, और शरीर के त्यागने के बाद भी, सब कुछ पूरा कर देगा, क्योंकि समर्थ हैं वो। अब मनुष्य की बड़ी भारी बहादुरी है कि बिना देखे, बिना जाने को अपना मान करके स्वीकार कर ले और उस पर अपने को समर्पित कर दे। उसकी इसी बहादुरी पर रीझ करके परमात्मा उसकी सारी जिम्मेदारी अपने हाथ में ले लेते हैं। वे कभी भी हमारा साथ नहीं छोड़ते। जिसके सम्बन्ध की स्वीकृति मात्र से अपनी सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं, उसी से सम्बन्ध मानना सार्थक है।

हाँ! प्राकृतिक विधान से, जो मनुष्यों से सम्बन्ध बन गए हैं अपने, जुट गए हैं, उनमें से कुछ हमने जान बूझकर सचेत होकर जोड़े और कुछ शरीर के जन्म से सम्बन्ध जुट गए तो इनको साधन रूप दे दिया जाए। इनको सत्य नहीं माना जाए। थोड़े दिनों के लिए संयोग बना है—ऐसा जानकर इनके साथ जितना अच्छा बन पड़े सद्व्यवहार किया जाए और फिर सम्बन्ध कभी न माना जाए। हमारा इनसे सीधा सम्बन्ध नहीं है—इस सत्य को स्वीकार किया जाए। शरीर के नाते भौतिकवाद की दृष्टि से सभी प्राणी एक हैं, अध्यात्मवाद की दृष्टि से सब निज स्वरूप हैं, ईश्वरवाद की दृष्टि से सब मेरे प्यारे के प्यारे हैं। दार्शनिक दृष्टिकोण लेकर, पति, पुत्र, सन्तान, माता-पिता, भाई-बहन सबके साथ सद्व्यवहार करो तो उनका चिन्तन छूट जाएगा और याद किसकी रहेगी? जिसके नाते से आपने उनकी सेवा की थी, उसकी याद रह जाएगी। फिर तो आप इस रस में पगे रहेंगे कि सब कुछ तेरा, केवल तू ही मेरा। बड़ा आनन्द रहेगा।

अब कोई कहे कि कुटुम्बियों का मोह और सम्पत्ति का लोभ हम छोड़ ही नहीं सकते, तो इतना भी साहस हम नहीं कर सकते, तो कैसे

काम बनेगा भाई? आप चाहते हैं कि मरणशील शरीर को लेकर मृत्यु भुवन में रहते हुए उस अजन्मा, अनादि, उस परमात्मा के परम पे्रम के पात्र हम बन जाएँ और वे प्यारे प्रभु आकर हमको लाड़ दुलार करें, गोद में बैठाएँ, सँभालें और अन्य भक्तों के साथ उन्होंने किया। इतनी बात यदि आप चाहते हैं कि अशरीरी, त्रिगुणातीत, पे्रम के वश होकर, मेरे लिए दो हाथ, दो पाँव बनाकर, मेरे पास आ जाएँ और रूप-माधुरी का पान कराएँ, इतनी ऊँची अभिलाषा आप रखते हैं। लेकिन अपनी ओर देखिए! अपने माने हुए मिथ्या सम्बन्धों को छोड़ने के लिए राजी नहीं है। बड़ी हास्यास्पद बात है।

एक बार महाराज जी कहने लगे कि देखो! मनुष्य के हृदय के पे्रम-भाव का आदर करने के लिए वह ब्रह्म, ब्रह्मभाव को छोड़कर जीव भाव स्वीकार करता है और उस पे्रम का आदर करने के लिए तुम अपनी तुच्छ ममताओं को नहीं छोड़ सकते और फिर कहते हो हम ईश्वर विश्वासी हैं, हम ईश्वर भक्त हैं। भैया! इस प्रकार पे्रम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। अतः मैं अपने आत्मीय सभी भाई-बहनों से बड़ी नम्रता से निवेदन करती हूँ कि अनमोल अवसर है, हम लोग चूकें नहीं। जिन्होंने अपने पे्रम के विस्तार के लिए ही हमें रचा है, वे तत्पर हैं हमें अपनाने में। मानव हृदय ही तो वह माध्यम है, जिससे पे्रम-स्वरूप की मधुरता विश्व में प्रकट होती है। अपना हृदय पट हम खोलें। उन पे्रम स्वरूप में रस उमड़ रहा है, हमें भरने के लिए। अब आप शान्त हो जाएँ।

प्रवचन(89)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग मानव जीवन की उच्चतम उपलब्धि की चर्चा कर रहे हैं। सबसे ऊँचे जीवन का चित्र कैसा है? कि जिसमें शान्ति, स्वाधीनता और परम पे्रम भरपूर हो अर्थात् जिससे व्यक्ति शान्ति, स्वाधीनता और परम पे्रम के रस से अभिन्न हो जाए। यह हमारे जीवन का उच्चतम चित्र है।

वर्तमान की दशा कैसी है? वर्तमान की दशा ऐसी है कि निज विवेक के प्रकाश में हमने प्रतीत होने वाले जगत् की परिवर्तनशीलता को देखा है। इसके नश्वर स्वरूप को हम लोग पहचानते हैं। अतः इस आधार पर प्रतीत होने वाले जगत् की ओर से सहारा टूट जाता है। जो है इसकी वस्तुएँ और इसके व्यक्ति किसी भी प्रकार से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर ही नहीं सकते। इस दृष्टि से इधर से निराशा होती है, इधर का सहारा छूटता है। और बेसहारे रहने का साहस अपने में है नहीं।

जीवन में जो अपूर्णता अनुभव करता है, अभाव अनुभव करता है, शरीर की परिस्थितियों की पराधीनता में बँधा हुआ अनुभव करता है, वह अकेला रह नहीं सकता? बे सहारे रह नहीं सकता। उसको एक अचल सहारा चाहिए। जिसको पकड़कर वह सदा-सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो सके, ऐसी जरूरत मनुष्य की है। उसकी इस आवश्यकता की पूर्ति सारी सृष्टि मिलकर नहीं कर सकती। ऐसी हालत में घुमा फिर करके, किसी-न-किसी ढंग से, व्यक्ति को उस अदृश्य, अनजानी, अलख, अगोचर, नित्य सत्ता पर विश्वास करना ही पड़ता है। मैं तो ऐसा मानती हूँ कि हम से रहा ही नहीं जाता। अपने में अधूरा पर अनुभव होता ही है। और सन्त जनों ने बताया कि सर्व प्रतीति का प्रकाशक, सर्व उत्पत्ति

का आधार एक है जरूर, जिससे यह सब कुछ उत्पन्ना हुआ है और जिससे यह सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। तो हम लोगों को भीतर से यह माँग मालूम होती है कि हमको ऐसा चाहिए और बाहर से सन्त जनों के वचनों में सुनाई देता है कि 'ऐसा है' और सद् ग्रन्थों में लिखा हुआ भरा पड़ा है कि 'ऐसा है।'

इस आधार पर भाई-बहनों के जीवन में ईश्वर-विश्वास का एक तथ्य पाया जाता है। जहाँ संसार से काम चल गया वहाँ उससे काम चला लिया। जहाँ इधर से काम नहीं चला तो भगवान को याद कर लिया। इस दुविधा में जीवन का बहुत बड़ा भाग निकल गया। अब इस दशा को मिटाना है हमें। दुविधा में क्यों रहेंगे। दो स्वतंत्र सत्ताएँ हो नहीं सकतीं। एक ही को मानेंगे हम। दिखाई देने वाले ने हमें सन्तुष्टि नहीं दीऋ निश्चिन्त नहीं कियाऋ निर्भय नहीं कियाऋ हमारे अभावों को दूर नहीं किया। इसलिए जो सजग भाई-बहन होते हैं, वे जीवन के विधान के आधार पर, सन्त महापुरुषोुं के वचनों के आधार पर, सद्ग्रन्थों के, वाक्यों के आधार पर, बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को स्वीकार कर लेते हैं। तो इस स्वीकृति मात्र, से हम आस्तिक हो जाते हैं।

अब आगे चलकर हम लोगों को भक्तों की श्रेणी में आना है। हमने बड़े ऊँचे-ऊँचे भक्तों के जीवन को पढ़ा है, सुना है, पसन्द किया है। उससे बड़ा उत्साह बढ़ता है, एक सहज आर्कषक उनकी ओर होता है तो उनके पास हम जाते हैं। अपने को आधुनिक ढंग से, वैज्ञानिक भाषा में समझना चाहती हूँ तो इस प्रकार से समझती हूँ कि जिन संत जनो के व्यक्तित्व में सत्य की अभिव्यक्ति हो गई अर्थात् जिनके व्यक्तित्व में परम पे्रमास्पद प्रभु की विभूतियाँ प्रकट हो गई। उदारता, स्वाधीनता, परम पे्रम के रस रूप में, उन सन्त महात्माओं के प्रति हम भाई-बहनों का एक सहज आकर्षण होता है। तो जो जीवन का मूल स्त्रोत है, परम स्वाधीन, परम उदार, परम पे्रम का अथाह सागर है, उसमें अगर इतना आकर्षण है कि हमारी भूली भटकी हुई दशा में भी वो हमें अपनी ओर खींचे ही रहता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। उनके दिए हुए सद्गुणों के आधार पर जब मनुष्य का व्यक्तित्व समाज में इतना आकर्षक हो जाता है तो जो स्वयं सब सद्गुणों का उद्गम है, उसमें आकर्षण कम होगा? जी? कम नहीं है।

तो होता क्या है कि निज विवेक का अनादर करके, अपने जाने हुए असत्य के संग का त्याग करने में भी हम थोड़ी देर लगाते हैं, कि अच्छी बात है नाशवान है तो सही, लेकिन आज अच्छा संयोग बना है, सुखद परिस्थिति दिखाई दे रही है तो आज तो उसका सुख ले लो, फिर नश्वरता के बारे में सोच लेंगे—ऐसा करके पता नहीं कितनी अनमोल घड़ियाँ हम खो चुके हैं। जिन घड़ियों में परम पे्रमास्पद प्रभु के अत्यन्त आकर्षक, अत्यन्त मधुर रस के प्रवाह से हम आप्लावित हो सकते थे, उन घड़ियों में भी हमने तृष्णा भरी दृष्टि से जगत् की ओर देखा। अपने को पराधीन पाया, अपने को दीन-हीन पाया तो घाटा लगा कि लाभ हुआ? बहुत बड़ा घाटा लगा। तो अब क्या करें? वे जीवन-दाता परम उदार हैं। वे हमें क्षमा भी कर देते हैं, आगे बढ़ने का साहस भी देते हैं और मार्गदर्शन भी करत हैं जितना हम चल सकते हैं, उतना चल लेते हैं। जहाँ सामर्थ् खतम हो जाती है, वहाँ आकर, अपने करुणा भरे हृदय से लगाकर सँभाल भी लेते हैं। ये सब बातें वे करते हैं मनुष्यों के प्रति,

साधकों के प्रति, सामर्थ्वानों के प्रति, असमर्थों के प्रति। सब उनके प्यारे हैं, सबको वे अपना मानते हैं और सभी की इस दिशा में सब प्रकार से सहायता करते हैं। ऐसा मैंने अनुभवी संतों की वाणी में सुना और सुनने से जीवन के प्रति एक बहुत ही आशा जनक दृष्टिकोण बन गया कि सारी जिम्मेदारी उन्होंने हम पर नहीं डाली। कुछ जिम्मेदारी हम पर है बाकी सब कुछ वे कर सकते हैं, परन्तु एक बड़ी जोरदार बात है कि यदि आप आवश्यकता अनुभव करें तो। नहीं तो नहीं। ऐसा क्यों है? ऐसा भी मैंने प्रश्न किया था महाराज जी से कि यदि प्रारम्भ में ही मुझे बता दिया जाता कि यह सब असत् का संग है तो क्यों मैं इनके संग में लिपट करके अपनी दुर्दशा करती? क्यों हमें बुराई में प्रवेश करने की अभिरूचि उत्पन्न होती?

तो महाराज जी ने कहा कि देखो, पशु-पक्षी आदि योनियों में जो शरीरधारी हैं, उनमें स्वाधीनता कम है। वे केवल प्रकृति के विधान से बँधे हुए चलते हैं, देह-जनित सुख-दुःख का भोग करते हैं और मर जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके भीतर और कोई जिज्ञासा, और कोई सामर्थ् नहीं होती। परन्तु मनुष्य एक ऐसा विलक्षण प्राणी है कि इसमें संसार की आकर्षण भी है, और संसार से परे जो अनादि, अनन्त तत्त्व है उसके प्रति जिज्ञासा भी है, उसके परम प्रेम की प्यास भी है। शरीर से अतीत जो कुछ है, उसके बारे में वह सोच सकता है, उसके लिए पुरुषार्थ कर सकता है-इतनी स्वाधीनता मनुष्य को दी गई है। अगर परमात्मा ने नियम बनाकर बाँध दिया होता, कि वाणी की शक्ति तो तुम्हें मिली है, लेकिन तुम मिथ्या बोल नहीं सकते-इस तरह से प्रकृति के विधान में बाँधकर उन्होंने हम लोगों को पराधीन बना दिया होता तो अपनी स्वतन्त्रता सत्ता का भास ही नही होता, नित्य जीवन की खोज ही आरम्भ नहीं होती और परम प्रेमास्पद प्रभु को रस प्रदान करने की जो गरिमा है, महिमा है, मनुष्य के जीवन में, वह भी कभी चरितार्थ नहीं होती। इसलिए उन्होंने यह स्वाधीनता दी कि संसार के साथ रहकर उसके अनुभवों को जान कर भी तुम उसी में फँसे रहना पसन्द करते हो, या उसके बन्धन से मुक्त होना पसन्द करते हो। तो यह पसन्दगी की स्वाधीनता उन्होंने हमें दी।

अब अपनी ओर से हमें केवल अपने लक्ष्य को निर्धारित करना पड़ेगा कि हम किसको पसन्द करें और किसको पसन्द नहीं करें। बाकी जो कुछ चाहिए, उनके मंगलमय विधान से सभी प्रकार के साधकों को स्वतः मिलता ही रहता है। तो मनुष्य की यह महिमा है कि वह दिखाई देने वाले सुहावने, लुभावने संसार को इन्कार कर देता है, कि नहीं, नहीं, मुझे नहीं चाहिए। और मनुष्य की ही यह हृदय शीलता है कि वह बिना देखे, बिना जाने परमात्मा पर बिना किसी शर्त के अपने को समर्पित कर देता है। किसलिए? उसकी प्रसन्नता के लिए। उसको रस प्रदान करने के लिये। स्वामी जी महाराज कभी, कभी अपने मौज में आकर कहते, ''जाओ यार तुम भी क्या कहोगे, तुम भी आजाद रहो, मैं भी आजाद हूँ।'' तो अर्थ क्या निकला? कि मनुष्य में प्रभु के प्रति प्रेम के भाव की जो प्रचुरता होती है, उससे रस की वृद्धि होती है और उसका लक्ष्य होता है कि जिसमें मुझे कर्म-सामग्री दी संसार की सेवा के लिए, जिसने मुझे विवेक का प्रकाश दिया जन्म-मरण का बन्धन काटने के लिए, जिसने मुझे प्रेम का भाव दिया रस से भरपूर होने के लिए, वह प्रेम भरा जीवन, मैं उस पर न्यौछावर करता हूँ, वह प्रेम भरा जीवन मैं उसको समर्पित करता हूँ उसकी प्रसन्नता के

लिए। तो इतना ऊँचा हो सकता है मानव का जीवन, जो सेवा करके संसार के लिए उपयोगी हो जाएऋ निष्काम और अचाह होकर स्वाधीन हो जाए और प्रेमी होकर प्रभु को रस प्रदान करने वाला हो जाए। इतना ऊँचा जीवन उन्होंने स्वयं अपने में से ही बनाया है।

अपने जीवन की महिमा को हमने स्वयं स्वीकार नहीं किया और उनकी उपस्थिति में हमने आस्था नहीं की। उनके दिए हुए प्रेम-भाव को आसक्ति से हमने दूषित कर दिया, तो उसके अभाव में जीवन में नीरसता भर गई, दुःख भर गया, बहुत बुरा हाल हो गया। अब आज हम सब लोग उस दुर्गति को मिटाकर जीवन के उच्चतम महत्त्व को पूरा करने के लिए विचार-विमर्श करने के लिए बैठे हैं।

तो अब साधन के स्तर पर हम क्या करें? पिछले कई दिनों से अप्रयत्न होने की बात चल रही है। सारा प्रयत्न और सारा श्रम कब सार्थक होता है? जब हम प्राप्त सामर्थ् को जगत् की सेवा में लगा देते हैं। जितनी सामर्थ् मिली, जितनी जिन्दगी मिली और जो कुछ सामग्री मिली, वह सब सेवा में लगा दी तो उस सबका सदुपयोग हो गया। अब अपनी माँग कैसे पूरी हो? तो माँग पूर्ति के लिए सब सामग्री और परिश्रम से अपने को थोड़ी-थोड़ी देर के लिए अलग रखना है। उसका साथ छोड़ना है। उससे असंग होना है। उसका तादात्म्य तोड़ना है। यह पुरूषार्थ किसलिए? अपने लिए। जगत् का जो अंश अपने पास है, वह जगत् की सेवा के लिए है। उसमें से कोई हिस्सा अपने काम नहीं आएगा। इसलिए सबसे असंग हो जाना ही अपने लिए उपयोगी है। इसमें ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से समर्पण योग की चर्चा चल रही थी, जिसके सम्बन्ध में काफी बातचीत हो चुकी है। अब जो थोड़ा सा अंश रह गया है वह अहं शून्य होने, अप्रयत्न होने की बात है।

आप देखिए, स्थूल कर्म के स्तर पर अथवा सूक्ष्म चिन्तन के स्तर पर, कुछ भी करते रहने की दशा में, शरीरों से सम्बन्ध तोड़ नहीं सकते। करने का संकल्प शेष ही रहा, तो अप्रयत्न होते कैसे बनेगा? और करने का संकल्प शेष ही रहा, तो अप्रयत्न होते कैसे बनेगा? इस करने का संकल्प रहेगा तो अहंकृति और उसमें से स्फुरित होने वाली सूक्ष्मगति प्रवृत्ति खत्म ही नहीं होगी। तो बहुत ही आवश्यक बात है कि हम चाहते हैं अविनाशी जीवन, और जितने कारक अंग है हमारे स्थूल अथवा सूक्ष्म, वे नाशवान हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण को तीनों शरीरों का समूह ले लीजिए। इन शरीरों की रचना नाशवान तत्त्व से हुई है तो इन तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने का प्रश्न हम लोगों के सामने है।

देहातीत जीवन का अनुभव, उसका प्राकट्य कैसे हो, उसमें कितनी स्वाधीनता है?— इस बात का पता तो तब चले, जबकि सीमित नाशवान से तादात्म्य टूटे। वहाँ तक अपने को पहुँचाना है। तो किसीलिए है कि अभी तक शरीरों के माध्यम से भौतिक जगत् का सम्पर्क स्थापित करके सुख लेना पसन्द किया था, तो शरीरों के साथ ऐसा तादात्म्य जुट गया कि अपने को कभी पता ही नहीं चला कि शरीरों के अतिरिक्त हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। पता ही नहीं चला।

सत्संग के प्रकाश में, सन्तजनों के सम्पर्क में बैठकर हमको इस बात का पता चला कि हमारा तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। हम तो उस अनादि, अनन्त के धातु से रचे गए हैं। हमारे जीवन में पूर्णता तो उससे अभिन्न होकर ही आएगी। अब इस प्रोग्रम को पूरा करने में हमको

लगना है। तो क्या करना चाहिए? प्रवृत्ति और निवृत्ति को समान रूप से महत्त्व देना चाहिए और ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से काम करते समय भी यदि आपको जीवन का सत्य याद है, तो बड़ा मजा आएगा कार्य—क्षेत्र में रहते हुए, शरीर से काम करते हुए। अगर यह भाव आपके भीतर जाग्रत है कि मेरे प्रभु की दी हुई परिस्थिति, उनकी दी हुई सामग्री, उनकी बनाई हुई सृष्टि तो सामर्थ् और सामग्री का सदुपयोग सृष्टि की सेवा में कर रहे हैं, प्रभु प्रसन्नता के लिए। उनकी प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा के द्वारा अपने को प्यारे की प्रसन्नता का पात्र बनाते हैं तो आगे चलकर, एक क्षण को ऐसा भी भाव बन जाता है कि क्या जाने, मेरे सामने विविध रूप जो दिखाई दे रहे हैं, इन विविध रूपों में हमारा बहुरूपिया ही खड़ा हो। उसको एक से अनेक होने में देर लगती है क्या? नहीं लगती है। एक से अनेक होने में उनको देर नहीं लगती है।

अब तो मैं सन्त-कृपा से, भगवत कृपा से, बड़ी दृढ़ता के साथ कहती हूँ कि सत्य है तो वही है और बाकी जो कुछ हम लोगों की आँखों के सामने हो रहा है, वह क्या है? —इनको जान कर क्या करें? इसको जानकर उससे अपने को अभिन्न होना है। कार्य-काल में भी, वह सत्य और उसके प्रति आपके भीतर का भाव याद आ गया, तो वहीं पर, जहाँ के तहाँ, उस सत्य की अभिव्यक्ति से आप आनन्द में ऐसे विभोर हो जाते हैं कि क्रिया भी छूट जाती है, कार्य भी छूट जाता है, कार्य के क्षेत्र का दर्शन भी लुप्त हो जाता है और एक आनन्द, एक रस—रोम—रोम में प्रसन्नता भर देता है और आपकी सारी शक्यिाँ, उस आनन्द में विलीन होकर अलौकिक जीवन का अनुभव करा देती हैं। यह साधन-काल की चर्चा है, यह सिद्ध जीवन की चर्चा नहीं है। साधन-काल में भी ऐसा होता है।

अब बार-बार चित्र बदलता रहता है। थोड़ी-थोड़ी देर में प्रतीत होने वाले जगत् की प्रधानता अपने पर आ जाती है। जो साधक जन हैं, वे जगत् की प्रधानता अपने पर केवल सेवा के लिए आँखें खोलते हैं। केवल पुराने राग को मिटाने के लिए प्रवृत्ति में हाथ डालते हैं। उसका एक शुभ परिणाम यह होता है कि कार्य की अवधि समाप्त होने पर ज्ञान—पन्थ के साधकों को निज स्वरूप की याद आएगी बड़े जोर से और प्रेम—पन्थ के साधकों को अपने प्यारे प्रभु की याद आएगी बड़े-जोर से। और जब एकान्त हो जाओ, कार्य क्षेत्र से हट जाओ तो अकेले बन्द हो जाओ। उसके लिए आश्रम में बैठना या गंगा जी के तट पर बैठना या महल में ेवनदक चतवव ितववउ बनाकर बैठना जरूरी नहीं है। जहाँ आप हैं जिस परिस्थिति में हैं, मामूली मकान है तो, विशेष है तो, टूटा है तो झोंपड़ी है तो, महल है तो— जो कुछ भी है, थोड़ी देर के लिए अपने को प्रवृत्ति से अलग करके, शान्त रहने में अपने को डालकर आप अहंकृति शून्य हुए नहीं, कि विविध प्रकार की अलौकिक अनुभूतियों से जीवन भर जाएगा। पुराने सब संस्कार मिट ही गए हैं, किये कराए का फल जो अहं में अंकित हो गया है, वह रह गया है तो उसकी कृपा-शक्ति उसको मिटा देती है। हमारे प्रयास से हमें सफलता नहीं मिली है, तो कृपा-शक्ति का आश्रय ले लेने पर सफलता अवश्य मिल जाएगी। एक बार आश्रित होकर देखिए तो सही।

ऐसे वीर पुरुष संसार में आए, जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश में एक साथ ही सब असत् के सम्बन्ध का त्याग कर दिया। उनमें अविनाशी

जीवन के प्रति इतना जोरदार उत्साह थाऋ उसके प्रति पूरी जीवनी शक्ति उनकी ऐसे सम्बन्धित हो गई थी, कि उन पर शरीरों के स्तर पर बने हुए विकारों का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। एक बार इन्कार किया, तो सदा के लिए होग गया। मैं अपने जैसे साधकों के लिए कहती हूँ कि जिनके भीतर अविनाशी जीवन की माँग भी है और समाज में भले आदमी कहलाने का सुख भी है। अनन्त जीवन का रस इतना गहन होता है, इतना गहन होता है कि उसमें सब कुछ डूब जाता है। उसकी बराबरी इस दुनियाँ में कोई ही नहीं कर सकता। संत कबीर की वाणी मुझे याद आती है। एक जगह पर उन्होंने कहा किः—

तन थिर, मन थिर, वचनथिर, सुरति निरति थिर होय।

कहें कबीर वा क्षणक को, कल्प न पावे कोय।।

सब प्रकार की गतिशीलता से मुक्त होते ही, अपने जीवन के मौलिक शान्ति तत्त्व में स्थिति होते ही ऐसा अलौकिक अनुभव होता है। तो कबीर जी कहते हैं कि उस एक क्षण के अनुभव की बराकरी संसार के कल्पों का समय भी नहीं कर सकता। ऐसा होता है।

अनुभवी सन्तों ने सांकेतिक भाषा में अपने अनुभवों को बताया है। हम लोगांे के लिए उसका उपयोग क्या है? उसका बड़ा अच्छा उपयोग है कि आपके भीतर आज तो एक चेतना जगी है, एक जिज्ञासा, एक अभिलाषा उठी है कि भाई! अब तो हम जन्म-मरण के फेर में पड़े नहीं रहेंगे, तो आपकी अभिलाषा को सजीव बनाने के लिए, दृढ़ बनाने के लिए मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि पूरी आशा के साथ, पूरी दृढ़ता के साथ आप आगे बढ़ें। आपके साधन-काल में ही जो सत्य है, जो अविनाशी है, जो वास्तविक जीवन है, उसकी निभूतियाँ प्रकट हो जाएँगी। जरूर हो जाएँगी। यदि थोड़ी सी भी झलक मिल गई उस जीवन की, कि जिसमें शरीरों का सहारा नहीं है, जिसमें बाहर से किसी प्रकार की कोई मदद नहीं है, जिसमें किसी की अपेक्षा नहीं है- ऐसे जीवन की एक क्षण के लिए भी अगर आपको झलक मिल जाए, तो सदा के लिए सन्देह खत्म हो जाएगा। इतनी दृढ़ता आ जाती है कि उसके बाद सारी सृष्टि मिलकर भी कहे कि नहीं-नहीं बड़े-बड़े द्धषि-मुनियों को नहीं मिला, तुम्हारे लिए कैसे हागा? तो भी हम डरते नहीं हैं। दया आती है डर कहने वालों पर। पर भगवान से मैं प्रार्थना करती हूँ, हे प्रभु इनकी मदद कर दो, इनका सन्देह मिटा दो, देखों ये अभी भी दूर हैं। अपनी निष्ठा में कमी नहीं आ सकती। क्यों? क्योंकि वह अपनी जानी हुई बात हो जाती है। सन्देह रह नहीं सकता। अब इस प्रकार का विधान, इस प्रकार की योजना, ऐसा संयोग, वे परम कृपालु, वे करूणा सागर, स्वयं अपनी ओर से ही कर देते हैं, ये मेरी बहादुरी नहीं है। यह भी उनकी कृपा का प्रसाद ही है। तो उनकी कृपा मान लिजिए-उधर जितनी तत्परता है मैं सच कहती हूं उतनी तत्परता हमारे में नहीं है। अपनी दुर्दशा से हमें जितना दुःख है, उससे सहस्र गुणा, असंख्य गुणा अधिक करुणा, उस करुणा-सागर में उमड़ रही है। हाय! मेरा बच्चा, परम प्रेम का अधिकारी, अविनाशी जीवन का अधिकारी, कहाँ भटक रहा है? उसमें बहुत करुणा है और हमारे सुधार के लिए, उधर बहुत तत्परता है, इसलिए डरने की कोई बात नहीं है।

हमारी जो रचना है उसमें, हम में अपने अस्तित्व मगपेजमदबम का एक भास है कि "मैं हूँ"। इसकी स्वाधीनता को, इसके स्वाधीन भास

को सुरक्षित रखने के लिए, उन करुणा सागर ने हम लोगों को इतना दायित्व दिया कि भाई, तुम वास्तविकता की आवश्यकता अनुभव करो और पूर्ति का सारा प्रबन्ध जीवन के मंगलमय विधान से हो जाता है। तो आप, खूब आशा रखिये, खूब विश्वास रखिये। चारों ओर से उन्हीं की महिमा हम लोगों को संँभालने में लगी हुई है। बस कमी केवल इतनी सी है कि हम आशापूर्ण होकर, निश्चय पूर्वक कदम नहीं उठाते हैं। थोड़ा करते हैं, थोड़ा पछताते हैं। अब इतना हो गया, अगले साल आएंेगे और थोड़ा सीखेंगे। अरे भाई! अगले साल आने का सोचकर जा रहे हो, आओगे, कोई जरूरी है? इतना लम्बा प्रोग्राम क्यों बनाओ और इसी बीच राम नाम सत् हो जाए तो? तो सब रह जाएगा। सब काम पीछे। और किसी को भक्ति भावे तो बहुत महत्त्वपूर्ण मान करके, अभी आज जो कर सकते हैं, इसमें अपने को लगाइये। सहायता मिलेगी और आप स्वयं ही, अपने आप सन्तुष्ट हो जाएँगें। अब थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाइये।

प्रवचन(90)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग मानव जीवन की सफलता की चर्चा कर रहे हैं। सत्संग के प्रकाश में जाने हुए असत् के संग का त्याग अपने द्वारा कर सकते हैं। जीवन के सत्य को अपने द्वारा स्वीकार भी कर सकते हैं। इसमें एक बड़ी जोरदार बात यह है कि हम भाई बहिनों को अपना मैं पन जो हैंऋ अहं रूपी अणु, अपना ैमस िजिसको हम लोग कहते हैं, इसमें बड़ी शक्ति है। प्रारम्भिक दिनों में मैंने ऐसा सुना था स्वामी जी महाराज के मुख से, कि सारी सृष्टि में जितनी शक्ति है, उससे

एक बड़े विद्वान पुरुष से स्वामी जी महाराज की बातचीत हो रही थी। उन्होंने स्वामी जी महाराज से कहा कि 'मुझे तो जिन्दगी में ईश्वर की आवश्यकता नहीं मालूम होती, अब देखिए, ईश्वर इतने मौजी हैं और इतने स्वाधीन हैं कि वे अपने ही द्वारा हम लोगों को बनाते हैं, लेकिन जबरदस्ती करके अपने अधीन रखना पसन्द नहीं करते। पे्रमी स्वभाव है उनका। स्वाधीनता पूर्वक प्रेम का आदान-प्रदान तो उनको बहुत अच्छा लगता है, लेकिन दबाव नहीं डालते किसी पर। उन्होंने हम लोगों को इतना बुद्धिमान बना दिया है कि बुद्धि के सहारे हम उनको इन्कार कर देते हैं। तो उन भले आदमी ने कहा कि मुझे जिन्दगी में ईश्वर की आवश्यकता नहीं मालूम होती है। इस पर स्वामी जी महाराज ने कहा कि 'श्री माली जीऋ मुझे तो जिन्दगी में केवल ईश्वर की ही आवश्यकता मालूम होती है और किसी की नहीं।' केवल ईश्वर की आवश्यकता! तो बड़ा रहस्य है, इस वाक्य में।

स्वामी जी महाराज ने जब मुझे बताया, तो क्या भाव उनके भीतर रहा होगा, यह तो वे ही जाने, लेकिन मैंने जब से ईश्वरवाद के आधार पर, विश्वास-पथ की साधना का साधक अपने को बनाया, तब से मुझे ऐसा लगा कि सचमुच जो सारी सृष्टि का मूल आधार है, उसकी आवश्यकता जो अनुभव करेगा, उसके आश्रित होकर जो रहेगा, उसके चरणों पर तो सारी सृष्टि ही लोटेगी, वह और किसी को मानकर क्या करेगा, और किसी की आवश्यकता क्यों रहेगी उसको? वह तो एक अकेला अपने भाव में ही इतना है कि वह हर प्रकार से भरपूर कर देगा और आगे चलकर मैंने ऐसा देखा है कि जो असीम, अनन्त जीवन तत्त्व है, उस असीम, अनन्त में से छोटी छोटी इकाई के

रूप में एक-एक जिन्दगी बनती है तो वही धातु अपने में भी विद्यमान है। उसी सत्ता से हम सब लोग सत्तावान है। यदि नाशवान की ओर से अपने को हटा कर उस जीवन के मूल उद्गम से किसी प्रकार हम जुट जाएँ, योग-बोध अथवा पे्रम के द्वारा, किसी तरह से भी अगर हम उससे जुट जाएँ तो अपने आप में इतनी सन्तुष्टि, इतनी पूर्णता, इतनी सरसता, इतना आनन्द भर जाता है कि जो एक छोटा सा न्दपज अलग बन गया थाऋ एक इकाई बन गई थी, जिसको सीमित अहं-भाव कहते हैं। उस सीमित अहं-भाव की सीमा समाप्त हो जाती है, उस अनन्त आनन्द स्वरूप के जुटते ही।

उस अनन्त पे्रम स्वरूप के जुटते ही, इस सीमित अहं-भाव की सीमा का लोप हो जाता है। अनुभवी जनों ने उसको मनुष्य के जीवन का पूर्ण विकास माना है। एस सीमा बनी हुई है हमारी, और हमने इस सीमित अहं-भाव का अभिमान अपने में पाला है 'मैं हूँ। ये मेरी बुद्धिमता है' यह मेरा प्रारब्ध है,' यह मेरे भाग्य से मिला' 'यह मेरे परिश्रम से मिला है—तो सबमें 'मैं और मेरे' का विस्तार हो गया। उस सीमा में बँध जाने पर और उस सीमित अहं-भाव के अभिमान में आबद्ध हो जाने पर, उसके भीतर जो परम स्वाधीन तत्त्व विद्यमान है, उसमें से स्वाधीनता के लिए एक चेतना जगती रहती है। उससे पे्ररित होकर मनुष्य सीमित जिन्दगी के पार निकल कर असीम से जुट जाना चाहता है। तो एक ओर अहं का अभिमान है और दूसरी ओर जीवन की माँग है। जहाँ अभिमान है वहाँ सीमा है और जहाँ वह सीमा टूट जाती है वहाँ वास्तविक जीवन का अनन्त आनन्द है, अनन्त रस है और वहाँ जन्म-मरण की कोई बाधा नहीं है, कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

अब हम लोगों के सामने ये दोनों बातें इसी क्षण में विद्यमान हैं। शरीर को लेकर हम लोगों को यह दिखाई दे रहा है कि हम जल्दी जल्दी मृत्यु के मुख में जा रहे हैं। जैसे आपकी जन्म पत्री पर जन्म के आधार पर एक तिथि लिखी होगी। ऐसे ही इस शरीर के नाश की तिथि का भी एक निशान बनने वाला है। तो शरीर को लेकर के यह दिखाई दे रहा है कि जल्दी-जल्दी हम मृत्यु के मुख में प्रवेश कर रहे हैं। काल का आधार यह शरीर बना हुआ है। जैसे जैसे समय बीतता चला जा रहा है, इसके अणु परमाणुओं में ट्रास होता चला जा रहा है। तो काल के प्रभाव से, समय के प्रभाव से बनी हुई आकृति में क्षति होती जा रही है। इस काल को हम लोग जानते हैं कि नहीं। तो एक हिस्सा समाप्त हो गया।

अब दूसरा हिस्सा देखो। यहाँ क्यों आकर बैठे हो? यहाँ आकर जिस समय हम बैठे तब से उठने के समय तब उस एक घण्टे के क्रम में, शरीर मृत्यु की ओर कुछ और आगे पहुँच जाएगा। कुछ और आगे खिसक जाएगा मृत्यु की ओर। फिर भी हमने यहाँ आकर बातचीत करना, कुछ कहना-सुनना पसन्द किया। कौन सी बात को? सत्य की बात को, सनातन की बात को, आनन्द-स्वरूप, पे्रम स्वरूप की चर्चा को, समग्र उत्पत्ति के आधार की बातचीत करना हम लोगों ने पसन्द किया। तो देखिए, कैसे बहादुरी है कि मरणशील शरीर को लेकर मृत्यु की ओर दौड़े चले जा रहे हैं, उस काल में भी अमर जीवन को भूल नहीं गए। अविनाशी परमात्मा हम लोगों के अस्तित्व में से निकल नहीं गया। इस समय, इस क्षण में, कोई भाई-कोई बहन यहाँ ऐसे हैं क्या, जो कहें कि हमने थोड़ी देर के लिए परमात्मा को हटा दिया है। हटा सकते हैं हम लोग? नहीं हटा सकते।

और कभी-कभी स्वामी जी महाराज अपने शरण्य के भाव में जब बहुत मस्त होते तो खूब मजा लेते और कहते कि ठीक है "हमारे जैसे निकम्मे की मित्रता का नाता तुम पसन्द नहीं करोगे तो क्या होगा लाला! रह जाओगे ठन-ठन पाल, मदन गोपाल। अकेले रह जाओगे। तुमसे मित्रता करने के लिए तुम्हारी तरह का दूसरा कोई तो मिलेगा ही नहीं। स्वीकार करोगे तो हम ही को स्वीकार करोगे। हम ही को मित्र बनाआगे, और जहाँ से लाओगे?" फिर कभी मौज में आतो तो कहते, "तुम्हारी हिम्मत नहीं है कि अपने से हमको अलग निकाल कर फेंक दो।" तो यह तो उनके प्रेमी की अटपटी भाषा थी। वह अपने ढंग से बोलते थे।

दार्शनिक दृष्टिकोण से भी आप देखिए! वो जो सर्व की उत्पत्ति का आधार है, उस आधार में से हम जो उत्पन्न हुए, सो कभी विच्छिन्न भी हो सकते हैं? नहीं हो सकते। कभी अलग हो सकते हैं? उस तत्त्व से कभी शून्य हो सकते हैं नहीं हो सकते हैं तो देख लीजिए, कैसी विलक्षण रचना है हम लोगों की। मरणशील शरीर को लेकर बैठे हैं, और उसी के साथ अनन्त परमात्मा का अनन्त तत्त्व भी, उस अलौकिक का अलौकिक तत्त्व भी हमारे अहं—रूपी अणु में विद्यमान है। कभी कोई इन्कार कर ही नहीं सकता है।

अब देखो! दुःख की बात क्या है? दुःख की बात यह है, कि उसके रहते हुए उसका प्रभाव अपने लोगों पर कम है, और जो कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, उस माया रहित दृश्य जगत् का प्रभाव अपने पर ज्यादा है। दुःख की बात है न? जो सत्य है, जिसके बिना व्याकुल-व्याकुल न जाने कितने जन्म बिताए। भूखे प्यासे रोते-रोते पैदा हुए, भूखे प्यासे रोते-रोते मरते रहे, हाय! हाय! करते रहे-न जाने कितने जन्म ऐसे बिता दिए, पता ही नहीं चला। तो मरणशील शरीर का प्रभाव अपने पर चढ़ जाए और आनन्द स्वरूप, रस स्वरूप अमरत्व जो अपना जीवन है उसका प्रभाव अपने से घट जाए, तो यह बड़े दुःख की बात है, और इसी गलत दृष्टिकोण को बदलने के लिए सत्संग का प्रोग्राम होता है। जब तक हम लोग अपना गलत दृष्टिकोण जीवन के प्रति बदलेंगे नहीं, तब तक बढ़िया से बढ़िया सिद्धान्त और ऊँची से ऊँची साधना, हमारे जीवन में सफल होगी ही नहीं। गलत दृष्टिकोण क्या है? विचार करो तो कहना पड़ेगा कि यह दृश्य जगत् कभी था ही नहीं, है नहीं, होगा नहीं। यह दिखता ही दिखता है, इसकी प्रतीति ही प्रतीति है और यह बात केवल ग्रन्थों में से पढ़ने की नहीं है, सुनने की नहीं, करने की नहीं, वह तो मनुष्य का अपना जाना हुआ सत्य है। साधन-काल में भी यह सत्य प्रकट होता है और साधको के अपने अनुभव में यह बात आज जाती है कि दृश्य जगत् से असंग होते ही सृष्टि लापता हो जाती है। जो कभी था नहीं, है नहीं होगा, नहीं, उसमें इतना विश्वास करना, कि दिन-रात उसके चिन्तन में पड़े रहो— काम करो तो उसी के साथ, सोचो तो उसी के बारे में, नींद में, स्वप्न में, उसी संसार में विचरण कर रहे हैं। तो यह कितने दुःख की बात है, सोचो! जहाँ किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं, कोई प्रवृत्ति, कोई दौड़-धूप, थकान, मृत्यु है ही नहीं, उस चिर विश्राम का अधिकारी मनुष्य सारा दिन धुन में लगा हुआ है, थक रहा है, परेशान हो रहा है, बीमार हो रहा है। प्रकृति ने दया की और थोड़े-थोड़े घण्टों पर उसको सुला देने का इन्तजाम कर लिया। स्नायु को कनसस बना दिया आदमी सो गया। तो निद्रा में भी स्थूल शरीर पड़ा है और कुछ न करें तो भी संसार ही चक्कर काट रहा है।

इसी संदर्भ में साधना के रूप में आपकी सेवा में यह निवेदन किया गया, ज्ञान-पन्थ की दृष्टि से, कि सभी प्रकृति के बाद सहज निवृत्ति को महत्त्व प्रदान करो। संसार का प्रभाव होने से क्या होता है? कि अधिक से अधिक काम करेंगे, अधिक से अधिक लाभ उठायेंगे, तो अधिक से अधिक आराम मिलेगा। तो आराम उड़ जाताहै, काम, बुढ़ापा और मृत्यु रह जाती है। सत्संग के प्रभाव से क्या होता है? कि नहीं-नहीं, मुझे चाहिए विश्राम, ऐसा विश्राम कि जिसमें वह अलौकिकता हो, जो कभी खण्डित नहीं हो, कभी मिटे नहीं, कभी टूटे नहीं, ऐसा विश्राम चाहिए। तो अनुभवी जनों ने कहा कि ऐसा विश्राम पाने के लिए तुम, क्रिया-शक्ति, विचार-शक्ति, और भाव-शक्ति का सब तरह से सदुपयोग करते हुए, जीवन को साधनमय बना लो। तुम्हें विश्राम मिल जाएगा।

कर्त्तव्य-निष्ठा की दृष्टि से कर्त्तव्य-पालन में कर्त्तव्य-निष्ठ व्यक्ति को विश्राम मिलता है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से राग-निवृत्ति की साधना के रूप में, सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति स्वतः आती है जिसमें तीनों शरीरों से असंग होने की सामर्थ् है। शरीरों की असंगता में चिर विश्राम मिलता है। उस विश्राम में अविनाशी जीवन के आनन्द से अभिन्नता होती है। उसमें कुछ भाई-बहनों को इस बात की तकलीफ रहती है कि बाहर से काम छोड़ देने के बाद भी, भीतर से शान्ति नहीं मिलती, हलचल रहती है। उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या, उसका आध्यात्मिक उपाय समर्पण योग की साधना के द्वारा निराकरण की यह सब क्रियाएँ कई दिनों से चल रही थीं।

अब दो मुख्य बातें और रह गई हैं जो अभी इस बैठक में, सेवा में निवेदन करना चाहती हूँ। एक तो यह कि आप निश्चय मानिए कि शान्ति-काल में जो कुछ हो रहा है, उसको देख करके उसको अपना दृश्य मानकर, सर्वसमर्थ प्रभु को समर्पित कर दें। अब उससे मेरा कोई मतलब नहीं है—ऐसा मानकर अगर आप निश्चित रहेंगे तो वह हलचल जल्दी से जल्दी शान्त हो जाएगी, खत्म हो जाएगी। उसको देखकर साधक जब भीतर-भीतर थोड़ा घबरा जाता है, तो मनोविज्ञानेवत्ता कहते हैं कि यह केवल निशान है, काम नहीं है। अब शान्ति काल में वह बात आपके मस्तिष्क में आ जाती है तो मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि जिस समय तुमने क्रोध के आवेश में आवाज निकाली थी, उस समय यह निशान बन गया था। अब शान्ति काल में प्रकृति जो है, वह निशान बनाए रखना नहीं चाहती, क्यों कि उसकी वजह से कष्ट होता है आदमी को, उसकी वजह से मानसिक दुर्बलता आती है, साधना घटती है। तो प्रकृति ने उस बात की याद दिलाई, उसकी ब्वदेबपवने स्मअमस पर ले आई, इसलिए कि उसको मिटा कर खत्म किया जाए। तो आप शान्त रहिये और आप अपने से कहिये कि यह तो उस समय की बात थी कि जिसकी याद अभी आ रही है। इस समय मैं कोई अशिष्टता का व्यवहार कर नहीं रहा हूँ। यह तो भूतकाल के किए हुए दुव्र्यवहार की निशानी है। यह तो मिटने के लिए उदित हुई है, मिट जाएगी, मेरा उससे कोई मतलब नहीं है। इस वैज्ञानिक आधार पर भी, अगर आप चुपचाप अपनी शान्ति सुरक्षित रखेंगे, तो वह चीज निकल जाएगी। अपराध भाव भी निकल जाएगा। वह निशान भी मिट

जाएगा। और नही तो क्याहोता है? उसको देखकर अगर आप फिर से

हो जाते हैंऋ फिर से पश्चाताप में अथवा क्रोध में आ जाते हैं तो आपका जो यह मउवजपवदंस जपदहम है, आपकी जो यह संवेगात्मक प्रतिक्रिया है, यह आपके मस्तिष्क को निर्विकार नहीं रहने देगी।

भूतकाल की भूल को, जो वर्तमान में आप कर नहीं रहे हैं, बिना किए, उसको करने के समान अपराधी भाव आपने बना लिया। समझ में आता है? बिल्कुल वैज्ञानिक बात है यह। किसी घटना के घटे पाँच दस साल बीत गए। उसके बाद पाँच बरस के, दस बरस के बाद की घटना खत्म हो गई। सब बातें सही हो गई। अब प्रकृति ने शान्ति काल में आपको उन सारे विकारों के भीतर से पार कराके, निर्विकार बनाने के क्षेत्र में ले जाने का काम आरम्भ किया, आपको अशरीरी अलौकिक तत्त्वों से जुटाने के लिए यह सब जगह के बन्धनों को काटना शुरू किया। तो जहाँ-जहाँ वह पुराना चिन्ह दिखाई देता है उसे देख-देखकर, यदि अच्छी बात है जो आप ह£षत होने लगते हैं और बुरी बात है तो दुखित होने लगते हैं, तो आपको ह£षत होना, दुखित होना, पुरानी बात को नई बना देता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

इसलिए अनुभवीजनों ने क्या कहा? कि अध्यात्मवाद की दृष्टि से, दृश्यमात्र से तुम्हारा त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं है। इस तथ्य को जानकर, जैसे बाहर के चित्र देखकर शान्त बने रहते हो, ऐसे ही भीतर के चित्रों को देखकर भी तुम शान्त बने रहो तो तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ् आ जाएगी। और समर्पण वाले साधकों के लिए तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं है। हम लोगों ने, भगवान के आगे बड़े भोलेपन से कह दिया, 'हे प्रभु! यह मन तेरा, यह तन मेरा, यह बुद्धि तेरी, यह चित्त तेरा, ये इन्द्रियाँ तेरी, यह सब कुछ तेरा है, मैं भी तेरा।' बड़ी सरलता से, बड़े सहज भाव से विश्वास-पंथ के साधक, सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। अब जब मैं ऐसा कहती हूँ कि अपना सब कुछ समर्पित कर दिया, तो ऐसा कहने में भी मुझको बेईमानी मालूम होती है। मैं अपनेसे कहती हूँ कि तुम्हारा था क्या, जो तुमने दे दिया। अपना करके तो कुछ था ही नहीं। बड़ी विचित्र बात है, मैं क्या बताऊँ? जितना जितना मुझको संत की शरण में बैठकर, अपनी बुद्धि खोलने का अवसर मिला, उतना अधिक आनन्द बढ़ता चला गया जीवन में। भाई! तुम्हारा था क्या जो तुमने दे दिया। तुम्हारी गाँठ का कुछ हो और वह किसी को देने जाओ और कहो कि हमारी चीज थी, मैंने तुमको दे दी तो वह मनुष्य तो भले तुम्हारे आगे नत-मस्तक हो जाए, कृतज्ञ हो जाए। पर जो तुमको जन्म जन्मान्तर से जानता है, तुम्हारी उत्पत्ति से पहले जो था, उसको भी पूरी और पक्की तरह मालूम है कि इसके पास जो कुछ है, सब मैंने दियाऋ अब उसके आगे तुम कहने जाते हो कि हे प्रभु! यह मन तेरा, यह तन तेरा, यह सब कुछ तेरा तो वे यह भी मान लेंगे।

एक माँ ने अपने बच्चे के बारे में बताया है कि वह इतना प्यारा है कि जब मैं इसको खिला चुकती हूँ, और बच्चों को वह अन्य सबको खिला कर, मैं खाने को बैठती हूँ तो यह हमारे ही पास आकर बैठ जाता है और अपने छोटे-छोटे हाथों से रोटी उठाकर, कहने लगता है कि माँ ले लो, तो माँ को भूख न भी हो, तो भी बच्चे की प्यार भरी वाणी सुनकर वो ले लेती है। अच्छा दे दे। स्वामी जी महाराज ने सुना। सुनकर कहने लगे कि देखों, ऐसे ही प्रभु विश्वासी, जब प्रभु की दी हुई सामग्री प्रभु के अर्पित करने लगता है तो प्रभु जानते हैं कि यह

हमारा ही दिया हुआ है, फिर भी छोटे बच्चे के समान, भोले भाले मन से आप कहते हैं कि हे प्रभु! यह धन तेरा, हे प्रभु यह तन मेरा, तो प्यारे इस बात को जानते हैं कि मेरा दिया हुआ मुझको दे रहा है, फिर भी आपकी प्यार भरी वाणी का आदर करने के लिए, स्वीकार करते हैं। तो यह रास्ता बनाया।

कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को भी विश्राम मिलता है, अध्यात्मवादी ज्ञान-पन्थ के साधकों को भी विश्राम मिलता है औ प्रेम-पंथ के साधकों को भी विश्राम मिलता है। कैसे? कि सारी जिम्मेदारी सर्व समर्थ को सौंप दो। उसके बाद उसकी शान्ति काल में, उसी समर्पण योग काल में, आपको मन में कुछ-कुछ दिखाई दे, तो कभी मत कहों, कि मैं क्या बताऊँ, साधना को करते हुए, इतने दिन हो गए और अभी भी मेरा मन साफ नहीं हुआ। यह शिकायत हम लोगों में से कुछ साधकों की हैं। है कि नहीं? है। तो देखों गलती क्या हो गई? जब बैठे थे शान्ति काल में, तो कहा था कि हे प्रभु! यह सब कुछ तेरा- और वहाँ से जब उठे और आपस में बातचीत करने लगे, तो कहने लगे कि क्या करें, समर्पण योग तो आरम्भ किए छः महीने बीत गए अभी भी मेरा मन साफ नहीं हुआ। गलती समझ में आयी? अरे भैया! कुछ देर पहले कहा था कि "हे प्रभु यह सब कुछ तेरा"—अब कैसे कहते हो मेरा मन साफ नहीं हुआ? साधना कट गई तो सिद्धि कैसे मिले? भूल समझ में आयी?

जब मैंने ऐसी भूल की, जब मैंने ऐसी शिकायत की तो स्वामी जी ने कहा कि देवकी जी! तुम्हारा मन और शान्त हो जाए। कभी नहीं होगा—देवकी जी पर तो वज्रपात हो गया। सब करने कराने का फल कुछ नहीं मिला। कुछ नहीं होगा, क्या बात, है—महाराज! तो कहते, कि लाली! तुम दी हुई चीज उनकी बार-बार वापिस ले लेती हो। तुमने भगवान को कुछ करने कहाँ दिया। उनकी कृपाशक्ति को काम करने कहाँ दिया। दे देती हो और फिर वापिस ले लेती हो।"

तो मेरा मेरा कहने से हमने तन को, मन को, परिवार को, समाज को, सामाजिक वायु-मण्डल को सबको दूषित और विकृत बना दिया हौ और सच्ची बात तो यह है कि कुछ भी मेरा नहीं। तो इस बेईमानी से मन में विकार हो गया, तन में विकार हो गया, परिवार में कलह, संघर्ष हो गया, समाज में संघर्ष हो गया, संसार में अशान्ति हो गई, भीतर से बाहर तक सबको सब उथल-पुथल में पड़ गया, हाहाकार मच गया है। भीतर झाँककर, देखों, तो पता चलता है कि कई बरस हो गए भगवान को मानते हुए, पर मन में शान्ति नहीं मिली और बाहर देखो तो जहाँ जाओ वहीं पर धोखा जहाँ जाओ वहीं पर अविश्वास, जहाँ जाओ वहीं पर झगड़ा। जब मनुष्य ने उस परमात्मा का आसरा छोड़ दिया, सच्चाई का आसरा छोड़ दिया, ऊपर-ऊपर क्रियात्मक साधनाओं की स्वीकृति ले ली, भीतर से अपने को बदलना बन्द कर दिया तो सब जैसे के तैसे, जहाँ के तहाँ हैं और फिर भी दुःख का कुछ अन्त नहीं है।

तो अब क्या करें? अब इस भूल को मिटाइये समर्पण काल में, समर्पण तो एक ही बार होता है लेकिन उस समर्पण का भावात्मक रूप तब होगा जब जगत् का सारा काम छोड़कर आप अकेले बैठेंगे। उस समय जब आप याद करेंगे प्यारे प्रभु को, अपने शरण्य को, और उसकी शरणागति के भाव में जब विश्राम मिले तो उस काल में अगर मन में, बुद्धि में, चित्त में, इन्द्रियों में चिन्तन दिखता हो, तो उसको कभी अपना मत मानो। उसकी जिम्मेदारी अपने हाथ में मत लो। उसे समर्थ हाथों में सौंप दिया है तुमने।

एक बात हो गई। दूसरी बात इतनी सी और है जब आप समर्पित हो करके उस शान्ति काल में, इस भाव को सजीव करेंगे, कि मैं समर्थ प्रभु की कृपालुता की गोद में हूँ तो उनकी याद आने मात्र से भीतर से एक हर्ष और सरसता का संचार होने लगता है उसके प्रभाव से, जब भीतर बिल्कुल- शीतल-शीतल होने लगता है, ऐसा कि जैसे किसी ने जले हुए घाव पर मरहम लगा दिया हो। मैं कल्पना नहीं कर रही हूँ, यह जीवन का अनुभूत सत्य है। कृपा-शक्ति जब आपके भीतर-बाहर रोम-रोम को शान्त और प्रेम से आप्लावित करने लग जाती है, तो वह अलौकिक अनुभव इतना जोरदार है, कि शान्ति में प्रवेश करने के पाँच मिनिट पहले तक आपके भीतर कितनी कठोरता, कितने ही विकार भरे पड़े थे, सबका सब उस शान्ति की वास्तविकता में डूब जाता है। बड़ा आनन्द आता है।

स्वामी जी महाराज ने समर्पण-योग के साधकों को याद दिलाते हुए ऐसे कहा था, देखो भैया! जितना तुमसे बन पड़े अपने को अपनी साधना में एकनिष्ठ रखो। थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भी अपनी विकृतियों को न देखो। महामहिम की महिमा याद हो जाए तो इस बात को याद कर लो कि जन्म जन्मान्तर में इतने विकार तुम पैदा कर ही नहीं सकते हो कि जितने विकारों का नाश करने की सामर्थ् प्रभु की कृपा-शक्ति की एक बूँद में है। उतने विकार तुम इकट्ठा कर ही नहीं सकते। तुम विकारों का पहाड़ बना दो, तो करुणा सागर की करुणा की एक बूँद उसको समाप्त करने में समर्थ है। तो करुणा का आश्रय लेने में अपने को लाभ है कि एक-एक विकार को बैठकर स्वयं काटने में लाभ है? अच्छी बात है कि करुणा का आश्रय ले लो।

समर्पण योग के साधकों में जब दिमाग में हलचल हो तो उसे देखते ही सन्त की यह वाणी याद करे लें कि मैंने तो उस समर्थ के हाथों में अपने को सौंप दिया है, चाहे विकृत हो, चाहे कुछ हो, अब तो वह उस परम् पवित्र का है, अब तो यह उस प्रेमास्पद प्रभु का है, तो जब सब उसी का है तो क्यों चिन्ता करूँ? अगर इतना सा ख्याल आपके भीतर आ जाए तो सारी विकृतियों से सम्बन्ध टूट जाएगा। महामहिम की महिमा की याद आपके भीतर आएगी। उस याद में इतना रस उपजेगा कि एक दम नख से शिख तक सब पूरा ही भर जाएगा, आनन्द की लहर से, प्रेम की लहर से। और एक ही बार यह लहर आपको छू ले, तो एक ही स्पर्श में इतनी सफाई हो जाएगी जितनी सफाई वर्षों की कठोर तपस्या में नही हो सकी।

प्रवचन(91)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

मानव जीवन का सर्वोच्च विकास है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व में प्रेम की अभिव्यक्ति। यह सबसे ऊँची बात है। प्रारम्भिक दिनों में जब मुझे विकसित जीवन की अभिलाषा जगी थी तो बचपन में ऐसा ख्याल में आया कि शरीर बहुत स्वस्थ होना चाहिए और पढ़ाई लिखाई करके शिक्षा के द्वारा मस्तिष्क को खूब विकसित करना चाहिए। मैं ऐसा समझती थी कि शारीरिक स्वास्थ्य खूब ठीक रहे और बौद्धिक स्तर पर खूब विकास हो जाए तो जीवन बहुत सुखी होता है। और यही व्यक्तित्व का विकास कहलाता है ऐसा ध्यान में था। जैसा ध्यान में था उसी प्रकार खूब चेष्टा करके शरीर को स्वस्थ और बुद्धि को विकसित करने के प्रयास के बाद मुझे ऐसा लगा कि इतना ही पूर्ण जीवन नहीं है,

क्योंकि उससे मुझे सन्तुष्टि नहीं हुई। ऐसा लगा कि जैसे अभी बहुत कुछ बाकी है।

आज आप भाई-बहिनों की सेवा में यह निवेदन करते हुए बड़ा हर्ष है कि मुझे कि मरणशील शरीर को साथ में लेकर इन सीमाओं के सहित, इस धरती पर रहते हुए भी, आप सभी भाई-बहन, उस अनन्त, असीम के प्रेम के पास हो सकते हैं और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का जो तत्त्व है, वह प्रेम की धातु में परिवर्तित हो जाए, यही इसका सर्वोच्च विकास संत जन मानते हैं। स्वामी जी महाराज के साथ श्री जे कृष्णमूर्ति जी की एक बार बातचीत हो रही थी। महाराज जी ने उनसे कहा कि आप हर बात का निषेध करते जाते हैं कि यह भी नहीं, यह भी नहीं तो अन्त में क्या आप शून्य को स्वीकार करेंगे? उन्होंने कहा कि ऐसी बात नहीं है। शून्य नहीं है, लाइफ है। महाराज बहुत प्रसन्न हो गए। कहने लगे कि भैया! जिसको आप लाइफ कहते हैं, उसे मैं अगर भगवान कहता हूँ तो आपको एतराज नहीं होना चाहिए। तो अन्तिम बात यह है कि अब आखिरी दिनों में जे. कृष्णमूर्ति जी की जो किताब निकली है, उसमें लिखा है उन्होंने कि प्रेम की अभिव्यक्ति ही मानव जीवन का सर्वोच्च विकास है। विचारकगण भी जिन्होंने परमात्मा का नाम नहीं लिया, जो ईश्वर को मानकर चलने वाली पद्धति की चर्चा ही नहीं करते हैं, उन्होंने भी असत् का निषेध करते करते, सत्य की अभिव्यक्ति में सबसे ऊँची उपलब्धि प्रेम की अभिव्यक्ति को ही माना, कितनी बढ़िया बात है यह।

अब अपनी वर्तमान दशा को हम लोग देखें, क्योंकि साधना की दृष्टि से विचार करना है। जो हमारे जीवन का सबसे ऊँचा और अनमोल 'अविनाशी तत्त्व' है, उसके विकसित होने तक, हम लोगों को पहुँचना है, केवल चर्चा ही नहीं करनी है। केवल इस बात को जान लेने मात्र से वर्तमान की समस्याएँ हल नहीं होगी कि मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च विकास प्रेम-तत्त्व है। अब देखना पड़ेगा कि अपनी वर्तमान दशा क्या है? और यह निश्चित करना पड़ेगा कि मुझे कौन सी ऐसी साधना को अपनाना है, कौन-सा ऐसा पुरुषार्थ करना है कि वर्तमान दशा की जो अप्रिय बातें है, उनका अन्त हो जाए और कभी न मिटने वाला और न कभी न घटने वाला प्रेम-तत्त्व अभिव्यक्त हो जाए। इस ढंग से जीवन के सम्बन्ध में विचार करना है।

हमारी दशा कैसी है? वर्तमान दशा ऐसी है कि प्रेम हम लोगों को पसन्द आता है और प्रेम की सरसता में बहुत प्रकार की तकलीफों को हम लोग भूल जाते हैं और सहन भी कर लेते हैं। यहाँ तक तो ठीक है। फिर भी परस्पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते समय, कुछ दूसरी बातें इस प्रकार हमारे जीवन में घुली-मिली हुई हैं कि अनेक अवसरों पर हम संकल्प-पूर्ति को प्रधानता देकर, प्रेम के आदान-प्रदान को गौण बना देते हैं। कटुता भले आ जाए लेकिन मैं जो चाहूँ वह जरूर होना चाहिए। बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध संसार में जिसको हमने माना, वह सम्बन्ध भले ही टूट जाए, लेकिन मेरी सम्पत्ति सुरक्षित रहनी चाहिए। संकलप-पूर्ति के लालच में पड़कर, धन के लोभ में पड़कर, देह के अभिमान में फँसकर, क्रोध के आवेश में आकर, हम सब लोग प्रेम तत्त्व के विकास से वंचित हो जाते हैं, फिर क्या होता है? कि संकल्पूर्ति का जो सुख है और अभिमान की सुरक्षा करने का दम्भ जो है, वह जीवन में कठोरता, शुष्कता, नीरसता उत्पन्न कर देता है। थोड़ी देर के लिए बहुत अच्छा लगता है कि अच्छा!

इनको तो मैंने नीचा दिखा ही दिया, हमारी जो बात थी, वह पूरी हो गई। बहुत ठीक है भाई! अभिमान थोड़ा और पोषित हो गया।

व्यक्तिगत के अभिमान के पोषण से, हृदय का रस-स्त्रोत सूख जाता है। हृदय की कोमलता, कठोरता में बदल जाती है। इस पर उस समय ध्यान नहीं जाता। थोड़ी देर के बाद, जब आवेश ठण्डा होता है, तो भीतर सूना-सूना लगने लगता है। अच्छा नहीं लगता है और कुछ और करने की आवश्यकता महसूस होने लगती है। मुझे दो वर्ष पहले एक सज्जन मिले, तीस बत्तीस वर्ष की उम्र है, बहुत ही जीनियस, बहुत ही असाधारण मेधावी व्यक्ति। इन्जीनियर थे, अमेरिका में काम करते थे, लगभग तीस हजार तो उनका मासिक वेतन था। वे मिले मुझे और बातचीत हुई। उनके माता-पिता ने बताया कि पत्नी से बनी नहीं और इन्होंने विदेश में जितना भी कारोबार फैलाया था, जो भी कुछ किया था, वह सब छोड़ दिया, नौकरी भी छोड़ दी और अब हिन्दुस्तान आ गए। तो अब तो ये केवल साधु संगति और साधना में रहना चाहते हैं।

मैंने कहा कि ठीक है भाई! सत्संग में आते रहें, सुनते रहें, विचार करते रहें। बहुत ही शान्त और स्नेही स्वभाव के थे। मुझे बहुत दुःख होता था, उनकी तकलीफ को देखकर। धीरे-धीरे करके उनके घर का और उनकी पत्नी का हाल-चाल मालूम हुआ। तो अब कुछ दिनों के बाद मैं फिर गई थी, उस दिशा में। गुजरात के हैं वो, भेंट हुई तो माँ, भाई और परिवार के सब लोग कहने लगे कि पत्नी तो बहुत दुःखी हो गई है। उस समय तो उसने बसंपउ कर लिया और जिनती सम्पत्ति उन्होंने माँगी, इन्होंने दे दी, अब पछता रही है कि मैंने बड़ी भूल की। सम्पत्ति के लिए पति को छोड़ दिया उनसे लड़ाई कर ली। अब अच्छा नहीं लग रहा है। जीना बहुत भार हो रहा है। अब किसी भी प्रकार से हम लोग फिर जुट करके रह सकें तो अच्छी बात है। और ये सज्जन जो हैं, इन्होंने तो साधु जीवन पसन्द कर लिया, अब गृहस्थी की बात न सुनते हैं, न मानते हैं, न इस विषय पर कोई ध्यान देते हैं, पत्नी अलग दुःखी है, उसका परिवार अलग दुःखी है, माता-पिता अलग दुःखी हैं। देख-देखकर मेरे ध्यान में आता है कि अहं के अभिमान में आकर, अपनी योग्यता और प्रभु-प्रदत्त शक्ति जो है, उस शक्ति को निजी मानकर, व्यक्ति अनेक प्रकार के विकारों को शिकार बन जाता है। अपनी जिद्द पर आ जाता है और उस समय थोड़ी देर, उसे संकल्प-पूर्ति का सुख अच्छा लगता है। कुछ समय के बाद फिर वही सूनापन, वही नीरसता, वही कठोरता! ऐसा जो अपना वर्तमान हाल है, उससे हम सब भाई-बहनों को मुक्त होना है।

संतजन सलाह देते हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व की रचना ऐसे अलौकिक और ऊँचे तत्त्व से हुई है कि तुम संकल्प-पूर्ति के फेर में पड़कर, कितनी भी सम्पत्ति इकट्ठी कर लो, कितना भी यश कमा लो, कितने भी मित्र बना लो, जब तक तुम्हारे हृदय को वह अनमोल तत्त्व मिलेगा नहीं, तब तक वह किसी भी प्रकार से भरपूर नहीं होगा। वह अनमोल तत्त्व कौनसा है, जिससे कि मानव हृदय को सन्तुष्टि मिलती है? वह अनमोल तत्त्व है—प्रेम तत्त्व। जब हमने इस प्रेम तत्त्व को उपयोग इच्छाओं की पूर्ति के सुख के रूप में पसन्द किया, वस्तुओं और व्यक्तियों पर इसको केन्द्रित किया तो परिणाम में आसक्ति मिली, असन्तुष्टि मिली, अभाव मिला और नीरसता मिली। यह परिणाम मिला। होना क्या चाहिए? कि प्रेम का

केन्द्र वह हो सकता है, जो सदा-सदा के लिए हम लोगों का साथ दे सके। प्रेम का आधार वह ही हो सकता है जो सिवाय प्रेम के और कुछ न चाहे। सांसारिक सम्बन्धों में, प्रेम की मिठास में कटुता क्यों आ जाती है? इसलिए कि जो व्यक्ति एक दूसरे के प्रेमी बनते हैं, वह अचाह नहीं होते हैं उनके भीतर किसी न किसी प्रकार की कामना रहती है, और वे अपना मन रखते हैं, अपना संकल्प रखते हैं एक-दूसरे से कुछ न कुछ चाहते हैं, प्रतिदान माँगते हैं, आशा रखते हैं। और जब उसमें बाधा पड़ती है तो प्रेम की मिठास घट जाती है। विरोधी की कटुता बढ़ जाती है।

संतजन कहते हैं कि प्रेम-तत्त्व की माँग भी तुममें हैं और बीज रूप से यह अविनाशी तत्त्व तुम्हारे ही में विद्यमान भी है। भूल क्या हो जाती है? कि जो इसका सही पात्र है, उसकी तरफ न लगा करके अन्य स्थानों पर अन्य केन्द्रों पर केन्द्रित कर दिया जाता है। इसलिए तकलीफ हो जाती है। अब क्या होना चाहिए? अब यह होना चाहिए कि शुद्ध प्रेम का पात्र तो केवल वही हो सकता है जो सदा के लिए हमारा साथ दे सकें और सिवाय प्रेम के और कुछ हमसे माँगे नहीं, किसी प्रकार की आशा हम से न रखें।

ऐसा तो वही हो सकता है भाई! जो स्वयं अपने आप में सब प्रकार से पूर्ण है। कोई और दूसरा, ऐसा हो ही नहीं सकता। कभी-कभी मैं मन ही मन सोचती हूँ कि यह अच्छी बात है, पर मनुष्य के लिए कितनी कठिनाई हो जाती है कि संसार दिखाई देता है और उसी से हम अनेक प्रकार की आशाएँ करते हैं आशाओं में, निराशाएँ मिलती है; इस निस्सार दृश्य में तुमको सन्तुष्ट करने के लायक कुछ नहीं है। इस बात का पाठ अगर हम पढ़ लेते हैं, तो अपने प्रेम भाव को केन्द्रित करने के लिए, परमात्मा को छोड़कर और किसी पर ध्यान जाता ही नहीं।

श्री स्वामी जी महाराज ने एक सुझाव दिया। उन्होंने तो ऐसा भी सुझाया मुझे कि सचमुच मनुष्य का जीवन तो अपने आप में, आनन्दमय अस्तित्व ही है, प्रेममय अस्तित्व ही है। परन्तु जो उद्गम है प्रेम का—अनन्त सागर, उद्गम से विमुख हो जाने के कारण, भीतर में नीरसता भरी रहती है। नीरसता से पीड़ित होकर व्यक्ति, संसार की ओर देखता रहता है, जहाँ-तहाँ दौड़ता रहता है। जिस-जिस से संयोग बनाता रहता है। सोचता है कि ऐसे कपड़े पहनूँ, तो नीरसता मिट जाएगी। ऐसे भोजन का इन्तजाम हो जाए, तो जीवन सरस हो जाएगा। ऐसी मित्र मण्डली मिल जाए, तो नीरसता मिट जाएगी। इस प्रकार का काम मिल जाए तो समय कट जाएगा।

जब मैं सुनती हूँ किसी के द्वारा, कि ऐसा तो हम इसलिए करते हैं कि समय कट जाए, तो भीतर-भीतर मुझे इतना दुःख होता है कि हाय रे मनुष्य! एक-एक क्षण आनन्दमय हो सकता था। एक-एक क्षण अनन्त परमात्मा को लाड़ लड़ाने में रसमय हो सकता है और आदमी उन क्षणों को मुश्किल से काटने की सोचता है। बड़ा दुःख होता है। भार ढोते हो भाई! कि ऐसा-ऐसा करें तो समय कट जाए। अरे! समय है कहाँ? किसके पास समय है भार ढोने के लिए। भार ढोने के लिए जीवन नहीं है भाई! भूल हो गई। भीतर से नीरसता का उद्वेग होता है। नीरसता शब्द का प्रयोग मैं कर रही हूँ। कुछ भाई बहन ऐसे भी सोचते होंगे कि हमारे पास तो नीरसता है नहीं। अनुकूल परिस्थितियों में आदमी को भ्रम रहता है, पता नहीं चलता है। लेकिन अगर पता चलाना हो तो थोड़ी देर के लिए अपने को अकेले बन्द करके देखों कि अपने

भीतर जो रक्त की लहरियाँ उठ रही है, उसमें अपना आपा डूब रहा है कि भीतर से जी ऊब रहा है? उवदवजवदल लग रही है। घबराहट मालूम हो रही है। बाहर निकलने की इच्छा हो रही है दृश्य जगत् से संयोग बनाने की आवश्यकता महसूस हो रही है, देखों तो पला चल जाए कि नीरसता है कि नहीं! तो यह तथ्य है, हमारी वर्तमान दशा का और सब इसका अधिक विस्तार न करके, जरूरत नहीं है अधिक विस्तार की। भुक्त भोगी हैं हम सभी अब इससे मुक्त होकर, उसको सरस बनाने का पुरुषार्थ अपने को करना चाहिए।

एक बात पक्की हो गई कि जो प्रेम तत्त्व से भिन्न कुछ भी चाहेगा वह प्रेम दे नहीं सकेगा और प्रेम तत्त्व से भिन्न जो कुछ भी चाहेगा, वह प्रेम ले नहीं सकेगा। प्रेम का आदान-प्रदान ही के बीच में संभव है। एक हैं भगवान् और दूसरे हैं उनके भक्त। इन दोनों के अतिरिक्त और कहीं भी प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। जहाँ किसी भी प्रकार की कामना शेष है, वहाँ प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। तो हमलोग आरम्भ कहाँ से करें? अनुभव संतजल सलाह देते हैं कि भूतकाल की भूलों को वर्तमान में याद मत करो। आज तुम्हारी समझ में यह बात आ गई कि मेरे ही भीतर प्रेम की प्यास है और इस दृश्य जगत् में जाने हुए में, अनजाने में, सबमें एक अविनाशी अलौकिक विद्यमान है तो उससे विमुख हो जाने के कारण ही अनेक प्रकार के कष्टों में फँस गए और अब दुःख का निवारण चाहते हो, और हृदय की शुष्कता का, कठोरता का नाश करना चाहते हो, सदा-सदा के लिए उस परम् प्रेमास्पद से अभिन्न होना चाहते हो, तो अब यह पुरुषार्थ आरम्भ करो कि भाई! दिखाई देगा संसार, तो उसकी सेवा करेंगे, परन्तु अपने लिए अपना प्रेम-पात्र, परम प्रेमास्पद उस अनन्त परमात्मा को ही रखेंगे, जो प्रेम स्वरूप ही है। अब यहाँ किसी से कुछ माँगने चाहने की आवश्यकता नहीं है। जगत की देने की बात है। जितना लवे देते जाओ। जल्दी-जल्दी दे डालो, जिससे जल्दी फुर्सत मिल जाए। जल्दी-जल्दी ममता और कामना का नाश होता जाए तो हृदय की कठोरता जल्दी मिट जाती है। उस अनन्त परमात्मा से, जिससे कि हमारा सदा-सदा का सम्बन्ध है, अपनी ओर से केवल सम्बन्ध स्वीकार करने की बहादुरी करनी है।

बड़ा भारी पुरुषार्थ है मानव जीवन का, कि देखे हुए संसार को इन्कार कर देना और बिना देखे हुए परमात्मा को सदा के लिए अपना मान लेना। और उसमें मैंने अपनी ओर से थोड़ा सा और जोड़ लिया, आगे चलकर विस्तार तो सभी लोग करते हैं, तो मैं ऐसा कहती हूँ कि एक बड़ी भारी बहादुरी हम लोगों को करनी है कि देखे हुए जगत् को अपने लिए इन्कार कर देनाऋ बिना किसी शर्त के, नदबवदकपजपवदंस ेनततमदकमत सुना होगा आपने बहुत सारे सन्तों ने कहा है, उसको मैं इसी के साथ जोड़ लेती हूँ— हे प्रभु! मैं तुम्हारी शरण हूँ, हे प्रभु! मैं तुम्हारे समर्पित हूँ, हे प्रभु! मैं तुम्हारी दासी हूँ, हे प्रभु! मैं तुम्हारा बालक हूँ',— जो जी में आए, कह दीजिए। सब नाते उनको पसन्द हैं। गोस्वामी जी ने कह दिया:—

'मोही तोहि नाते अनेक, मानिए जो भावै'

तो परमात्मा भी यह वाक्य हम लोगों से कहते हैं कि 'तू तो मेरा सदा-सदा का है ही अपना।' और महाराज जी मुझे समझाते तो कहते कि देवकी जी! परमात्मा तो जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। तुम्हारी ओर से कमी रही गई है; तुम उनको अपना मान लो। वे सर्वज्ञ हैं, उन्हें यह बात मालूम हैं वे जानते हैं, हम लोग अल्पज्ञ हैं,

इस बात को जानते नहीं है भूल गए है; तो अब मान लो। मानने के सिवाय भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए और कोई दूसरी साधना है नहीं। मानना ही होगा। मानने के बाद, वही परमात्मा जाना हुए भी हो जाता है और देखा हुआ भी हो जाता है, और भेंट मुलाकात भी हो जाती है। प्रेम तत्त्व की वृद्धि में ऐसी विलक्षणता है कि दोनों मिलकर जब एक हो जाते हैं, तो पहचान भी खत्म हो जाती है।

एक दिन एक संत प्रेम तत्त्व के बारे कहने लगे कि कृष्ण के प्रेम में

राधा कृष्णाकार हो जाती हैं और राधा के प्रेम में कृष्ण राधाकार हो जाते हैं। राधाजी सखियों से पूछ रही हैं कि हे सखियों! राधा कहाँ गई? क्या हो गया कि प्रेम के बाहुल्य में अपना जो भास है कि 'मैं हूँ' वह भास भी उस प्रेम में जीत कर विलीन हो जाता है। वे दो, दो नहीं रह जाते हैं, एक हो जाते हैं। कृष्ण के प्रेम में राधा का अहं कृष्णाकार हो गया तो राधे! राधे!! राधे!!! पुकारती फिर रहीं है। राधा के प्रेम में कृष्ण राधाकार हो गए, तो कृष्ण! कृष्ण!! कृष्णा!!! पुकारते फिर रहे हैं। ऐसा होता हैं श्री महाराज जी ने सिद्धान्त बताया कि देखो, सम्पूर्णता से अद्वैत जो हैं, वह प्रेम तत्त्व में जाकर सिद्ध हो जाता है। उसके पहले नहीं। यह हिसाब बड़ा अनोखा है। प्रेम के साम्राज्य में गणित ऐसा है कि एक और एक मिलकर दो नहीं होते। एक और एक मिलकर एक ही होता हे। ऐसा यह विलक्षण गणित हैं उस अन्तिम ऊँचाई तक हम लोगों को पहुँचाना है।

आरम्भ कहाँ से करें? आरमी आज से करें। पहली बात क्या स्वीकार करें कि मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से हैं। नित्य सम्बन्ध ओर किसी से नहीं है। माना हुआ सम्बन्ध संसार में बहुतों से है। इस माने हुए सम्बन्ध का सदुपयोग करो। मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य पालन करो और प्रेम के लिए केवल परमात्मा को अपना नित्य सम्बन्धी मानो। तो पहला कदम हो गया।

दूसरी बात क्या होगी? कि केवल उसी का स्वतन्त्र अस्तित्व है, उससे भिन्न किसी और का अस्तित्व नहीं है। इसलिए इस समग्र जगत् सहित अपने पास, जो कुछ अपने को दिखाई दे रहा है, ये सब कुछ उसका है। तो परमात्मा है, उसी से अपना नित्य सम्बन्ध है और अपने सहित सब कुछ उनका है। तीन बातें हो गई अभी तक कोई खतरा नहीं है। अभी तक हम सभी लोग, बहुत अच्छी तरह सुरक्षित हैं। परमात्मा हैं, इसका मानने से इन्कार नहीं कर सकते हैं हम। और संसार में क्योंकि हमारा सम्बन्ध सदा के लिए निभता नहीं है, बनता है और टूटता हैं, इसलिए यहाँ के सम्बन्धों को तो हम नित्य सम्बन्ध कह ही नहीं सकते। तो कहीं न कहीं से हमारी उत्पत्ति हुई है। किसी न किसी में से हम निकले हैं, तो उसी के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध है उसी से हमारा अटूट सम्बन्ध है और मेरी आवश्यकता ऐसी है कि मुझको ऐसा नित्य साथी चाहिए कि जिसका साथ कभी भी छूटे नहीं। जिसके वियोग में मुझे कभी भी निराधार न होना पड़े ऐसे नित्य सम्बन्धी की आवश्यकता मनुष्य मात्र अनुभव करता है और इसी के उत्तर में संतजन हम लोगों को सलाह देते हैं कि भाई! इस बनने बिगड़ने वाले संसार में तुमको नित्य साथी कोई नहीं मिलेगा। हम लोगों के साथ क्या है? हम लोगों को अभी चिर पुरातन सम्बन्ध की याद नहीं है, लेकिन उसकी आवश्यकता है। तो गुरु के वाक्य में श्रद्धा करके ग्रन्थ के वाक्यों में विश्वास करके, अपने जीवन के अधूरेपन को मिटाने की आवश्यकता अनुभव करके, हम लोगों को स्वीकार कर लेना चाहिए।

चिर पुरातन सम्बन्ध सदा-सदा के लिए होता है। तो इस शरीर के उत्पन्न होने से पहले भी परमात्मा मेरे नित्य सम्बन्धी थे। जब यह शरीर चिता पर जलता हुआ होगा तब भी वह मेरा नित्य सम्बन्धी मेरे साथ रहेगा - इस सत्य को स्वीकार करके सदा-सदा के लिए निश्चित और निर्भय हो जाना, यह भक्ति-पंथ के साधकों का पुरुषार्थ है। आगे क्या होगा? आगे बहुत अच्छी बात होती है। ज्यादा कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता। एक बार गुरु के वाक्य में आस्था करके, मैले कुचैले, विकारों से भरे रोगी शरीर जो भी कुछ है, उन्हें ले करके उस सामर्थ्वान अनन्त के समर्पित हो जाने के पश्चात् फिर अपनी ओर न देखना चाहिए न अपनी योग्यता और विशेषता की चिन्ता करनी चाहिएऋ कुछ नहीं। उसके समर्पित हो करके बिल्कुल अपने को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। चैबीस घंटें में कई बार। हे प्रभु! यह सृष्टि तुम्हारी है, इसकी सेवा का अवसर दिया आपने, ऐसा याद करके यदि किसी प्यासे को एक गिलास जल पिला दिया, तो ये हाड-मांस का बना हुआ स्थूल शरीर जो है, यह पवित्र हो जाएगा।

जब मैं छात्रावास में थी पढ़ाई के दिनों में, तो बीमारों की सेवा में कुछ-कुछ काम करने की रुचि थी, ऊँचा जीवन जीने की लालसा बचपन से थी, तो जहाँ जा ेसूझे सो करती रहती थी। राम कृष्ण मिशन के एक डाक्टर हम लोगों के छात्रावास में आते थे, बड़े ऊँचे, अच्छे संत थे। भक्त थे। जिस रोगी के पास वे जाएँ देखने के लिए, मैं वहीं खड़ी मिलती। टैम्परेचर मैंने नोट कर रखा होता, उसको क्या तकलीफ है सो मुझे मालूम होता, ओर उनको मैं बताती। दो चार, दस बार देखा होगा उन्होंने, तो एक दिन दोनों हाथ हमारे पकड़ लिए और पड़कर कर कहने लगे कि बच्ची का यह हाड-मांस का हाथ तो पवित्र हो गया। बहुत पहले की बात है जब आठवीं-नवीं में पढ़ती थी मैं तब की। तब से मुझको याद है कि इतना सा भी संसार के प्रति कर सको तो बड़ी बात है। अगर बहुत ही सामान्य परिस्थिति के व्यक्ति आप हैं और बहुत बड़ी सेवा का कार्य नहीं कर सकते हैं, तो उससे कुछ नहीं घटेगा। अगर शरीर भी नहीं चल रहा है तो हृदय से ही मनाओ कि प्यारे प्रभु की प्यारी सृष्टि! तुम आबाद रहो। हें संसार! तुम्हारा कल्याण हो।

स्कूलों के दिनों की बात है कि एक बार एक थियोसोफिकल सोसायटी के संत आए तो उनको भी कुछ दिखा होगा, उन्होंने मुझको बुलाया और पास बैठाया और भ्मंक डपेजतमे ेसे कहने लगे कि इस लड़की को मैं कुछ सिखाऊँ। उन्होंने कहा कि सिखाइये महाराज। आशीर्वाद दीजिए। तो उन्होंने सिर पर हाथ रखा और कहा कि बेटी कुछ अनुभव हो रहा है तुम्हें? तो मै। बहुत ही उग्र प्रकृति की थी। सहज से किसी बात में आने वाली नहीं थी मैंने कहा कि नहीं, नहीं, हमको कुछ नहीं हो रहा है। थोड़ी देर तो उन्होंने चेष्टा की पर कुछ प्रभाव नहीं हुआ। तो फिर उन्होंने कहा कि बहुत अच्छी बात है, बड़ा पक्का विचार मालूम होता है। भविष्य इसका कल्याणमय होगा, ऐसा कह करके आशीर्वाद दिया। कहने लगे कि देखो! दुनियाँ में अगर कुछ न कर सको तुम, तो जहाँ कहीं किसी दुःखी पर दृष्टि पड़े तो तुम हृदय से यह भाव ही प्रकट करना कि हे संसार! तुम्हारा कल्याण हो! हे प्रभु! तुम दुःखी का दुःख करो। तो केवल इतनी सी सद्भावना के बल पर ही, हमारे जन्म-जन्म का अशुद्ध चित्त शुद्ध हो सकता है।

संसार निस्सार है लेकिन जब तक हम लोगों को दिखाई दे रहाहै तब तक इसको बेकार

मत कहना। समझ में आता है? निस्सार है। रहने वाला नहीं है। बन रहा है, बदल रहा है, मिट जाएगा। लेकिन जब तक इसका ज्ञानेन्द्रियों से तादात्म्य है, अभी टूटा नहीं है; जब टूट जाएगा तब तो एक अकेला ही रह जाएगा, एक से भिन्न किसी के अस्तित्व का भास ही नहीं होगा, उस सतह पर तो जब हम पहुँचेंगे तब पहुँचेंगे। साधना तो आज आरमी करनी है वर्तमान में। तो इस वर्तमान में संसार दिखाई दे रहा है अपने लोगों को, तो इसको निस्सार तो हम जानते हैं निस्ससार जानना, परन्तु बेकार मत मानना। यह जो दिख रहा है, आपको ऊँचे उठाने में सहयोगी हो सकता है। कैसे? कि इससे लेने की आशा को छोड़कर, जो देना है वह देना आरम्भ कर दो, कुछ भी तुम्हारे पास बचा नहीं देने के लिए। न शरीर में बल रहा है, न धन सम्पत्ति रही, ये कुछ भी नहीं रहा तो हृदय का सद्भाव तो नहीं घट गया। तो हृदय से ही भला मनाओ। इतनी सी बात है। और फिर जुट जाओ अपने नित्य साथी के साथ उस अनन्त परमात्मा के साथ, उस प्रेम सागर के साथ जुट जाओ। उन्हीं के नाते, संसार की ओर कल्याणमयी भावना से दृष्टिपात करो और उन्हीं के नाते इस ओर से आँखे बन्द करके, थोड़ी-थोड़ी देर के लिए उनकी शरणागति लेकर शान्त हो जाओ। यहाँ तक आपको कोई कठिनाई नहीं है। इतना सा साधन हर भाई-बहन जिसकी इच्छा हो प्रेम तत्त्व के विकास की, वह अपना सकता है। अब आगे चले।

मनुष्य के भीतर एक जीवन तत्त्व है। केवल शरीर के द्वारा अपने को मत देखिए। शरीरों से भी ऊँचा, अविनाशी, अभौतिक, अलौकिक, एक तत्त्व आपके भीतर है। उसमें प्रेम बीज रूप से विद्यमान है। उसमें ज्ञान का प्रकाश है। जिस समय मनुष्य संसार को 'पर' जान करके, इसके आश्रय को छोड़ कर उस नित्य सम्बन्धी परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता है, उसी समय उसके सूक्ष्म अतिसूक्ष्म अहं रूपी अणु में एक परिवर्तन आरम्भ होता है।

पहले क्या था? कि आँखें खोलो तो विविध रूप आकृति, दिखाई देंगी और आँखे बन्द करो तो भीतर घोर अन्धकार हो जाएगा। यह स्थूल शरीरके साथ जुटकर रहने का परिणाम। और अब आपने बहुत ही सहज भाव से, बड़ी ही सरलता के साथ, बिना किसी तैयारी के, बिना किसी विद्वत्ता के, बिना किसी जप-तप के केवल जीवन की निराधार अवस्था को अनुभव करके उस अनन्त परमात्मा को जीवन का आधार स्वीकार कर लिया और उसकी शरणागति लेकर रहना आपने पसन्द कर लिया तो केवल इतने मात्र से उस अहं रूपी अणु में, एक विचित्र परिवर्तन होता है, दृढ़ता आती है। मैंने तो बड़ी कठोरता के स्तर से आरम्भ किया था। सूक्ष्म से सूक्ष्म विकास जो ईश्वर विश्वास के आधार पर होता है, उसका थोड़ा-थोड़ा सा रिपोर्ट मेरे पास है। आदत थी प्दजतवेचमबजपवद की आँख से दिखता रहता था। अभी भी दिखता है। वह मैं सेवा में निवेदन कर रही हूँ, बाहर से कोई परिश्रम, पराश्रय लेने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आपने उस अनन्त परमात्मा की शरणागति को स्वीकार किया और पाँच, दसा बीस मिनिट का समय निकालकर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए, निरहंकार होकर कर्त्तव्य का अभिमान छोड़कर, माता-पिता की गोद में जैसे शान्त रहते हैं वैसे छोड़ दीजिए अपने को, तो आप काले हो, विकारों से भरे हो, क्रोधी हो, कुछ चिन्ता की बात नहीं है, उनमें इतनी सामर्थ् है कि उनकी कृपा-दृष्टि से ये सब शान्त हो जायेगा, शुद्ध हो जाएगा, मिट जाएगा।

उनकी महिमा में विश्वास करो, उसकी प्रधानता रखो, अपनी नालायकी को भूल जाओ। जरूरत नहीं है, उसको देखने की। तो अहं रूपी अणु में एक ऐसा विलक्षण परिवर्तन होता है कि पहले आपने गुरु के कहने से माना था कि तुझी में तेरा प्रेमास्पद है। संत कबीन ने कहा—

तेरा साई तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।

पुष्पों में जैसे सुगन्ध होती है, वैसे ही तुम्हारे ही में परमात्मा है। तो गुरु ने कहा कि तुम्हारा प्रेमास्पद तुम्हीं में हैं, गुरु के कहने से आपने सुन लिया, मान लिया। मानने के बाद आपके भीतर भाव की ऐसी आँखे खुलती हैं कि अपने ही में उस परम प्रेमास्पद का दर्शन होने लगता है। किया नहीं जाता। मानव सेवा-संघ की पद्धति में प्रयास करके, अभ्यास करके इष्ट का चित्र ध्यान के केन्द्र में लाने की बात सिखाई नहीं जाती। स्वामी जी कहते कि यदि तुम अपनी ओर से बनाओगे तो तुम्हारी कल्पना का चित्र बनेगा। मुझको बहुत सावधान किया उन्होंने कि देवकी जी! भगवान का कार्टून मत बनाना दिमाग में। सुना हुआ होता है तो प्रभाव रहताहै कि भगवान चतुर्भुजी हैं, भगवान धनुषधारी हैं, मुरली मनोहर हैं, अष्टभुजा हैं, महाशक्ति हैं यह सब सुनी हुई बातों को प्रभाव होता है। जिस जिसको जो जो रूप पसन्द आता है वह मस्तिष्क में भगवान का वही रूप बनाना पसन्द करता है। तो बार-बार महाराज जी ने मुझको समझाया कि देवकी जी तुम भगवान का कार्टुन मत बनाना। तुम्हारा बनाया हुआ बन जाएगा और अपने आप से बिगड़ जाएगा। इसलिए तुम बनाना मत। तुम अपने को समर्पित करके छोड़ दो। जो रूप तुम पसन्द करती हो ओर जिस रूप के दर्शन से तुम्हारा कल्याण हो सकता है, जिससे तुम्हारी लगन लग सकती है यह बात तुमको मालूम नहीं है, लेकिन उनको मालूम है।

तुम अपने को छोड़ दो। वे परम् प्रेमास्पद, हम सबके हित चिन्तक, है अपने से अधिक हमारे हित की चिन्ता उनको हैं, अपने से अधिक हमारे उद्धार की बात उनके शुद्ध संकल्प में है। तो वे सत्य संकल्प शुद्ध-संकल्प, परमहिम-चिन्तक, जगत्-पिता, जगत्-जननी अपनी ही करूणा से अभिभूत होकर हमारा सुधार आरम्भ करेंगे, तो इनता आनन्द होगा, इतना आनन्द होगा, प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति की ऐसी अजस्र धारा फूट पड़ेगी कि जिसे तुम सँभाल नहीं सकोगी। सीमित अहं भाव उसमें गल जाएगा और कब मिलकर तुम और वे एक हो गए, उस क्षण की कोई पहचान नहीं रहेगी।

मैंने कहकर सुना दिया, आपने आभार प्रदर्शित कर दिया, हमारे आपके मिलन का अन्त नहीं हो गया। हम सभी एक-एक ज्वलन्त

हैं, उस अविनाशी जीवन की किरणें हैं हम। जहाँ भी रहे, शरीर से अलग तो सदैव ही हैं, लेकिन हम सभी उस प्रेम-नगर के पथिक है, कभी भी एक दूसरे से भाव में अलग नहीं होंगे। प्रार्थना की घड़ी में, शान्ति के क्षणों में बाहरी कठिनाइयों की उलझन में, हम सब एक दूसरे के साथ हैं प्रार्थना में हम सब एक दूसरे के कल्याण के लिए प्रार्थना करें जब कभी एकान्त का अवसर मिले, उस प्रभु की कृपा की भिक्षा सबके लिए माँगे। यह क्रम हमारा, यह अनन्त मिलन हमारा, यह पथ का पाथेय हमारा, तब तक साथ देता रहे हम सभी भाई-बहिनों को जब तक हम जाकर अपने उस अनन्त जीवन में समाहित न हो जाएँ।

अब शान्त हो जाएँ।

¬ श्री हरि शरणम्।।

प्रवचन(92)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग अध्यात्म जीवन की चर्चा कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में आज इस विषय पर हम विचार करें कि जो सत्य है, वह अपने से बहुत दूर मालूम होता है और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वह अपने को निकट मालूम होता है। जिससे त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है, वह अपने को प्राप्त हुआ जैसा प्रतीत होता है और जो सदा-सदा से अपने में विद्यमान है, जिससे सम्बन्ध कभी छुटा ही नहीं, वह अपने को अत्यन्त रहस्यमय मालूम होता है। पता नहीं कहाँ है? कब मिलेगा, कैसे मिलेगा? यह एक समस्या है हमारे आपके सामने। इस समस्या का समाधान, सत्संग के प्रकाश में हम लोगों को करना है।

अहं रूपी अणु की रचना पर विचार करना बहुत ही सहायक होता है। शरीर की रचना हुई है भौतिक तत्त्वों से और मैं-पन की रचना हुई है अलौकिक तत्त्वों से। श्रीमहाराज जी की वाणी है। एक जगह पर बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि गेहूँ उपजा खेत में और सेवार उपजी जल में, "मैं" कहाँ उपजा? बताओ कोई स्थान? जल में, कि थल में ? कहाँ मैं की उत्पत्ति हुई? सोचने से तो ऐसा लगता है कि जल में से या थल में से "मैं" नहीं निकला है।

श्री महाराज जी कहते हैं कि जल से, थल से और वायु से "मैं" की रचना हुई होती अगर, तो आज के वैज्ञानिक युग में ऐसे यंत्र बना लिए जाते, जिससे बहुत से "मैं" का उत्पादन हो जाता, लेकिन ऐसा नहीं हुआ नहीं हो सकता, ऐसा सम्भव नहीं है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि हमारा-आपका व्यक्तित्व जो है, उसमें शरीरों का भाग भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है और 'मैं पन' जो है, वह अलौकिक तत्त्व से रचा गया है। ऐसा हम क्यों कहते हैं? ऐसा इसलिए कहते हैं कि शरीरों के साथ रहते हुए भी, मनुष्य के भीतर अलौकिक जीवन की माँग होती है। अनन्त तत्त्व की जिज्ञासा रहती है। इसलिए यह 'मैं पन' जो है हमारा आपका, यह भौतिक तत्त्वों का रचा हुआ नहीं है, अलौकिक तत्त्व का रचा हुआ है। हम लोग देख रहे हैं, परस्पर एक-दूसरे के साथ व्यवहार कर रहे हैं, यह सब इसी सत्य के प्रकाश में होना चाहिए था। इस सत्य का प्रभाव अगर हम लोग ग्रहण करें तो हमें यह सत्य भी मान लेना चाहिए कि भाई! शरीर की आवश्यकता संसार से पूरी होगी, परन्तु "मैं" की आवश्यकता की पूर्ति में संसार सहायक नहीं होता है, कारण कि शरीर और संसार की जाति एक है।

किसी शरीर-विज्ञान के जानकार व्यक्ति से आप पूछिए और आपके शरीर के भीतर की धातुओं की वह जाँच करें, तो कोई डाक्टर कहेगा कि शरीर में लोहा कम हो गया, कोई कहेगा कि इसमें शक्कर की मात्रा बढ़ गई है। ये सब धातुएँ जो शरीर के भीतर हैं और जिनकी क्षति-वृद्धि की चर्चा आप करते हैं, ये धातुएँ संसार की हैं, संसार के बाहर की नहीं है। इसका मतलब यह है कि शरीर का विश्लेषण अगर कीजिए, तो शरीर में संसार ही मिलेगा। संसार से परे की धातु नहीं मिलेगी। समझ में आता है?

अब "मैं" का विश्लेषण करो कि उसमें क्या है? उसमें संसार की धातु नहीं मिलेगी। क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर ये पाँच तत्त्व "मैं" में नहीं मिलेंगे। "मैं" क्या है? 'मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्याहै? इस पर जिन महापुरूषों ने विचार किया, उन्होंने विचार की सीमा के भीतर आने वाली सब

बातों को अस्वीकार किया। 'मैं' मिट्टी नहीं है, 'मैं' पानी नहीं है, 'मैं' हवा नहीं है। 'मैं' अग्नि नहीं हैं, 'मैं' में यह सब नहीं है। जो नहीं है, उसको नकार देने से अर्थात् जो नहीं है, उसको अस्वीकार कर देने से, जो है उसका अनुभव हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है और समस्या हल हो जाती है। एक रास्ता यह है।

दूसरा है विश्वास का मार्ग जो आस्तिकवाद कहलाता है। व्यक्तित्व की रचना में विचार भी एक अनिवार्य तत्त्व है, तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास भी जीवन का एक अनिवार्य पहलू है। उसको भी हटाया या मिटाया नहीं जा सकता। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व को लेकर आप विचार करें, तो उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास-ये सब घटा दीजिए, तो उसको आप मनुष्य नहीं कह सकेंगे। अनिवार्य तत्त्व किसको कहते हैं? जिसको हटा दो, तो संज्ञा समाप्त हो जाए। प्रेम भाव से शून्य आपने किसी मनुष्य को देखा है? अरे भाई! स्नेह देने की क्षमता उसमें न हो, परन्तु लेने की प्यास तो रहती है कि नहीं? इसका मतलब है कि बीज रूप से यह तत्त्व विद्यमान है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अनिवार्य तत्त्व है कि उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पक्ष होता ही है। उसके बिना मनुष्य बनता ही नहीं। इस आधार पर साधन की एक प्रणाली चलती है, जिसमें यह माना जाता है कि शरीर के माध्यम से और इस संसार की सहायता से अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकीं। अपनी आवश्यकता उस अनन्त जीवन की है, जिस पर मृत्यु की छाया न पड़ सके। अपनी आवश्यकता उस आनन्द की है, जो किसी अन्य पर आश्रित न हो।

पराश्रय और परिश्रम से मिलने वाली चीज, 'सुख' कहलाती है, आनन्द नहीं कहलाती। पराश्रय और परिश्रम से मिलने वाले सुखों का सब कुछ हम लोगों ने देख लिया। इतने से अपने को सन्तुष्टि नहीं हुई। अपनी माँग उस आनन्द की है, जो पराश्रय और परिश्रम पर आधारित न हो। आँखों का सहारा लिए बिना दृश्य जगत् के सुन्दर दृश्यों की सुन्दरता का मजा क्या आप ले सकते हैं? नहीं ले सकते हैं। कान की सहायता किए बिना, मधुर स्वर सुनने का सुख क्या किसी को मिल सकता है? नहीं मिल सकता है। तो कानों का सहारा लेकर, मधुर स्वर सुनने का सुख हम लेते ही रहेंगे, इस बात में हम लोग स्वाधीन नहीं है। जीभ में स्वाद की ग्रन्थियाँ है, उसमें से स्वाद के रस निकलते रहते हैं ैंसपअंतजल हसंदके कहते हैं, उनको। उनकी क्रिया कि आधार पर, सुस्वादु वस्तुओं के खाने का सुख व्यक्ति को मिलता है। यह सुख सदा के लिए आप लेते रहें, इसमें स्वाधीनता नहीं है। अनेक प्रकार की पराधीनता है, कहाँ तक मैं वर्णन करूँ! शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के आधार पर, इन्हें जानने में मैंने बहुत समय गँवाया। आपका समय इस विवेचन में मैं गँवाना नहीं चाहती हूँ। अब इसे यहीं पर छोड़ दीजिए। इसमें पराधीनता है।

अपनी माँग में ऐसी बात है कि अपने को वह आनन्द चाहिए, जिसमें शरीर और संसार की पराधीनता लेनी न पड़े। परम स्वाधीन जीवन का आनन्द अपने को चाहिए। इस माँग की पूर्ति शरीर और संसार की सहायता से नहीं हो सकती। अपने को ऐसा परम पवित्र-प्रेम कर रस चाहिए कि जो कभी घटे नहीं, कभी खत्म न हो और हम सदा ही, उस रस की मस्ती में छके रहें। ऐसा परम पवित्र रस, ऐसा अनन्त माधुर्य से भरा हुआ रस, इस संसार में है भी नहीं और इस संसार की सहायता से ऐसे रस का अनुभव भी नहीं हो सकता। जिन

साधकों को उस रस का मजा आया, जो उस रस में छके, वे शरीर और संसार को भूल गए। और जिन्होंने शरीर और संसार को पकड़कर रखा है उनको वह अनन्त रस मिला ही नहीं। इससे पता चलता है कि अपने को जो रस चाहिए, वह शरीर और संसार की सहायता से नहीं मिल सकता।

अपने जीवन को देखिए तो सही, शरीर और संसार की सहायता लेकर, हम लोगों में से किसी ने चालीस वर्ष, किसी से साठ वर्ष और किसी ने अस्सी वर्ष बिताए। इतनी लम्बी अवधि का अनुभव काफी है इस सत्य को स्वीकार करने के लिए कि सचमुच मुझे जिसकी माँग है, वह शरीर और संसार की सहायता से पूरी नहीं हो सकती। अतः निज स्वरूप को बोध और परम प्रेम का रस, जगत् की सहायता से नहीं मिल सकता। इस सत्य की स्वीकृति मात्र से, साधकों के साधन-पथ की बहुत सी बाधाएँ सहज ही हट जाती है। साधक प्रचलित रूढ़ियों से मुक्त हो जाता है, अन्यथा अपनी मौलिक माँग की पूर्ति के लिए भी, वह शरीरों की पराधीनता में आबद्ध रहता है। साधकों को साधन-पथ पर स्वाधीनता पूर्वक आगे बढ़ाने के लिए श्री स्वामी जी महाराज ने कहा कि देखों भाई! सत्य को स्वीकार करने के लिए किसी विशेष परिश्रम और पराश्रय की आवश्यकता नहीं है।

सामान्यतः साधक यह सोचते हैं कि शरीर की ममता और संसार की कामनाओं का नाश करने के लिए भी कुछ परिश्रम करना पड़ेगा, कुछ अनुष्ठान करना पड़ेगा, ऐसा सोचना भ्रम है। ममता और कामना का नाश, जीवन के सत्य को स्वीकार करने से होता है, परिश्रम से नहीं। ममता और कामना की उत्पत्ति, सुख-भोग की प्रवृत्ति से होती है। परन्तु उनका नाश किसी प्रवृत्ति से नहीं होता।

कामनाओं की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण कीजिये। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि आपने इन्द्रियदृष्टि से दृष्टि जगत् को देखा और किसी चीज को पसन्द किया कि यह बड़ी बढ़िया है, तो उस पसन्दगी के कारण उसका चित्र आपमें अंकित हो गया। जैसे खाने की कोई चीज पसन्द की आपने। दुकानों में से बढ़िया-बढ़िया सुगन्ध आ रही है। खाने की वस्तु पक रही है, बिक रही है। आपके मन में उसको खाने की कामना उत्पन्न हो गई उसको खाने का सुख मिलेगा कि नहीं मिलेगा, यह तो प्रकृति का विधान जाने। मिल भी सकता है और नहीं भी मिल सकता है। कभी पैसे नहीं होंगे, कभी टाइम नहीं होगाऋ साथी नापसन्द करेंगे। सुख लेने के लिए विधान ने आपको ंससवू किया है या नहीं, यह तो विधान जाने, लेकिन अगर आपने पसन्द किया कि यह तो बड़ी बढ़िया चीज है, मुझे मिल जाए तो खाने में बड़ा मजा आयेगा। केवल इस पसन्दगी के आधार पर आपमें उसका राग अंकित हो जायेगा। फिर जब आप ध्यान करने बैठे तो इष्ट के स्थान पर जिस वस्तु को आपने पसन्द किया था, उसका चित्र दिखाई देने लगा। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

बहुत साधारण स्तर का वैज्ञानिक विश्लेषण है, ऊँचा दर्शन मैं नहीं बोल रही हूँ। दुनियाँ में रहकर दिन-रात इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं को हम लोग, अपने भीतर स्थान दे रहे हैं, यह उसका परिणाम है। श्री महाराज जी कहते हैं कि भैया! सुखद प्रवृत्तियों में अपने को फँसाकर, इन विकारों को आपने भीतर-भीतर जमाया है। इनका नाश किसी प्रवृत्ति से नहीं होगा। यह विकार भी तुम्हारे भीतर जमें रहेंगे और इनके

नाश के लिए साधना के रूप में कोई चित्र लेकर, कोई मंत्र लेकर, कोई अच्छा विचार लेकर, उनका चिन्तन करने बैठोंगे तो वह चिन्तन भी तुम्हारे भीतर अंकित होता रहेगा। दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का प्रभाव अंकित रहेगा।

मनुष्य में बड़ी भारी विलक्षणता है कि वह जिसको पसन्द करता है, वही उसके भीतर अंकित होता है। संसार के दृश्यों को पसन्द करो तो उनका चित्र भी भीतर बन जाता है और जब कुछ अच्छी बातों को पसन्द करने लगो, तो वे भी अंकित हो जाती हैं। फिर जब साधक अपनी साधना में शान्त बैठना चाहते हैं तो जो विकार अंकित हुए थे, वे भी सामने आते हैं और जो अच्छी बातें अंकित हुई है, वे भी सामने आती हैं। फिर वे घबराते हैं कि हाय! क्या करें? भीतर से विकार तो नाश हुए नहीं। अरे भाई! आपने दोनों को पसन्द किया तो दोनों वहाँ मौजूद हैं। एक को देखना चाहते हो तो होगा कैसे? पहले पसन्दगी मिटाओ, न तब विकार मिटेंगे। इसलिए स्वामी जी महाराज ने कहा कि देखों, भीतर के जो विकार है, उनको नाश करने के लिए किसी क्रिया का सहारा मत लो। क्रिया का सहारा लेने का मतलब है शरीर का सहारा लेना और शरीर का सहारा लेने का मतलब है कि तुम पराधीन हो गए। सोचो! तुम चाहते हो परम स्वाधीन, परमानन्द और उसकी साधना करते हो शरीरों के अधीन होकर। अतः सफलता नहीं मिलती। इस फेर में कभी मत पड़ना। कितनी सच्ची बात है। आप सोचकर देखिये।

जब मैं साधक समाज को देखती हूँ कि शरीरों का सहारा लेकर, विविध प्रकार की क्रियाओं को लेकर, शरीरों से परे के अशरीरी जीवन की स्वाधीनता पसन्द करते हैं, तो बड़ा दुःख होता है। शरीर का सहारा लेकर, साधना करो, अशरीरी जीवन चाहोगे, कैसे होगा? होता ही नहीं है। बाहर का दुःख द्वन्द्व थोड़ा कम हो जाता है, समाज में कुछ अच्छा स्थान मिल जाता है, लोग कुछ भली दृष्टि से देखने लगते हैं, जीवन में से बहुत सी बुराइयाँ निकल जाती है; तो व्यक्तित्व कुछ अच्छा बन जाता है। लेकिन जो अन्तिम बात है, वह पूरी नहीं होती है। इसीलिए श्री महाराज जी ने कहा कि केवल सत्य की स्वीकृति मात्र से अहं में परिवर्तन होता है। इसको आप प्रयोग करके देखें।

कौन सा सत्य? ग्रन्थ में लिखा है वह नहीं होता, गीता में लिखा है वह नहीं, वेद शास्त्र में लिखा है वह नहीं, उसके तो हम अभी अधिकरी भी नहीं हुए हैं। फिर कौन सा सत्य? शरीरों की सहायता लेकर जगत् में हमने अपने को सन्तुष्ट करना पसन्द किया। मेरा ही अनुभव है कि ऊँची से ऊँची सुखद परिस्थिति में भी मुझे सन्तोष नहीं हुआ। यह ग्रन्थ का सत्य है कि आपका अनुभव है? जो अपने अनुभव का आदर करता है, वह वेद-वाणी का आदर कर सकता है, क्यों कि आपके भीतर प्रकाश देने वाला स्वयं-प्रकाश विद्यमान है। उसी का प्रकाश वेद में प्रकट किया गया है। वेद में जो प्रकाश प्रकाशित किया गया है, गीता, रामायण, उपनिषद् में जो प्रकाश प्रकाशित किया गया है, उसका मूल स्रोत स्वयं-प्रकाश परमात्मा आपमें विद्यमान है। आपके व्यक्तित्व में जो कि सजीव है, उस प्रकाश का आदर होता है। अनुभूतियाँ कागज के पत्रों में नहीं होती है मनुष्य के व्यक्तित्व में होती है। अतः कागज के पृष्ठों से अधिक महत्त्वपूर्ण आपका व्यक्तित्व हुआ। इस बात को आप मानिये। अपने व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करिये। ग्रन्थ में जो वाक्य लिखे है, उन वाक्यों का अनुसरण करने से सत्यकी अभिव्यक्ति आपके भीतर होगी, आपके अनुभव में आएगा

और वह कभी न मिटने वाला आनन्द, आपके जीवन में आएगा। इसमें कभी सन्देह मत करना।

सन्त कहते हैं कि देखो! तुम्हारे पास शरीर है और तुम्हारे परिपाश्र्व में संसार दिखता है। उस शरीर और उस संसार को आज तक तुम पकड़कर रख नहीं सके, लेखिक भूल से तुमने, मरे हुए कुटुम्बियों की ममता को अपने अन्दर रख लिया। कुटुम्बी चले गए और उनकी ममता तुम्हारे भीतर रह गई, उनकी आसक्ति तुम्हारे भीतर रह गई। सरकार का दिया हुआ बड़ा भारी पद मिला था। सरकार ने उसे आपस ले लिया। पद चला गया, लेकिन उस पद के अभिमान की बू, अभी तक भीतर है। जब बातचीत होती है तब रिटायर्ड व्यक्ति अपना परिचय देते हैं कि पहले हम अमुक पोस्ट पर काम करते थे। श्री स्वामी जी महाराज कभी मौज में होते तो ऐसे ही पुकारते—आओ राय बहादुर साहब, आओ मजिस्ट्रेट साहब, आओ जज साहब—ऐसे करके सम्बोधित करते और फिर उसके बाद खूब हँसते ओर कहते कि देखों भाई, अगर तुम्हारे भीतर पद की आसक्ति रह गई है थोड़ी बहुत, तो मैं इसी पद के सम्बोधन से पु◌ुकार रहा हूँ। अब से राग-निवृत्त हो जाओ।

संसार आज तक किसी की पकड़ में नहीं आया, परन्तु संसार की आसक्ति, अपने भीतर रखकर, व्यक्ति फँस जाता है। संसार सदा ही छूटा हुआ है, फिर हम किसमें फँस गए हैं? संसार में नही फँस गए हैं। हवा किसी को नही पकड़ती है, धरती किसी को नहीं पकड़ती है समाज किसी को नहीं पकड़ता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। उसमें कर्त्तापन है ही नहीं। मैंने अपनी भूल से अपने भीतर, संसार की ममता-कामना को रख लिया, तो मैं स्वयं फँस गई हूँ। अब प्रियजनों का वियोग सता रहा है। अब सुख-सुविधाओं का निकल जाना सता रहा है। यह सब हो रहा है।

यह तो हो गई बीमारी की बात। इसको अब छोड़ दिया जाए। उसका इलाज यह है कि संसार की ममता और कामना का त्याग कर दिया जाए। जिसको जीवन में ऐसा अचल आधार चाहिए कि जिसका आश्रय लेकर व्यक्ति सदा-सदा के लिए निश्चित और निर्भय हो सके, उसको आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर, इस सत्य को स्वीकार करना चाहिए कि परमात्मा है, सदा के लिए, सभी के लिए है, अपने में है, अभी है, और अपना है। परमात्मा है एक बात हो गई। सदा के लिए है, सर्वत्र है। सभी के लिए है, अपने में है, अपने हैं, अभी हैं हर वाक्य का बड़ा भारी अर्थ हैं, लेकिन उसकी व्याख्या किसी दूसरी बैठक में होगी।

अभी तो केवल उस पथ का प्रतिपादन करना है मुझे। विश्वास पथ के साधकों के लिए भी बहुत ही सहज बात है कि वे अपने जीवन की आवश्यकता को देख कर सन्तों, भक्तों और सद्ग्रन्थों के वाक्यों में विश्वास करके उस परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लें इस तरह से दो भाग हो जाऐंगे। एक यह कि शरीर संसार के काम आ जाएगा। और दूसरा यह कि स्वयं "मैं" परमात्मा के प्रेम के रूप में बदल जाएगा। इस प्रकार बहुत ही सहज से, जो नहीं है उसका प्रभाव अपने में से निकल जाता है, और जो सदा-सदा के अपने में विद्यमान है उसकी सरसता, उसकी मधुरता, अपने में भर जाती है। जो संसार का है, वह संसार से जुट जाएगा। और जो परमात्मा का है, वह परमात्मा से अभिन्ना हो जाएगा। लौकिक आनन्द भी हो गया और परालौकिक आनन्द भी हो गया। शरीर को जो चाहिए, वह अपने को मिल गया। देखो! अपने को क्या चाहिए? अपने को परम पे्रम

की मधुरता चाहिए। अपने को अनन्त रस चाहिए। जो अपने हृदय में परम पे्रम की आवश्यकता अनुभव करते हैं, वे रस के लिए संसार की ओर नहीं देखते हैं। इस बात को स्वीकार करने के लिए गुफा में नहीं घुसना होगा, आकाश में नहीं उड़ना होगा। अभी यहीं बैठे-बैठे आप इस सत्य को स्वीकार कर सकते हैं।

सत्य जो होता है, वह जगत् के अधीन नहीं होता है। बड़ा भारी भ्रम है कि जब सत्य की याद आती है, तो आदमी सोचने लगता है कि अब हिसाब बन्द करो। अब दुकान बन्द करो। परिवार से छूट्टी माँगो। सत्य का जो प्रश्न है उसमें आदमी को पराधीन नहीं बनाया गया है उसके लिए किसी परिस्थिति विशेष की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है।

आप कैसे सोचते हैं कि भूखे रहने की ताकत आएगी, तब सत्य खोजेंगे। नंगे रहने की शक्ति आएगी, तब सत्य खोजेंगे। भूखा-नंगा रहना शरीर धर्म है स्वधर्म नहीं है! शरीर धर्म से सत्य बँधा नहीं है। सत्य किसे मिलना चाहिए? शरीर निरोग हो तो उसको मिलना चाहिए और बीमार हो तो मिलना चाहिए। जिसके पास धन-सम्पत्ति हो, उसको भी मिलना चाहिए और जिसके पास धन सम्पत्ति नहीं हो, उसको भी मिलना चाहिए। आप सोचिए तो सही! जगत् में विषमता हो सकती है, लेकिन सत्य के साम्राज्य में विषमता कैसे हो सकती है,

इस प्रकार ये दो बातें आयी सामने और आपके अनुभव के आधार पर आयीं। शरीर को हम संसार से बाहर नहीं ले जा सकते। इसके द्वारा संसार की जो सेवा करनी है, करते रहो। जब तक शरीर मिट कर संसार में समा न जाये, तब तक करते रहो। लेकिन अपनी जरूरत है अशरीरी आनन्द की, परम स्वाधीनता के आनन्द की, परम पे्रम-रस की।

शरीर की जरूरत ज्यादा नहीं है। अपने भीतर संग्रह के दोष ने शरीर की जरूरतों को इतना भारी भरकम बना दिया कि अपने लिए फुर्सत ही नहीं है। शान्ति, मेरी अपनी माँग है। स्वाधीनता का आनन्द, मेरी अपनी माँग है। परमात्मा का प्यार मेरी अपनी माँग हे। लेकिन माँग पूरी करने के लिए फुर्सत ही नहीं है। यह अपनी भूल आपकी दृष्टि में आ रही है या नहीं? इसको इसी जगह पर बैठे-बैठे मिटा सकते हैं। जीवन बड़ा आसान हो जाएगा। झंझट इतना कम हो जाएगा कि भीतर का आराम, आपको बहुत बलिष्ठ बना देगा। प्रयोग करके देखो।

इस सत्य को स्वीकार करके, जीवन में से शरीर का महत्त्व निकाल दो, वस्तुओं का महत्त्व निकाल दो। ये सब महत्त्व की बातें नहीं है। अपने दोषों को मिटाने के लिए, शरीर और संसार की वस्तुओं को सेवा में सदुपयोग करने का दायित्व अपने पर आ गया है। अगर हमने शरीर और संसार को महत्त्व न दिया होता, तो यह भी दायित्व अपने पर नहीं आता। अपने सामने दायित्व आ गया है कि संग्रह की हुई सम्पत्ति को निर्बलों की सेवा में लगाना जरूरी हो गया। धन के लोभ और संग्रह की बीमारी को मिटाने के लिए यह इलाज सामने आ गया। अगर मुझमें आसक्ति नहीं होती, तो मेरे सामने सेवा की परिस्थिति भी नहीं आती। हम पहले ही उसके पार होते।

श्री महाराज जी कहते हैं कि जल्दी जल्दी बहती गंगा में हाथ धोकर शुद्ध हो जाओ। धन आए तो आदर करके स्वागत कर लो। धन-सम्पत्ति, चीज, सामान जो परमात्मा ने पैदा की है, वह बुरी चीज नहीं है। आए तो आदर करके ले लो। लेकिन

अपने लिए रखने की मत सोचना, नहीं तो फँस जाओगे। जिसके लिए है, उसको देते जाओ। खुले हाथ से देते जाओ। बीमारी का इलाज हो जाएगा। निर्लोभ हो जाओगे। दुनियाँ से जाने से पहले शरीर और संसार तुम्हारे भीतर से निकाला जाएगा। बहुत आराम मिलेगा। धन के ज्यादा और कम होने का अन्तर नहीं होता है। कोई पाँच रुपए में भी फँस जाता है, कोई पाँच अरब में भी नहीं फँसता। कम ज्यादा की बात नहीं है। बात फँसावट की है।

किसी समय मेरे ध्यान में आया कि दुनियाँ में अपना कहलाने लायक कोई दिखता ही नहीं है। महाराज जी से मैंने आकर कहा कि महाराज जी! इस संसार में यहाँ कोई अपना कहलाने लायक दिखता नहीं है और बिना किसी को अपना बनाए रहा नहीं जाता है, तो क्या करें? श्री महाराज जी ने कहा, देवकी जी! एक तो है मेरा मित्र, एक तो है जो सदा-सदा के लिए तुम्हारा होकर रहता है। लाली! तुम भूल गई हो। अब तुम पसन्द करो, तो मैं उससे सगाई करा दूँ। मैंने कहा, हाँ महाराज कराइये। बिना लगन के कौन रहता है! अपने पे्रम का आधार अवश्य चाहिए। अतः जब मैंने 'हाँ' किया तो कठिन प्रश्न सामने आ गया। कहने लगे की लाली! एक काम करना पड़ेगा। झोली में जो तुमने भर कर रखा है—डिग्री का अभिमान, धन का अभिमान, कुटुम्बी-जनों का सहारा और सच्चरित्र व्यक्तित्व और कर्त्तव्य-निष्ठ होने का अभिमान, जितना तुमने झोली में भरकर रक्खा है, सब पहले झाड़ दो। पहले झोेली को खाली कर दो, तब मैं सगाई की बात करूँ।

संत के कहने से मैंने मान लिया हो, ऐसा नहीं लगता है। लेकिन मेरे भीतर का प्रश्न इतना उग्र था कि संत को करुणा आ गई भगवंत को करुणा आ गई और दोनों ने मुझको सँभाल लिया, ऐसा मेरा विश्वास है। यह उदाहरण है किस बात का? इस बात का कि या तो तुम अपने अनुभव के आधार पर असत् को अस्वीकार करके अकेले हो जाओ, तब तुम्हारे भीतर वह आनन्द प्रकट हो जाएगा अथवा तुम्हारे पास जो कुछ है, वह सब विश्वास करके, उस परमात्मा के समर्पित कर दो और उसको अपना मान लो। उसी को जीवन का आधार बनालो तो उसका परम पे्रममय रस जो है, वह तुम्हारे भीतर प्रकट होकर सारी थकान मिटा देेगा। सब विकारों को धो देगा। जन्म जन्मान्तर से जो अहं का एक आभास अपने पर लदा रहता है, उसको मिटा देगा। और सब प्रकार के भव-रोगों से मुक्त करके, अपने प्रेममय रस से तुमको भरपूर कर देगा। यह जीवन का एक क्रम है। एक डमजीवक है। इस ढंग से शुरू करो। गुरु वाणी में विश्वास कर लो, वेद वाणी में विश्वास कर लो, गीता रामायण के वाक्यों में विश्वास कर लो। सन्तों-भक्तों के वाक्यों में विश्वास कर लो। बिना विश्वास किये उस सत्य की स्वीकृति अपने को प्रभावित नहीं करती है। विश्वास करना जरूरी है। क्योंकि जीवन की आवश्यकता बताती है कि, बिना किसी अविनाशी आधार के, बिना पे्रम के, बिना सगाई के, बिना लगन के जीवन कोई जीवन ही नहीं मालूम होता है।

संसार में अपना कहने लायक कुछ है नहीं और जो अपने लायक है, वह ऐसा विलक्षण है कि लौकिक कल्याण भी करा सकता है, अपना ही रस देकर हमको रसमय बना सकता है। वह सेवक हो सकता है, स्वामी हो सकता है, पुत्र हो सकता है, पिता हो सकता है ओर शिष्य भी हो सकता है।

तुलसीदास जी ने कहा है—

"मोहि तोहि नाते अनेक, 'मानिए जो भावै"।

हमारी ओर से जो सम्बध उनके प्रति पसन्द किया जाता है, वह उनको इतना प्रिय है कि वे सब स्वीकार कर लेते हैं। सब प्रकार से भरपूर कर सकते हैं। संसार की नश्वरता का परिचय एवं अविनाशी के प्रेम की प्यास, ये दोनों ही बातें मनुष्य जीवन में है। सत्संग में आने से आप में ये बातें पैदा नहीं हुई, पहले से ही थी। सन्तुष्टि के बिना असन्तोष का भार ढोना किसी भी सजग व्यक्ति को पसन्द नहीं है। यह बात मेरे कहने से मालूम हुई कि पहले से आप जानते हैं? पहले से जानते हैं।

मैं मन ही मन सोचती हूँ कि प्रभु ने कितनी कृपा की है तुम पर, प्रतिकूलता के रूप में दर्शन दिया है। तुम्हें तो जल्दी जल्दी साधना में लग जाना चाहिए। अनुकूलता में तो आदमी थोड़ा शिथिल भी हो जाता है, प्रतिकूलता में तो और जोरदार चेतना जग जाती है। साधना के प्रतिकूल संसार बन जाए, यह सम्भव नहीं है। साधना के लिए मेरी परिस्थिति नहीं है, इस बात को सदा के लिए भूल ही जाओ, निकाल ही दो जीवन में से। संसार कभी साधना के लिए बाधक नहीं हो सकता। प्रतिकूलता कभी आपको परमात्मा से दूर नहीं कर सकती। किसी संत के मुख से मैंने सुना है कि बच्चे को गोद में लेना हो, दूध पिलाना हो, खाने का समय हो गया, दूध पीने का समय हो गया, खिलौनों में बहुत उलझा हुआ है तो करुणामयी माँ क्या करती है? आकर जल्दी-जल्दी उसके सामने से खिलौने हटा देती है, और वह रोता है, चिल्लाता है, पर माँ बच्चे को उठाकर चली जाती है। तो बहुत बार वे परम हित-चिन्तक हमारे आपके परम् हितैषी हमको अनुकूलता के सुख में फँसा हुआ देखकर, अनुकूलता के खेल तमाशे एक सेकिण्ड में बिगाड़कर रख देते हैं।

मैं क्या बताऊँ, जितना जितना ही मैं सृष्टिकर्त्ता से नाराज थी, उतना ही उन्होंने मुझे अपना प्रशंसक बनाया। मेरी हार हो गई, उनकी जीत हो गई। हमारी शिकायत खत्म हो गयी। जैसे-जैसे जीवन का सत्य प्रकाशित होता चला जाता है, आँखों के सामने से अंधकार का पर्दा हटता चला जाता हे, उतना ही अधिक उनकी महिमा, उनकी करुणा से मेरा जीवन अभिभूत होता जाता है। मैं सोचती हूँ, कितनी कृपा है तुम्हारी। कितना रस है तुम्हारे में। कितना हित-चिन्तक है मेरे लिए। बड़ा बढ़िया जीवन है।

आप मानव-जीवन की इस महिमा को स्वीकार कर ही लीजिए कि जीवन दाता ने हम लोगों को अनन्त आनन्द और परम पे्रम के लिए परिस्थितियों पर आश्रित नहीं किया है। मान ही लो इस बात को। और अगर किसी को संदेह लगे तो आइए, बैठकर विचार-विमर्श कर लें। संदेह है नहीं। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि असाधन काल में जो हमारी दशा रहती है, वह भूल का परिणाम है। सत्संग के प्रकाश में, इस भ्रम का निवारण हो जाता है। आप देखिए, असाधन काल में क्या था कि नित्य विद्यमान परमात्मा अपने से बहुत दूर मालूम होता था और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, वह संसार अपने निकट मालूम होता था। उस भ्रम के निवारण के बाद अब क्या हो गया? नाशवान का प्रभाव अपने पर से उतर गया और नित्य विद्यमान परमात्मा की विद्यमानता, अपने अनुभव में आ गई। उनके प्रेम का रस जीवन में प्रवाहित हो गया तो यह मानव जीवन की सफलता है। अब शान्त हो जाएँ।

प्रवचन(93)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

मानव जीवन की सफलता इस बात में है कि हमारा सूपूर्ण व्यक्तित्व, सेवा, त्याग और पे्रम से भरपूर हो जाए। 'सेवा' शब्द का अर्थ क्या है? मानव सेवा संघ की प्रणाली में सेवा का अर्थ है— दुःखी मात्र को देखकर करुणित होना और सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना। इसको सेवा का सूक्ष्मासूक्ष्म रूप बताया गया है। दुःखी मात्र को देखकर करुणित होने से साधक को अपनी साधना में आगे बढ़ने में बहुत मदद मिलती है। इससे क्रियात्मक सेवा तो बनेगी ही, परन्तु एक बहुत बड़ा उपकार यह होगा कि जो भी कुछ थोड़ा बहुत आप कर सकते हैं उस व्यक्ति के लिए, वह तो करेंगे ही, लेकिन उसमें आपकी जो भावना होगी, वह बहुत व्यापक होगी और उसका एक सहज परिणाम यह होगा कि यदि आप दुःखी का दुःख दूर नहीं भी कर सकते हैं तो भी आपके भीतर जो करुणा जागती है, उस करुणा से पीड़ित होकर कोई सामर्थ्वान आ करके उसकी सहायता कर देगा। यह बिना किसी से कुछ कहे सुने चुपचाप अपने आप होता है। बहुत विचित्र बात है।

ऐसी सूक्ष्म सेवा के ढंग पर सब किसी का ध्यान नहीं जाता है। हम लोग सोचते हैं कि दुःखी को देखकर करुणित होने मात्र से क्या होगा? इससे उसका पेट थोड़े भर जाएगा, यदि वह भूखा है तो। इससे उसकी प्यास नहीं मिट जाएगी, यदि वह प्यासा है तो। हम लोग ऐसा सोचते हैं कि खाली करुणित होने से क्या होता है? लेकिन यह प्रकृति का बड़ा अनुपम विधान है कि सचमुच किसी का दुःख यदि आपके दिल में ऐसा भर जाय कि उसको आप अपना दुःख करके मानने लगें तो आप सामग्री से सेवा भले ही कुछ कर पाएँ अथवा न करपाएँ, आपके दिलों में दूसरे की पीड़ा जब घर कर जाएगी, उससे करुणा का रस जब उपजेगा, तो उस करुणा में इतनी शक्ति है कि वह किसी सामर्थ्वान को पकड़ लाएगी। सचमुच आपके दिल में दर्द है, तो वह दर्द ही काफी है किसी सामर्थ्वान को प्रेरित करके वहाँ ले आने के लिए, और दुःखी की मदद करवाने के लिए। इतना बड़ा रहस्य है पर-पीड़ा से पीड़ित होने का।

हम लोगों का ध्यान इस बात पर नहीं जाता है। हम लोग, वस्तु से किसी की मदद करने की बड़ी बात समझते हैं और अगर वस्तु से मदद नहीं कर सकते, तो अपने को असमर्थ समझते हैं। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में स्वामी जी महाराज ने अपने अनुभूत सत्य को रखा है और महाराज जी के मुँह से ही मैंने ऐसा सुना और ऐसा करते हुए देखा भी है, केवल सुना ही नहीं है। मध्य प्रदेश से एक परिवार स्वामी जी से मिलने के लिए आया। रात के नौ बजे होंगे। मैंने उनको बैठाया और हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि माताजी, स्वामी जी महाराज के आराम करने का समय हो गया है। कृपा करके आज आप चले जाइए, कल सवेरे आइएगा, तो भेंट हो जाएगी अब वह महिला रोए ही रोए। जाने को राजी ही नहीं। भनक स्वामी जी के कान में पहुँच गई झट से उन्होंने बुलवा लिया अपने पास। क्या जाने घण्टा भर उन लोगों ने क्या क्या अपना दुःख सुनाया, मुझे कुछ नहीं पता। चली गई सुना करके, दस सवा दस हो गए होंगे उसके बाद सब लोग लेट गए, स्वामी जी भी लेट गए।

थोड़ी देर के बाद मैंने देखा कि स्वामी जी बार-बार उठकर बैठ रहे हैं, माताजी से मैंने धीरे से कहा कि मैं स्वामी जी से पूछूँ कि क्या हो

रहा है? क्यों उठकर बैठ रहे हैं? वे मुझसे ज्यादा जानती थी, स्वामी जी को। उन्होंने कहा कि नहीं नहीं, कुछ मत कहो, चुप रहो, तुम, चुपचाप लेट जाओ। स्वामी जी को टोको मत। किसी ने कुछ दुःख सुनाया होगा, उसके दर्द से व्याकुल होंगेऋ तुम मत बोलो। बोली तो नहीं मैं, माता जी ने भी कुछ नहीं कहा। लेकिन स्वामी जी को इस तरह से व्याकुल देखकर, मुझे नींद नहीं आ रही थी। बहुत देर तक ऐसे ही हुआ। फिर उठने का समय हो गया। यों रात कट गई।

दूसरे दिन नौ बजे सवेरे, दिन में वही परिवार आया स्वामी जी के पास और वे लोग बता कर गए कि महाराज। हम लोगों का काम हो गया। यह करुणा का प्रताप मैं बता रही हूँ आपको। दूसरे दिन जब वे आए तो फिर और दुःख सुनाने या मदद लेने नहीं आए। बड़े इत्मिनान से आश्वस्त हो करके आए और महाराज जी से बोले कि महाराजजी, हम लोगों का काम हो गया। अब हम लोग वापिस जा रहे हैं और चले गए वापिस। उस समय तो नहीं, लेकिन किसी दूसरे अवसर पर मैंने महाराज जी से पूछा कि महाराज जी क्या होता है? तब उन्होंने पहले अपनी तकलीफ बताई और उसके बाद साधक के जीवन में, पर-पीड़ा का घर कर जाना, दूसरे की पीड़ा उसको अपनी पीड़ा महसूस होने लगे—इस बात की महिमा बताई। बाहरी लाभ तोे यह हो गया कि जिस व्यक्ति की पीड़ा से आप दुःखी हो गए हैं, उसकी किसी सामर्थ्वान ने मदद कर दी और उसका काम बन गया। यह बाहरी लाभ हुआ। और आन्तरिक लाभ क्या होता है? कि जिस साधक के जीवन में करुणा का रस उद्वेलित होता है, उस साधक के व्यक्तित्व में से, जन्म जन्मान्तर से जमी हुई सुख-भोग की वासना का नाश होता है। बहुत बड़ी बात है। कितना व्रत करेंगे हम लोग, कितना उपवास करेंगे, कितना इन्द्रियों का दमन करेंगे, कितना जबरदस्ती भजन-पूजन करके, उसको जबरदस्ती दबाने की चेष्टा करेंगे। उससे यह काम नहीं बनता, जो काम पर-पीड़ा से पीड़ित होने के कारण, हृदय में जब करुणा उपजती है, तब हो जाता है। अब आप सोच करके देखिए कि यदि किसी दुःखी का दर्शन हुआ आपको, तो उसको लाभ ज्यादा हुआ कि अपने को लाभ ज्यादा हुआ? जी? अपने को लाभ ज्यादा हुआ।

साधक के जीवन की बात क्या है? कि उसे सेवा का व्रत तो लेना ही पड़ेगा। उसके बिना तो जान बचेगी नहीं। उसके बिना राग मिटेगा नहीं। लेकिन उस सेवा में क्रिया का महत्त्व जितना है, उससे कहीं अधिक भाव का महत्त्व है। पीड़ित अगर आपको अपने से छोटा मालूम होता है और आपको ऐसा लगे कि मैं तो भाग्यशाली हूँ, परमात्मा ने मुझको सामर्थ् दी है, तो दीन दुःखी की सेवा करो। अपनी अपेक्षा कोई दीन दिखाई दे रहा है, तो आपकी सेवा का फल वह नहीं होगा जो होना चाहिए। क्योंकि किसी को दीन समझा, तो इसका मतलब यह है कि आपको अपने में समर्थ होने का अभिमान है। कितनी सूक्ष्म बात है। स्वामी जी महाराज धनवान लोगों से कहते थे कि अगर तुमको अपने पैसे का महत्त्व मालूम होता है और दूसरा कोेई तुमको दरिद्र, दुःखी दिखाई देता है और अपने से छोटा समझ कर उसकी मदद करते हो, तो तुम्हारे में धन का अभिमान बढ़ेगा और उस गरीब में धन का लोभ बढ़ेगा।

अभिमानी व्यक्ति जब किसी की सेवा करता है, सेवा शब्द का प्रयोग ही नहीं करना चाहिए। बल का अभिमानी और धन का अभिमानी किसी को कुछ देता है, मदद करता है अभिमान

के साथ, तो उसके अभिमान के कारण उसकी वस्तु लेने में दूसरों में दीनता उत्पन्न होती है; अपनापन उत्पन्न नहीं होता, अपनेपन के भाव की वृद्धि नहीं होती। तो क्या हो गया? शरीर की तो उसकी रक्षा हो गई, आपने भूखा समझ करके खाना पहुँचा दिया, तो शरीर का तो पोषण मिल गया, लेकिन उसका मन बहुत भिखारी बन गया। स्वामी जी महाराज ने इस सेवा को बहुत बड़ी कुसेवा बताया। सोचने की बात है। कुसेवा क्यों? एक कुसेवा तो मैंने अपनी की कि अभिमान पाला अपने में और दूसरी कुसेवा उस व्यक्ति की की जिसके मन के भीतर दीनता आ गई प्दमितपवतपजल आ गई। घनी को देखकर के, ईष्र्या आ गई, तो अपना भी अपकार हो गया। उसका भी अपकार हो गया। बड़ी सोचने की बात है, बहुत समझ-बूझकर चलने की बात है।

साधक के जीवन में सेवा चाहिए और जो सेवा करने चलता है, उसको अपनी सेवा पहले करनी चाहिए। अपनी सेवा क्या करोगे? मानव सेवा संघ ने सलाह दी है कि अपनी सेवा पहले यह सोच कर-कर लो कि मिली हुई सामर्थ् मेरी नहीं है। तन में बल मिला है, तो मेरा नहीं है। हाथ में पैसे मिले हैं, तो मेरे नहीं है। संगी साथी मिले हैं, तो मेरे नहीं हैं। किसके हैं? भौतिकवादी हो तो अपने को ऐसे समझा लो कि जिनको उसकी जरूरत है, ये चीजें उसकी हैं। तो जिसकी वस्तु है, उसको देने में किसको अभिमान आएगा। आपकी वस्तु है, आपको मैं देना चाहती हूँ तो जितनी जल्दी आप ले लेंगे, उससे मुझे बड़ा हर्ष होगा। और जब तक आप उसको ले नहीं लेंगे तब तक उसकी सुरक्षा का दायित्व मुझ पर रहेगा। तो दे देने में आदमी द्धण-मुक्त हो जाता है। भौतिकवादी हैं, तो ऐसा मानिए। धन किसका है? जिसको उसकी जरूरत है, उसका है। शरीर का बल किसका है? जो निर्बल है, जिसको उसकी जरूरत है, उसका है। यह साधक का जीवन है।

धन के बल पर, शारीरिक बल के आधार पर, जो अहम् का पोषण करना चाहता है, जो जन-समाज में जय जयकार सुनना चाहता है, वह तो साधक की सूची में है ही नहीं। एक सज्जन मेरे पास आए, मानव-सेवा-संघ के परिचित हैं। स्वामी जी महाराज के पास बहुत आते थे और दूर से शरीर के सम्बन्ध से रिश्तेदार भी लगते हैं, तो आए मेरे पास और कहने लगे कि मेरी माता जी का देहान्त हो गया है, तो उनकी भावना बड़ी परोपकार की थी, मैं इतना-इतना धन माताजी के हित के लिए परोपकार में लगाना चाहता हूँ। आप मुझे सलाह दीजिए कि कहाँ लगाऊँ? तो मैंने कहा कि भैया, अन्य संस्थाओं को तो मैं जानती नहीं हूँ और मुझसे पूछने आए हो तो मैं मानव-सेवा-संघ का नाम लूँगी। मानव-सेवा-संघ में रोगी-सेवा है, बालक-सेवा है, गऊ-सेवा है, साधक-सेवा है, जिस विभाग में चाहों तुम चाहो जितना दे दो, और मैं तुमको विश्वास दिलाती हूँ कि सदुपयोग होगा, दुरुपयोग नहीं होगा। यह कह दिया मैंने। जो तुम्हारी भावना हो रोगी की सेवा करना चाहों, तो मेरे पास अस्पताल है। बच्चों की सेवा करना चाहो, तो बाल-मन्दिर है। गऊओं की सेवा करना चाहो, तो गऊशाला है। साधकों की, सन्तों की सेवा करना चाहो, वह भी मेरे पास है। जिस विभाग में देना चाहो, दे दो। मैं विश्वास के साथ कहती हूँ, दुरुपयोग नहीं होगा। जो साधक सेवक यहाँ बैठे हैं, वे खायेंगे नहीं जिस भाव से दोगे, उसी सेवा में लगा देंगे।

थोड़ी देर वे सज्जन सोचते रहे सोचने के बाद कहने लगे कि आपकी संस्था तो इतनी

विशाल है कि उसमें मैं कितना भी दे दूँ, तो उसमें जाकर घुलमिल कर खत्म हो जाएगा तो मेरा माँ के नाम पर अलग कुछ दिखाई तो नहीं देगा। मैंने कहा सो तो नहीं होगा, यह तो हमारी विशाल सेवा है। और यहाँ तो सेवा करने वाले का हित देखकर स्वामी जी महाराज ने, ऐसी प्रथा बढ़िया बना दी है कि कोई लाख-करोड़ भी दे जाए और कोई एक पैसा दे जाए, तो दूसरों के मन पर अन्तर का कोई आधार नहीं है। कुछ नहीं पता चलता है कि किसने क्या दिया है, और दाता का इसी में हित है। तो कहा कि तब वैसे मैं नहीं करूँगा। मुझको तो कुछ ऐसे करना है कि उसे अलग से संस्था के लोग सँभालें भी, उसको काम में भी लाएँ और अलग से मेरी माता जी का नाम भी रहे और दिखाई भी दे, कि हाँ! माँ के बेटे ने ऐसा किया है। तो मैंने कहा कि ऐसा मानव-सेवा-संघ में नहीं हो सकता। जहाँ हो सकता है, वहाँ जाओ भाई! करो। मानव सेवा संघ की प्रणाली में कोई भी साधन जो हम लोगों के सामने रखा गया, वह वस्तु को दृष्टि में रखकर नहीं किया गया। वस्तु का महत्त्व नहीं है। वस्तु तो आज आपके पास है और कल किसी और के पास जाएगी। अगर आप हर्षपूर्वक निरभिमानी होकर, ममता, लोभ छोड़ कर सेवा में नहीं लगायेंगे, तब भी वस्तु आपके साथ जाने वाली नहीं है। सदा के लिए आपके पास रहने वाली नहीं है। वह आप खुशी से दे दो तो, और खुशी से ना दो तो, जबरदस्ती छूटेगी जरूर। रहेगी नहीं आपके पास।

तो स्वामी जी महाराज ने क्या कहा? सेवा का अधिकारी कौन है? जो सबसे पहले वस्तु की ममता को छोड़ सके, वह सेवा का अधिकारी है और उस सेवा का फल क्या होता है कि उसके अपने जीवन में से राग की निवृत्ति हो जाती है। और ऐसे राग निवृत्ति का साधन करने वाला सेवक जब किसी की सेवा करता है, तो उस सेव्य में सेवा की पवित्र भावना जग जाती है। यह कसौटी है कि हमने ठीक सेवा की। सेवा करने वाले में राग की निवृत्ति हो जाए और जिसकी सेवा की जाए, उसमें सेवा भाव जग जाए, तब तो समझना चाहिए कि मैंने ठीक सेवा की और सेव्य में यदि लालच पैदा हो गया, तो इसका मतलब है कि मैंने ठीक सेवा नहीं की। शरीर के द्वारा सेवा करो तो, धन के द्वारा सेवा करो तो, जिसकी सेवा की गई उसमें विलासिता पैदा हो जाए, उसमें यह लालच पैदा हो जाए कि यह तो बड़े उदार पुरुष हैं, जितना इनसे निकल सके, निकाल लो, इस तरह का स्वार्थ और विलास पैदा हो जाए तो सेवा को धीरज रखकर, अकेले में बैठ करके सोचना चाहिए कि मेरी सेवा की वृत्ति में कहीं कोई गलती हो गई जरूर। मैंने दोनों तरह के उदाहरण जीवन में देखे। महाराज जी के पास आने से मैं समाज की सेवा करने की भावना रखती थी। इस बात का बड़ा आभास था अपने में। उस समय भी मैंने करके देखा। असाधन काल में की गई सेवा से, जिसकी सेवा की मैंने, उसमें अधिकार लालसा पैदा हो गई। यह मेरी अपनी जानी हुई बात है, महाराज जी के सम्पर्क में आने से पहले की। शौक होता है ना व्यक्ति का, सुख भोगने का दरवाजा बन्द हो गया विधान से, तो सेवा करके समाज में नाम कमाने का शौक पैदा हो गया। एक सीढ़ी ऊपर है सही, लेकिन है तो व्यक्तित्व की पूजा ही। तो जो मुझे सूझा सो मैंने किया और जिसके लिए किया उसका चैपट हुआ, क्योंकि उसमें अधिकार लालसा जग गई।

महाराज जी की वाणी जो है, उसमें इतना सत्य है, इतना सत्य है कि जिसको चाहिए

वह प्रयोग करके देखे। मैंने किसी को कहा कुछ नहीं, कभी नहीं कहा, लेकिन जिस धन का अभिमान मुझमें था, उस अभिमान युक्त वस्तु से सेवा करने पर सेव्य में अधिकार लालसा जग गई और महाराज जी के समझाने से, उनकी सलाह से कमाई हुई सम्पत्ति को अपना मानने की भूल छूट गई तो उसका कुछ दूसरा ही फल दिखाई देने लग गया। उसका कुछ दूसरा ही परिणाम दिखाई देने लग गया। तो यह बात बिल्कुल सत्य मैं आपकी सेवा में निवेदन करती हूँ कि किसी भाई को, किसी बहन को, किसी दुःखी की मदद करने का जी में आए, तो पहले उस वस्तु की ममता तोड़ो, जिस वस्तु से सेव्य की सेवा करनी है। उसी की मानो, चाहे परमात्मा की मानो। अपनी मानकर किसी को कुछ मत देनेा। न देने से उतनी हानि नहीं होगी, पर ममता की हुई वस्तु देने से दूसरे की ज्यादा हानि होगी।

पहले अपनी सेवा कर लें हम लोग। प्राप्त सामग्री मेरी नहीं है। प्राप्त सामग्री मेरे लिए नहीं है। जो लेने के लिए मेरे सामने खड़ा है, उसने मुझ पर बड़ा उपकार किया है। ऐसा मानो और नहीं तो प्रभु की लीला ऐसी अपरम्पार होती है कि आप अपने अभिमान को पालने के लिए किसी को कुछ देना चाहते हैं, तो दूसरे में न लेने का भाव पैदा हो जाता है। अपना सा मुँह लिए आदमी रह जाता है। आप देना चाहते हैं जिसको, वह इन्कान करता है। नहीं-नहीं, मुझे नहीं चाहिए। तो जो देने का अभिमान लेकर चला है उसके अभिमान को बड़ी ठेस लगती है। मेरे वश की बात नहीं है, कि मैं देना चाहूँ तो कोई ले ही ले। इसलिए अगर कोई लेने के लिए आपसे पास आ गया है दैवयोग से, तो उसको छोटा समझकर मत दीजिए। उसको नीच समझकर मत दीजिए। ऐसा सोचिए कि मैं साधक हूँ, वस्तुओं का मैं करूँ क्या? अगर इसकाअधिकारी अपने आप मेरे पास इसको लेने आ गया है, तो भीतर भीतर जीवन दाता जन्मदाता, सामर्थ्दाता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके, वस्तु दीजिए। तो वस्तु का महत्त्व बहुत थोड़ा होगा और निराभिमानता पूर्वक की हुई सेवा का महत्त्व बहुत बड़ा होगा। मानव-सेवा-संघ ने इसको सेवा कहा है। दुःखी मात्र को देखकर करुणित होना, सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना। तो दुःखी को देखकर करुणित होने की अपेक्षा, सुखी को देखकर प्रसन्न होना और महँगा पड़ता है।

साधक को इसके बारे में भी थोड़ा सोचना चाहिए। क्यों? क्यों कि दुःखी को देखकर करुणित होने में, अपना मूल्य बढ़ता है। व्यक्ति को अच्छा लगता है, शान्ति मिलती है भीतर से। थोड़ी ही सामग्री है तो क्या, अगर किसी को जरूरत है तो देकर के हृदय शीतल होता है। अच्छा, हुआ अच्छी जगह में पहुँ गयी। अच्छा हुआ अमुक व्यक्ति को दुःख में यह सामग्री काम आ गई। तो इसमें व्यक्ति को थोड़ी भीतर से शीतलता मालूम होती है। अच्छा लगता है लेकिन जब अपने से ऊँची परिस्थिति वाले को देखो और देखकर दिल में ईष्र्या पैदा न हो तो उस शुद्ध हृदय में ईश्वर का ईश्वरत्व प्रकट होता है। सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होने जाए, तो यह शुद्ध चित्त की निशानी है और सुखी को देखकर जलन पैदा हो जाए या अपने में हीनता का भाव पैदा हो जाए तो यह अशुद्ध चित्त की निशानी है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में, सेवा के अर्थ में दोनों पक्ष बताये गए। दुःखी को देखकर करुणित होना और सुखी को देखकर प्रसन्न होना। करुणित होना जितना आवश्यक है, प्रसन्न होना उससे अधिक आवश्यक है। उसमें व्यक्ति का

बड़ा विकास होता है और आप देखोगे कि जिन लोगों के दिल में सुख की वासना नहीं है, वे सुखी को देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं। छोटे-छोटे जानवर के बच्चे कुत्ते, बकरी, गाय के बच्चे, माँ के पास खेल-कूद रहे हैं। बड़ा आनन्द आता है; उनको देखकरके बड़ी खुशी होती है। बड़ा मजा आता है। और दिल में किसी प्रकार की सुख की वासना दबी हुई हैं वासना के कारण जिसका चित्त अशुद्ध है, उसको सुखी देखकर प्रसन्नता नहीं होती। सुखी को देखकर, उसमें दोष-दर्शन होने लगता है अच्छा, ये इतने अच्छे कपड़े पहनते हैं, ऐसे चलते हैं, ऐसे खाते हैं, ऐसे बात करते हैं तो और कोई भी बुराई आप नहीं करेंगे, बड़ी सज्जनता का व्यवहार करेंगे, तब भी सुखी के सुख ने, जो आप में एक हीनता पैदा की, उस हीनता की प्रतिक्रिया में उस सुखी व्यक्ति में दोषों का दर्शन होने लगता है और सामने नहीं, तो पीछे आलोचना करता है। यह आलोचना जो है, यह एक प्रकार से विरोधी प्रतिक्रिया है। सज्जनता तो सुरक्षित है, उसको नुकसान तो मैंने कुछ नहीं पहुँचाया, लेकिन उसके सुख ने मेरे हृदय को ह£षत नहीं किया तो और कुछ नहीं तो कम से कम, उसको क्रिटिसाइज करने में तो मजा आएगा और सामने नहीं तो पीछे में। यह क्या है? यह अपने चित्त की अशुद्धि है।

वासना रहित चित्त जब होता है, तो सुखी मात्र के सुख से बड़ी प्रसन्नता होती है। साधक समाज के लिए, हम भाई बहनों के लिए यह एक कसौटी है कि हम देख सकें कि हमारे चित्त में निर्वासना है कि नहीं? किसी भी प्रकार का कोई सुख दिखाई दे और उससे अपने में हर्ष हो जाए, बड़ा अच्छा है। भगवान सबको सुखी रखेंऋ भगवान इसको सदा आनन्दित रखे। अपने बाल बच्चों को देख जैसा आनन्द आता है, किसी भी अपरिचित बच्चे को हँसता-खेलता देखकर, हृदय हर्ष से भर जाए तो यह साधक का लक्षण है। यह चित्त की शुद्धि का लक्षण है और सेवक का तो बड़ा भारी धर्म है।

दुःखी मात्र के दुःख के करुणित होना और सुखी मात्र के सुखसे प्रसन्न होना, यह चलते-फिरते, बात व्यवहार करते, उठते बैठते हम सब लोगों को अगर ध्यान में रहे, तो हमारी सेवा की प्रवृत्ति से, अपना भी बड़ा उपकार होगा और जिस जन-समाज में हम सेवा करने के लिए प्रवेश करते हैं, उस जन-समाज में भी बहुत उन्नति होगी। मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य है, व्यक्ति का कल्याण और सुन्दन समाज का निर्माण। तो हम लोगों को बड़ी-बड़ी योजना नहीं सोचनी है। निकटवर्ती जन-समुदाय जो हमारे आसपास के रहने वाले हैं, उन्हीं में से जहाँ दुःखी दिखाई दे, हृदय में करुणा उपजे। जहाँ सुख दिखाई दे, हृदय में प्रसन्नता आ जाए।

जिस हृदय में करुणा और प्रसन्नता का निवास होता है, जो व्यक्ति स्वयं अपने आप में प्रसन्न रहता है, उस प्रसन्न चित्त में काम की उत्पत्ति नहीं होती। जीवन में नीरसता जब आती है, तो कामनाओं की वृद्धि हो जाती है। जिस चित्त में प्रसन्नता निवास करती है, उस चित्त में कामनाओं की उत्पत्ति नहीं होती। तो आप सोच करके देखिए कि ध्यान लगाने में, भजन करने में, शान्त रहने में समाधि लगाने में, अगर कुछ बाधा है, तो मन और चित्त की चंचलता ही बाधा है और तो कोई बाधा नहीं है। इस बाधा को मिटाने के लिए साधक कितना-कितना प्रयास करता है, बड़ी-बड़ी

कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, बाधाओं का अन्त नहीं होता।

स्वामी जी महाराज ने कहा कि दुखियों के दुःख में शामिल होना शुरू कर दो, तुम्हारे चित्त की अशान्ति चली जाएगी। और जिन्होंने किया है, उन्होंने देखा है बड़ी शान्ति रहती है, बड़ी प्रसन्नता रहती है। उसका प्रतिकार समाज मुझको क्या देगा, इसकी चिन्ता सच्चे सेवक को कभी नहीं होती। करने का मौका लग गया, कर दिया। स्वान्तः सुखाय, अपने आप में ही सुखद है। दूसरों के कुछ लेने देने की आशा है ही नही। अपनी मस्ती में किये जाओ और अपने आनन्द में मस्त रहो। जिन साधकों ने सेवा-व्रत के आधार पर, सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाना पसन्द किया, वे आज भी अपनी सीमित शक्ति के साथ ही काम करने में खूब मस्त है। यह सेवा का अर्थ हुआ।

त्याग के बारे में, आपने सुना ही है जो सदा-सदा के लिए अपने साथ नहीं रह सकता, उन सबके साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर दो-यह त्याग है। अब मानव-सेवा-संघ परिभषा नहीं बनाएगा और सूची नहीं लिखवाएगा। हम लोगों के सामने एक सूत्र रख दिया गया। अब अकेले में जाकर के बैठो। सोचो कि मेरे पास कौन-कौन सी ऐसी चीजें है, जो सदा के लिए मेरे साथ नहीं रह सकती। उन सबकी ममता तोड़ दोे। उन सबसे सम्बन्ध तोड़ लो। यह त्याग हो गया। और प्रेम का अर्थ क्या है? जो सदा-सदा से मेरे साथ है, जो सदा-सदा तक मरे साथ रहेगा, उसी को अपना मानो। उसी के होकर रहना पसन्द करो। उसी का काम करो। तो महाराज जी ने कहा कि बेटा तुम्हारा सदा उसी में नित्य वास रहेगा। यह प्रेम की पूर्णता है। उसी को अपना मानो उसी से सम्बन्ध रखोऋ उसी के होकर रहना पसन्द करोऋ उसी काम का करो। तो क्या होगा? अपना वास उसी में रहेगा। यह प्रेम की पराकाष्ठा है।

सेवा, त्याग, प्रेम-इसी को मानव-जीवन की सफलता की कुंजी बताया महाराज जी ने। जो सेवक हो सकता है उसकी राग -निवृत्ति हो जाएगी। जो त्याग कर सकता है, वह अशरीरी जीवन में प्रवेश कर जाएगा। जो प्रभु का प्रेमी हो सकता है, वह भक्त हो जाएगा। उसका जीवन प्रेम से भरपूर हो जाएगा। तो आदि से लेकर अन्त तक, अन्त तक का मतलब शरीर के नाश होने की घड़ी तक नहीं, अनत जब मैं कहती हूँ तो उसका अर्थ है, मेरा जो सीमित अहम् भाव है, जिसको लेकर मैंने आज अपने को वक्ता स्वीकार किया, आपको श्रोता स्वीकार किया मैं बोल नही हुं, ये मेरा विचार है, ये मेरा विश्वास है, ये मेरा मत है, तो 'मैं' और मेरा, जिसमें से निकल रहा है, उस सीमित अहम् भाव का रूपान्तर हो जाए। किसमें रूपान्तर हो जाए ज्ञान और प्रेम में। जब तक यह पूरा हो जाए, तक के लिए कहती हूँ। आज हम लोगों ने सेवा, त्याग और प्रेम के मन्त्र को अपनाया, तो आज से लेकर, इस क्षण से लेकर, कब तक हम सेवक, त्यागी और प्रेमी बने रहेंगे? कब तक बनें रहेंगे? जब तक सीमित अहम् भाव, ज्ञान स्वरूप होकर, प्रेम स्वरूप होकर, आनन्द में विलीन न हो जाए। तब तक इन व्रतों का पालन हम सब भाई बहनों को करना है। कौन से व्रत? सेवा, त्याग, प्रेम।

फिर उसके बाद नहीं पूछा जाएगा कि आप हिन्दू हैं कि मुसलमान हैं, बौद्ध सिक्ख, ईसाई, पारसी कौन है? मानव-सेवा-संघ नहीं पूछता है, यह नीचे की सीमा की बात। साम्प्रदायिक भेद, मानव सेवा संघ में नहीं है। आप साधक हैं, ठीक है। कैसे आपका विकास होगा? सेवा, त्याग, प्रेम से। अब इन तीनों व्रतों को लो और

उसके बाद किसी गुरु से दीक्षा ले लो और चाहे किसी भी सम्प्रदाय में शामिल हो जाना और चाहे अपने को कुछ भी स्वीकार कर लेना और चाहे सबको अस्वीकार कर देना। संघ आपसे नहीं पूछेगा। आपकी अपनी खुशी है, अपनी स्वाधीनता है; जहाँ चाहे जाइए, तो जो चाहे करिये। मनुष्य होकर के यदि सेवा, त्याग, प्रेम का व्रत ले लिया, तो यह व्रत आपको पूर्णता तक अवश्य पहुँचा देगा।

प्रवचन(94)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

मानव-जीवन को साधनयुक्त बनाने के लिए मानव-सेवा-संघ के नियमों में से नवाँ नियम महाराज जी ने बहुत क्रमिक रखा है। शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी और अहं को अभिमान शून्य करना। सबसे स्थूल स्तर से आरम्भ किया जाता है कि शरीर को श्रमी बनाए रखना चाहिए। मैंने ऐसा सुना है कि मन को संयमित करने के लिए शारीरिक श्रम एक बड़ा ही स्वाभाविक साधन है। आलसी बनकर रहने से, मन के भीतर बहुत अधिक उथल-पुथल होती रहती है। अनेक प्रकार के संकल्प उठते रहते हैं, परन्तु जिन साधकों ने संयम, सदाचार, त्याग और प्रेम-इन तत्त्वों को, अपने को साधन युक्त बनाने के लिए स्वीकार किया, वे जब शरीर के द्वारा श्रम करते हैं, तो श्रम काल में वर्तमान शक्ति का सदुपयोग होता रहता है। व्यर्थ-चिन्तन के लिए बेकारी नहीं रहती। यह एक खास बात है। तो महर्षि दयानन्द जी से किसी ने पूछा कि आपने काम को कैसे जीता? उन्होंने कहा काम करके। विकारों पर विजय कैसे पाया? तो उत्तर दिया 'परिश्रम करके'। शरीर को परिश्रमी बनाए रखना, मन को संयमित रखने में बहुत सहायता पहुँचाता है। जो भी कोई भाई-बहन, अपने चित्त को शुद्ध और शान्त रखना चाहें, मन को संयमित रखना चाहें, उनको शरीर के द्वारा काफी श्रम करना चाहिए।

महात्मा गांधी के सम्बन्ध में, एक सज्जन के मुख से मैंने सुना है। वे महात्मा गांधी के पास काफी रह चुके थे। ऐसे ही एक दिन संयम, सदाचार की बात हो रही थी तो वे कहने लगे कि बापू के पास रहकर मैंने देखा है, सारा दिन वे खूब परिश्रम करते थे, काम की तो कोई सीमा ही नहीं थी गांधी जी के पास। इतने बड़े देश को इतनी पुरानी गुलामी से मुक्त कराने का प्रश्न, बड़ा जटिल प्रश्न था और कई तरह की तकलीफें देश के लोगों को थी। सब बातों के लिए गांधी जी का हृदय बहुत पीड़ित था। वे बहुत काम करते थे, लेकिन जब सोने का समय आ जाता और बापू को यह मालूम होता कि मुझ में कुछ मदमतहल शेष है, तो कुटिया में से निकल कर, बाहर रास्ते पर दौड़ लगाते। दो चार युवक जो गांधी जी की सेवा के लालच में साथ-साथ रहते थे, जब बापू दौड़ना शुरू करते, तो वे लोग भी उनके पीछे-पीछे दौड़ते। पता नहीं बापू दौड़ के कहाँ जा रहे हैं? दो-चार चक्कर लगाकर, जब उनको मालूम हेाता कि अब शरीर की मदमतहल पूरी खत्म हो गई, आकर के बिस्तर में लेटते और जैसे ही सेवा में रहने वाले लड़के उनका पैदा दबाना शुरू करते, वे एकदम गहरी निद्रा में सो जाते।

गांधी जी ने सदाचार का जो अर्थ लिया, ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का जो अर्थ लिया, वह बड़ा व्यापक अर्थ है। अपनी 'सप्त महाव्रत' पुस्तक में उन्होंने एक जगह यह भी लिखा है कि सर्वेन्द्रिय संयम से मन संयमित होता है। और ऐसा भी लिखा

है कि अन्य इन्द्रियों को तो खुली छूट दे दोऋ देखने के लिए, सुनने के लिए, चखने के लिए, और एक विशेष ज्ञानेन्द्रिय को वश में करना चाहों, तो यह बहुत प्रकार की बाधाओं को उत्पन्न करने वाली बात हो जाती है। गांधी जी ने लिखा है कि ऐसा करना, आग में हाथ डालकर जलने से बचने के समान व्यर्थ चेष्टा है। बहुत गम्भीर बात है।

गांधी जी के साहित्य को पढ़कर के उसको बहुत आधुनिक अर्थ मेरी समझ में आया। सबसे पहले उन्होंने 'सप्त महाव्रत' में, सत्य की चर्चा उठाई और उसमें से उन्होंने निकाला कि परमेश्वर सत्य हैं, ऐसा कहना तो ठीक ही है; लेकिन सत्य ही परमेश्वर है; ऐसा कहना मुझको अधिक मौजू मालूम होता है। उसके बाद, जिसने सत्य का अनुराग जीवन में पालने का निश्चय किया, जिसने सत्य का पुजारी होना पसन्द किया, उसके जीवन में सदाचार का बड़ा भारी व्यापक अर्थ होगा कि किसी भी स्तर पर उसको किसी भी प्रकार से सत्य का पल्ला नहीं छोड़ना है।

सदाचार का मामूली अर्थ भी हम लोग लेते हैं तो वह भी बड़े काम का है। मामूली अर्थ यह है कि आहार-विहार में संयम रखा जाए, सादगी रखी जाए। वासनाओं को उद्दीप्त करने वाली पोशाक न पहनी जाए। सदाचार में यह सब भी आता है कि मन के विकारों को उत्तेजित करने वाला आहार न खाया जाए, विकारों को जगाने वाली वाणी न सुनी जाए, बहुत कोमल, नरम बिस्तर पर न सोया जाए। ये सारी बातें सदाचार के अर्थ में हमारे मनीषियों ने लीं। क्योंकि यदि अन्य इन्द्रियों को सुख लोलुप्ता की खुराक देते रहो, और सर्वेन्द्रिय यदि संयम की बात सोचो, तो हो नहीं सकता है। हर तरफ से विषय लोलुपता का त्याग करके, किसी भी प्रकार के पुराने भोगों के कारण जो भोग प्रवृत्ति का राग अपने में अंकित हुआ है, उस राग को उत्तेजित होने का अवसर नहीं देना चाहिए। इसीलिए मनीषियों ने कहा कि सादे कपड़े पहनो, सादा भोजन करो, विकार युक्त बातें मत सुनो, विकारों को उत्तेजित करने वाले कोई काम मत करो। किसी भी इन्द्रिय को विषय-लोलुप मत होने दो। यह बाहरी बात हो गई। व्यवहार की बात हो गई।

साधक समाज के लिए बहुत आवश्यक है कि वह शरीर में श्रमी और मन संयमी हो। इसको पूरी तरह से अपने जीवन में अपनाने के लिए सब ओर वे विकारों को उत्तेजित करने वाले विषयों का दरवाजा बन्द कर देना चाहिए। एक बात हो गई।

अब दूसरी बात। गांधी जी के जीवन में प्रार्थना की बड़ी महिमा थी। प्रार्थना करने जब वे बैठते थे तब ऐसा लगता था, जैसे ईश्वर के साथ उनकी बड़ी गहरी एकता हो गई। यह सत्यनिष्ठ होने का प्रभव है। वे जब किसी व्रत को आवश्यक मानते थे तो उस व्रत का प्रयोग अपने पर करते थे। प्रयोग करने में उनको जो जो बातें सूझती रहती थी, उन बातों को फिर आश्रम वासियों के हित के लिए बताते थे। सदाचार का अर्थ उन्होंने यह लिया कि मन से, वचन से, कर्म से, भाव से किसी भी तरह से सत्य का सहारा कभी न छोड़ जाए, न किसी लाभ के लोभी से और न किसी हानि के भय से। जो सदाचार और संयम उन्होंने अपनाया, उसमें भी इस बात का बड़ा ध्यान रखा कि मुझको सच्चा रहना चाहिए। सच्च रहने का मतलब क्या है? कि मन में विषयों का लालच रखों और ऊपर से समाज को दिखाने के लिए संयमी बने रहो, तो यह ठीक नहीं है। बाहर से तो विषय लोलुप होने की बात छोड़ ही दो और अन्दर से

अगर इस तरह की बात कोई पैदा हो रही है, तो उसको भी जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करो यह नहीं कि भीतर-भीतर विषयों के चिन्तन का मजा लेते रहें और बाहर-बाहर इन्द्रियों के दरवाजे बन्द रखने की चेष्टा करे। ऐसा करने में व्यक्ति दम्भी हो जाएगा। उसका सदाचार खण्डित हो जाएगा।

सादा कपड़ा पहनना और अल्प सात्विक आहार रखना, इतना ही पर्याप्त नहीं है। भीतर से सुख-भोग की प्रवृत्ति की जड़ काटना, सदाचार का मूल आधार है। गांधी जी ने अपने पर प्रयोग करके देखा। वे कहते थे कि विकार की उत्पत्ति हो और हम उसको रोंके यह तो अपना प्रारम्भिक प्रयास हो सकता है, लेकिन आगे चलकर के इसी प्रयास में उनहोंने जब ब्रह्मचर्य का व्रत लिया, तो शरीर में मदमतहल के रहते हुए आलस्य में कभी बिस्तर में लेटते नहीं थे। उन्होंने अपने पर प्रयोग करके देखा और उसका यह निष्कर्ष निकाला था कि शरीर में मदमतहल रहेगी और संसार की सेवा में उसको नहीं लगाओगे तो वह मदमतहल तुम्हारी भीतर पुराने भोगे हुए सुखों के प्रभाव से, सुख की वासनाओं को जगाएगी। इतना गहरा अर्थ उन्होंने सदाचारका लिया। जीभ से स्वादिष्ट वस्तु के खाने का लालच न छोड़ो और आहार में स्वादिष्ट वस्तुओं का सम्मिलित करना छोड़ दो, तो इसको उन्होंने सदाचार नहीं कहकर, मिथ्याचार कहा।

भीतर से उठने वाली वासनाओं का भी सर्वांश में त्याग कर देना बहुत जरूरी है। यह कैसे होगा? अब स्वामी जी महाराज की और बापू की बात एकदम मिल जाती है। कैसे होगा? सत्य की निष्ठा से होगा। सत्य की निष्ठा से व्यक्ति के जीवन में रस आने लगेगा। अविनाशी रस जब आने लगता है तो सब भोग-प्रवृत्तियों पर रस फीका हो जाता है फिर उसे कोई मजा नहीं मालूम होता। नरक के समान लगने लगता है। जो महापुरुष हुए संसार के, जिन्होंने अपने जीवन को कसौटी पर कसा, तपश्चर्या के द्वारा ऊँचा उठकर उन्होंने साधारण जन-समाज को ऊँचे उठने का मार्ग दिखाया। उन लोगों की जो वाणी है, उसी की सहायता लेकर हम लोग अपने जीवन को प्रयोग में डाल सकते हैं। अब जो सदाचारी होना चाहता है, उसके जीवन में किसी भी स्तर पर कहीं थी मिथ्याचार नहीं आना चाहिए। गांधी जी का जीवन सत्य-निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है।

चम्पारन सत्याग्रह के इतिहास में एक प्रसंग में आया है कि नील की खेती में काम करने वाले मजदूरों पर अंग्रेजों के अत्याचार को दूर करने का प्रयास चल रहा था। तत्सम्बन्धी कागजात सामने रख कर अंग्रेजों से विचार-विमर्श की माँग गाँधी जी कर रहे थे। वे लोग बात को उलझा रहे थे। चम्पारन निवासी कई सत्याग्रही भाई गांधी जी के साथी बन गए थे। उनमें से एक भाई-अंग्रेजों के दफ्तर में काम करता था। वह आवश्यक फाइल को चुरा लाया और कहने लगा, यह कौन सी बड़ी बात है, गांधी जी कागज माँग रहे हैं और अंग्रेज दे नहीं रहे है। क्या बात हैं, मैं उठा लाता हूँ,। बापू के सामने फाइल ले आया और कहने लगा, बापू आप कागज माँग-माँग क्यों हैरान हो रहे हैं? वे तो माँगने से देंगे नहीं। लीजिए, मैं चुरा लाया हूँ। आप देख लीजिए। बापू ने देखा नहीं। थ्पसम को छुआ नहीं। बहुत ही गम्भीर मुख-मुद्रा से बोले कि नहीं भाई! हम लोग ऐसा नहीं करेंगे। जो सत्य का पुजारी है, जो सदाचार है, वह मिथ्या का सहारा नहीं ले सकता। सत्य का आग्रही, असत्य का सहारा नहीं ले सकता। मैं तो उन्हीं से माँगूगा और उन्हीं को देना पड़ेगा। तुम

जैसे थ्पसम को ले आए हो, वैसे ही रख आओ। खुद भी मत देखो, मुझको भी मत दिखाओ, किसी को मत दिखाओ ज्यों का त्यों वापस ले जाकर दफ्तर में रख दो। जो परमात्मा का प्रेमी होना चाहता है, उसके लिए सत्याचार में यह मिथ्याचार शामिल करना बिल्कुल गलत है। इतना बड़ा अर्थ गांधी जी ने सदाचार का लिया था। यह सब समझाने के लिए उनको बड़ी कठिन तपस्या करनी पड़ी। बहुत बार अपमानित होना पड़ा, लेकिन वे सत्याग्रही थे। सत्य को आग्रह को सफलता मिली। अंग्रेजों को झक मारकर फाइल अपने हाथ से ही, गांधी जी के सामने पेश करनी पड़ी। आपने देखा! चोरी की हुई फाइल उन्होंने नहीं ली। सत्य पर डटे रहे। जो वे चाहते थे, वह पूरा हुआ।

ऐसे कितने उदाहरण मेरे सामने विद्यमान है कि गांधी जी ने सदाचार को अपनाया तो उसको अन्त तक निभाया। परिणाम क्या हुआ? कि जैसे-जैसे सत्य की प्रतिष्ठा उनके जीवन में होती गई, वे अधिक से अधिक सत्य के नजदीक पहुँचे। जहाँ वे प्रार्थना के लिए शान्त होकर बैठते, उनका प्रभु के साथ ऐसा तादात्म्य हो जाता था कि कोई भी राजनीतिज्ञ साथी जिन उपायों को सोच ही नहीं सकता था, सदा-तादात्म्य के काल में वे उपाय गांधी जी के भीतर से,देश के उद्धार के लिए सूझ जाते थे। उनके राजनैतिक साथी जब पूछते थे कि बापू, आपने ऐसा निर्णय कैसे बना लिया? तो गांधी जी कह देते, मैं कुछ नहीं जानता हूँ, यह सत्य की आवाज है। मुझको इसी पर चलता है।

प् उनेजए इमबंनेम पज बवउमे तिवउ ूपजी पदण् अब जरूर इस पर चलना होगा। गांधी भी भरी सभा में प्रार्थना करते थे, हजारों लोग बैठते थे उनके साथ, अब जैसे ही उन्होंने धुन लगाई राम नाम की और चुप हो गए, वैसे ही उनकी वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती थी। अपने लोगों का हाल देखो! एकान्त चाहिए, ेवनदक चतवव ितववउ चाहिए तब भी दिमागी हलचल खत्म नहीं होती है। और उस सत्य निष्ठ साधक को देखो! इतने बड़े जन समूह में गांधी जी जब आँख बन्द कर लेते है, परमात्मा की याद में, सत्य की आराधना में तत्काल ही शरीर की और संसार की विस्मृति हो जाती थी। एक दम सत्य से ऐसा सीधा सम्बन्ध उनका होता था, इतना अच्छा अनुभव उनको मिलता था, कि बाहर सारी दुनियाँ में तूफान मचा हो, तो भी गांधी जी अपने कदम से एक इंच भी इधर उधर नहीं होते थे, क्योंकि उनमें सत्य का बल था। सदाचार शब्द का यह अर्थ है। इसका यह गहरा अर्थ हम लोगों को भी लेना चाहिए।

अब दूसरी बात देखो! जो भी कोई साधक सदाचारी होकर रहना चाहता है उसके मन में, वचन में, कर्म में, भाव में, कहीं भी मिथ्याचार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उसका बड़ा प्रयोग किया गांधी जी ने और सत्य से अभिन्नता को पाया। जब मैं मानव-सेवा-संघ का नियम पढ़ती हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि सब महापुरूषों के भीतर, एक ही सत्य प्रकट होता है। स्वामी जी महाराज के भीतर यह सत्य प्रकट हुआ और उन्होंने हम मानव सेवा संघी भाई बहनों की मदद के लिए नियम के रूप में बना करके बता दिया। क्या नियम बता दिया कि 'दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानो।' बड़ा भारी सदाचार है इसमें। जिसने सत्य को पसन्द किया, उसको अहिंसा पसन्द करनी ही पड़ेगी। क्योंकि सत्य में हिंसा नहीं है। गांधी जी ने सत्य और अहिंसा को, एक ही सिक्के के दो पहलू के समान

पाया है और जो किसी रूप में हिंसा पसन्द करता है, वह सत्य का पुजारी हो नहीं सकता।

अहिंसा को गांधी जी कहाँ तक ले गएऋ वे कहते हैं कि आधी रोटी खाने से अगर पेट भरता है, तो आधी रोटी के बाद एक ग्रास भी तुम ज्यादा खाते हो, तो प्रकृति के धन की चोरी करते हो। तुम्हारी जितनी जरूरत है प्रकृति ने उतना ही पैदा किया है। अगर एक ग्रास भी स्वाद के कारण बेशी खा लिया तो प्रकृति के धन की चोरी की। इसके बदले में किसी को कम खाकर रहना ही पड़ेगा। क्योंकि प्रकृति के साम्राज्य में उतना ही उपजता है जितने प्रकृति में प्राणी हैं। तुम्हारे बेशी खाने से कोई भूखा रहता है तो यह हिंसा है। जितने से पेट भरता है, उससे एक ग्रास बेशी खाना हिंसा है। जो हिंसा करता है, वह सत्य का पात्र नहीं हो सकता। जो सत्य का उपासक नहीं है, वह परमात्मा की भक्ति नहीं कर सकता। अब देखिए। हमारा आपका रोना क्याहै? क्या बताएँ, नाम जपते जपते इतने दिन बीत गए, हृदय में प्रेम नहीं उपजता। अरे भाई! प्रेम कोई जादू मन्तर से उपजता है? देखो! यदि वचन में सत्य है तो जीवन में भी सत्य होना चाहिए। परमात्मा का उपासक जो है, उसे सत्य का उपासक होना ही पड़ेगा और किसी भी अंश में, वचन में, व्यवहार में, भाव में, चिन्तन में, कहीं भी छल प्रपंच रखते हो, छिपाव दुराव रखते हो, कहीं भी मिथ्या को आश्रय दिया है, तो भगवान की भक्ति कैसे आ जाए।

स्वामी जी महाराज को सूझा कि निर्बलों पर बल का प्रयोग करना, सत्य से दूर रहना है, परमात्मा से दूर होना है। मानव-सेवा-संघ के प्रेमियों के लिए नियम बनाकर रख दिया। क्या? 'दसूरों की निर्बलता को अपना बल मत मानो। किसी की दुर्बलता पर, हम अपने बल का प्रयोग करके, अपने को बलवान महसूस करते हैं, तो सत्य से बहुत दूर हो जाते हैं कहाँ सत्य, कहाँ परमात्मा और कहाँ बल का दुरुपयोग करने वाला। दोनों के बीच बहुत दूरी आ जाती है। चतुराई चालाकी, से भोले भाले अनजान व्यक्ति पर, हावी होना चाहते हैं, तो बड़ी अच्छी सुन्दर घटना है कि वे बैडमिंटन खेलते थे। एक दिन खेलने आए तो साथ में खेलने वाली बहन के दाहिने हाथ में कुछ तकलीफ थी उन्होंने पट्टी बाँधी थी। और बाएँ हाथ से रैकेट उठाया बैडमिंटन खेलने के लिए। बापू ने भी जल्दी से अपना रैकेट दाँए हाथ से बाँए हाथ में ले लिया। बहन पूछने लगी कि बापू मेरे तो दाहिने हाथ में दर्द है इसलिए मैंने बाँए हाथ में रैकेट लिया है। आपने क्यों बाँए हाथ में लिया? तो कहने लगे कि देखो! मैं दूसरों की दुर्बलता से अनुचित लाभ उठाना नहीं चाहता। तुम्हारा दाहिना हाथ ठीक नहीं। तुम बाँए हाथ से खेलोगी तो मुझको भी बाँए से खेलना चाहिए।

महापुरुष जो होते हैं, उनकी करनी पहले होती है और कथनी पीछे करते हैं। कितना सुन्दर मेल है देखिए! स्वामी जी ने लिखाया है कि दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानो। और गांधी जी की जीवनी में बच्चों के लिए जो छोटी-छोटी किताबें निकली हैं उनमें बापू े जीवन की जो छोटी-छोटी घटनाओं का उल्लेख किया है, उनमें उस बहन ने खुद ही लिखा है कि बापू कितने सत्यानुरागी है! अगर कोई दुर्बल उनके सामने आया है, तो उसकी दुर्बलता पर अपने बल की महिमा नहीं दिखाएँगे। उस दिन बापू ने दाहिने हाथ में रैकेट लिया ही नहीं। इसका नाम है सदाचार। सत्य का आचार सदाचार कहलाता है। साधक समाज के लिए जहाँ अहं को अभिमान शून्य करने के च्वपदज तक पहुँचने की बात है,

वहाँ प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में छोटी-छोटी बातों में भी सदाचार के नियम का पालन बहुत आवश्यक हैं। समझ में आया! अब आगे सोचिए।

आहार-विहार में, रहन-सहन में, बोलचाल में, निकटवर्ती जन समुदाय के साथ काम करने में, और फिर उससे अलग होकर सत्य की उपासना, में उसी की निष्ठा में अन्त समय तक, जब तक अहं का नितान्त अथाव न हो जाए तब तक हम लोगों को जीवन के किसी भी पहलू में थोड़ा भी दिखावे का सहारा नहीं लेना चाहिए। अगर हम दिखावे का सहारा लेते हैं जैसे कि बाहरी समाज के साथ हमारा एक रूप है भीतर भीतर कुछ दूसरा रूप है, इस प्रकार विकारों से अगर हम पीड़ित हैं तो ऐसा दिखावा रखने पर कभी भी हमें सफलता नहीं मिल सकती। इस पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

साधक-समाज के हित के लिए मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में, जो प्रस्तुत किया, मूक सत्संग और व्यक्तिगत सत्संग, यह मुझे बहुत उपयोगी मालूम होता है। आपके पास बैठ करके, बातें करना मेरे लिए आसान है। भाई बहनों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना मेरे लिए आसान है। और अकेले में बैठकर अपने को देखकर अपने भीतर जिन असाधनों की गहरी जड़ जमी हुई है उनको देखना उनको समझना, उनको खोजकर निकालना उनका सर्वांश में नाश कर डालना कठिन बात है। सच क्या है? सच्चाई यह है कि यदि मैंने अपने जीवन की समस्याओं को नहीं सुलझाया तो मेरे लिए यह व्याख्यान देना हानिकारक सिद्ध हो सकता है। जिसने अपने भीतर से वस्तु, व्यक्ति, शरीर आदि पर से अपने अधिकार को नहीं उठाया, उसके द्वारा सेवा प्रवृत्ति लाभ दायक होने के बजाय, हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

मैं अपने साधक भाई बहनों को याद दिलाती रहती हूँ कि प्रवृत्ति जितनी आवश्यक है निवृत्ति की शान्ति में अपना चित्र देखना उससे भी अधिक आवश्यक है। अन्य भाई बहनों के साथ बैठकर जीवन की समस्याओं पर विचार करना जितना आवश्यक है, अकेले में चुपचाप से भीतर झाँक कर भीतर की गुत्थियों को सुलझाना, उससे भी अधिक आवश्यक है। और जैसे एक-एक कदम छूटता जाए, व्यक्ति उससे आगे बढ़ता जाए, तो जब जीवन में सत्य का बल आ जाता है। जब अपने ही में विद्यमान परमात्मा के सान्ध्यि का अनुभव किसी को हो जाता है, तब बाहर के सब आँधी तूफान को अचल होकर सह लेता है। सत्य का बल अगर भीतर प्रकट नहीं हुआ, परमात्मा की सन्निाधि का, उसके निरन्तर उपास्थित होने का बल अपने में नहीं आया, अनुभव अपने में नहीं आया तो क्या होता है कि बाहर से जहाँ दो चार व्यक्तियों ने आलोचना कर दी, तो बस गुणों का अभिमानी आलोचना सुनते ही क्रोधित हो जाता है। और दूसरे प्रकार के व्यक्ति भी है। सदाचार के आधार पर जिनको सत्य का बल प्राप्त नहीं हुआ, वे अधीर हो जाते है; घबरा जाते हैं। दोनों ही फेल हो जाते हैं। मैंने बड़े ही सहज भाव से, ईश्वर की उपासना सत्य की उपासना करने वाले, सदाचार में रहने वाले व्यक्तियों के निकट बैठकर उनकी वाणी को सुना, उनके जीवन को देखा, तो बाहर से बहुत ही मामूली मामूली दिखने वाले लोगों में, मैंने ऐसा बल देखा कि आश्चर्य चकित होकर रह जाती हूँ

कभी-कभी अपने को टटोल टटोलकर मैं आप ही मन में लज्जित होती रहती हूँ कि इन्होंने

कभी समाज के सामने प्रदर्शित नहीं किया कि मैं साधक हूँ लेकिन उनमें इतनी निर्भयता, इतना बल, कहाँ से आ गया? उत्तर मिलता है कि उन्होंने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों पर व्याख्यान नहीं दिया, उन्होंने सत्य की प्रतिष्ठा को जीवन में रखा। परमात्मा के विश्वास के बल पर इस बात का अनुभव किया कि मेरा परमात्मा मुझमें विद्यमान है, तो उनमें इतना बल आ गया। और मैं संसार की ओर क्यों देखती हूँ, आलोचना सुनकर कान क्यों खड़े हो जाते हैं, प्रशंसा से चित्त प्रसन्न क्यों हो जाता है? बड़ी गरीबी है। ऐसा इसलिए होता है कि सत्य की प्रतिष्ठा, उस घट घटवासी से, उस सर्वव्यापी से, अपनी सन्निधि का अनुभव नहीं हुआ। यह खास बात है। साधक समाज के लिए बड़ी आवश्यक बात है।

हम दूसरों की ओर देख देखकर समय और शक्ति का अपव्यय न करें। या तो सर्वहितकारी कार्य करें और यदि कार्य करने का मौका न हो तो एकदम अकेले छिप जाओ खो जाओ। अपने को देखोऋ अपने को पढ़ो। कहाँ भूल है? कहाँ दोष है? कहाँ गलती हो रही है? उसको सुधारने के लिए अपने को सजग होना है। और मंगलमय की मंगलकारिता जो सदा-सदा के लिए सभी भाई बहनों के साथ सदा विद्यमान ही है, वह तो काम कर रही रही है। सचेष्ट होना मेरा काम है और सफलता दिलाना जीवन-दाता का काम है। अपनी दुर्बलता को पकड़कर सामने रखना मेरा काम है और उस दुर्बलता से ऊपर उठ जाने की शक्ति देना सामर्थ्वान का काम है। अपना काम मैं करूँ तो सत्य संकल्प परमात्मा तो अपने कर्त्तव्य से कभी चूकते ही नहीं हैं। उनकी घड़ी कभी ेसवू और कभी थ्ंज होती नहीं है। सदा-सदा के से वे ही हमें सँभालते आए हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी की बात मुझे बहुत पसन्द आती है। रामायण में एक जगह लिखा है। कौशल्या मैया एक बार देवता का पूजन करने के लिए पकवान बना रही थीं। बालक को पालने में सुला दिया था। मिष्ठान बनाकर देवता के भवन में पूजन करने गई नैवेद्य चढ़ाया तो राम जी बैठ करके खाने लगे। वे घबरा गई कि मैं तो पालने में सुलाकर आयी थी, कौन आ गया? घबड़ा गई। माँ का हृदय! वे भगवान राम को बालक की समझ रही थी। वे सोचने लगीं कि मेरी मति भ्रमित हो गई कि क्या हो गया? तब गोस्वामी जी कहते हैं।

देखरावा माताहि निज, अद्भुत रूप अखण्ड।

रोंम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।

पढ़ करके मुझको बड़ा मजा आता है। जब मैं अपनी किसी दुर्बलता से छमतअवने होती हूँ तो कहती हूँ कि मेरे लिए तो बड़ी कठिन बात हो गई। लेकिन आपके लिए कुछ कठिनाई नहीं है। हे भगवान! आपके तो एक एक रोंम पर करोड़ों ब्रह्माण्ड निवास करते हैं। आपके लिए एक साधक की दुर्बलता को दूर करने में क्या मेहनत लगती है। उनको भ्रम नहीं लगता। वे हमारी सब दुर्बलताओं को दूर कर सकते हैं। करते हैं, करते ही रहते हैं। और नहीं तो गुणों के अभिमान में आकर के मैंने क्या अनर्थ नहीं किया होता? लेकिन वे तो थामते ही रहते हैं विषय तृष्णा के लोभ में आकर के पता नहीं मैं किस पतन के गड्ढे में गई होती। लेकिन वे तो रोकते ही रहते हैं। इसलिए मानव-सेवा-संघ ने सामूहिक सत्संग के साथ साथ, व्यक्तिगत सत्संग को बहुत महत्त्व दिया। और अभी तो सामूहिक समारोह का सत्संग खत्म हो ही जाएगा, सभी अपनी अपनी जगह पर

वापिस जाएँगे। आप अपने को साधक मानते ही हैं सत्य की उपासना को, प्रभु की उपासना को आपने पसन्द किया ही है, कुटुम्ब, परिवार, समाज का हित आप चाहते ही हैं, तो चैबीस घंटे में से दो तीन बार का समय जरूर निकालिएगा। अकेले में बैठ करके अपने को देखिएगा। देखिएगा कि मेरी वाणी में ही सत्य है कि जीवन में भी सत्य की प्रतिष्ठा है? अहं का नाश हुआ कि नहीं? दम्भ का नाश हुआ कि नहीं? आप देखिएगा। बहुत सहायता मिलेगी, बहुत जागृति आएगी।

श्री महाराज जी जब मुझसे ग्रन्थ लिखवाते और बीच बीच में से कुछ पूछती तब यह कहते थे कि देवकी जी! बोलो मत, चुप चाप लिखो। जब शास्त्र के नाम पर, परमात्मा के नाम पर आने वाली पीढ़ी भटकेगी तो यह विचार धारा उनको मार्ग दिखायेगी। परमात्मा का नाम लिए बिना मनुष्यता की स्थापना कर देना, किसी धर्म विशेष का नाम लिए बिना मनुष्य के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा कर देना, मानव-सेवा-संघ की अपनी विशिष्टता है। मानव सेवा संघ के साहित्य में किसी भी मजहब का आग्रह और विरोध नहीं पाएँगे। मजहब के घेरे की सीमा को तोड़ करके महाराज जी ने साहित्य लिखवाया। ऐसा है यह मानव-सेवा-संघ। इसके तत्त्व को हम सब लोग स्वीकार करें और अपनी हैसियत के अनुसार, अपने अपने स्तर को थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ने की चेष्टा में हम लगे रहे। चेष्टा में लगे रहना हमारा अपना पुरुषार्थ है और बाँह पकड़ कर अनन्त से मिलाने का दावा तो उन्हीं का है। वे ही कर देंगे और जरूर कर देंगे। छोड़ेंगे नहीं किसी को भी। उनके नाम पर जिसने कदम उठाया है, असफल कभी नहीं होगा। सफलता अवश्य मिलेगी। अब शांत हो जाइए।

प्रवचन(95)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

वासनाओं की निवृत्ति कैसे हो सकती है? इसके कई उपाय हैं। जिस साधक को जिस तरह से सूझता है, उस तरह से वह करता है। पहली बात तो यह है कि वासनाओं के परिणाम को देखो, उससे भी उनका त्याग करने की सामर्थ् आयेगी। परिणाम क्या है? ऐसा सोचिये, तो आपको पता चलेगा कि वासनाओं से प्रेरित होने वाला व्यक्ति संसार में शान्ति पूर्वक, सुखपूर्वक रह नहीं सकता। वासनाओं से पे्ररित व्यक्ति सम्मान पूर्वक दुनियाँ में रह नहीं सकता। इसलिए वह उसका त्याग करेगा।

दूसरी बात यह होती है कि जब आदमी अपने को साधक स्वीकार करता है तो इस स्वीकृति से अहंता में परिवर्तन आता है। जिन्होंने अपने को सुख का भोगी स्वीकार किया, कि मैं दुनियाँ में आया हूँ सुख भोगने के लिये, उन्हे तो बल मिलेगा नहीं वासनाओं के त्याग का। लेकिन जिन्होंने यह स्वीकार किया कि मैं संसार में आया हूँ साधक होकर सफलता पाने के लिए वे वासनाओं का त्याग कर सकेंगे। एक तो अपने संकल्प में, अपनी स्वीकृति में बल है जो आपको त्यागी बना सकता है। दूसरी बात होती है मनोविज्ञान के स्तर पर। मनौविज्ञानिक स्तर पर क्या है? कि जिन्होंने वासनाओं की पूर्ति की चेष्टा की, उन व्यक्तियों ने अपने अनुभव के आधार पर हम लोगों को बताया कि वासनाओं की उत्पत्ति में भी मनुष्य की हानि होती है, पूर्ति में भी हानि होती है और अपूर्ति में भी हानि होती है। जो लोग इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं वे लोग वासनाओं से ऊपर उठ जाते हैं।

उत्पत्ति में क्या होता है? मनोविज्ञान की खोज में यह बताया गया है कि जिस समय मनुष्य जीवन में कोई वासना उदित हो जाती है, उसकी उत्पत्ति मात्र से ही उसका उमदजंस मुनपसपइतपनउ बिगड़ जाता है, मानसिक सन्तुलन भंग हो जाता है। तो उत्पत्ति मात्र से मनुष्य अपने स्वाभाविक जीवन से हट जाता है जैसे आपको पता चल जाए कि तकलीफ है पेट में और चिकित्सक बता दे कि आप का लिवर खराब हो गया है, अगर चिकनी चीज खाइयेगा तो नुकसान कर जाएगी। स्वास्थ्य का अगर ख्याल है आपको तो चिकनाई खाना छोड़ देते हैं। जो शरीर को स्वस्थ रखना चाहता है, वह चिकित्सक की सलाह मान लेता है। उसी तरह से जिनको ऊँचा जीवन चाहिये, और जो इस बात को जान लेते हैं वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर अध्ययन कर्ताओं की सलाह के आधार पर, वे लोग सहज भाव से वासनाओं से मुक्त होते हैं। क्या है उसमें कि जैसे ही कोई कामना, कोई वासना उत्पन्ना हुई, कि मनुष्य अपने सन्तुलन से विचलित हो जाता हैं मनुष्य के जीवन में सन्तुलन भंग हो जाए, तो यह बहुत बड़ा घाटा है। ऐसा जानकर लोग अपनी वासनाओं पर ब्वदजतवस रखते हैं।

दूसरी बात क्या है? कि अगर उस इच्छा की, वासना की पूर्ति हुई, तो उस वासना की पूर्ति के सुख के भोग में व्यक्ति बहुत ही दुर्बल हो जाता है। कोई भी भोग-प्रवृत्ति मनुष्य में भोगने की शक्ति को नष्ट कर देती है। आप सब लोग को मालूम है अगर बहुत स्वादिष्ट भोजन मिल जाए और आप लालच से खाने लग जाएँ, तो खाते खाते कितनी देर खा सकेंगे? खाने की शक्ति खत्म होगी कि नहीं होगी? हो जाएगी। नाचने गाने में खेलने में बड़ा पदजमतमेज है आपका, तो नाचना गाना शुरु करिये और खूब गाइये, खूब नाचिये, कितनी देर कर सकते है? शक्ति खत्म होगी कि नहीं होगी? होगी। तो भोग-प्रवृत्ति से शक्ति का ह्रास होता है एक तो शारीरिक शक्ति क्षय हो गई भोग प्रवृत्ति में, इसको आपने अपने अनुभव से जाना। दूसरी कि भोग-प्रवृत्ति जो है, भोग की क्रिया में जो थोड़ा सा सुख का भास है, वह मनुष्य को भोग वस्तुओं की दासता में बाँध देता है। तो जो सजग व्यक्ति हैं, उनको दासता पसन्द नहीं हैं, इसलिए वे वासनाओं को प्रश्रय नहीं देते हैं। उत्पत्ति में शान्ति भंग हो गई, पूर्ति में दासता आ गई, और पूर्ति नहीं हुई अपूर्ति हो गई, बाधा पड़ गई तो क्षोभ आ गया। उत्पत्ति में अशान्ति, पूर्ति में दासता, और अपूर्ति में क्षोभ पसन्द करियेगा? नहीं करियेगा। तो यह वैज्ञानिक स्तर की चीज है। इसको भी जान करके जो सज्जन व्यक्ति होते हैं, वे सहज भाव से अपने जीवन में वासनाओं से परहेज रखते हैं। अपने को सँभालते हैं यहाँ तक सँभालने की बात हो गई।

अब जड़ काटने की बात क्या है? कैसे वासनाओं की जड़ कट जाती है? जड़ कट जाती है ज्ञान और पे्रम से। विवेक के प्रकाश में यह जाना गया है कि मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी भूल यह है कि उसने अपना देह से तादात्म्य कर लिया। देह में मम बुद्धि, अहम् बुद्धि—यह सन्त जनों की भाषा हैं शरीर को मैं मानना, और शरीर को मेरा मानना। यह भ्रम है। पहले जो दो तीन बैठकें हो चुकी, उनमें आपने पृष्ठभूमि तो प्राप्त कर ही ली है। "मैं" की उत्पत्ति अनन्त तत्त्व से हुई है, शरीर की उत्पत्ति भौतिक तत्त्व से हुई हैं तो मेरे में और शरीर में सजातीयता तो है ही नहीं, मूल से ही नहीं है। विवेक के प्रकाश में जिन लोगों ने देह ेमें से मम बुद्धि और अहम् बुद्धि को निकाल

दिया, देह मैं हूँ और देह मेरी है—इस भूल को जिन्होंने छोड़ दिया, उनमें से वासनाओं का अन्त हो जाता है, उसमें वासनाएँ उदित नहीं होती हैं। यह ज्ञान का प्रकाश हुआ। फिर जो बड़े ही हृदयशील व्यक्ति होते हैं, परपीड़ा जिनके हृदय में प्रवेश कर जाती है, दुःखी जन के दुःखी से जो द्रवित हो जाते हैं, उनमें से सुख की वासनाओं का स्वतः ही अन्त हो जाता है। यह भी एक बहुत अच्छा और चतंबजपबंस प्रयोग है वासनाओं से मुक्त होने का, कि पर पीड़ा को अपने हृदय में धारणा करना सीखा जाए। पीड़ित लोग परिवार में, जान-पहचान में, अड़ौस-पड़ौस में, नगर में सब कहीं मिलते ही रहते हैं। एक शरीर में पीड़ा होती है तो भी हम समझते है, भोगते हैं, और अनेक शरीरों में पीड़ा होती है तो उसको भी अनुभव किया जाता है। मनुष्य में इस प्रकार की हृदयशीलता, प्रारम्भ से ही विद्यमान है। जब वह किसी पीड़ित को देखता है, तो उसे अपनी पीड़ा के आधार पर भास होता है कि यह शरीर पीड़ित है, रोगी है। तो पर पीड़ा को हृदय में धारण करने सुख की वासनाओं का अन्त हो जाता है।

ममता के सम्बन्ध से, पैदा की हुई सन्तान के दुःख से तो पशु, पक्षी भी दुखित होते हैं, आदमी दुखित हो गया तो कौन सी बड़ी बात है। पैदा किये हुए बाल-बच्चों को दुःख में देखो, तो ऐसे ही व्यक्ति दुःखी हो जाता है। मैंने माताओं को देखा है बच्चे बीमार हो जाएँ तो खाना, पीना, स्नान करना, सोना सब भूल जाती हैं, खेल-तमाशे, राग-रंग की तो कोई बात ही नहीं है, शरीर की आवश्यक क्रियायें भी उनकी छूट जाती है। ममता का प्रभाव इतना होता है। तो फिर उससे आगे का प्रभाव देखिये, बहुत अधिक है। उससे आगे क्या है? मनुष्य होने के नाते, संसार से सम्बन्ध रखने के नाते, जिन लोगों से अपनी ममता का सम्बन्ध नहीं है, उनकी पीड़ा को अगर हृदय में धारण करो, अनुभव करो, उनको सहयोग देना आरम्भ करो, तो इसका बड़ा भारी प्रभाव होता है। जो हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, उस हृदय में सुख-भोग की वासना नहीं रहती। यह संसार के साथ सम्बन्ध रखकर, परपीड़ा में शामिल होने का परिणाम हुआ। फिर अब उसके आगे देखो! अगर किसी व्यक्ति में ईश्वर-विश्वास की अभिलाषा है कि हम भगवत भक्त होकर रहते, हम प्रभु के होकर रहते, हम उनके लिये यह इस जीवन को पे्रम तत्त्व में बदल कर उपयोगी होते, तो आनन्दमय को आनन्दित करने की अभिलाषा, रस स्वरूप को रस प्रदान करने की अभिलाषा। यह मानव जीवन की एक विशेषता है। और कहीं नहीं है। केवल मनुष्य को ही ऐसे बढ़िया ढंग से बनाया गया है। मनुष्य ही इस बात की अभिलाषा लेकर खड़ा होता है, कि ठीक है जिसने मुझे बनाया, जो जीवनदाताहै मेरा, जो जन्म दाता है मेरा, जो सृष्टि कर्त्ता है, जिसने मुझे इस संसार में देखा है उसके लिये हम उपयोगी बनेंगे—ऐसी अभिलाषा मनुष्य के जीवन में जगती है। और इस अभिलाषा को लेकर जब वह पे्रम तत्त्व के विकास के लिए अग्रसर होता है, तो पे्रम की प्रतीक्षा में, पे्रम की आवश्यकता महसूस करने में इतना आकर्षण और इतनी मधुरता है, कि उसी में अनेक प्रकार की वासनाओं का अन्त हो जाता है।

ज्ञान के आधार पर वासनाओं को मिटाया जाता है, भक्ति के आधार पर वासनाओं को मिटाया जाता है; पर पीड़ा से द्रवित होने के आधार पर वासनाओं को मिटाया जाता है; अपने को साधक स्वीकार कर संयम नियम के आधार पर वासनाओं पर नियन्त्रण किया जाता है। और

सबसे जो प्रारम्भिक कदम है इस दिशा में, मानव-सेवा-संघ की खोज में, वह यह है कि जिस दिन से आपके भीतर यह आवश्यकता जगे कि हमारा जीवन वासनाओं से मुक्त होना चाहिए, जिस दिन से यह आवश्यकता आपमें उत्पन्ना हो, उस दिन से किसी प्रकार का नया सुख भोगना बन्द कर दीजिए। पुराना तो हो चुका, समय बीत चुका वह, जिस प्रकार के सुख भोगों में हमने समय और शक्ति को गँवाया है, जो हो गया तो हो गया, बीत गया।

अब नये ढंग से क्या करना है? तो नये ढंग से यह करना है कि जिस किसी भाई-बहन को वासनाओं से तिमम होने की अभिलाषा है, उनको किसी प्रकार का नया सुख नहीं लेना चाहिये। तो नया नहीं लेने से क्या होता है? नया राग नहीं बनता है। और दुःखी जनों की सेवा में घुलमिल जाने से क्या होता है? पुरानी बातें जितनी हैं चित्त पर प्रभाव डाले हुए, वे सब खत्म हो जाती हैं नया सुख नहीं लेगे तो नया राग नहीं बनेगा। सुख व भोग छोड़ कर सेवा आरम्भ करेंगे तो पुराने जमे हुये राग मिट जाते हैं, धुल जाते हैं वासनाओं से मुक्त होने का यह उपाय अनेक रूपों में है, और अनेक स्तर पर है। जिस साधक को जहाँ से सूझे, जैसे सूझे वैसे ही करना चाहिये।

इस दिशा में मुझे जो सबसे पहले बल मिला, रास्ता मिला कि कैसे सँभालना चाहिये अपने को, तो उसमें अपनी स्वीकृति बदलने का बड़ा भारी प्रस्ताव मैंने पाया। बक्सर में स्वामी जी महाराज थे। सत्संग का बड़ा समारोह हो रहा था। वहाँ मैं पहुँच गई और जैसे ही सत्संग की बैठक आरम्भ हुई मैं उठकर खड़ी हो गई सभा में, मेरा प्रश्न है, मुझे उत्तर चाहिये। महाराज ने कहा, पूछो। मैंने यह तीन वाक्य सुना दिए, यह हमारे जीवन का एक चित्र था। यह खोज थी अपनी। अपने को ऐसा महसूस होता था और मैं गाती रहती थी कि जो चाहती हूँ सो होता नहीं है, जो होता है सो भाता नहीं है; जो भाता है सो रहता नहीं है। मैं क्यों ढोऊँ ऐसी जिन्दगी का भार महाराज ने सुना और बड़ी शान्ति और धीरज से कह दिया कि लाली! तुम्हारा ही अनुभव है कि तुम जो चाहती हो सो होता नहीं है, तो चाह को छोड़ क्यों नहीं देती। बस इतने में उत्तर हो गया। पन्द्रह मिनट लगाये मैंने प्रश्न करने में और उत्तर उन्होंने एक वाक्य में दिया कि तुम्हारा ही अनुभव है, तुम्ही जानती हो कि जो चाहती हो सो नहीं होता है। तो चाह को छोड़ क्यों नहीं देती। छोड़ देने से काम खत्म हो गया। यह बात ऐसे सहज से तो मेरी पकड़ में नहीं आई लेकिन उन्होंने बाद में मुझे बताया कि भाई, मनुष्य के जीवन में सुख-भोग का कोई स्थान नहीं है। मनुष्य तो पैदा ही हुआ है सत्य की खोज के लिय, भगवत् भक्ति के लिये, अमर जीवन पाने के लिये। तुमने जिन्दगी का अर्थ ही गलत लगाया इसलिए दुःख में फँसी हो। मानव जीवन का अर्थ सुख का भोग नहीं है। मानव जीवन का अर्थ है सेवा, त्याग पे◌ेम है। जब मुझे यह मालूम हुआ कि इस जिन्दगी का अर्थ ही नहीं है सुख भोग, तो मैंने कहा कि तब तो ठीक है। अर्थ बदल दो। जब अर्थ बदल दिया तो उसी समय, उसी सभा में बैठकर मैं प्रश्न कर रही थी—उत्तर मिल जाने पर मेरे सिर का भार उतर गया और मेरे सामने की सब बाधाएँ हट गई।

सचमुच मनुष्य के जीवन का यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हम सभी लोग शान्ति से वंचित हैं तो उसी के कारण-मुक्ति से वंचित हैं तो उसी के कारण, और शारीरिक व मानसिक रोग में फँसे हुये है तो उसी के कारण। उसी के कारण मन का

सन्तुलन बिगड़ जाता है, कितनी प्रकार की तकलीफें हो जाती हैं। हाँ तो जीवन सेवा, त्याग और प्रेरेम से भरपूर होकर अपने लिये भी आनन्दमय हो सकता है जगत् के लिए भी आनन्द मय हो सकता है, और जगत्पति के लिये भी अति उपयोगी हो सकता है और कहाँ वही जीवन एकदम मिट्टी का ढेर बन जाता है कि ढोया ही नहीं जाता है। अजीब तरह की हालत हो जाती है। तो मैं बता रही हूँ आप भाई बहनों सेवा में मैं निवेदन कर रही हुं कि इस दिशा में जो आगे बढ़ना चाहते हैं उनको मानव जीवन के अर्थ के सम्बन्ध में अपनी दृष्टि स्पष्ट कर लेनी चाहिये।

इस जीवन का अर्थ अगर सुखभोग लोगे तो कभी भी एक कदम साधना के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकोगे, क्योंकि अपना जो दृष्टिकोण है, ेमस िबवदबमचज जो है अपने सम्बन्ध में, जो व्यक्तिगत अपनी धारणायें बना के रखता है, व्यक्ति में उसी के अनुसार संकल्प उठते हैं। उसी के अनुसार क्रियाएँ होती है, उसी के अनुसार दशा बन जाती है। मुझे इस दशा में अपने जीवन के सम्बन्ध में धारणा बदल डालने से बड़ा बल मिल गया। बहुत से झंझट खत्म हो गये। नहीं तो मैं क्या बताऊँ दुःख की कथा! ज्यादा नहीं सुनाऊँगी, बहुत तरह की कथा आप सुन चके हैं। एक तो दुःख इस बात का कि जो चाहती हूँ सो होता नहीं है, जो सुख मुझे पसन्द है वह मिले नहीं उसके ना मिलने का दुःख और उससे भी बड़ा दुःख इस बात का कि मैं इतनी विवश क्यों हूँ, मैं इतनी पराधीन क्यों हूँ? मैं अपने से सयाने लोगों से पूछूँ कि ऐसा क्यों होता है? जिससे पूछो वही कह दे कि भाई, यह तो भाग्य की बात है। प्रारब्ध की बात है। अब और दुःख भोगो। एक दुःख तो इस बात का कि सुख नहीं हुआ। दूसरा दुःख इस बात का कि मैं बेबसी में फँसी हूँ। तीसरा दुःख इस बात का कि पूर्व जन्म में मेरे कर्म बुरे हैं कितना भार ढोऐ आदमी! कितना भार है बताओ। सुख न मिला तो न मिला, इतना ही मन मसोस कर रह जाओ। उस पर से एक दूसरा दुःख उस पर से यह तीसरा दुःख। जन समाज के बीच में सब लोगों के समान होकर रहने एक वासना—इसकी भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो एक दीन भाव भोग रहे हैं—इसका दुःख। कितना दुःख एक आदमी ढो सकता है? अगर सजग हैं आप, सजीव हैं, चेतना है आप में, ऊँचे जीवन की अभिलाषा है आप में, तो जीवन की यह जो परिस्थितियाँ बनती है; जो दुःख अनुभव करते हैं, यह दुःख ही आपको बहुत ऊँचा उठा देने के लिये पर्याप्त है। कोई चेतना वाला तो हो, कोई सोचना तो आरम्भ करे, सत्य को स्वीकार तो करे।

इस आधार पर मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि मनुष्य का जीवन ही नहीं है सुखभोग के लिये। सुख भोगने के लिये तो बहुत सी योनियाँ है। कहीं केवल सुख-भोग की बाध्यता है और कहीं सुख-दुःख दोनों के भोग की बाध्यता है पशु-पक्षियों के जीवन में आप देखेंगे प्रकृति जनित, शरीर जनित सुख-दुःख के भोग की बाध्यता है। उनके आगे सुख आवे तो वे सुख भी नहीं छोड़ सकते, उनके आगे दुःख आवे तो वे दुःख भी नहीं छोड़ सकते। केवल आप ही ऐसे बनाये गये हैं, ऐसी अच्छी चसंददपदह है इस जिन्दगी की, कि आप में इतनी बहादुरी है, कि सुख आवे तो आप उसको ठहरा सकते हैं नहीं नहीं!! मुझे नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये, भाई? यह तो बहुत बढ़िया चीज है। नहीं, नहीं मुझे तो अनन्त आनन्द चाहिये। इसलिये पराधीनता, अभाव, शक्तिहीनता, नीरसता उत्पन्न करने वाला

सुख मुझे नहीं चाहिये। आप में इतनी क्षमता है कि आए हुये सुख को इन्कार कर सकते हैं। आप में इतनी क्षमता है कि आये हुये दुःख के सिर पर पाँव रख सकते हैं। यह प्रश्न कैसे हल हो? इसके लिए मानव जीवन का आदर करिये। अपने जीवन के महत्त्व को स्वीकार करिये तो आप में अदम्य शक्ति ऐसे ही अन्दर से प्रकट हो जायेगी कि उसकी सहायता से जो आप निर्भूल होना चाहेंगे तो निर्भूल हो सकते हैं, वासना रहित होना चाहेंगे तो वासना रहित हो सकते हैं। जड़ तो कट जाती है वहीं पर, बवदबमचज बदलने से ही जीवन बदल जाता है।

अब हम लोगों के लिये करणीय क्या है? हम लोगों के लिये करणीय यह है, कि अब कोई नया प्रभाव इस प्रकार का अंकित न होने दे। ठीक है न। पहले जो चुका उसका उपचार पीछे करेंगे, लेकिन सबसे पहली बात क्या होनी चाहिये? सबसे पहली बात साधक के जीवन में यह होनी चाहिये कि दृश्य के संयोग से किसी प्रकार का व्यक्तिगत सुख न लें। इस बात के लिये अगर हम तैयार नहीं है और पुराने पर नियन्त्रण करते जाएँ, अभ्यास करते जाएँ, उपवास करते जाएँ और नये नये राग अंकित होते चले जाएँ तो शुद्धि नहीं हो पायेगी।

यह अपना भ्रम ही है कि सुख के बिना हम रह ही नहीं सकते, सामान के बिना हम रह ही नहीं सकते और साथी के बिना हम रह ही नहीं सकते। यह कोरा भ्रम है। स्वामी जी महाराज ने बड़े सुन्दर वाक्य बताये। ऐसे कहा कि देखो भाई? जो तुम्हारे बिना रह सकता है, उसके बिना तुम स्वेच्छा से रहना पसन्द कर लो। बेबसी में तो रहते ही हो। सुनने की शक्ति खत्म हो जाए तो उसके बाद भी आदमी रहता है कि नहीं? रहता है। मिला हुआ पद चला जायऋ कमाया हुआ धन डूब जायऋ जोड़े हुये कुटुम्बी बिछुड़ जाये, उसके बाद भी आदमी रहता है, कि नहीं? रहता ही है। लेकिन बेबसी में रहोगे, झक मार कर रहोगे, दुःखी होकर रहोगे तो पहले ही ज्ञान पूर्वक विवेक के प्रकाश में विचार करो, कि कौन कौन ऐसा है जो मेरे बिना रह सकता है? जो तुम्हारे बिना रह सकता है उसके बिना रहने के लिये तुम तैयार हो जाओ। समस्या हल हो जायगी। बड़े सुन्दर वाक्य हैं। पाँच वाक्य स्वामी जी महाराज ने बताये। नई पुस्तिका छोटी सी छपी है उसमें लिखा है किः-

;1द्ध जाग्रत का संसार जो है वह स्वप्न में छूट जाता है, उसके बिना हम लोगों को रहना चाहिये। ;2द्ध स्वप्न का संसार जो है वह सुषुप्ति में छूट जाता है स्वप्न में जो दिखाई देता है उसके बिना भी हम लोगों को रहना चाहिये और ;3द्ध सुषुप्ति का जो कुछ है वह समाधि में छूट जाता है और ;4द्ध समाधि में जो कुछ है वह बोध में छूट जाता है। ;5द्ध जो अन्त में रह जाता हे, जो छूट नहीं सकता, उसी के साथ रहना पसन्द करो तो सब पर विजय पाना आसान हो जाएगा। तो भाई! राग रहित होने की आवश्यकता तो महसूस करिये। यब सब उपाय अपने लोगों के लिए सम्भव हो जायगा। थोड़ी देर के लिये आपको कठिन लगेगा। शुरु-शुरु में मालूम होगा कि कैसे हम सँभाल सकेंगे? लेकिन ऐसा कुछ कठिन है नहीं। महाराज ने कहा कि तब क्या करोंगे? शान्ति का समय है, अप्रयत्न हो, अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ना हो—इस शान्ति सम्पादन काल में अगर तरह-तरह के संकल्प आ गये तो तुम्हारी सजगता का अर्थ क्या होना चाहिये? उन संकल्पों को देख लो। अगर व्यक्तिगत सुख का संकल्प है तो तत्काल उसी समय उसको इन्कार करदो। नहीं! नहीं!! यह तो भूतकाल की बात थी कि मैं

ऐसा-ऐसा करता था। अब तो मैं साधक हूँ। मेरे जीवन में इस संकल्प पूर्ति का कोई महत्त्व नहीं है—ऐसा इन्कार कर दीजिए। आप ही की सत्ता से आपके सिर पर चढ़ने वाला वह संकल्प आपकी सत्ता से कमजंबीमक होते ही मर जाएगा। कठिन बात नहीं है। आप करके देख लीजिये। उसको उसी समय इन्कार कर दिया, तो गया। उसकी अपनी सत्ता नहीं है। हमारी स्वीकृति से उसको सत्ता मिल जाती है हमने इन्कार कर दिया तो वह सत्ता विहीन होकर खत्म हो जायेगा। फिर नहीं आयेगा। फिर नहीं दिखाई देगा। और ऐसे संकल्प जिसमें कि समूह का हित है, परिवार का हित है, समाज का हित है; दुःखी जन का हित है, बच्चों का हित है; पशु-पक्षियों का हित है; वनस्पति का हित है—ऐसे हितकार संकल्प उठे, जिसमें आपका व्यक्तिगत हित भी शामिल हो तो कोई डर नहीं, उससे अपराध नहीं लगेगा लेकिन जो सामूहिक हित के संकल्प हों उनको आप यथा सम्भव, पूरा करने की कोशीश करीये और सावधान केवल इतना रहिये कि उन संकल्पों की पूर्ति के बाद उससे उत्पन्न होने वाला सुख और सम्मान अपने को नहीं चाहिये। लाभ होता जाय तो समूह को देते जाओ और अपने को अलग करके रख लो। इस उपास से पुराने राग निकल निकल कर खत्म हो जायेंगे और नये राग पैदा नही नहीं होंगे। उसके बाद जीवन में अलौकिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। यह अनुभवी सन्त जन का अनुभव है।

अब कल सन्ध्या समय की जो बैठक थी उसमें हम लोगों ने इस विषय पर विचार किया कि मानव-सेवा-संघ की दृष्टि से साधक के जीवन में संसार का कितना महत्त्व है? क्या अर्थ है? उसके साथ कैसे करना चाहिये? कैसे उसके काम आना चाहिये? कैसे उसकी दासता से मुक्त होना चाहिये, इत्यादि इत्यादि। अब अपने-पन का भास हम सब भाई बहनों को है मैं हूँ' यह पहली बात है उसके बाद एक प्रतीत होने वाला जगत् है, जिसके सम्बन्ध में चर्चा हो गई कि प्रतीति हो रही है। सत्य क्या है? हम सब लोग नहीं जानते हैं। हम बदलते जाते हैं, तो दृश्य बदलता जाता है और भौतिक सीमा को हम पार कर जाते हैं तो भौतिक जगत् लुप्त हो जाता है। ऐसी चर्चा कल शाम की बैठक में हो गई थी। अब मैं-पन और प्रतीत होने वाले जगत् से भिन्न एक और बवदबमचज एक और धारणा मनुष्य के जीवन से बहुत घना सम्बन्ध रखने वाली है। और वह है भगवान के सम्बन्ध में हमारी आपकी भावना। सुना करते हैं हम, कि हमको और दिखाई देने वाले जगत् को बनाने वाला कोई है, उसी को भक्त जन भगवान कहते हैं तो हमारे आपके जीवन में उस सुने हुये भगवान का क्या महत्त्व है? इस पर मानव-सेवा-संघ की दृष्टि से विचार कर लीजिये।

स्वामी जी महाराज के मुख से आपने सुना कि मैं कट्टर ईश्वरवादी हूँ, पर ईश्वरवाद का प्रचारक नहीं हूँ। तो मनुष्य के व्यक्तिगत में ईश्वरवाद एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, लेकिन उन्हीं ईश्वर की रची हुई सृष्टि में बहुत से व्यक्तिगत ऐसे हैं, जो ईश्वर को मान करके जीवन का आरम्भ नहीं करते। सब उन्हीं की रचना है। हमारे से जब बातचीत होती है और लोग ऐसा प्रश्न रखते हैं तो मैं कह देती हूँ अरे भाई! आप तो मेरे प्यारे की बनाई हुई रचना में से एक हैं। जब उन्होंने आपको ऐसा बनाया कि ईश्वर का नाम नहीं लेंगे, तो हम काहे के लिये जबरदस्ती ईश्वर का नाम थोपें? ठीक है न? तो हर व्यक्ति सहज भाव से ईश्वर विश्वास करना पसन्द नहीं करता है, तो मानव-सेवा-संघ ने मानव जीवन को सामने रख कर ईश्वरवाद की

दृष्टि से यह बताया कि भाई! अगर तुम नहीं पसन्द करते हो ईश्वर विश्वासी होना, तो अपने साथ जबरदस्ती मत करो। ना पसन्द करने पर भी यदि तुम मनुष्य हो, विश्वास-पथ को छोड़ दो और विचार-पथ को सामने लेकर चलो, तो तुम्हारा विकास होगा और अन्त में जब वही आकर मिल जाएगा, तब तुम्हारी मौज हो तो मान लेना। नहीं तो सत्य के नाम से कह कर, नित्य तत्त्व के नाम से कह कर ब्रह्म के नाम से कह कर, योग तत्त्व के नाम से परमतत्त्व के अनन्त तत्त्व के नाम से— जिस नाम से पुकारने की इच्छा हो कह देना कोई बात ही नहीं है, लेकिन है वो ही।

साधक को जीवन में अपने लिये और दूसरों के लिए बहुत ही उदार दृष्टि रखनी चाहिए, विशेषकर मानव-सेवा-संघ के प्रेमियों को। अगर अपने को ईश्वर विश्वास ठीक नहीं बैठता है, तो हीन भावना से प्रेरित मत होइये। हाय! मेरा तो उद्धार होगा ही नहीं, क्योंकि मैं विश्वास नहीं कर सकता हूँ ऐसी बात नहीं है आप ईश्वर विश्वासी हैं और दूसरे लोग कोई मिल जाएँ आपको जो विश्वास करना नापसन्द करते हो तो आप जोर डाल कर उनको समझाने की कोशिश मत करिये कि ईश्वर विश्वास करना चाहिये। खुद भी करने का स्वभाव आपका हो स्वभाव से रुचि आपकी होती हो तो विश्वास कीजिये और स्वाभाविक रुचि नहीं है, तो अपने साथ जबरदस्ती मत करो। क्यों? क्योंकि उसी ईश्वर ने मनुष्य के जीवन को अनन्त तत्त्व से अभिन्न करने के लिये अलग अलग प्रकार की रचनाएँ कर दी। जबरदस्ती काहे को करेंगे? अगर विश्वास-पथ अपने लिये पिज नहीं बैठता है तो विचार-पथ से जीवन को आरम्भ करेंगे। विचार का तत्त्व भी तो अपने पास है ना? तो वहाँ से करेंगे।

मानव-सेवा-संघ का निवेदन यह है, कि आप अपने व्यक्तिगत की रचना के अनुसार अपनी साधना आरम्भ करिये और अन्य लोगों को, अन्य भाई बहनों को सभी साधकों को स्वाधीनता पूर्वक उनकी रचना के अनुसार साधना पर चलने दीजिये। न अपने मत का आग्रह करो, न दूसरे के मत का विरोध करो तो बड़ा अच्छा जीवन बनता है। इतना बढ़िया सामन्जस्य बैठता है कि अनेक प्रकार की भिन्नता के होते हुये भी मानव मात्र के बीच में एकता हम रख सकते हैं स्नेह की एकता, सद्भाव की एकता। और जब भिन्न प्रकार के मत, विचार और साधना रखने वाले साधक मिल जाते हैं, तो बातचीत करते करते अन्त में जब स्नेह की एकता आती है तो हृदय से यही सद्भाव निकलता है कि हे प्रभु। मुझे तो मेरे इस पथ से पार लगाओ और मेरे इस भाई को, मेरी इस बहन को, जो पथ पकड़ा है, उससे इसको पार लगाओ। जब सबका जीवन पार हो जाये, जब हम त्यागने योग्य से अपने को छुड़ा सकें और अभिन्न होने योग्य से अभिन्न कर सकें, तो उस पूर्ण जीवन में किसी प्रकार की भिन्नता रह जायेगी क्या? नहीं रहेगी। सब पूरा हो जायेगा, उसके बाद कहने सुनने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसलिये विशेष करके ईश्वर विश्वास के सम्बन्ध में संघ का यह निवेदर है कि आप अपने मत का आग्रह मत करिये, दूसरों के लिये। अपने लिये तो डटे रहो अपनी जगह पर, लेकिन दूसरों के लिये आग्रह मत करो व्यक्तिगत मत का, और दूसरों के मत का विरोध मत करो। ठीक है आपकी ऐसी साधना है तो सर्व समर्थ आपको इसी साधना में सफलता दे दें। आपका ऐसा मत है तो ठीक है। अपने मत के अनुसरण से आपका जीवन पूर्ण हो जाय, ऐसी मेरी सद्भावना है। स्नेह की एकता, सद्भाव की एकता है। जब विभिन्न प्रकार

के मत, विचार और साधना रखने वाले साधक मिल जाते हैं तो बातचीत करते करते अन्त में जब स्नेह की एकता आती है तो हृदय से यही सद्भाव निकलता है।

अब ईश्वर विश्वास पर आइये। यह किसकी साधना बन सकती है? यह उनकी बन सकती है जिनके जीवन में सहज भाव से विश्वास करने की रुचि है। सहज भाव से, जोर डालकर नहीं, जबरदस्ती से नहीं, तर्क से नहीं— तर्क से यह नहीं होता। तर्क से तो ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता और सच पूछिये तो आज के आधुनिक विज्ञान-वेत्ता भी इस बात को मानने लग गये हैं कि तर्क से संसार भी सिद्ध नहीं होता। तर्क की बात नहीं है, ईश्वर में विश्वास की बात है। विश्वास करना है। क्यों विश्वास करना है भाई? मैंने तो इस प्रकार से माना कि जो कुछ मेरे सुनने, देखने और जानने में आया, उससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये गुरु के मुख से सुनकर, संत के मुख से सुनकर, ग्रन्थ के वाक्य के आधार पर, बिना देखे—बिना जाने परमात्मा को मानना पड़ा। मैंने तो बेबसी में माना। और कुछ मेरे लिये जीवन का

आधार बन नहीं सका। हमने कहा कि अब अपना पुरुषार्थ सब थक ही गया है—आखिर जीवन का प्रयोग करके देखना ही है, तो एक बार तो सन्त की वाणी सुनकर करके ही देखो, मान करके ही देखो। उसको जीवन का आधार बना कर ही देखो, क्या होता है? इस तरह से मैंने माना।

कुछ ऐसे सरल हृदय के भाई बहन हैं जिन्होंने हमारी तरह से तीन पाँच नहीं लगाया कि क्यों मानें? कैसे मानें? यह सब नहीं किया। सहज भाव से सत्ता को स्वीकार कर लिया, विश्वास कर लिया। इसका क्या महत्त्व है जीवन में, सो मैं आपकी सेवा में निवेदन कर दूँ। मैंने ऐसा पाया अपने लिये और अब मैं सोचती हूँ औरों के लिए भी ऐसा ही होगा—मैंने ऐसा पाया कि जब तक मेरे जीवन में ईश्वर के सम्बन्ध में धारणायें स्पष्ट नहीं थी, तब तक मुझे उनकी उपस्थिति का कोई भी आभास मिलता नहीं था। उनकी शक्ति काम नहीं करती थी-ऐसी बात नहीं है। काम तो वह हर समय हो रहा है और हर समय उपस्थिति को अनुभव किया जा सकता है, लेकिन मैं क्या बताऊँ, इस अहं रूपी अणु की विलक्षणता! मैं कहती हूँ कि संसार में आश्चर्यजनक बातें लोग देखते रहते हैं और कहते हैं कि यह विश्व का पहला आश्चर्य है। यह दूसरा आश्चर्य है। अब तक गिनती मैंने सुनी है कि आठ आश्चर्य हैं, तो मैं कहती हूँ कि सबसे बड़ी आश्चर्यजनक विलक्षण रचना जो है, वह हम लोगों का अहं ही है। सबसे विलक्षण! सबसे विचित्र!! सबसे आश्चर्य जनक!!! वो क्या है? कि जब तक मैंने जीवन के आधार के रूप में बिना देखे, बिना जाने परमात्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया तब तक उसका कहीं कुछ जतंबम नहीं मिलता था। सन्त ने कहा कि उनको तो मालूम है तुम उनकी अपनी हो। तुम भूल गई हो, मेरे कहने से तुम स्वीकार कर लो। उनको मालूम है, वो तो जानते हैं कि तुम उनकी हो। तुम्हें याद नहीं है। मेरे कहने से लाली! एक बार मान लो। तो झकमार कर मैंने मान लिया। लेकिन सन्त की कृपा, भगवत्कृपा, मानव जीवन की मंगलकारिता, अहं में इस स्वीकृति के आते ही जीवन बदलता है, सृष्टि बदलती है और जो कहीं पर अत्यन्त छिपा हुआ, बड़ा रहस्य मय, जिसका कहीं जतंबम नहीं मिलता, उसकी उपस्थिति का अनुभव करने की क्षमता साधक में बढ़ जाती है। कैसे बढ़ जाती है। ये सब कलायें वे कलाकार

जानते हैं। सबसे बड़े कलाकार हैं उनको सब विधि आती है कि बिगड़े-बिगड़े मिजाज के लोगों में कैसे अपनी उपस्थित को स्थापित कर दें ैजंउच लगा दें। जैसे आँख में उँगली डालकर दिखा दें। सब कलाएँ वे जानते हैं मनुष्य के अहं में विलक्षणता है कि सत्य की स्वीकृति को ले सकता है और स्वीकृति लेने मात्र से उसमें परिवर्तन हो जाताहै। यह सब बातें आपके जीवन के सत्य के रूप में संघ की ओर से सेवा में निवेदित हैं। अब शान्त हो जाइये।

प्रवचन(96)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

संत-वाणी में बहुत सी आवश्यक बातें हम लोगों को सुनने को मिलीं। एक वाक्य, जिसका विश्लेषण करेंगे, यह है कि 'सुखसे दुःख दब जाता है सुख से दुःखों का नाश नहीं होता।' बहुत अच्छी बात है। सुख की ओर से अपने को हटाने के लिए इससे बल मिलेगा।

किसी भी प्रकार के सुख-भोग को देख लीजिये। जीवन दाता ने, सृष्टिकर्ता ने प्राणियों को शरीर धारी बनाकर संसार में रखा, तो कई प्रकार के सुख भी दिये। उसमें से हम लोग भी अपना-अपना जीवन देख ले सामने रख कर। हमें भी अब तक दुःखों के साथ कई प्रकार के सुख मिल चुके हैं, तो विचार इस विषय पर करना है कि सुखों के आधार पर दुःखों का नाश हो गया कि नहीं? तो अपना अनुभव क्या है? कि दुःखों का नाश नहीं हुआ। कुछ समय के लिये दुःख दब जाता है, पर खत्म नहीं होता। इससे भी बड़ी हानिकारक एक प्रतिक्रिया यह हाती है कि जितना अधिक सुख हम पसन्द करते हैं उतनी ही अधिक पराधीनता, असमर्थता बढ़ती चली जाती है।

मनुष्य को चाहिये नित्य योग, मनुष्य को चाहिये अमर जीवन और परम प्रेम के रस से भरपूर जीवन। नित्य-योग, तत्त्व बोध, परम प्रेम— ऐसा जो जीवन है, जिसकी हम सब भाई बहनों को माँग है, उसकी अभिव्यक्ति सुख भोग के आधार पर नहीं हो सकती-इस बात को आप अपने द्वारा ही सही मानते हैं कि नहीं? इस विषय पर विचार करिये अपने द्वारा और साथ-साथ निर्णय लेते जाइये। सचमुच जो लक्ष्य है मानव जीवन का सचमुच जिस प्रयास में यहाँ हम सब लोग आये हैं और जीवन की चर्चा कर रहे हैंऋ उसको सामने रख कर देखिये तो दुःख निवृत्ति, चिर-शान्ति, नित्य-योग तत्त्व बोध, परम-प्रेम वो सब जो ऊँचे मूल्य हैं मानव जीवन के वो सुख भोग के आधार पर कभी भी सुलभ नहीं हुए। यह बात कोई बतायेगा तब हम जानेंगे, ऐसा नहीं है। सुख-दुःख के बीच में से होकर निकलते हुए इतने वर्ष बीत गये, और अच्छी तरह से इस बात को हम लोगों ने जान लिया कि शरीर और संसार के संयोग से मिलने वाले सुख के आधार पर जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ। तो अब क्या करना चाहिये? इसी विषय को दोहराते नहीं रहना चाहिये, बल्कि सुख की ओर से अपने को हटाना चाहिये। इतनी हिम्मत हम लोगों की होनी चाहिए। अगर ऐसी हिम्मत नहीं करेंगे, तो काम नहीं बनेगा। यह बहुत जरूरी बात है। पहला कदम यह हो गया।

अब दूसरी बात सोचने में ऐसी आती है। जब ईमानदार साधकों के बीच में चर्चा होने लगती है, तो ऐसी बात आती है कि क्या किया जाय अपने को इस बात का पूरा पक्का परिचय है कि सुख-भोग काल में अविनाशी जीवन का आनन्द सम्भव नहीं हुआ। और सुख-भोग के आधार पर दुःखों का अन्त नहीं हुआ। इतना जानते हुए भी पता नहीं

भीतर में कैसी एक दुर्बलता है कि जब सुख सामने आता है तो उसको छोड़ा नहीं जाता। ऐसी दुर्बलता भी साधक समय-समय पर अनुभव करते रहते हैं। जानते हुए भी छोड़ा नहीं जाता तो और क्या उपाय करें? इसके लिए एक बहुत ही प्रैक्टिकल, बहुत व्यावहारिक उपाय अनुभवी सन्त-जन बताते हैं, और वो कहते हैं कि एक काम करो, अगर तुम्हारे सामने किसी प्रकार का सुख आवे, तो तुम उसको लेकर के दुःखियों की सेवा में लगाना आरम्भ करो। इसमें अच्छा रहता है। ऐसा करने में अपने को विशेष कठिनाई नहीं होती? मैंने देखा है, अपनी बहुत-बहुत सी प्रतिकूल परिस्थितियों को मैंने देखा है और बहुत ही प्रतिकूलता के बीच में प्रभु के मंगलमय विधान से, ;यह बात में अब कहती हूँ उस समय कहती थी कि अपनी बहादुरी सेद्ध जब उन प्रतिकूलताओं पर मैंने विजय प्राप्त की अर्थात् उनका सामना करके उनके भीतर से अपने लिए रास्ता निकाला तो उन क्षणों में मैंने देखा कि, जो थोड़ी सी सुविधा और थोड़ी सी अनुकूलता मेरे सामने आई, तो मेरे आस-पास में रहने वाले कुछ लोग ऐसे थे जो उस अनुकूलता को, उस सुविधा को बाँटना पसन्द करते थे-ऐसा मैंने देखा है। आपने भी देखा होगा। अब यह दूसरी बात है कि दुःखी लोगों की ओर से आप आँखंे बन्द कर लें, उनकी परवाह न करें, हृदय को कठोर बना लें तो भले न सूझे, लेकिन मैंने देखा है, मैंने अनुभव किया है। कितनी भी कठिनाई में पड़ा हुआ व्यक्ति क्यों न हो, उसके पुरूषार्थ से, कर्त्तव्यपालन से, प्रभु के मंगलमय विधान से, प्रकृति की उदारता से कोई अनुकूलता उसके सामने आ जाय तो उस अनुकूलता में हिस्सा लेने वाले बहुत से साथी उसके सामने खड़े हो ही जाते हैं। ऐसा होता है। तो अब मैं इसको प्रभु का मंगलमय विधान मानती हूँ और मनुष्य को साधना में आगे बढ़ने में सहायक भी मानती हूँ।

हम लोगों को आये हुए सुख को बाँटने के लिए कहीं दूर-दराज पात्र खोजने के लिए जाना नहीं पड़ेगा। आप अपने को गृहस्थ मानते हैं, तो इस मान्यता की स्वीकृति के साथ ही आपके सुख के बहुत सारे हिस्सेदार हो जाते हैं। यह अच्छा इन्तजाम है संसार की ओर से। अपनी जड़ता को छोड़ने में इससे बहुत मदद मिलती है, और अपने को सुखकी वासनाओं से मुक्त करने में भी बड़ी मदद मिलती है। मैंने कई ऐसे उदारमना सज्जनों को देखा है कि उनके पास किसी प्रकार की अनुकूलता आ गयी, तो स्वयं उसको अपने काम में न लेकर दुःखी जनों में उसको लगा देने में उन्हें विशेष हर्ष होता है। बहुत आराम मिलता है उनकोऋ बड़ा आनन्द आता है। तो प्रकृति तथा परमात्मा की ओर से ऐसा इन्तजाम है इस संसार में, कि प्रत्येक परिस्थिति का व्यक्ति आयी हुई अनुकूलता से काम ले सकता है, उसको साधन सामग्री के रूप में रख सकता है और उसका सदुपयोग करके अपने को सुख की वासनाओं से मुक्त कर सकता है।

महात्मा टॉॅलस्टॉॅय का साहित्य मुझको पढ़ने के लिए मिला। एक स्थान पर उन्होंने लिखा कि भगवान ने सृष्टि बनाई, और सब प्रकार से उसको सजाया। फल, फूल, हवा, जल, पर्वन, नदी, चाँद, तारे, आकाश, धरती-सब प्रकार से इसको सजाया और जब उनकी सृष्टि सब प्रकार से सज गयी तब उन्होंने उसमें मनुष्य को भेजना पसन्द किया। मनुष्य को भी बहुत प्रकार की शक्तियाँ उन्होंने दी और जब उन्हें अपना बनाया हुआ मनुष्य बहुत प्यारा, बहुत अच्छा लगा, और ऐसा मालूम हुआ कि उसकी मैंने सब प्रकार से-

बल से, धन से सम्पन्न कर दिया, अब यह संसार में भेजने के लायक हो गया तो उसमें एक चिन्तन आया और वे सोचने लगे कि सारी सृष्टि से अधिक बुद्धिमान और बलवान बना कर इस अपने क्रीकर को, इस शरीरधारी प्राणी को दुनिया में भेज रहा हूँ अगर वहाँ जाकर यह अपने बल का दुरुपयोग करने लगेगा, हमारे दूसरे कम बुद्धिमान प्राणियों को सताने लगेगा तो इसको कौन रोकेगा। ऐसा चिन्तन आने पर उन्होंने सब शक्तियों को बुलाकर पूछा। तन के बल से पूछा कि भई! हम तुमको इस आदमी के साथ भेज रहे हैं संसार में, लेकिन वहाँ जरूर यह दुर्बलों को सतायेगा तो तुम क्या करोगे? तब के बल ने कहा—महाराज, आप तो मुझे इसका दास बनाकर भेज रहे हैं, मैं क्या करूँगा? इसके जो जी में आयेगा सो करेगा। फिर बुद्धि के बल को बुलाकर पूछा। फिर एक-एक करके हर शक्ति से जिससे कि सम्पन्न करके व्यक्ति को दुनियाँ में भेज रहे थे भगवान ने पूछा कि यह मेरा बनाया हुआ जो सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान है, यह जा रहा है संसार में, वहाँ जाकर यदि दुर्बलों को सतायेगा तो तुम लोग रोकोगे? तो सबने इन्कार कर दिया। कहा कि महाराज, हम लोग कैसे रोकेंगे, हम लोगों को तो इसको दास बनाकर भेजते हैं। हम तो नहीं रोक सकेंगे इसे।

महात्मा टॉलस्टॉय ने लिखा कि जब इस बात पर विचार हो रहा था, कि मनुष्य को संसार में कौन सँभालेगा, तो उस सभा में पुत्री करुणा' भी बैठी थी, उसने उठकर कहा कि हे पिता! आप मनुष्य के रचने वाले हैंऋ आपने हम सभी की रचना भी की है और मनुष्य के साथ संसार में भेज रहे हैं। मेरी यह प्रार्थना है कि मनुष्य के हृदय में आप मुझे बैठा दीजिए और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि जब तक मैं बैठी रहूँगी मनुष्य के हृदय में, तब तक संसार में कोई अनर्थ नहीं करेगा—यह पुत्री 'करुणा' ने परमात्मा को आश्वासन दिया। इसका अर्थ क्या है? इसका बड़ा भारी अर्थ है। जब टॉलस्टॉय महाशय का साहित्य मुझे पढ़ने को मिला था तब मैंने नहीं समझा था। लेकिन साधना के पथ पर चलने वाला, सुख की वासनाओं से बँधा हुआ साधक जब नित्य-योग, तत्त्व-बोध और परम-पेरम के पथ पर चलने में अपने को असमर्थ पाता है तो उस असमर्थता से उसको कौन बचाता है? उसे असमर्थता से मुक्त करने में कैसे सहायता मिलेगी?—यह प्रश्न जब मेरे सामने आया तब स्वामी जी महाराज की सलाह में मैंने करुणा का महत्त्व समझा।

कितनी जन्मों में शरीर की सहायता से सुख भोगने की वासनामें फँसा हुआ व्यक्ति सत्संग के प्रकाश में जब वासनाओं से मुक्त होना चाहता है, तो उसको करुणा से बड़ी सहायता मिलती है। बड़ी बढ़िया बात है। पुत्री 'करुणा' आपके हृदय में विराजमान है। उनका आदर करिये। क्या करें? कि जब आपके सामने शक्ति और समान आवें, अनुकूलता और सुख आवें, तो करुणा से द्रवित होकर दुःखी जनों के दुःख से हृदय को को मन बनाकर, करुणा से पेररित होकर दुःखियों की सेवा में लग जाइये। तो मेरा ऐसा विचार भी है, और विश्वास भी है, पढ़ा हुआ भी है और केवल पढ़ा हुआ ही नहीं, समझा और जाना हुआ भी है, कि वासनाओं से प्रेरित होकर सुख भोगने में मनुष्य को जैसा लगता है, करुणा से द्रवित होकर सेवा करने में उससे कहीं अधिक ऊँचे जीवन की अनुभूति होती है। ऐसा नहीं कि जगत् की ओर से रूठ कर बैठ जाओ, या छोड़कर भाग जाओ। उतनी सामर्थ् होती तो कौन पकड़ सकता था हमको? उतनी सामर्थ् तो है ही नहीं।

अब केवल इतनी सी बात है कि शरीर भी अच्छा लग रहा है; शरीर का बल भी अच्छा लग रहा है, संगी-साथी भी अच्छे लग रहे हैं और सुख-भोग की सामग्री भी अच्छी लग रही है और इतने घेरे में हमने अपने को घिरा हुआ पाया तो अब फंदे में से निकलें कैसे? तो निकलने का बड़ा सहज और स्वाभाविक उपाय यह है कि भाई! हृदय में जो करुणा का तत्त्व है, उसको महत्त्व देना चाहिएऋ उसका आदर करना चाहिए और किसी भी कठिनाई में पड़े हुए व्यक्ति को देखकर अपने पास जो सामग्री है, उसको सहयोग में लगा देना चाहिए। सामग्री है तो सामग्री लगा दी जाय और सामग्री नहीं है तो शरीर का बल लगा दिया जाय और शरीर में बल नहीं है तो हृदय का सद्भाव लगा दिया जाय। इतना तो जरूर है अपने पास, कि नहीं? इतना तो है। तो जो है अपने पास, वह लगा दिया जाय।

करुणाा के रस से व्यक्तित्व में जब तरलता आती है तो सुखभोग की वासना खत्म हो जाती है। मोह की पीड़ा से पीड़ित होने का मोह के घेरे से बाहर निकल कर और बृहद् समाज में शामिल होकर, सारी सृष्टि को एक मान कर दुःखी मात्र के प्रति अगर सद्भाव रखा जाय, तो सुख की वासनाओं पर विजय पाने में सहायता मिलेगी।

मैंने पढ़ा था पण्डित जवाहरलाल जी के पिता की बात। युवक थे जवाहरलाल जी और देश में परतन्त्रता मिटाने का आन्दोलन चल रहा था। पहली बार जब उनको जेल हो गयी तो जेल में जमीन पर कंकड़, पत्थर पर सुलाया गया। मोतीलाल जी ने जब सुना कि उनका लाडला जवाहर, बहुत ही सुख से पाला हुआ इकलौता बेटा, आज कंकड़ पर सोयेगा। तो उन्होंने अपने निवास स्थान आनन्द भवन में अपने सोने के कमरे में से, पलंग निकलवा दिया, बिस्तर हटा दिया, और कंकड़ बिछवा दिया और उस पर लेट गये। अनुभव करेंगे प्यारा दुलारा जवाहर कैसे जेल में कंकड़पर सोया? तो बेटे के कष्ट से हृदय जब द्रवित हुआ तो आनन्द भवन में सुखद बिस्तर पर मोतीलाल से सोया नहीं गया। मोह के सम्बन्धियों की पीड़ा से पीड़ित ऐसा होता ही है। बाल-बच्चों को दुःख सुन लें, तो माता-पिता से सुख भोगा नहीं जाता है। हमेशा ही ऐसा होता है।

एक पत्नी को मैं जानती हूँ। पति का स्वर्गवास हो गया। वियोग की पीड़ा से पीड़ित हो गयीं तो पति को जो—जो बातें पसन्दथीं—खाना-पीना, रहन-सहन, चीज-सामान किसी का भी उपयोग उनसे किया नहीं जाता था पति के देहान्त के बाद। उन सब वस्तुओं की ओर से ऐसे ही एकदम चित्त हट गया। मोह की पीड़ामें पड़कर सुख-भोग की वासना का त्याग कर सकता है व्यक्ति, तो साधना की दृष्टि से दुःखी मात्र के दुःख को हृदय में भरकर करुणा के रस से सरस और पवित्र होकर सुख-भोग की वासना नहीं छोड़ सकेगा? जरूर छोड़ना चाहिये। अब 'चाहिये' कहेंगे तो उनमें भी थोड़ा सा आपकी ओर से प्रयास लगता है, लेकिन वह छूट ही जायगा। यह स्वाभाविक बात है। ऐसा हम लोगों को करना चाहिए।

मैंने ऐसे साधक को देखा है कि जिन्होंने सुख बाँट करके दुःखियों की सेवा में अपने को लगाया और किसी महापुरुष के सम्पर्क में उनसे मार्गदर्शन लेते रहे और खूब जी-जान से सेवा करते रहे। सेवा करने से उनके भीतर बल बढ़ता गया, जीवन में उदारता आती गयी, करुणा का रस बढ़ता गया—मैंने बहुत अच्छी तरह से इस बात को जाना। थोड़े-थोड़े दिनों के बाद वे अपने गुरुके

पास आते और अपने अन्तर की दशा बताते' और देखते कि सेवा के परिणाम से पूरी तरह से शुद्धि हुई कि नहीं, कहाँ-कहाँ कौन-कौन सा राग छिपा रह गया है, यह देखकर अभी थोड़े दिन और करेंगे, फिर चले जाते, और त्यागपूर्वक सेवा करते, और कठोर तप करते। इस प्रकार वे अपना सुख छोड़ते गए, और सेवा करते गए। जैसे एक बीमार आदमी दवाई लेकर रोग से मुक्त होना पसन्द करता है, वैसे उस साधक ने अपनी जाँच करायी और दवाई खायी, ऐसा करते-करते आखिरी बात तक तो मुझे मालूम नहीं है, लेकिन इतना मुझे मालूम है कि बहुत विकास हुआ उनका। बिल्कुल स्वाभाविक बात है कि राग निवृत्ति अवश्य हो जाती है, क्योंकि करुणा के रस से जो हृदय में सरसता आती है, उससे सुख वासना धुलती है।

अब थोड़ा सा अन्तर है वो भी मैं स्पष्ट कर दूँ। कहीं किसी साधक भाई बहन के काम में आ जायगा। वो अन्तर क्या है? कि जब माने हुए कुटुम्बियों के दुःखी होकर आप सुख छोड़ते हैं, तो सुख की जड़ नहीं कटती है, क्योंकि मोह की पीड़ा जो है वो आपको स्वाधीन नहीं होने देती है। सोचना इसको। जिनको शरीर के नाते से नातेदार माना, उनके दुःख से दुःखी होकर के भी आदमीसुख छोड़ता है, लेकिन वो मोह का जो बन्धन है वो व्यक्ति को निर्विकार नहीं होने देता और सुख की वासना की जड़ नहीं कटती है। मोह की पीड़ा व्यक्ति को और भी अधिक पराधीन बनाती है, और भीतर-भीतर दुर्बलता आती है। जैसे पैदा हुई सन्तान के दुःख से दुःखी हो जाओ तो भीतर-भीतर दुर्बलता बढ़ती है, और दुःख से, मोह की पीड़ा से तरह-तरह के शारीरिक और मानसिक रोग सताने लगते हैं। लेकिन उसके विपरीत प्रकृति के नाते, सब प्राणी एक हैं, प्रभु के नाते सब प्यारे हैं, आत्मा के नाते सब निज स्वरूप हैं। तो ऊँचा दृष्टिकोण ले करके भौतिक दर्शन, अध्यात्म दर्शन, और आस्तिक दर्शन के आधार पर, जो मानव जीवन का सत्य है, उस सत्य का आधार लेकर जब आप उन व्यक्तियों की सेवा में लगते हैं, जिनसे आपका मोह का सम्बन्ध नहीं है; परमात्मा के नाते आपने उनको अपना माना, आत्मा के नाते आपने उनको अपना माना—इस प्रकार से जब सेवा के लिए आप चलते हैं, तब हृदय को परम पवित्र बनाने वाला है। राग का नाश करने वाला है। चित्त को शुद्ध करने वाला है। वासनाओं का अन्त करने वाला है, इतना अन्तर होता है।

अब व्याख्यान जो होता है उसमें एक दोष भी होता है कि सब प्रकार के साधक सुनते हैं, हर एक पर अलग-अलग प्रतिक्रिया होती है। बात तो मैं एक बोल रही हूँ, सुनने वाले अलग-अलग होते हैं। प्रतिक्रिया भी अलग-अलग होती है। कई बार मैंने ऐसा सुना देखा कि मोह के कारण से ग्रसित होकर के बिना जरूरत के भी परिवार में चिपके रहने वाले भाई बहन कभी-कभी कहने लग जाते हैं कि आप ही लोग तो सुनते हैं कि भाई, परिवार में रहकर परिवार की सेवा करो। तो हम कहते हैं कि भाई, हमेशा के लिए थोड़े ही कह रहे हैं। अब बहाने बनाओगे अपने लिए तो उसका तो कोई उपाय नहीं है। ऐसा तो नहीं कहा गया हमेशा के लिए उस मोह के घेरे में चिपके रहो। ऐसा कहा गया कि तुम्हारे में गृहस्थ बनने का राग था, तो प्रकृति के विधान ने, परमात्मा की मंगलकारिता से तुम्हें गृहस्थ बना दिया। तो पैदा किये हुए बच्चे, जिनको तुमने अपने बच्चे करके माना है, वे जब तक समर्थ नहीं होते हैं तब तक उनकी देखभाल करने के द्वारा अपने को राग

मुक्त करो। और वे जब समर्थ हो जायें तो उस मोह के घेरे में से अपने को निकाल लेना चाहिए और जिन दिनों में आपने गृहस्थ होकर, माता-पिता होकर बच्चों के पालन का दायित्व निभाया, उन दिनों में भी आपको सत्संगी होने की सलाह दी गयी थी। यह नहीं कहा गया था कि प्रकृति ने मौका दिया है, राग से मुक्त होने के लिये तो और नित नये राग में जमते जाओ—ऐसा नहीं कहा गया। ऐसा कहा गया है कि माँ-बाप बनते हो तो बच्चों के लिये माँ-बाप बनो और उनके हित हितकारी काम करो, उनकी सेवा करो, उनका पालन-पोषण करो, परन्तु उनको अपनी तृष्णाओं की खुराक मत बनाओ। इतने अच्छे माता-पिता बनो कि फिर से तुम्हारे सन्तान पैदा करने की नौबत न आवे। तब न जन्म-मरण का सिलसिला खत्म होगा। यह बात समझ में आती है? परिवार के साथ सम्बन्ध का निर्वाह इतने अच्छे ढंग से करिये कि फिर दुबारा घरबार बनाने की मुसीबत न आवे। अगर राग से मुक्त आप नहीं होगें, बच्चों के लिए माँ-बाप नहीं बनेंगे, अपने लिए बच्चों को मानेंगे तो बच्चे विकृत हो जायेंगे।

मैंने विकृत बच्चों को सुधारने का, च्तवइसमउ ब्ीपसकतमद को सँभालने का, वैज्ञानिक अध्ययन किया। उसमें बताया गया कि माँ-बाप अपनी आसक्ति के प्रभाव से बच्चों को विकृत बना देते हैं, क्योंकि वे उनको अपनी खुराक बना लेते हैं। माँ-बाप के भीतर आसक्ति गहरी होती है तो बच्चों के व्यक्तित्व में विकृति आती है। उनको स्वतन्त्र रूप से तुम बढ़ने ही नहीं दोगेऋ अपनी आसक्ति की खुराक बना लोगे? गृहस्थ बनना भी साधन का एक कदम है कि भोग का लाइसैंस है? जी? साधन का एक कदम है भाई! उस काल में भी सत्संग के प्रकाश में परिवार के लिए हितकारी काम करना चाहिए और परिवार के साथ अपनी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए और जैसे ही पैदा किये हुए बच्चे समर्थ हो जायें तत्काल ही उनसे लगाव तोड़कर प्रकृति के नाते, परमात्मा के नाते, बृहद् समाज की सेवा में प्रवेश कर जाना चाहिए। तब क्या होगा? आपके हृदय की उदारता बढ़ जाएगी, और आपके हृदय में करुणा का रस द्रवित हो जायगा, तो उससे भी एक सरसता आती है। भीतर से उदारता और करुणा का रस आ जायगा तो सुख-भोगकी वासना खत्म हो जायगी। तो दवा करनी पड़ेगी भाई, इलाज करना पड़ेगा—तब इस बीमारी से हम लोगों को मुक्ति मिलेगी।

केवल यह जानने मात्र से काम नहीं बनता है कि सुख-भोगकी वासना बड़ी खराब है, इसको छोड़ देना चाहिये। क्या जाने कितने जन्मों से शरीर की आसक्ति हो हमने पाला और उसके आधार पर सुख भोगना पसन्द किया। बीमारी तो बहुत पुरानी हो गयी है। अब केवल इस बात को जानने से काम नहीं बनेगा कि यह बीमारी बड़ी खराब है, और यह नित्य-योग में, तत्त्व-बोध में, परम-पे्रम में आगे नहीं बढ़ने दे रही है। इस बात की जानकारी मात्र से काम नहीं चलेगा। उस बीमारी को मिटाने के लिए आज जो कुछ हो सकता है सो सब करने से काम बनेगा। तो ऐसा है जीवन का विधान। बीमारी दूर नहीं होगी—ऐसी बात नहीं, हो जाएगीी जरूर—जिन-जिन लोगों ने पसन्द किया उन सब की बीमारी दूर हो गयी। तो दूर हो जायगी जरूर, लेकिन आवश्यक बात क्या है? कि अपने को फुसलाये नहीं, बहलाये नहीं, अपने को धोखा न दे। व्यक्तिगत सत्संग जरूर करें, अकेले में बैठकर सोच-विचार करते रहें। भीतर से जो वासनाएँ उपजती रहती हैं, चेतन स्तर

पर आती रहती हैं, इनको छिपाये नहीं, दबाये नहीं, उनको मिटाने का उपाय करें।

आपने सुना होगा, यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है और साधकों को इस बात का पता भी है कि सुख भोग की वासनाओं को जितना प्रश्रय दो, उतनी ही वे बढ़ती चली जाती हैं। जितना ही भोग का अवसर दो, तृष्णायें उतनी ही तीव्र होती चली जाती हैं। तो वो उपाय तो काम करेगा नहीं और अधिक-अधिक खुराक उसमें डालना नहीं है, इसलिए संयम-नियम की बात सामने आती है। वो भी रखना चाहिए। भीतर से नयी-नयी कामनायें पैदा होती रहती हैं, नयी-नयी इच्छायें उत्पन्ना होती रहती हैं तो उनका समर्थन भी हम लोगों को नहीं करना चाहिए और अपने को छूट भी नहीं देनी चाहिए। तो अपने को रोक करके भी रखें, संयम भी रखें और भीतर से उनका उदित होना खतम हो जाये, उसके लिए ज्ञान-पूर्वक, पे्रम-पूर्वक सेवा करनी चाहिए। किसकी सेवा करनी चाहिए? पहले तो उनकी कर लें जिनको तुमने शरीर के नाते अपना माना या पैदा किए बच्चे समर्थ हो गये, तो जल्दी से उनसे विदा लेकर, उनकी आसक्ति को छोड़कर प्रभु के नाते जगत् के दुःखी जनों की सेवा में लग जाओ। जब मोहरहित व्यक्तियों की सेवा में लगो, तब भीतर से शुद्धि आयेगी, पवित्रता आयेगी, तरलता आयेगी, सरसता आयेगी और वासनाओं से मुक्ति मिलेगी। यह उपाय है, और हम लोगों को आरम्भ भी कर देना चाहिए। ज्यादा दिन सोचते-विचारते रहने में पता नहीं कितना समय निकल जाय? फिर आगे कुछ पता नहीं है। इसलिए इसमें देर नहीं लगानी चाहिए तत्काल आरम्भ कर देना चाहिए जितना ही आप उसमें बढ़ते चले जायेंगे, उतना ही अधिक आपको साधना के पथ पर आगे सरलता मालूम होगी। और लक्ष्य पर दृष्टि रखने से उत्साह भी रहता है। विश्वास रखने से और अधिक बल मिलता है। तो नित्य जीवन में भी विश्वास रखना है; परमात्मा के अस्तित्व में भी विश्वास रखना है और सब ओर से हम लोगों को सहायता मिलेगी—इस बात को भी दिल में रखना है दृढ़ता पूर्वक। संत जनों की सद्भावना भी मिलेगी। प्रभु की कृपालुता भी मिलेगी और उस बल पर हम लोगों को साधना में आगे बढ़ने में सहायता भी मिलेगी। तो इन सब बातों पर, एक साथ अपने को दृढ़ता से आगे बढ़ना चाहिए। अब आप शान्त हो जाइये।

प्रवचन(97)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो! स्वामी जी महाराज ने तीन व्रतों का उल्लेख किया है। 1. सेवा करने के लिए सभी को अपना मानोऋ 2. अपने सुख के लिए किसी को अपना मत मानो। और 3. पे्रमी होने के लिए केवल प्रभु को अपना मानो। मानने का स्वभाव हम लोगों को का है। किसी न किसी को हम लोग अपना मानते ही हैं और किसी न किसी कारण से मानते हैं। बहुत सी वस्तुओं को अपना मानाऋ बहुत से व्यक्तियों को अपना माना और किसी के साथ कुछ किसी के साथ कुछ अपना सम्बन्ध रखा। मानना तो आता है हमें, स्वीकृति भी मनुष्य के जीवन में है ही, परन्तु भगवद् अनुरागी सन्त ऐसा बताते हैं कि विवेक विरोधी स्वीकृतियों को जीवन में रखने से अनेकों विकारों का जन्म हो जाताहै। संसार में ऐसा कोेई साथी नहीं मिलेगा जो हमेशा के लिए हमारा साथ दें सके और जिसका साथ हमेशा कि लिए प्रिय लग सके। इस लिए केवल पे्रमी होने के लिए प्रभु को अपना माननना—यह विश्वास का सबसे ऊँचा और सबसे बढ़िया उपयोग है। कुछ करने का बल

है तो सेवा करनी चाहिए। ऐसे ही विचार की शक्ति जो है मनुष्य में, उसका सर्वोत्तम उपयोग है, निज स्वरूप की खोज में। संसार के स्वरूप का परिचय लेना, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, जिसकी केवल प्रतीति हो रही है, उसके प्रभाव से अपने को मुक्त कर लेना—विचार शक्ति का सबसे बढ़िया उपयोग है। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को, केवल पे्रमी होने के लिए अपना मान लिया जाए। इसी आधार पर मानव सेवा संघ की प्रणाली में ऐसा कहा गया कि सत्संग में कोई भी भाई कोई भी बहन, पराधीन तथा असमर्थ नहीं है अर्थात् सत्य की स्वीकृति में कोई भी भाई-बहन पराधीन नहीं है। क्यों पराधीन नहीं है? क्यों कि इसमें बाहरी वस्तु व्यक्ति अवस्था, परिस्थिति की सहायता नहीं चाहिए। दो चार लोग सहायता करेंगे, तब हम सत्यको स्वीकार करेंगे, शरीर बड़ा बलिष्ठ होगा तब हम परमात्मा को मान पाएँगे, बहुत दिनों तक उपवास करेंगे तब परमात्मा को स्वीकार कर पाएँगे, ऐसी बात नहीं है। बड़ा पढ़ना लिखना करेंगे, बहुत अध्ययन होगा तब यह स्वीकृति बनेगी, ऐसा नहीं है। जो जीवन सबसे उत्तम है और जो सबके लिए समान रूप से अनिवार्य है, उनमें व्यक्ति को पराधीन नहीं बनाया गया। बड़ी स्वाधीनता है इस क्षेत्र में कि हेम चाहे कैसी भी स्थिति में हों, यदि स्वयं के द्वारा उस अलख, अगोचर, अविनाशी परमात्मा को अपना मानना पसन्द करें, तो कर सकते है। कोई मना नहीं कर सकता, कोई रोक नहीं सकता। इतनी स्वाधीनता है। और पे्रम-पन्थ का साधक होने के लिय यह ऐसा अनिवार्य तत्त्व है कि जो परमात्मा को अपना मानने के लिए तैयार नहीं है वह किसी विधि-विधान से भक्त नहीं हो सकेगा। दोनों ही बातें देख लो जो इस सत्य को स्वीकार करना पसन्द करेगा, उसको किसी भी प्रकार की शक्ति बाधा नहीं डाल सकती है। जिसे अपने द्वारा स्वीकार करना है, उसे हम कर सकते हैं लेकिन इस सत्य को अगर आप स्वीकार करना नहीं चाहते हैं तो किसी भी जप से तप से, क्रिया से विधि-विधान से आपके भीतर परमात्मा का पे्रम प्रकट हो जाय, यह सम्भव नहीं है। इसी को मौलिक सत्य कहते हैं इसी को सर्व मान्य सत्य कहते हैं इसी को आस्तिक दर्शन का सत्य कहते हैं। यह एक ऐसी चीज है कि जो स्वीकार कर ले, वह चाहे किसी विधि विधान को करे तो न करे तोऋ माने तो न माने तो बल हो तो न हो तो कुछ परवाह नहीं केवल इस सत्य की स्वीकृति मात्र से उसके जीवन में परिवर्तन आ जाता है। अहं में परिवर्तन आता है। अपने ही में विद्यमान अपने परम आत्मीय परमात्मा स्वयं ही प्रकट होकर उस साधक को विश्वास भी दिला देते हैं, शक्ति भी दे देेते हैं उसके दिए हुए पे्रम भाव का आदर पूर्वक स्वीकार भी कर लेते हैं और खुद अपना ही पे्रम उसमें भर के, उसे अपना पे्रम पात्र बना लेते हैं। यह सब होता है। तो एक तो इस बात पर मैं भाई बहनों का ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि बहुत से ईश्वर विश्वासी साधक, कई बातों में बाहरी विधि विधानों में फँसे रहते हैं. सोचते हैं कि इतनी संख्या में इतना काम पूरा हो जाएगा तो भगवान मिल जाएगे। कोई कुछ सोचते हैं, कोेई कुछ सोचते हैं। स्वामी जी महाराज कहते कि तुम यह सोचो कि नाम की संख्या का महत्त्व है कि नाम तुमको प्यारा लगे, इसका महत्त्व है? पे्रम स्वरूप परमात्मा से अभिन्नाता पे्रम तत्त्व के आधार पर होती है, न कि किसी क्रिया विशेष के आधार पर। जो भी नाम-निष्ठ सन्त हुए हैंऋ जिन्होंने प्रभु के नाम को ही आधार माना, उनमें भी शब्द और

क्रिया की महिमा नहीं थी। नाम के प्रति उनकी बड़ी गहरी निष्ठा थी। तो प्रधानता निष्ठा की हो गई, शब्द की नहीं हुई। नाम-निष्ठ बड़े बड़े सन्त हुए हैं उनके जीवन को आप देखेंगे तो पायेंगे कि उनमें क्रिया का महत्त्व नहीं था। नाम के प्रति उनकी ऐसी ही निष्ठा और ऐसी ही प्रियता थी जैसी नामी के प्रति होती है। उन्होंने उसको अपना इष्ट माना, उसको अपना साध्य माना और अपने सम्पूर्ण जीवन की सारी भावनाएँ उस नाम से ंजजंबी कर दी। उसी से उनको जोड़ दिया। मैंने जो मानव जीवन की व्याख्या की, तो पाया कि महत्ता इस बात की है कि मनुष्य की सारी जीवन-शक्ति एवं सम्पूर्ण भावनाएँ नाम के प्रति रूप के प्रति, लीला के प्रति, ध्यान-धाम के प्रति प्रभु की महिमा के प्रति लग गई, कि नहीं लग गई? इस बात की विशेषता है। ऐसा नहीं कि तन भी बना रहे, धन भी बना रहे, कुटुम्ब भी बना रहे, दुनियाँ में नाम, सम्मान, सुख-सुविधा सब बनी रहे और उसके साथ ही भक्त भी हो जाऊँ। जहाँ अन्य नाशवान वस्तुओं परिस्थितियों और व्यक्तियों का महत्त्व है, जहाँ अन्य नाशवान के प्रति खिंचाव और आकर्षण हैं, ऐसे व्यक्तित्व में वह परम पवित्र पे्रम प्रवाहित नहीं होता है। तो परिवर्तन प्रभु की ओर से नहीं होना है। वे सब समय, समान रूप से सभी में भीतर-बाहर विद्यमान हैं ही। ऐसा नहीं कि हमारे नाम लेने से वे बन जाऐंगे और नहीं लेने से बिगड़ जायेंगे, नाम लेने से सब सिद्ध होगा और नहीं लेने से नहीं होगा। सत्य उसको नहीं कहते हैं जो अपनी उपस्थिति के लिए किसी और की अपेक्षा रखता हो। वह तो स्वयं-सिद्ध होता है, स्वतः सिद्ध होता है। तो ऐसे जो परमात्मा है, वे हमारे विधि विधान से हमारे साधन से, हमारी श्रद्धा भक्ति से बन जाते हों और श्रद्धा खत्म हो जाए तो बिगड़ जाते हो ऐसी बात नहीं है। वे तो रहते ही है, हमेशा ही है। समान रूप से भीतर-बाहर सब तरफ विद्यमान ही है। तो मैंने सोचा कि अन्तर कहाँ आता है? इसके लिए मनुष्य के अहं रूपी अणु की बनावट पर थोड़ा सा विचार कर लीजिए। अहम् रूपी अणु मैं किसको कहती हूँ? कि हम सभी लोग एक ओर अपने अस्तित्व का अनुभव करते है। भीतर-बाहर अपने आपको हर समय भासित होता रहता है कि 'मैं हूँ' तो यह हाथ मैं नहीं हूँ। ये आँखें मैं नहीं हूँ। क्योंकि हाथ के कट जाने के बाद भी मैं हूँ और आँखों के खराब हो जाने के बाद भी मैं हूँ और पाँव कट जाने के बाद भी मैं हूँ। और मैं हूँ कहने के लिए वाणी काम न करें, जुबान बन्द हो जाए, तो भी मैं हँ। भीतर बाहर यह चेतना बनी रहती है कि 'मैं' हूँ। तो यह जिसके आधार पर हम लोग उसका अनुभव करते हैं यह हाड़ मांस का बना हुआ नहीं है, भौतिक तत्त्वों का बना हुआ नहीं है। जानने वाले जो ज्ञानीजन हैं, अनुभवी संतजन हैं वे कहते हे। कि इस मैं-पन की रचना जो हैं वह अलौकिक तत्त्व की है। शरीरों की रचना स्थूल सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर की जो रचना है, यह तो भौतिक तत्त्वों से हुई है और इस 'मैं' की रचना अलौकिक तत्त्व से हुई है इसलिए इसमें यह सामर्थ् है कि यह जब चाहे तब, जब पसन्द करें तब उस अलौकिक तत्त्व की सत्ता को स्वीकार कर सकता है उस अलौकिक तत्त्व के आनन्द को, सातत्य को, उसके अविनाशी स्वरूप को अपने में प्रकट हुआ अनुभव कर सकता है। ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसा इसलिए हो सकता है कि यह 'मैं' स्वयं ही अलौकिक तत्त्वों से बना हुआ है। इसी आधार पर जो सिद्धान्त वाक्य है, वह ऐसा है कि भाई! इस 'मैं' का नाश नहीं होता है। यह अविनाशी तत्त्व से बना हुआ मैं-पन भी अविनाशी ही है। अविनाशी होते

हुए भी नाशवान शरीरों के साथ मिला लिया, तो मृत्यु का भय सिर पर चढ़ गया और बनने बिगड़ने वाले संसार की ओर आक£षत हो गया तो आसक्ति के विकार में फँस गया। शरीरों की खातिर धन की महिमा को स्वीकार कर लिया तो लोभ के विकार में फँस गया। तो कहीं लोभ का भार ढो रहा है, कहीं मोह का भार ढो रहा है। अविनाशी होने पर भी अविनाशी की आनन्दमय अनुभूतियों से वंचित होकर नाशवान के साथ अपने को मिलाकर, नाश के भय से भयभीत होकर जी रहा है। अपने पर यह दशा लागू हो रही है कि नहीं? कि नहीं हो रही है अब इसमें से निकलना अपने को अभीष्ट है और उसी के लिए हम लोग यहाँ आकर बैठे हैं तो अब कैसे इस दशा से निकले? बढ़ी बढ़िया बात है मनुष्य के अहं रूपी अणु की रचना में कि अपने सम्बन्ध में वह जिस स्वीकृति को स्वीकार कर लेना है उसी के साथ वह अपने को मिला देता है। उसी से उसका तादात्मय हो जाता है। तो अन्तर क्या हुआ? अन्तर इतना हुआ कि चूँकि वह अविनाशी तत्त्व से बना हुआ, इसलिए जब वह अपने को नाशवान शरीर और संसार से मिला कर, इनका सुख लेना पसन्द करता है तो इसकी-उसकी जातीयता तो है नहीं, अतः चाहता तो है मिलाकर रखना, पसन्द तो करता है इनके साथ मिलकर रहना, लेकिन दोनों का मेल कभी बैठता नहीं है। तब क्या होता है? बहुत प्रकार की अनुकूलता के बीच में वह भीतर-भीतर अस्थिरता सी अनुभव करता रहता है। उसको नदमेंल सा लगता रहता है। कुछ और चाहिए, कुछ और चाहिए। सब प्रकार की बाहरी अनुकूलता में भी व्यक्ति को सन्तुष्टि नहीं मालूम होती है। समझदार आदमी थोड़े में समझ जाता है कि भाई! मेरा घर यह नहीं है। मेरे नाते रिश्ते कुटुम्बी ये नहीं है इनके बीच में रह करके सन्तुष्टि नहीं हो सकती। इसका अर्थ क्या है कि आपका मैं-पन बना है कितने भी दिन सुनी, सुनते सुनते सुनने की शक्ति भी खत्म हो जाती है और सुने हुए वाक्य का अनुसरण न करो, तो कल्याण नहीं होता है। ऐसा हम लोगों को होने नहीं देना चाहिए। सुनने की शक्ति के रहते-रहते सुनना खत्म करो। बोलने की शक्ति के रहते रहते बोलना खत्म करो। तो सुनने का जो राग है वह भी मिट जाएगा और बोलने का जो राग है, वह भी मिट जाएगा। इस सुनने और बोलने में थोड़ा अच्छा लगता रहता है। इससे बहुत अच्छा इससे बहुत ऊँचा जीवन है न सुनने में न बोलने में। वहा कहाँ है? वह सत्य की स्वीकृति में है। वह सत्य कौन सा है? ईश्वरवाद की दृष्टि से, प्रभु की आत्मीयता है। उनके साथ जिसने आत्मीयता स्वीकार कर ली, उसके अहं में एक प्रकार का परिवर्तन होता है। और सवतः होता है। तो असत् को जब हम लोग स्वीकार करते हैं कि ये मेरे भाई, ये मेरे बेटा बेटी, ये मेरे कुटुम्बी, ये मेरी सम्पत्ति तो इससे विकारों की उत्पत्ति होती है, लेकिन अहं के भीतर जो सत्य है, उसका नाश नहीं होता। और जब नित्य विद्यमान परमात्मा की आत्मीयता स्वीकार कर लेते हैं तो मेरे गिरधर गोपाल, दूसरों न कोई' जैसे मीरा जी ने स्वीकार कर लियाऋ तो अपने द्वारा जब उस नित्य विद्यमान आत्मीय की आत्मीयता को स्वीकार कर लेते हैं तो विकारों का नाश हो जाता है। और आत्मीय जो है उसके प्रभाव से उस अहं में से ही, बीज रूप में जो प्रेम-तत्त्व विद्यमान है, वह प्रकट हो जाता है। तो नाशवान को अपना मानने से भी नाशवान के साथ अभिन्नता नहीं होती और अविनाशी को अपना मान लेने से नाशवान के विकार नष्ट हो जाते हैं पकड़ में आती है यह बात?

तो अब इस ढंग से हम लोगों को चलना चाहिए। जल्दी करनी चाहिए। क्या जाने कब क्या हो जाए, कुछ पता नहीं है। तो तीन चार बातें हैं जिन्होंने आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक, गुरु की वाणी में श्रद्धा करके, वेद पुराण, गीता, रामायण, कुरान, बाईबिल की वाणी में श्रद्धा करके परमात्मा को अपना कहकर स्वीकार कर लिया, उस स्वीकृति से उनका अहं बदलता है। और अहं बदलता है, तो सारे के सारे करण स्वतः ही बदल जाते हैं। तो पहले हमको अपनी स्वीकृति बदल देनी चाहिए। विश्वास का बड़ा भारी फल मैंने सुना है सन्त की वाणी में। स्वामी जी महाराज ने कहा कि जो जीवन का सत्य है, उसमें अगर विश्वास करो तो उस सत्य में विश्वास करने का जो फल है, वह ज्ञान के समान ही फलदायक होता है। अर्थात् जिस नित्य तत्त्व में हम विश्वास करते हैं, वह नित्य तत्त्व हमारे लिए ज्ञान से प्रमाणित होने के समान ही प्रत्यक्ष हो जाता है। भक्तों के जीवन में वह सत्य ऐसा ही प्रत्यक्ष हुआ है। उस ओर बड़ी कोमलता और बड़ा आकर्षण है। परमात्मा को हम सब लोग सहज ही बहुत प्यारे हैं, और हर प्रकार से हमारी की हुई भूलों को क्षमा करने का उनका सहज स्वभाव है। हर तरह से हमारी की हुई भूलों को वे क्षमा करते रहते हैं। वे प्रभु हमारा वर्तमान ही देखते हैं, हमारा भूतकाल वे देखते ही नहीं हैं। कितने ही दिनों का भूला भटका अपना बच्चा हो, कितना ही माता-पिता का विरोधी बन करके लड़ता झगड़ता रहा हो, भटक गया हो विमुख हो गया हो लेकिन कितने ही वर्षों के बाद अगर वह प्रेम से प्रेरित होकर आए और कहे कि मुझसे भूल हो गई थीऋ मुझे ध्यान नहीं रहा था और अब तो मैं ऐसा नहीं करूँगाऋ अब तो मुझे आपका प्यार चाहिए, आपकी गोद चाहिए, तो माता-पिता कितने खुश हो जाते हैं कितने आनन्दित हो जाते हैं। जब सांसारिक माता-पिता अपने-पन के नाते, अपने बच्चे की सब भूलों को क्षमा करने के लिए तैयार रहते हैं, तो वे क्षमाशील, क्षमा सिन्धु अनन्त परमात्मा, हमारी भूलों का हिसाब रखेंगे? नहीं रखेंगे। अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं जहाँ उन्होंने शरण में आए हुए की भूतकाल की सब भूलों को क्षमा किया है। वे हमारी भूल को ही मिटा देते हैं और भूतकाल में की हुई भूलों के परिणाम को भी मिटा देते हैं इतनी सामर्थ् और किसी में नहीं है। वे निर्दोष भी बना देते हैं, वर्तमान में और भूतकाल में की हुई भूलों के परिणाम को भी क्षमा कर देते हैं। वे ऐसा करते हैं और हमारी भूतकाल की भूलों को नहीं देखते। आवश्यकता क्या हैं? एक बार साहस करके सम्पूर्ण हृदय की भावना के साथ उनकी आत्मीयता को हम लोग मान ले। फिर नाम लेते हैं कि नहीं, माला जपते हैं, कि नहीं, पूजा करते हैं कि नहीं, यह अपनी-अपनी रुचि, बनावट, परिस्थिति की बात हो जाती है। अगर भीतर में आपने उनके नित्य सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया, तो बाहर से जो भी विधि-विधान आप करेंगे, सब सजीव हो जाएगा। सब सजीव हो जाता है। पुष्प का अर्पण करना सजीव हो जाता है; माला अपना भी सजीव हो जाता है। भोग लगाना भी सजीव हो जाता है साकार निराकार उपासना के जितने भी विधि-विधान हैं, सब सजीव हो उठते हैं सबके द्वारा सहयोग मिलने लग जाता है और साधक की हर साधन-क्रिया में उसके हृदय का प्रेम-भाव समा जाता है। परमात्मा को बहुत अच्छा लगता है; बड़ा प्रिय लगता है। उनमें उन्हें बहुज मजा आता है। तो जो असली बात है, वही अपने को पकड़ना है। जब तक शरीर का सहारा रहेगा, तब तक कुछ न कुछ तो करेंगे ही हम लोगा। तो मैं समझती हूँ

कि इस हाड़ मांस के शरीर को रखने के लिए एक कमरे में हम झाड़ू लगाते हैं, सफाई करते हैं। यदि प्रभु का प्रतीक बनाकर मन्दिर में बैठाया, तो उस मन्दिर का आप काम क्यों नहीं करोगे। अगर एक शरीर, जो बात-बात में गन्दा हो रहा है, उसकी गन्दगी की सफाई करने के लिए विविध प्रकार से स्नान कराते हो सुगन्धित वस्तुओं को प्रयोग करते हो, तो अपने प्यारे का जो विग्रह बैठा रखा है, तो उनको स्नान क्यों नहीं कराओगे? सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग क्यों नहीं करोगे? इस प्रकार जितनी प्रतीकात्मक बातें हैं वे सब सार्थक हो जाती हैं। कब? जब परमात्मा को अपना माने तब। थोड़े दिन पहले की बात है, शाहबाद जिले के एक गाँव की घटना है। वहाँ पर एक परमात्मा के प्रेमी गृहस्थी पुजारी रहते थे। पूजा करते थे। करते-करते उनकी वृद्धावस्था आ गई। मन्दिर में भगवान राम, माता जानकी जी और भैया लखन लाल का विग्रह पहले से स्थापित था। तीनों खड़ी मूर्तियों की वे बाबा पूजा किया करते थे उन्हें वे अपना बालक मानते थे। तो बालकों की सेवा करने में बाप को बड़ा मजा आता है, वे भी खूब प्रेम से सेवा करते। वे केवल नौकरी करने के हिसाब से कार्य नहीं करते थे। उनकी जिन्दगी, उन मूर्तियों की पूजा में ही व्यतीत हुई। अब वे बूढ़े हो गए, कमर में दर्द रहने लगा, रीढ़ की हड्डी झुक गई। एक दिन स्वप्न में उनसे लाला ने कहा कि बाबा! तू बूढ़ा हो गया है। तेरे को सेवा करने में कष्ट होने लगा, कमर में दर्द रहने लगा है तो अब तू पूजा छोड़ दे। तो भक्त की जब प्रियता बढ़ जाती है। मेल जोल जब बढ़ जाता है तब शिष्टाचार की बातचीत खत्म हो जाती है। एकता हो जाती है। तो बूढ़ा कड़ककर बोला भला यह कैसे हो सकता है? शरीर के रहते-रहते मैं तेरी सेवा कैसे छोड़ दूँगा।' अब लाला सोचने लगे कि कुछ और कहना चाहिए। तो उन्होंने कहा कि अच्छा बाबा! तू नहीं छोड़ेगा, तो बैठकर किया कर। वे बोले, बड़ा अच्छा सिखा रहे हो लाला! तू खड़ा रहेगा और मैं बैठ जाऊँगा, यह नहीं होगा।' अच्छी बात! स्वप्न खत्म हो गया। निद्रा पूरी हो गई। रात बीत गई दूसरे दिन सबेरे, जब बूढ़ा बाबा सामान लेर मन्दिर में पूजा करने आया तो उसके परम प्रेमी लाला, दोनों मूर्तियों सहित पालथी मार कर बैठे हुए मिले। उनको बैठने में देर क्या लगती है। बूढ़े बाबा की कमर में दर्द हो, और लाला सह लें। सह नहीं सकते। सह नहीं सकते। बाबा कष्ट पाए और लाला सेवा लें, यह सम्भव नहीं है। बात पूरी हो गई। अब शांत हो जाइये।

प्रवचन(98)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग जीवन को सफल बनाने का उपाय सोच रहे हैं। इसमें अपने पास दो तरह की बातें मालूम होती हैं एक तो शरीर के द्वारा किया जाने वाला सर्व हितकारी कर्म और दूसरा शरीर और संसार से असंग होकर अपने में ही नित्य प्राप्त दिव्य जीवन का साक्षात्तकार, तत्त्व का बोध, भगवद् मिलन जो भी कहें। इस सम्बन्ध में मानव सेवा संघ की एक सलाह है। कल संध्या समय हम जैसा विचार कर रहे थे कि शरीर के माध्यम से भोग करना भी गलत होता है और योग भी सिद्ध नहीं होता। भोग का परिणाम रोग, शोक, अभाव और मृत्यु है और शरीर के माध्यम से नित्य जीवन और नित्य योग सम्भव नहीं है। एक ही क्षेत्र है, जिसमें शरीर का उपयोग हो सकता है और वह है, संसार की सेवा। इतनी चर्चा कल संध्या समय की बैठक में हो चुकी थी।

आज एकादशी की तिथि है और हम लोगों ने महाराज जी की सलाह के अनुसार यह निश्चय किया है कि प्रत्येक एकादशी को, स्वामी जी महाराज की पुण्य स्मृति के रूप में ही इसे मनाया जाए। महाराज जी की पुण्य स्मृति कैसे मनाआगे? सत्संग करना है-यह प्रोग्राम रखा है। इसमें एक विशेष बात आपकी सेवा में निवेदन करने की यह है कि दर्शन, विज्ञान और आस्तिकता के अनुभव-सिद्ध सत्य को जानने वाले सन्त ने, हम लोगों को यह सलाह दी कि देखो भाई! शरीर से जो भी कुछ करोगे, वह शरीरों के ही काम आएगा, तुम्हारे काम नहीं आएगा। ऐसी बात अपने इस ढंग से कभी नहीं सुनी होगी। शरीरों के द्वारा जो भी कुछ करोगे, उसका जो फल बनेगा, वह भौतिक जगत् की सीमा के भीतर ही रहेगा। आप कहेंगे कि ऐसा कैसे? हम तो व्रत करेंगे, उपवास करेंगे, तीर्थ करेंगे, यह सब परमार्थ हो जाएगा। नहीं इससे नहीं हो जाएगा। इन सबके परिणाम स्वरूप एक बात हम कर सकते हैं। शरीर और संसार पर विचार करें, तो यह शुद्ध वैज्ञानिक क्षेत्र की बात है। शरीर और संसार को अविछिन्न सम्बन्ध है प्रायः आप देहात में भी गँवार लोगों को कहते हुए सुनते हैं कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है। क्या मतलब? जिस पिण्ड से शरीर की रचना होती है, उस पिण्ड में जो तत्त्व हैं, वे ही ब्रह्माण्ड में है। अर्थात् यह सारा ब्रह्माण्ड और हमारा आपको छोटा सा साढ़े तीन हाथ का शरीर, इन दोनों की जातीय एकता है। एक ही धातु से अर्थात् जिन पांचभौतिक तत्त्वों से ब्रह्माण्ड बनता है, उन्हीं से यह शरीर बना है। तो शरीर और ब्रह्माण्ड की जातीय एकता है।

कुछ अणु परमाणुओं का संगठन होकर किसी वस्तु का निर्माण होता है। और अणु परमाणुओं के संगठन का विघटन हो जाने पर, उसका नाश होता है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। शरीर, जिस समय हम लोगों को जीवित दिखाई देता है, उस एक बार की देखी हुई शक्ल को हम बहुत दिनों तक पहचानते भी रहते हैं फिर भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, एक क्षण पहले का देखा हुआ शरीर, दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहता। उसके भीतर बहुत परिवर्तन हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति होती है और जिसमें परिवर्तन होता हो, जिसकी क्षति होती हो और जिसका अदर्शन होता हो, उसे ही सृष्टि कहते हैं। उसको भौतिक तत्त्वों से निर्मित संसार कहते हैं। यह लक्षण शरीर पर घटित होते हैं कि नहीं? बन जाना, बदल जाना, क्षय होना, मिट जाना अदृश्य हो जाना। अब आप सोच करके देखिए कि जिस शरीर का सृष्टि के साथ इतना घना सम्बन्ध है, उसे आप सृष्टि के बाहर ले ही नहीं जा सकते। आप कहियेगा कि कोलाहन पूर्ण समाज को छोड़ कर हम एकान्त में चले जाएँगे वह एकान्त में भी संसार में ही तो होगा। कहेंगे कि हम कुटिया नहीं बनाएँगे, हिमालय की गुफा में घुस जाएँगे, तो हिमालय की गुफा, जहाँ आप शरीर को ले जाएँगे वह भी तो संसार ही होगा। हिमालय की गुफा क्या संसार के बाहर है।

जिस शरीर का इस संसार के साथ इतना घना सम्बन्ध है, उस शरीर को अपना मानना उस पर अपना अधिकार जताना और अपने व्यक्तिगत सुख के लिए उसका उपयोग करना बेईमानी है कि ईमानदारी है? जी? बेईमानी है। बहुत साफ है। अच्छा यह बताएँ कि यह साधन है या असाधन है। शरीर को अपना मानना बेईमानी है। शरीर का उपयोग अपने सुख के लिए करना या व्यक्तिगत सुख के लिए करना, असाधन है। अब यही भूल हो जाती है, पहले ही कदम में गलती हो गई। जितना

भी जप करो, तप करो, ध्यान करो, कुछ भी करो, यह असाधन कैसे मिटेगा? इसका परिणाम कैसे जाएगा? यह बेईमानी जब तक जीवन से निकलेगी नहीं, जो शरीर शत-प्रतिशत संसार का है, उस पर से हम यदि अधिकार उठाएँक्र उसको अपने व्यक्तिगत सुख के लिए काम में लाएँ, तो इस असाधन के रहते हुए, कौन सा साधन है जो हमकोे शरीर और संसार से असंग करा देगा? कोई उपाय नहीं है।

तो मानव सेवा संघ ने इस असाधन की जड़ काटने की सलाह हम लोगों को दी। सबसे पहली बात क्या करो? शरीर को अपना मानना छोड़ दो। तो किसका मानो? भौतिकवादी हो तो जगत् का मान लो। सारे शरीर जिसके हैं, उसका ही यह भी एक है। ईश्वर विश्वसी हो, तो इसे प्रभु का मान लो। जिसने सब शरीरों को बनाया, उसने इसको भी बनाया। इतना तो हम जानते ही हैं कि मेरा बनाया हुआ नहीं है। तो किसका है? इस दार्शनिक झगड़े की जरूरत नहीं है। आपकी मर्जी है, जिसका जँचे उसका मान लीजिए, लेकिन एक सत्य सभी को मानना पड़ेगा कि यह अपना नहीं है। जो चीज अपनी नहीं होती, उसका दुरुपयोग करने का अधिकार भी नहीं होता है। उसको बिगाड़ने का भी अधिकार नहीं होता है। जिसका है, उसी के काम में लगा देने का नाम साधन है।

भौतिकवाद की दृष्टि से, शरीर संसार का है, इसलिए इसे संसार की सेवामें लगा दो तो साधन बन गया। ईश्वरवाद की दृष्टि से यदि शरीर प्रभु का है, तो उन्हीं की पूजा के रूप में, उनकी सृष्टि की सेवा में लगा दो, तो यह साधन हो गया। किसी भी प्रकार से यह शरीर अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, और इस शरीर से किया हुआ कार्य संसार की सीमा के भीतर ही रहता है, उसके पार नहीं जा सकता। इसलिए शरीर की सहायता से योग नहीं होता, शरीर की सहायता से बोध नहीं होता, शरीर की सहायता से भगवद् भक्ति नहीं होती। अब आप कहेंगे कि हम लोगों ने तो अष्टांग योग की बड़ी महिमा सुनी है। ठीक है। जिन मनीषियों ने आरम्भ कराया, जिस योग की विधि में पातअजंलि मह£ष को प्रामाणिक माना जाता है, उन्होंने केवल शरीर के व्यायाम को ही योग नहीं कहा है। आरम्भ ही किया था शम, दम, आदि से, जो शरीर धर्म से ऊपर है। आरम्भ ही वहाँ से होता है। उसमें इसे एक अंग माना गया। जब सारा व्यक्तित्व ही एक है और उस व्यक्तित्व के जो भौतिक तत्त्व है, उनको सम्पूर्ण व्यक्तित्व से विच्छिन्न भी किया जा सकता है, इसलिए कुछ हद तक उसकी चर्चा भी है।

स्थूल शरीर के बाद, आप सूक्ष्म शरीर के स्तर पर आ जाइए। सूक्ष्म शरीर के स्तर पर, यौगिक क्रियाओं के फलस्वरूप, जब मन की शक्ति बढ़ती है, तो वह मन की शक्ति भी आपको सूक्ष्म जगत् की सीमा में ही रखती है। अलौकिक तत्त्व से नहीं मिलाती है। यह बात बहुत कम लोग पकड़ पाते हैं। सूक्ष्म शक्तियों का जब विकास होने लगता है सूक्ष्म शक्तियों के माध्यम से, तो उससे जो उपलब्धियाँ होती हैं, वे भी साधक को सूक्ष्म जगत् की सीमा में ही विचरण कराती हैं, मन की गति सूक्ष्म हो जाय, तो बैठे बैठे दूर गमन की शक्ति आ जाती है। दूसरों के मन की बात जान लेने की शक्ति आ जाती है। संकल्प से जैसी वस्तु चाहिए, वैसी मनचाही वस्तु को वर्तमान में उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। यह जो सूक्ष्म शरीर की शक्ति है, यह भी साधक को सूक्ष्म जगत् के भीतर ही रखती है। जैसे स्थूल शरीर है, वैसे स्थूल

जगत् है जैसे सूक्ष्म शरीर है, वैसे सूक्ष्म जगत् है। जैसे कारण शरीर है, वैसे कारण जगत् है। शरीर के माध्यम से किया हुआ अभ्यास, भौतिक शक्तियों की वृद्धि करा देता है, लेकिन उस उपलब्धि को लेकर के अगर कोई साधक अपने को योगी मान ले तो वह धोखे में रहेगा। उसकी प्राप्त की हुई शक्ति लोक रंजन में खर्च होकर, उसे जहाँ का तहाँ छोड़ देगी।

एक समय मैं महाराज जी से बात कर रही थी और वे सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध में समझा रहे थे। 'मूक सत्संग और नित्य योग' पर ग्रन्थ लिखा जा रहा था। वे कहने लगे कि देवकी जी! यह भौतिक जगत् की सीमा, कोई थोड़ी नहीं है। मामूली नहीं है। तुम्हारे देखने सुनने में जितना आता है, उतना ही नहीं है। यह जो स्थूल जगत् तुमको थोड़ा सा दिखाई देता है, इसका जितना विस्तार है, उतना तुम देख नहीं पाती हो। उससे भी अधिक विस्तार, सूक्ष्म जगत् का है और उससे भी अधिक विस्तार कारण जगत् का है। यह शरीरों के माध्यम से अभ्यास के आधार पर प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ भी कुछ कम चमत्कारपूर्ण और कुछ कम विस्तृत नहीं है। इनमें विचरण करने वाले भी, बहुत दिनों तक इस भौतिक सीमा में ही, खोए-खोए रह जाते हैं। तो क्या किया जाए? शरीर और संसार के स्वरूप पर विचार करके, शरीर के द्वारा अलौकिक तत्त्व की अभिव्यक्ति की आशा न की जाए। एक बात यह हुई।

अपने किसी बड़े अच्छे मित्र संत के जीवन की एक घटना महाराज जी ने सुनाई और कहा कि उन्होंने यह सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि जब चाहें तब काया बदल सकते थे। यह कल्पना नहीं है। हम लोगों को भुलावे में डालने की यह चर्चा नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है। काया-परिवर्तन की सिद्धि उन्होंने प्राप्त कर ली। तो महाराज जी से जब बातचीत हुई तो उन्होंने कहा कि महाराज जी! मैंने सात बार काया बदल लिया है हुआ न चमत्कार? जब सिद्धि मुट्ठी में आयी, कौतुहल हुआ। बड़ा मजा आया। शमशान में कोई नया शरीर, मृतक होकर आ गया, पच्चीस तीस वर्ष का हृष्ट पुष्ट रूपवान और किसी प्रकार से उसका प्राणान्त हो गया है, तो ऐसा शरीर जब उनको दिखे, तो वह पुराना वाला छोड कर उस नए में प्रवेश कर जाएँ। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि अच्छा यार! यह बताओ कि तुम्हारे आन्तरिक जीवन में क्या परिवर्तन हुआ? सन्त सच्चे होते हैं, तो उन्होंने कहा कि 'महाराज! केवल कौतुहल शान्त हुआ। और कुछ नहीं हुआ। एक सिद्धि प्राप्त करने से भीतर में बड़ा कौतुहल हुआ कि देखो काया-पलट से कैसा लगता है? इस सिद्धि से उन्होंने सात बार काम किया। काया बदल डाली। इतना करने के बाद तो लोग उन्हें बहुत पूजते होंगे। महा सिद्ध पुरुष वे कहलाते होंगे। लेकिन, जब अपने अन्तरंग मित्र से बात करने का अवसर मिला, तो स्वामी जी महाराज के पूछने पर, उन्होंने उत्तर दिया, कि कौतुहल शान्त हुआ और कुछ नहीं हुआ। यह उदाहरण अपने लोगों के सामने रखकर, मैं सन्त की वाणी का समर्थन करना चाहती हूँ, स्पष्ट करना चाहती हूँ कि शरीरों के माध्यम से प्राप्त की हुई उपलब्धि स्थूल, सूक्ष्म, कारण, भौतिक जगत् की सीमा के भीतर ही काम आती है। उसके बाहर नहीं जाती है।

तब क्या करें? अगर इतनी उपलब्धि करने के बाद भी, इसकी निरर्थकता को जान करके इसको छोड़ना ही है, तो इस भौतिक उपलब्धि के पीछे पड़ो क्यों? जब छोड़ना ही है उसके आकर्षण को तोड़ना ही है, इससे असंग

होकर अलौकिक जीवन में प्रवेश पाना ही है, तो उसके पीछे पड़ें क्यों? स्वादिष्ट वस्तुओं को खाने के सुख की तरह यह भी एक सुख ही है। एक शरीर पुराना पड़ गया है, दुबला पतला हो रहा है तो काया पलट लेने का सुख भी तो एक सुख ही रहा? वह भी अनन्त तो नहीं हुआ। उससे भी योगी तो नहीं हुए, रहे तो भोगी ही। यह बताया महाराज जी ने।

इसलिए मानव-सेवा-संघ का बड़ा विनम्र निवेदन है, आग्रह बिल्कुल नहीं है। जोर एकदम नहीं डाला जाता है, बड़ी नम्रता से यह निवेदन किया जाता है कि भौतिक विज्ञान के आधार पर जीवन की वैज्ञानिकता का अनुसरण करना हो और उस सीमा से ऊपर उठना हो, तो उसमें से यदि यह बात आपको जँच जाए तो आप इस सत्य को स्वीकार करिए कि शरीर के द्वारा भोग करने से रोग, शोक, अभाव और मृत्यु मिलेगी। शरीर के माध्यम से योगवित् होने की चेष्टा करने में बहुत सा समय बर्बाद होगा। महाराज जी साधक को कभी भी उलझन में डालना नहीं चाहते थे। वे कह देते थे कि 'देखो भाई अगर यह बात तुम्हें अच्छी लगे, तो मान लेना। मान लोगे तो तुम्हारा उपकार हो जाएगा। मैं निर्भय कर देता हूँ तुम्हें कि इस बात को नहीं मानोगे, तो तुमको कोई घाटा नहीं लगेगा। इससे मत डरना कि सन्त की वाणी थी, मैंने सुन लिया और नहीं माना, तो कुछ नया पाप बन गया, सो नहीं बनेगा।

करना क्या है? शरीर भौतिक जगत् का तत्त्व है, नाशवान है। तो इस नाशवान शरीर को साथ लेकर, अविनाशी साम्राज्य में प्रवेश नहीं होगा। यह जानकर इस नाशवान शरीर के माध्यम से दिखाई देने वाली सृष्टि के कुछ काम आ जाएँ तो बड़ी सुविधा रहती है। इसीलिए महाराज जी ने किसी किसी के कहने पर भी, अपने निकट के साधकों को वस्त्र रँगने की सलाह नहीं दी। इसका अर्थ यह नहीं है कि सन्यास का उनके जीवन में महत्त्व नहीं था। वे तो स्वयं सन्यासी थे। महत्त्व तो था, लेकिन हम लोगों की तैयारी देख कर उन्होंने यह सलाह दी कि यदि सन्यास दे दिया जाए, तो जिन छोटी-छोटी सेवाओं के द्वारा तुम्हारे राग की निवृत्ति सम्भव है, जिन छोटी छोटी सेवाओं के द्वारा तुम्हारा शरीर विश्व के काम आ सकता है, जिन छोटी-छोटी सेवाओं के द्वारा तुम्हारे में जो गुणों का अभिमान है, वह गल सकता है, उन सेवाओं के करने में बड़ी कठिनाई हो जाएगी।

सन्यास की एक मान्यता है, एक स्वीकृति है। इसको स्वीकार कर लेने पर, इसी मर्यादा के अनुसार चलना पड़ेगा। वेश धारण करने का एक महत्त्व होता है। उसकी एक मर्यादा होती है। उसकी तैयारी से पहले, उसका धारण करना ठीक नहीं होगा। इसलिए उन्होंने यह सलाह दी। किसी किसी ने कहा कि स्वामी जी महाराज आपने देवकी जी को सन्यास क्यों नहीं दिया? बहुत तरह के उत्तर देते थे, महाराज जी। कभी कह देते कि इन लोगों को हमने सन्यास का व्रत दिला दिया है। कभी कह देते थे, ये तो अलिंग सन्यासी है बिना वेश के। कभी कुछ, कभी कुछऋ इस तरह की बातें कह दिया करते थे। इसका अर्थ क्या है? कि शरीर का जो रोग है, उसकी निवृत्ति के लिए ज्ञान के प्रकाश में इससे सम्बन्ध-विच्छेद करो। भाव के आधार पर अपने सहित यह सब कुछ भगवत् समर्पित कर दो और कर्म के आधार पर इसके द्वारा जगत् की सेवा करो। तो क्या होगा? कि शरीर संसार के काम आ जाएगा और जब इससे अपना सम्बन्ध टूटेगा, जब इसकी आसक्ति मिटेगी, इसका राग मिटेगा, तब शान्ति काल में

इससे तादात्म्य तोड़ कर, नित्य अविनाशी जीवन से नित्य योग के हम अधिकारी हो पाएँगे। तो जिससे सम्बन्ध तोड़ना है, उसी के स्तर पर अटके रहना, योग की बड़ी भारी बाधा है।

आप पूछेंगे कि सामूहिक प्रार्थना का क्या फल है? सामूहिक कीर्तन भजन का क्या फल है? तीर्थ-यात्रा और स्नान का क्या फल है तो वह भी मैं बताती हूँ। महाराज जी ने हम लोगों को सिखाया और कहा कि देखो! साधक में इस प्रकार के संकल्प भी होते हैं कि जिस शरीर के माध्यम से हजार प्रकार के काम किए, साधक होने के बाद भी, रह रहकर जी में उठता है कि अब क्या करें? अब क्या करें? जैसे आप बार-बार पूछ रहे थे कि यह तो हमदमतंस हो गया च्तजपबनसंत रूप से क्या करूँ? बिल्कुल स्वाभाविक बात है। न जाने कितने जन्म, हम लोगों ने शरीर के माध्यम से कार्य करते हुए बिता दिए। हजार प्रकार के कार्य किए। साधक की सूची में नाम लिखा देने के बाद भी साधक के मन में रह-रह यही उठता है, कि अब साधन के रूप में क्या करूँ? जाने हुए असत् को अस्वीकार करूँ यह तो एक सैकण्ड में हो गया। यह तो हमदमतंस बात हो गई। शरीर तुम्हारा नहीं है; उसको अपने लिए मत मानो, यह हमदमतंस बात हो गई, डंेे रूप में यह सभी के लिए हो गई। अब हमको कुछ करने के लिए बताओ मैं क्या करूँ? ऐसा साधक बार-बार पूछते थे।

महाराज जी ने यह कहा कि देखो! शरीर को लेकर जब किसी प्रकार के साधन में सम्मिलित होऋ जैसे कि एकान्त में ध्यान करना, इष्ट का नाम जपना, व्रत उपवास करना, तीर्थ करना इत्यादि और शरीर के माध्यम से यदि कोई भी साधन करने चलो तो अपने इष्ट को याद करके यह प्रार्थना कर लो कि 'हे प्रभु! इस शरीर के द्वारा जो भी कुछ साधन मुझसे बन पड़े उसका फल सारे संसार के लिए कल्याणकारी हो जाए। जैसे कमाए हुए धन को अगर केवल अपने लिए रखो तो चित्त शुद्ध नहीं होता है। की हुई सेवा के फल में सम्मान का भोग करने लगो तो चित्त शुद्ध नहीं होता। अतः कहा जाता है कि भाई! सेवा करो, परन्तु उसका अभिमान मत रखो। सेवा करोगे तो उसके बदले संसार तो सम्मान देगा ही, क्योंकि संसार भी तो प्रभु का ही प्रतिरूप है। प्रभु किसी के द्धणी नहीं रहते हैं और संसार भी यह जानता है कि हम लोग सम्मान के भूखे प्यारे हैंऋ शर्माना नहीं चाहिए अपना नंगा चित्र खोलकर रखेंगे नहीं तो साधक किस काम के?

संसार इस बात को जानता है, अन्तर्यामी प्रभु इस बात को जानते हैं कि थोड़ी सी भी अच्छाई का वेश मैं बनाऊँ, तो संसार सुझे सम्मान दे दे। लेकिन, यदि हम उसको भोग करेंगे तो चित्त शुद्ध नहीं होगा इसलिए व्यक्तिगत रूप से कमाई हुई सम्पत्ति को व्यक्तिगत न मानना और शरीर से की गई सेवा के बदले में सम्मान का भोग न करना, ये सब जो साधन बताए गए हैं, बड़ी अच्छी बाते हैंऋ बड़ी सच्ची बातें हैं। इसी आधार महाराज जी ने कहा कि जैसे व्यक्तिगत सुख-भोग से अपना पतन होता है और उस ही शरीर को समाज का मानो तो उत्थान होता है, इसी तरह से शरीर के माध्यम से साधन किए बिना तुमसे रहा न जाए, तो खूब खुशी से करो। इष्ट का नाम भी प्रेम से जपो, इष्ट का ध्यान भी खूब लगन के साथ करो। तीर्थ यात्रा भी बड़ी पवित्रता के साथ करो, तीर्थ स्थानों में स्नान भी करो। लेकिन जो भी करो, उसके पीछे तुम्हारा यह भाव रहे कि प्रभु इस साधन का फल सारे संसार को मिले। बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य है।

इसका एक फल महाराज जी ने एक बार मुझको दिखलाया।

मैं यात्रा में, स्वामी जी के साथ आ रही थी। बिहार प्रान्त में एक स्थान मुकामा घाट है। वहाँ जहाज से पार किया जाता थाऋ पुल नहीं बना था। जहाज से पार करके, दक्षिण से उत्तर की ओर हम लोग आ गए। उसी समय चन्द्र ग्रहण लगा था। सवेरा होने वाला था। गंगा जी में स्नान करने वालों की धूम मची थी। स्वामी जी महाराज ने पहले से प्रोग्राम बना लिया था कि हम लोगों जब मुकामा घाट कर पार जाकर उतरेंगे तो वहीं स्नान करेंगे। सब सभी लोग स्नान के लिए तैयार हो गए। जब मुझसे कहा गया कि चलो स्नान करो तो मुझे न तो गंगा जी के स्नान में उतनी श्रद्धा थी और न तीर्थ में ही उतनी श्रद्धा। यह सब कुछ नहीं था। मैंने महाराज जी से कहा कि मैं नहीं नहाऊँगी।' क्यों भाई। क्यों नहीं नहाओगी? महाराज जी ने पूछा। तो उन्हें क्या जवाब दें। मुझको सारे बदन में ऐग्जिमा के दाने होने से बहुत तकलीफ थी। ठण्डा पानी लगने से बड़ी खुजली होती थी। मैंने धीरे से, महाराज जी को बताया कि ऐसे में नहा लूँगी तो बहुत नुकसान होगाऋ बहुत खुजली हो जाएगी। महाराज जी के साथ रहने पर मैं बीमार होने से बहुत घबराती थी। सेवा छूट जाएगी। काम नहीं होगा। महाराज जी को बड़ी चिन्ता होती थी। तकलीफ होती तो सेवा करनी पड़ती थी। इसलिए हम बहुत बचाकर रहते थे। खूब जी चुराया मैंने। मैंने बार बार कहा कि हम नहीं नहायेंगे। हमें ठण्ड लग रही है। हमारे चमड़े में खुजली हो जाएगी।

महाराज जी पानी में जाकर, लाठी को फैलाकर कहते हैं कि तुम क्यों सोचती हो कि तुम स्नान कर रही हो। अब सुनते जाइए उनकी बातों की। तुम क्यों सोचती हो कि तुम स्नान कर रही हो। अपने लिए नहाओगी तो ठण्डा जल जरूर नुकसान करेगा। अपने लिए नहाओगी कि ग्रहण स्नान का फल मुझे मिले, तो ठण्डा जल ऐग्जिमा में जरूर नुकसान करेगा। तुमको क्यों नहीं सूझता है कि जितने लोग वृद्ध और बीमार हैं और गंगा स्नान के श्रद्धालु हैं, नहाने की इच्छा रखते हुए भी तट पर नहीं पहुँच सकें, मैं उनके लिए स्नान करती हूँ। इसलिए लाली! तुम उन सभी के लिए स्नान करो। इस तीर्थ-स्नान का इस ग्रहण-स्नान का फल सभी को मिले, इस भाव से स्नान करो। कुछ नुकसान नहीं होगा। फिर जोर से डाँटा कि चलो। अब इसके बाद कैसे रुकें। डरते डरते पानी में घुस गई। स्वामी जी ने डण्डा पकड़ा कर खूब डुबकियाँ लगवायी।

पता नहीं, महाराज जी कहने से कैसे वह भाव, वह सत्य मुझ पर छा गया। मुझको ऐसा दिखाई देता था, मैंने बिल्कुल प्रत्यक्ष देखा कि हजारों हजारों शरीर डूबकी लगा रहे हैं। वैसे ही यह शरीर भी डुबकी लगा रहा है। ठण्ड का तो मुझे पता ही नहीं चला। पानी की ठण्डक का स्पर्श मुझे हुआ ही नहीं मैं डूबकी लगा रही हूँ यह भी मुझको मालूम नहीं हुआ। जैसे अनेक शरीरों को मैं डुबकी लगाते देख रही थी, इस शरीर को भी मैंने डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ नहीं पता चला। बड़ा मजा आया हमको। हमने कहा अच्छा! यह है सर्व हितकारी भाव! कि शरीर संसार का है, तुम्हारा नहीं है, इसलिए इसके माध्यम से जो कुछ करो, उसका फल सारे संसार को दे दो। केवल एक सैकिण्ड के लिए महाराज जी की वाणी का सत्य मुझको प्रभावित कर गया। ठण्डक भी नहीं लगी, नहाने की तरह बदन भीगने का अनुभव भी नहीं हुआऋ ऐग्जिमा को कुछ नुकसान भी नहीं

हुआ। उनके साथ खूब आनन्द से नहा कर मैं चली आयी।

यह घटना आपके सामने रखकर में यह सत्य निवेदन करना चाहती हूँ कि सचमुच शरीर हम लोगांे का है नहीं, और अपना नहीं मानोगे तो इसके द्वारा किया हुआ कर्म, तुम्हारे लिए बन्धन भी नहीं बनेगा। कर्म-बन्धन से मुक्ति हम लोेग चाहते ही हैं अतः जो कुछ भी करोगे, उसका फल बनता जाता है। वह बन्धन बनता जाता है। शरीर संसार का है, इस सत्य को जान लो और शरीर के द्वारा जो कुछ भी करो, उसका फल संसार को दे दो। इसका परिणाम यह होगा कि कर्म-फल नहीं बनेगा। आवागमन का चक्र कट जाएगा। इतना बड़ा वैज्ञानिक सत्य है इस जीवन का, इस शरीर को संसार के लिए उपयोग में लाने का। जो इतना कर लेता है। उसके लिए योगवित् होने में, भगवद् भक्त होने में कठिनाई नहीं होती है।

प्रवचन(99)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम लोगों के सामने एक बड़ी समस्या है और वह यह है कि जो संसार हमें दिखाई देता है, वह पकड़ में नहीं आता, किसी की पकड़ में कभी नहीं आया। और जब हम उसकी ओर से निराश होकर, उसके स्वरूप को जानकर, जीवन की घटनाओं से पाठ लेकर, कुछ ठोस चाहते हैं कि जो एक बार मिलने के बाद फिर कभी बिछुड़े नहीं, तब संतजन हमारा ध्यान परमात्मा की ओर दिलाते हैं मुश्किल यह हो जाती है कि परमात्मा न दिखाई देता है, न जानने में आता है। बड़ी भारी समस्या है। जो देखने में आता है, वह पकड़ में नहीं आता और जिसको सत्य-नित्य बताया गया है, वह देखने में नहीं आता। तो जो देखने में आए और मिले नहीं और जो सदा-सदा से साथ है, मिला हुआ है वह दिखाई दे नहीं, तो आदमी करे क्या? बड़ा भारी अस्मन्जस हो जाता है।

तारीफ तो हम लोगों ने खूब सुनी ली, कि परमात्मा सर्वव्यापी है, परमात्मा सबकी देख भाल करते हैं, सबको अपना कर रखते हैं सबको अपनी कृपा से पालतेहैं, वे पतित-पावन हैं, वे भक्त वत्सल हैं। अब कितना कहेंगे? कहते जाएँ, सारी जिन्दगी खत्म हो जाए, पर परमात्मा के गुणों का अन्त नहीं होगा। इतना बढ़िया है कि जिसके समान कोई दूसरा है ही नहीं। कैसे मालूम है? उनके जो भक्त हैं,वे बताते हैं उनको जो अनुभव हुए, उन्होंने ग्रन्थों में लिख दिया। अब सोचा जाए कि हम क्या करें? यदि उस परम सुन्दर परम प्रेमी सर्व सामर्थ्वान को हम लोग पाना ही चाहते हैं, उनसे मिलना ही चाहते हैं, तो संत की वाणी में विश्वास करना ही पड़ेगा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। कभी-कभी किसी साधक के जी में आता है कि भाई! परमात्मा दिखाई देते तो हम उनको प्यार करते। संसार में अनेक व्यक्तियों से हमने सम्बन्ध जोड़ा। तो कब सम्बन्ध जोड़ा? जब दिखाई दिया, तब सम्बन्ध जोड़ा। खिलाने से खा ले, बातचीत करने से उत्तर दे दे, वस्तु देने से स्वीकार कर ले, प्रेम का प्रतिदान दे दे, तो उनको प्यार करें-ऐसा आदमी सोचता है। परन्तु संतजन यह सलाह देते है कि भाई। देखा हुआ संसार, जिससे हमने सम्बन्ध जोड़ा वह हमारे सम्बन्ध को निभा नहीं सका। जिनको हमने माता-पिता कहा था, वे आज नहीं है। और जो आज हमें माता-पिता कह रहे हैं उनको भी छोड़ कर हम चले जाएँगे। यह सत्य है कि नहीं? संसार में जिस-जिस से हमने नाता रिश्ता जोड़ा, हमारा वह माना हुआ सम्बन्ध सदा के लिए निभ नहीं सका।

इसलिए संतजन सलाह देते हैं कि देखो! परमात्मा को संसार की भाँति अपनी इन्द्रियों का विषय बनाने की चेष्टा मत करो। संसार की भाँति, बुद्धि के स्तर पर भगवान को समझने की चेष्टा मत करो। जो तुम्हारी समझ में आया और जो तुम्हारे देखने में आया, वह तुम्हारा होकर रह न सका। यह सभी का अपना अनुभव है। अब कोई कहता है कि भगवान सर्वान्तर्यामी है, घट घटवासी है। तो हम लोगों को सुनी हुई बात माननी पड़ी।यह हमारा जाना हुआ नहीं है। लेकिन जो मेरे देखने सुनने समझने में आता है, वह मेरा होकर रह नहीं सकता। आप एक बात और देखियेगा। देखने सुनने में जो संसार आया, वह संसार सदा ही आप से कम मूल्यवान प्रमाणित हुआ। आप उसके द्रष्टा हो गए। आप उसके ज्ञाता हो गए। जो आपकी जानकारी का विषय बन सकता, वह कम से कम आपकी बराबरी का तो नहीं हुआ। आपके समक्ष नहीं हुआ। उसका मूल्य अवश्य ही आपसे कम है। अगर ऐसा न होता, तो जिस प्रकार, हम लोग शरीर को कह सकते हैं कि यह एक यंत्र है, इस प्रकार इस यंत्र में यह शक्ति नहीं है कि यह कह दे कि आप वक्ता है। इतना फर्क त ो दिखता ही है।

किसी भी मूल्यवान और कितनी भी वैज्ञानिक सम्पत्ति से सम्पन्न कोई यन्त्र हो, कोई वस्तु हो, जिसके हम और आप ज्ञाता है, उससे हमारा आपका अविछिन्न सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि वह आपकी जाति का नहीं है। उससे हमारी आपकी जातीय एकता नहीं है। जिससे हमारी जातीय एकता नहीं है उससे यदि हम नाता रिश्ता जोड़ेंगे, तो कभी निभ नहीं सकेगा। एक शरीर, जिसको हमने सबसे अधिक मूल्यवान माना, वह शरीर भी जगत् की जाति का ही निकला। इस शरीर के माध्यम से, संसार का सुख लिया जा सकता है। अतः भोग-बुद्धि वाला व्यक्ति इसको बहुत मूल्यवान मान सकता है। परन्तु साधन-बुद्धि वाले साधक को इस शरीर को उतना ही मूल्य देना चाहिए-जितने का यह हकदार है। आप सोचकर देखिए कि इस शरीर को अपना कहते कहते कितना समय बीत गया। कितना भी इसको अपना कहा, उसके प्रत्युत्तर में, इसने कभी आपको अपना नहीं कहा। अतः इसको अपना कहना, इससे ममता करना, इसको खूब महत्त्व देना, यह मानव जीवन का लक्षण नहीं है।

संत-जन सलाह देते हैं कि देखा भाई! जो तुम्हारे देखने सुनने में आया, वह तुमसे घटिया प्रमाणित हुआ। इसलिए उस अनमोल परमात्मा को जो सबसे सुन्दर है, सबसे अच्छा, सबसे अधिक मूल्यवान है; उसे देखे सुने जाने वाली वस्तुओं की पंक्ति में लाकर खड़ा मत करो। यह सोचना कि परमात्मा दिखाई देगा तो हम प्यार करेंगे, गलत है। क्योंकि अगर वह दिखाई देगा तो देखी हुई वस्तुओं की श्रेणी में आ जाएगा। और देखी हुई वस्तुएँ हमेशा देखने वाले से कम मूल्यवान है। इसलिए परमात्मा को हम लोग कम मूल्यवान वस्तुओं के साथ शामिल न करे। हमारे चाहने से वह हो नहीं जाएगा, लेकिन अपने में जो दुविधा रहती है परमात्मा को प्यार करने में, परमात्मा की आज्ञा मानने में परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करने में, हम लोगों के भीतर एक बड़ा कौतुहल हो जाता है कि भाई! क्या बताएँ, वह तो देखने में आता नहीं है, जानने में आता नहीं है। क्या जाने, उसको हम अपना मानते रहे, मानते रहें और यदि वह कहीं न निकला तो? यह शंका

निर्मूल ही है। ऐसी शंका हम लोगों को नहीं रखनी चाहिए।

अब दूसरी ओर देखो। वह हम सब लोगों में नित्य निरन्तर विद्यमान है—ऐसा अनुभवी जन कहते हैं। अब हमारे सामने प्रश्न केवल इतना है कि या तो भक्तों की वाणी सुन कर स्वीकार कर लो अथवा मत करो। न मानने से भी कोई विशेष क्षति नहीं होगी। मानव-सेवा-संघ सब किसी के लिए भगवान को अपना मानना अवश्यक नहीं बताता। आप न मानना चाहें, तो आप स्वाधीन हैं न मानने के लिए। मत मानिए। हम लोगों की दशा क्या है? हम लोगों की दशा ऐसी हैं कि जब कहा जाता है कि प्रभु को अपना मान लो, तो हम कहते हैं, क्या बताएँ विश्वास ही नहीं होता। कैसे मानें? और जब यह कहा जाता है कि नहीं मान सकते हो, तो उसकी चर्चा छोड़ दोऋ तब क्या कहते हैं? कि क्या बताएँ छोड़ा भी नहीं जाता। कैसे छोड़ें? हम लोग जो अधूरे ईश्वर-विश्वासी है उनकी अजीब दशा है। मान लो, तो माना नहीं जाताऋ छोड़ दो तो छोड़ा नहीं जाता। तो क्या इलाज है भाई?

मैं कभी-कभी सोचती हूँ तो मुझे अपने समान साधक भाई-बहनों की दशा दिखाई देती है और ऐसा मालूम होता है कि अपने में, अपने को हर प्रकार से सँभालने की सामर्थ् नहीं है तो किसी न किसी रूप से में एक सामर्थ्वान की सत्ता को मानना ही पड़ता है। क्या करे आदमी? मानने वालों से संतजन कहते हैं कि बिना देखे, बिना जाने उस परमात्मा को इन्द्रियों का विषय मत बनाओ। बुद्धि का विषय मत बनाओ। इसके आगे की शर्त और भी कठिन है। वह क्या है? बिना देखे, बिना जाने के सन्मुख, बिना शर्त के, उससे बिना कुछ चाहे, अपने को समर्पित कर दो। जानो भी मत देखो भी मत, माँगों भी मत। कितनी बड़ी शर्त है। और कुछ नहीं माँगोगे, तो दर्शन का सुख ही माँग ले, ऐसा भी मत सोचना। कोई कोई साधक सोच सकता है कि वे त्रिभुवन मोहन रूप हैं, वे कोटि मनोज लजावन हारे हैं, कोटि मनोज लजावन हारे' कहकर करते हैं। एक तो मनोज का रूप ही बड़ा मोह है, सारे संसार के जड़ चेतन सभी प्राणियों को मोहित करके रखते हैंऋ इतने रूपवान हैं। कल्पना में आ सकता है कि करोड़ो मनोज को लज्जित कर देने वाले का रूप कैसा अनुपम होगा? कल्पना में ही नहीं आ सकता। भक्तों की तो दृष्टि खुल गई उन्होंने देख लिया। हम लोग क्या करते हैं? उस रूप को देखा नहीं लेकिन इच्छा यह रखते हैं कि जब मैंने अपना नाम तुम्हारे भक्तों की सूची में लिखवा लिया है और साथ ही जब मैंने यह सुना है कि तुम्हारा रूप त्रिभुवन मोहन है, तुम सभी को मोहित कर लेते हो, करोड़ो कामदेव के समान रूपवान हो, तो हे प्यारे! इतना जरूर करना कि मैं जब पसन्द करूँ तो मेरे सामने वह रूप-माधुरी अवश्य प्रकट कर देना। यह अधूरे विश्वासी साधक जनों की बात है। यह भी नहीं माँगना है। उनको जाने बिना, उनको देखे बिना, उस पर बिना किसी प्रकार की शर्त के लगाए, उनसे बिना कुछ चाहे, केवल उनकी प्रसन्नता के लिए उनके होना पसन्द करते हो तो उनके हो जाओ। बड़ा कठिन काम है।

अनेक प्रकार की कामनाओं का भूखा प्यासा व्यक्ति, भला कैसे रह सकता है बिना कुछ माँगे। संतजन कहते हैं कि जो कुछ भी चाहता है, वह प्रभु का प्रेमी नहीं हो सकता। पहले अपने को अचाह करोऋ पहले संसार की वासना को छोड़ो। जब तुम्हारे जीवन में उन परम सुन्दर को, उन परम मधुर को रस देने के सिवाय और कोई भी बात नहीं रह जाएगी तो तुम्हारे उस प्रेम भरे

व्यक्तित्व के प्रेमी, स्वयं भगवान हो जाएँगे। ऐसा किया है उन्होंने यह कोई अनहोनी बात नहीं है। जो बड़े-बड़े भक्त हुए हैं, उन्होंने भगवान को कृपा करने के लिए भी नहीं कहा। मेरी खबर लो ऐसा भी कभी नहीं कहा। मेरे विरोधियों को शांत करे दो— ऐसा भी कभी नहीं कहा। उनको हर समय इस बात का ध्यान रहा कि किसी प्रकार मैं उनको प्रसन्न करूँ। वे प्रेमी जिन्होंने केवल प्रभु को प्रसन्न करने के लिए ही जीवन धारण किया, प्रभु की दृष्टि में बड़े मूल्यवान हो गए। सारी दृष्टि से अधिक उनका मूल्य हो गया। उनकी प्रसन्नता के लिए, वे परम उदार, हर प्रकार से अपने को उन भक्तों पर न्यौछावर करने को तैयार हो गए। तो घाटा लगा कि लाभ हुआ? लाभ हुआ।

मैंने अपनी तुच्छ वासनाओं को छोड़ाऋ मैंने प्रभु की दी हुई सामग्री उनको अर्पित की, तो अपनी गाँठ का क्या गया? कुछ नहीं। गाँठ टटोल कर देख लो, अपने पास अपनी कुछ बपौती है भी? कुछ नहीं है। जो है सो सब उन्हीं का दिया हुआ है। लेकिन मैंने ऐसा सुना है, भारतीय परम्परा में और पश्चिमी परम्परा में भी सुना है कि भगवान ने अपने आनन्द के लिए मनुष्य को बनाया। केवल अपने आनन्द के लिए। आप सोच लीजिए, दुनिया के कई ऐसे कोमल और शुद्ध चित्त के साधक हो गए, जिन्होंने सुना कि भगवान ने मेरी रचना तो अपने आनन्द के लिए की है, तो सुन करके ही वे कृत-कृत्य हो गए। उनकी अपनी कोई इच्छा ही शेष नहीं रही। कोई संकल्प ही नहीं रहा। इतनी सी बात से उनको बड़ा आनन्द आ गया कि सृष्टि के मालिक ने मुझको अपने आनन्द के लिए बनाया। वे कहते हैं कि मालिक! तुझे जैसे आनन्द आए, वैसे ही करो। कोई कोई सन्तजन, जो गुरुमहाराज जी की आन्तरिक बातों को जानने के अपने को अधिकारी मानते थे महाराज जी से प्रश्न करते थे, महाराज! आप भगवान के भक्त हैं, भगवान के प्रेमी हैं। भगवान के प्रति आपका सम्बन्ध क्या है? कोई किशोरी जी का भक्त होता है, अर्थात प्रिया का भक्त होता है, कोई प्रियतम का भक्त होता है। स्वामी जी महाराज ने जो भाव धारण कर रखा था उसका वर्णन करते हुए एक बार यह कहा कि मैं तो प्रिया-प्रियतम दोनों के खेलने के लिए फुटबॉल हूँ।' यह भाव था उनका। क्या होगा? जिधर फेंक दो, उधर ही फिँक जाऊँगा। और क्या होगा, इससे तुम्हें क्या मजा आएगा? वाह! इसमें तो बड़ा मजा है क्यों? फुटबाल के खिलाड़ियों का सारा ध्यान हर समय फुटबॉल पर ही केन्द्रित रहता है। अतः प्रिया ने फेंक दियातो प्रियतम देख रहे हैं किधर जारहा है और प्रियतम ने फेंक दिया तो प्रिया जी देख रही हैं कि किधर जा रहा है। अपने आप उन्होंने फेंक दिया और आपने आप दोनों उसके पीछे दौड़ रहे हैं। यह आनन्द आ गया। यह आनन्द किसका है? यह आनन्द अपने को अकिंचन बनाकर अचाह-बनाकर, सब प्रकार से प्रिया-प्रियतम के आनन्द पर छोड़ देने वाले वीर-बहादुर, दिलदार साधक का है। यह केवल एक दिमागी ढंग से भावना करने की बात नहीं है। ऐसा उन्होंने अपने को माना और ऐसा माना जीवन व्यवहार कर रहे। इस प्रकार प्रिया-प्रियतम के प्रेम पात्र, होकर उन्होंने-अपने जीवन को उनके रस से भरपूर किया। उस रस का वितरण करके, हम सब प्रेम के प्यासे साधक भाई बहन, जो उनके इर्द-गिर्द फिरते रहते थे, सब लोगों को परम प्रेमास्पद के मधुर रस के आकर्षण और मिठास का आस्वादन भी कराया। जो लोग नजदीक रह चुके हैं वे लोग जानते हैं।

आज इस संध्याकाल की बैठक में अपने लिए और अपने सभी आत्मीय साधक भाई बहनों के लिए मैं यह निवेदन करती हूँ कि भाई! हमारे और भगवान के बीच की दूरी, जो मुझे मालूम है, इस दूरी का कारण कुछ नहीं है, सिवाय इसके कि हमने उनकी नित्य निरन्तर अपने में ही विद्यमान रहने वाली महिमा को स्वीकार नहीं किया। नाम जपते जाते हैं। भजते जाते हैं, उनकी कथा कहकर जीवन का निर्वाह करते जाते हैं। फिर भी अपने और उनके बीच में दूरी का निर्वाह करते जाते हैं। फिर भी अपने और उनके बीच में दूरी अनुभव करते रहते हैं। कहने के लिए कहते हैं कि परमात्मा है मेरे गुरु ने मुझको कहा था, रामायण में लिखा हुआ है, गीता में लिखा हुआ है। सब है, लेकिन भीतर में थोड़ी-थोड़ी धुकपुक रहती है, सन्देह रहता है। कहने वालों ने कहा है, लिखने वालों ने लिखा है, लेकिन मेरे लिए? मेरे लिए अभी भी लिखा हुआ, सुना हुआ ही मालूम होता है।

हम लोगों को चाहिए कि सब प्रकार का संशय छोड़कर केवल गुरुवाणी में श्रद्धा करके, भक्तवाणी में श्रद्धा करके वेद पुराण रामायण गीता की वाणी में श्रद्धा करके, प्रभु की सत्ता में निर्विकल्प विश्वास करें। यह पहली बात है। बाद में क्या होता है? कि आरम्भ में साधक केवल बाहर से सुनकर और भीतर परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करके मान लेता है। आरम्भ में ही मानना पड़ता है और मानने का पुरूषार्थ ही हमें करना है। आरम्भ में जो परमात्मा केवल माना जाता है, आगे चलकर वही परमात्मा, उसी साधक के लिए जाना हुआ हो जाता है, सारी जिन्दगी आपको मानते रहना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। हम लोगों को आरम्भ करना पड़ता है मानने से लेकिन जिनको हम मानते हैं वे परमात्मा स्वयं आगे चलकर, मानने वाले को जता देते हैं। मानने का पुरुषार्थ हम करें और जता देने का दायित्व वे स्वयं करेंगे। देर नहीं लगती है; बहुत समय नहीं लगता है। बहुत ज्यादा अनुनय विनय करवाना भी उनको पसन्द नहीं है।

वे स्वयं परम स्वाधीन हैं। वे अपने भक्त को परम स्वाधीन देखना चाहते हैं। इसलिए मानव-सेवा संघ की प्रणाली में भगवत् प्राप्ति का अर्थ केवल इतना है कि आपका जीवन भवगद् स्मृति से भर गया कि नहीं? भगवान आपको प्रिय लगने लगे कि नहीं? अपने आप, अपने प्रिय की याद आपको आने लगी कि नहीं? तो भगवान का प्रेमी हो जाना, भगवद् प्राप्ति है, मानव सेवा संघ की भाषा में। क्यों? इसलिए कि प्रेमी बन जाना, सब वासनाओं, तृष्णाओं सब विकारों को छोड़ कर जगत् से नाता तोड़ कर अपनी इच्छाओं अपने संकल्पों को त्याग कर सब प्रकार के प्रभु के होकर रहना, इतना साधक का पुरुषार्थ है। इसके बाद उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेम के धातु में बदल जाता है। और यही भगवत् प्राप्ति है। इतना ही आपको करना है और शेष जो कुछ रहता है, वह तो परमात्मा अपने प्रेमियों पर न्यौछावर किए बिना खुद ही नहीं रह सकते हैं। उनको क्या हम लोगों की बेबसी मालूम नहीं है? खूब मालूम है। वे तो खूब जानते हैं। उनकी दृष्टि में अगर कोई मानव देखे हुए संसार को नापसन्द कर देता है और बिना देखे हुए परमात्मा पर अपने को बिना किसी शर्त के छोड़ देता है, तो उसकी इस बहादुरी का परमात्मा बहुत आदर करते हैं। बहुत आदर करते हैं। वे जब द्रवित हो जाते हैं तो फिर क्या नहीं होता है; कोई क्या कह सकता है। उनकी करूणा, उनका प्रेम, उनकी महिमा, उनकी लीला भक्त को निहाल कर देती है।

प्रवचन(100)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

मानव-सेवा-संघ की स्थापना के पीछे संत हृदय का बड़ा भारी संक्ल्प यह लगा हुआ है कि मनुष्य स्वयं अपने ही पुरूषार्थ के द्वारा जगत् के लिये और जगत्पति के लिये उपयोगी हो सकता है। जो सबके लिये उपयोगी हो सकता है, वह अपने ही लिये अनुपयोगी होकर दुःखी पड़ा रहे, मानव समाज की यह दुर्दशा संत महापुरूषों से सहन नहीं होता। यह कोई संगठन नहीं है। यह कोई दलबन्दी नहीं है और इस संस्था के सदस्य होने में भी किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। ऐसा नहीं है कि सदस्य हो गये तो संस्था के साथ बँध गये, सो नहीं। यह संस्था हम लोगों को सलाह देती है कि पहले से जितने बन्धन पैदा करके रखे हों अपने लिये, सब से मुक्त हो जाओ। इस संस्था की सदस्यता कोई नया बन्धन नहीं पैदा करती। पहले से जितने बन्धन बन चुके हैं, जहाँ हम लोगों की आसक्ति जुटी हुई है वह तोड़कर स्वयं स्वाधीन हो जाना है और स्वाधीन होकर परम प्रेमास्पद के प्रेमी होना है।यह एक विचार प्रणाली है। सोचने का एक ढंग है कि इस ढंग से सोचकर हम अपने में परिवर्तन ला सकते हैं जिससे सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाए, जीवन-मुक्ति हो जाय, भगवद्भक्ति मिल जाय, इसी उद्देश्य से इस संस्था की स्थापना हुई।

1974 के अक्टूबर में जब स्वामी जी महाराज की तबियत खराब हो चुकी थी, ठतंदबी इनदकसम इसवबामक हो गया था भ्मंतज का, तो कुछ देर बोलते रहने से बहुत पसीना हो जाता है, थकावट लग जाती थी, फिर भी बोलते ही रहे अन्त समय तक। दिल्ली में एक दिन सभा में बोल रहे थे थे। आधा घण्टा होने लगा तो हम लोगों ने धीरे-धीरे इशारा करना शुरू किया कि महाराज आधा घण्टा हो गया अब बन्द करिये, अब मत बोलिये, तो बोलते-बोलते बहुत ही द्रवित हृदय से कहने लगे कि देवकी जी तुम मना कर रही हो कि मत बोलिये। अरे भाई! जिसके दर्द होता है वह चिल्लाता है, वह चुप नहीं रह सकता। मैं कोई व्याख्यान थोड़े ही दे रहा हूँ। मैं कोई कथा नहीं सुना रहा हूँ मैं तो व्यथा सुना रहा हूँ। रह नहीं सकता बिना बोले। क्यों? क्योंकि दर्द है। क्या दर्द है? मानव जीवन पाकर असफल रहना—इस बात का दर्द है। उन्होंने अपना दुःख मिटा लिया। स्वयं जीवन मुक्त हो गये थे। भगवान के शरणागत होकर उनसे साक्षात्कार कर लिया था। अब फिर क्या था? तो अब अपने चारों और जन समूह जो दुःख में पड़ा हुआ है, पराधीनता और बेबसी में पड़ा हुआ है, उसका दुःख उसकी पराधीनता उसकी बेबसी श्री महाराज जी से सही नहीं जाती थी।

मानव-सेवा-संघ हम लोग लोगों को कोई ऐसी बात करने को नहीं कहता कि जिसको हम नहीं कर सकते। बहुत ही सहज स्वाभाविक ढंग से जिस परिस्थिति में आप हैं, जो भी सामर्थ् अपनी है, जैसी भी योग्यता अपनी है वही सब लगाकर सर्वहितकारी भाव से सेवा प्रवृत्ति में समाज के काम आयें। कुटुम्ब परिवार के काम आयें। इसका एक बड़ा ही शुभ परिणाम यह होता है कि पूरी सामर्थ् लगाकर जब व्यक्ति कुटुम्ब परिवार, समाज की सेवा करता है तो सेवा के अन्त में स्वतः ही शान्ति मिलती है।

समाज और संसार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना, इसको स्वामी जी महाराज ने मानव धर्म बताया। 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसके

लिये किया है कि यह मानव का धर्म है। क्या धर्म है कि भाई! भलाई करने के लिए तो जब सामर्थ् मिलेगी, संयोग जुटेगा तभी करोगे, परन्तु बुराई किसी की मत करो। कभी-कभी सोचने से मुझे ऐसा लगता है कि समाज की उदारता, समाज के सहयोग से हम स्वयं अपना निर्वाह करते हैं, परन्तु कितनी बड़ी भूल होती है कि उसी समाज में किसी के साथ वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिए। तो यह अधर्म हो गया। यह धर्म नहीं रहा और यदि ऐसा मैंने किया तो फिर किसी भी विधि-विधान से, किसी भी साधन से परमात्मा नहीं मिल सकते। कोई नियम, कोई बाहरी सहायता, कोई बल कोई सामर्थ् हम लोगों को अशान्ति से नहीं बचा सकती। अशान्ति हो अवश्य, यदि हम धर्म का पालन नहीं करते तो।

मानव-सेवा-संघ में धर्म-पान का अर्थ क्या है। संसार में हम लोगांे ने बहुत सी मान्यतायें मानी है, किसी को माता-पिता कहा, किसी को भाई-बन्धु कहा, किसी को बेटा-बेटी कहा, किसी को पड़ौसी देश वासी ऐसा कहकर अनेकों व्यक्तियों के साथ अनेक प्रकार की मान्यता हमने अपने में रखी हैं। है तो यह मिथ्या, रहने वाला नहीं है, निभने वाला नहीं है फिर भी मानव सेवा संघ ने इस मिथ्या सम्बन्ध को साधन के रूप में बदल डालने की सलाह दी। विवेक विरोधी सम्बन्ध हेाने पर भी यदि हम उसे साधन के रूप में बदल डालते हैं अर्थात् पिता कि लिये पुत्र होकर रहे। पिता के लिये पुत्र होकर हरने का मतलब क्या है? कि पिता के प्रति पुत्र का जो कर्त्तव्य है वह पूरा करें परन्तु पिता से पुत्र को जो आशा रहती है, बदले में कुछ लेना चाहता है,उसे छोड़ दें। पिता को अपने लिये पिता न मानना, पिता के लिये पुत्र होना, यह मिथ्या सम्बन्ध के प्रभाव से अपने में जो मोह और आसक्ति पैदा हो गई थी उस मोह और आसक्ति को मिटाने का उपाय है। सम्बन्ध वही है कोई नया नहीं बनाया। भाई बन्धु मान लिया, पति-पत्नी मान लिया, बेटा-बेटी मान लिया, तो मानना तो हम लोगों ने भूल से किया था, जो नित्य सम्बन्धी है उसकी विस्मृति हो गई, उसकी जगह पर अनेक सम्बन्ध दिखाई देने लगे और अनेक सम्बन्धियों से सम्बन्ध जोड़कर अनेक प्रकार की उलझनें हमने पैदा कर ली। यह सब किया तो था भूल से, लेकिन जब साधक का दृष्टिकोण अपनाया जाता है तो इस भूल के निराकरण का यह बहुत अच्छा उपाय है कि माने हुए सम्बन्धियों के साथ उनके प्रति जो अपना कर्त्तव्य है, वह पूरा किया जाय और उन पर अब तक जो अपना अधिकार मानते रहे, उसको छोड़ दिया जाय। बड़ी भारी तपस्या हो जाएगी। और कभी कभी तेा मुझे ऐसा भी लगता है कि इस प्रकार धर्म परायणता के बिना कर्त्तव्य पालन के बिना, यदि कोई साधक बार-बार कुटुम्ब परिवार समाज को छोड़ कर एकान्त में कहीं जाकर बैठता है तो उसे सफलता मिलना बहुत कठिन है। समाज में रहकर, परिवार में रहकर यदि यह तपस्या हम लोग कर सकें तो इस प्रयोग से घर में रहते हुए भी, घर की आसक्ति टूट जायगी। परिवार में रहते हुये भी मोह का बन्धन कट जायगा। अनेक प्रकार की शुभ प्रवृत्तियों में लगे रहने पर भी भीतर की शान्ति सुरक्षित हो जायगी। यह जीवन का सत्य है।

सन्तों का अनुभूत सत्य है कि यदि हम लोगों में से किसी भाई-बहन को इस सत्य में आस्था होती हो अपने लिय उपयोगी मालूम होता है तो इसका प्रयोग करके देखें। कुछ खर्च नहीं करना पड़ेगा। नया कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा घर-बार नहीं छोड़ना पड़ेगा आप जैसे है वैसे ही रहें,

उसी घर में रहे, कमाई भी करे, बाल बच्चों का पालन भी करें, और यह सब कुछ करते हुए यदि आपने विवेक के प्रकाश में धर्म परायणता को अपना लिया और अधिकार लालसा को छोड़ दिया तो इतने ही से जीवन मुक्ति मिल सकती है। शान्ति जो आती है भीतर से उस शान्ति की अवधि लम्बी होने लगती है। जिसके साथ जो कुछ करने का है सो कर लिया और उसके बदले में किसी प्रकार की आशा नहीं की, तो करने के बाद बाहर से छुट्टी तो क्या मिलेगी लेकिन अन्दर से बहुत आराम, बहुत शांति मिलती है। आप लोगों ने भी इसका अनुभव किया होगा। थोड़ी देर के बाद कोई नया संकल्प सामने आता है, कोई नया कर्त्तव्य सामने आता है, कोई नया काम, कोई नई बात मस्तिष्क में पैदा हो जाती है तो फिर साधक जो है वह साधक बुद्धि से शुभ कर्म में, हितकारी कार्य में लग जाता है। कार्य के अन्त में और नया आरम्भ करने से पहले बीच का जो समय है वह समय के कर्म के फल की आशा और कर्त्तापन के अभिमान के दोष से बचा रहे तो यह बड़ा लाभ दायक है। अधिक से अधिक पन्द्रह मिनट यदि शान्त रह सके हम तो अपने इसी वर्तमान जीवन में शरीरों से तादात्म्य तोड़ने का बल आ जाएगा। अभी तक हम लोगों ने शरीरों से अलग अपने अस्तित्व को नहीं देखा, लेकिन धर्म परायणता का यह बड़ा ही शुभ परिणाम होता है। स्वामी जी महाराज कभी इसको कर्त्तव्य विज्ञान कहते थे, कभी धर्म परायणता कहते थे। इसका उत्तर पक्ष है शान्ति का अवतरण। धर्म पालन का उत्तर पक्ष है योग। अर्थात् कर्त्तव्य पालन के बाद भीतर बड़ी शान्ति आती है और साधक में शरीरों से अतीत जो अपना अविनाशी अस्तित्व है, उसका बोध हो जाता है। इस प्रकार के योग की चेष्टा हम सब लोग कर सकते हैं।

अभ्यास से जो योग होता है वह सबके लिये सम्भव नहीं है उसके लिये बहुत सी आवश्यक तैयारी चाहिये। आप सोचिए काम तो हम कर रही रहे हैं। हानि लाभ सह ही रहे हैं ऐसी दशा में थोड़ा अपना विकास कर लिया जाय, साधन की बुद्धि से जीना आरम्भ करें तो सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति आती ही है, और सचमुच जो किये हुये कर्म के बदले में कुछ नहीं चाहता और कर्त्तापन का अभिमान नहीं रखता हो, ऐसा जो निस्पृह, कर्त्तव्य-परायण साधक है उसी में फिर प्रभु की भक्ति की सामर्थ् भी आती है। क्योंकि भक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ मैंने सुना है महाराज जी से और जैसा मैंने अपने को समझाया है, वह यही है कि जो कुछ भी चाहता है किसीभी रूप में वह भगवान का भक्त नहीं हो सकता, क्योंकि भक्ति में अपने लिये कोई खास बात नहीं है। अपने लिये बात इतनी है कि जिसने संसार में कर्त्तव्य पालन की सामर्थ् दी, जिसने विवेक का प्रकाश देकर जीवन मुक्त बनाया, कितना अच्छा होता है कि यह जीवन उस परम कृपालु, परम उदार के लिये उपयोगी हो जाता।

प्रभु के लिए उपयोगी होने का अर्थ क्या है? कि प्रभु के प्रेमी बन जाओ। प्रभु का प्रेमी कौन बन सकता है? जो अपने लिये कुछ नहीं चाहता। जो कुछ भी चाहता है वह लेन-देन का व्यापारी हो जाता है, प्रेमी नहीं हो सकता। तो चाह में हम लोग फँसे हुए हैं। चाह को मिटाए बिना जीवन न जगत् के लिये उपयोगी होता है, न अपने लिये होता है और प्रभु के लिये होता है। जो अनेक प्रकार की लालच में पड़ा हुआ है वह समाज के काम नहीं आ सकता। जो कुछ भी चाहता है वह चिन्ता मुक्त

नहीं हो सकता और मैंने तो सन्तवाणी में ऐसा सुना है कि कोई भी साधक अपने सब संकल्पों को प्रभु की भक्ति के लिये छोड़ देता है और प्रभु का प्रेमी होकर रहना पसन्द करता है तो अगर उसने बहुत मामूली सा छोटा सा त्याग भगवत भक्ति के लिये किया होगा, तो जितना उसने त्याग किया होगा उसमें कहीं अधिक, असंख्य गुणा बढ़ाकर भगवान उसको भर देते हैं।

उनका मंगलकारी विधान कितना अच्छा है। कितनी सहृदयता है उसमें। कितनी आत्मीयता है। कितनी दूरदर्शिता है। श्री महाराज जी अनेक बार इन बातों को हम लोगों के सामने कहा करते थे। परन्तु अब कोई घटना सामने आ जाती है जब उसका अर्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। महाराज जी कहा करते थे कि भाई? जिस संकल्प को पूरा किये बिना तुम्हारा विकास रुका हुआ होगा उस संकल्प की पूर्ति भी कृपालु अपनी ओर से कर देते हैं। साधक का विकास रुका रहे, यह बात उनसे सही नहीं जाती। जिस संकल्प की पूर्ति से साधक के जीवन में अधिक जड़ता आ गई होगी उस अनुकूलता को तोड़ देते हैं। साधक के जीवन में जड़ता आ जाय, यह परम सुहृद परमात्मा को पसन्द नहीं है। जिस संकल्प की पूर्ति के बिना साधक अपने स्तर पर उलट जाता है। वे अपनी कृपालुता से उसे भी पूरा कर देते हैं कि साधक के सामर्थ् के बाहर की बात थी। यह भी उनका मंगलकारी विधान है। जब वे अपनी ओर से हमारी इतनी देखभाल करते ही है, हम लोगों को सँभालते ही है, तो ऐसी घड़ी में ईश्वर विश्वासी होकर उनकी महिमा में दृढ़ आस्था न रखना बड़ी भारी भूल होगी। उनकी महिमा में दृढ़ आस्था भी रखें हम, उनकी दी हुई सामर्थ् के अनुसार कुटुम्ब परिवार समाज संसार की सेवा भी करें और की हुई सेवा का फल छोड़कर कर्तापन का अभिमान छोड़ कर केवल उनकी प्रसन्नता के लिये हमारी दृष्टि जब संसार पर जाय तो सेवा करें और संसार से हटे तो उनकी याद में रहे, उनके प्रेम की प्रतीक्षा में रहें उनके मिलन की उत्कट लालसा में रहे। इस प्रकार की रहनी यदि हमारी हो जाय, इस प्रकार का हमारा जीवन बन जाय तो मुझे ऐसा लगता है कि इसके बाद हमें फिर कुछ सोचना नहीं पड़ेगा, कुछ करना नहीं पड़ेगा सब कुछ बिल्कुल स्वाभाविक हो जायेगा।

विधि-विधान की बात तो सचमुच थोड़ी देर के लिये होती है। संसार दिखाई दे तो प्रभु का ही प्रतिरूप मानकर उसके काम आने की सोचें। अगर काम आने की घड़ी नहीं है तो दिल से उसका भला मनायें, इतना तो हम सब कर ही सकते हैं जैसे किसी दुःखी का दुःख दूर करने की सामर्थ् अपने में नही है तो दुःखी का दुःख देखकर अपना हृदयं पीड़ित हो तो उस पीड़ित हृदय से उसका भला मनायें। हे प्रभु! इस दुःखी का भल करें इसका उपकार करें, इसको सद्बुद्धि दे, इसका दुःख दूर करें। श्री महाराज जी ऐसा कहा करते थे कि अगर किसी को दुःखी देख कर तुम उसका उपकार नहीं कर पाते हो, उसका दुःख नहीं मिटा पाते हो तो उसकी पीड़ा से तुम्हारा हृदय अगर पीड़ित हो जाय तो उसका बड़ा अच्छा फल होता है। निर्बल के हृदय में जब करूणा उपजती है तो सबल को प्रेरणा मिलती है। ऐसा अनेक बार हुआ है। श्री महाराज जी के सामने तो इस तरह की घटनायें बहुत होती रहती है।

इस तरह के साधक के जीवन में करुणा के लिये पर-पीड़ा से पीड़ित होने के लिये प्राप्त सामर्थ् का उपयोग परिवार तथा समाज की सेवा में करने के लिये अवसर हम लोगों के जीवन में

खूब आये हैं, फिर भी जड़ता में पड़े रहें अवसर से लाभ न उठायें तो यह बड़े घाटे की बात हो जायेगी। यह मानव सेवा संघ का सत्संग जीवन से अलग नहीं है जीवन के साथ मिला हुआ, प्रतिदिन की जिन्दगी में घुला मिला हुआ है प्रतिदिन के व्यवहार में हम उसको साथ लेकर चलें तो अपने आप हमारा विकास होगा, अवश्य होगा और हम सब लोग साधन सम्पन्न होकर सेवा के द्वारा जगत् के लिये, और परम प्रेम के द्वारा प्रभु के लिये उपयोगी होकर सदा-सदा के लिये कृतकृत्य हो जायें। अब थोड़ी देर के लिये शान्त हो जायें।

प्रवचन(101)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम लोग मानव हैं। मानव होने के नाते साधक है और साधक के जीवन की सार्थकता इस बात में है कि मरने से पहले उसको सिद्धि मिल जाय नहीं तो साधक होने का कोई अर्थ नहीं है। अन्यथा यह ऐसा ही होगा कि जैसे कोई विद्यार्थी है और पढ़ता भी है परीक्षा भी देता है और ऐसा ही सब करते करते उसकी सारी जिन्दगी बीत जाये, लेकिन वह कभी परीक्षा पास न कर पाये। ऐसा विद्यार्थी होना तो कोई अर्थ नहीं रखता है ऐसे विद्यार्थी के जीवन की कोई सार्थकता नहीं है। इसी प्रकार से बहुत गम्भीरता से अपने सम्बन्ध में हम लोग विचार करें कि मानव साधक है सत्संगी है विचारक है; विश्वासी है; ये बहुत सारी बातें, साधन युक्त मान्यतायें हम लोगों ने अपने लिए स्वीकार कर ली हैं। इसकी सार्थकता इस बात में है कि शरीर के नाश होने से पहले हम लोगों को जीवन-मुक्तित मिल जाएऋ भगवद्-भक्ति मिल जाए।

सुन करके किसी किसी भाई बहन को बहुत कठिन भी लगता होगा कि यह कैसे हो सकता है कि जीवन-मुक्ति मिल जाएऋ भगवद्-भक्ति मिल जाए। मैं कहती हूँ कि अगर यह नहीं हो सकता है, तो हम लोगों को अपने से पूछना चाहिए कि तब साधक की सूची में नाम क्यों लिखवाया? अगर भगवत्-भक्ति, जीवन-मुक्ति सम्भव नहीं है तो सत्संग की गोष्ठी में बैठते किसलिए हैं? बात ऐसी है कि जिसने अपना नाम साधकों की सूची में लिखवाया, जिसने अपने को सत्संग में शामिल करना पसन्द किया, उसको इस बात में बहुत दृढ़ आस्था रखनी चाहिए कि शरीर छूटने से पहले मैं जीवन-मुक्त हो जाऊँ, भगवत्-भक्त हो जाऊँ और यही सम्भव है। बाकी सब कुछ होकर के भी, नहीं होने के समान है। इसका अर्थ क्या है? महाराज जी ने एक बार बड़े मार्मिक शब्दों में यह कहा था कि अरे भाई! देखो, हम लोग रोते-रोते जन्में हैं, अब रोते-रोते मर जाएँगे तो इतने दिन दुनियाँ में रहकर पृथ्वी से भार उठवाया, वायुमण्डल को गन्दा किया, राष्ट्र से सुरक्षा ली, इन द्धणों को चढ़ाने का कोई फल निकला? गहराई से सोचो कि जन्म क्यों हुआ? शरीर क्यों धारण करना पड़ा।

वास्तविकता यह है कि शरीर धारी होने के राग का नाश नहीं हुआ था। क्रिया-जतिन सुख का राग नहीं मिट सका था। धन कमाकर, धनी मानी कहलाने का राग नहीं मिटा था, इसलिए जन्म लेना पड़ा। शरीर के मोह का नाश नहीं किया था, धन के लोभ का नाश नहीं किया था। सुख की वासनाओं का अन्त नहीं किया था। इन कारणों से विवश होकर जन्म लेना पड़ाऋ शरीर धारण करना पड़ा। अब अन्त में ऐसी घड़ी आ गई कि शरीर का मोह भी नहीं गया, लोभ भी नहीं गया, राग भी नहीं गया, सुख की वासना भी नहीं गई और संसार छूट रहा है जन्म लेने के समय जो दशा

थी, मरने के समय फिर वही दशा तो पचास वर्ष या अस्सी वर्ष इस दुनिया में जिन्दा रहे तो जीने का फल क्या निकला? कोल्हू के बैल की भाँति चैबीस घण्टे चक्कर भी काटे तो रहे कहाँ? जहाँ के तहाँ। आप सोचिए। बहुत गम्भीरता से सोचने की बात है संतजन ये बातें हम लोगों की जड़ता को तोड़ने के लिए कहते हैं सुख भोग की आशा ने विवेक के प्रकाश को ढक दिया। प्रकाश हम लोगों को राह दिखा रहा है, उसके ऊपर अपने, लोभ, मोह, जड़ता के पर्दे को हम लोग डाल लेते हैं यही भूल है।

मानव जीवन जिसने दिया, उसने हर प्रकार की स्वाधीनता दी थी, उसके दिए हुए का क्या लाभ हमने उठाया? कोई लाभ नहीं निकला। हमारे लिए यह बहुत ही विचारणीय बात है कि जैसे बहुत से काम हमने किये थे, व्यक्तित्व का श्रृंगार किया था, समाज में थोड़ा सिर ऊँचा करके चलने का उपाय किया था, साधकों की सूची में नाम लिखवाना और किसी न किसी प्रकार की साधना में लग जाना और ऊँचे आसन पर बैठ करके सत्य की चर्चा कर लेना और वक्ता बनकर श्रोता को रिझा लेना-यह सब कहीं हमारे व्यक्तित्व का श्रृंगार बनकर न रह जाएऋ इसके लिए अपने को बहुत सावधान होना है। मैं पहले अपने को ही समझा लूँ, तो बहुत है। आप सब लोग अपने को समझाने का अपना अपना ढंग निकालियेगा।

आप सोचकर देखिए! अच्छे कपड़े पहन लेना, हीरे मोती से सजा लेना या महल बना लेना उसके बदले पर यदि जीवन का मूल्य बढ़ता है तो ईंट पत्थर मनुष्य से ज्यादा कीमती हो गया। संसार की, जड़ जगत् की जड़ वस्तुएँ ज्यादा कीमती हो गई। अगर इस प्रकार की भूल हम पहले करते थे, तो यह भी हमारे लिए एक भूल ही होगी कि साधको की सूची में नाम लिखवाकर दूसरों की अपेक्षा अपने को कुछ विशेष समझने लग जाएँ, यह भी भूल ही होगी। दूसरे को कुछ न समझना और मैं अधिक समझदार हूँ—ऐसा मानना अन्य दुर्गुणों की अपेक्षा अधिक बड़ा बन्धन होगा हमारे लिए। तो ये सारी बातें हमारे व्यक्तित्व का श्रृंगार बन कर न रह जाएँ। बन्धन का कारण न बन जाएँ, इसके लिए हमें सावधान रहना है। वक्ता हो चाहे श्रोता हो, मानव-सेवा-संघ में तो दोनों में कोई भेद नहीं माना जाता है। वक्ता को ज्यादा सावधान रहना पड़ताहै। अगर उसको अपने अहम् का अभिमान बढ़ गया तो श्रोता से बहुत नीचे स्तर पर चला जायगा। सावधान किस बात के लिए रहना है? यदि मैंने अपने को साधक कहा है, यदि मैंने अपने को सत्संगी कहा है तो मुझको इस बात में दृढ़ आस्था रखनी पड़ेगी कि साधक और सत्संगी जो होता है, उसको जीवन-मुक्ति, भगवद्-भक्ति वर्तमान में मिलती है। उपाय क्या करना होगा? यह तो मैं पीछे बताऊँगी। पहले हम लोग इस बात पर तो दृढ़ता से खड़े हो जाएँ कि सचमुच मैंने अपने को सत्संग में शामिल किया है, कि जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति मुझको मिलनी ही चाहिए।

मानव-सेवा-संघ मनुष्य को समय गँवाने के लिए कोई मौका नहीं देना चाहता है। क्यों? क्योंकि यह जीवन है तो अपने को चारों ओर उजाला-उजाला दिखाई दे रहा है। विवेक के प्रकाश में मार्ग दिखाई दे रहा है। समाज की उदारता से, राष्ट्र की उदारता से हम लोग यहाँ सुरक्षित बैठकर सत्य की चर्चा कर रहे हैं। भगवद् कृपा से हृदय में इतनी मानवता शेष रह गई है कि पर-पीड़ा देखें तो अपना सुख बाँट सकें—अभी तो इतना उजाला है। अगर इसका सदुपयोग हम नहीं

कर लेंगे तो कल जड़ता छा जाएगीऋ अन्धकार छा जाएगाऋ असमर्थता आ जाएगीऋ परिस्थिति बदल जाएगीऋ अवसर निकल जाएगा। तो क्या करेंगे? यह बहुत सोचने की बात है। मानव-सेवा-संघ में किसी सम्प्रदाय की किसी मत की, किसी पन्थ की चर्चा नहीं होती है। यह तो मानवतावाद है। यह मानव-मात्र की बात है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं यह कहती हूँ कि आप सम्प्रदायों को बेकार समझिये। बेकार मत समझिये, लेकिन इसमें आपको खुली छूट है, पूरी स्वाधीनता है कि जो सम्प्रदाय आपको पसन्द हो, उसी में रहिए। जो वह कहे, कीजिए। लेकिन उसके साथ यदि आपने मानवता के सत्य को मानवता के सिद्धान्त को नहीं माना तो आपका व्यक्तिगत सत्य जो है, आपका जीवन नहीं बन पाएगा। इसलिए मानव सेवा संघ की जरूरत है।

कोई-कोई कभी-कभी, महाराज जी से प्रश्न करता था, महाराज जी! दुनिया में तो बहुत प्रकार के संघ बने हुऐ हैं। एक यह नया संघ आपने और क्यों बनाया? तो महाराज जी कहते कि भाई, बहुत सारे बने हुए हैं छोटी-छोटी सीमाओं में। वर्गीकरण किए हुए सत्य के आधार पर, अपना अपना आग्रह लेकर, उन्होंने दूसरांे के बीच में भेद की दीवार खड़ी की हुई है। यह संघ सब भेदों से ऊपर उठाकर मानवता के स्तर पर मानव मात्र को एक करने का मंत्र है। अपने अपने मत का आदर अपने लिए करोऋ अपने अपने मत का अनुसरण करो और सब व्यक्तियों को, उसके मतानुसार चलने की स्वाधीनता दो। आपको आपके व्यक्तिगत सत् का अनुसरण कराने में स्वाधीनता देने के लिए मानव-सेवा-संघ बनाया है। यह एक व्यापक प्रणाली है। आप बहुत ही खुले मन से इसके सम्बन्ध में सोचिए।

मानव-सेवा-संघ कहता है कि अनुसरण करो तुम अपने मत काऋ अनुसरण करो तुम अपने विचार का लेकिन अपनी आँखों देखों, अपने पैरों चलो। दूसरों की आँखों से तुम देख नहीं सकोगे और दूसरों के पैरों से तुम चल रही सकोगे। इसलिए अपनी आँखों देखो, अपने पैरो चलो। अपने मत का अनुसरण करो, अपने विचार का अनुसरण करो। निज विवेक के प्रकाश में अपने को देखो। परन्तु जैसे तुम अपने मत-सम्प्रदाय में अपने को स्वाधीन मानते हो। वैसे दूसरों को भी उनके मत, सम्प्रदाय विचार, के अनुसार चलने दो। जो अनुसरणीय है, आदरणीय है, वह सबका है। यह दर्शन की भिन्नता होने पर भी, जीवन की एकता का पाठ पढ़ाने वाला संघ है। यह इस प्रकार की विश्वव्यापी साधन-प्रणाली है कि जिसके मानवता के सिद्धांतों को, कोई भी व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता।

मानव मात्र का यह सत्य है कि हम रोते-रोते जन्में हैं और यदि अपने व्यक्तित्व के मोह का नाश नहीं किया, अभिमान का त्याग नहीं किया, प्राप्त सामर्थ् से समाज की, माता-पिता की सेवा नहीं की विवेक के प्रकाश में शरीर और संसार से असंग नहीं हुएऋ हृदय की भावना के आधार पर प्रभु के प्रेमी नहीं हुआ तो मरने के समय रोना पड़ेगा। यह तपश्चर्याऋ यह त्याग, सेवा, ईश्वर विश्वास क्या केवल हिन्दुओं के लिए है? सो नहीं है? दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति जिसने ममता और कामना का त्याग किया, उसको शान्ति मिल गई दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति, जिसने शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद किया, उसको मुक्ति मिल गई। दुनियाँ के किसी भी व्यक्ति ने सहज विश्वास के आधार पर प्रभु को अपना माना, तो उसकी भक्ति मिल गई। इसलिए हम सब लोग

आँख खोलकर देखें। खुले मस्तिष्क से विचार करें तो स्पष्ट विदित होगा कि छोटी-छोटी साम्प्रदायिक सीमाएँ बाँधने से मानव-मानव के बीच में एक भेद की दीवार खड़ी हो जाती है। व्यक्तिगत सत्य का आग्रह ऐसा ही कराता है। मानव सेवा संघ से कहा कि व्यक्तिगत भिन्नता का तथ्य तो प्राकृतिक तथ्य है इसको संसार से मिटाया नहीं जा सकता है। जो प्राकृतिक सत्य है जो प्राकृतिक तथ्य है उसको स्वीकार करके चलो। मूल रूप से देखो, तो विदित होगा कि मानव मात्र की समस्या एक ही है और उसका समाधान भी एक ही है कि ममता और कामना छोड़ दोगे तो शान्ति अवश्य मिल जाएगी। इस मौलिक सत्य को स्वीकार करो।

इस दृष्टि से हम लोगों की समस्या एक है और समस्या का समाधान जब हो जाता है दिव्य चिन्मय जीवन का आनन्द भी सबके लिए एक ही होता है। किसी भी सम्प्रदाय का सन्त भक्त बन गया हो किसी भी विचार का, किसी भी देश का, किसी भी युग का साधक यदि अपने जीवन की पूर्णता को पहुँच गया तो योग-बोध प्रेम से सम्पन्न हो ही जाता है। जीवन की पूर्णता में सबको सब कुछ मिल ही जाता है। तो हमारी माँग एक है; जीवन की पूर्णता हमारी एक है। बीच में जो भेद दिखाई देता है। व्यक्ति-व्यक्ति का अन्तर दिखाई देता है, वह व्यक्तिगत भिन्ना के कारण है। इसलिए व्यक्तिगत सत्य का अनुसरण करो व्यक्तिगत सत्य के आधार पर आगे बढ़ो तभी जीवन की पूर्णता प्राप्त होगी। पूर्णता में वही मिलेगा, जो सबके लिए सदा-सदा से है।

आप जब साधक होकर साधक की दृष्टि से जीवन पर विचार करेंगे, शरीर मात्र को प्रकृति की सम्पत्ति जानकर सोचना शुरू करेंगे, तो आपकी दृष्टि बदल जाएगी। मैं ऐसा अनुभव करती हूँ कि विवेक का प्रकाश लेकर चलो तो संसार बदल जाता है। एक दिन असाधन काल में व्यक्ति कहता है कि संसार में बड़ा संघर्ष है अरे भाई! तुमको संघर्ष क्यों दिखाई देता है। संसार से कुछ लेना चाहते हो, इसलिए संघर्ष दिखाई देता है? और देना शुरू करो तो क्या मालूम होता है? संसार बड़ा प्रेमी है। संसार बड़ा सहयोग देता है। मानव-सेवा-संघ के नव युवक कार्यकर्ता जो जीवन लगाकर समाज की सेवा करते हैं वे कहते हैं कि भाई! समाज तो बड़ा उदार है मैं तो कहने भी नहीं पाता हूँ कि अमुक प्रकार की सेवा के लिए इतनी सम्पत्ति चाहिए, मेरे कहे बिना ही सम्पत्ति वाले अपने आप से आकर दे जाते हैं कि इसको सेवा में लगा देना। उनको तो समाज बड़ा उदार दिखाई देता है। ज्ञानी जन जब अपने निज स्वरूप में स्थित हो जाते हैं, तो उनके आगे सृष्टि रहती ही नहीं है। आप सच मानिए यह अहं रूपी अणु के अभिमान से ऊपर उठे हुए महापुरूषों का अनुभव है कि संसार लुप्त हो जाता हैं।

सुख के भोग की आसक्ति के काल में संसार बड़ा ही आकर्षक, बड़ा मीठा, बड़ा लुभावना प्रतीत होता है तो चित्त को लुभा लेता है; मन को खींच लेता है तो बड़ा भारी पतन हो जाता है। यह सब अपनी ही दृष्टि का विकार है और नहीं तो क्या होता है? जिन्होंने शरीर से असंगता प्राप्त की नहींऋ स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ा नहीं कि उनका दृष्टि का व्यापार लुप्त हो जाता है। कहीं कुछ नहीं कहीं कुछ नहीं एक नित्य अखण्ड आनन्दमय अस्तित्व के सिवा कुछ नहीं रहता है। आपने उस परम प्रेमास्पद को अपने हृदय का प्रेम भाव देकर रस प्रदान करना पसन्द किया नहीं कि आपकी आँखों के सामने उसकी मधुर लीला में अतिरिक्त और कुछ नहीं

रहता है। तो ज्ञान की दृष्टि में भी सृष्टि नहीं है और प्रेमी की दृष्टि में भी सृष्टि नहीं है। यदि आपने प्रभु से प्रेम का नाता जोड़ लिया तो आप ही का दिया हुआ प्रेम उस प्रेमास्पद की ओर से अनन्त गुणा अधिक होकर, आपके रोम रोम को शान्त, स्निग्ध और सरस बना देगा। जब यह हो जाएगा, तब उसके बाद सारी सृष्टि में आपके प्रेमास्पद की मधुर लीला को छोड़कर और कुछ नहीं रहता है कि किसी भक्त ने कहा—

'जित देखूँ, तित श्याममयी है....'

श्याम ही श्याम, श्याम ही श्याम, प्रभु ही प्रभु, प्रेम ही प्रेम, और कुछ है ही नहीं। यह हमारे आपके इसी जीवन का चमत्कार है। इस समय हम लोग कैसे हैं? थोड़ा सद्गुण-थोड़ा दुर्गुणऋ थोड़ी दुर्बलता-थोड़ी सामर्थ्यऋ थोड़ा विचार-थोड़ा भावऋ थोड़ा विश्वास-थोड़ी भक्तिऋ थोड़ी आसक्ति-थोड़ी विरक्ति इस समय हम लोगों को ऐसी दशा है। लेकिन यह इसी जीवन की महिमा है कि आप जब ज्ञान का अनुसरण करेंगे, तो अपने आप में निज स्वरूप में अखण्ड आनन्द में आपका निवास हो जाएगा। आप जब प्रभु के प्रेमी हो जाएँगे, तो आप का रोम-रोग उस परम प्रेमास्पद के मधुर रस से छक जाएगा।

स्वामी जी महारा, उस जीवन की चर्चा करते हुए एक उदारहण बताया करते थे।

आप छके, नैना छके, अधर रहे मुस्काय।

छकी दृष्टि जा पर पड़े रोम रोम छक जाय।

प्रभु के प्रेम से जो आप दक गया, उसका क्या हाल होता है? आप छकता है सबसे पहले। आप प्रभु के सरस हो जाइए, तो आप जब छक जाएँगे तो क्या होगा? आप छके, नैना छके', आपकी दृष्टि में प्रीति का रस भर जाएगा। अधर रहे मुस्काये आपकी मुखाकृति पर सदैव मुस्कान खिली रहेगी। खिंची हुई आँखें, उदास मुख मण्डल यह दूसरों को देखने को नहीं मिलेगी। प्रभु का प्रेमी निर्भय होता है। प्रभु का प्रेमी आनन्दमय होता है। प्रभु का प्रेमी रस से भरा होता है और उसमें जब रस भर जाता है तो उसने जिस शरीर को कभी भूल से अपना कहा था, उसका वह अनित्य शरीर भी नित्य तत्त्व से चमक उठता है, मुख मण्डल पर प्रसन्नता खिल उठती है।

ऐसे प्रभु पे्रम की सरसता से भरी हुई दृष्टि से आप जिसको देख लेंगे, उसके हृदय का ताप भी तत्काल, उसी समय शान्त हो जाएगा। ऐसा जीवन, हमारा आपको सब बहनों माताओं का, सभी भाइयो, का सब किसी का बन सकता है। इस आशा को सजीव बनाना हमारा पहला पुरुषार्थ है और बाकी सब कुछ अपने आप होता रहेगा। अब शान्त हो जाइए।

प्रवचन(102)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग संत वाणी में मानव जीवन के उत्थान के उपाय सुन रहे थे। स्वामी जी महाराज ने यह बताया कि संसार से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। फिर भी हम संसार से ही सम्बन्ध मानते हैं। और उसको ही सत्य भी मानते हैं। हमारा ऐसा मानना भूल है। जो सम्बन्ध पैदा होता है और टूट जाता है; बनता है और बिगड़ जाता है उसको सत्य मानना चाहिए कि असत्य मानना चाहिए? असत्य मानना चाहिए। यह स्वामी जी महाराज के कहने से ऐसा लगता है आपको या स्वयं जँचता हैं? जँचता है। ये बिल्कुल सही बात है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में, साधकों की सहायता के लिए स्वामी जी महाराजने कहा कि तुम इस विवेचन में मत पड़ों की संसार सत् है कि असत्। संसार के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं वे चाहे जो भी हों, लेकिन एक बात पक्की है सब युगों में सब देशों में सब मजहबों के अनुयाइयों के लिए साधक मात्र के लिए यह बात बिल्कुल पक्की है कि संसार के माने हुये सम्बन्ध को सत्य नहीं मानना चाहिए। इसमें विश्वास नहीं करना चाहिए और उसका सहारा भी नहीं लेना चाहिए। हम जानते हैं कि संसार के सम्बन्ध को हम निभा नहीं सकते, फिर भी उसको सत्य मानते रहते हैं तो यह हमारा माना हुआ असत् है। इसका त्याग करना ही पड़ेगा।

दूसरी बात उन्होंने तत्काल हमारी सावधानी के लिए यह कही कि देखो भाई! दिखाई देने वाले जगत् को अपना न मानना साधना है। लेकिन अपना न मानने पर भी, उसकी सेवा करना, अनिवार्य है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि सेवा, किस लिए करूँ? उसमें रहस्य यह है कि हम लोगों ने पहले संसार से सम्बन्ध माना था और सम्बन्ध मानने के कारण, ममता की आसक्ति से जो राग उत्पन्न हो गया, उसकी निवृत्ति के लिए सेवा करना अनिवार्य है। शरीरों के साथ समाज में हम रहते हैं तो इस दृष्टि से शरीर और समाज का अच्छी तरह से परस्पर सम्बन्ध निभाना है। एक दूसरे को सहयोग देना आवश्यक है। अपना न मानें परन्तु सेवा करें। अपना मानकर, ममता से पे्ररित होकर, पशु पक्षी भी खूब सेवा करते हैं आपने देख होगा कि पक्षी के छोटे छोटे बच्चे की चोंच में डालती है, सेवा करती है। लेकिन मनुष्य सचेत है। विवेक के प्रकाश में उसने असत् से संग का त्याग करने का निर्णय लिया है।

इसलिए मनुष्य से यह आशा की जाती है कि वह देखे हुए जगत् को अपना न माने। उससे ममता न करे, फिर भी निष्काम रहते हुए उसकी सेवा करे। सत्संग के प्रकाश में यह सुनने को मिला है कि जो अशरीरी जीवन को आनन्द को पसन्द करता है, उसको नाशवान के साथ सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। देखो, थोड़े दिन का यह संयोग, हमारा इस जगत् के साथ बनता है। उसको साधन रूप में बदल दो। साधन रूप में बदल देने का तरीका क्या है? अपना मानना छोड़ कर सेवा करो। ममता तोड़ लो और सेवा बन्द नहीं करो यह साधन है। कामनाएँ अपनी हटा लो बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, पति-पत्नी किसी से अपने लिए कुछ नहीं चाहिए इस प्रकार से अपनी कामनाएँ हटा लो और सेवा करते रहो। ऐसा करने से आपके अहं में नया राग अपना ेजंउच नहीं लगायेगा। संसार में रहने से राग नहीं बनता है। शरीर धारी होकर शरीरों से सम्पर्क बनाने में अपनी ममता, अपनी कामना जो हम रखते हैं, उससे राग बनता है। अतः हम लोग क्या करेंगे? कैसे सत्संग करेंगे?

सत्संग इस प्रकार से करेंगे कि जीवन में जो अपना जाना हुआ असत् है उसे छोड़ देंगे। संसार कैसा है, यह तो संसार जाने और संसार का मालिक जाने। लेकिन हम स्वयं इस बात को जानते है कि इनको अपना मानना मिथ्या है। अतः इनको अपना मानना बन्द कर देंगे, तो सत्संग हो जायेगा। फिर भी सेवा करेंगे तब क्या फल निकलेगा? कि अपना नहीं मानेंगे तो नया राग नहीं बनेगा और निष्कामता पूर्वक सेवा करेंगे तो पुराने राग मिट जाएँगे। साधना की सिद्धि में आने वाली सब बाधाएँ मिट जाएँगी। प्रत्येक साधक भाई-बहन को इस पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। अब तक संसार से चाहे जितना भी

सम्बन्ध माना हो और उसके फलस्वरूप जो भी विकृति पैदा हुई हो, उसके लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है आज से यदि अपने को सत्संगी स्वीकार किया तो जीवन के इस तथ्य को अपनाइये कि अपना नहीं मानेंगे तो नया राग नहीं बनेगा और निष्कामता पूर्वक सेवा करेंगे तो पुराने राग मिट जाएँगे। सब प्रकार की बाधाएँ मिट जाएँगी।

आप देखिए, कर्त्तव्य से हम वंचित है, तो राग के कारण। अशरीरी जीवन की शान्ति और आनन्द से हम लोग वंचित हैं, तो राग के कारण। असली बीमारी तो वही है। उसी बीमारी को मिटाने का उपाय हम लोगों ने कर लिया तो संसार के बन्धन से छूट गए। फिर तो कोेई बाधा है ही नहीं अब आगे बढ़िए। वह जो सुना हुआ परमात्मा है, यद्यपि वह दिखाई नहीं देता, जाना नहीं जाता, लेकिन मैं क्या बताऊँ, वह इतना प्रचण्ड है कि न दिखाई देने पर भी जान पहचान न होने पर भी वह हम लोगों के भीतर बाहर बड़े जोरों से भरा रहता है और अपनी उपस्थिति का परिचय भी देता रहता है। वह परमात्मा इतना शक्तिशाली है। चाहे अनुकूलता पर हमारी दृष्टि जाए, चाहे प्रतिकूलता पर, उस नित्य विद्यमान परमात्मा की शक्तियों का परिचय हर समय आपको मिलता रहता है। अतः प्रत्येक भाई-बहन किसी न किसी रूप में उनका होनापन स्वीकार करते ही हैं।

अब विचार यह करना है कि भाई! सुने हुए परमात्मा के प्रति हमें क्या करना है? हमारी उत्पत्ति का जो आधार है, वह अदृश्य है; अगम्य है। हम लोग उसको जान नहीं सकते हैं। इन्द्रियों से बुद्धि से, अनजान है वह, फिर भी उसी की सत्ता पर, हमारी सत्ता आधारित है। इस सत्य को न मानकर हम उनकी ओर से विमुख हो जाते हैं। उसके दिए हुए बल को अपना बल मान लेते हैं। उसकी दी हुई सामग्री को अपनी सामग्री मान लेते हैं अपनी उपा£जत मान लेते हैं और सीमित अहं के अभिमान से आबद्ध हो जाते हैं।

अब परिणाम देखिए। परमात्मा से विमुख होते ही, जीवन में आसक्ति भर जाती है, कामनाएँ भर जाती है, नीरसता छा जाती है, मृत्यु का भय सताने लगता है और सुख-दुःख के द्वन्द्व में हम फँस जाते हैं तो हमें क्या करना चाहिए? उस परमात्मा को सर्व उत्पत्ति का आधार मानकर उसी को अपना नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। वही हमारा परम आत्मीय है अपने से अधिक अपने निकट और घनिष्ठ है। उसी का सम्बन्ध नित्य है। पहले भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा। ऐसा हम लोगों को अपने द्वारा स्वीकार करना चाहिए। इन दो बातों से साधक समाज की साधना मार्ग की सब बाधाएँ दूर होती हैं। दिखाई देने वाले संसार से अपने माने हुए सम्बन्ध को हटाकर उसकी सेवा करें और बिना देखे, बिना जाने परमात्मा से अपने आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करके उनके, आश्रित होकर रहें—इसी का नाम सत्संग है। जिन्होंने ऐसा कर लिया, उनका काम बन गया।

कभी कभी मैं आनन्दित होकर कहती हूँ कि हे सृष्टि तुम मेरे प्यारे प्रभु की हो। आबाद रहो, आनन्दित हरो। परमात्मा से कहती हूँ हे महाराज! यह सृष्टि आपको मुबारक हो। आप ही ने बनाई है आप सँभालते हैं आप ही भुलाए रखते हैं मुझे तो अपनी सृष्टि से छुट्टी दिलाइए। मुझसे भूल हो गई मैंने आपकी सृष्टि में हस्तक्षेप किया। इसी से कष्ट हुआ अन्यथा संसार में किसी प्रकार से मुझको नुकसान पहुँचाने की सामर्थ् नहीं है। और परमात्मा नुकसान पहुँचाएँगे ही क्यों? वे तो हमारी

पीड़ा से पीड़ित होते ही रहते हैं हमारी दशा देखकर करुणित ही होते रहते हैं वे आनन्दस्वरूप जो ठहरे। वे क्यों किसी को कष्ट देंगे! कष्ट अपनी ही भूल से है। इस भूल को मिटाना ही सत्संग कहलाता है। संसार नाशवान है इस दार्शनिक सिद्धान्त को प्रमाणित करना, सत्य की चर्चा कहला सकती है सत्संग नहीं है सुनने के बाद उसके अनुसार मैंने निर्णय ले लिया तो सत्संग हो गया और सत्संग हो गया, तो जीवन बदल गया।

आज हम लोग अपने द्वारा जाने हुए असत् को त्यागने में असमर्थ हो रहे हैं और माने हुए सत्य का अनुसरण करने में असमर्थ हो रहे हैं। अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर, हम लोग सर्व सामर्थ्वान को याद करते हैं अपने में अनेकों प्रकार के दोषों को देखकर पतित पावन प्रभु को याद करते हैं। अपनी दीन दशा को देखकर दीनबन्धु को याद करते हैं बहुत अच्छी बात है। भक्तजन बताते हैं कि देखो! अगर उनसे मिलना चाहते हो सदा सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय होना चाहते हो तो एक बार अपने सहित अपने पास जो कुछ तुमको दिखाई देता है, सब उनके समर्पित करके शरणागत हो जाओ। प्रभु के आश्रित हो जाओ, फिर तुमको कुछ करना नहीं पड़ेगा। सीमित अहं-भाव का अभिमान लेकर ही हम लोग जन्म मरण के बन्धन में पड़े हुए हैं। इस अहं के अभिमान को गलाने के लिए विश्वास-पथ के साधकों में भगवद्-समर्पण के समान दूसरा कोई अचूक उपाय नहीं हे। समर्पण के भाव में अभिमान रहता ही नहीं हैं। अहंकृति शान्त हो जाती है।

विश्वास-पथ के साधक के जब अपने जीवन के आधार सर्व समर्थ प्रभु को अपना मान लेते हैं तो उन्हें पता चल जाता है कि मेरे उद्धार के लिए मुझमें जितनी तत्परता है, उस करुणा सागर में मुझ फँसे हुए को उबारने के लिए उससे कहीं अधिक तत्परता है। जिन-जिन लोगों ने विश्वास किया था उन सभी को उसका अनुभव भी हो गया। अनुभवी सन्त महात्माओं ने अपने अनुभवों को हमें सुनाया। एक अंग्रेजी की बड़ी अच्छी कविता है उसमें कवि ऐसा अनुभव करता है कि ईश्वर ने उसे गोद में कसके पकड़ रखा है और वह विमुख हो उनकी और पीठ और संसार की और मुख करके दौड़ा जा रहा है, जगत् के सुख की ओर? पर वह उसे गड्ढे में गिरने के लिए छोड़ते नहीं हैं इसलिए पकड़ रखा है। उसका मुख है उनके विपरीत तो उसे जगत दिखाई देता है और वह यहाँ वहाँ भागता बहुत बेचैन है और पूछता है कि अरे भाई! मुझको बनाने वाला कहाँ है? मुझे इस जगत् की ज्वाला से बचाने वाला कहाँ है? तो वे कहते हैं, ओ मेरे बच्चे! ओ मेरे अन्धे बच्चे! मैं तो तेरे पास ही हूँ, तू मेरी गोद में ही तो है एक बार तू मेरी ओर मुख करके देख तो सही। तू कहाँ खोजता फिरता है? मेरी तरफ पीठ फेर कर मुझको कहाँ देखता है? इधर देख तो सही, मैं दिख जाऊँगा तुम को।

सभी अनुभवी सन्तजनों ने भक्त जनों ने हम लोगों को बताया कि वे जगत् पिता, वे जगत् जननी हमको अपनी गोद से कभी अलग करते नहीं है। कैसे करेंगे? उनसे कोई जगह खाली हो तो अपने में से निकाल करके वहाँ फेंक दे। आप बताइये, खाली है कोई जगह? कोई ऐसी जगह है जहाँ वे न हो? ऐसी तो कोई जगह है नहीं कहाँ फेकेंगे? अपने ही में से उन्होंने हमें बनाया है अपने पे्रम के रस से वे हम लोगों को पालते हैं तो फैकेंगे कैसे? हटाएँगे कहाँ छोड़ेंगे कैसे वे छोड़ नहीं सकते। हम लोगों को अपने से अलग कर नहीं सकते। तभी तो उनके विशेषणों में से एक बड़ा

भारी विशेषण है 'अनन्त माधुर्यवान'। प्रभु अनन्त माधुर्यवान है। अनन्त माधुर्यवान का अर्थ होताहै, जो सभी को अपना कर अपने में रखता है उसका नाम है अनन्त माधुर्यवान।

यह विशेषण हम लोगों के लिए बहुत आशाप्रद है। इसको हम भूल जाते हैं इसजिए कष्ट में पड़ जाते हैं मैंने कितनी भूल की और मैंने अपने को कितना गन्दा कर लिया और कितने दोषों से भर लिया। मुझे कष्ट इस कारण से हुआ कि मैं भूल गई कि मैं अपने परम आत्मीय, पे्रम स्वरूप परमात्मा की गोद में ही हूँ। अन्यथा पे्रम स्वरूप परमात्मा के पे्रम रस के अधिकारी को कष्ट कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। फिर भी बढ़िया बात यह है कि हम उन्हें भूल जाते हैं, पर वे हमें कभी नहीं भूलते हैं इतना होते हुए भी साधना में शिथिलता क्यांे आती है?

अब आज सोचकर देखिए! बड़ी चतंबजपबंस बात है। बड़ा ठोस तथ्य है कि जितना विश्वास जन्मने वाली सन्तान में है, उतना विश्वास उस अलख, अगोचर अजन्मा अविनाशी में है क्या? बड़ी गम्भीर बात है। हम सब लोग ईश्वर विश्वास के पथ को पकड़ कर साधक बने हैं और दिन रात इस धुन में लगे हैं कि कैसे इस कठोर जड़ हृदय से प्यारे प्रभु के प्रेम का प्रवाह उमड़े। लेकिन उस पर ऐसा पत्थर पड़ाहै कि हृदय पिघलता ही नहीं। रस प्रवाहित होता ही नहीं है। देखिए किसी को उनकी याद आती है तो उसके हृदय में वे प्रकट हो जाते हैं दर्शन के आनन्द में ऐसे साधक बहुत-बहुत दिनों के लिए समाहित हो जाते हैं। किसी को उनकी याद आती है तो उस याद में उसका अहं ही खो जाता है, डूब जाता है। मैं क्या बताऊँ, उनकी महिमा का दर्शन हेाता है, तो हृदय सरसरता से भर जाता है और मैं बहुत प्रसन्नता से कहती हूँ कि प्यारे प्रभु! आपने बड़ अच्छा किया। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की पक्तियों को दोहराती हूँ मैंः—

'प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों'

आपने बड़ा अच्दा किया कि जब जब मैंने अपने स्वप्निल जगत् रचाए तब-तब आपने सारा उजाड़ कर फेंक दिया। आपने बड़ा अनुग्रह किया। असत् के संग में आपने मुझको साँस ही नहीं लेने दिया। बिल्कुल बेचैन करके रखा। आज उसका बड़ा अनुकूल परिणाम है मेरे सामने। किसी दिन जिन बातों को जीवन का अभिशाप मानती थी मैं आज वो मेरे लिए वरदान प्रमाणित हो गई।

आप बहुत गम्भीरता पूर्वक अकेले में बैठकर इस विषय पर विचार कीजिए। दुःख भरे संसार को केवल अपना मानने का सम्बन्ध तोड़ना है। उसमें भी हमने इतनी देर लगा दी। बीमारी और बढ़ती चली जा रही है। नया-नया राग अंकित होता चला जा रहा है। रास्ता और लम्बा होता चला जा रहा है कब तक यह दशा रखोगे? सर्व समर्थ प्रेम स्वरूप परमात्मा नित्यसम्बन्धी, जिन्होंने हम लोगों को अपनी गोद में पकड़ रखा है उनको अपना मानने में हमने इतनी देर लगा दी। मान ही नहीं सके आज तक। विश्वास नहीं कर सके आज तक, सोचो!

बहुत ही निश्चिन्त होकर यहाँ से उठने के बाद आप भाई बहनों को जब मौका लगे, अकेले में बैठकर इस बात को सोचियेगा अपनी तरफ से कि जो नहीं है उसको नहीं करके निश्चय पूर्वक अस्वीकार करना ही है और जो है उसको अवश्य अपने द्वारा स्वीकार करना है। सफलता मिलेगी अवश्य। इसमें एक बड़ा रहस्य है अब मैं उसकी

चर्चा करती हूँ। उससे हमारा साधन-पथ स्पष्ट हो जायेगा। मानव-जीवन की बात है, विचार करिये।

आँख में रास्ता देखने की शक्ति है परन्तु चलने की शक्ति नहीं है पाँव में चलने की शक्ति है परन्तु देखने की नहीं है स्पष्ट है कि पाँव को आँखों का अनुसरण करना पड़ेगा और आँखों को पाँवों का सहयोग लेना पड़ेगा। दोनों से काम लेना है, तभी रास्ता तय होगा। दोनों से ठीक काम लेना है। आँखों से जो रास्ता दिखाई दे उसी पर चलना चाहिए। यह निश्चय हुआ अपना। फिर पाँव की शक्ति का उपयोग करके मंजिल पर पहुँच जाओ। बिल्कुल युक्ति युक्त बात है। अब साधक के सामने कठिनाई क्या हो जाती है? कि विवेक के प्रकाश में सन्मार्ग साफ-साफ दिखाई देता है परन्तु उसका अनुसरण करने की सामर्थ् नहीं है। समझ बूझ की कमी नहीं है विवेक का प्रकाश मन्द नहीं हुआ। वह अविनाशी तत्त्व है, उसका नाश नहीं होता है क्योंकि स्वयं प्रकाश परमात्मा में से वह आ रहा है। इसलिए किसी भी व्यक्ति का विवेक कभी लुप्त नहीं होता है। वह क्या कर रहा है, सन्मार्ग दिखाना उसका काम है। उसकी कमी नहीं पर चलने के लिए दूसरी शक्ति चाहिए। उसको मनुष्य के व्यक्तित्व का भाव पक्ष कहते है; जो कि जीवन को गतिमान करने वाला तत्त्व है। मनोवैज्ञानिक भाषा में उसे क्लदंउपब वितबम कहते हैं।

अगर विचार के विकास के साथ, हृदय पक्ष का समान विकास नहीं हुआ, जीवन को सत् पथ पर गतिमान करने वाली शक्ति विकसित नहीं हुई तो साधन में सफलता नहीं मिलती है। अतः साधक के हृदय और मस्तिष्क दोनों का समान विकास होना चाहिए। अगर विचार अविकसित रह गया तो साधक को पथ-भ्रांति हो सकती है और हृदय अविकसित रह गया तो साध्य से अभिन्नता नहीं हो सकती है। अतः दोनों का विकास अनिवार्य है।

अब हृदय पक्ष को सरल और सरस कैसे बनाया जाए?

1. सत् पुरुषों की संगति में रहकर,

2. माता-पिता तथा गुरुजनों की परिश्रम पूर्वक सेवा करके,

3. तथा प्राणी मात्र के प्रति करुणा और उदारता का भाव रखकर।

हृदय की कोमलता को बढ़ाया जाता है, जिससे जीवन को गतिमान करने वाली भाव शक्ति की वृद्धि होती है। साधक को अपनी साधना में सफलता मिलती है। बिल्कुल पक्की बात है।

मनुष्य के व्यक्तित्व को दो भागों में बाँटा गया, समझाने के लिए। जीवन सम्बन्धी घटनाओं का अध्ययन करने से जीवन सम्बन्धी जानकारी बढ़ गई। विचार करने से पता चल गया कि सुख सुविधा सम्मान के लिए कामनाओं के फेर में नहीं पड़ना चाहिए, अपितु कामना-निवृत्ति की शान्ति की ओर बढ़ना चाहिए। अब साधक दुविधा में पड़ा रहता है। उसके हृदय की जड़ता जो है, उसको तोड़ने का उपाय नहीं करने से कामना-पूर्ति का सुख छोड़ा ही नहीं जाता है। साधक-समाज की इस कठिनाई को मैं बुहत अच्छी तरह जानती हूँ, क्योंकि इन कठिनाइयों के भीतर से होकर निकलते समय, मैंने अपना चित्र देखा है। बिल्कुल सच्ची बात है। आदमी जहाँ का तहाँ अटका रहता है क्योंकि वह शक्ति जो साधक को साध्य की और गतिमान करती है, वह शिथिल रह जाती है उसको आगे बढ़ाने में। क्या करें?

एक उपाय यह है कि जहाँ भी कहीं, सुख-सुविधा अपने को मिले उसको अधिक

जरूरत मन्द की सेवा में लगा दें। दुःखी जनों की सेवा से सुख भोग की वासना मिटती है च्तंबजपबंस साधन है। प्रयोग करके देखिए। ऐसा गहरा रहस्य है मानव जीवन का और बड़ा भारी प्रभाव भी है इसका। साधको के मुख से आपने बहुत बार सुना होगा कि क्या बताएँ, अपने द्वारा अच्छी तरह यह जान लेने पर भी कि संसार निस्सार है, इसकी ओर से चित्त हटता ही नहीं है। भक्त जनों के द्वारा यह सुना दिया गया कि रस स्वरूप परमात्मा को माने बिना जीवन की नीरसता का नाश नहीं होगा। भीतर बड़ी लालसा भी जगती है कि कितना अच्छा होता अगर हम उनको अपना मानकर सदा-सदा के लिए संसार की नीरसता की पीड़ा से मुक्त हो जाते। फिर भी अपने माने हुए दुनियाँ के सम्बन्धी जितने निकट मालूम होते हैं, वे घटघटवासी अन्तर्यामी अपने को अपने से बहुत दूर लगते हैं हृदय में सुख भोग की तृष्णा से इतनी शुष्कता, इतनी जड़ता इतनी नीरसता भर जाती है कि उन परमात्मा की विद्यमानता से, उनके प्रेम रस की मधुर लहरियाँ जो भीतर उठ रही है, जो हृदय को छू रही हैं। उनके स्पर्श का अपने पर कोई प्रभाव ही नहीं होता।

भीतर की इस शुष्कता, इस नीरसता ने जीवन को इतना शिथिल बना लिया है कि जिस सत्य को सत्य कहकर स्वीकार करते हैं, उसका प्रभाव अपने पर नहीं होता। जिस जाने हुए असत्य को असत् कहकर छोड़ना पसन्द करते हैं, उसे छोड़ ही नहीं पाते। किसी बाहरी उपाय से किसी बाहरी

विधि-विधान से किसी नियम-अनुष्ठान से यह दोष नहीं मिटेगा। साधक के जीवन की बड़ी गहरी व्यथाहै, बड़ी भारी बाधा है कि हृदय शुष्क और नीरस पड़ा रहे। इसको मिटाने का बड़ी जल्दी-जल्दी उपाय हम लोगों को करना चाहिए। कुछ उपायों की चर्चा आज हो गई और शेष चर्चा फिर कल करेंगे। सर्व समर्थ प्रभु अपनी उदारता से अपनी महिमा से, सब प्रकार से हम लोगों के जीवन को पूर्ण बनाने के लिए सदैव तत्पर हैं। हम उनकी कृपालुता की आवश्यकता महसूस करे। उनकी कृपाशक्ति हमारा कल्याण करे। अब शांत हो जाइए।

प्रवचन(103)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो!

हम सब लोग साधक के जीवन पर विचार कर रहे हैं कि साधना की आवश्यक बातें समझ में आ जाती हैं, अच्छी भी लगती हैं उनका अनुसरण करना भी हम लोग पसन्द करते हैं फिर भी वे बातें जीवन में उतरती नहीं हैं इस दुःख से, बहुत से साधक भाई बहन दुःखी रहते हैं। क्या बताएँ भगवान की सत्ता को मैंने मान भी लिया और उनका भजन करना अपने को जरूरी मालूम भी होता है ध्यान करना जरूरी मालूम होता है, जप करना जरूरी मालूम होता है परन्तु जब भगवान का ध्यान करने बैठते हैं तो संसार का चित्र दिखाई देने लगता है। अनेक साधकों से इस प्रकार की बातें सुनने को मिलती है। यह एक बड़ा ही जोरदार प्रश्न है कि जिस बुराई को हम लोग बुराई करके जानते हैं, उसको छोड़ने में देर क्यों लगती है। जिस सच्चाई को सच्चाई करके मानते हैं, उसको स्वीकार करने में उसका अनुसरण करने में देर क्यों लगती है? हम लोग संसार के चिन्तन में अभी तक अपने को फँसा हुआ क्यों पाते हैं? परमात्मा की नित्य उपस्थित के अनुभव से शून्य क्यों हैं?

एक बड़े अच्छे साधक स्वामी जी महाराज के सत्संग में आते जाते रहते थे। महाराज जी ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनसे एक बार भेंट हुई तो मुझसे कहने लगे, दीदी! आप मुझे एक बात बताइये? भगवान को हम लोग मानते रहें और आखिर में भगवान न निकला तो? क्या अर्थ है? अर्थ यह है कि भगवान को मानते हैं—ऐसा आप कर रहे हैं? परन्तु भगवान अपने ही भीतर विद्यमान है—इसका आपको कोई आभास नहीं है उनकी विद्यमानता का आभास कुछ भी अपने को मिल गया होता तो ऐसा सन्देह नहीं होता। ऐसा प्रश्न अगर अपने में उठता है तो इसका मतलब यह है कि जो सत्य है जो नित्य है जो सर्वत्र है सदैव सभी में है, सभी का प्यारा है, सभी का अपना है, उसकी विभूतियों से हमारा जीवन शून्य है। बहुत जोरदार प्रश्न है। इसका निराकरण अवश्य ही होना चाहिए।

स्वामी जी महाराज ने इसके सम्बन्ध में यह सुझाव दिया कि भाई देखो! मनुष्य के व्यक्तित्व में दो पक्ष है। एक प्रकाश है, जिसमें कि हम लोगों को सही गलत का ज्ञान होता है। क्या सही है, क्या गलत है— इस बात की जानकारी हम लोगों को मिलती है। जिन्दगी में एक भावात्मक गतिशीलता है। एक प्रकार का बल है मनुष्य के जीवन में भाव पक्ष का। यही पक्ष जीवन की सरसता का, उस सच्चाई का जो परमात्मा की ओर, प्रेमास्पद की ओर सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रवाहित करता है, प्रतीक है। इन दोनों को स्वामी जी महाराज ने दो शब्दों से सम्बोधित किया है।

एक को कहा मस्तिष्क का पक्ष और एक को कहा हृदय का पक्ष। इस विषय को मैंने मनुष्य के मस्तिष्क के विश्लेषण में मनोविज्ञान में भी पढ़ा था। इसलिए मेरी समझ में आ गया कि श्री महाराज जी क्या कह रहे हैं सन्तों की वाणी सुनकर, ग्रन्थों के वाक्यों को पढ़कर बुद्धि का विकास हो जाता है। भाषाओं के शब्दार्थ हम सीखते हैं सन्त महात्माओं की संगति में बैठकर उनके वचन सुनते-सुनते बहुत अच्छे-अच्छे, ऊँचे-ऊँचे चिन्तन वाले शब्दों का अर्थ भी हम लोगों की समझ में आने लगता है। इसमें ज्यादा कठिनाई नहीं होती है, ज्यादा देर भी नहीं लगती है। मस्तिष्क का विकास जो है, इस रूप में जल्दी हो जाता है फिर भी साधना में प्रगति नहीं होती है, क्योंकि सच्ची बात को सच्ची कहकर स्वीकार कर लेने के बाद भी उसके अनुसरण से आदमी अपने को बचाता रहता है। बुराई को बुराई जान लेने के बाद भी उसके त्याग में हम ढीलापन रखते हैं।

सोचो तो सही, तुम्हें सत्य का अनुसरण भी करना है, अपने में ही जो विद्यमान है उससे अभिन्ना भी होना है तो बुराई का त्याग करना ही पड़ेगा फिर भी ढीलापन है तो इस प्रकार की दुर्बलता क्यों रखते हो? इस प्रकारकी दुर्बलता को मिटाने का उपाय करना ही पड़ेगा। उपाय क्या है? देखिए। एक है विचार का पक्ष और एक है भाव पक्ष। विचार के द्वारा पता चल जाता है कि क्या सही है क्या गलत है, भाव शक्ति में वेग होता है। उसमें तीव्रता होती है जिससे व्यक्ति का जीवन उस सत्-पथ का अनुसरण करने में बड़ी तीव्र गति से लग जाता है। हम लोगों को विचार तथा भाव दोनों पक्षों का विकास करना होगा। अपनी दशा देखो! दशा ऐसी मालूम होती है कि बहुत सी अच्छी बातों को हम लोग जानते हैं कि लेकिन अच्छी बातों को जानकर उसका अनुसरण नहीं करते।

एक सज्जन स्वामी जी महाराज के पास आए और कहने लगे कि बाबा जी। आपकी बातें

तो बहुत अच्छी लगती है कुछ हमें भी बताइए। स्वामी जी ने कहा कि मैं क्या बताऊँ भाई! तुम तो मास्टर डिग्री वाले हो। बीस वर्ष मुझको पढ़ाओगे। मैं क्या बताऊँ तुमको वे बोले कि बाबा जी! आपकी बातें बहुत अच्छी है। मुझको कुछ तो बताइये स्वामी जी ने पूछा कि भैया! तुम एक बात पहले मुझे बताओ कि तुमको कुछ अच्छी बातें मालूम हैं कि नहीं? उसने कहा मालूम तो हैं स्वामी! मैं कुछ कुछ अच्छी बातें तो जानता हूँ। महाराज जी ने पूछा कि जो अच्छी बातें जानते हो उनको तुमने मान लिया क्या? पढ़ा लिखा शिक्षित व्यक्ति थाऋ सच्चा आदमी था। उसने कहा नहीं महाराज! माना तो नहीं महाराज जी ने कहा कि यार! मैं अपनी अच्छी बातें क्यों सुनाऊँ। जब तुम अच्छी बात जानते हो पर उसको ही नहीं मानते हो तो मैं अपनी अच्छी बात का निरादर तुम्हारे द्वारा क्यों करवाऊँ? मैं नहीं बताऊँगा। यह विनोद का विनोद है और बड़ा ठोस सत्य है। आप सभी अनुभव करते हैं कि हम लोग अपनी जानी हुई अच्छाई का अनुसरण नहीं कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि विचार के आधार पर त्याग की भावना अपने में रख ली, लेकिन हृदय ऊँचा नहीं है तो त्याग सिद्ध नहीं होता। समझ में आता है? विचार बढ़ करके विकसित हो जाए और हृदय संकुचित रहे तो उसी हालत में यह दशा होती है जो हम लोगों की है।

एक दिशा से सम्पत्ति आयी है और समय के प्रवाह में बहती हुई निकले जा रही है अगर उसको सामने आए हुए काल में, दुःखी जनों की सेवा में लगाकर सदुपयोग का डालोगे तो धन के लोभ से तथा उसकी आसक्ति से मुक्त हो जाओगे दाता ने दिया था इसलिए कि तुम अपनी गन्दगी की सफाई कर लो, लोभ और आसक्ति के दोष से मुक्त हो जाओ और तुम उसको लोभ की दृष्टि से देखते रहे तो देने की हिम्मत नहीं हुई। प्रकृति के विधान से वह सम्पत्ति निकल जाती है, आया हुआ मौका चला जाता है व्यक्ति जैसा का तैसा संकुचित हृदय लेकर बैठा रह जाता है। यह घाटा हो गया। और दे दिये होते तो? जाने वाली चीज तो जाएगी जरूर लेकिन तुमको शुद्ध करके जाती, तुमको शान्त करके जाती, तुमको आनन्दित करके जाती तो लाभ हो जाता। समझ में आया?

अब इस गन्दगी की सफाई कैसे होगी? आँख बन्द करने से होगी कि कान बन्द करने से होगी? वृक्ष के नीचे बैठने से होगी कि बालू में बैठने से होगी? बताओ? सच्ची बात यह है कि इन बाहरी बातों से भाव-शुद्धि कभी नहीं हो सकती। अतः एक उपाय यह आ गया हम लोगों के सामने कि भाई! बल आए, सम्पत्ति आए, पद मिले, तो जल्दी जल्दी उसका सदुपयोग करके अपने भीतर के राग को मिटा लेने का साधन हम लोग करें। उससे क्या होगा कि जब जड़ता और कठोरता निकल जाएगी, तो अपनी शक्ति बढ़ आएगी, जिससे हम हर प्रकार से हरि आश्रय होकर रह सकते हैं। हर प्रकार से शरीरों से असंग होकर रह सकते हैं। यही शक्ति हम लोगों को चाहिए।

एक बार मैं एक संत महिला से मिलने गई। वे मेरी अंगुली पकड़ कर ले गई कि चलो, उधर चलो हम बताते है तुमको। ले जाकर उन्होंने एक स्थान दिखाया और कहने लगी कि देवकी जी, जब मेरे मन में बड़ी लगन लगी थी कि मैं कैसे सत्य से अभिन्ना होऊँ, तो देखो! घर का काम करते करते भीतर भीतर मुझमें बड़ी तड़पन होती रहती थी और जैसे ही घर का काम खत्म हुआ तो मकान के पीछे, दूसरे मकान की टूटी हुई दीवार की आड़ में बैठ करके मैं बस उसी चिन्तन में रहती थी। मैंने

और कुछ नहीं किया न जप करना जानूँ न तप करना जानूँ, न पढ़ी लिखी हूँ। उनको सफलता मिली और वे सिद्ध हो गई उनके शिष्य लोगों ने मुझको बताया कि हम लोग जब कठिनाई में पड़ते हैं तो माताजी का दिया हुआ कागज का चार पन्ने का नोट बुक खोलते है। उसी में से हमको उत्तर मिल जाता है। उसकी से हमारी समस्या हल हो जाती है। ऐसी थी वे सिद्ध महिला।

अब मेरे दिमाग में यह चिन्तन होने लगा कि इनमें जैसी लगन थी, वैसी लगन तो मुझ में है नहीं? मेरे व्यवहार में सामाजिकता, भौतिकता आदि की प्रधानता है। मेरे भीतर की सारी जीवन शक्ति एकदम अपने लक्ष्य की ओर लग जाए कि दूसरी कोई बात सूझे ही नहीं, दिखे ही नहीं। ऐसी तैयारी मेरी नहीं है।

अब इसके आगे का कदम देख लीजिए। आगे क्या है? कि जिन साधकों के जीवन में हृदय की सरसता अधिक रही, वे विचार मार्ग के साधक होने पर भी विचार पूर्वक त्याज्य का त्याग करने में सफल हो गई। निश्चय किया कि यह छोड़ने के लायक है तो तत्काल छोड़ दिया, देर नहीं लगी। ऐसी शक्ति कहाँ से आई? उनकी जीवनी शक्ति जो थी, वह स्पार्थपरता के दोष से कुण्ठित नहीं थी। इसलिए वे पार पा गए। ईश्वरविश्वास के साधकों ने जिन्होंने प्रभु को अपना माना उनको अपना आत्मीय कहकर स्वीकार किया, उनकी इस स्वीकृति के फल स्वरूप उनके दूसरे सारे सम्बन्ध तत्काल ढीले हो गए।

श्री महाराज जी के सम्बन्ध में हम लोगों ने सुना है कि सन्त ने सलाह दी है कि ईश्वर के शरणागत हो जाओ और उन्होंने प्रभु की शरणागति को स्वीकार कर लिया तो बड़ा भारी परिवर्तन उसी समय ग्यारह वर्ष की उम्र में उनके जीवन में आ गया। सवेरे सवेरे उठने पर उनको स्नान वगैरह करा दिया जाता। हाथ में एक छोटी सी छड़ी लेकर अकेले ही टटोलते-टटोलते घर से निकल जाते। पता ही नहीं चलता किसी को। किसी को बताते ही नहीं थे और न किसी को साथ ही लेते थे। गाँव के एकदम बाहर एक बगीचे में एक पुलिया थी नहर के ऊपर उस पर जा करके बैठ जाते और सारा दिन वहाँ बैठकर बिता देते। शाम होने पर ऐसे ही टटोलते-टटोलते घर आ जाते। उनको देखकर ऐसा लगता कि जैसे संसार में उनका किसी से कोई नाता ही नहीं है।

अब स्वामी जी ने हम लोगों को बताया कि जब सन्त ने कहा कि प्रभु के शरणागत हो जाओ, जो देवकी जी! पता नहीं उस सन्त की वाणी में क्या जादू था कि मैंने उनकी बात को स्वीकार कर लिया तो उसके बाद ऐसी धुन लग गई, ऐसी धुन लग गई कि जिसकी शरण मैंने ली है, जो मेरा शरण्य है उससे मुझको तत्काल मिलना ही चाहिए। तो बस बड़ी तीव्र लगन लग गई। न ग्रन्थ पढ़ा न कीर्तन किया। इन सबका तो कुछ मौका था ही नहीं। कहीं जा नहीं सकते थे किसी से मिल नहीं सकते थे, पढ़ना लिखना कर ही नहीं सकते थे। पर ऐसी लगन लगी कि सारा जीवन उससे प्रभावित हो गया। उनके एक गुरु भाई सन्त हैं वे कहते हैं कि सन्यास लेने के लिए उनके गुरु ने आज्ञा दी पीछे और सिद्ध पुरुष ये प्रमाणित हो गए पहले। स्वामी जी महाराज की उम्र के बारबर के एक साधक हैं वे कह रहे थे कि ऐसा लगता था कि न जाने कौन से ऐसे गहरे चिन्तन में स्वामी जी डूबे हुए हैं और थोड़े ही दिन के बाद इनके चिन्तन की दशा जो थी सो हमारे देखते ही देखते एक दम प्रसन्नता में बदल गई और मुख मण्डल बिल्कुल देदीप्यमान हो गया। एक दम चमक निकलने लगी

इनके चेहरे से और मुख से बड़ी प्रसन्नता और खूब शान्ति दिखाई देने लगी। वे कहते हैं कि मैं बार बार उनको पकड़ कर पूछता कि स्वामी जी सत्य बताइये आपको क्या मिल गया? आप भाई बहनों के सामने इस बात को मैं इसलिए निवेदन कर रही हूँ कि हृदय के विकास की बड़ी भारी आवश्यकता है, यदि यह बात हमारी दृष्टि में आ जाए।

श्री महाराज जी का हृदय बड़ा कोमल था। हमने सुना है कि बचपन में आम खाते समय कोई आम मुख में लगाएँ और मीठा लगे तो एकदम याद आए कि भाई! यह तो बड़ा मीठा है, यह तो अपने उस मित्र को खिलायेंगे, तो जल्दी से उसको झोली में डाल लेते। यह किस बात का उदाहरण है? यह हृदय शीलता है। सुख सामने आया तो स्वयं भोगा नहीं गया। पे्रमी मित्र को सुख देने में आनन्द माना। ऐसी हृदय शीलता जिसमें हो, उसको अल्प समय में ही सफलता मिल जाती है। एक बात संत ने बता दी तो उसका ऐसा गहरा ेजंउच लग गया कि सन्यासी बनाए गये और पीछे और प्रभु की शरणागति उनके जीवन में सिद्ध हो गई पहले। तो मैं जो कहना चाहती हूँ, वह बात अब स्पष्ट हो गई होगी। आप भाई बहिनों ने इस सत्य को पकड़ लिया होगा कि हमारे जीवन में साधना के पथ पर अगर हमारी प्रगति नहीं मालूम होती है, शिथिलता मालूम होती है, तो उसका कारण यह है कि हम लोगों ने हृदय के पक्ष को विकसित नहीं होने दिया। कहीं बड़प्पन का अभिमान कहीं लोभ की जड़ता—इन सब विकारों से मुक्त हुए बिना काम नहीं बनता है जब हृदय सरस होता है, भाव पक्ष सबल होता है तो सम्पूर्ण शक्ति साध्य से जुट जाती है। साधक को कुछ भी करना शेष ही नहीं रहता। फिर तो साध्य की ओर से अपने को हटाना चाहो तो हटने नहीं देता है।

बड़ा जोरदार आकर्षण होता है भाई। मुझ पर तो उन्होंने अपनी कृपा करके ही, अपनी विभूतियों का दर्शन कराया। नहीं तो मैंने हृदय में इतनी कठोरता, इतनी जड़ता और ईश्वर के प्रति विद्रोह भर लिया था कि वे करुणा करके, सन्त स्वरूप हो करके मुझको सँभालते नहीं तो मेरी जिन्दगी मिट्टी हो गई होती। अपनी तरफ से श्रद्धा भक्ति कुछ नहीं। सुख-भोग की इतनी जबरदस्त कामना मुझ में थी कि जहाँ-जहाँ सुख में बाधा पड़े तो मैं क्रोध से बोखला जाऊँ। किसने ऐसा विधान बनाया। किसने मुझको सृष्टि में भेजा? मेरे सामने से यह सुख का संसार मिट क्यों गया? कहाँ है सृष्टि कर्त्ता? उसके मेरे सामने आना चाहिए। मुझको उत्तर देना चाहिए। इस प्रकार विद्रोह से भरी थी, परन्तु वे करुणा सागर सचमुच में सामने आए। सचमुच उन्होंने उत्तर दिया। मैंने क्रोध करके कहा कि आओ, मुझको उत्तर दो। तो उन्होंने करुणा करके सन्त की वाणी में सब कुछ सुना दिया। मैं बिगड़ती रही वे प्यार करते रहे। मैं नाराज होती रही और वे मेरी मदद करते रहे। यह कथा कहानी नहीं है ये ग्रन्थ के पढ़े हुए वाक्य नहीं है यह मेरे जीवन के पृष्ठों पर लिखा हुआ सत्य है। इसलिए बहुत ध्यान दो इस बात पर कि हृदय में पे्रम की सरसता की वृद्धि जो है, वह आत्मीय सम्बन्ध के आधार पर बढ़ती है हृदय का जो रस है, वह उसी आधार पर आगे बढ़ता है, प्रवाहित होता है, शुद्ध होता है।

उनमें कितना मधुर आकर्षण है किस प्रकार से अपने ही बच्चों को खींच कर अपने में ले लेते हैं, इस बात का उन्होंने मुझे प्रत्यक्ष करा दिया। उनकी कृपा को इतने खुले शब्दों में आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि उन्हीं की महिमा उन्हीं को सुना रही हूँ। मैं किसी आदमी से नहीं कह रही

हूँ उनकी कृपा उन्हीं को सुना रही हूँ। उसका आभास मुझे अच्छी तरह से है कि उस आकर्षण में कितनी पवित्रता है कि उसने आपको स्पर्श किया नहीं कि संसार खो गया। सब खत्म हो गया। इतनी जोरदार बात है। यह कल्पना नहीं है, अनुमान नहीं है। महिमावान की महिमा अपरम्पार है। अगर कोई भाई-बहन ज्ञान-पन्थ के साधक हैं अशरीरी जीवन की अखण्डता को, अविनाशी पन को, आनन्द मय अस्तित्व को अनुभव करना चाहते हैं और उसकी ओर कदम बढ़ाने में कठिनाई हो रही है तो वह अन्तर वासी कहीं चला नहीं गया है। वह नित्य तत्त्व कहीं दूर नहीं गया। उसकी विभूतियाँ उसके लिए महँगी नहीं पड़ेगी। वे अदृश्य रूप से आपकी मदद करते हैं और ज्ञान-पन्थ का साधक उसके स्वरूप से अभिन्ना होकर आनन्दित हो जाता है। आप शान्त रहने का एक स्वभाव बनाइये। देखिए! किस प्रकार आन्तरिक शक्तियों का विकास होता है। और अगर समाज के साथ सम्पर्क पड़े तो जहाँ तक हो सके वहाँ तक हृदय की मधुरता और प्रियता को, सद्व्यवहार को, मीठे वचनों को बढ़ाते रहिए, बढ़ाते रहिए। हृदय शीलता की वृद्धि से विश्वास पन्थ में प्रभु विश्वास तथा समर्पण भाव में बड़ी सजीवता आती है और इसी से साधक के जीवन में सफलता मिलती है, बहुत ही सही बात है। इस बात पर हम भाई बहनों को ध्यान देना चाहिए। जैसे जैसे हृदय शीलता की वृद्धि होती जाएगी, विचार के प्रकाश में जैसा जीवन दिखाई देता है, वैसा अनुसरण करने में हम समर्थ हो जाएँगे। अब शान्त हो जाएँ।

प्रवचन 1

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयो।

हम सब लोग मानव हैं और जीवन की सफला की चर्चा कर रहे हैं। एक प्रारम्भिक बात जिससे हमें सहायता मिलती है, वह जीवन के प्रति दृष्टिकोण का परिवर्तन है। आभी जैसा कि स्वामी जी महाराज ने बताया कि हम रुचि-पूर्ति के लिए जीते हैं, माँग-पूर्ति के लिए नहीं जीते हैं। तो रुचि-पूर्ति को प्रधानता देंगे तो शरीर और संसार की आसक्ति नहीं मिट सकेगी। अपने लोगों को क्या करना चाहिए कि पहले दृष्टिकोण को बदल डालें। अपने द्वारा अकेले में बैठकर विचार कर लिया जाए।

रुचि-पूर्ति का जीवन बिताते हुए बहुत समय निकल गया। रुचि पूरी हुई नहीं। इसलिए अब मानव-जीवन को सफल बनाने का प्रश्न आया अपने सामने। तो इस उद्देश्य की पूर्ति पर विशेष ध्यान देना है। रुचि-पूर्ति के प्रश्न को छोड़ देना हैं। अब से हमारा दैनिक जीवन जो होगा, प्रतिदिन का जीना मेरा होगा वह माँग-पूर्ति के उद्देश्य से होगा रुचि-पूर्ति के उद्देश्य नहीं। ऐसा निश्चय अपने द्वारा सभी भाई-बहन ले सकते हैं, जिनके पास बहुत डिग्रियाँ हों वे भी और जो बिल्कुल पढ़े लिखे न हों वे भी। श्रीसम्पन्न हों वे भी और जो गरीबी में समय बीता रहे हैं वे भी। उच्च वर्ण में जन्म हैं तब भी और निम्न वर्ण में जन्में है तब भी। शहर में रहते है तो और गाँव में रहते हैं तो भी। शिक्षा-दीक्षा से, धन सम्पत्ति से, पद योग्यता से, रहन-सहन के स्थान आदि से, जीवन के सत्य का कपतमबज सम्बन्ध नहीं है। धन हो तो, न हो तो क्या? पढ़ना, लिखना किया हो, न किया हो तो क्या?

रुचि-पूर्ति के परिणाम में पराधीनता, अभाव और नीरसता, हम सब लोगों ने पाई है और

उसके दुःख को हम लोग जानते हैं। मानव होने के नाते दुःख-रहित जीवन की माँग, सभी भाई बहनों में होती है। स्कूल में, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में पढ़ना-लिखना करके इस चीज को सीखते हैं, ऐसी बात नहीं है। बिल्कुल बे पढ़े-लिखे भोले-भाले व्यक्ति, जिन्होंने संत कबीर की तरह—'मसि कागद छूयो नहीं।' संत कबीर की भाषा है—यह। उन्होंने अपने मुख से अपने बेपढ़े लिखे होने का प्रमाद दिया है—'मसि कागद छुयो नहीं।' कागज और स्याही उन्होंने हाथ से छूए हीं नहीं तो ऐसे भी भाई-बहन हैं हम लोगों के आस-पास उनसे भी बुला करके, बैठा करके पूछिये कि भई आपके जीवन में सुख और दुःख दोनों आये हैं कि नहीं? तो क्या कहेंगे? आये हैं? कोई नहंी कहते? नहीं। सुख-दुःख दोनों आये हैं। अच्छा तो उसमें से जो दुःख का भाग है, उसको पसन्द करते हो कि मिटाना चाहते हो? मिटाना चाहते हैं।

यह खास व्यक्ति की बात नहीं है। यह मानव मात्र की बात है। दुःख-रहित जीवन सबको चाहिए, मृत्यु-रहित जीवन सबको चाहिये। अभाव और पराधीनता से मुक्त जीवन सबको चाहिये। परम पे्रम के रस से भरा हुआ मीठा-मीठा मधुर-मधुर जीवन सबको चाहिये। अनुभवी संत जन कहते हैं कि स्वाधीनता, अमरत्व और परम प्रेम की सरसता मानव की माँग है। मौलिक माँग है हर भाई-बहन के भीतर यह माँग रहती है। जाग्रत क्यों नहीं हुई? तो पहले पहल ध्यान में जब आया कि मैं मनुष्य हूँ, ओर मुझे भूख लगती है, मुझे प्यास लगी है। मुझको सुख-दुःख बाँटने के लिए मित्र-मंडली चाहिये। जन सम्पर्क चाहिए और भविष्य में दुःख न आ जाए तो उसके लिए कुछ धन-संग्रह करना चाहिए। और मरने के बाद ठीक प्रकार से अंत्येष्टि हो जाए, तो उसके लिए सुयोग्य संतान चाहिए। पहले व्यक्ति की दृष्टि इन बातों पर जाती हैं। ये बातें शरीरों से सम्बन्ध रखने वाली है। और इनमें भी रुचि-अरुचि, पसंदगी-ना पसंदगी हर व्यक्ति की अपनी-अपनी अलग तरह की होती है और बड़ी भारी भूल हो जाती है मनुष्य से कि वह सारी शक्ति, सब समय रुचि-पूर्ति पर लगा देताहै। रुचिपूर्वक भोजन मिले, रुचिपूर्वक आवास मिले, मन पसंद मित्र-मंडली मिले और शरीर को सब प्रकार से सुख आराम देने के लाय स्थिति बन जाए। इसी पर आदमी का ध्यान चला जाता है। यह ऐसा जाल है कि जितना-जितना इस दिशा में प्रयास करते चले जाओ नित नयी समस्याएँ उठती जाती हैं, उठती जाती है। सारी जिन्दगी खप जाती है। मरने की घड़ी तक समस्याएँ खत्म नहीं होती हैं। यह दशा हो जाती है।

अब अपने लोगों का क्या करना है? यहांँ इस पुण्यस्थली पर हम सब लोग जुटे हैं, किस उद्देश्य से इस उद्देश्य से जुटे हैं कि भाई रुचि-पूर्ति के सुख के पीछे दौड़ते-दौड़ते बहुत सारा समय निकल गया। अब शक्ति घटती जा रही है और हमारी अपनी रुचि खत्म नहीं हुई। कपड़ा मिले तो ऐसा खास प्रकार का हो जो अपने को बहुत अच्छा लगता है और भोजन मिले तो ऐसा हो जो अपने को बहुत पसंद आता है। इसके पीछे जिन्दगी का बहुत बड़ा भाग निकल गया। यह बात खत्म नहीं हुई तो अपनी जो माँग है उसे पूरा करने का कौन-सा समय आएगा? उस पर दृष्टि क्यों नहीं गयी? उस पर दृष्टि जानी चाहिए। उस पर विचार करना चाहिए। उस माँग की पूर्ति का उपाय सद्पुरुषों की संगति में सीखना चाहिए। सद्ग्रन्थों में से पढ़ना चाहिए।

यह कौन सोचता है? यह मनुष्य सोचता है। ऐसा कौन सोचता है? जो जीवन की घटनाओं

से सबक सीखता है। वह सचेत मनुष्य ऐसा सोचा लेता है। और सोच करके उसकी वर्तमान दशा जो है वह दशा उसके सामने स्पष्ट हो जाती है। फिर वह अपने निश्चय को दृढ़ कर लेता है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदल डालता है। वह क्या कहता है कि रुचि-पूर्ति में तो बहुत समय बिता दिया उससे मेरा काम बना नहीं तो आज से अपनी रुचि-पूर्ति के लिए हम नहीं जिएँगे, अपनी माँ-पूर्ति के लिए जिएँगे।

रुचि उसको कहते हैं, जो सदैव पराश्रित और पराधीन बना दे और माँग उसको कहते हैं कि जिसकी पूर्ति में व्यक्ति परम स्वाधीन हो जाए दुःख से मुक्त हो जाए, जन्म मरण के बन्धन से छूट जाए, परम प्रेम से भरपूर हो जाए। तो जो सदा-सदा के लिए रहने वाले तत्त्व हैं, उनकी माँग होती है और जो बनने बिगड़ने वाला जगत् है उसके प्रति रुचि होती है। साधक जन का कर्त्तव्य क्या है? कि आज ही इसी सत्संग भवन में इसी धरती पर बैठे-बैठे हम सब लोग अपनी और देख करके सोचे लें कि अब आज से इसी क्षण से आगे कभी भी हम रुचि-पूर्ति को स्थान नहीं देंगे, माँग-पूर्ति के लिए जिएँगे।

ऐसा हम लोग कर सकते हैं कि नहीं? कर सकते हैं। इसमें ऐसा करने में कोई शुभ घड़ी सुदिन अच्छा समय खोज ढूँढकर निकालना जरूरी है? नहीं है। वही शुभ घड़ी है मनुष्य के जीवन में जब कि सत्संग हो। जब आप सत्संग करते हैं तो जिस क्षण में एक सजग व्यक्ति अपने द्वारा सत्संग करता है, वही घड़ी उसके जीवन की शुभ घड़ी हो जाती है। अब सोच कर देखो अपने सम्बन्ध में दृष्टिकोण का परिवर्तन। अब से हम रुचि-पूर्ति को प्रधानता नहीं देंगे, माँग-पूर्ति को प्रधानता देंगे, ऐसा निश्चय करना सत्संग कहलाता है। रुचि-पूर्ति के पीछे पड़े रहना असत् का संग है। उसका त्याग करना संग है। माँग-पूर्ति के लिए तत्पर हो जाना सत् का संग है। तो बडत्रे महल के भीतर आपका वास हो तो क्या? और टूटी-फूट झोंपड़ी में बैठे हों तो क्या? और अन्तर नहीं आता। यदि आप अपने द्वारा यह निश्चय कर लेते हैं कि अब आज से रुचि-पूर्ति के पीछे हम नहीं रहेंगे, माँग-पूर्ति के लिए जिएँगे। बहुत बड़ा विकास आपको होगा जिस समय ऐसा निर्णय आप करेंगे। उसी समय आपके अहम् में परिवर्तन हो जाएगा।

अहम् रूपी अणु की बनावट इतनी अच्छी है कि मनुष्य स्वयं अपनी ही गलत धारणा से असत् के संग में उलझ जाता है और वह स्वयं अपनी ही सही बातों से सत् का संगी बन जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विश्लेषण में सैल्फ कनसैप्ट एक बहुत ही प्रधान बात मानी जाती है। सैल्फ कन्सैप्ट, अपने सम्बन्ध में आपने क्या धारणा बनाई? इसी के आधार पर विचार बदल जाते हैं। व्यक्तित्व बदल जाता है। व्यवहार बदल जाता है। तो सैल्फ कन्सैप्ट से अपने सम्बन्ध में अपनी एक धारण मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को निर्धारित करती है और उसके रहन-सहन, विचार-व्यवहार सबको नियन्त्रित करती है।

बहुत विस्तार मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में है। केवल इस एक बात पर कि आपने अपने जीवन के सम्बन्ध में कौन-सी धारण स्वीकार की है। हमारे शोधकार्य का विषय यही था। सैल्फ कन्सैप्ट पर ही हम रिसर्च कर रहे थे। स्वामी जी के पास बैठ करके मुझे इस बात की बहुत ही विशेषता मालूम हुई। कौन सी बात? कि भाई, सुख-दुःख के जाल में फँसे हुए बहुत दिन निकल गए कोई अपने में विशेषता आयी नहीं। मनुष्य होने के नाते उसके भीतर से एक

आवश्यकता महसूस होती है कि दुःख रहित जीवन चाहिए, अभाव रहित जीवन चाहिए, जन्म-मरण की बाध्यता टूट जानी चाहिए और परम प्रेम का रस जीवन में भर जाना चाहिए।

कोई सम्प्रदाय हो, कोई प्रणाली हो, किसी वर्ग के साधक आप हैं, साकार उपासक हैं, निराकार उपासक हैं। योग के साधक हैं, ज्ञान पंथ के साधक हैं। किस मजबह को मानने वाले हैं कुछ अन्तर नहीं आता। ये चार बातें सर्व दुःखों की निवृत्ति, परम स्वाधीनता की प्राप्ति, सत्य का बोध, परम प्रेम का रस सबको चाहिए। मानव-मात्र को चाहिए। जिस समय हम लोग अपनी इस मौलिक माँग पर दृष्टि डालते हैं और अपने द्वारा अकेले में बैठकर के निश्चय करते हैं कि भाई मुझे तो माँग की पूर्ति के लिए ही जीना है। अब रुचि-पूर्ति का कोई स्थान नहीं रहा जीवन में है। उसी समय इतना बड़ा विकास अपने भीतर होता है कि आप देखेंगे कि सोते समय यही बात आपके ध्यान में आएगी और स्वप्न काल में पुराने संस्कारों के प्रभाव से कुछ-कुछ स्वप्न बनेंगे तो स्वप्न काल में भी यह आपका निश्चय काम करता रहेगा। और आँखें खुलते ही याद करना नहीं पड़ेगा सहज से इस बात की याद आएगी कि अच्छा सबेरा हो गया, आँखें खुली, अब मुझे उठना है तो मेरी माँग की पूर्ति होनी चाहिये। दुःख-निवृत्ति के लिए मुझे जीना है। परम स्वाधीनता का पुरुषार्थ मुझे करना है परम प्रेमास्पद प्रभु से मुझे मिलना है। इसी बात को याद करना नहीं पड़ेगा। आँख खुलते ही यह बात सहज से आपको याद आएगी। क्यों याद आएगी क्योंकि आपने अपने लिए, अपने द्वारा हम स्वीकृति को स्वीकार कर लिया है।

अहम् के परिवर्तन में आपकी स्वीकृतिक का कितना बड़ा महत्त्व है। इस बात पर ध्यान नहीं जाता तो विचारे भोले-भाले साधक अटके रहते हैं। किस बात पर, कि अब ऐसा करेंगे तो जीवन बदलेगा, तो कोई किसी अनुष्ठान में लगा हुआ है तो कोई किसी संकल्प में लगा हुआ है। कोई तीर्थ यात्रा में लगा हुआ है। कोई खास-खास प्रकार के शुभ कार्य में लगा हुआ है। वे सोचते हैं कि इन प्रकार के कर्मों के द्वारा जीवन बदल जाएगा। तो नहीं बदलता है, ऐसी बात नहीं हैं। शुभ कर्मों का फल भी बनता है और शुभ संकल्पों की पूर्ति का फल भी बनता है। लेकिन अगर संकल्प-पूर्ति का महत्त्व रह गया, संकल्प निवृत्ति का महत्त्व जीवन में नहीं आया, तो एक शुभ संकल्प के बाद दूसरा, तीसरा, चैथा संकल्प ही संकल्प बनता रहेगा।

यहीं पर मुझे एक उदाहरण मिला है। एक युवावस्था के संन्यासी, संन्यासी वेश आये मिलने के लिए। डालमिया कोठी में, जहाँ में रहती हूँ। वहीं आये और कहने लगे कि बहन जी आप मुझे नहीं पहचानेंगी, लेकिन मैं आपको पहचानता हूँ, संन्यासी होने के पहले मैं स्वामी जी महाराज के पास आया था। तो प्रणाम किया। अभिवादन किया। बैठाया तो बातचीत होने लगीं। तो कहने लगे कि मैं तीन वर्ष तक उत्तराखण्ड में ब्रदीनारायण जी के रास्ते में कहीं पर ऐसा एक अनुष्ठान करके आया हूँ। मैं तीन साल से वहीं पर था। इस वर्ष वह अनुष्ठान पूरा हो गया तो मैं यहाँ आ गया। बहुत अच्छी बात है। फिर कहने लगे कि बहन जी अब मैं एक दूसरे तीर्थ का नाम लिया अमरनाथ, केदारनाथ कुछ कहा होगा मुझे याद नहीं है। कि अब मुझे वैसा ही एक अनुष्ठान वहाँ जाकर करना है। तो आपके पास बहुत से उदार लोग आते हैं तो किसी से कह दीजिएगा, मदद करा दीजिएगा।

तीन वर्ष का वैसा ही एक अनुष्ठान मैं और करना चाहता हूँ। मैंने कहा अच्छी बात है, सुन लिया मैंने बातचीत हो गया, चले गये। मेरे भीतर एक चिंतन आया मैंने सोचा कि यह सज्जन यह साधक एक संकल्प तीन वर्ष का पूरा करके आया और उससे इसके भीतर अपने आप में संतुष्ट होने वाली बात नहीं आयी। जी! अगर आ गयी होती तो फिर नए अनुष्ठान का संकल्प नहीं उठता। ठीक है ना! तो फिर मेरे ध्यान में आया यह समझदार व्यक्ति क्यों नहीं सोचते हैं कि एक बार इस अनुष्ठान को पूरा करने से भीतर में सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हुई तो अनुष्ठान के संकल्प को छोड़ देना चाहिएं यह भी ध्यान में नहीं आया। यह मैं शुभ संकल्प की बात कह रही हूँ, अशुभ संकल्पों की बात नहीं कर रही हूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि मनुष्य जैसे ही सजग होता है उसके विवेक के प्रकाश में उसको दिखता ही है कि किसी भी प्रकार के अशुभ कार्यों में उसको हाथ नहीं डालना चाहिए। अशुभ कार्य के लिए मनुष्य के जीवन में कोई स्थान नहीं है। गृहस्थी हो तो क्या, वनस्थी हो तो क्या, समाज सेवी हो तो क्या, वनवासी हो तो क्या। अशुभ कार्यों के लिए तो उसके जीवन में स्थान हीं नहीं है। मैं शुभ कार्यों के संकल्प में बँध जाने की चर्चा आपके सामने कर रही हूँ। तो अगर शुभ संकल्प में भी बँध गए आप तो

स्वाधीनता मिली कि पराधीनता मिलीं? पराधीनता मिली ना? एक संकल्प पूरा करके आए और उसी के समान दूसरा करने का विचार उठ गया। तो गृहवासियों की सम्पत्ति पर दृष्टि चली गयी। तो सत्य के निकट हुए कि दूर हुए? दूर ही हुए। जब उन्होंने अपने मुख से मुझसे कहा कि आपके पास बहुत से लोग आते हैं, उदार लोगों से कह दीजिएगा इस संकल्प की पूर्ति में जिसकी जो इच्छा हो मदद कर दें। तो उन सज्जन पर मुझे मेरी बड़ी सहानुभूति उपजी। भाई के समान प्रिय लगे मुझे। उन्होंने कहा भी था कि स्वामी जी महाराज के पास मैं आया करता था, तो इस नाते भी वे हमको बहुत प्रिय लगे। मैंने कहा कि ये भला आदमी कहाँ फंस गया? एक संकल्प पूरा हो गया और उसके परिणाम में शांति की अभिव्यक्ति नहीं हुई। अपने आप में संतुष्टि नहीं पैदा हुई। सत्य के निकट होने के भाव में अपने आप में डूब जाने की घड़ी नहीं आयी तो यह प्यारा भाई बेचारा कब तक संकल्पों की पूर्ति के पीछे घर गृहस्थी वालों का मुँह देखता रहेगा।

दुःख हुआ मुझे। इसी जगह सत्संग चल रहा था। वे हमारे प्यारे भाई भी सत्संग में आकर बैठ गए थे ओर मैं ऐसे ही बोल रही थी, बोलते-बोलते यह सब मैंन कह दिया। उनका नाम लेकर नहीं। यह तो जीवन की बात है। सच्ची बात है। कहती गयी मैं। अब सोच करके देखिए जो बात पर के सम्बन्ध को स्वीकार करने से जीवन में उत्पन्न हो गयी है। स्वत से भिन्न पर की प्रतीति हम लोगों को हो रही है कि नहीं। जी! हो रही है ना! स्वी की प्रतीति नहीं होती और जिसकी प्रतीति होती है वह स्व नही ंहोता। जो आपका दृश्य बन सकता है, वह जीवन नहीं है, यह दार्शनिक सत्य पकड़ में आ रहा है?

जो आपका दृश्य बन सकता है जिसके आप द्रष्टा हो सकते हैं वह जीवन नहीं है। वह स्व नहीं है, पर है। ठीक है ना! तो पर की प्रतीति हो रही है हम लोगों को। जो जिसकी प्रतीति हो रही है उसी से सम्बन्ध माने के कारण स्व से विमुख हो गए। ठीक है! जिसकी प्रतीति हो रही है उसकी

आवश्यकता अनुभव करने के कारण उसके चिन्तन में हम फँस गये तो स्व में स्थिति नहीं हुई। जो मुझसे भिन्न दिखाई दे रहा है, जिसकी प्रतीति हो रही है, उससे मैंने नाता-रिश्ता जोड़ लिया, उसके सुख-दुःख में उसकी आसक्ति में उलझ गए। तो जो परम प्रेमास्पद मेरा अपना नित्य सम्बन्धी मुझ में ही नित्य विद्यमान हे, उसकी विस्मृति हो गयी। ठीक है! अब देखों आगे चलो, तो सत्य की अभिव्यक्ति कैसे होगी भाई! जिसकी प्रतीति हो रही है उसकी आवश्यकता अनुभव मत करो, उसकी जरूरत अनुभव मत करो, उससे सम्बन्ध मत मानो।

उसको महत्त्व मत दो तो उसका चिन्तन छुट जाएगा, उसका लगाव टूट जाएगा, उसका सम्बन्ध टूट जाएगा, मामला खत्म हो गया। इतना ही काम करना है ना। तो असली बात क्या है? जीवन की सफलता में असली क्या है? तो असली बात यह है, कि चाहे भवगत् विश्वासी हो करके हम लोग इस बात को स्वीकारकरें कि मेरा तो नित्य सम्बन्ध अनन्त परमात्मा से है। एक भवगत् अनुरागी संत के पास बैठ करके अपना दुखड़ा सुना रही थी। मेरा सत्संग ऐसा ही रहा हमेशा। अपने भीतर जो सब गंदगी दिखाई देती वह ही मैं संतों को सुनाती रहती। स्वामी जी महाराज को भी मैंने खूब सुनाया। एक भगवत् अनुरागी संत के पास मै। कह रही थी कि भाई देखिए अब सब काम तो ठीक ठाक लगता है, सोचना समझना सब हो गया। अब एक ही बात बाकी है, अब मैं ऐसा चाहती हूँ कि हे प्रभु कौन सी घड़ी वह होगी। कब आपकी ऐसी कृपा होगी कि मुझमें यह मेरे पन का भास जो हो रहा है यह भी खत्म हो जाए। ऐसा मैंने कहा तो बड़े अनुराग में भरकर उन्होंने कहा कि अरे इसके फिकर में आप क्यों पड़ी हैं? उसे सुन्दर रूप दे दो।

किसी दिन आदमी ऐसा सोचता है कि मैं अमुक का बेटा हूँ, अमुक का बाप हूँ, अमुक का पति हूँ अमुक की पत्नी हूँ, अुमक की बेटी हूँ तो दुनिया भर का यह सब जंजाल फँसा रखा था किसी दिन। अब उस असत् सम्बन्ध को छोड़ देने के बाद अब अपनी थकान मिटाने की चिन्ता तुम क्यों करो? अपना सुन्दर रूप ले लो— मैं उनका दास हूँ, मैं उनका बालक हूँ, मैं उनका मित्र हूँ, मैं उनका सखा हूँ, मैं उनका गुरु हूँ मैं उनका शिष्य हूँ, मैं उनकी दासी हूँ, मैं उनकी प्रिया हूँ।

बढ़िया सी स्वीकृति अपने में ले लो। मिटाने के पीछे क्यों पड़े हो? अगर संसार के सम्बन्धों से प्रमादवश तुमको गौरव मालूम होता था कि हम किसी बड़े आदमी के सम्बन्धी हैं तो उससे कम गौरव नहीं होना चाहिए तुम्हारे में कि मै। अनन्त परमात्मा का बालक हूँ। अरे दुनिया के किसी बड़े आदमी से नाता जोड़ करके तुम अपने को गौरवशाली अनुभव करते हो तो तुम तो सचमुच उस अनन्त परमात्मा के अपने हो तो उस गौरव को याद करो, अहम् के नाश का चिन्तन छोड़ दो।

यह तो अपने आप से हो जाएगा उनके प्रेम का रस बढ़ेगा तो इसका कहीं पता चलेगा? कहीं पता नहीं चलेगा। तो साधन के ढंग में आप सोच करके देखिये कि अशुभ क्रियाओं को तो छोड़ ही दो, अशुभ प्रवृत्तियों का तो नाम ही मत लो, उनके तो जीवन में कभी स्थान ही मत दो। शुभ संकल्पों को भी अगर बनाते ही जाओगे, चेन उसका लगाते ही जाओगे तो एक भी संकल्प अपना पूरा करने के लिए रह गया तो न शरीर से

छूटे बनेगगा न समाज से छूटते बनेगा। न पर की प्रतीति में से आप हट सकेगे।

यह समग्र प्रतीति ऐसी ही है। परसैप्शन, प्रत्यक्षीकरण, उनकी प्रतीति। इसमें कहीं भी कुछ भी कन्टीन्यूटी नहीं है सातत्य नहीं है, स्थिरता नहीं है। प्रत्येक क्षण में प्रतीति का प्रत्ये कदृश्य बदलता ही जा रहा है—वह तो ऐसा है जिसमें एक क्षण के लिए भी ठहराव नहीं है, उसको पकड़ करके विश्राम पाने की कैसे सोच सकता है आदमी! दौड़ते हुए को पकड़ करके कोई शान्ति से बैठ सकता है? नहीं बैठ सकता है ना—तो प्रतीत होने वाली प्रतीति। प्रतीति शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जबकि उसका यह अर्थ निकले कि वह कैसा है यह पता नहीं है, अपने को जैसा दिखता है, वैसा मैंने मान लिया। तो पहले तो यही निराधार हो गया।

संसार कैसा है? ये कोई नहीं जानता, हम सब लोग संसारकी तरफ देखते हैं तो एक ही दृश्य, एक ही घटना अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग अर्थ बताती है। होता है कि नहीं और एक ही व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाए तो सृष्टि बदल जाती है। सुख-भोग की दृष्टि से देखों तो संसार में बड़ा आकर्षण दिखायी देता है। और संत कबीर जी से पूछो तो क्या कहेंगे— "हाड़ जले जैसे लकड़ी केश जले जैसे घा, सब जग जलता देखिकर कबिरा भया उदास।" तो वह ही संसार है कि दूसरा है? वह ही है। तो भोगी को बड़ा आकर्षक लगता है, और विवेकी को काल की अग्नि में जल रहा है सब जल रहाहै, काल की अग्नि में सब भस्म हो रहा है। और कहीं प्रभु प्रेम के रस से दृष्टि ढक गयी हो "आप छके नैना छके, अधर रहे मुसकाय, छकी दृष्टि जा पर पड़े रोम-रोम छक जाय।" अब क्या हो गया? संसार वही है कि दूसरा है? वह ही है। तो ऐसा आप सोच करके देखेंगे कि व्यक्ति की अपनी भूल से संसार की खिंचाव लगता है। और मुझको बड़ा आश्चर्य लगता है, अपने पिछले दिनों की याद कभी-कभी आ जाती है तो ऐसी हँसी आती है कि कितनी नादानी की बात है। देख रहे हो कि सब दौड़-दौड़ करके, दौड़-दौड़ करके भागता जा रहा है।

सबमें परिवर्तन हो रहा है कही एक क्षण के लिए ठहराव नहीं है और उसको पकड़ करके आदमी स्थिर होना चाहता है। कितनी बेवकूफी है बताओ तो सही। अरे जो भागता जा रहा है, वह तुमको विश्राम दे देगा। जिसमें निरन्त गतिशीलता है वह तुमको स्थिरता दे देगा। नहीं देगा ना! तो इसका फल क्या होना चाहिए। इस अनुभव का फल यह होना चाहिए कि भाई यहाँ जो कुछ अपने सामने प्रतीत हो रहा है यह किसका है और कैसा है? इसका पता तो हमको अभी नहीं चलेगा, पीछे चलेगा। लेकिन एक बात सच्ची है कि जिसमें एक क्षण के लिए भी ठहराव नहीं है, यह मेरे काम का नहीं है। अपने को क्या चाहिए? अपने को तो परम शांत जीवन चाहिए। अपने को तो परम स्वाधीन जीवन चाहिए, अपने को परम प्रेम चाहिए। इस को अपनी माँग पर दृष्टि रखकर दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लीजिए तो रुचि-पूर्ति का त्याग कर दीजिये आज ही अभी से। और माँग पूर्ति के लिए जीना आरम्भ कीजिए। तो मैंने ऐसा सुना है, ऐसा विश्वास करती हूँ और कुछ-कुछ ऐसा अनुभव भी है कि जिस क्षण से आप यह निश्चय करेंगे कि मुझे रुचि-पूर्ति का जीवन नहीं चाहिए, मुझे तो माँग-पूर्ति का पुरूषार्थ करना है ऐसा आप निश्चय करेंगे तो वे अनन्त सामर्थयवान आपके भीतर बिना माँगे वह सामर्थ्य भर देंगे कि जिससे आप पुरुषार्थ पूरा कर सकें। ऐसा होता है और आपको हर्ष की बात

सुना दूँ कि उत्तराखण्ड में अनुष्ठान करने का संकल्प लेकर जो गृहस्थी लोगों की सहायता लेने के लिए जो सज्जन आये थे दो चार दिनों तक सुनते-सुनते जाने के समय मुझसे कह कर गए कि बहनजी मैंने अनुष्ठान का संकल्प छोड़ दिया। बहुत मजा आया मुझे, हमने कहा कि चलो एक काम बन गया। तो उनका काम तो हो गया और अपने काम को मैं एक बार और दोहरा दूँ समय खत्म होने वाला है।

यह कथा मैं इसलिए सुना रही हूँ कि हमारे पारिवारिक परिवेश में बँधे हुए भाई-बहन जो हैं, वे हमेशा सत्संग के प्रोग्राम को भविष्य पर टालते रहते हैं। बच्चों की पढ़ाई खत्म हो जाए तब करेंगे और इतना यह काम पूरा हो जाए तो यह करेंगे, अब इतनी यह समस्या पूरी हो जाए तो यह करेंगे तो अनुभवी संत की अनुभव भरी वाणी है ये कि माँग-पूर्ति का प्रोग्राम जो है, उसको एक क्षण के लिए भी भविष्य पर मत टालो। क्यों? क्योंकि जो बात इसी वर्तमान में स्वयं अपने द्वारा सैल्फ कन्सैप्ट को बदल डालने से पूरी हो सकती है उस बात के लिए किसी विशेष परिस्थिति पर क्यों निर्भर करते हो। मुझे अब रुचि-पूर्ति का सुख नहीं चाहिए इस सत्य को स्वीकार करने में 2,4,5,10 मिनट की देर लगाने की जरूरत है क्या? कि कपड़ा बदल लें कि स्नान कर लें तब ऐसा सोचेंगे यह जरूरी है क्या? जी! कि घर में से निकल कर मन्दिर के दरवाजे जाकर बैठेंगे तब सोचेगे। जरूरी है? क्या जाने यहाँ से उठकर के मन्दिर तक जाने के पहले ही हार्ट फेल हो गया तो काम बाकी रह जाएगाा ना! रह जाएगा। तो बड़ी भारी घाटा होगा। सत्य की स्वीकृति में अपने सैल्फ के प्रति अहम् के प्रति, अपने मैं के प्रति सही दृष्टिकोण को अपनाने में और गलत दृष्टिकोण का त्याग करने में किसी प्रकार की बाहरी तैयारी की जरूरत नहीं है। यह बात समझ में आती है?

तो अब सत्संग के प्रोग्राम के लिए भविष्य की प्रतीक्षा कभ्ीा मत करना। हाँ, जहाँ जहाँ आप कमरों में ठहरे हुए हैं ठण्डे जल से स्नान करने के फलस्वरूप घुटने में दर्द हो गया, बुखार आ गया, वहाँ से चला नहीं गया। तो यहाँ तक आप नहीं आ सकेंगे ऐसी सम्भावना है। वहाँ से उठ करके यहाँ तक आना कठिन हो सकता है, लेकिन जहाँ है वहीं पर कोई बाधा नहीं है। यह सोचना कि हाय किसी प्रकार से ये दर्द छूट ही जाये और चलने के लायक हो ही जाए ऐसा सोचना, यह सत् का चिंतन होगा कि असत् का चिंतन होगा? कैसा होगा बोलो? असत् का चिंतन होगा। जिसकी उत्पत्ति हुई है उसका नाश तो कालान्तर में होगा ही। दर्द उत्पन्न हुआ है तो दर्द भी मिटेगा और शरीर उत्पन्न हुआ है तो शरीर भी मिटेगा तो कहाँ तक उसका चिन्तन करोगे।

कहाँ तक उसकी फिक्र में रहोगे? अगर इसको सँभालने की चिंता छोड़ करके जो स्वयं में ही विद्यमान है, उस पर दृष्टि चली गयी तो मेरा ऐसा विश्वास भी है यह यह सत्य भी है कि अगर उस पर दृष्टि चली गयी तो तत्काल ही भीतर के आनन्द की तरंग में अहम् ऐसा अभिभूत हो जाता है कि कुछ काल के लिए शरीर का और दर्द का पता ही नहीं चलता है। ऐसा होता है और साधन काल में होता है। सिद्धि काल की चर्चा मैं नहीं करती हूँ। जीवन पूर्ण हो गया होता तो बोलने का काम भी खत्म हो गया होता। यह साधन काल की चर्चा में कर रही हूँ। थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बैठ करके व्यक्तिगत सत्संग के क्रम में, विश्राम-सम्पादन के क्रम में, समर्पण योग में आप थोड़ी-थोड़ी देर के लिए ठहरना पसंद करें, तो उसी समय आपके अनुभव

में यह बात आ जाएगी कि सत्य की अभिव्यक्ति में इतनी अलौकिकता है कि उस अलौकिकता के आराम में और उसके आनन्द में शरीर का भास खत्म हो जाता है। तो जो रहने वाली चीज है उसी को सँभालना चाहिए हम लोगों को और इस बिगड़ने वाले का कुशल कब तक मनाओगे भाई! हाय! हाय! इसलिए जो सेवा उसके प्रारब्ध से उसके लिए वर्तमान में उपलब्ध हो उसकी समर्पण करके इसको प्रणाम करके, इससे छुट्टी माँग के, अपने जीवन में रहने का पुरूषार्थ आरम्भ करो।

भाई! जो अपना है उसमें रहने का पुरुषार्थ आरम्भ करो। जो सदा-सदा के लिए है, उसकी याद में मस्त हो जाओ। जो परम प्रेम का भण्डार है, उसके रस में जन्म-जन्मान्तर के सब विकारों को धोकर के परम विश्राम में बड़ा आनन्द लगता है। पता नहीं वह जीवन कहाँ तक जाता है, कितनी दूर जाता है, सो तो पता नहीं है लेकिन थोड़ी सी झलक मिल जाती है जब, तो सारा संसार फीका लग जाता है। इतना काम तो इसी साधन काल में हो जाएगा। जरूर कर डालो।

प्रवचन 2

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयो।

मानव जीवन बड़ा ही मूल्यवान है। इस दृष्टि से इसी जीवन में हम सब लोग शरीरधारी होते हुए भी अशरीरी जीवन के आनन्द को पा सकते हैं। इसिलए इस जीवन का बहुत मूल्य है। बढ़िया से बढ़िया भोजन मिल सकता है। बढ़िया से बढ़िया आवास मिल सकता है। बहुत प्रकार का सुख मिल सकता है, ऐसा अगर सोचिए तो शरीर की सहायता से संसार का सुख पशु-पक्षियों को भी मिलता है। शरीर के आधार पर खाने-पीने, जीने का सुख पशु-पक्षी भी ले सकते हैं। मनुष्य की विशेषता यह है कि वह शरीरधारी होते हुए भी अशरीरी जीवन के आनन्द का अनुभव कर सकता है।

प्राण-शक्ति के रहते-रहते शरीरों से अतीत अविनाशी जीवन का अविनाशी योग पा सकता है। तत्त्व का बोध पा सकता है। परम प्रेमास्पद के प्रेम रस का

मधुर आस्वादन कर सकता है। इसलिए इस जीवन की विशेषता पर हम भाई-बहनों की दृष्टि रहनी चाहिए। और मेरा ऐसा विश्वास है कि मनुष्य, मनुष्य होकर जब अशरीरी जीवन पर अपनी दृष्टि रखने लग जाताहै, अविनाशी आनन्द, अविनाशी प्रेम, अविनाश्ी जीवन पर दृष्टि रखने लग जाता है।, तो उसे सांसारिक कर्त्तव्यों ने निर्वाह में भी कठिनाई नहीं होती और सांसारिक आसक्ति को छोड़ने में भी कठिनाई नहीं होती।

अपने वास्तविक जीवन पर दृष्टि नहीं जाती है तब हम बुरी तरह से शरीर और संसार के सम्बन्ध में ही सीमित होकर के रह जाते हैं। अब करना क्या करना चाहिए। कैसे उस दिशा में हम आगे बढें़? अशरीरी जीवन के आनन्द के अनुभव में बाधा केवल इतनी सी बात की है। कि दिखाई देने वाले जगत् का प्रभाव अपने पर बना हुआ है। उसका परिणाम क्या हुआ? कि अपनी जो जीवनी शक्ति है वह बाह्य जगत् में विभिन्न केन्द्रों से बँध गई है, मेरी ही भूल से। उनमें रचनात्मक सम्बन्ध नहीं है, मनुष्य का अपना आपा और संसार के बदलने वाले दृश्य इन दोनों में कोई स्टे³क्चरल रिलेशन नहीं है, बनावट से दोनों जुटे हुए हों ऐसा नहीं है, केवल फंक्शनल रिलेशन है। केवल क्रियात्मक सम्बन्ध है। इस प्रकार का कि जब आपके अपने आपे में दृश्य जगत् से दृश्यों का

सुख लेने का संकल्प उठा तो दृश्य दिखाई देने लग गए। भूतकाल के भोगे हुए सुखों के प्रभाव से दृश्य जगत् का कोई दृश्य अपने को पसंद आ गया तो अपनी जीवनी शकित पा करके इससे जुट गयी। अतृप्त वासनाओं ने जोर मारा तो ध्यान बाहर की ओर इधर-उधर भटकने लग गया अतृप्त वासनाकी तृप्ति के उपादानों का ढूँढने लग गया। ये अपनी बनावट बात है।

ऐसा होता है पसंदगी भी हम रखें, शरीर और संसार की सहायता से मिलने वाले सुखों को भी पसंद करें और देहातीत जीवन को भी पसंद करे तो इस

दुविधा में साधक का बहुत सा समय निकल जाता है। बहुत सी शक्ति खर्च हो जाती है। विधि-विधान के आधार पर की हुई साधना का एक झूठा सा संतोष भी बहुत दिनों तक बना रहता है। भाई ठीक तो है, सब लोग संसार में रहते हैं। यह सब काम करते ही हैं और भाई इनके साथ-साथ हम थोड़ी-थोड़ी साधना भी तो कर रहे हैं। हम थोड़ा-थोड़ा समय भगवान को याद करने में भी लगा रहे हैं। बात तो ठीक है थोड़ा-थोड़ा समय लगाना आपने आरम्भ किया, थोड़ी-थोड़ी साधना आपने आरम्भी की तो उसके प्रभाव से थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भीतर-भीतर शान्ति भी मालूम होती है। ऐसा नहीं है कि आंशिक रूप में आप साधन करते हैं तो उसका फल नहीं बनता है। ऐसा नहीं होता है।

आंशिक रूप में जीवन में बुराई रखते हैं, हम, तो उसका फल बनता है। तो आंशिक रूप में जीवन में साधन रखेंगे, तो उसका भी फल बनेगा लेकिन जब तक बुराइयों काअन्त हम नहीं कर देते, सब प्रकार से उत्पन्न हुए विकारों का नाश हम नहीं कर देते तब तक वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति से अपने में पूर्णता का अनुभव नहीं होता। इतना फर्क पड़ जाता है। इसलिए अनुभव जन सत्संगी भाई-बहनों को सलाह देते हैं कि देखो तुम्हारे भीतर वह सामर्थ्य है। कौन-सी सामर्थ्य? कि 'नहीं' को 'नहीं' कहकहर इन्कार कर सकते हो। 'है' को 'है' कहकर स्वीकार कर सकते हो। इतनी सामर्थ्य देकर भगवान ने भेजा है।

इसमें शरीर का बल नहीं चाहिए, इसमें धन, सम्पत्ति का बल नहीं चाहिए। इसमें बहुत पढत्रे लिखे होने की आवश्यकता नहीं है। जीवनदाता, जन्मदाता ने हम लोगों को शरीरों की पराधीनता से मुक्त होने े लिए जो सामर्थ्य चाहिए वह हर भाई को हर बहन को देकर के बनाया है। धन सम्पत्ति तो दुनिया में आने के बाद अर्जित करता है व्यक्ति। और शरीर के बल का कोई ठिकाना ही नहीं है। कभी बल है, कभी घट जाताहै। कभी दुर्बल हो जाता है, कभी सबल हो जाता है। बदलता ही रहता है।

सत्य की अभिव्यक्ति जो है और अशरीरी, अविनाशी, आनन्द स्वरूप अपना अस्तित्व जो है, वह शरीर के बल पर, धन के बल पर, योग्यता के बल पर, पद के बल पर आधारित नहीं है। उसके लिए जिसने हम लोगों को बनाया उसने विवेक पर आधाारित सब भाई-बहनों को दे दिया। विश्वास करने का तत्त्व सब भाई बहनों को दे दिया। श्रद्धा-निष्ठा रखने का तत्त्व मनुष्य के व्यक्तित्व में आरम्भ से ही विद्यमान रहता है। किसी जाति का हो, किसी वर्ग का हो, किसी देश का हो, किसी युग का हो, अगर वह अनुष्य है तो उसमें विचार-शक्ति भी है और भाव-शक्ति भी है। प्रेमभाव से शून्य किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व आपने कभी नहीं देखा होगा। विचार-शक्ति से शून्य किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व आपने कभी नहीं

देखा होगा। ये मौलिक तत्त्व जो मिले हुए हैं हम लोगों को उन्हीं की सहायता लेकर अपने जीवन को सफल बनाना है। बाहर की जितनी बातें हैं, वे सब किसी न किसी रूप में हमारी सहायता करती हैं कब? जब विवेक के प्रकाश का आदर आप करेंगे। तो एक बड़ी अच्छी बात हो जाएगी। क्या अच्छी बात हो जाएगी कि परिस्थिति अनुकूल बन जाए तो अनुकूलता से भी आप अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ने में मदद ले लेंगे। परिस्थिति अगर प्रतिकूल हो गयी तो प्रतिकूलता से भी आप अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ने में मदद ले लेंगे।

ऐसा होता है, बाहर की परिस्थितियाँ जो हैं, मनुष्य के शारीरिक और मानसिक योग्यताएँ आदि हैं, ये सब विवेकीजन के लिए सहयोगी बन जाती हैं और विवेक का अनादर करने वाले के लिए सब बाधा बन जाती है। सोच करके देखो। किसी-किसी साधक के जी में कभी-कभी ऐसी बात आती है कि किसी साधक को आगे बढ़ते हुए देखते हैं अच्छा लगता है हमें। तो कहते हैं कि उनके संस्कार बड़े अच्छे होंगे इसलिए उनकी जल्दी उन्नति हो गयी। मानव सेवा संघ की पद्धति में मनुष्य के सामने ऐसी बात नहीं रखी गयी कि जिसको लेकर वह निराश होकर बैठ जाए।

मैंने सोचा तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मान लीजिए कि आपके संस्कार पहले के बहुत अच्छे नहीं है। किस आधार पर आप ऐसा मानते हैं, सो आप जानिए लेकिन आपके इस फैसले को लेकर मैं विचार करूं कि बहुत अच्छे नहीं हैं तो कोई चिंता की बात नहीं । अब तक के जो बन चुके हैं वे अच्छे नहीं है। लेकिन वर्तमान में हम लोग फ्री हैं इस बात में कि हम अब से आगे से चेष्टा करने अच्छे संस्कारों को बनाएँ। बना सकते हैं कि नहीं? बना सकते हैं। तो बुराई करना छोड़ देंगे तो उनका परिणाम अहम् में अंकित होना बन्द हो जाएगा। तो मन से, वचन से, कर्म से, बुराई का त्याग करना यह वर्तमान का पुरुषार्थ है।

बुराई को बुरा करके जानने की सामर्थ्य सब भाई-बहनों में है। अब जानी हुई बुराई को छोड़ने का प्रश्न है? की हुई बुराई को पुनः न दोहराने का प्रश्न है। केवल इतनी सी बात है। कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि क्या करें ये सब दोष इतने पुराने हो गए कि ऐसी आदत बन गयी कि बदलती नहीं है। पुराने हो गए इसलिए बदलती नहीं हैं बातें। उनके लिए मानव-जीवन का एक बड़ा ही सुन्दर मंगलमय विधान है और वह यह हैं कि मान लीजिए किसी प्रकार की भूल को दोहराते-दोहराते आपने अपने भीतर ऐसी निर्बलता पैदा कर ली कि उस भूल को चाहते हुए भी मिटाने में आप असमर्थ पा रहे हैं अपने को, तो उसके लिए एक बड़ी सुन्दर बात है इस जीवन में और वह क्या है? कि तुम्हारे भीतर अगर असमर्थता लगती है, तो तुम उस बुराई को न मिटा सकने के कारण से दुःखी हो जाओ। हाय क्या बताएँ, मिटाना तो चाहते हैं, लेकिन मिट नहीं रहा है। इस बुराई को छोड़ना बहुत जरूरी है लेकिन मैं क्या बताऊँ मुझसे छोड़ी नहीं जा रही है। जिस बुराई को न छोड़ सकने के कारण से आप पीड़ित हो जाएँगे यह बुराई स्वयं ही मिट जाएगी। यह विधान है, अनुभवी जनों का अनुभव-सिद्ध सत्य है, जिसके मिटा सकने में आप अपनेन को असमर्थ पाते हैं, उसके न मिटा सकने की पीड़ा हो जाए क्या बताएँ यह भूल मैं किसी भी तरह से छोड़ ही नहीं सकता हूँ। तो आपकी पीड़ा, किसी तरह की पीड़ा अच्छाई की ओर आगे बढ़ने की वेदना। क्या करें बुराई छोड़ी नहीं जाती, जीवन निर्दोष कैसे

बनाऊँ, कैसे बनाऊँ। इस बात के लिए हृदय में अगर गहरी व्यथा हो जाए तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि किस समय उस बुराई की जड़ कट गयी और वह आप में से निकल गयी।

निकल जायगी। अब ठीक इतसे विपरित जो जीवन का सत्य है, परम शांति की अभिव्यक्ति, अमरत्व की अभिव्यक्ति, परम प्रेम की अभिव्यक्ति। शांति, अमरत्व और प्रेम की सरसता ये अविनाशी तत्त्व हैं, जो अहम् रूपी अणु में मौलिक रूप से विद्यमान हैं। जिनसे विमुख होकर हमने अपने को भोग, मोह और आसक्ति में फँसा लिया था। मनुष्य होने के नाते सत्संग के प्रकाश में अब अपने को पता चला कि मेरा असली रूप तो परम शांति है, अमरत्व है, परम प्रेम है। ऐसा आपने निश्चय किया, सत्संग में सुना, संतों के पास बैठ करके सुना-समझा, सद्ग्रन्थों में चढ़ करके देखा और अपने भीतर इन तत्त्वों की आवश्यकता का अनुभव किया। ग्रन्थों में पढ़ने से भी इन बातों का पता चलता है। संत महापुरुषों के पास बैठने से भी इन बातों का पता चलता है।

लेकिन जब तक अपने भीतर की आवश्यकता ने देखों तब तक संतवाणी और सद्ग्रन्थ के वाक्यों का अपने पर सजीव प्रभाव नहीं होता हैं। भीतर में आवश्यकता होती है। किस बात की? कि जब अशांति से आप बैचेन होते हैं तो अनुभव करते हें कि कितना अच्छा होता कि तुझे शांति मिल जाती। जब जीना चाहे जी न सको, मरना चाहो मर न सको। इस प्रकार की पराधीनता जब सताती है तो व्यक्ति जन्म मरण के बन्धन से मुक्त जीवन की आवश्यकता अनुभव करता है।

जब प्रेम-तत्त्व को आसक्ति के रूप में दूषित कर देने से भीतर-भीतर नीरसता सताने लगती है तो मनुष्य परम पवित्र प्रेम रस की आवश्यकता अनुभव करता है। भीतर-भीतर हम लोग इन अलौकिक अविनाशी तत्त्वों की आवश्यकता अनुभव करते हैं और बाहर से संतजन इसकी चर्चा करते रहते हैं। सद्ग्रन्थों में इसकी चर्चा लिखी हुई है। पूछने से, जिज्ञासा रखने से उत्तर में सब उपाय अपने को मिलते रहते हैं। ऐसा आपने भी किया है। सत।सग क प्रकाश में जीवन को देखा हैं, सत की संगति में बैठकर उपायों को सुना है। तो जिन्होंने सत्संग के प्रकाश में अपनी आवश्यकता को अनुभव किया वे अवश्य ही इस दिशा में प्रयत्नशील होते हैं। क्या करने से शांति मिलेगी, क्या करने से भक्ति मिलेगी, क्या करने से मुक्ति मिलेगी, ऐसी जिज्ञासा आपके भीतर होती है और उपाय करना आप पसंद करते हैं और जिस भाई से, जिस बहन से वर्तमान में जो करते बनता है, आप लोग करते भी हैं। अब उसके आगे चलिए। उपाय भी किया फिर भी भीतर से जीवन भरा-भरा सा नहीं लगता है। ऐसा नहीं हुआ कि मुझको स्वयं अपने लिए शरीर और संसार नहीं चाहिए। ऐसा हो गया है क्या? जी! सबके लिए नहीं हुआ है। और जिनका हो गया है, वे तो हम सभी भाई-बहनों के प्रणम्य है, आदरणीय हैं, स्तुति करने योग्य हैं।

लेकिन जिन भाई बहनों के भीतर यह अनुभव नहीं आया इसके लिए उपाय सोचना पड़ेगा और इस दिशा में पुरुषार्थ करना पड़ेगा। पहली बात क्या है कि जिस जीवन को हम अपनी आवश्यकता के रूप में अपने भीतर ही पा रहे हैं, शान्ति चाहिए, अमरत्व चाहिए, परम प्रेम चाहिए। अपने को इनकी आवश्यकता है। जिन्होंने अविनाशी तत्त्वों की आवश्यकता अनुभव की, उन साधकों के भीतर इस आवश्यकता की जागृति के

आधार पर अपने आप में ही इतना उत्साह और बल बढ़ने लगता है कि बाहर की सब बातों में जो उनका बड़ा घना लगाव था वह अपने आप से ढीला हो जाता है।

आवश्यकता को अनुभव करना, उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होना और उस आवश्यकता की जागृति में सतत जागरूक रहना आवश्यकता जागृत बनी रहे और उसकी इन्टेंसिटी बढ़ती रहे, तीव्रता उसकी बढ़ती रहे, इसके लिए क्या करिएगा? तो प्रातः काल ब्रह्म मूहुर्त में बहुत सबेरे उठ करके व्यक्तिगत सत्संग कीजिए। आवश्यकता सामने रहेगी और तीव्रतर होती जायेगी, फिर मूक सत्संग कीजिए। विश्राम के सम्पादन में आवश्यकता की तीव्रता भी बढ़ती है और आवश्यकता की पूर्ति भी होती है। तो मूक सत्संग के द्वारा विश्राम सम्पादित कीजिये। जाग्रत अवस्था में समाज में प्रवत्त होने की घड़ी जब आए तो अपने पास जो भी कुछ सामर्थ्य मालूम होती है, सबको लगाकर के परिवार और समाज की सेवा करने को सोचिए। और सेवा का अवसर निकल जाए तेा अकेले शांत रहिए। यह रूटीन हैं। इस प्रकार का जीवन का क्रम बनाएँगे तो आवश्यकता तीव्र होती जाएगी और कैसा अनुभव किया मैंने और ऐसा भी लगा मुझे कि विचार-पथ के साधक हों, अथवा विश्वासपथ के साधक हों, उनको अब नयी-नयी इच्छाओं की पूर्ति के सुखसे अपने को बचाना चाहिए। अपने को साधक स्वीकार कर लिया। अविनाशी जीवन से अभिन्न होना है, इस बात को स्वीकार कर लिया। अविनशी परमात्मा की शरण में मैं हूँ, उनकी शरणागति को स्वीकार कर लिया, तो किसी भी प्रकार से जीवन के सत्य की स्वीकृति के बाद भी भूतकाल के भोगे हुए सुखों के आधार पर कभी-कभी इच्छाएँ उदित होती हैं। लेकिन अपनी वास्तविक आवश्यकता पर दृष्टि आप रखेंगे तो वे इच्छाएँ जो चेतन स्तर पर आएँगी ;कोंशस लेविल परद्ध वे आपको आपके लक्ष्य से विचलित नहीं करेंगी। आएँगी और निकल जाएँगी, खत्म हो जाएँगी। यदि साधक की श्रेणी में आ जाने के बाद समाज की उदारता से, परिवार की उदारता से, अपने को अधिक अनुकूलता मिलने लगी और चार कदम आगे बढ़ने के बाद, प्रकृति के विधान से परमात्मा की कृपालुता से हमारे बहुत पुराने दबे हुए संकल्पों की पूर्ति का संयोग बनने लगा तो उस क्षण में भी साधक को बहुत सावधान रहना चाहिए। प्रतिकूलता में तो

सावधानी बनी रहती है, ज्यादा बेहोश नहीं होता है आदमी। बाहर से कठिनाइयाँ जब खड़ी होती हैं तो आदमी अचेत नहीं होता है, सावधान रहता है। लेकिन साधक की श्रेणी में आ जाने पर समाज, परिवार, प्रकृति, परमात्मा सब अनुकूल होने लगते हैं तो उस समय आयी हुई अनुकूलता का सुख भोगने में अपने को फँसना नहीं चाहिए। नहीं तो क्या होता है कि थोड़ी सी साधना के बल पर जो विकास हुआ था, वह रूक जाएगा और आयी हुई अनुकूलता को हम स्वीकार करने लग जाएँगे तो पुनः-पुनः अनुकूलता के सुख भोगने का फल हमारे ऊपर जड़ता के रूप में छा जाएगा। फिर लक्ष्य पर से दृष्टि हट जाएगी। अनुकूलता के सुख-भोग से हमको पुनः-पुनः पराधीनता में फँस जाना पड़ेगा। शरीर ओर संसार का प्रभाव पुनः अपने को प्रभावित करने लग जाएगा।

इसलिए साधन-काल ने जिन साधकों ने वास्तविक जीवन की यात्रा को आरम्भ किया, उनको आयी हुई अनुकूलता से बहुत सावधान

रहनाचाहिए। आदर भी मिले लगता है, सहयोग भी मिलने लगता है, दूसरे सब लोग ध्यान भी रखने लग जाते हैं—अच्छा भाई इनके भजन का समय है शोर नहीं मचाना चाहिए चुप रहो, चुप रहो। अरे भाई ये साधक लोग हैं इनको कोई खराब चीज खाने को नहीं देनी चाहिए। इनको आराम से रहने देना चाहिए। तो प्रकृति मदद करने लग जाती है, परिवार, समाज सब सहायता देने लग जाता है। परमात्मा कृपा करने लग जाते हैं तो बड़ी भारी भूल होती है। मुझसे भूल हुई है। और मैंने उस भूलकाल में अपनी इस गरीबी को अनुभव किया था।

बिल्कुल सच्ची बात मैं बता रही हूँ मैंने ऐसा अनुभव किया अपने भीतर में अपनी गरीबी को, कि सीमित व्यक्तित्व के अभिमान को पालने वाला व्यक्ति अभिमान की जड़ता से ठोकरें खाने लग जाता है तो उसे परमात्मा की याद आती है, अविनाशी जीवन की याद आती है, संत की संगति में अच्छा लगने लगता है, सत्संग के प्रकाश को लेकर वह ऊँचे उठने लगता है। तो भीतर से भी थोड़ा आराम मिल गया। सुख-भोग की प्रवृत्तियों की ओर से अपने को हटाया, नित्य-योग पर ध्यान दिया, परम प्रेम की आवश्यकता को अनुभव किया। परम प्रेम के परम आधार प्रेमास्पद परमात्मा की शरणागति को स्वीकार किया।

सत्य की स्वीकृति मात्र से भीतर-भीतर थोड़ा-थोड़ा आराम मिलने लगता है, साधक को। चंचलता और विकृतियाँ शांत होने लगती है। बाहर से दृष्टि हट जाती है तो अपने में अपने भीतर ही आराम मिलने लगता है। अभी आरम्भ हुआ

साधनकाल है। अभी-अभी साधना आरम्भ की है। सत्य की स्वीकृति मात्र से भीतर बाहर थोड़ी अनुकूलता हो गयी है, अन्तर की बेचैने और अशांति खत्म हो गयी।

मन और चित्त की चंचलता और विकृतियों का भार उस परम प्रेमास्पद सामर्थ्यवान को सौंप दिया। अपने से सँभाल में नहीं आया। अपने से अगर सँभालने में आ जाता तो मैं तो परमात्मा को पूछने वाली ही नहीं थी अपने में सँभालने में नहीं आने पर हार मान करके, संत की सलाह सुन करके सौंप दिया कि भई अब हमारे से तो होता नहीं है, आपके भक्त हैं, आपके मित्र हैं, आपके परम प्रेमी हैं, उन्होंने मुझको सलाह दी है कि सामर्थ्यवान के हाि में सौंप दो। तो उनके कहने से मैं आपको सौंप रही हूँ, आप सँभाल लीजिए।

ऐसा कहकहर भार अपने पर से उतार कर चीने रख दिया, ठीक है, स्वामी जी महाराज कह रहे हैं तो जरूर परमात्मा सँभालते होंगे तो अपने से बनता नहीं है, तो मैंने कह दिया। और ऐसे कह दिया कि हे महाराज आप बड़े कृपालु हैं, ऐसा मैंने सुना है, और आपने सचमुच बढ़िया-बढ़िया मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, बाहरी-भीतर सब अंग ;वतहंदद्ध सब अवयव आपने बढ़िया-बढ़िया बनाकर दिए थे, परन्तु हे परमात्मा, मुझे से भूल हो गयी।

मैंने अपनी भूलों के कारण से ही इनको गंदा कर दिया, विकृत कर दिया। अब ये मेरे सँभालने में नहीं आ रहे हैं। इन विकृतियों का भार मुझसे ढोया नहीं जा रहा है, हे कृपालु अब आप सँभालें। तो ऐसा कह देने के बाद बड़ा हल्कापन आता है जीवन में। एक बड़ा जोरदार सहारा मिल जाता है कि ठीक है, गंदा किया मैंने और साफ करने की सारी जिम्मेदारी मुझ पर नहीं है। केवल इस एक आश्वासन से कितना बल मिलता है।

सोचो? जी! भूल किया मैंने, लेकिन उसका जो परिणाम बन गया, जिससे ज्वाला उपज रही है, न जाग्रत में चैन है, न निद्रा में चैन हे। तो उस दुर्दशा को दूर करने में सारी जिम्मेदारी मुझ पर नहीं है। कोई एक हैं, जिसने हमें बनाया। वह असमर्थों का सहारा है। वह हमारी दुर्बलता में हमारी मदद करने वाला है। केवल इस आस्था से ही, केवल इस विश्वास से ही भीतर-भीतर बिल्कुल शांति छा जाती है। थोड़ा अच्छा लगने लगता है, बहुत आराम मिलने लग जाता है।

ऐसा मैंने देखा। उसके बाद क्या हुआ? बिल्कुल सच्ची बात कि कितने पुराने-पुराने संकल्प जिनकों कि न मैं अपने भाग्य-विधान से पूरा होते देखती थी और न मेरे पुरुषार्थ के भीतर ये आते थे, अचानक से उनका उदित होना और अप्रयास उनका निष्कासन और उनकी निवृत्ति होना, यह सब होने लगता और अंतः निरीक्षण की आदत जो थी तो उससे अपने भीतर झाँना और इन सब क्रियाओं को देखना और सब प्रोग्रेस देख करके प्रसन्न होना। यह सब चलने लगा, फिर क्या हुआ? कि जैसे-जैसे अन्दर की सफाई होती है, शांति मिल रही है, फिर अपना पुरानादबा हुआ, अहम् का अभिमान जाग्रत हो गया। जिसके आगे समर्पित किया था अपने को और जिसकी कृपालुता से शांति आयी थी फिर उसकी ओर से दृष्टि हट गयी। मैं बड़ा बहादुर हूँ, मैं बहुत विचारवान हूँ, मैंने बड़ी बहादुरी की, मैं बड़ा अच्छा साधक हूँ। क्या अच्छे है। आप? वाह! स्वामी जी महाराज मैंने जो कहा, सो मैंने करके दिखा दिया।

साधन के फल में भी चाहे भीतर की, चाहे बाहर की दोनों तरफ की अनुकूलता की बाढ़ जैसे आ गयी हो मेरे सामने। ऐसा लगने लगा कि जैसे इतने दिनों से अपनी प्रतिकूलता का वेश बना करके, मुझको डरा करके, मुझको थका करके, परमात्मा इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब ये हमारे को याद करेगी कब ये हमारी शरण में आएँगी और हम इस पर भीतरी, बाहरी अनुकूलता बरसाएँगे। ऐसे जैसे कि तैयारी करके बैठ करके प्रतीक्षा कर रहे हों। तो भीतर, बाहर सब प्रकार की अनुकूलता बरसने लगी और उस अनुकूलता में फिर उनको भूल गयी।

यह बाहर से भी आता है और अन्दर से भी आता है, ऐसा तो मैंने देखा है। जब भीतर से अहम् का अभिमान फिर जाग्रत होता है तो फिर जड़ता आ जाती है। अहम् का अभिमान जगता है फिर जीवन का रस घट जाता है, ऐसा होता है। तो सारा दिन तो विश्वविद्यालय का काम, पढ़ा रहे हैं और प्रयोगशाला सँभाल रहे हैं, अब लड़कियों का यह चल रहा है, वह चल रहा है, यह चल रहा है, सुबह शाम छात्रावास में उनकी देखरेख्ा का काम है, यह सब चल रहा है, जब सब खत्म हो गया तो दूसरे दिन सबेरे क्या-क्या लेकर जाना है वो टोकरी सज गयी, टाइम टेबिल पर निशान लगाकर रख दिया गया।

उसके बाद बिस्तर में बैठ करके, मच्छरदानी लगा करके, बत्ती बन्द करके अब अपने को देखने का समय आया। तो देख रही हूँ, कैसा लग रहा है। जड़ता बढ़ रही है, रस घट रहा है, क्या हो रहा है? क्या हो रहा है? पता ही नहीं कि क्या हो रहा है? मैंने प्रभु की कृपालुता को अपनी बहादुरी मानने की भूल कर लिया, अहम् के अभिमान से पुनः जड़ता छा गयी। तो अब पता ही नहीं कि प्रभु की विस्मृति हो जाने के कारण से यह दशा हो रही है, अपने को पता न चले और रात को बहुत बैठ-बैठकर मैं सोच रही हूँ बिस्तर में लेटे-लेटे उलट-पुलट करवट बदल रही हूँ।

बड़ा बढ़िया क्रम शुरु हुआ था, कहाँ से बाधा आ गई? क्यों नहीं उत्साह मालूम होता है? क्यों नहीं रस मालूम होता है? क्यों नहीं आज अच्छा-अच्छा लग रहा है। पता नहीं तो भीतर-भीतर मैं परेशान हो रही हूँ मैं राची में छात्रावास के कमरे में। दूर-दूर से कहाँ-कहाँ से स्वामी जी महाराज के पास से संदेशा आ रहा है चिट्ठियाँ आ रही है, 'पथेय' वाली पुस्तिका में आप पाएँगे इस प्रकार के पत्र भी और ऐसा हमारा उदाहरण भी है तो चिट्ठी मैं पढ़ रही हूँ उसमें लिखा है—मैंने खबर नहीं भेजी केवल बिस्तर में उलट पुलट कर रही हूँ कि भई क्या हो गया—तो वहाँ से पत्र लिख कर आ रहा है महाराज के पास से—लाली साधन के फल का भोग मत करो।

चेतना आ जाती, होश सँभल जाता। खोज लिया मैंने कि महाराज जी ने ऐसा वाक्य कैसे लिखा है। तो ध्यान में आ गया। जिनकी कृपा का आश्रय लेकर भीतर-बाहर से कुछ आराम मिला उस आराम को मैंने अपने अहं की खुराक बना लिया, प्रभु को भूल गयी। तो कृपा के बरसने का सरस अनुभव जो हो रहा था अहम् के अभिमान की जड़ता का पत्थर बैठ गया। सावधानी आ जाती है। संतजन और भगवान किसी साधक को बीच रास्ते में अटका हुआ छोड़ते नहीं है।

सावधानी आती है। इसी आधार पर आप भाई-बहनों से निवेदन कर रही हूँ मैं कि सत्य की अभिव्यक्ति बड़ी दूर की बात नहीं है।

आप साहस करिए। जितनी सामर्थ्य आपके पास है, खर्च करिए और आप कर सकते हैं कि नहीं कर सकते हैं, अपनी असमर्थता की ओर तो देखिए ही मत। किसकी ओर देखो कि मुझे तो परम शांति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम चाहिए। मुझको तो उनकी आवश्यकता है। और एक सामर्थ्यवान है परम शांति उसका स्वरूप है, परमानन्द स्वरूप वह है प्रेरमानन्दस्वरूप वह है, वह मेरा अपना है, वह हमारे सबके भीतर सब समय विद्यमान है और वह हर कदम पर हमारी सहायता करने में परम तत्पर है।

विश्वास की दृष्टि से यह विश्वास रखिए और विचार की दृष्टि से वह नित्य विद्यमान है। जो नित्य नहीं है, जो स्व नहीं है जो पर है, जो परिश्रम और पराश्रय से मिलता है, वह नहीं चाहिए, नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। जो अपने में इसी समय विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति अपने को अभीष्ट है, इन बातों को ध्यान में रखिए। क्या होगा? एक बड़ा शुभ परिणाम होता है। और वह यह होता है कि साधक के भीतर या तो सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। और मेरी तरह कोई सामर्थ्य का अभिमानी होगा तो उसकी मदद भगवान दूसरी तरह से करते हैं। बहुत मजा आया मुझे। कैसा करते हैं? जितना जितना जोर लगाओ, उतनी-उतनी हार मालूम होगी और जब अपनी हार की व्यथा से व्यथित हो जाओ तो अपनी कृपा का रंग बरसा करके भरोसा दिला देंगे कि देखो मैं तुम्हारी सहायक तुम्हारे भीतर ही विद्यमान हूँ ।

प्रवचन 3

प्रश्न है—मानव का सम्बन्ध विधान के नाते विधायक से है या विधायक के नाते विधान से है?

उत्तर—प्रश्नकर्त्ता का अपना विचार क्या है? वे अगर विधायक को मानते हैं, तो उनका सम्बन्ध विधायक के नाते विधान से रहेगा, लेकिन सभी का ऐसा नहीं हो सकता। कुछ लोग इस विचार के होते हैं कि वे जगत् के, समाज के, प्रकृति के विधान को मानते हैं और विधायक को

नहीं मानते हैं। फिर भी जो विधान को मानता है, उसके अनुसार जीवन-यापन करता है, उसको विधायक मिल जाता है, न मानने पर भी। इसलिए प्रधानता विधायक की है। और साधक कहाँ से आरम्भ करेगा यह उसकी अपनी रुचि की बात है। अगर वह ईश्वर-विश्वासी है तो

विधायक को मान लेगा पहले और विधान उसके जीवन में आ जाएगा पीछे। और अगर वह विचारक है तो विधान को मानकर चलेगा पहले और विधायक का साक्षात्कार हो जाएगा पीछे।

प्रश्न—वर्तमान जीवन को सुन्दर बना सकने की निराशा ही क्या जन्म-मरण से छुटकारा पाने को सोचने का कारण नहीं है?

उत्तर—ऐसा नहीं है और जो लोग वर्तमान जीवन को सुन्दर बना सकने की निराशा में सुन्दर शब्द का अलग-अलग अर्थ होगा। जो लोग जीवन के सही मूल्यों को सामने रखकर उसको सुन्दर बनाने चलते हैं उनको किसी प्रकार से निराशा नहीं होती है। प्रश्नकर्त्ता को ऐसा लग रहा है जैसे जो चाहते थे, संसार में नहीं मिला तब चलो उधर की बात सोचें। तो हारा हुआ व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश नहीं पाता है, विचारक प्रवेश पाता है। जो विचार के प्रकाश में नाशवान को नाशवान जानकर उसकी आशाओं को स्वेच्छा से छोड़ देता है, उसका प्रवेश अध्यात्म जीवन में होता है। और जो सुख की वासनाओं की पूर्ति नहीं हुई तो पूर्ति के उपाय में निराशा मिली। इसलिए वह अध्यात्म की सोचे तो ऐसे हारे हुए का सौदा अध्यात्म जीवन नहीं।

प्रश्नकर्त्ता ने लिखा है वर्तमान जीवन को सुन्दर बना सकने की निराशा। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में जीवन को सुन्दर बना सकने में निराशा किसी को होती ही नहीं है। सुन्दर बनाने में निराशा नहीं होती, विलास की पूर्ति में निराशा हो सकती है। कामना की पूर्ति में निराशा हो सकती है। इच्छाओं की पूर्ति का सुख भोगने में, उसके प्रयास में निराशा हो सकती है। सुन्दर बनाने में निराशा कभी होती ही नहीं। क्यों? क्योंकि मानव-जीवन सुन्दर बनता है सेवा-त्याग और पे्रम से। और इसमें-सेवा, त्याग और प्रेम में किसी प्रकार निराशा आ ही नहीं सकती। इसलिए निराशा शब्द को सुन्दरता के साथ जोड़ना नहीं चाहिए। यह गलत हो गया। और जब जीवन सुन्दर हो गया तो वह छूटे या न छूटे क्या अन्तर पड़ता है। यहाँ भी वही गलती हो रही है, प्रश्नकर्त्ता भाई से। सुन्दर शब्द का वे गलत अर्थ ले रहे हैं। कपड़ा सुन्दर, खाना सुन्दर, महल सुन्दर, सब प्रकार से सुख, सब प्रकार से सुविधा इसको अगर वे सुन्दर ले रहे हैं। इसलिए ही गलती हो रही है, अन्यथा यह प्रश्न नहीं बनता। यह प्रश्न ही गलत है।

प्रश्न—स्वामी जी कहते हैं यदि हममें से बुराई निकल गयी तो हमें जगत् में बुराई दिखेगी नहीं? मैं यह नहीं कहता हूँ कि जगत् में बुराई नहीं है, परन्तु हमें जगत् में बुराई देखने का अधिकार नहीं है। कृपया उक्त की व्याख्या करके समझावें।

उत्तर—तो प्रश्नकर्त्ता भाई से यह पूछ रही हूँ कि महाराज जी के ये वचन जो हैं, वे आपको मंजूर हैं कि नहीं? व्याख्या तो उसके बाद मैं कर दूँगी, लेकिन पहले आप अपना विचार बताइए कि इस विचार से आप सहमत है? किसका प्रश्न है भई? अच्छा। तो आप इससे सहमत हैं? मैं व्याख्या करूँगी बहुत बढ़िया लेकिन आपका विचार जानना चाहती हूँ, लिखा है, यदि हम में से बुराई निकल गयी तो हमें जगत् में बुराई दिखेगी नहीं। प्रश्नकर्त्ता इससे सहमत नहीं हैं। ठीक है तो

आपको ऐसा लगता है कि अपने में बुराई न होने पर भी जगत् की बुराई दिखती है। ठीक है। अब इसी ढ़ग से सोचेंगे हम लोग।

उत्तर—बात ऐसी है कि एक परसप्च्यूयल फील्ड होता है प्रत्यक्षीकरण का एक क्षेत्र होता है, मनुष्य के सूक्ष्म शरीर के माध्यम से वह काम करता है। और अनेक अवसरों पर कम से कम अपने साथ जो कुछ हुआ है वह पक्की तौर से जानती हूँ और साइकलाॅजी में जो पढ़ा है, उसका उससे समर्थन भी है कि सचमुच जिस बात की सम्भावना मेरे भीतर नहीं है, किसी भी व्यक्ति से सम्बन्ध में मेरी जो धारण है कि ये विद्यार्थी है कि ये साधक है, ये सज्जन हैं तो वे इस प्रकार की गलती कर सकते हैं, ऐसी सम्भावना मेरे मस्तिष्क में नहीं रहती है, तो उस प्रकार की गलतियों को अनेक बार अपने साथ होने पर भी कभी ख्याल में नहीं आता है कि यह भला आदमी ऐसा कर सकता है, दिखता ही नहीं है।

अनेक बार ऐसा पाया है मैंने वर्षों तक धोखे खाते-खाते बड़ी कठिनाई से बड़े दुःख के साथ जब एकदम आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है तब बड़े दुःख के साथ मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि अच्छा ऐसा आदमी भी ऐसा कर सकता है। तो चोट खाते जा रहे हैं, घाटा लगता जा रहा है, आघात पर आघात लगता जा रहा है, और प्रेमपूर्वक उसके साथ मैं रहती जा रही हूँ और कभी सोचने में ही नहीं आता है कि ऐसा आदमी ऐसा कर सकता है, ध्यान में ही नहीं आता, दिखती ही नहीं बुराई एक तो यह बात हो गयी।

साइकलाॅजी वालों ने यह कहा सचमुच जगत् कैसा है? वैसा हम नहीं देखते हैं, कैसा देखते हैं कि जैसे हम हैं तो अपना जो परसप्च्यूयल एपरेटस है, उसमें जो दोष है तो वही दोष जगत् में दिखायी देता है। वह जैसा है, वैसी ही जगत् दिखाई देता है। तो यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त भी हो गया। तीसरी बात जो आपने कहीं, वह भी बहुत हद तक व्यावहारिक जगत् में देखने में आती है कि सचमुच कोई खास दोष जो अपने में नहीं है तो भी दूसरों में हम लोगों को दिखता है।

ऐसा अगर नहीं होता तो समाज के बड़े-बड़े सुधारक जो स्वयं शुद्ध जीवन को लेकर, परहितकरी भाव को लेकर दुनिया में आये और दुष्ट प्रकृति के लोगों की दुष्टता के विपरित उन्होंने आन्दोेलन खड़ा किया और वृहद् समाज के साथ होने वाली बुराई को रोका। ऐसा भी हुआ। तो वह दोष उनमें अपने में नहीं था फिर भी उनको दिख रहा था कि इस एक विकारयुक्त व्यक्ति के कारण से अनेकों को कष्ट हो रहा है, तो जहाँ उन्होंने उसको परसीव ;चमतबमपअमद्ध किया कि ये दुष्टता कर रहा है, तब उनको ऐसा मालूम हुआ। इस तरह से आपका कहना भी इस अंश में सही है और किसी अंश में सही है उसको सर्वांश में नहीं लेना चाहिए। और आखिरी बात क्या है? कि सचमुच अगर सीमित अहम् भाव और यह मैं हूँ और यह जगत् है। ये दार्शनिक सिद्धान्त है ना! मैं हूँ और जगत् है, अपने से भिन्न एक जगत् दिखाई देता है, एक है मूल सत्ता और एक में यह द्वैत का भास हो रहा है एक "मैं" हूँ एक 'जगत्' है। तो दोषों का दर्शन अगर होता है तो इस द्वैत के कारण ही होता हैं। तो ये बात ठीक तरह से हम लोगों को कब मालूम होगी? जबकि द्वैत का नाश हो जाए।

तो वहाँ पहुँच करके यह सिद्धान्त बिल्कुल सैन्ट-परसैन्ट पक्का उतरेगा क्योंकि अपने से भिन्न किसी का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो दोष दिखेगा ही नहीं। दोष जहाँ से दिखता है, वह जड़ कट जायेगी। स्वामी जी महाराज ने हमेशा

आखिरी बात को लेकर के सूत्रों का गठन किया है। तो वे कह रहे हैं कि यदि हममें से बुराई निकल गयी तो हमें जगत् में बुराई दिखेगी नहीं। अब दूसरी बात अब कह रहे हैं जहाँ से हम लोग बात कर रहे हैं जैसा आपने बताया कि भाई हमारे में वह बुराई न रहने पर भी वह जगत् में बुराई दिखती है।

उसके लिए उन्होंने कल्याणकारी उपाय बताया कि मैं यह नहीं कहता हूँ कि जगत् में बुराई नहीं है, परन्तु हमें जगत् में बुराई देखने का अधिकार नहीं है। अब इसका अर्थ उन्होंने साधक की दृष्टि से बताया और यह बताया कि जगत् में बुराई है कि नहीं है, इसको तो कोेई वीतराग पुरुष ही देख सकेगा, जान सकेगा और कर सकेगा और हम लोग जब तक बिल्कुल वीतराग नहीं हो गये हैं तो आँखों में दूसरों कर दोष दिखता है लेकिन अगर दूसरों को हम दोषी मानते रहेंगे तो अपना कल्याण नहीं होगा। इसलिए मना किया कि दूसरों में बुराई का अधिकार नहीं है।

अधिकार नहीं है इसमें भी एक बड़ा रहस्य है। वह रहस्य यह है कि जिसमें मुझको दोष दिख रहा है, वह सचमुच उसमें दोष है कि नहीं है, इसमें तो संदेह है और मैं अगर मान लूँ, तो मानने से दोनों तरह का अपराध बनेगा, अपना चित्त भी अशुद्ध होगा और उसके प्रति भी द्वेष भाव बढ़ेगा। साधक को अपना कल्याण अभीष्ट है और यह सच्ची बात है कि अपना कल्याण जिसको अभीष्ट नहीं है उसके द्वारा दूसरे का कल्याण हो नहीं सकता है। इसलिए भी स्वामी जी ने मना किया कि दूसरों में दोष देखो मत।

अब दिखता तो है ही हम लोगों का, और इसके लिए उन्होंने बताया कि अगर कोई आदमी तुमको बुराई करता हुआ दीखता है तो ये कैसे हो सकता है कि तुम देखते रहो और वह बुराई करके पार हो जाए। ऐसा नहीं होना चाहिये। शुद्ध बोध माताजी इस आश्रम में पहली अधिष्ठात्री हुई है, उन्हीं के कारण आश्रम बना। तो उनसे एक बार बातचीत हो रही थी, कोई एक प्रसंग आया होगा। कुछ घटना घटित आदि हुई होगी तो स्वामी जी बार-बार कहें कि माताजी यह आदमी ऐसा काम करके चला गया, तुम जिंदा कैसे रहीं? इसका अर्थ क्या है? कि गलत करने वाला बलवान भी हो और मेरी हानि भी हो सकती हो, प्राण-हानि भी हो सकती हो, जान भी जा सकती हो, तब भी अगर लगता है कि यह बुराई है तो आँखों से देखते हुये उसको होने नहीं देना चाहिए। ये बात महाराज कह रहे हैं।

इसका अर्थ तो स्पष्ट है ना कि बुराई जगत् में दिखती है। तो दो बातें हो गयी, एक तो यह हो गयी कि बुराई अगर देखो तो प्यार से, दुलार से, फटकार से, मित्रता से, जैसे-भी हो उस व्यक्ति का हित दृष्टि में रख करके, उस बुराई को रोकने की चेष्टा करो, लेकिन बुराई करने वाले को बुरा समझना दिल में, बुराई को रोकने में कुछ सक्रिय भाग न लेना और उस पर पूरा विचार न करना, और थोड़ी सी बात से किसी में बुराई का ख्याल बना लेना और उसको दिल में बसाये रखना, यह अपना सर्वनाश है। यह बात है। इसलिए उन्होंने सलाह दी कि भाई एक को दूसरे में जो बुराई दिख रही है, वह कितने अंश में सही है, अपने को पता नहीं है। है लेकिन क्या जाने मैंने थोड़े को ज्यादा समझ लिया है कि ज्यादा को थोड़ा समझ लिया है। आदमी कभी-कभी बड़ा भयानक होता है, और अपने को पता नहीं चलता है।

थोड़ी बहुत मामूली गलती उसकी जान करके हम लोग उसकी तरह से उपेक्षा कर लेते हैं अच्छा भाई जाने दो लेकिन बड़ा भयंकर परिणाम निकलता है। तो कभी बुराई बहुत बड़ी होती है और हमको छोटी लगती है और कभी बुराई बहुत छोटी होती है और अपने को बहुत बड़ी लगती है। तो संदेहात्मक बात यह है। पक्की बात यह नहीं है और दिखाई दे तो उसको रोकना हम सभी का धर्म है। और बुरे को बुरा समझते रहना अपने लिए घातक है। अपना बड़ा भारी नुकसान होता है। इसलिए मना किया। एक बात और महाराज जी नेे बतायी—संत-समागम में कहीं पर लिखी हुई बात है यह कि भाई देखो समाज में कहीं पर बुराई सिखाने का स्कूल खुला हुआ तुमने नहीं देखा होगा। किसी स्कूल, किसी संस्था के ऊपर साइन बोर्ड नहीं देखा होगा कि यहाँ पर हिंसा की टेªनिंग दी जाती है कि यहाँ पर चोरी करना सिखाया जाता है कि यहाँ पर धोखा देना सिखाया जाता है। ऐसा तुमने नहीं देखा होगा। बुराई की टीचिंग नहीं होती है। पढ़ाई नहीं जाती है, बुराई। फिर भी बुराई समाज में फैलती है। इसका कारण क्या है? तो उस पर उन्होंने प्रकाश डाला और यह कहा कि किसी को बुरा जान करके और उसके सुधार के लिए तुरन्त ही उसके साथ जो व्यवहार करना चाहिये कर डालो। जो डाल करके रोकना है तो जोर डालकर रोक दो, प्यार करने से समझा सको तो प्यार करके समझा दो।

कुछ ले दे कर मान जाए तो ऐसे कर दो। ईश्वर की प्रार्थना करके उसकी सद्बुद्धि जग जाए तो ऐसे कर दो। तो वस्तु का घाटा लग जाए और आदमी बुराई करना छोड़ दे, समझ आ जाए उसके। तो प्यार से समझे तो प्यार से समझा दो, डाँट से समझा दो। सहायता करने से काम बने तो सहायता करके उसको बचा दो। जैसे भी हो तुरन्त उसके साथ वैसा करना चाहिए। फिर उसके बाद उसकी बुराई को दिमाग में रखना नहीं चाहिए। यह बड़ी गलत बात है कि हम बुरा समझते रहें और करें कुछ नहीं। तो उसमें एक सूक्ष्म हानि तो यह होती है कि मेरे भीतर जो दूसरों के प्रति बुरे भाव बनते रहते हैंऋ विचार बनते रहते हैं, यह आदमी ऐसा है, यह आदमी ऐसा है। तो बुरे विचारों की उत्पत्ति जो मेरे मस्तिष्क में होती है, वह दूसरे के मस्तिष्क के सुप्त बुरे विचारों को जगाती रहती है। इस तरह से बुराई फैलती है।

इसी आधार पर उन्होंने कहा कि देखो अगर बिना स्कूल खोेले और बिना टेªनिंग दिए समाज में बुराई फैल सकती है तो बिना स्कूल खोले और बिना टेªनिंग दिए सद्विचारों का प्रभाव भी हो सकता है। सबका कल्याण हो, सबका भला हो, सबको सद्बुद्धि मिले, सब अच्छे रहें। किसी भी व्यक्ति को, निकटवर्ती जन समुदाय में से कोई है, चाहे दूरवर्ती है चाहे कैसा भी है अगर कोई उसकी त्रुटि कही दिखायी देती है, भीतर में यह भाव जगता है, हे भगवान यह आदमी अच्छा हो जाता तो ठीक था इससे आपका भी चित्त शुद्ध होगा और आपकी सद्भावना से उसमें भी सद्भाव जागेगा। ये बताते हैं। मान लीजिए कि हम देख रहे कि यह काम खराब है, उसको नहीं करना चाहिये तो यह कायरता होगी कि हम उसको न कहें? कि ईश्वर से प्रार्थना करके छोड़ दें।

हाँ, दोनों की बातें होनी चाहिए प्रार्थना भी करनी चाहिए और कहने की हिम्मत भी रखनी चाहिए और उसके बदले में अपने पर जो हानि आवे उसको सहने की हिम्मत भी रखनी चाहिए। लेकिन ऐसा कौन कर सकता है। भाई साहब, स्वामी जी महाराज ने उसमें जो बात बतायी है, वह

बड़े रहस्य की है कि बुराई करने वाला भी तुमको अपना मालूम हो। तब तुम सब कर सकते हो और सब सफलता मिल सकती है। गैरियत का और द्वेष का भाव जब रहता है भीतर तो कहने में डर लगता है, और उससे जो हानि होती है उसको सहने को आदमी तैयार भी नहीं रहता है।

दुष्टों की दुष्टता में कौन फँसे? ऐसा? और जो बुराई कर रहा है वह भी मेरा अपना है तो हम कैसे देख सकेंगे? कि वह गलती करके अपने को गड्ढे में डालेगा देखा ही नहीं जाएगा।

प्रश्न—यह तो ठीक है लेकिन वह अपनी गलती नहीं मानेगा।

उत्तर—हाँ, वह नहीं मानेगा, अपनी गलती नहीं मानेगा, उसको आप टोकते जाइएगा तो दस ऊपरी बात बना करके आपकी बात को गलत करने के लिए वह जो चाहे सो करेगा। एक गलती किसी की बताओ तो उसके समान वह पाँच गलती आपकी बताएगा। वह सुनेगा ही नहीं, आपने उसको क्या कहा। तो सब तो, उसकी प्रतिक्रिया तो देखना ही नहीं है। अपने में इतनी हिम्मत होनी चाहिए और भीतर में इतना प्यार होना चाहिए कि उसकी रुखाई से अपने जीवन में नीरसता न आए।

यही तो हो जाता है ना! दूरी-दूरी होने लगती है। हम लोग मनोवैज्ञानिक अध्ययन में पढ़ा करते थे, पढ़ाया करते थे—फिजीकल नियरनैस एण्ड साइक्लोजीकल डिस्टेन्स। शरीर से एक परिवार में रह रहे हैं, एक घर में रह रहे हैं। एक-दूसरे से बातचीत हो रही है, एक-दूसरे के साथ मिल करके काम करना जरूरी है, यह तो फिजीकल नियरनैस हो गया। शरीर से नजदीक-नजदीक रहते हुए भी बड़ा जबरदस्त साइकलॉजिकल डिस्टैन्स होता है, वह साइकलॉजिकल डिस्टैन्स जो है, मनोवैज्ञानिक दूरी, मन से एक-दूसरे से दूर हो गए, तो व्यक्ति के जो घर का वातावरण है, समूह का, चाहे आश्रम का, बहुत नीरस हो जाता है।

वास्तव में हिम्मत भी होनी चाहिए और दिल में प्यार भी होना चाहिए। स्वामी जी महाराज की बातें क्यों नहीं बुरी लगती थीं और जो लोग बुरा मान गए वे लिंक में से छूट ही गए। पछता रहे हैं कि बड़ी भूल हो गयी मुझसे। और जिन लोगों ने बुरा नहीं माना, बुरा लगने पर भी सोचा कि भाई ये तो हमारे हित-चिंतक हैं, हमारे प्यारे हैं, जरूर मेरी भलाई के लिए ऐसा करते होंगे। खूब कसके स्वामी जी महाराज ने डाँटा, फटकारा लेकिन उसके भीतर कितना प्यार है अगाध।

तो जिन लोगों ने इसको जाना उनको बुरा नहीं लगा। स्वामी जी महाराज को बिल्कुल ही डर नहीं लगता था, कोई भला मानेगा कोई बुरा मानेगा और बिगड़ते तो कह भी देते अरे बुरा मानेगा तो दो रोटी और खा लेना। मैं तुमको गैर मानता हूँ क्या? मेरा पराया है क्या? खूब डाँटते, अच्छी तरह से हिला डुला देते, फिर उसके बाद बस वही प्यार है। तो ऐसा वही कर सकता है जिसको कि बुराई करने वाला भी गैर न लगे। बड़ी भारी बात है। अपना लगेगा तो अपने से रहा ही नहीं जाएगा उसका सुधार किये बिना। बहुत जोरदार बात है।

तो प्यार का होना और अपनेपन का होना हृदय का सरस होना और बुराई करने वाले के प्रति भी अपने में उदारता रखना, ये सब ऐसी अच्छी बातें है कि

ध्यान लगाने में, भजन करने में, भगवत-भक्त होने में सबमें मदद डालती है। और हृदय में अभिमान रखो कि मैं तो बहुत अच्छा हूँ और जो

दूसरे लोग हमारे साथ हैं, ये बड़े नादान हैं बड़े अजानकार, ये ठीक नहीं है। ऐसा समझ करके अपने गुणों के अभिमान पर उनके संग अड़ जाओ तो साइकलोजीकल डिस्टेन्स तो होगा ही और एक सामूहिक जीवन का मजा जो फीका हो ही जाएगा, अपने भीतर भी नीरसता भर जाती है जो कि साधना के लिए बहुत हानिकारक है। तो साधु संत महात्मा जो होते हैं, करुणाजन महापुरुषों के जीवन को देखा होगा आपने जितना भी देखने को मिला, सुनने को मिला सबमें आपने देखा होगा कि भूल करने वाले के प्ररति भी उनके भीतर बड़ी प्रियता होती है।

बहुत प्यार करते हैं और उनके प्यार ही का जादू होता है जो कि भूल करने वाले को सुधारता है। नहीं तो समझ बूझा क्या बुराई करने वालों की कम होती है। क्रिमिनल साइक्लोजी हम लोग पढ़ा करते थे, उसमें यह आता था कि क्रिमिनल जो होते हैं, उनका लेवल आॅफ इन्टेलीजेन्स बहुत ऊँचा होता है, एवरेज से ज्यादा।

स्वराज्य होनेे के बाद शिक्षा संस्थाओं में एक प्रोग्राम बनाया कि प्रोफेसर लोग जाएँगे और जेल के कैदियों को पढ़ाएँगे। उन दिनों में मैं पढ़ती थी तो हमारे आचार्य लोग जब जेल में से पढ़ा कर आते थे तो बातचीत करते थे तो कहते थे कि जेल में कैदियों से बात करो और यहाँ आकर क्लास में बात करो दोनों में बड़ा फर्क मालूम होता है। वे तो इतने इन्टैलीजेन्ट हैं कि मुँह से एक बात निकले नहीं कि झट पकड़ लेते हैं। उनका लेवल आफॅ इन्टैलीजेन्स बहुत ऊँचा होता है। तो उनकी समझ बूझ कम थोड़े ही है कि आपका समझना, बुझाना वे मानेंगे, आप एक ढ़ग से समझाएँगे तो दस बात आपको समझा देंगे। उससे काम नहीं बनता है। लेकिन हृदय में अपनापन, यह बुराई करने वाला भी मेरा ही है। चाहे जगत् के नाते मेरा है, चाहे आत्मा के नाते मेरा है, चाहे प्रभु के नाते मेरा है। ये मेरा ही है।

यह अपनेपन का भाव जो है वह व्यक्ति की वाणी में शक्ति देता है, जादू देता है, स्पर्श में वह अनुभव देता है, कि जिससे बुराई करने वाले का दिल बदल जाता है।

इसके अलावा यह बात भी है कि हम सब लोग सर्वज्ञ है नहीं, और सब प्रकार के सब विकार नाश हो गए, ऐसा भी नहीं, तो जहाँ कहीं अपनी गलती मालूम हो, तो अपने को भी स्वीकार करनी चाहिए कि अच्छा, मैंने ऐसा समझा था, यह ठीक नहीं है। अच्छी बात है। हो गयी बात खत्म अपना भी मानना चाहिये।

प्रश्न—सत्यं श्विं सुन्दरम् की सहज विवेचना।

उत्तर—सहज विवेचना से हमको बहुत हँसी आती है। सहज विवेचना क्या होगी भाई। स्वामी जी महाराज ने एक बार एक घटना सुनायी थी, यह कहा था कि गंगा के तट पर बहुत से साधु संत लोग ऊँचे दर्जे का सत्संग कर रहे थे, बहुत देहातीत जीवन की चर्चा चल रही थी, तो स्वामी जी महाराज के गुरु महाराज भी थे उस समय ऐसा मेरा ख्याल है, उन्हीं के लिए कहा था कि और किसी महात्मा के लिए। तो कहने लगे कि बहुत बढ़िया से ऊँची-ऊँची बातों की चर्चा होती रही, वे महात्मा दूर बैठे थे, सुन रहे थे जब चर्चा करने वालों की चर्चा खत्म हो गयी वे महात्मा कहने लगे गंगा के तट पर असत् के संग में सत् की चर्चा। देहधारी होकर के देहातीत जीवन की बात करना। तो ऐसे ही मुझे यह लग रहा है कि एक ओर तो आप सत्यं, शिवं, सुन्दरम कह रहे हैं और दूसरी ओर कह रहे हैं, सहज विवेचना। सत्य से दूर

रहकर शिव से दूर रहकर, सुन्दर से दूर रहकर सहज विवेचना कैसे हो पाएगी भाइ! कठिन भी विवेचना बन जाए तो समझो कि बन गयी।

और अब चर्चा ले लीजिए। अब चर्चा यह है कि मनुष्य को स्वभाव से ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आकर्षक लगता है, पसन्द आता है। सत्य में नित्यता है, सातत्य है, कन्टीन्यूटी है उसमें कहीं पर कुछ टूटने का प्रश्न नहीं है। और शिवं में कल्याण है सब प्रकार से और सुन्दरम् में आकर्षक है। सबसे अधिक सुन्दर, परम सुन्दर, अनन्त सौन्दर्यवान कौन है, जो कीड़े मकोड़े को, प्राणी मात्र को, वनस्पति को चर-अचार को सबको अपनी मधुरता से, अपनी सुन्दरता से अपनी ओर आक£षत करके रखता है। तो ऐसा जो एक तत्त्व है, जो इस भौतिक जगत् में प्रकट नहीं है। अपने रूपमें प्रकट नहीं है, जगत् के रूप में तो प्रकट है ही तो वहाँ वह दिखाई नहीं देता। यहाँ जो आज सुन्दर लग रहा है कल असुन्दर बन जाता है। आज जो बहुत ही आकर्षक लग रहा है, कुछ ही देर में विकर्षक हो जाता है। अभी तो सत्य लग रहा है, थोड़ी देर में मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। यहाँ ऐसा कुछ है नहीं जो हमारे भीतर सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की माँग को भर सके।

बाह्य जगत में कुछ ऐसा नहीं है। तो फिर अब सोचे मनुष्य कि है कि नहीं और अपने को चाहिए भी। ऐसा कैसे हो? तो मैं मानव जीवन की सबसे बडत्री विशेषता मानती हूँ कि मरणशील शरीर को लेकर के और वह पुस्तकों में से पढ़ता है, वाणी से विवेचन करता है, श्रवण से सुनता है। क्या पढ़ता है? क्या सुनता है? क्या बोलता है? कि मरणशील शरीर को लेकर के अविनाशी जीवन के बारे में बातें करता रहता है, सोचता रहता है, विचारता रहा है। इसका अर्थ यह है कि जिस समय हम लोग नाशवान् शरीरों के साथ सम्बन्ध जोड़कर बैठे हैं, उसी समय हमारे ही अहम् में अविनाशी तत्त्व भी विद्यमान है। अब चूँकि मैंने नाशवान् से सम्बन्ध जोड़ा इसके कारण से भीतर में सीमा आ गयी, पराधीनता आ गयी, नीरसता आ गयी तो उसको सहन नहीं कर सकते जो वर्तमान दशा है वह अच्छी लगती नहीं है, सहन होती नहीं है। और जो जीवन है वह प्राप्त जैसा लगता है नहीं है। उसकी ओर आक£षत हो हो करके सत्यं, शिवं, सुन्दरम के बारे में चर्चा चलती रहती है।

अब करना क्या चाहिए? तो करना यह चाहिए कि जो बाहरी सम्बन्ध है हमारा आँखों को लेकर दृश्य जगत् से, कानों को लेकर ध्वनि जगत् से, जीभ को लेकर स्वाद जगत् से, इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है अपने पास। तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से भौतिक तत्त्वों का जो सम्पर्क अपना बनता है उसके सम्पर्क बनने के परिणाम को अच्छी तरह से देखना चाहिए। इसी के लिए व्यक्तिगत सत्संग की बात मानव सेवा संघ में बड़े जोर से बतायी गयी। अकेले-अकेले बैठे रहो और देखते रहो, सोचते रहो। ऐसा करने से क्या हुआ? ऐसा करने से क्या हुआ? तो जिस समय आपको पता चलेगा कि सचमुच यहाँ पर कोई चीज ऐसी नहीं है जो मेरे भीतर की माँग को पूरी कर सके, तो फिर बाहर का मूल्य घट जाएगा।

छोड़ करके भाग जाएँंगे सो बात नहीं कि आँख बन्द करके दृश्य जगत् से अपने को हटा लेंगे सो बात नहीं हैं। महाराज जी कहते हैं "आंँखंे दी हैं भगवान ने भले आदमी खोल करके देख दुनिया को। रूठ के बैठता काहे हो हैं, संसार से आँखें बन्द करके, गुफा में घुस के। बनाने वाले ने बनाया है, तो देख, लेकिन आँखें खोलकर देख। विवेक के प्रकाश में देख। जीवन

के अनुभव को सामने रखकर देखो। तो बन्द कर देने की बात नहीं है कि आँखों को फोड़ देने की बात नहीं है कि भाग जाने की बात नहीं है। बात केवल इतनी है कि विवेक के प्रकाश में इनके परिणामों को देख करके अगर इनका मूल्य जीवन में से निकल गया तो सचमुच सत्यं क्या है? अपने आप भीतर से प्रकाशित हो जाएगा और उसी तरह से जो सत्य है वह शिवं भी है, जो सत्यं है वह सुन्दरं भी है, वे एक ही की तीनों विभूतियाँ हैं।

एक ही अनन्त तत्त्व है। एक ही अनन्त जीवन है उसको सत्य कहेंगे तो वह शिव भी है, सुन्दर भी हैं। उसको शिव कहेंगे तो वह सत्य भी है, सुन्दर भी है। उसको सुन्दर कहेंगे तो वह सत्य भी है, शिव भी है। एक ही अनन्त तत्त्व की विभूतियाँ ये हैं। उसी तत्त्व के आधार पर हम लोगों का व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। इसलिए जब तक हम उससे विमुख हैं तब तक उसकी आवश्यकता मालूम होती है और विमुखता मिट जाती है तो उससे अभिन्नता हो जाती है।

प्रश्न—जीवन का सबसे बड़ा त्याग क्या है?

उत्तर—जीवन का सबसे बड़ा त्याग यह है कि अपने को त्याग का भास न हो कि मैंने त्याग किया है। अब जहाँ से आवे जब तक किसी को मालूम होता है कि मैंने यह छोड़ दिया मैंने यह छोड़ दिया, मैंने इतना दे दिया, मैंने इतना कर दिया, तब तक उसको त्याग का बन्धन बना रहेगा अहम् का पोषण होता रहता है। और सबसे बड़ा त्याग है कि त्याग का भास त्याग दिया जाए। उसको पता ही न चले कि मैंने इतना त्याग किया है।

प्रश्न—यदि दुःख सहने की सामर्थ्य आ गयी है परमपिता की सहज कृपा मानकर किन्तु आए हुए सुखसे तिलांजलि देने की सामर्थ्य नहीं है। इससे आगे का साधन क्या है?

उत्तर— अहा! ये तो बहुत ही सहज है, यदि दुःख सहने की सामर्थ्य आ गयी तो मानव सेवा संघ ने सहने का परामर्श नहीं दिया उन्होंने कहा भैया, तुम दुःख के भोगी मत बनो दुःख के उपयोगी बनो। सहन करने की सामर्थ्य तो सच पूछिए परमात्मा सभी प्राणियों को देते हैं। दुःख के आते से पहले दुःख से जितना घबराता है, आदमी आ जाने के बाद उतना नहीं घबराता है। और जिस क्षण में नया-नया दुःख आ गया, उस समय आदमी जितना अधीर रहता है, कुछ दिनों के बाद उतना अधीर नहीं रहता है।

दुःखी लोगों को सम्भालते हुए महाराज जी ने कितनी बार कहा कि देखो भाई जहाँ से दुःख आता है, उसको सहने की शक्ति भी वहीं से आती है। तो सहने का परामर्श यहाँ नहीं दिया गया है, परमपिता की सहज कृपा मानकर उसको हर्षपूर्वक उसका तो स्वागत करने का परामर्श दिया गया है कि अगर किसी प्रकार की प्रतिकूलता आ गयी तो प्रभु की कृपा मानो, उनके मंगलमय विधान का काम मानो। तो हर्षपूर्वक उसका स्वागत करो, आओ भाई बैठो बताओ मुझे क्या कहने आए हो, क्या सिखाने आए हो। कौन-सा त्याग कराने आए हो कि दुःखहारी हरि से मिलाने आए हो।

यह सहना नहीं हुआ यह हर्ष पूर्वक उसका स्वागत करना हुआ। जिससे दुःख का हर्ष पूर्वक स्वागत करने आ गया, उसमें सुख की वासना रहेगी नहीं। तिलांजलि देने की ताकत खोजनी नहीं पड़ेगी। वह अपने आप से ही बात पूरी हो जाएगी। जरा भी उसमें लालच शेष नहीं

रहेगा। ये बात, ये दोनों तरह की बातें इकट्ठे क्यों मन में उठती है?

अब मेरी समझ में आती है। पहले तो मैं उलझ जाती थी। स्वामीजी महाराज मुझको बताते रहते थे कि देखों भाई बात ऐसी नहीं है। उलझो मत। तो पहले तो लगता था कि ये दोनों कन्ट्राडिक्ट्री बातें एक साथ हो गयी, परस्पर विरोधी, लेकिन यह परस्पर विरोधी नहीं है। अभी तक मैंने दुःख का हर्षपूर्वक स्वागत नहीं किया, इसलिए सुखकी दासता मिटी नहीं। लगता है दुःख को तो सह लेंगे भाई लेकिनन सुख कैसे छोड़ेंगे? दूर से अभी कल्पना कर रहे हैं, इसलिए ऐसा लग रहा है। परन्तु अगर दुःख का स्वागत करना आ जाएगा, उसमें प्रभु की कृपा का दर्शन होने लग जाएगा तो सुख का कोई मूल्य आपके जीवन में रहेगा ही नहीं। फिर भी अब आप ही के स्टेज पर उतर के, आप ही के स्तर से बात करूँ, तो मैं यह कहूँगी कि अगर सुख आ गए और आपके भीतर उसके प्रति कुछ आकर्षण मालूम हो, सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना कीजिये।

अब मैं तो दोनों तरह से प्रार्थना करती है। प्रतिकूलता आती रती है, आती रहती है, डरती रहती हूँ। तो घबराकर के कभी-कभी कहती हूँ, हे महाराज मैं बहुत दुर्बल हूँ आप तो जानते ही हैं। उतना ही दीजिएगा जितना में सन्तुलन बनाए रखूँ उससे ेज्यादा मत ले आना। उतनी ताकत नहीं हैं मुझमें सँभलेगा नहीं। ऐसे भी कहती हूँ और अब अगर अनुकूलता भी आती है तो उसमें भी याद करती रहती हूँ, महाराज अच्छा तो लग रहा है, आपने तो बड़ी कृपा की, यह मेरा राग रहा होगा मिटाने के लिए आपने ऐसा किया। लेकिन महाराज अब ज्यादा नहीं, सँभालकर रखिएगा मुझको। हम सँभाल नहीं सकेंगे कहीं, उसमें भूल न जाऊँ?

यह भी एक तरीका है अगर डर लग रहा है, प्रश्नकर्त्ता भाई को, कि क्या करेंगे आए हुए सुख को तिला´जलि देने की सामर्थ्य नहीं है। तो सामर्थ्य भले नहीं है, लेकिन आप उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। कि आए हुए सुख को पहन न लें, ओढ़ न लें, खा पी न लें, खुराक न बना लें, तो आप सजगह रहिए। जैसे-जैसे अनुकूलता सामने आए, समर्थ प्रभु को पुकारते रहिए, तो बच जाइएगा। ये दोनों ही बातें होती है और में तो समझती हूँ कि दुःख का आना, साधक के लिए उतना खतरनाक नहीं है जितना सुख आना।

दुःख हमेशा सजग बनाता है, दुःखहारी हरि की याद दिलाता है। अहम् को गला देता है, जिस सुख-सुविधा के आधार पर हम अपने को दूसरों से सुपीरियर मान रहे थे, अपने को बहुत भाग्यशील मान रहे थे जिस सुख-सुविधा में आने वाली कठिनाइयों को हम भूले हुए थे, तो वह सुख-सुविधा जब चली गयी, तकलीफ आ गयी, तो दोनों ही तरह की बातें होती है। अभिमान के घट जाने से चित्त शुद्ध और शांत होता है और दुःखहारी हरि के याद आने से दुःख सदा के लिए मिट जाता है। मैं तो समझती हूँ कि साधक की साधना में और उसके आन्तरिक जीवन की प्रगति में, दुःख का आपना उतना खतरनाक नहीं है, जितना सुख का आना। इसलिए साधको को आए हुए सुख की प्रति अधिक सावधान रहना चाहिए। अब प्रश्न जितने आये थे, जो कुछ सूझा सो मैंने निवेदन कर दिया। अब और किसी बात की व्याख्या सुननी हो तो बताइए।

प्रश्न—बिना आधार के शांत हो जाए और प्राण बिना निरोध के सम हो जाये यह उसी के क्रम में है?

उत्तर— होता है ऐसा, बिना निरोध के प्राण सम होता है। जैसे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं योगीजन, उस दिन चर्चा हो रही थी कि प्राण-शक्ति का मन की भक्ति से बड़ा घना सम्बन्धहै, जैसे श्वांस चलती रहती है ना! साँस की गति के साथ-साथ मन भी गतिशील रहता है। और मन की गति अगर धीमी हो जाए, तो आप देखेगे साँस की गति भी धीमी हो जाती है। अगर कोई समस्या आपके सामने आ गयी और गहन चिन्तन में आप लग गए, गम्भीर, तो साँस भी धीरे-धीरे चलने लगती है। इतना तो अनुभव होगा ही। मन की गति और श्वांस की गति दोनों की गति में बड़ा घना सम्बन्ध है।

इसलिए योग के अभ्यास में मन की गति को शांत करने के लिए प्राणों पर नियन्त्रण का एक बड़ा भारी अभ्यास चलता है। वह पद्धति है। क्या पद्धति है वह कि साँस अगर भीतर गयी तो भीतर भी उसके ठहरने का एक स्थान है। तो भीतर ले जा करके, उसको ठहराओ, बाहर निकलने से पहले अन्दर जाकर करके कुछ देर रूके और बाहर निकलने के बाद भी। उसके लय होने का, महाप्राण का क्षेत्र है, भीतर भी है, बाहर भी है। तो साँस जब निकलती है तो बाहर जा करके भी वह प्राण वायु जो है यह महाप्राण वायु में कुछ देर विराम ले। प्राकृतिक बात भी है, जिस सोर्स में से यह प्राण वायु मिली हम लोगों को उसमें जा जा करके अगर थोड़ी-थोड़ी देर टिकती रहेगी, तो उसकी शक्ति बढ़ती रहेगी, सबल होती रहेगी।

इसलिए इस प्रकार का एक अभ्यास चलता है कि अन्दर जाए तो अन्दर में कुम्भक करो और बाहर जाए तो बाहर में कुम्भक करो, कुम्भक का मतलब यह है कि वहाँ जा करके कुछ देर ठहर जाए। तो प्राणों का निरोध कहलाता है ये। कि उसकी गतिशीलता की जगह-जगह पर जा करके रोकना। भीतर जाए तो भीतर भी और बाहर आए तो बाहर भी। यह रोकने का अभ्यास जो चलता है यह प्राणों का निरोध कहलाता है।

प्राण शकित है, साँस की गति के साथ उसका सम्बन्ध है, पर्यायवाची है। साँस की गति, मन की गति, इसका सम्बन्ध है। तो यह निरोध का एक अभ्यास चलता है। इस प्रकार से उनको रोका जाए और ज्यादा देर तक इन दोनों को एक जगह पर, एक साथ रोक लिया जाए तो गतिशीलता के रुकने से बहुत प्रकार की भौतिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती हैं ऐसा तो बहुत छोटे-छोटे अभ्यासी लोग भी जान लेते हैं। दूसरों के मन में क्या हुआ सो जान लिया, उधर क्या हो रहा है सो पता चल गया। बहुत प्रकार का चमत्कार सब आता है। यह चला अभ्यास के बल पर। स्वामी जी महाराज ने कहा जैसे उन्होंने कहा कि "दृष्टि बिना दृश्य के स्थित हो जाए। चित्त बिना आधार के शांत हो जाए वैसे ही उन्होंने कहा कि प्राण बिना निरोध के समय हो जाए। यह किसका होता है, और कब होता है? तो उसके लिए अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न, समर्पण होना आवश्यक है।

प्रवचन 4

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयो।

संतवाणी में हमने जीवन का सत्य सुना और उस सत्य के अनुसरण की विधि को भी सुना। कितनी सरल बात है और उसका सम्बन्ध सबसे ऊँचे जीवन से है। इस पर महाराज जी ने हमारा

ध्यान दिलाया। धर्मात्मा होना हम सभी भाई-बहनों के लिए सम्भव है, अनिवार्य है, दोनों ही बातें है। अनिवार्य भी है, और सम्भव भी है। धर्मात्मा होने का व्रत क्या बताया कि सबके प्रति स्नेह और सद्भाव और सहयोग। जो सभी के लिए हृदय में सद्भाव रखता है,

सबका भला हो, सबका भला हो, कोई दुःखी न रहे किसी का अकल्याण न हो, सबको सद्बुद्धि मिले, सबका कल्याण हो, इस प्रकार की सद्भावना जिसके जीवन में रहती है वह सबके प्रति सहयोग देने को भी तैयार रहता है। हृदय में सद्भावना हो,ख् और व्यवहार में सबके लिए सहयेग हो। बिल्कुल व्यावहारिक स्तर की बात मालूम होती है, ऐसा लगता है कि भाई समूह में रहने वाले के लिए यह एक व्यवहार का तरीका है।

लेकिन इसका बड़ा गहरा सम्बन्धहै आध्यात्मिक जीवन से। अनुभव करने पर ही इसका पता लग सकता है कि जो लोग जगत् के नाते, आत्मा के नाते, परमात्मा के नाते, किसी भी नाते से सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखने लग जाते हैं उनमें बड़ी भारी शक्ति आ जाती है। कौन-सी शक्ति? कि वे स्वयं अपने लिए संसार की आवश्यकता अनुभव नहीं करतें है। बहुत बड़ी बात है। ऐसा तो हम सभी लोग सोच सकते हैं कि सबके प्रति सद्भाव रखो और सहयोग देने की मनोवृत्ति रखो तो इससे सुन्दर समाज का निर्माण हो जाएगा। यह परिणाम तो सबको साफ दिखायी देता है।

जितने भी हम सब लोग मानव है और समझ-बूझ रखते हैं, सचेत हैं, सुन्दर समाज का निर्माण करना चाहते हैं तो उनके लिए महाराज जी ने एक मन्त्र बताया कि सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखिए। सचमुच अगर किसी भी मनुष्य के भीतर दूसरों के प्रति दुर्भावना और नुकसान पहुँचाने की बात न रहे तो समाज में से बुराई का अन्त हो जाए, खत्म ही हो जाएगा। क्योंकि बुरे संकल्प पहले हमारे भीतर उपजते हैं तब वे बाहर में जाकर के कहीं पर किसी को नुकसान पहुँचाते हैं। मनुष्य अपने धर्म से पहले च्युत हो जाता है, तब समाज में दुःख का सृजन होता है।

एक दिन एक बीमार की बात मुझको बता रहे थे लोग। तो कह रहे थे कि 30 इन्जैक्शन उसको लग गए थे तब तक रोगी की हालत बिल्कुल ठीक थी, टिटनेस था कि क्या था ऐसे कुछ था और तीसवाँ लगता तो उसका रियेक्शन ऐसा हुआ कि रोगी वहीं खत्म हो गया। तो एक ही बैच में से, एक ही बार का मँगाया हुआ, इतने डिब्बे में इन्जैक्शन रखे थे और नर्स निकाल-निकल कर इन्जैक्शन लगाती जा रही थी और ऐसा हो गया। तो उसमें अब हम लोग उस दवाई का क्या दोष दें।

मैंने सोचा तो मुझे लगा कि अगर मनुष्य अपने कत्तवर््य से च्यतु न होता, अगर गलत दवाइयों का निर्माण ही नहीं होता, रोगी के प्रति दवा बनाने वाले का ख्याल होता कि बीमार शरीरों को मदद देने के लिए दवाई बनानी है तो गलत दवाइयों का निर्माण नहीं होता और रोग मिटाने के लिए जगह पर दवाइयाँ प्राण न लेती। भूल कहाँ हुई। ऐसा सोचने से लगता है कि मनुष्य स्वयं जब धर्म से च्युत हो जाता है तो समाज में अनेक प्रकार के दुःखों का सृजन होता है। ऐसे सब एक्सीडेन्ट्स सब होते रहते हैं, टे³न्स के भी, बस के भी तो उसमें भी मुझे लगता है कि अगर दो टे³न आपस में लड़ गयीं भिड़ गयीं, एक्सीडेन्ट हो गया, बहुत से लोग मर गए अब उसमें गाड़ियों का तो कोई दोष है

नहीं, हम होते हैं, उसके चलाने वाले। तो अपने धर्म के प्रति हम सजग होते हैं, कर्त्तव्य के प्रति सजगत होते किसी तरह की कोई

असावधानी हम नहीं करते, तो आज इतनी संख्या में जगह-जगह पर दुर्घटनाएँ हो रही है और हजारों-हजारों लोग पीड़ित हो जाते हैं, तो ऐसा नहीं होता। तो कही भी आप देखिए, खाद्य पदार्थों की खराबी से बीमारी बढ़ जाएँ और दवाइयों की खराबी से लोगों का देहान्त हो जाए। इस सबके भीतर किसका दोष दिखाई देता है? मनुष्य का। तो विवेक का अनादर कर देना, कर्त्तव्य की ओर से लापरवाह हो जाना, अपने धर्म से च्युत हो जाना, इसी के कारण समाज में इतने प्रकार की तकलीफें नित नयी उत्पन्न होती रहती है। तो आध्यात्मिक विकास के लिए और संसार की दासता से मुक्त होने के लिए पहली बात है साधक के जीवन में कि वह धर्मात्मा बने। और धर्मात्मा बनने ककी पहली शर्त है कि हमें सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखना चाहिये।

सरदार शहर में एक दिन इसकी चर्चा हो रही थी, तो मैं ऐसे बता रही थी, कि भाई दूसरों के प्रति जो हम लोग कुछ अपकार करते हैं तो बल के अभिमान में आकर अपकार करते हैं। जो निर्बल होता है वह तो किसी का अपकार कर ही नहीं सकता। साहस ही नहीं होगा उसका, डरेगा, सामर्थ्य ही नहीं है उसमें। निर्बल आदमी तो ऐसा करता नहीं है। और सबल आदमी अगर विवेक के प्रकाश में चलता है तो वह प्राप्त बल का दुरुपयोग कभी करता ही नहीं है। जब करेगा किसी की सहायता ही करेगा, सहयोग ही करेगा। तो बलवान है और विवेक-विरोधी है, विवेक के प्रकाश का आदर नहीं करता है तो बल के अभिमान में आकर के वह तकलीफ पहुँचाता है, दूसरों को। तो उसको ऐसा लगता है कि हम तो ऐसा नुकसान कर दे सकते हैं, हम तो इनको पाठ पढ़ा सकते हैं, हम तो इनको मजा चखा दे सकते हैं।

उसे ऐसा लगता है कि हमारे जैसे बलवान के साथ इन्होंने ऐसा व्यवहार क्यों किया? इनको हमारे बल का पता नहीं है अभी हम इनको दिखाते हैं। ऐसा करके जो दूसरों के प्रति नुकसान पहुँचाने के लायक व्यवहार कर देता है तो वह बल का अभिमानी अपना जितना नुकसान करता है, उतना दूसरे का नहीं कर सकता है। अपना नुकसान क्या हुआ? कि उसके बल की तो हानि हो गयी क्योंकि प्रकृति का दिया हुआ बल है। प्रकृति की शक्ति से वह शक्तिमान हुआ है और प्रकृति के प्राणियों को कष्ट पहुँचाने में बल का उपयोग कर दिया जाए, तो वह जिस खजाने से बल आ रहा है वहीं का दरवाजा बन्द होता है।

आसानी से ये बात सब लोग समझते भी नहीं है, मानते भी नहीं है। महाराज ने बहुत विश्वास से बताया है, हम लोगों को। एक क्षति तो यही हो गयी। दूसरे क्षति उससे भी बड़ी क्षति क्या हो गयी। बल कम हो गया तो भौतिक हानि हो गयी और उससे भी बड़ा नुकसान क्या हो गया कि जीवन मिला था संसार में, संसार की दासता से मुक्त होने के लिए, पराधीनता से मुक्त होने के लिए, शान्ति और जीवन-मुक्ति को पाने के लिए इसके लिए जीवन मिला था, तो यह उद्देश्य ही नष्ट हो गया। क्या हो गया? कि सबके प्रति सद्भाव और सहयोग का जो आचरण है, धर्माचरण जिसके कहेंगे, उसके हट जाने का यह फल होता है कि संसार की दासता जीवन में से निकलती नहीं है। बड़ा भारी नुकसान उसका हो गया कि जीवन-मुक्ति की साधना ही वह नहीं कर सकेगा न ध्यान लगा

सकेगा, न शांत रह सकेगा, न देह के अभिमान से छूट सकेगा, न संसार की पराधीनता से छूट सकेगा।

ऐसी चर्चा में कर रही थी और इसके सम्बन्ध में अपना एक उदाहरण सुनाया था मैंने। स्वाी जी महाराज से मेरी बात हुई थी तो परीक्षक बन करके परीक्षार्थियों की उत्तर पुस्तिकाओं के साथ कैसे क्या करना चाहिए ऐसा ही कुछ प्रश्न किया था महाराज समय भी कम मिलता है, काम भी ज्यादा रहता है, ठीक तरह से न करो तो भीतर अच्छा भी नहीं लगता है, देर हो जाए तो झंझट खड़ा हो जाता है। तो स्वामी जी महाराज ने कहा वह सब तो युनिव£सटी का जो कानून है वह जहाँ है, सो वहाँ है लेकिन मैं तुम्हें एक बता बताता हूँ कि अगर इस काम के करने में, चाहे किसी भी काम के करने में, लापरवाही की गयी, असावधानी की गयी, जल्दीबाजी की गयी, ठीक तरह से नहीं किया गया तो कार्य करने में अगर भूल रह जाएगी तो करने का राग नहीं मिटेगा। बड़ी जोरदार बात है।

सब लोग इस बात का ध्यान नहीं देते हैं। शुद्ध काम करो, निष्काम कर्म करो और ऐसे कर्म करो, वैसे कम करो। बहुत सी बातें है कर्म के सम्बन्ध में लेकिन जब मैंने यह सुना कि छोटे से छोटा काम क्यों न हो अगर राग-निवृत्ति की साधना के रूप में करने का है तो उसको पूरी तरह से सही ढंग से करना जरूरी है। और अगर गलत-सलत ढंग से छोटा समझ करके, लापरवाही के साथ किया गया, गलती-सलती करके खत्म किया गया, उसको ज्यों का त्यों पूरा करके, तो उसका एक बड़ा भारी दुष्परिणाम यह होगा कि काम करते-करते करने की शक्ति खत्म हो जाएगी और करने का राग नहीं मिटेगा।

तो कुछ विचारक लोग आए थे। स्कूल और काॅलेज के अध्यापक लोग भी आए थे, कुछ कम्युनिष्ट विचार रखने वाले, नयी उम्र के टीचर लोग भी सब आए थे। तो उन्होंन बहुत पसंद किया, कहा कि ऐसी बात तो हम लोगों ने कभी सोची ही नहीं था। मामूली काम दिखाई देता है। ऊपर से, कौन देखता है, कौन जातना है, ज्यों, त्यों करके किसी तरह से पूरा करके खत्म कर दिया, छुट्टी पाएँ। तो उस छोटे से काम के लिए थोड़ी देर के झंझट से छुट्टी पाने के लिए अगर गलत सलत ढंग से करके छुट्टी कर दिया तो बहुत दिनों के लिए संसार की आसक्ति में और राग में बँधे हुए रह गए। बहुत बड़ी बात है। झाड़ू लगाने का काम है, जल पिलाने का काम है, रसोई बनाने का काम है, घर सँभालने का काम है, कुछ भी काम है। मनुष्य के लिए हर काम सावधानी से करने का है और पवित्र भाव से करने का है।

भाव की पवित्रता में महाराज जी ने सद्भाव को प्रधानता दी कि भाई किसी का किसी प्रकार से मेरे द्वारा नुकसान न हो, सबके हित की भावना दिल में रहे तो हमारा कार्य जो है वह दूसरों के लिए हितकारी भी सिद्ध होगा और दूसरों के लिए तो मामूली लाभ पहुँचाएगा लेकिन अपने लिए बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि हम करने के राग से छूट जाएँगे, तब शरीर का मोह भी छूट जाएगा, तब संसार की आवश्यकता भी अपने लिए नहीं रहेगी। अब ऐसा सोच करके देखिये कि अनेकों बार समूह में रहते हुए बहुत-सी बातों को हम लोग सब देखते भी रहते हैं, चलते भी रहते हैं, करते भी रहते हैं। बातें भी होती रहती है, और बरदाश्त भी करते रहते हैं। क्या बात है तो समूल में रहना अपने लिए बहुत जरूरी मालूम होता है। सबके सहयोग के साथ शरीर का निर्वाह करने की बात

बहुत जरूरी मालूम होती है। कई बार मैंने वृद्धजनों को देखाहै कि नयी पीढ़ी की बहुत-सी बातें उनको नापसंद हैं फिर भी इस चिंता के मारे कि लड़कों का, पातों का विरोध किया जाएगा तो ये लोग हमारी देख-भाल करना छोड़ देंगे तो मेरा निर्वाह कैसे होगा? ऐसा सोच करके विवेक-विरोधी बातों का भी समर्थन करते रहते हैं। यह क्या है? यह इस दशा का परिणाम है कि हमारी शक्ति तो चली गयी और संसार की आवश्यकता मुझमें से नहीं गयी।

शरीर में असमर्थ हो गया और शरीर को संॅभालकर रखने की जरूरत मेरी खत्म नहीं हुई। इसके लिए महाराज जी ने कहा कि धर्मात्मा होना सबके लिए अनिवार्य है। सबके प्रति सद्भाव और सबके प्रति सहयोग देने की बात जिस जीवन में है उसका राग भी समाप्त हो जाता है और शरीर की, संसार की, अपने लिए जरूरत नहीं रह जाती है। इसी का नाम जीवन-मुक्ति है। अब जैसे विनोबा बाबा के लिए हम लोगों ने सुना ना! और दूसरे संतों के लिए भी सुना है।

अपने महाराज जी को देखा भी है। डाॅ० लोगों से पूछ रहे हैं कि भैया बताताअें तो कब तक इसको रखोगें? डाॅ० लोग बेचारे क्या कहते? अचकचा जाते, कहते कि महाराज हम लोग बहुत दिन तक रखेंगे। तो हँस के कहते कि भाई तुम नहीं जानते हो। अब यह रखने के लायक नहीं है। रखने के लायक नहीं है तो आनन्दपूर्वक इसका त्याग कर दो। ऐसे ही विनोबा बाबा के लिए सुना गया कि भई दवा नहीं लिया गया, खुराक नहीं लिया, सब छोड़ दिया। डाॅक्टरों ने, मित्रों ने सबने आग्रह किया तो कह दिया भाई अब यह रखने के लायक नहीं है। तो मुझे इसकी जरूरत नहीं है, समाज की सेवा के लिए इसको रखा जा रहा था, समाज की सेवा के लायक नहीं रहा तो छोड़ दो अब।

अब काहे को पकड़े रहो। तो अपने को जरूरत नहीं है तब हम उसको छोड़ने के लिए तैयार हैं? इतनी बात पूरी हो जाती है उनके जीवन में, जिनके जीवन में सबके प्रति सद्भाव और सहयोग देने की बात रहती है। मिलट्री डाॅक्टर मुझे मिले थे राँची में, जान पहचान के व्यक्ति थे तो सुना रहे थे। कह रहे थे कि क्या बताऊँ मेरा हृदय काँप जाता है। युद्ध क्षेत्र से सिपाही आते हैं तो हाथ कट गए, पाँव कट गए, कुछ नहीं रहा खली सिर से लेकर इतना माँस का लोथड़ा। और आए सबको रखना पड़ता है, सबकी सेवा करनी पड़ती है। कट कुट गया तो सब निकल ही गया लेकिन घाव ठीक हो जाए इसके लिए हम लोग उनके डेªसिंग भी करते हैं, इन्जैक्शन भी लगता हैं, दवा भी देते हैं, सब किया जाता है, और जल्दी से घाव भर जाए इसका इन्तजाम किया जाता है। दर्द पीड़ा से ये लोग मुक्त हो जाएँ। उनको पथ्य दिया जाता है। जिसमें मिर्चा भी ज्यादा न हो, मिठाई भी ज्यादा न हो, ऐसा खाना दिया जाता है कि जिसको खाने से घाव भरने में मदद मिले। तो कहें कि बड़ा दुःख होता है, मुझे कि बिस्तर में पड़े हैं, टट्टी पेशाब यह बात के लिए

पराधीन है। हाथ पाँव कट गए, किसी दिन चल नहीं सकेंगे, किसी दिन घूम नहीं सकेंगे, कुछ भी कर नहीं सकेंगे फिर भी उनको जीने का इतना शौक कि हर प्रकार से परेशान रहते कि जैसे जल्दी घाव भर जाए, कैसे जल्दी ठीक हो जाए। फिर भी वे शरीर से सुख भोगने के इतने गुलाम है कि स्वीपर से मँगा करके बाहर से मांस पकाया हुआ, खरीदवाकर मँगा लेते हैं और खा लेते हैं। और बना बनाया घाव फिर बिगड़ने लगता

है, फिर सड़ने लगता है, तो डॉ॰ बेचारा बहुत हृदयशील आदमी था, उसके आँख में आँसू भर जाए और कहे कि हमारी समझ में नहीं आता है कि ये माँस के लोथड़े जीना क्यों चाहते हैं? यह भी कट गया है, यह भी कट गया है, अब कुछ है नहीं चलना फिरना नहीं होगा, कमाना नहीं होगा, किसके काम आना नही होगा और हर बात के लिए दूसरों पर आश्रित रहना पड़ेगा तब भी शरीर चाहिए। क्यों चाहिए कि हाथ पाँव कट गये तो क्या हुआ? पराधीन हो गये तो क्या हुआ? कुछ देखने का सुख ले लेंगे कुछ खाने का सुख ले लेंगे। कितनी घोर पराधीनता है, समझो! ऐसी घोर दशा में भी शररी को रखना पसंद आता है, इसी से मालूम होता है कि शरीर की कितनी दासता उनके भीतर अभी तक शेष रह गयी।

इस दासता को मिटाने का उपाय महाराज जी ने बताया कि भाई बुराई किसी के साथ करो मत और सबके प्रति सहयोग और सद्भाव रखो तो एक विलक्षण शक्ति पैदा होगी। वह विलक्षण शक्ति क्या है? कि बिना किसी ध्यान, धारणा, समाधि के और बिना किसी विशेष अभ्यास के आपके भीतर से एक बल अभिव्यक्त हो जाएगा कि जिसमें आपको अपने लिए शरीर और संसार की जरूरत नहीं रहेगी। कितना सामान्य व्यवहार के स्तर का व्रत दिलाया महाराजा जी ने और कैसे अलौकिक जीवन का दरवाजा जैसे खोल दिया। आप सोच करके देखिए ना, कितना आराम लगेगा। अपने को शरीरऔर संसार की जरूरत न रह गयी तो कितना आराम लगेगा, स्वाधीन हो जाएगा आदमी एकदम।

कोई जरूरत ही नहीं रह गयी। तो इतने में लोक-संग्रह, लोक-सेवा और जीवन-मुक्ति ये दोबातें तो इतने में सिद्ध हो गयी और तीसरी बात जो रह गयी स्वामी जी महाराज ने उसे एक विशेष रूप से एक स्वतन्त्र प्रणाली के रूप में हम लोगों के सामने रखा। यद्यपि विचार के आधार पर भी जब नाशवान से सम्बन्ध टूट जाता है, वृत्ति बाहर से सिमट कर अंतर्मुख हो जाती है, अपने उद्गम से जुट जाती है, तब भी जीवन में सत्यं, शिवं, सुन्दर की अभिव्यक्ति हो जाती है। परमात्मा को मानकर चलो तो न मानकर चलो तो, साकार की उपासना करो तो, निराकार की उपासना करो तो उसमें कोई भेद नहीं है। चाहे परमात्मा को मानो चाहे न मानो केवल विवेक के प्रकाश में जो त्याज्य है उसका त्याग कर दिया और बाहर से सब वृत्तियों को समेटकर भीतर एक उद्गम में केन्द्रीभूत कर दिया, तो उस सत्य से जब जीवनी शक्ति जुट जाती है। तो उसमें भी नित्यता अभिव्यक्ति हो जाती है, जिस जीवन में नाश नहीं होगा, मृत्यु नहीं होगी। सर्व दुःखों का अन्त हो जाता है।

आनन्दमय अस्तित्व अनुभव में आता है और उसमें प्रेमभाव की सरसता भी रहती है। तो ऐसा विचारक जन की साधना का भी परिणाम होता है और अगर उस विचार के साथ-साथ विश्वास भी चल रहा है जैसा कि हम लोगों में से अधिकांश भाई-बहनों का जीवन है। विचार के आधार पर असत् के संग से छूटना यह तो अनिवार्य है ही है, उसके साथ आस्था, श्रद्धा, विश्वास का जो तत्त्व हमारे जीवन में है उससे भी काम लेने की बात स्वामी जी महाराज ने बतायी। और यह कहा कि पहले प्रभु की सत्ता में विश्वास करो। साकार निराकार का भेद नहीं है। परमात्मा है तो है मानो। कैसा है? तो महाराज जी की परिभाषा बहुत बढ़िया है। वे कहते हैं जैसा तुमने सुना है, ऐसा भी है जैसा तुम पसंद करते हो ऐसा भी है, जितना-जितना दूसरे लोगों ने अनुभव किया

है कहा है और ग्रन्थों में लिखा है, उतना भी है और सबसे विलक्षण भी है। ग्रन्थों में जितना लिखा गया है और जितने अनुभवी जनों में अपने अनुभव से जितना लिखा गया है और जितने अनुभवी जनों से अपने अनुभव से जितना बताया है, जितना कहा गया है, जितना सुना गया है, जितना अनुभव किया गया, जितना ग्रन्थों में लिखा गया उतना भी है और उससे विलक्षण भी है।

बहुत अच्छी लगी बात मुझे इसलिए कि मान लीजिए परमात्मा के सम्बन्ध में आपका अनुभव कुछ ऐसा निकल आया जैसा कि कहीं भी किसी ने नहीं कहा हो, कही भी न लिखा हो, तो आप कहेंगे कि क्या जाने यह अनुभव ठीक है कि गलत है ऐसा कभी किसी ने कहा ही नहीं, कहीं लिखा ही नहीं। सो महाराज जी कहते हैं भाई! जब वे अनन्त गुणवान कहलाते हैं कि उनके गुणों की कोई सीमा ही नहीं है तो तुम सीमा में बाँधना क्यों पसंद करते हो।

यह कहना क्यों पसंद करते हो कि वे निराकार है यह कहना क्यों पसंद करते हो कि वे साकार हैं। यह क्यों पसंद करते हो कि वे निर्गुण निराकार हैं कि सगुण साकार हैं यह क्यों नहीं पसन्द करते हो कि मुझे जितना मालूम है और स्वभाव से मुझको जितना पसंद है, उतना भी है और उससे विलक्षण भी है। यह कहा उन्होंने। ऐसा मान करके अपने को जो पसंद आए साकार परमात्मा पसंद आए तो साकार सही और निराकार पसंद आए तो निराकार सही।

उसकी सत्ता को मान लिया जाए उसमें विश्वास किया जाए, उसकी महिमा को स्वीकार किया जाए तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक उनसे अपना सीधा सम्बन्ध स्वीकार करने मात्र से उनके स्वरूप की, उनकी विभूतियों की अभिव्यक्ति मनुष्य के जीवन में होने लगती है। वही अपने को सरस बनाती है, उसी से जीवन में रस का संचार होता है। उस रस का संचार होता है कि जिसका कभी नाश नहीं होगा, जिससे कभी अरुचि नहीं होगी। उस रस का संचार इसमें होता है, और जीवन पूर्ण होता है। तो इसको महाराज सत्य की स्वीकृति कहते हैं। चूँकि अपने को यह बात पसंद है कि मुझसे सबल मेरे प्रति सद्भाव रखे और सहयोग दे इसलिए दूसरों के प्रति सद्भाव और सहयोग रखना यह धर्म है। इतने से ही धर्मात्मा हो गया और जो धर्मात्मा हो जाता है, उसमें जीवन-मुक्ति की सामर्थ्य आ जाती है। यह आध्यात्मिक विकास हो गया। और जो सचमुच किसी प्रकार की कोई कामना नहीं रखता वह प्रभु का प्यारा बनता है, प्रभु को प्रेम करने वाला होता है। यह आस्तिकता का विकास हो गयां तो एक ही मानव-जीवन में जो करने की शक्ति है वह धर्म के साथ जुट गयी तो हम धर्मात्मा हो गए। और जो विवेक की शक्ति है उसने मुझको असत् से छुड़ा दिया तो हम जीवन-मुक्त हो गए। और जो प्रेम करने का भाव है उससे हम प्रेमस्वरूप परमात्मा के साथ जुट गए तो जीवन सरस हो गया। आस्तिकता के पक्ष में उन्नति हो गयी।

इस तरह से सेवा त्याग और प्रेम एक ही व्यक्तित्व के तीन आलौकिक तत्त्व है, जिनका कभी नाश नहीं होगा। सेवा के सम्बन्ध में महाराज जी ने ऐसा बताया है कि क्रिया तो सेवा का बाहरी रूप है। वास्तविक रूप क्या है? कि जिसमें करुणा हो और जिसमें प्रसन्नता हो। तो सुखी को देखकर प्रसन्न होना, दुःखी को देखकर करुणित होना, ये सेवा का श्रोत है। उस दिन जब विमला बहन उठकर यहाँ आयी थी और स्वामी जी, महाराज के संस्मरण सुना रही थी, तो कह रही थी

कि सर्वोदय का अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, स्वामी जी महाराज को सर्वोदय के नेताओं ने प्रेसीडेन्ट करके बुलाया था। प्रेसाइड करने गए थे महाराज। वहाँ जब बातचीत होने लगी—सेवा, सेवा, सेवा। सर्वोदय में तो सेवा ही खास बात है। होने लगी तो लोगों ने स्वामी जी के सामने बातचीत की तो महाराज जी ने पूछा कि भाई सेवा का श्रोत कहाँ है? जो कुछ आप लोग कर रहे हैं सर्वोदय के माध्यम से सेवा का उसका श्रोत कहाँ है? सब लोग सोचने लगे किसी ने गाँधी जी को बताया, किसी ने जयप्रकाश जी को बताया कि इसी में से यह आया है तो महाराज जी ने बताया नहीं भाई सेवा का श्रोत तो करुणा में है, जिस हृदय में परपीड़ा से करुणा उमड़ती है उसी के द्वारा सेवा बनती है। तो यह करुणा जो है वह प्रभु प्रेम के समान ही अलौकिक तत्त्व है, जिसका कि नाश नहंी होता। तो मनुष्य के व्यक्तित्व में जहाँ स्थूल, सूक्षम और कारण तीनों शरीरों के रूप में नाशवान् संसार का भी एक पक्ष जुटा हुआ है, उसी जगह हमारे आपके व्यक्तित्व में विवेक के प्रकाश और प्रेम के भाव के रूप में अविनाश्ी तत्त्व भी मिला हुआ है।

आज ही अपने को देखा जाए जिस दशा में हम लोग बैठे हैं सत्य की चर्चा करने इसी दशा में आप सोच करके मुझको बताइए कि जीवन तत्त्व अपने में विद्यमान है कि नहीं है? है ना? वह तो शरीर का हिस्सा नहीं है। ओर शरीर के नहीं रहने पर भी वह रहेगा इस तरह से अविनाशी परमात्मा अभी इसी क्षण में हम लोगों के साथ विद्यमान है ऐसा कहना चाहिए। जी? ठीक है ना? अच्छा अब उसी तरह से दूसरी बात को लीजिये, यह सत्यं हो गया।

अब दूसरी बात देखिये, विवेक का प्रकाश। इसी समय जबकि विवेक-

विरोधी सम्बन्धों को लेकर हम लोग संयोग के सुख और वियोग के घोर दुःख में पड़े हुए हैं। जिस समय हम सभी भाई-बहन संयोग से सुख और वियोग के दुःखम ं पडत्रे हुए हैं? उस समय भी विवेक का प्रकाश अपने साथ है कि नहीं? संयोग का सुख क्षणिक है, नाशवान है, आज दिखाई दे रहा है, कल मिट सकता है, इस बात को हम विवेक के प्रकाश में देखते हैं कि नहीं? देखते हैं। वियोग का घोर अथाह दुःख अपने पर आ गया उसमें भी नाश्वान् के नाश हो जाने के बाद वियोग के ताप में तपते रहना निरर्थक है। गया हुआ लौट करके आ नहीं सकता है, बिगड़ा हुआ संयोग फिर बन नहीं सकता। इस बात की जानकारी अपने को है कि नहीं?

तो इसी समय जिस समय, हम विवेक के अनादर से संयोग-जनित सुख और वियोग-जनित दुःख में पड़े हुए हैं फिर भी विवेक का प्रकाश जो अलौकिक तत्त्व है, उसका नाश मेरे भीतर से नहीं हुआ है। स्वयं अपने को गलत काम के साथ जुटा हुआ देखकर हम लोग अपने को क्षमा कर देते हैं। क्या करें भाई परिस्थिति ऐसी बन गयी, क्या करें हमारे से सँभाल में नहीं आया, हमने ऐसे कर दिया, हमने ऐसे कर लिया। अपने को हम लोग क्षमा कर देते हैं। मालूम तो होता ही है कि ऐसा मुझको नहीं करने चाहिए था, मालूम होता है, विवेक के प्रकाश में दिखाई देता है, फिर भी क्षमा कर देते हैं और कभी-कभी नहीं भी दिखता है। ऐसा भी होता है कि व्यक्तित्व का मोह इतना जोरदार होता है, मेरे मुँह से जो बात निकल गयी उसको तो सतय प्रमाणित होना ही चाहिए।

इस आग्रह के कारण कभी-कभी अपनी भूल अपने को नहीं भी दिखती है। लेकिन उसी किस्म की भूल अगर कोई दूसरा करे तो दिखता

है कि नहीं? जी! दिखता है। इसका मतलब यह है कि ज्ञान के प्रकाश स्वरूप परमात्मा अी ाी भी इस क्षण में भी हम लोगों के साथ विद्यमान है। ज्ञान जिनका स्वरूप है, ज्ञान का अनन्त प्रकाश जिनका स्वरूप है, वह परमात्मा ज्ञान के रूप में, विवेक प्रकाश के रूप में इस क्षण में भी हमारे भीतर विद्यमान है। उसी में तो दिख रहा है कि कहाँ क्या हो रहा है। ठीक है? और ऐसे ही प्रेम का रस भ है। भई जीवन अपने आप में सरस लगता है, जब हम रस की हानि करने वाले है, रस को मिटाने वाले व्यवहार में, सम्बन्ध में, विश्वास में फँस जाते हैं तो रस घट जाता है लेकिन प्रेम-भाव से शून्य किसी मनुष्य का जीवन हो ऐसा आपने कहीं नहीं पाया।

कहीं नहीं होता है। महाराज जी कहते हैं कि भई देखो चोर-डकैत जो होते हैं, उनका भी सब अपना नियम कायदा होता है, दूसरों के लिए जो बड़े खूँखार होते हैं, वे भी अपने बाल बच्चों के लिए, अपने परिवार के लिए, अपनी मण्डली के लिए बहुत कोमल होते हैं। एक कैदी के सम्बन्ध में महाराज जी बता रहे थे, कि फाँसी की सजा हो गयी थी और जिले के आर्डर से उस कैदी को ले जाना था फाँसी देने की जगह पर तो सिपाही आया उसके दोनों हाथ पकड़ करके खूब कस के बाँध दिया कि ले चलेंगे जब कसके उसको बाँधा तो दर्द होने लगा हाश्ज्ञ में और वह जान रहा है, अब मुझको ले जाया जा रहा है। अब गला कटेगा फिर भी जब कसके बाँधा गया उसके हाि को सिपाहियों ने लापरवाही की कि अब क्या अब तो इनको कटना ही है कौन बड़ी बात है। तो कसके बाँधने से जब हाथ में कलाई में दर्द होने लगा, तो आँखों में आँसू भरके कहता है सिपाही से, कि भैया मैंने तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगाड़ा इतना कसके क्यों बाँधते हो? क्या मतलब है? उसको मालूम तो था न कि मैंने दूसरों की हत्या की है और मुझको फाँसी देने के लिए ले जा रहे हैं। गला कट ही जाना है तो देर में कसके बाँधा तो या ढीला बाँधा तो इसका क्या मलतब? फिर भी अपने प्रति उसके भीतर कितनी कोमल भावना है। प्रार्थना करके सिपाही से कहने लगा कि भैया मैंने तुम्हारा तो कुछ नहं ी बिगाड़ा। तुम इतना कसके क्यों बाँधते हो? तो इस प्रकार की जो एक कोमल भावना है, इस प्रकार को जो एक-दूसरे के साथ प्रेम के आदान-प्रदान की आशा है वह किसी भी काल में किसी के भीतर से नष्ट नहीं होती है। परमात्मा ही प्रेम-स्वरूप है। उसी का दिया हुआ प्रेम हम लोगों ने माता-पिता से पाया, गुरुजनों से पाया, पशु-पक्षियों से पाया, वनस्पति से पाया, प्रकृति से पाया, सब तरफ से सहयोग, सद्भाव और प्रेम का व्यवहार एक समूह में रहने पर अपने को मिलता है।

तो उसको सोर्स ;ेवनतबमद्ध कहाँ है? ध्यान दिया कभी? उसका उद्गम कहाँ है? कभी ध्यान में आया? सोचो तो पता चलेगा। यह सब मिठास जो हम लोग एक-दूसरे के साथ टे¬न के कम्पार्टमेन्ट में बैठ करके, यात्री होकर, प्लेटफार्म पर बैठ करके जहाँ भी परिचित, अपरिचित लोगों के साथ भी काम पड़ता है, रहना पड़ता है, उठना-बैठना पड़ता है, मिलना-जुलना पड़ता है तो जहाँ भी कहीं अपने सहयोग और सद्भाव देखा होगा। मधुर व्यवहार देखा होग, सहानुभूति पायी होगी तो उस सबका आधार कहाँ है? वह प्रभु है। तो प्रेेम स्वरूप परमात्मा हमारे भीतर सदैव विद्यमान है और उनकी विद्यमानता का प्रमाण हैं ये तीनों। हम अपने जीवन के अस्तित्व को अनुभव कर रहे हैं कि मैं जीवित हूँ, मैं हूँ। तो यह भी उनके अस्तित्व

का ही प्रभाव है। और विवेक के प्रकाश को ही हम अनुभव कर रहे हैं कि बहुत सामान्य भाव से भले-बुरे का ज्ञान अपने को सब समय से होता रहता है।

यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा का ही प्रकाश है और दूसरों के लिए स्वयं मधुर बनना और दूसरों से मुधर व्यवहार की आशा करना और दूसरों के किए हुए मधुर व्यवहार को मधुरता के रूप में अपने भीतर अनुभव करना बड़ा मीठा लगता है। कोई मेरे प्रति स्नेह-सहानुभूति रखने वाला हो अब कुछ बोले अथवा न बोले, कुछ करे अथवा न करे लेकिन उसके भीतर मेरे लिए स्नेह है, सहानुभूति है, इतनी ही बात आपको अच्छी लगती है कि नहीं? लगती है। ये सब बातें उस परमात्मा में से ही है और इन तत्त्वों का कभी नाश नहीं होता। आज अनेक प्रकार के विकारों से घिरे हुए, हम सब लोग इस धरती पर बैठे हैं तब भी अपने को कभी भी परमात्मा की उपस्थिति से वंचित नहीं मानना चाहिए। ठीक है! तो सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाए, विवेक का प्रकाश बढ़ जाए और पे्रम का रस इतना बढ़ जाए कि जन्म-जन्मान्तर का सब विकार उसमें घुल जाए, हम शुद्ध होकर, पवित्र होकर, पे्रम स्वरूप होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाएँ। यही हमारे जीवन का प्रोग्राम है और इसी दिशा में हम सब भाई-बहनों को सचेष्ट रहना है।

प्रवचन 5

पूज्य संत महानुभाव सत्संग-पे्रमी माताओ, बहनो और भाइयो

भौतिकवाद की दृष्टि से जगत् के साथ व्यवहार करने में हमारा साधन रूप सूत्र क्या है? कि सेवा करने के लिए सभी अपने हैं। सेवा भावी साधक के भीतर किसी प्रकार का भेदभाव न हो। सेवा करने के लिए सभी अपने हैं। और अध्यात्म जीवन में प्रवेश पाने के लिए, देहातीत, अविनाशी अस्तित्व से अभिन्न होने के लिए, अपना कोेई नहीं है, अर्थात् किसी से अपना कोई सम्बन्ध नहीं है। सिद्धिकाल में तो यह हो जाता है कि एक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। लेकिन साधन-काल में जब कि शरीरों से तादात्म्य रहने के कारण विविध शरीरों की प्रतीति हो रही है, अलग-अलग मूर्तियाँ दिखायी दे रही है। उस समय अध्यात्म-दर्शन का सत्य जिसका अनुसरण हमें करना है उसके लिए साधन सूत्र क्या है? कि भई सुख लेने के लिए किसी को अपना मत मानो, सेवा देने के लिए सभी को अपना मानो। तो व्यक्तित्व में जो क्रियाशक्ति है, उसका पूरा उपयोग हो जाएगा भौतिक जगत् के साथ और अपने में जो विचार की शक्ति है, जिसके आधार पर हम सत्-असत् का विचार किया करते हैं। सही और गलत का निर्णय लिया करते हैं, क्या रहने वाला है, क्या मिटने वाला है, इन बातों पर विवेचन किया करते हैं। उस विचार-शक्ति का सबसे बढ़िया उपयोग यह है कि स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य से किसी प्रकार के सुख की आशा न की जाए।

तो ऐसा नहीं है कि आप निकटवर्ती जन समुदाय से सुख की आशा नहीं करेंगे, तो आपके पास जो एक शरीर है वह नाश हो जाएगा। ऐसा नहीं होगा। आप आशा नहीं करेंगे, आप अधिकार नहीं मानेंगे, आप उसको सँभालकर रखने के लिए अनर्थकारी कार्य में शामिल नहीं होंगे, तो सचमुच यह शरीर जिसकी सम्पत्ति है, उसकी ओर से इसकी बहुत अच्छी देखभाल होगी। भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर जगत् का है, ठीक है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से एक के अतिरिक्त ओर

कुछ है ही नहीं। और ईश्वरवाद की दृष्टि से सब शरीर उस परमात्मा के हैं। तो आपकी गाँठ में कुछ है क्या? है तो नहीं, लेकिन जबरदस्ती हम लोग मानते हैं।

तो महाराज जी कभी-कभी कहते देवकी जी, अपनी चीज न हो, पराये माल पर अधिकार जमाओ, तो पुलिस के द्वारा पकड़े जाओगे कि नहीं? जेल में जाना पड़ेगा कि नहीं? तो वह हो गया है हमारे साथ। अगर भौतिकवाद की दृष्टि से विचार करो तो पंचभौतिक तत्त्वों से बने हुए सारे शरीर, एक की तो कौन कहे प्रकृति के हैं। अपना उसमें से कुछ नहीं है। सूर्य के द्वारा प्रकाश और तप मिले, प्राण वायु के द्वारा साँस लेने को मिले, धरती के ऊपर आश्रय मिले, आकाश के नीचे अवकाश मिले। जिसके बल पर यह शरीर चलता है, निभता है, रहता है, बनता है, घटता है, बिगड़ता है और जिसके विधान से अलग-अलग तत्त्व सब अलग-अलग तत्त्वों में जाकर शामिल होकर कर खत्म हो जाते हैं। तो जिस प्रकृति के विधान से अणु-परमाणुओं का विघटन हो जाता है और शरीर लुप्त हो जाता है, अदृश्य हो जाता है। तो नाश क्या हुआ? बहुत से तत्त्व जुट गए तो एक आकृति बन गयी है और अलग तत्त्व बिखर गए तो आकृति लुप्त हो गयी। तो नाश क्या हुआ? कुछ नहीं और बना क्या? कुछ नहीं। अलग-अलग अणु-परमाणुओं को जुटा दो तो एक आकृति बन गयी और वे बिखर गए तो आकृति खत्म हो गयी। न कुछ बना न कुछ बिगड़ा। तो ऐसे भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर जगत् का है। अब जगत् का है, जगत् का न मानो, अपना मानो उसके ठेकेदार बनो तो तुम्हारे सिर पर उसकी रक्षा का, उसके भरण-पोषण का भार चढ़ जाए।

बन गया, बिगड़ गया, बदल गया, कोई नयी बात नहीं हो गयी। प्रकृति में अनवरत निर्माण और विनाश का क्रम चल रहा है। अब उसमें तुम मोह कर लो, आसक्ति कर लो, बनने-बिगड़ने का जो अनवरत क्रम है, जिसका नाम सृष्टि है, उसके विधान में दखल डालना चाहो तो मृत्यु के भय से भयभीत रहो, यम-यातना से पीड़ित रहो। कैदी होना हो गया कि नहीं?

जीना चाहते हैं। और जीने के लिए अब प्राण-शक्ति है नहीं, तो जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है। शरीर जब अत्यन्त कष्टदायक हो गया तो मरना चाह रहे हैं और श्वांस चल रही हैं। बेबसी है कि स्वाधीनता है? कैदी होना हो गया। पराये माल पर अधिकार जमाओ, मेरा है मेरा है, तो कैद में कैदी होना पड़ेगा, दण्ड सहना पड़ेगा। विकारों की उत्पत्ति होगी उसके भार से पीड़ित होना पड़ेगा। इसीलिए शरीरों के रहते-रहते उनके साथ हो करके राग-निवृत्ति के साधन का जो अवसर मिला है हम लोगों की उन शरीरों के निर्वाह के लिए शुद्ध भौतिकवादी हम सभी भाई-बहनों को होना चाहिए। इस अर्थ में कि जैसे मुझको एक शरीर की रक्षा अभीष्ट है। मानना चाहिए ऐसा। और ऐसा मान करके जो सेवा करने के लिए सभी को अपना मानते हैं उन पर एक शरीर के भरण-पोषण का भार नहीं रहता है।

उसकी देखभाल वे करने लग जाते हैं जिनकी वह है। और तत्त्व की दृष्टि से अध्यात्म-जीवन में प्रवेश पाने के लिए जब आप इस साधन सूत्र को स्वीकार करेंगे कि भाई मैंने शरीरों की सहायता से जगत् के सम्पर्क का सुख लिया था तो मेरे भीतर आसक्ति पैदा हो गयी थी। प्रकृति के विधान से प्रकृतिपति के विधान से, सृष्टिकर्त्ता जीवनदाता के विधान से एक चांस और दिया गया

कि अच्छा अब तक मानव-जीवन पाकर के भी जीवन-मुक्ति का पुरुषार्थ तुमने नही किया था तो कोई बात नहीं, माफ किया गया। अब तक अवसर और ले लो और देखो अबकी बार जो शारीरिक सामर्थ्य लेकर के जगत् में रहने का मौका मिले तो नयी-नयी आसक्ति पैदा मत करना, पुराने रागों को मिटाने का पुरुषार्थ कर लेना।

इस विधान से हम लोगों को एक चांस और मिला है। तो अब क्या करें? तो शुद्ध विचार की दृष्टि से निज विवेक का आदर करते हुए इस सत्य को स्वीकार करें कि मिला हुआ शरीर जो है, वह मेरा नहीं है, वह मेरे साथ सदा के लिए रहने वाला नहीं है और मेरी आवश्यकता को पूरी करने वाला भी नहीं है। क्योंकि आपकी आवश्यकता क्या है? तो आपका जो मैं-पर है अलौकिक तत्त्वों से रचना हुआ 'मै-पर' अविनाशी जीवन की अभिलाषा वाला मैं, परम प्रेम की मधुरता का आस्वादन करने के लिए लालायित है जो 'मैं' उस 'मैं' की आवश्यकता स्थूल तत्त्वों से रचे हुए शरीर पूरी करने में कोई मदद नहीं कर सकते आज तक मदद नहीं किया इन्होंने।

मैंने एक बार रासलीला में कंस की सभा देखी थी। तो अहम् का बड़ा भारी अभिमानी, उसको प्रतीक रूप में भी ले सकते हैं और कथा में तो विश्वास चलाता ही है। विश्वासी होकर मैं देखती हूँ तो विश्वास भी लेती हूँ। बड़ा भारी अहंकार, सामर्थ्य का जो अनन्त श्रोत है उसी का दिया हुआ बल लेकर अहंकार बड़ा पुष्ट हो गया। मैं बड़ा बलिष्ठ। तो सभा में बड़ी गर्जना हो रही है किस बल पर? अनन्त बलशाली के दिए हुए आंशिक बल पर। अनन्त बलशाली ने आंशिक बल दे दिया तो उसी के बल पर अहंकार का बड़ा भारी गर्जन हो रहा है। अभ्यर्थना हो रही है, भयभीत सभा स्तुति कर रही है, सब हो रहा है। इतनी देर में, समाचार आया कि पूतना मारी गयी। तो बड़ा भारी बल, शरीर का बड़ा भारी बल, लेकिन जैसे ही समाचार मिला कि पूतना मारी गयी तो वह अहंकार जो था, वह एकदम काँप गया तो कंस जिस सिंहासन पर बैठे थे, वह उठ करके खड़े हो गए, घबरा गए, हाथ मुँह घबरा कर फैलाया और अस्त्र, शस्त्र सब नीचे गिर गए और पूरा शरीर थर-थर काँपने लगा। किससे! इस भय से कि कौन-सा ऐसा बालक हो सकता हैं छः दिन का जन्मा हुआ जो कि इसको मार सकता हैं। तो क्या कहा तुमने? क्या समाचार सुनाया तुमने? क्या सचमुच किसी बालक ने पूतना को मारा? हाँ मारा। तो इस समाचार को सुन करके सब वैभव खत्म हो गया, किसी ने उसका साथ नहीं दिया और मृत्यु के भय से वह काँपने लगा एकदम कि कौन हो सकता है जो इतनी छोटी उम्र में पूतना को मार सकता है। क्या जाने आगे चल करके वह मुझे भी न मार डाले। तो मृत्यु का भय और मृत्यु-रहित जीवन की आवश्यकता शरीर के बल ने पूरी नहीं की। बलशाली दरबारियों ने पूरी नहीं की, बहुत ही बलिष्ठ और जोरदार सेना की शक्ति से भी यह भय नहीं मिटा। ठीक है।

इसलिए वह तो एक कथा है, वह अपने लोगों को उदाहरण के लिए सामने रखकर सोचना चाहिए कि अभी तक आपने जो कुछ बल का सम्पादन किया, इस जगत् में रहकर अभी इसी क्षण में इसी स्पॉट पर बैठ करके एक क्षण के लिए भीतर झाँक कर देखो तो किसी भी बल के द्वारा अविनाशी जीवन की आवश्यकता पूरी हुई क्या? किसी भी संगी साथी, बुद्धिमानी और योग्यता के द्वारा मृत्यु के भय का नाश हो गया क्या? नहीं हुआ न? देखिये कुछ दिन पहले

"अपोलो इलेवन" आपने नाम सुना होगा यान बना था, चन्द्रलोक की यात्रा हुई थी, तो चन्द्रलोक के यात्री जो थे, वे जब लौट करके आ गए, उस पर सारा फिल्म बनाया गया और वे डाॅक्यूमेन्ट्री फिल्मस् जो चलते हैं। अच्छी-अच्छी बातों का प्रदर्शन विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में, विद्यार्थियों के सामने कराया जाता है। तो विदेश से एक टीम आयी थी, पाँच, सात लोगों की और विविध प्रकार के फिल्मस् वे लोग लाये थे, महाविद्यालय में दिख रहे थे, हमारे यहाँ भी आये थे।

वह भी दिखलाया गया था, तो उसमें सब कुछ देखने के बाद चन्द्रलोक के यात्री जब धरती पर आ गए थे, फिल्म सारा तैयार हो गया था, दिखाने के लिए जा रहा था तो उनकी थोड़ी बातचीत हुई थी तो उनसे बातचीत की गयी, और वह भी रिकार्डेड था, वह भी हम लोगों ने देखा और सुना, बातचीत करने का। तो उनसे पूछा गया जब आप वहाँ पर पहुँच गय चन्द्रलोक पर तो आपको कैसा लगा? तो उसमें एक सज्जन जो बातचीत कर रहे थे, वे कहने लगे कि जब हम वहाँ पहुँच गये तो पहले तो उस चन्द्रलोक में शरीर को सँभालने के लिए, धरती का जो आकर्षण है और यहाँ का जो इन्तजाम है वह था नहीं तो उसके ऊपर हम सीधे खड़े नहीं हो सकते थे, जमीन पर खूँटी गाड़ी गयी थी, उसको पकड़ पकड़ करके किसी तरह से हम लोगों से सबने अपना-अपना बैलेन्स सँभाला।

बड़ी तेज हवा थी, सब कुछ उड़ा जा रहा था, तो पेट के बल सट करके, खूँटा पकड़ करके अपने को सँभाला। सँभाल लिया। जब होश सँभाला और समझ में आया कि हम चन्द्रलोक पर पहुँच गए हैं और अब हम स्थिर हो गए हैं, अब देख सकते हैं, अब अध्ययन कर सकते हैं तो वे सज्जन कहने लगे कि मेरी आँखों के आगे धरती पर से विदा करने वाली मंडली दिखाई देने लगी। हम लोगों की चारों पाँचों की स्त्रियाँ और बच्चे किस प्रकार से हर्ष पूर्वक हाथ हिलाते हम लोगों को विदा कर रहे थे। वह सब हम लोगों को दिखाने लगा और मैं सोचने लगा कि यह जो मेरा एयरक्राफ्ट है, यह लौट करके अपनी मशीन से जुटा नहीं तो हम धरती पर उतर नहीं पाएँगे। हिसाब तो उन लोगों ने बहुत अच्छा किया था, कैलकुलेशन उन लोगों का बड़ा पक्का था। और जिस मशीन में से मदर क्राफ्ट उतर करके आया, उसको बता रहे थे, कि उसके द्वारा ऊपर चढ़े।

फिर उसको छोड़ते चन्द्रलोक पर उतरे तो उसकी सैटिंग ऐसी थी कि वह घूम रही थी, घूम रही थी, घूम रही थी और हिसाब ऐसा किया हुआ था कि इतनी तारीख को इतने बजे हम लोग चन्द्रलोक को छोड़ करके आएँगे तो ये घूमती हुई मशीन हमें पकड़ लेगी और हमें धरती पर ले आएगी। तो वे सज्जन कहने लगे कि एक बार मेरे भीतर ख्याल आया कि हम यहाँ से उतरे और हिसाब में थोड़ा सा भी फ्रैक्शन आॅॅफ सम सेकण्ड कुछ क्षणों के कुछ अंश का भी फर्क पड़ गया तो वह मदर क्राफ्ट पास कर जाएगी हम उससे जुट नहीं पाएँगे तो यों ही घूमते-घूमते आकाश में खत्म हो जाएँगे।

हाय हमारी स्त्रियाँ हमारे बच्चे प्रतीक्षा करते रहेंगे हम नीचे उतर नहीं पाएँगे। तो उस सज्जन ने बताया कि जैसे ही ध्यान में आया मैं एकदम मृत्यु के भय से भयभीत हो गया। तो सुना मैंने बड़ा आनन्द आया था, पूरा सब कुछ देखा हम लोगों ने धरती पर से वह क्राफ्ट कैसे उड़ा है, कैसे अन्तरिक्ष में गया, कैसे उसने मदरक्राफ्ट को

छोड़ा फिर वह चन्द्रलोक पर उतरा कैसे वे लोग हवा में डोलते-डोलते खूँटी पकड़ेंगे सब मैंने देखा था, उसी फिल्म में। जब वह सज्जन कहने लगा कि मैं तो एकदम भयभीत हो गया और मुझे अपनी स्त्री और अपने बच्चों का मुखड़ा दिखाई देने लगा। भीतर-भीतर एकदम से घबरा गया मैं कि हाय हम उतर नहीं सके धरती पर तो हमारी स्त्री हमारे बच्चे हमारी प्रतीक्षा में रह जाएँगे और उनको हमारी मृत्यु का संवाद सुनना पड़ेगा और बड़ा दुःख होगा तो एकदम मृत्यु के भय से आक्रान्त और कुटुम्ब की आसक्ति से आक्रान्त और चन्द्रलोक पर पहुँच जाने का सारा हर्ष समाप्त हो गया। वह तो फिल्म था दिखा-दिखा कर लोग चले गए। मैं बहुत देर तब सोचती रही। मैंने कहा हाय रे मनुष्य तूने क्या किया?

करोड़ों-करोड़ों की सम्पत्ति बहाई गयी संसार की और तीस-तीस वर्षों से बड़े-बड़े प्रतिभाशाली वैज्ञानिक परिश्रम करते-करते क्राफ्ट बनाया और बड़ी बहादुरी के साथ जय-जयकार करके संसार ने तुमको विदा किया बड़े शान से तुम चन्द्रलोक के यात्री बने और वहाँ पहुँचकर मृत्यु का भय? और वहाँ पहुँचकर कुटुम्ब की आसक्ति। सारा परिश्रम, सारी योग्यता, सारा खर्च मिट्टी में मिल गया कि नहीं? उससे ज्यादा सामर्थ्य कोई अपने लोगों के पास है? जी? किसके बल पर पंचाभौतिक तत्त्वों के बने हुए शरीर को लेकर अभिमान में फिरते हो भाई? उतनी बड़ी योग्यता, उतनी बड़ी शक्ति, उतनी सम्पत्ति और उतनी प्रतिभा और सबकी उपलब्धि क्या हुई? मृत्यु का भय? यह सब बातें जो हम लोगों के सामने आ रही हैं। तो विवेकशील होने का अर्थ क्या है? विवेकशील होने का अर्थ यह है कि इन घटनाओं से हम सीखें।

राजकुमार सिद्धार्थ के सामने और क्या हुआ था? एक मृतक को देखा, तो उस जाग्रत पुरुष ने यह जान लिया कि जैसे एक शरीर मृत्यु का ग्रास बन गया है, वैसे सभी शरीर मृत्यु के ग्रास बनेंगे? एक ही घटना ना उसने देखी थी? और तो घटना देखी नहीं थी। एक ही वृद्ध शरीर को उसने देख तो उसने अपनी युवावस्था में वृद्धावस्था का दर्शन कर लिया। एक मृतक को देखा, एक वृ्द्ध को देखा, एक रोगी को देखा और एक ही एक घटना का प्रभाव उस पर इतना जोरदार हुआ कि उस वीर पुरुष ने 'हे क्षणभंगुर भव राम-राम' कहकर संसार से विदा लिया फिर उलटकर उस संसार की ओर देखा नहीं।

"मैं त्रिविध दुःख निवृत्ति हेतु, बाँधूँ अपना पुरुषार्थ सेतु, सर्वत्र उठे कल्याण केतु, तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम, हे क्षण भंगुर भव राम-राम।" हो गया। और अपने लोगों की दशा क्या है? ऐसी हँसी आती है कभी-कभी मुझे और इतनी दया आती है अपने पर, हाय बेचारा गरीब आदमी कहाँ जाकर फँस गया। क्या कहते हैं लोग सुनते तो हैं, और इन्डायरैक्टली सत्संग की मण्डली पर थोड़ा कटाक्ष भी है, चूँकि अपने उसी में शामिल है इसलिए थोड़ा नरम भाषा बोलते हैं—तो कहते हैं कि क्या बताएँ इतना प्रचार है, इतना सब प्रवचन चल रहा है और इतनी बड़ी-बड़ी मण्डलियाँ बनी हुई हैं और क्षमा कीजिएगा आप लोगों ने भी कम परिश्रम नहीं किया है, कहते भी जाते हैं, क्षमा माँगते जाते हैं।

तो ये सब हो रहा है, लेकिन समाज की दशा जो है, वह तो ऐसी ही दिख रही है। पहले समूह को दोषी बनाके तब उसमें अपनी गुंजाइश निकालते हैं कि क्या करें हमारे में भी परिवर्तन नहीं आया, मतलब मैं कोेई दोषी नहीं हूँ। सब

लोगों का ऐसा ही हाल है, तो हम अपने को भी क्षमा करते देते हैं कि मेरा भी वह ही हाल है। अब बताओ? विवेक के प्रकाश में देख करके कि भई जो कुछ बना हुआ है निरन्तर बदल रहा है, बिगड़ रहा है, मिट रहा है और वे जो अपने को बड़ा वैज्ञानिक मानते होंगे और सोचते होंगे कि मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। उन लोगों को जो सच्चे विज्ञानवेत्ता है, उनका हाल मालूम नहीं है। और नहीं तो बहुत दिन पहले की बात है 1963 में अखिल विश्व का जो वैज्ञानिक सम्मेलन हुआ था, उस वैज्ञानिक सम्मेलन में किसी विज्ञानवेत्ता ने अपने अध्ययन का फल बताया तो उसने बताया "टुथ काँट-बी फाउन्ड बाई ओबजेक्ट एनालिसज" अणु-परमाणुओं के विश्लेषण से सत्य नहीं पाया जा सकता। तो कैसे होता है भाई? तो अणु-परमाणुओं के संगठन से बने हुए शरीर को प्रयोगशाला में ले जाकर काटकूट कर दो, तो मिलेगा? नहीं मिलेगा। अनुभवी संत में बहुत ही प्रेक्टीकल प्रयोग हम लोगों को बताया कि भाई यह जिसकी चीज है, उसके लिए रहने दो। तुम तो अपने पर इतना ही उपकार करो कि पराई चीज को अपनी मत मान लेना। इतने ही उपकार से तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।

भौतिकवादी हो तो विश्वजीवन में मिला दो इसको और ईश्वरवादी हो तो परमात्मा का मान लो इसको और अध्यात्मवादी हो तो तुम्हारा तो त्रिकाल में इससे सम्बन्ध है ही नहीं। दार्शनिक दृष्टिकोण, भौतिक पहलू ले लें, अध्यात्म-जीवन ले लें, आस्तिक जीवन ले लें, कोई भी अन्तर नहीं आता है। जीवन का सत्य है, जो दार्शनिक स्टैण्ड है, वहाँ से खड़े होकर के जीवन को देखेंगे नहीं और जगत् के साथ जो करना चाहिए वह जगत् के साथ न करो, शरीर के साथ जो सही दृष्टिकोण रखना चाहिये वह दृष्टिकोण न रखो। और परमात्मा के मानने वाले हो तो परमात्मा के प्रति जो भाव रखना चाहिये वह भाव न रखो। तो कोई ऐसा जादू मन्तर है कि तुम्हारा दुःख मिट जाएगा? जी? क्रिया-शक्ति मिली है, शुद्ध भौतिक वाद की दृष्टि से सेवा करने के लिए। सभी को अपना मानो, भेदभाव नाश हो जाएगा तो चित्त शुद्ध हो जाएगा। विचार की दृष्टि मिली है, विवेक का प्रकाश मिला है तो नाशवान् को नाशवान् जानकर। यहाँ मानने की बात नहीं है, कल्पना और अनुमान की बात नहीं है। देखते-देखते सँभालते-सँभालते सिर के काले बाल सफेद होते चले जा रहे हैं। बहुत ही नेचुरल प्रोसेस में। तो मानना पड़ेगा कि जानी हुई बात है। जी! जानी हुई बात है। तो निज विवेक के प्रकाश में नाशवान् को नाशवान् जानकर उससे अपना सम्बन्ध तोड़ना ही पड़ेगा। उस पर से अपना अधिकार उठाना ही पड़ेगा। उसकी ममता का त्याग करना ही पड़ेगा और उसका सहारा छोड़ना ही पड़ेगा। तो जो नाशवान् का सहारा छोड़ देता है, उसमें अविनाशी तत्त्व अभिव्यक्त हो जाता है। अमर जीवन का अभिलाषी, नाशवान का सहारा छोड़ देता है तो उसी में विद्यमान अविनाशी तत्त्व प्रकट हो जाता है। जो अनादि, अनन्त जीवन का जिज्ञासु है वह उत्पत्ति-विनाश युक्त का सहारा छोड़ देता है। संसार को छोड़कर भाग जाओ ऐसा नहीं कहा गया। सम्पत्ति उठा कर गंगा में डाल दो, ऐसा नहीं कहा। शरीर को टुकड़े-टुकड़े काट दो ऐसा नहीं कहा। इसमें तुम्हारा कोई वश नहीं चलेगा इसकी कोई जरुरत नहीं है। ये जिसके हैं, उसकी शक्ति से जिसके है, उसके विधान से कुशलता पूर्वक चल रहे हैं, चलते रहेंगे। तुम नहीं थे भी सृष्टि चल रही थी और फिर तुम नहीं रहोगे तब भी चलेगा, कि नहीं चलेगा? चलेगी?

इसलिए उसमें अपने को हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं है। जिस अपराध से हम सब लोग आसक्ति में, जन्म-मरण के बन्धन में, जिस सीमा में बँध गए हैं, कैदी हो गए है, उस कारण को मिटाना है। वह कारण क्या है? मैं अविनाशी जीवन का अभिलाषी हूँ, अमर जीवन की आवश्यकता मुझे है, परम पे्रम की प्यास मुझे है, तो जो अमर जीवन का अभिलाषी है, उसको मरणशील की सहारा नहीं लेना चाहिए। इतनी सी तो बात है।

ठीक है? अब आप क्या करते हैं? अब अपने लोगों की बुद्धिमानी देखो। शरीर की आसक्ति छोड़ना थोड़ा कठिन लगता है तो कहते हैं कि शरीरों के द्वार अच्छे-अच्छे पदार्थों के खाने का स्वाद लेते थे तो अब हम तो तपस्वी हैं तो नमक नहीं खाएँगे, तो पकाया हुआ अन्न नहीं खाएँगे, तो स्वादिष्ट चीजें नहीं खाएँंगे। खट्टा, मीठा, नमकीन सब एक में मिलाकर खा लेंगे, कोई कोई बात नहीं। स्वाद की गुलामी से छुटने के लिए आप अगर यह सब करते हैं तो सही बात है भाई जिससे जैसे बने छूटो और अगर बिना नमक के खाने का भी एक श्रृंगार बन गया और स्वाद पर विजय पाने का भी एक अभिमान बन गया है और लोक-ख्याति की भी एक भीतर-भीतर तृष्णा बढ़ गयी तो। हम स्वाद नहीं लेते हैं, हम संग्रह नहीं करते हैं। हम नमक नहीं खाते हैं। हम ऐसा करते हैं, हम ऐसा करते हैं। तो शरीरों के सहाये किए हुए तप का अगर अपने भीतर एक आभास बन गया ओर उसके बल पर अपने व्यक्तित्व का श्रृंगार बन गया तो सत्य के नजदीक पहुँचे कि दूर हो गए? दूर हो गए। तो चले थे सत्य को पकड़ने और अशुभ प्रवृत्तियों को छोड़ करके तपस्या स्वरूप और साधन स्वरूप प्रवृत्तियों को पकड़ करके फिर आपने उस नाशवान् शरीर को महत्त्व दे दिया, उसी को पकड़ करके बैठ गए तो अविनाशी तत्त्व की अभिव्यक्ति में बहुत देर लग जाती है। बहुत दूरी हो जाती है। इसलिए शरीर की गुलामी छोड़ना है अपने को, इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है। कोई साधक आश्रम में आ जाता है और स्वामीजी महाराज उसको बैठाते हैं अपने पास और खूब प्यार करते उसको। प्यारे का प्यारा है, कोई भी आया है प्यारा ही है। कहो दोस्त पाँच वर्ष का बच्चा आ गया तो कहो दोस्त और नब्बे वर्ष का वृद्ध आ गया तो कहो दोस्त। सब दोस्त ही दोस्त हैं। परमात्मा उनके मित्र हैं तो सारा दृश्य मित्र रूप दिखाई देता है।

तो कहो दोस्त तुम्हारी क्या सेवा करें? हम लोगों की तरह नहीं। संस्था वाले लोग संस्था वालों के पास आते हैं तो वे देखते हैं कि यह कुछ काम करने के लायक है कि नहीं, कुछ पैसा देने लायक है कि नहीं। तो ऐसा नहीं। स्वाजी जी के पास कोई आए तो उससे पूछें कहो दोस्त तुम्हारी क्या सेवा करें। तो महाराज जी में स्वयं पाकी हूँ, अपने हाथ से बनाता हूँ, खाता हूँ, तो ऐसा इंतजाम करा दीजिएगा। अच्छी बात है भाई, तो करा दिया इन्तजाम। अब उसको तो कल्याण अभीष्ट है महाराज को तो उस दिन सब इन्तजाम करवा देंगे और दूसरे, तीसरे, चैथे दिन से प्रवचन के समय, सत्संग के समय आरम्भ करेंगे अपने आपरेशन का इन्स्टमेन्ट। अब काटेंगे उसको तो बात करते-करते कहेंगे हाँ भाई जन्मे हो तो पका कर खाया था, हाँ भाई आप बड़े स्वावलम्बी हैं तो सरकार की बनायी हुई सड़क पर क्यों चलते हैं? सड़ बना लीजिए तब उस पर चलिएगा।

हाँ भाई आप स्वामलम्बी हैं तो कुर्ता में बटन लगाने के लिए सुई धागा बना लीजिएगा तो लगाइएगा। क्या बात करते हो तुम, भौतिक तत्त्वों

के आधार पर साँस लेने वाले शरीर और तुम उसके अभिमान बनते हो। मैं बड़ा स्वावलम्बी हो गया। तो जन्मे थे तो पकाकर खाया था अपने से और कभी दूसरों का सहारा लिया था। तो स्वावलम्बन का अभिमान क्यों करते हांे? तो ऐसी-ऐसी बातें करेंगे कि वह साधक बैठे-बैठे पानी-पानी हो जाएगा और दूसरे दिन से स्वयंपाकी होने का उसका अभिमान खत्म हो जाएगा छूट जाएगा। आएगा महाराज जी, महाराज जी। क्या बात है भाई, कोई तकलीफ तो नहीं है?

नहीं महाराज जी, हम आज से अपने से पकाएँगे नहीं, आपके भोजनालय में खाएँगे। तो यह सब कथा सुना करके मैं अपने भाई-बहनों को यह दृष्टिकोण देना चाहती हूँ कि शरीर को समाज से स्वाधीन करना चाहो तो कभी सम्भव नहीं है।

लेकिन स्वयं को शरीर से स्वाधीन करना चाहो तो सम्भव है। स्वयं को कैसे स्वाधीन किया जाएगा? तो इसको छोड़ दो संसार के लिए। और स्वयं शरीरों से, साथियों से, संसार से, सेवा-प्रवृत्ति के बाद सही कर्म के बाद जब निवृत्ति की घड़ी आए तो बिल्कुल शांत हो जाओ मूक सत्संग में रहो। अंकिचन, अचाह, अप्रयत्न पूर्वक शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाएगी और मैं स्वयं अपने आप में स्वतन्त्र अस्तित्त्ववान हूँ, इस बात का दर्शन आपको, इस बात का अनुभव शरीर के रहते-रहते हो जाएगा। साधन-काल में हो जाएगा और सचमुच जो स्वतन्त्र अस्तित्त्ववान है। उसका त्रिकाल में भी किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है, यह आपकी अपनी जानी हुई बात हो जाएगी और मैंने तो संत कृपा से, भगवत् कृपा से ऐसा भी देखा है कि त्रिगुणातीत जो संत पुरुष हुए संसार में और उन्होंने कहा कि त्रिकाल में भी सृष्टि न थी, न है, न होगी। अब प्रारम्भ में मैं सुनती थी, महाराज जी के मुख से, तो नहीं सुनती थी, ध्यान ही नहीं देती थी।

प्रयोगशाला में से निकल कर आयी थी, तो सब बातें अटें कैसे? तो मैं कहूँ क्या जानें स्वामी जी कौन फोरेन लेग्वेंज बोलते है। हम नहीं जानते। सुनती ही नहीं थी, समझती ही नहीं थी, यह तो समझ के पार की चीज हैं ना? तो बुद्धि में अटे कैसे?

जब बुद्धि-दृष्टि से असंग हो जाओ, जब सभी दृष्टियों के पार पहुँचो तब उसका पता चले। मैं तो बुद्धि के आधार पर सब पकड़ने आयी थी, कैसे पकड़ में आए? समझ में ही नहीं आए। लेकिन मैंने देखा संत की शरण में बैठकर जीवन का अध्ययन करके, साधन सूत्रों को काम में लाकर, मैंने देखा कि सचमुच जो आपका वास्तविक जीवन है, उस अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अनुभव होता है, और वस्तुतः उस अनुभव में उस आनन्दमय अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दृष्टि गयी कि सृष्टि गयी। इस जगह पर गीता भवन 2 नं. में स्वामी जी महाराज बैठते थे और प्रातः काल में 2,1/2 बजे से साधना शुरू होती थी, 3,1/2 बजे से मूक सत्संग होता था। उसी काल में, उसी जगह पर महाराज जी की चैकी पड़ कर बैठे ही बैठे क्या जाने कब सबका एकदम गायब। सिवाय एक आनन्दमय अस्तित्व के कहीं कुछ नहीं है, न शरीर है, न संसार है, न सीमा है, न स्थान है, न काल है। वैस्टर्न फिलाॅसफी में 'परसैप्शन आॅफ टाइम एण्ड प्लेस' पढ़ने के लिए जाने कितना दिमाग ढूँढ डाला था—कितना लाइब्रेरी छान डाली थी, कितने आचार्यों ने बड़ा परिश्रम किया था, काल और स्थान के परसैप्शन को न करके साबित करने के लिए। बहुत जोर

जबरदस्ती करके बड़ी बुद्धि लगा करके, हमारे समय में भारतीय दर्शन पढ़ाया ही नहीं जाता था उस विश्वविद्यालय में जहाँ अध्ययन किया मैंने। तो वैस्टर्न फिलॉसफी पढ़ाते थे पश्चिम दर्शन। तो उसमें काल और स्थान का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, यह व्यक्ति का अहम् बनता है, तब उसको काल का पता चलता है, तब उसको स्थान का पता चलता है।

तो काल और स्थान वह टेबिल है, वह स्क्रीन है वह पर्दा है, जिस पर कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त की गयी भौतिक तत्वों से इम्प्रेशंश बनाये जाते हैं, अंकित किये जाते हैं तो ये जो सिनेमा का स्क्रीम जैसा होताहै, तो वैस्टर्न फिलोस्फर यह बताते थे कि समय और स्थान की धारणा जो मनुष्य के भीतर है वह वह सिनेमा का स्क्रीन है। अब उसके ऊपर चि? अंकित होंगे तो तुम देखना और सचमुच तुम विचार करके देख लो कोई भी मानसिक चित्र जो आपके सामने आए, काल और स्थान के विश्लेषण से रिक्त होगा? कभी नहीं होगा।

कोई भी घटना है, वह किसी न किसी काल में है और किसी न किसी स्थान पर है। तो 'परसैप्शन आॅफ टाइम एण्ड प्लेस' का इतना विवरण पढ़ते-पढ़ते दिमाग थक जाए। किसी भी तरह से विवेचन करकेप इम्तहान पास करके, उससे छुट्टी पाया मैंने। जब स्वामी जी महारा के पास बैठ करके जीवन का सत्य सामने आया तब मैंने दर्शनकारों के सिद्धान्त को जान कि सचमुच में यह सृष्ठि त्रिकाल में न हुई, न है, न होगी।

इस बात का दर्शन कौन करता है, जो शरीरों से और समाज से, संसार से, सब दृष्टियों से, अन्तः-बाह्य सब कार्यों से, सबसे सम्बन्ध तोड़कर, सबकी आसक्ति छोड़कर, सबका सहारा छोड़कर अकेले हो जाओ तो तुमको उस सत्य का दर्शन मिले। तो जीवन का जो आध्यात्मिक सत्य है, अध्यात्म-दर्शन का जो सत्य है, वह कल्पना नहीं है, हवाई बातें नहीं है। आॅन चेयर स्पेकुलेशन की चर्चा नहीं है वह तो तुम्हारे जीवन का ऐसा ठोस सत्य है कि एक बार उसका अनुभव हो जाए तो फिर कभी भ्रम पैदा नहीं होता है। उस जीवन के दर्शन के लिए तैयार तो हो जाओ, सो नहीं। हमारे पास हमारे वर्ग के भाई-बन्धु आते हैं तो कहते हैं कि देखिए मैं बहुत ही प्रपंच में फँसा हुआ हूँ, और मुझमें कोई अच्छाई नहीं है। और मुझको अच्छाई का दर्शन करो दो, तो कोई कहे कि मैं तो आँख बंद करके बैठा हूँ और मुझको सूर्य का प्रकाश दिखा दो। तो कैसे बुद्धिमानी का हम लोग इतना दुरुपयोग कर रहे हैं। बुद्धिमान होने का अभिमान भी और बुद्धिमानी का दुरुपयोग भी, फिर भी जीवन का दुःख मिटे। कोई जादू मन्त्र नहीं है, कोई तमाशा नहीं है, मानव जीवन खेल तमोश के लिए नहीं बना है। बड़ा ही मूल्यवान है और मुझकों संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य, सबसे बड़ा आश्चर्य क्या मालूम होता है, तो मेरा यह अहम्। ईश्वर की महिमा का कोई वारापार नहीं है। वायुमण्डल के संसार को ऐयरवल्र्ड और वाटर वल्र्ड, समुद्र के भीतर और धरती के भीतर और हवा के भीतर, आकाश में और गृह-नक्षत्रों में वल्र्ड में रिसर्च होते जा रहे हैं, खोज करते जा रहे हैं और बड़ा-बड़ा नाम और बड़ी-बड़ी उपाधि लेकर लोग बैठते हैं। थोड़ा-थोड़ा मैंने भी पढ़ा है। मेरा भी बहुत इन्टरेस्ट था।

सबमें जितना-जितना आश्चर्य है भाई, वे सबके सब सीमित और भौतिक सीमा के भीतर है। सबसे अधिक आश्चर्य रचना आपकी अपनी है, मनुष्य का यह 'मैं पन' है। जो संसार के तत्त्वों को

लेकर बने हुए शरीर को लेकर इस धरती पर विचरण करते हुए, अनंत अविनाशी जीवन के आनन्द का भी अनुभव कर सकता है और अनन्त महत्त्ववान्, अनन्त ऐश्वर्यवान्, अनन्त माधुर्यवान्, परमात्मा का प्रेमी होकर उनके साथ प्रेम के आदान-प्रदान का प्रेमलाप कर सकता है, आदान-प्रदान कर सकताहै। उनकी लीला में भाग ले सकता है, अपने प्रेम रस से उनको आनन्दित कर सकता है। उनके प्रेम रस से स्वयं आनन्दित हो सकता है। और सदा-सदा के लिए उस अनन्त प्रेम सागर में, डुबकी का आनन्द, नित-नव प्रेम-रस का आनन्द ले सकता है। तो इतना बड़ा आश्चर्य जो आपकी अपनी रचना है, उस पर दृष्टि डालो नहीं, उस आश्चर्यजनक रहस्यमय अनन्त तत्त्व की अभिव्यक्ति का पुरूषार्थ करो नहीं, तो आकाश में खोजते फिरो, समुद्र में डुबकी लगाते फिरो,

धरती की खान खोदते फिरो। कोई सीमा लगेंगे? नहीं लगेगी। तो महाराज कभी-कभी मुझको कहते, देवकी जी, इस भौतिक विस्तार की भी सीमा इतनी बड़ी है कि मनुष्य सब जान नहीं सकता है। रिसर्च करने वाले करते रहते हैं।

उपाधियाँ देने वाले हम लोग देते रहते हैं। ताली बजाने वाले ताली बजाते रहते हैं। भौतिक शक्ति की भी सीमा इतनी अधिक है कि उसमें आदमी खो जाए। बुद्धि की सीमा खो जाए। पता ही न चले।

लेकिन तुम्हारे भीतर जो अलौकिक तत्त्व विद्यमान है, वह तो सारे संसार से बड़ा है भाई! उसके विकास का उपयोग, उसके विकास का पुरुषार्थ थोड़े ही दिनों में हम भाई-बहनों को कर लेना चाहिए और उसके विकास का क्या समय लगेगा, क्या श्रम लगेगा, क्या खर्च लगेगा? तो कुछ नहीं? आवश्यकता जाग्रत हुई और अंधकार मिटा। ईश्वर का सहारा लिया आपने और वे प्रकट हुए।

जिस नाम से पुकारेंगे आप उत्तर दे देंगे। जिस भाव से मानेंगे वे पार लगा देंगे, जो आपकी अभिलाषा होगी उनसे प्रेम के सम्बन्ध में वे सारी पूरी करने में वे अपने को न्योछावर कर देते हैं। तो संत कबीर कहा हैं—

"मन ऐसा निर्मल भया जैसा गंगा नीर,
पाछे-पाछे हरि फिरें कहत कबीर-कबीरû"

तो प्रभु के प्रेम में कबीर खो गये और वह प्रेमास्पद जो है वह कबीर के प्रेम का आदर करने के लिए और अपने प्रेमी को सँभालने के लिए कबीर-कबीर पुकारता हुआ, पीछे-पीछे फिर रहा है। तो प्रेमी प्रेमास्पद हो गया, प्रेमास्पद प्रेमी हो गया। इस अलौकिकता को इस जीवन में अनुभव नहीं किया, तो मनुष्य होकर क्या किया? अच्छा अब शांत हो जाइये।

प्रवचन 6

पूज्य संत महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

ईश्वरवाद मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य तत्त्व है। उसके अनुसार सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने के लिए स्तुति, उपासना और प्रार्थना की चर्चा हुई। स्तुति का अर्थ है उस अनदेखे परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना। स्वतन्त्र सत्त है उनकी, ऐसा स्वीकार करना, अस्तित्व को स्वीकार करना कहलाता है, आसक्ति होना कहलाता है और सत्ता की स्वीकृति के साथ ही उनकी अनन्त महिमा को स्वीकार करना,

स्तुति कहलाता है। परमात्मा हैं और वे अनन्त महिमावान् है।

सत्ता को मान लिया और उसके साथ उनकी महिमा को मान लिया। उनकी महिमा को भी स्वीकार कर लिया हमने तो हमारे जीवन में स्तुति आरम्भ हो गयी। स्तुति शब्द का यह अर्थ नहीं है कि हम सुन्दर-सुन्दर शब्दों में, छन्दों में अच्छी ललित भाषा में उनके गुणों का वर्णन करें, यह तो बाहरी बात है। लेकिन जिन महापुरूषों ने ईश्वर-विश्वासियों ने प्रभु की सत्ता को स्वीकार किया उनकी महिमा को स्वीकार किया, उन्होंने जिन शब्दों में स्तुति को प्रकट किया, वे शब्द कोरे शब्द नहीं है, वह उनका जीवन है। हम लोग भी यदि ईश्वरवादी है और इसको अपने में सजीव बनना चाहते हैं, और ईश्वर से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य होना पसंद करते हैं, तो इस असली अर्थ में हम लोगों को भी स्तुति करनी चाहिए। पहली बात सत्ता को स्वीकार करो दूसरी बात होगी उसके साथ उनकी महिमा को स्वीकार करो। स्तुति हो गयी।

उपासना का अर्थ बताया महाराज जी ने उनके साथ अपनी आत्मीयता का नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना। नित्य सम्बन्ध उसको कहते हैं, जो पहले भी था आज भी है और आगे भी रहेगा। नित्य शब्द का अर्थ आप जानते हैं। नित्य

सम्बन्ध का अर्थ होता है जो सदा के लिए है, जिसमें कभी विछोह नहीं है, वियोग नहीं है। जिसके टूटने, छूटने की कभी सम्भावना नहीं है। ऐसे सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध कहते हैं।

परमात्मा हम सभी के लिए नित्य समबन्धी हैं, यह तो सत्य है जीवन का। और हम आज से, जब ईश्वरवादी होने की आवश्यकता हमने अनुभव की तब से उस नित्य सम्बन्ध को अपने द्वारा स्वीकार कर लें, यह उपासना है। उपासना की

विधियाँ बहुत सी हैं, अनेकों प्रकार से उपासना की विधियाँ सिखाई जाती हैं, बतायी जाती हैं, प्रचलित हैं। अलग-अलग साम्प्रदायिक सीमाएँ हैं, अलग-अलग मजहबी ढंग हैं।

बहुत सारी बातें हैं जिससे कि उपासना के विधि-विधान में बहुत अन्तर पड़ जाता है। और सीमित होना, खास प्रकार के विधि-विधान को प्रतिपादन करना, यह भी मनुष्य की सीमित शक्ति के अनुरूप सहायता देने के लिए है। लेकिन मौलिक बात क्या है? कि आपने उस अलख अगोचर, अनन्त परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध माना कि नहीं माना। अगर मान लिया है कि मेरे अपने है। और सदा-सदा के लिए अपने हैं, इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया आपने, तो उपासक हो गए।

अब उस भाव को बढ़ाने के लिए, उस सम्बन्ध को सजीव बनाने के लिए,

विधि-विधान आपका चाहे जैसा हो, जो पसंद आए सो करिए, जो गुरु ने बताया सो करिए, जो आपकी परम्परा में है वह करिए, जो आपकी संस्ड्डति में से आयी वह करिए। साकार उपासना भी होती है, निराकार भी होती है। मानसिक पूजा भी होती है, क्रियात्मक पूजा भी होती है। स्थूल शरीर को लेकर भी प्रभु के प्रेम को बढ़ाने के लिए बहुत प्रकार की विधि की जाती है, भाव-शरीर को लेकर के भी भाव-शरीर से भी बड़ी पूजा होती है परमात्मा की और उसमें भी खूब सजीवता आती है।

तो बाहरी बातों में हर भाई-बहन स्वाधनी है। जिसकी जैसी रुचि हो, जिसकी जैसी बनावट हो। बाहरी बातों में कोई पराधीनता नहीं

है। हर व्यक्ति स्वाधीन है, लेकिन मौलिक बात जो है कि उनके नित्य सम्बन्ध को, आत्मीय सम्बन्ध को अपने द्वारा स्वीकार करना और सदा के लिए स्वीकार करना और सदा के लिए अन्य सब सम्बन्धों को उस एक सम्बन्ध में विलीन करना। यह जो मौलिक सत्य है, इसको नहीं मानने पर कोई विधि-विधान सफल नहीं होता है। इस बात को आप सोचिएगा और जिस प्रकार का कथानक है, इतिहास है, उस ढंग से सोचकर देखों कि मीरा जी को पहले उनकी माताजी ने यह बात बतायी कि गिरधर गोपाल तेरा पति है।

पहले उन्होंने माना जब उसके बाद उनको रिझाना आरम्भ किया। पूजा करेंगी, पुष्प चढ़ाएँगी, चरणामृत लाएँगी, संगीत सुनाएँगी, नृत्य दिखाएँगी, यह पीछे शुरू हुआ। पहले उन्होंने अपने गिरधर गोपाल को अपना पति कहकर स्वीकार किया। तो पहले स्वीकृति है, और स्वीकृति में से साधना की अभिव्यक्ति है। यह बात समझ में आती है? पहले परमात्मा के प्रति अपने आत्मीय सम्बन्धकी स्वीकृति है। पहले उन्होंने स्वीकार किया कि गिरधर गोपाल मेरे पति हैं। तो अब पति हैं मेरे तो मेरा सम्बन्ध केवल उन्हीं से हैं, और कोई दूसरा मेरा हो ही नहीं सकता है।

फिर जब माता-पिता ने विवाह रचाया और राजा भोज विवाह करने लिए आये तो मीरा जी कहें कि मैं तो गिरधर गोपाल की हूँ। तो यह सब कुछ उनका है। अब यह दूसरा आदमी कैसे हमारे हाथ को छू सकता है। तो वह छोटी सी बालिका पाणिग्रहण संस्कार के समय पंडित जी कह रहे हैं बाई जी का हाथ निकलो, हाथ में हाथ पकड़ाया जाए। तो बाई जी ने हाथ निकाला ही नहीं, दिया ही नहीं। मुट्ठी बाँध करके जबरदस्ती रोककर रख लिया कि यह तो गिरधर गोपाल का है, इसको दूसरा कोई छू कैसे सकता है। यह स्वीकृति है? कि उपासना की विधि है? स्वीकृति है। स्वीकृति मनुष्य के अहम् को बदल डालती है। जितना मुझे अवसर मिलता है, सत्संगी भाई-बहनों की सेवा में जीवन का सत्य सुनाने के लिए बारम्बार आपका ध्यान इस बात पर ले जाती हूँ मैं कि तुम्हारा जो अहम् रूपी अणु है, उसका बड़ा ही विलक्षण स्वरूप है। बड़ी विलक्षण रचना है। क्या है? कि वह जब अपने को अविवेक पूर्वक शरीर के साथ मिला दें तो शरीर के समान बनने, बिगड़ने वाले सब लक्षण उस पर आरोपित हो जाएँ। और आप ही स्वयं ही अपने असली स्वरूप के अनुसार अलौकिक तत्त्वों से रचे हुए स्वभाव के अनुसार जब अलौकिक परमात्मा से जोड़ लेते हैं, तो अलौकिकता सब आप ही के भीतर प्रकट हो जाती है। बड़ी विलक्षण बात है। मीरा जी ने गिरधर गोपाल को अपना पति मान लिया, तो इस मान्यता में से इस स्वीकृति में से उनका विचार, उनका भाव, उनका व्यवहार सब स्वतः ही प्रकट हो गया। इसलिए मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में कहा जाता है कि सत्संग करो, सत्संग करने वाली बात है, वह आपको पुरुषार्थ है और साधन होने वाली बात है।

स्वामी जी महाराज ने हमेशा कहा कि भई ध्यान करोगे क्या? ध्यान हेा जायेगा। याद करोगे क्या? स्मृति जग जाएगी। जो लोग स्वयं को बदलते नहीं है, अपने सम्बन्ध को ठीक नहीं करते हैं, विश्वास को ठीक नहीं करते हैं, अनित्य से सम्बन्ध रखेंगे और नित्य का ध्यान करेंगे तो परिणाम क्या होगा? चाहते हैं नित्य का ध्यान करना और जबरदस्ती अनित्यका चिंतन उनके भीतर घुसा रहता है।

यही होता है। शरीर से सम्बन्ध रखेंगे और भगवान का भजन करना चाहेंगे। तो भजन जबरदस्ती शरीर का होने लगता है। भजन शब्द का अर्थ सुनाया महाराज जी ने, आवश्यकता अनुभव करना। तो जिसने शरीर को अपना माना उसके भीतर भगवत्-भजन के काल में शरीर का चिन्तन जबरदस्ती घुस जाता है। घुस जाता है कि नहीं? अगर आपको किसी डॉक्टर ने बताया दिया हो कि तुमको कोई घातक बिमारी लग गयी है और आप में शरीर का विश्वास टूटा नहीं है, नहीं छोड़ है आपने, तो शरीर का विश्वास नहीं छोड़ा, शरीर का सहारा नहीं छोड़ा, शरीर को अपना मानना नहीं छोड़ा और थोड़ी देर के लिए विधि-विधान के अनुरूप भगवान का भजन करने, चिंतन करने बैठे। तो उस भगवत्-चिंतन के बीच में शरीर का चिन्तन जबरदस्ती घुस जाता है। क्यों? क्योंकि उसमें आपने विश्वास किया है, उससे आपने सम्बन्ध माना है। तो माने हुए सम्बन्ध का प्रभाव अपने पर होता है। अपने विश्वास का प्रभाव अपने पर होता है। इसलिए सत्यदर्शी संत ने ईश्वर-विश्वासी साधकों को सलाह दी कि भई उपासना का मूल मन्त्र है प्रभु के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करना।

स्वीकृति की ही बात है हमारी ओर से। सत्य तो पहले से विद्यमान ही है। जो 'सोर्स आॅफ लाइफ' है, जो जीवन का उद्गम है, जिसमें से हम सबकी उत्पत्ति हुई है, जिसकी सत्ता पर हम सब लोगों की सत्ता आधारित है, उससे सम्बन्ध टूटना कभी सम्भव है क्या? जी! नहीं है। तो हमारी विमुखता काल में भी हमारे जीवन का तार उनसे लगा रहता है कि नहीं? लगा रहता है। तोउधर से कोई कभी तो हुई नहीं। उधर से सम्बन्ध टूटा नहीं। यह आधुनिक पति-पत्नी का सम्बन्ध नहीं है कि कोर्ट में जाकर रजिस्टे[a]शन करके रजिस्टर में दस्तखत कर दिया कि आज हमें दोनों पति-पत्नी अपने को स्वीकार करते हैं तो सम्बन्ध बन गया और कुछ दिनों के बाद वहाँ तलाक दे आए तो तलाक हो गया, सम्बन्ध टूट गया। यह दुनिया का बनाया हुआ सम्बन्ध नहीं है कि बना लेने से बन जाएगा और तोड़ लेने से टूट जाएगा। यह बनाने से बनता होता तो तोड़ने से टूट जाता। ठीक है! तो यह बनाया हुआ नहीं है हमारी ओर से उपजाया हुआ नहीं है। यह तो जीवन का जो श्रोत है, जो उद्गम है, जिसमें से सब प्राणियों की जिन्दगी उद्भूत होती है, वह 'मेन सोर्स आॅफ लाइफ' मेन स्प्रिग आॅफ लाइफ' सम्पूर्ण जीवन का जो उद्गम है, उसी में से हम सब लोगों को जिन्दगी मिली हुई है। उसी की सत्ता पर हमारी सत्ता आधारित है, तो उससे कनैक्शन तो कट आॅफ हो ही नहीं सकता।

इसलिए हमको कोई नयी बात बनान नहीं है। भूल गए हैं, हम लोग विमुख हो गए हैं। उसकी अवहेलना करके उसी का प्रतिरूप उस अव्यक्त का प्रतिरूप जो यह व्यक्त जगत् है, बनने बिगड़ने वाले जो दृश्य हैं उन दृश्यों को पकड़ करके हम उससे सुख लेना पसंद कर रहे थे तो उस अनन्त प्रेम स्वरूप के प्रेम का कोई स्वाद नहीं मिला। भूखे-प्यासे होकर के बेचैने होकर फिरने लगे। जिज्ञासा जाग्रत हुई तो संत महानुभावों ने, अनुभव जनों ने मन्त्र बता दिया। प्रेम की प्यास से बेचैन होकर आप फिरने लगे तो किसी भगवत्-अनुरागी ने उस प्रेम-सागर का पता बता दिया।

यही हुआ न! और तो कोई नयी बात नहीं की किसी ने। एक बार एक जगह पर सभा हो रही थी, तो एक सज्जन आए। बड़े क्लास वन आॅफिसर रहे थे रिटायर्ड होने के बाद। तो जिस

तरह की बातचीत करने की आदत थी उनको उसी आदत के अनुसार स्वामी जी महाराज के पास आकर बैठ गऐ और कहने लगे कि स्वामी जी महाराज मिस्टर गौड के पास टेलीफोन है कि नहीं? तो महाराज ने कहा, है। तो उसने कहा कि महाराज जी मुझे नम्बर बता दीजिए में बात करना चाहता हूँ।

तो महाराज जी ने नम्बर गिना दिये उनको, लो कर तो बातचीत। कनैक्शन कभी कटआॅफ होता नहीं है भाई, एक्सचेंज की मध्यस्थता की जरूरत नहीं है भाई। यह बाहरी टेलीफोन का कनैक्शन कोई लगावे जुटावे, बीच में तार खराब हो जाए मशीन खराब हो जाए तो बातचीत न हो। तुम्हारा उनका कनैक्शन तो ऐसा अमिट है कि वह काल के व्यवधान से, बाहरी परिस्थितियों के परिवर्तन से, या मेरी नालायकी से भूल गयी उनको, विमुख हो गयी उनसे और उनके विपरित उन्हीं की बनायी हुई सृष्टि के बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों को पसंद किया। तो कुछ भी नालायकी मैंने की, मेरी नालायकी से हमारे उनके बीच का जो अटूट सम्बन्ध है, वह टूटा नहीं, बिगड़ा नहीं वहाँ कोई व्यवधान नहीं आया।

वहा तो सदा के लिए है। अगर नहीं होता तो मेरे मानने से बन जाता और मेरे न मानने से बिगड़ जाता है। इसलिए मुझको तो इस सत्य के दर्शन से बड़ा बल मिला कि मैं याद रखूँ तब भी, मैं भूल जाऊँ तब भी, मैं मान लूँ तब भी, मैं न मानूँ तब भी, हमारी और उनके बीच का जो सम्बन्ध है वह कभी टूटता नहीं। कितनी जोरदार बात है। अब अपनी तरफ से क्या करना है कि बिना देखे, बिना जाने, बिना याद आए, केवल मान लो। तो मान लेते हैं। अभी भी होता है, मेरे सामने कई बार ऐसे होता है। बचपन से ही बड़े समूह में रहने का मौका मिला।

हजारों हजार विद्या£थयों के बीच में रहे। कहीं पर किसी से भेंट हो गयी और अब साधक-समाज है। स्वामी जी महाराज के सामने घूमते-घामते वृहद् समाज में तीस वर्ष बीत गए तो कहीं पर किसी से भेंट हो गयी ओर उसको याद है कि मेरा उसका परिचय है, मुझको याद नहीं है। तो बहुत कोशिश करती हूँ अपने को ध्यान देती हूँ कि वह होगा, वह होगा। फिर नहीं याद आता है, तो उसके कहने से मान लेती हूँ मैं हाँ ठीक है भाई! लखनऊ स्टेशन पर एक बार में उतर रही थी तो एक लड़की महिला थी, बुरका ओढ़े हुई थी। मैंने तो उसको देखा नहीं, उसने मुझको देख लिया और आकर के एकदम मेरे कमर में हाथ डालकर चिपक गयी, लटक गयी। दीदी आप यहाँ कहाँ? कैसे आयी हैं? तो मैं उसको देखने लगी तो मुँह तो दिखायी नहीं दिया। बुरका ओढ़े हुई थी पूरा। तो देख तो नहीं सकी मैं। मैंने पूछा तुम कौन हो भाई? कैसे पहचानती हो मुझे? तो उसने मुझे याद दिलाया इतने-इतने साल के भीतर चार वर्ष मैं विमेन्स काॅलेज में आपकी स्टूडेन्ट थी, आपने मुझको पढ़ाया था। हमने कहा तू यहाँ कह से? तो कहने लगी विवाह होने के बाद लखनऊ में आ गयी हूँ। यहाँ रहती हूँ, तो खूब प्रेमर का आदान-प्रदान हो रहा है। न मैंने शक्ल देखी न पहचाना। उसके भी आँसू आये खूब रोयी हाल पूछा। खूब प्यार किया, खूब प्यार लिया हमने विदा कर दिया, चली गयी। तोहमने देखा ही नहीं, पहचाना ही नहीं, शक्ल देखने में नहीं आयी। लेकिन उसके हृदय का भाव इंकार कैसे करूँ? अमुक-अमुक साल में हम थे, ऐसी-ऐसी लड़कियाँ भी उस ग्रुप में, ऐसा सबजैक्ट था हमारा, यह हुआ वह हुआ। सब

उसको याद है। अब उसने सुना दिया मुझको और बिना मुँह देखे बिना पहचाने। हटा नहीं सकती थी वह बुरका क्योंकि उसके ससुराल के प्रति, ससुर सब उसके आस-पास खड़े थे। तो पर्दा वाली मुसलमान लड़की तो उसने पर्दा हटाया नहीं और खूब मुझसे प्रेमालाप कर लिया और श्रद्धा-भक्ति दिखला करके चली गयी और मैंने मान लिया कि हाँ तुम मेरी स्टूडेन्ट रहीं होगी। क्या करें?

अब वह कह रही है कि मैं हूँ। तो ऐसा सम्बन्ध जो हमारा उनका है, आप सभी भाई-बहनों का है, मानने वालों का भी है और न मानने वालों का भी है। प्रेमी होने वालों का भी है और बिछुड़ने वालों का भी है। ऐसा जो सम्बन्धहै, उसकी सत्यता, उसकी नित्यता में आप विश्वास करिए। सचमुच आप देखेंगे कि बिना किसी दूसरे विधि-विधान के आपके भीतर उनका होनापन ऐसा बढ़िया से प्रकट हो जाता है कि वे परमात्मा स्वयं ही आपको इस बात को जानने के लिए आतु हो जाते हैं कि मेरे प्यारे तूने बड़ी बहादूरी की कि देखे हुए जगत् को इन्कार कर दिया और मुझे बिना देखे को स्वीकार कर लिया। तेरी इस बहादूरी पर मैं आनंदित हो गया हूँ और अब तू देख ले मुझको मैं तेरे ही में विद्यमान हूँ।

यह बात साधन-काल में परमात्मा अपने विश्वासियों को बता देते हूँ दिखा देते हैं। यह तो अब उनकी अपनी मौज है ना? कोई कानून तो उस पर लगाया नहीं जा सकता है। कोई टेकनीक बाहर से बनाया नहीं जा सकता, कोई मेथड नहीं बनाया जा सकता कि ऐसा-ऐसा करोगे तो ऐसा-ऐसा होगा। ऐसा नहीं है। उस नित्य विद्यमान का अपना प्रेमी स्वभाव है। और सचमुच में इसमें मनुष्यकी बहादुरी मानती हूँ। इसलिये मानती हूँ कि देखे हुए को इन्कार कर देना होता है। नहीं, नहीं, नहीं यह सब मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। तो तुमको क्या चाहिए भाई! तो मुझको तो उस अपने नित्य सम्बन्धी का प्रेम चाहिए।

बिना देखे परमात्मा को अपना पति मान लेना, पुत्र मान लेना, मित्र मान लेना और सब कुछ उसके प्रति न्योछावर कर देना। अपने पर से अपना अधिकार उठाकर उनका सर्वाधिकार सुरक्षित कर देना। सर्वाधिकार, है तो उन्हीं का। और साधक की भाषा में कहेंगे तो कहेंगे कि हे प्रभु इस तन पर, इस मन पर, इन धन पर, इस जीवन में तुम्हारा अधिकार मानता हूँ मैं, तुम्हारे अधिकार में छोड़ता हूँ मैं। तो ये प्रारम्भ की भाषा तो गयी। और थोड़ा-सा आपको परिचय मिल गया उनकी विद्यमानता का तो वे अपनी महिमा को आप ही आपके भीतर प्रकाशित कर देंगे, तो आप कहने लग जाएँगे कि 'सदा-सदा की मीरा दासी'। अरे मैंने तो भूल से कहा कि तुम्हारे अधिकार मैं सौंपती हूँ, इसके मालिक तो तुम सदैव के हो। सदा-सदा का यह जीवन तुम्हारा है। सदा-सदा का यह सब कुछ तुम्हारा है। थोड़े ही दिनों के बाद वे महामहिम अपनी महिमा को आपके भीतर स्वतः ही प्रकाशित कर देंगे तो आपको यह बात सत्य के समान दिखने लग जाएगी कि अरे मैं तो भूल ही गया था, वह तो उन्हीं का था यह मेरी भूल थी कि मैंने अपना माना था। सदा-सदा का तुम्हारा ही सर्वाधिकार है। तो अब मे ऐसा कहती हूँ कि उनका सर्वाधिकार सुरक्षित रहने दो, अपनी दखल मत डालो उसमें। अपनी ओर से अपना अधिकार मानेंगे हम लोग, तो उसी में फँस जाएँगे। अधिकार सुरक्षित रहेगा भी नहींऋ भार ढोया जाएगा ही नहीं और मालिक पने के बोझ से दबे भी जाएँगे, मरे भी जाएँगे और उस मिलकियत को छोड़ेंगे भी नहीं। तो कितनी दुर्दशा होगी?

वस्तु छिन जाएगी। शरीर नाश हो जाएगा और हाय मेरा चला गया। तो कितनी दुर्दशा होगी? कि नहीं होगी। उस दुर्दशा से बचना है अपने कोऋ इसलिए उस जगत् पति की उस सर्वश्रेष्ठ की उस अनन्त ऐश्वर्यवान् की महिमा को मान लो और उनका सर्वाधिकार सुरक्षित रहने दो। उनकी ओर से तो है ही। मेरे दखल डालने से उनके ऐश्वर्य में कोई कमी आती है क्या? नहीं आती है। वे अपनी ओर से ढील दे देते हैं छोड़ देते हैं। अच्छा मेरा बच्चा अधिकार मानने में सुख लेता है तो थोड़ा इसका मजा भी देखले वे तो रोकेंगे नहीं। स्वामी जी महाराज कहते देवकी जी, समुद्र में मछलियाँ उछल-कूद मचाती हैं तो समुद्र को कोई डिस्टरबेन्स नहीं होता। हमारे भीतर हमारी ही भूल से उत्पन्न हुए विकार मेरे भीतर भी उछल कूद मचाते हैं और बाहरी समाज में भी उछल-कूद मचाते हैं।

आदमी के भीतर के विकार जो हैं, क्रोध है, क्षोभ है, लोभ है, असंतोष है, अभिमान है तो हमारे विकार जो हैं भीतर भी हलचल मचाते हैं और प्रभु की इस विशाल सृष्टि में बाहर भी उछल-कूद मचाते हैं। लेकिन हमारी इस उछलकूद से हमारी इस हलचल से उस महामहिम की महिमा में कोई डिरस्टबेन्स नहीं होता है। सर्वाधिकार सदैव ही उनका सुरक्षित है। और सचमुच वे ही है जगत्पति होने के लायक, जगत्पति कहलाने के लायक और अनन्त कोटि ब्रह्मांडों के संचालन को कायम रखने के लायक। अपनी ओर से हमें क्या करना है? कि उनके नित्य सम्बन्ध को अपनी ओर से स्वीकार करके उनके सर्वाधिकार को सुरक्षित रहने देना है। अर्थात् तन पर, धन पर, मन पर, जीवन पर, कुटुम्ब पर, समाज पर, पशु-पक्षी, वनस्पति पर किसी पर आने अधिकार का दोष मत लगाओ। तुम हो गये अधिकार-शून्य और यह सब कुछ हो गया तुम्हारी ओर से उनके समर्पितै तब देखो क्या आनन्द आता है? यह हो गयी उपासना।

अब कितनी माला जपोगे कितनी संख्या पूरी करोगे। किस नाम से पुकारेंगे और कैसे क्या करोगे ये तुम्हारी अपनी मौज है। अगर उस क्रिया सहारा लिए बिना न रहा जाए तो कर डालना और करने का जी न चाहे तो छोड़ देना। प्रिय लगे तो उसमें शामिल हो जाना, भार लगे तो कोई चिंता मत करना। जीवन का जो सत्य है उस सत्य की स्वीकृति से साधक का काम बहुत ही हल्का हो जाता है। एक बार मान लिया तो उस मान्यता के प्रभाव से, सत्य की स्वीकृति से, मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब अपने आप परिवर्ति हो गयीं।

महाराज जी को इस बात की बड़ी पीड़ा थी कि क्या बताएँ अहम् को बदले बिना, असत् स्वीकृति को छोड़े बिना, सत्य स्वीकृति को स्वीकार किये बिना,

साधक की अभिव्यक्ति नहीं होती है। तो साधक करते क्या हैं? कि सत्य की स्वीकृति पर उनका ध्यान न दिलाया जाए और बाहर से विधि-विधान पकड़ा दिया जाए, तो न करते बनता है, न छोड़ते बनता है।

कितनी बार साधक मुझसे कहते हैं कि भई क्या करें? एक महिला कहने लगीं इसी जगह बैठ करके कि क्या करें? नित्य नियम जो है मेरे पाठ का, वह किए बिना रहा नहीं जाता है और अब करने बैठती हूँ तो जल्दी-जल्दी पन्ना उलटने का मन होता है। बहुत सा काम नुकसान हो रहा है, जल्दी-जल्दी करके खत्म करो। करने लगो तो भार लगे और छोड़ दो तो चैन न आवे। तो एक

नयी मुसीबत साधक के लिए हो गयी ना। न किया ही जाए न छोड़ा ही जाए।

सत्यदर्शी संत स्वामी जी महाराज ने जो मानव-जीवन को देखा अपनी द्धतम्भरा अवस्था में देखा, बुद्धि की समता में, शरीरों की असंगता में, जहाँ स्वयंप्रकाश का ज्ञान स्वतः प्रकाशित होता हैं उस प्रकाश में उन्होंने मानव-जीवन का सत्य देखा तो वे देख करके निवेदन करते हैं कि भाई तुम्हारे अहम् रूपी अणु में विलक्षण शक्ति है, तुम उस सत्य के साथ, उस नित्य सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लो, तो तुम्हारी उस बहादुरी से, तुम्हारी उस स्वीकृति से मन, चित्त, बुद्धि, अहं सब अपने आप ही बदल जाएँगे। तुम्हें कुछ करना नहीं पड़ेगा।

उनको बड़ी पीड़ा होती थी कि संसार की मुसीबतों से फँसा हुआ व्यक्ति संत के पास आता है, गुरु के पास आता है। सत्संगी बनता है, साधक बनता है। तो

साधक बनके आए, सत्संगी बन के आए तो उसके सिर पर मैं भी एक मुसीबत लाद दूँ कि जो न कर सके न छोड़ सके। यही होता है ना। अहम् को बदले बिना, स्वीकृति को बदले बिना, नियम पकड़ा दिया गया। इतनी संख्या में यह जप करो, इतनी संख्या में यह पाठ करो। इतनी देर यह ध्यान करो, इतनी देर यह करो। तो अहम् को बदले बिना, स्वीकृति को बदले बिना, असत्य सम्बन्ध को छोड़े बिना, नित्य सम्बन्ध को स्वीकार किये बिना, सब विश्वास एक विश्वास में विलीन करो, सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन करो, इसके किये बिना जब साधक बेचारा साधन करने चलता है तो ध्यान करो तो ध्यान न लगे, भजन करो तो भजन न बने। नाम लेना शुरू करो तो नाम न लिया जाए। माला जपना शुरू करो तो माला न जपा जाए। मैंने तो देखा है, अपने जीवन को देखा है। जिन्होंने परमात्मा को अपना आत्मीय करके स्वीकार कर लिया, उस आत्मीयता के रस में वे ऐसे मस्त हो जाते हैं कि वे शरीर और संसार को भूल जाते हैं। मैंने शरीर और संसार को इम्पोर्टेन्स देकर, शरीर और संसार को महत्त्व देकर, एक अच्छा मनुष्य हूँ मैं, तो सब मेरा अच्छा-अच्छा समाज की दृष्टि में निभाना चाहिए, इसको महत्त्व देते हुए जब पूजा करने बैठूँ तो पूजा के आइटम्स को भूल जाऊँ। फूल चढ़ाया तो चन्दन चढ़ाना भूल गयी, जल चढ़ाया तो तुलसी पत्र डालना भूल गयी। मैंने तो देखा, अपने को देखा है। सुनी हुई कथा नहीं सुना रहा हूँ। गपशप नहीं सुना रही हूँ, कल्पना और अनुमान की चर्चा में आपके सामने कभी नहीं करती हूँ। इसलिए नहीं करती हूँ कि मेरे गुरु ने मेरी निष्ठा के अनुसार मुझको विश्वास दिलाया कि संसार को तुम्हारा उपदेश सुनने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे भीतर वक्ता होने का राग था, तुम्हारे पे्रमास्पद ने तुमको रागरहित करने के लिए श्रोता का वेश बनाया है। मैं उनको, सर्वज्ञ को, परम हितैषी को, कल्पना सुनाऊँगी, अनुमान सुनाऊँगी? तो मैं कल्पना और अनुमान नहीं सुनती हूँ, जीवन का सत्य सुनाती हूँ।

मैंने अपनी दशा देखी है। संसार का महत्त्व मानो और भगवान की पूजा करने बैठो तो पूजा के आइटम्स भूल जाते हैं। और परमात्मा को अपना मानो और नाम लेने बैठो तो हाथ से माला छूट जाती है अहम् उस अनन्त में जाकर जुट जाता है। प्रेम के प्रवाह में शरीर और संसार को भूल जाता है व्यक्ति। तो माला कहाँ याद रहेगी? तो पूजा की यह विधि है भाई? सत्य को स्वीकार न करो और अनित्य शरीर के आधार पर स्थूल वस्तुओं के आधार पर, उस सर्वव्यापक को

रिझाना चाहो तो गलती हो जाती है। उनको इन्कार नहीं है, वे तो जानते हैं कि सब मेरा है। स्थूल और सूक्ष्म सब मेरा है, उनको तो मालूम है। धरती, आकाश, पहाड़ नदी, काँटे पुष्प सबको वे निज अवयव करके धारण करते हैं। उनको तो मालूम है कि सब उनका है। लेकिन अपनी दशा विचित्र है। भगवान का भजन करने चलो तो संसार का चिन्तन घुस गया।

घर के काम याद है, सभ्यता याद है, शिष्टता याद है, अब उसके चिन्तन से परेशान हैं तो पूजा के समय पूजा के आइट्म्स ही भूल गए। एक वस्तु अर्पण किया तो दूसरी चीज छूट गयी। एक काम पहले किया जो पहले करना था, सो पीछे रह गया। बहुत बार ऐसा होता है। खूब देखा है मैंने, तो इसलिए जो सचमुच मानव हैं, जाग्रत है, ईश्वर-विश्वास के आधार पर अपने जीवन को पूर्ण करना पसंद है जिनको, उनकी सेवा में निवेदन है कि भाई, स्तुति, उपासना और प्रार्थना इनका सही अर्थ ग्रहण करो और उस ढ़ग से जीवन आरम्भ करो, तो अपने में जो कमी रह जाएगी उसकी पूर्ति में वे अनन्त परमात्मा कभी चूकेंगे नहीं।

मैंने ऐसा भी देखा था कि दीपक जलाया गया और हवा के झोंके से दीपक बुझ गया। बड़ी परेशानी भीतर-भीतर लग रही है दीपक जलाने वाले को हाय अब कैसे करें? अब तो दीपक बुझ गया, अब कितनी देर में दिया सलाई मिलेगी। कितनी देर में अब मँगायेगे, अब कैसे करेंगे? अब कैसे करेंगे? तो जिसकी सच्ची निष्ठा है उसके भीतर व्याकुलता पैदा हुई कि कैसे करें? कैसे करें? तो देर नहीं लगी। मेरी आँखों के सामने की बात है, कहने वाले ने कुछ कहा नहीं, मुख से कोई शब्द का उच्चारण नहीं किया। भीतर से बैचेनी लग रही है हाय देर हो जाएगी अब कैसे करें? कैसे करें? तो बुझा हुआ दीपक जल गया। तो उनको देर लगती है क्या? वे स्थूल को स्थूल अपने से अलग जान करके छोड़ते हैं क्या? सो नहीं है। सब स्थूल उनका, सब सूक्ष्म उनका, सब लौकिक उनका, सब अलौकिक उनका, उनसे भिन्न कभी कुछ है ही नहीं। तो छोटी से छोटी वस्तु अगर आपको भीतर की आत्मीयता है, प्रियता है, अपनापन है, पे्रम की सजीवता है, प्रार्थना है की सजीवता है तो सब उनको स्वीकार्य है।

प्रवचन 7

प्रश्न—संकल्प का उद्गम स्थान क्या है? संकल्प का स्वरूप क्या है? संकल्प की उत्पत्ति क्यों होती है? निःसंकल्प होना क्या स्वयं में एक संकल्प नहीं होगा? देहात्मभाव रहते क्या संकल्प-रहित होना सम्भव है? संकल्प-रहित होना क्या अस्वाभाविकता नहीं है? यदि स्वाभाविकता है तो फिर संकल्प उत्पन्न ही क्यों होते हैं? आदि-आदि, अनेक प्रश्न उठते हैं। समाधान प्रार्थनीय है।

उत्तर—कई प्रश्नों का उत्तर एक ही हो जाएगा। संकल्प का उद्गम-देह में मम और अहम्-बुद्धि से संकल्प उठता है। निज स्वरूप में स्थिति न होने के कारण देह-बुद्धि से जब जगत् दिखाई देता है तो शरीर और संसार के संयोगजनित सुख का संकल्प उत्पन्न होता है। संकल्प की उत्पत्ति वास्तविक जीवन के लिए स्वाभाविकता नहीं है, अस्वाभाविकता है। जो अपने आप में अपने अविनाशी अस्तित्व का अनुभव कर रहा है, जो अपने आप में सन्तुष्ट होकर रह रहा है, जो उस आनन्दमय जीवन के अनुभव में आनन्दित है, उसमें संकल्प नहीं उठते।

संकल्प कहते हैं किसको? कि जो आपको शरीर और संसार के साथ जुटा दें, उसको

संकल्प कहते हैं। अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की आवश्यकता में संकल्पों की उत्पत्ति होती है। जब हम शरीर में अहम् और मम-बुद्धि रखते हैं अर्थात् मैं शरीर हूँ और शरीर मेरा है, ऐसी भूल जब तक जीवन में रखते हैं तब तक संकल्पों की उत्पत्ति होती है। संकल्पों की उत्पत्ति का होते रहना अस्वाभाविक बात है, और सब प्रकार के संकल्पों की निवृत्ति जीवन की स्वाभाविकता है। संकल्प का स्वरूप क्या है? स्वरूप यही है कि जो मुझको अपनी स्वाभाविक स्थिति से विचलित कर दे। संकल्प का स्वरूप क्या है? जो मेरी अपनी मौलिक शांति को भंग कर दे। जो बाह्य जगत् की ओर मुझे प्रवृत्त कर दे, जिसकी पूर्ति में अपना मूल्य घट जाए, पराधीनता और दासता आ जाए। जो पूर्ति के आधार पर अनेकों संकल्पों की उत्पत्ति कर दे। जो अपनी अपूर्ति में व्यक्ति को क्षोभ और क्रोध से भर दे, कर्त्तव्य की विस्मृति करा दे, निज स्वरूप की विस्मृति करा दे और परमात्मा की विस्मृति करा दे, उसका नाम संकल्प है। उत्पत्ति क्यों हुई? यह बात हो गयी। निःसंकल्प होना क्या स्वयं में एक संकल्प नहीं होगा? नहीं होगा। इसलिए नहीं होगा कि संकल्प के स्वरूप में आपने देखा कि संकल्प उसे कहते है, जो कि मनुष्य की स्वाभाविक शान्ति से उसे विचलित करा दे।

मनोविज्ञान में इसको कहा जाता है कि होमियोस्टेटिस को बिगाड़ देता है, मेन्टल एक्यूब्रेलियम को डिस्टर्ब कर देता है। जिस समय आपके जीवन में अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की जरूरत नहीं महसूस होती है, उस समय समाधि के बिना भी व्यक्ति स्वाभाविक शांति में रहता है। और जैसे ही संकल्प उठा नही कि स्वाभाविक शांति भंग हो जाती है और स्व से भिन्न जगत् की वस्तुओं के लिए, व्यक्तियों के लिए, परिस्थितियों के लिए वह चलायमान हो जाता है। तो संकल्प किसको कहते हैं, जो आपको शांति से भटका दे। संकल्प किसको कहते हैं? जो आपको बाह्य जगत् में प्रवृत्त करा दे। संकल्प किसको कहते हैं जो पूर्ति में सुख का भास पैदा करे और अपूर्ति में दुःख, क्रोध और क्षोभ पैदा करे। उस संकल्प की निवृत्ति जीवन की माँग होती है, शान्ति की माँग होती है, वह नया संकल्प नहीं होता। देहात्म-भाव रखते क्या संकल्प-रहित होना सम्भव है? हाँ सम्भव है इस प्रकार से कि जैसे हम लोग हैं और अभी शरीर का भास हमारा खत्म नहीं हुआ है लेकिन हम लोग शांति की माँग अनुभव करते हैं, अविनाशी जीवन की माँग अनुभव करते हैं। परमात्मा के प्रेम की अभिलाषा लेकन के इस दुनिया में हम लोगों ने सत्संग पसन्द किया है। तो देह का भास मिटा तो नहीं है? लेकिन देह के रहते-रहते और शरीर के साथ मिलकर सत्य की चर्चा करने के लिए हम बैठे हैं तो शरीर की सहायता लेकर मैं बोल रही हूँ, और हमारे भाई-बहन आप सभी शरीर की सहायता लेकर सुन रहे हैं। शरीर के बिना तो बोलना, सुनना सम्भव नहीं है। यह शरीर के सहयोग से यह कार्य सम्पादित हो रहा है, फिर भी हमारे जीवन में चिर शान्ति की माँग है।

जन्म-मरण की बाध्यता मिट जाए, परम स्वाधीनता की माँग है। और परम पे्रमास्पद के प्रेम से हम अधीर हो जाएँ, ऐसी हमारी माँग है। और इस माँग की जागृति में शरीर का भास रहते हुए भी निःसंकल्पता की साधना साधक जन करते हैं और निःसंकल्पता उनकी आती है। दक्षिण वाले स्वामी रामदास जी के जीवन में इस तरह की बात साधना के प्रारम्भ में ही आयी थी। जब उन्होंने

निश्चय किया कि राम के होकर रहना है, तो घर से निकलकर जाकर कहीं बैठ गए।

तो किसी ने कहा वहाँ चलोगे? अच्छा राम जी। अब उतर जाओ, अच्छा राम जी। अब यह भोजन ले लो, अच्छा राम जी। तो उनके 'क्रेस्ट फा ॅर टुथ' इंगलिश में किताब है, कई वोल्यूम्स है छोटे-छोटे। बहुत ही अच्छी इंगलिश, बहुत रसदार भाषा क्योंकि उसमें हृदय का रस भरा हुआ है। उसमें लिखा है कि कहाँ वे जाते थे। तो रेलवे लाइन के किनारे-किनारे एक बुढ़िया बैठी रहती थी, वह देखती रहती थी तो चलते-चलते पाँव में चोट लग गयी है, बिवाई फट गयी है, कहीं मैल जम गया है, कहीं खून लग गया है शरीर पर। कैसा-कैसा बिना स्नान के हो रहा है। वह बुढ़िया माई जाकर बच्चे की तरह बाँह पकड़कर खींच कर ले आती बाबा,

इधर आ, कहके ले आती और सड़क के किनारे म्युनसिपैलेटी का जो होता है पानी का नल, उसके नीचे बैठा देती। बाबा, मैं नहला देती हूँ, नहा ले यहाँ बैठ, अच्छा राम जी खूब मल-मल करके नहला कर फिर कपड़े धो देती, फिर वह भुजा, भूने हुए अनाज की छोटी सी टोकरी लेकर बैठती थी एक बुढ़िया बेचने के लिए, उसके पास ले आकर बैठा लेती, जो उसके पास होता खिला देती और लिखा है उसमें कि राम खिल-खिलाकर हँसता रहता। अच्छा मैया कर ले, अपने मन की भी कर ले। करते-करते राम हँसता रहता, बैठा रहता, नहा लेता, खा लेता। मैया कर दे ेती, भेज देती, चला जाता। अच्छा राम जी अच्छा राम जी। स्वामी जी महाराज कहते कि थर्ड क्लास में टे ैन में बैठे थे तो एक कॉंस्टेबल आया, उसको सोने का मन हुआ तो स्वामी रामदास जी बैठे हुए थे, उसने कहा कि बाबा तू इधर से उतर जा नीचे बैठ, मैं सोऊँगा। अच्छा राम जी। तो नीचे बैठ गए, लेटने लगा तो उसके सिर पर पुलिस की लाल पगड़ी होती है, उसने सोचा कि बाबा बेकार बैठा है, इसी को पकड़ा दे हम जरा सा ठीक तरह से सो जाएँ, पगड़ी उतार के उसने कहा बाबा इसको रखे रहना हम थोड़ा सोते हैं। अच्छा राम जी, रख लिया उसको, रखे रहे, गोदी में लेकर बैठे रहे, वह सोया रहा, सोकर के जब वह उठा, बाबा, ला पगड़ी, अच्छा राम जी। दे दिया लेकर चला गया।

महाराज कहते उन्हीं स्वामी रामदास जी के लिए। स्वामी जी से कई बार भेंट मुलाकात हुई है, और खूब प्यार है दोनों में आपस में स्वामी रामदास जी का और अपने महाराज जी का। तो कहते हैं कि वे ही स्वामी रामदास जी उनको पाँच

साधकों के साथ संसार में भ्रमण करने के लिए हवाई जहाज का इन्तजाम सरकार ने किया आगे चल करके और उन्होंने सबको सुनाया, समझाया, बताया।

प्रारम्भिक दिनों की बात मैं कहती हूँ कि देह का भास रहते हुए भी संकल्प-रहित होने का व्रत मनुष्य लेता है और कल संध्या समय की बैठक में जैसे मैंने सुनाया कि स्वामी जी महाराज ने हम लोगों को एक मन्त्र बता दिया। प्रारम्भ कहाँ से करोगे? तो अपने सुख वाला संकल्प हो तो वहाँ से छोड़ते जाओ। छोड़ना तो अपने वश में है ना? पैदा तो हुआ इसलिए कि अभी हम लोगों को शरीर का भास है, लेकिन उसको छोड़ना अपने वश की बात है, तो छोड़ दो। और अगर सर्वहितकारी संकल्प हो तो उसको पूरा करने में ताकत लगा दो। हो जाए तो ठीक है, न हो जाए तो ठीक है।

भगवत् समर्पण भाव के साधक हो तो जिन-जिन बातों की परिस्थिति जुटती जाए, प्रभु के

मंगलमय विधान को मान करके उसमें समय, शक्ति लगा दो। और पूरा हो जाए तो ठीक, नहीं हो जाए तो ठीक। बन जाए तो ठीक, बिगड़ जाए तो ठीक। ईसा मसीह कहते थे ना, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। यह अनुवाद मुझको अच्छा नहीं लगता है लेकिन अँग्रेजी में उसका बहुत अच्छा भाव है कि जो प्रभु का संकल्प है सो पूरा हो।

स्वामी जी महाराज ऐसे कहते कि ईश्वर-विश्वासी ऐसे ही कहते हैं कि उनके भीतर कोई संकल्प बना भी सर्वहितकारी भाव से, तो उसको भगवत् संकल्प में मिलाकर छोड़ देते हैं। अपने को तो मालूम नहीं है कि मेरे भीतर जो संकल्प आया है वह सचमुच हितकारी होगा, सिद्ध होगा कि नहीं होगा, पूरा होगा कि नहीं होगा। हम लोगों को क्या पता है? ईश्वर विश्वासी साधकों को सलाह दी महाराज जी ने कि अगर कोई ऐसा सर्वहितकारी संकल्प उठे, तो प्रभु के संकल्प में मिलाकर उसे छोड़ देना कि अगर यह भगवत् संकल्प के अनुरूप है, तो पूरा हो जाए। तो तुम्हारी सामर्थ्य अल्प हो सकती है और जब भगवत् संकल्प में उसको मिलाओगे तो प्रभु के संकल्प से बहुत से सामर्थ्यवान आकर के तुम्हारे साथ जुट जाएँगे और वह काम पूरा हो जाएगा तो हो गया तो प्रभु की शक्ति से हो गया और नहीं हुआ तो साधक क्या समझेगा? साधक यही समझेगा कि यह संकल्प पूरा होना जरूरी नहीं था, इसलिए नहीं हुआ तो दोनों ही दशाओं में न अभिमान आएगा न क्षोभ आएगा, अगर पूरा हो गया तो यह तो मेरे मालिक के संकल्प के अनुरूप था, भगवान के संकल्प में मिला करके न मैंने उसको किया तो भगवत् संकल्प से यह पूरा हुआ।

भगवत् शक्ति से यह पूरा हुआ, तो साधक को अभिमान नहीं आएगा कि मैंने बड़ा भारी काम किया, और अगर पूरा नहीं हुआ तो उसमें कोई क्षोभ नहीं होगा। मानेगा कि जरूर यह बात ठीक नहीं थी, उसका पूरा होना जरूरी नहीं था, इसलिए पूरा नहीं हुआ होगा, और नहीं तो भगवत् संकल्प में मिल करके ये जरूर पूरा हो जाता। तो ऐसे क्रमिक ढंग से साधना के रूप में आगे बढ़ते-बढ़ते निःसंकल्पता की स्थिति आ जाती है। निःसंकल्पता जो है वह अविनाशी जीवन में प्रवेश पाने का एक संधिस्थल है। ऐसा जैसा कि इधर का सब छूटा और उधर का आरम्भ हुआ।

तो संकल्प-सहित में हूँ तो मेरे सामने संसार है, साधन है, व्यक्ति है, परिस्थिति है, अनुकूलता है, प्रतिकूलता है, समर्थक हैं, विरोधी हैं, दुःख है, और सुख है। यह कब है जब मैं अपने संकल्प के साथ हूँ तब है। और फिर अब साधना की बात शुरू हो गयी, सत्संग का प्रकाश लेकर चलना आरम्भ हो गया तो अपने लिए कुछ नहीं करना है। अपना कोई संकल्प ही नहीं है। लेकिन शरीर है, समाज है, राग-निवृत्ति का साधन बाकी है, तो सामूहिक हित की दृष्टि से कोई बात भीतर उठ रही है कि अगर ऐसा हो तो सबका हित हो, अब उस संकल्प को लेकर के चलेंगे। जो सामर्थ्य होगी, जो समय होगा उसको लगा देंगे। पूरी शक्ति से, ईमानदारी से कर देंगे।

अब उसका फल जो बनना है बने लेकिन कर्त्ता जो है वह करने के राग से फ्री होकर के निःसंकल्पता की शांति में निवास करेगा। इसलिए मानव सेवा संघ में महाराज जी ने प्रारम्भिक साधकों के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को समान महत्त्व दिया। ऐसा होते-होते जब व्यक्ति राग-रहित हो जाएगा तो शरीर रहेगा और संकल्प नहीं रहेगा।

शरीर से प्रवृत्ति होगी और शरीरधारी उसमें प्रवृत्ति के प्रभाव से आक्रान्त नहीं होगा। ऐसा चलता है और फिर आगे बढ़ जाता है। और शांति और गहरी हो जाती है। तब क्या होता है? तब सही काम करने के बाद मूक सत्संग में आते ही, निवृत्ति में आते ही शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। तादात्म्य छूट जाता है तो अविनाशी जीवन के बोध का आनन्द रह जाता है।

अलग-अलग साधकों से मैंने अलग-अलग ढंग के अनुभव सुने। किसी-किसी ने तो बताया कि बहुत-बहुत दिनों तक उस देहातीत जीवन के आनन्द की मस्ती में रह गए। आनन्दमयी माता जी के मुख से मैंने सुना था, भक्तों की कही हुई बात, अपने मुख से वे कह रही थी। साधु लोग बैठे थे और मैं बाहर बैठ करके सुन रही थी। स्वामीजी महाराज से आज्ञा लेकर के दो चार लड़कियाँ जो उन दिनों में हमारी साथ थीं, इन लोगों में से कोई नहीं थी, दूसरी-दूसरी लड़कियाँ थी, गीता-भवन में। तो मैंने कहा कि स्वामी जी महाराज हम माँ के दर्शन करने जाएँ इन सब लड़कियों को लेकर तो उन्होंने कहा जाओ। जलोटे परिवार की दो लड़कियाँ थी और शांता जी की दो लड़कियाँ थी। और कोई भी आयी हुई थी बाहर से? उन्हीं को लेकर गयी। तो माँ जहाँ बैठी थी बहुत साधु लोग बैठे थे, तो हम लोग भीतर नहीं घुसे परमीशन लेने की भी हिम्मत नहीं। तो चैखट के बाहर हम लोग बैठ गए हमने कहा कि यहाँ बैठो यहाँ से दर्शन भी हो रहा है, बात भी सुन रहे हैं। तो माताजी खुद ही अपने मुख से साधु लोगों से बातचीत कर रही थीं और सुन रही थी। तो देहातीत जीवन का आनन्द सुना रही थी। तो कह रही थी कि नौ वर्षों तक अपने को पता ही नहीं चला कि कहाँ शरीर है कहाँ संसार। देहातीत जीवन के आनन्द में संकल्प, विकल्प निर्विकल्प सबके पार पहुँच गयी। बताएँ कि भूख का भी पता न चले, नींद का भी पता न चले।

तो किसी ने कहा कि कैसेे हुआ फिर? तो बता रही थी बिल्कुल सहज भाव से एकदम सरल बालक की तरह वर्णन कर रही थी, कह रही थी कि किसी को खाते हुए जब मैं देखती, यह श्रीर देखता ऐसा करके कह रही थीं, मैं करके नहीं, किसी को भोजन करते हुए देखता तो ऐसा लगता कि 'सुन्दर लागचे', बँगला भाषा में बोलती कि कितना सुन्दर लग रहा है? ऐसा होता और कभी-कभी कहती कि यह शरीर ऐसे ही उठ करके चला जाता भोजन के पास तो कुत्ता खा रहा हो पत्तल में चाट रहा हो कि कोई बच्चा खा रहा हो, कि कोई व्यक्ति खा रहा हो तो देख के ऐसा लगता है कि कितना सुन्दर लग रहा है। अच्छा लग रहा है देखने में। और अपने पति का नाम लेकर के शरीर धारी पुरुष से विवाह भी हुआ था। तो आनन्मयी माता जी उनको भोलानाथ कहती थी तो वे बँगला भाषा में साधु लोगों को सुना रही थी कि दौड़-दौड़ करके मैं कभी इधर, कभी उधर जाती तो 'भोलानाथ' आम दौरे-दौरे राखचे' ऐसा बोलती कि भोलानाथ हमको पकड़-पकड़ के सँभाल के रखते। वे रक्षा में रहते थे। तब इनको नौ वर्ष की अवधि उस देहातीत जीवन के आनन्द में बीत गई। जबकि कहाँ शरीर है, कहाँ संसार है, कहाँ भूख प्यास है, कहाँ जल भोजन है? कुछ पता नहीं चला। और नौ वर्ष के बाद भी

धीरे-धीरे बीच-बीच में स्व स्थिति उनकी शरीर के साथ जुट करके बातचीत करने के लायक हुई थी, तो कभी भी वे निरन्तर शरीर के साथ रहती नहीं थी।

बात करते-करते भी पार, सभा में बैठे-बैठे भी पार। अपने ही आप अपने आनन्द में डूबी ही रहती थी। और भागवत्-कृपा रही होगी, ईश्वर का विधान रहा होगा कि हम लोगों के बीच में इस प्रकार के संत रहे और अपनी कृपा से अपने जीवन के सत्य से लोगों को लाभान्वित किया। इसलिए उनका समय-समय पर शरीर से तादात्म्य रख करके काम कर लेना, बात कर लेना यह सब चलता था, लेकिन उस अनुभव के बाद आखिर समय तक आनन्दमयी माताजी में भोजन का ग्रास अपने हाथ से मुख में उठाकर नहीं डाला।

नौ वर्ष के बीच में जिन-जिन माताओं ने बहनों ने उनके शरीर को सँभाला, आखिर समय तक यह ही क्रिया चलती रही। कोई नहला देती, कोई कपड़े पहना देती, कोई बाल बना देती, कोई मुख में खिला देतीं, कोई जल पिला देती, यह अन्त समय तक चला। अपने से ग्रास उठा के मुख में डाला ही नहीं। भीतर की और अनुभूतियाँ कैसी थीं वह तो मैं नही जानती, लेकिन मैं इस बात की सत्यता में पूरा विश्वास करती हूँ कि साधक यदि स्व स्वरूप में स्थित होना चाहे तो अथवा परम प्रेमास्पद प्रभु के हर प्रकार से आश्रित होकर उनके प्रेम स्वरूप से अभिन्न होना चाहे तो, उसके लिए अनिवार्य फेक्टर है कि वह निःसंकल्पता को धारण करे।

शरीर के रहते-रहते समाज का काम करते-करते इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा और उस निज स्वरूप पर दृष्टि जिसकी लग जाएगी, वह लक्ष्य के रूप में आ जाएगा अथवा वह परम प्रेमास्पद प्रभु जिसको पसंद आ जाएगा उसका अपना व्यक्तिगत संकल्प पहले खत्म हो जाएगा। फिर सेवा का संकल्प रह जाएगा तो करते-करते उसकी शुद्धि हो जाएगी तो वह भी संकल्प खत्म हो जाएगा। मैंने तो ऐसा ही समझा है।

मैं क्या बताऊँ जो संत-कृपा से भगवत्-कृपा से, जीवन के मंगलमय विधान से बड़ी बढ़िया-बढ़िया बातें मेरी दृष्टि में आ गयीं। मेरी साधना के बल पर नहीं, मेरे त्याग और तप के बल पर नहीं। यह सब पूँजी अपने पास कुछ भी नहीं थी और न मैं अर्जन कर सकी। लेकिन संत-कृपा और भगवत्-कृपा और उस समय की पृष्ठभूमि मेरी जैसी थी, हर बात को तर्क पर लगाना, हर बात को वैज्ञानिक ढंग से समझना तो एक भाषा बना ली मैंने अपने लिए। तो तीन बातों का प्रयोग करती हूँ—पहली बात है संत-कृपा क्योंकि पहली बार मुझे स्वाजी जी महाराज की कृपा का ही दर्शन हुआ। तो पहली बात है—संत-कृपा और दूसरी बात है, भगवत्-कृपा और तीसरी बात है जीवन का मंगलमय विधान। यह जीवन का बड़ा ही मंगलकारी विधान है जो सबके साथ काम करता है। तो उसके आधार पर मैंने ऐसा अनुभव किया कि शरीर से सम्बन्ध रखते हुए और जगत् से सम्बन्ध रखते हुए अशुभ संकल्पों का त्याग करना सम्भव है? जी, सम्भव है। शरीर और संसार से

सम्बन्ध रखते हुए अशुभ संकल्पों का त्याग सम्भव है, कि नहीं? है।

भई ऐसी बुराई नहीं करेंगे, ऐसी गलती नहीं करेंगे किसी को नुकसान नहीं पहुँचाएंगे किसी का बुरा नहीं सोचेंगे। अशुभ संकल्पों का त्याग तो सम्भव है। तो अशुभ संकल्पों का त्याग करते हुए और सर्वहितकारी भाव से सेवा-भाव से शुभ संकल्पों को पूरा करते हुए जैसे-जैसे व्यक्ति आगे बढ़ता है तो मान लो कि उसका प्रयास पूरा नहीं हुआ। देह का अभिमान पूरा कर पूरा गल गया हो, ऐसा शुरू में तो नहीं होता हैं, सबके साथ

नहीं होता है। तो अपने लोगों की दशा सामने रखकर देखिए कि हम लोग इसी कोटि के साधक हैं कि देश का आभास अपने को है और शरीर संसार से सम्बन्ध रखते हुए, साधना के बल पर हम लोग अलौकिक परमात्मा से मिलना चाहते हैं कि नहीं चाहते हैं? चाहते हैं।

यह अपनी दशा है हम लोगों की। अब ऐसी दशा में जो आरम्भ कर रहा है यात्रा, वह कैसे करेगा क्या करेगा ऐसा सोचने से व्रत सुनाए देते है।। स्वामी जी महाराज कहते हैं मेरा कुछ नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिए। सर्वसमर्थ प्रभु अपने हैं। ये सत्य हैं इनको स्वीकार करो।

हम लोगों ने इस सत्य के इन वाक्यों में संदेह तो नहीं किया। संत की वाणी में पूरा पक्का विश्वास है, कि महाराज जी जो कह रहे हैं वह बिल्कुल ठीक है। और सन्देह न करने पर भी पूरा-पूरा इसको मान लिया, ऐसा भी कहते नहीं बनता है। जी? नहीं बनता है। कुछ-कुछ तो अभी है कच्चापन। नहीं तो बोलने की कौन जरूरत पड़ती। कबीर की तरह हम भी मस्त होते-कहते कि —"मन मस्त हुआ तक क्यों बोले।" आप कहते कि सुनाओं तो हम कहते कि नहीं सुना सकते हैं, सुनाने की सिथति में मैं नहीं हूँ। शरीर से मेरा तादात्म्य नहीं है नहीं सुना सकते। सुनाने की स्थिति में मैं हूँ, और सुनाने की परिस्थिति बनी हुई है इसका मतलब है कि कच्चापन है पूरा नहीं हुआ अब उस दशा में क्या करें? तो उस दशा में मैं यह निवेदन कर रही थी कि इसी प्रकार की कच्ची दशा मैं स्वामी जी महाराज के पास बैठे-बैठे संकल्पों से अतीत, शरीर और संसार में अतीत कैसा यह जीवन होता है और किस प्रकार की वह अनुभूति होती है। सो समय-समय पर अपने आप अप्रयास सहज भाव से आता रहता है, आता रहता है, मिलता रहता है, देखते रहते हैं।

नहीं तो सोचिए अगर सिद्धि-काल तक मुझे डार्क में ही रहना पड़े कि अविनाशी जीवन कैसा होता है और करुणामय प्रभु की कृपालुता कैसी होती है और उनके प्रेम की मधुरता कैसी होती है। इन सब बातों के प्रति अगर आखिर पॉइन्ट तक आदमी को अनजान ही रहना पड़े तो बड़ी बहादुरी की बात होगी कि वह आखिर तक कन्टीन्यू करेगां तो ऐसा नहीं होता। होता क्या है? कि रास्ते में मैंने देखा है। साधन-काल के बीच में ये बातें होती हैं। क्या होता है कि सत्य जिनके जीवन में अभिव्यक्त हो गया ऐसे अनुभव संत के पास बैठो तो पता नहीं कब कैसे या तो अपने भीतर अपनी असमर्थता की ग्लानि में अहम् का अभिमान गल गया है या उनके जीवन का जो सत्य है वह अपने को प्रभावित कर देता है और उतनी देर के लिए हम उस वास्तविक जीवन का आनन्द ले लेते हैं। होता है ऐसा। अनेकों साधकों के मुख से मैंने सुना है और स्वयं भी अनेक बार ऐसा पाया है। तो उस आधारपर मैं निवेदन कर रही थी कि वास्तविक जीवन क्या है? जीवन का सत्य क्या है? उसका आनन्द कैसा है? इसकी झलक अगर अपने को मिल गयी तो वह ही एक सम्बल होता है कि बीच के रास्त में विविध प्रकार के समाज के बीच रहते हुए और अनेक स्वभाव के लोग, अनेक स्तर के लोग, अनेक प्रकार के कौम्पलीकेशन पैदा करने वाले लोग उन सारे उलझनों के रहते हुए भी साधक अपनी साधना से डगमगाता नहीं है। बड़ी जोरदार जबरदस्त चीज है। यही बात अपने लिए अपने सहारे के रूप में मिल गयी मुझे, प्रारभिक दिनों में ही, साधक का आरम्भ ही हुआ था, सत्संग का आरम्भ ही हुआ था।

दो चार साल बीते तो कुछ मिल गया, दो चार साल बीते तो और कुछ मिल गया, दो चार साल बीते तो कुछ और मिल गया। पुराने संस्कार खत्म नहंी हुए इसलिए रह रहकरर फिर संसार और शरीर से सम्बन्ध जोड़-जोड़ करके साधन रूपी प्रवृत्तियों में शामिल होना अभी भी चल रहा है। खत्म नहीं हुआ लेकिन कितनी ही कठिनाई आ जाए कितने उलझनों के समूह में पड़ करके मैं उलझ जाऊँ और कितनी भी प्रतिकूलता सामने आ जाए। उस पर से दृष्टि नहीं हटती तो न डर लगता है, न घबराहट होती है, न छोड़कर भागने को कोई पॉइन्ट आता है। कुछ नहीं यह, सारी हल-चल है, यह सारी उथल-पुथल है।

अब क्या जाने मेरे ही चित्त को शुद्ध करने के लिए इतनी प्रकार की प्रतिकूलताएँ, इतनी जटिलताएँ आ गयी हैं। तो थोड़ा धीरज रखो, धीरज रखो वह तो है ना। कोई बात नहीं, सामने काँटों का जाल बुन गया। सामने घोर विरोध दिखाई दे रहा है फिर ँभी लगता है क्या जाने हमारी ही शुद्धि के लिए आया होगा क्या जाने कौन कैसे कर रहा है? वह तो है ना? तो असली चीज तो वही है, तो यह सब क्या है? यह सब तो भाई बहुत नीचे स्तर की चर्चा मैं करती हूँ। तो साथ में रहने वाले साधको साधिकाओं से बात करती हूँ तो कोई कहता है बाबा बड़ा झंझट है, भाई बड़ा कठिन है। ऐसे-ऐसे लोगों के साथ निभाना बहुत मुश्किल है। तो जब इस तरह की आवाज कान में सुनायी देती है तो मैं कहती—अच्छा एक बात सुनो जन्म-मरण का प्रश्न तुमने हल नहीं किया तो जन्म-मरण का क्रम बना हुआ है तो वह झंझट नहीं है? जी? है ना? तो हम कहते हैं कि दूसरों पर दृष्टि जाती है, दूसरे-दूसरे लोग ऐसा कठिनन बना देते हैं, जटिल बना देते हैं। बड़ा कठिन है लोगों के बीच निभाना। तो लोगों के बीच निभना बड़ा कठिन है तो बार-बार जन्म लेना, बार-बार मरना कठिन नहीं है? जी! तो बार-बार जन्म लेना बार-बार मरना इस क्रम को मिटाने में स्वाधीन हो कि अपने डियजन की सृष्टि बनाने में स्वाधीन हो? बताओ! जब लोग बहुत घबराते हैं, साध्वी जी को भी मैंने बहुत बार सुनाया है, कि रानी देखो तुम्हारे डिजायन की सृष्टि बनेगी नहीं।

तुम चाँय-चाँय माँय-माँय करती रहो, शोरगुल मचाती रहो, अपने को बिगाड़ती रहो हवा को क्षुब्ध करती रहो तुम्हारे डिजायन की सृष्टि बनेगी नहीं। नहीं बनेगी ना। न ही बननी चाहिए और जैसी बनी है, वैसी क्यों बनी है? इसका भी बड़ा भारी विज्ञान है, बड़ा भारी विधान है। मुझको तो कहाँ-कहाँ तक अभी सूझ रहा है, लेकिन सारी बातें एक बैठक में पूरी नहीं होगी, इसलिए उस डिटेल में मैं नही जाऊँगी। डटी रहूँगी अपनी जगह पर। और क्या है कि देखो भाई बड़ी विचित्र बात है, आज सबेरे शांति-काल में मुझे बड़ा बढ़िया सा सब दिख रहा था। क्या दिख रहा था कि कहाँ-कहाँ मैंने पढ़ा है, बहुत सुन्दर-सुन्दर "सत्य लोक नारद चले करत राम गुन गान।" तो पहले में पढ़ती थी तो सोचती थी कि पता नहीं वह कैसा होता होगा। क्या होता होगा? लेकिन भाई साधकों और संतों के जीवन के निकट से अनुभव पाने में मुझको साफ दिखाई देता है कि इस छोटी सी आकृति के साथ अपने को जोड़ करके और इसका मोह लेकर के और एक सीमित व्यक्तित्व का अभिमान लेकर के क्या कूड़ा कचरा अपने चारों ओर इक्ट्ठा कर लिया और उसी में उलझे हैं। उसी में मरे जा रहे हैं, पचे जा रहे हैं।

कभी अभिमान से बीमार हो गए कभी दीनता से बीमार हो गए कभी हार में पागल हो

गए, कभी जीत में पागल हो गए। क्या दुर्दशा हो रही है यह। तो यह क्याहै? यह तो सारा भ्रम का जाल है, से सेन्ट परसेन्ट इल्यूजनन ही इल्यूजनन है और कहीं तो इल्यूजन ही नहीं है कोरा हैल्यूसिलेशन है। इल्यूजन करते हैं कि वस्तु जैसी हो वैसी न दिख उससे कुछ भिन्न दिखायी दे, वह इल्यूजन कहलाता है और वस्तु हो ही नहीं और अपने को दिखे तो हैल्यूसिलेशन कहलाता है।

तो इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि-दृष्टि में जितना जो कुछ सुनने, समझने, दिखने में आ रहा है तो सैन्ट परसैन्ट इल्यूजन हैल्यूसिलेशन है। जीवन को जो सत्य है जिसमें कि दुःख नहीं है, अभाव नहीं है, शरीर और संसार का स्पर्श नहीं है, नीरसता का नाम नहीं है, मृत्यु का नाम नहीं है वह दिव्य लोक न जाने कितना विस्तृत है कितना विस्तृत है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। तो हम लोग तो एक छोटे से गूलर के फल में पैदा होने वाले जीने वाले, मरने वाले कीड़े के समान एक ब्रह्माण्ड के भीतर खुदबुद-खुदबुद कर रहे हैं। और सोच रहे हैं बड़ी भारी बात है।

यह सब कुछ नहीं है भाई। शरीर और संसार का सम्बन्ध मिटा नहीं कि बिल्कुल सिनेमा के चित्रपट बदलने की तरह आपकी आँखों के आगे देखते-देखते अभी एक नगर का दृश्य देख रहे थे, वह हुआ वह हुआ, यह हुआ देखते-देखते उसे कन्टीन्यूएशन में पर्दे पर एक दूसरा उसी प्रोजेक्शन पर एक दूसरा सीन आ गया तो दिखाई दे रहा है, हरा भरा जंगल है, नदी बह रही है, यह हो रहा है, यह हो रहा है। देखते-देखते जैसे वह पट बदल जाता है, ऐसे ही देखते-देखते इस शरीर और संसार के सम्बनघ का जो दृश्य है वह यों गायब हो जाता है कि जैसे वह कभी था ही नहीं। यह मैं सिद्ध-जीवन की बात नहीं कर रही हूँ यह मैं साधन-काल की बात कह रही हूँ। और यह मैं साधक के जप-तप का परिणाम नहीं कर रही हूँ, यह अनुभवी संत के पास बैठने का प्रभाव कह रही हूँ। होता है ऐसा।

तो पहले उन सब बातों पर विश्वास जमाने को कौन कहे। कहाँ थी मैं? इस जीवन की मिट्टी में, धूल में, कीचड़ में, सना हुआ, फँसा हुआ। और संत की कृपा से उनकी कृपा दृष्टि से उनके हृदय की करुणा से, क्या जानेन कितने जन्मों तक साधन करने क बाद ये सब चीजें मिलती जो कि उनके पास बैठने में प्रारम्भिक काल में यह सब हो गया। बड़ा जोरदार सम्बल हो गया। होता है ऐसा, सम्भव है ऐसा और सोचने से किसी-किसी समय इतना आनन्द आता है। मैं कहती हूँ कि सत्य क्या है? वह जीवन क्या है? जीवन की सच्चाई जोकि कभी मिटेगी नहीं सदैव रहेगी वह क्या है? और इन आँखों से तादात्म्य जोड़ करके मैं देख क्या रही हूँ? कहाँ फँसे हैं? क्या दुर्दशा हो गयी है।

छोटी-छोटी सी बात के लिए सत्य से विचलित हो जाना धर्म से विचलित हो जाना, साधन से खिसक जाना, स्टैण्ड से नीचे उतर जाना। और बड़े-बड़े बुद्धिमान बातचीत करते हैं तो कहते है कि हाँ बहन जी, बात तो ठीक है, लेकिन भाई आपको पता नहीं है, हम दुनिया के बाजार में रहते हैं। वहाँ जाकर देखो तो क्या हाल है? अरे क्या हाल है? बाबा क्या हाल है? दुनिया के बाजार को बनाए रखना कोई जीवन का लक्ष्य है क्या? जी? व्यवहार में प्रवेश करो तो आपको पता चले कि क्या हाल है? पुराने शरीर के सम्बन्ध से नाते रिश्ते लोग हैं और अगर उनके सामने कोई ज्ञान की बात कह दो, अपनी ओर से मैं कभी किसी को नहीं कहती हूँ। लेकिन जब आकर के वे लोग हमको

दुखड़ा सुनाने लगती हैं। बुआ की लड़कियाँ हैं, फुफेरी बहनें हैं पाँच हैं और भोजाइयाँ है। बहुत सम्बन्ध के रिश्तेदार तो होते ही हैं और ऐसे ही परिवार बहुत लम्बा चैड़ा था। तोा कोई कुछ आकर कहे, कोई कुछ आकर कहे और जब मैं सहज से कहती हूँ कि भई ऐसा करो। तो कहेगी हाँ तुम क्यों नहंी कहोगी तुमको क्या पता है? तुमने दुनिया बसा के देखा है क्या? तो दुनिया बसा के देखना जिन लोगों ने किया है? अरे मैंने इस जन्म में नहीं बसाया, कितने जन्मों में बसा के कितना दुःख पाया होगा कुछ ठिकाना है? लेकिन आप भाई-बहन जो बैठे हैं जिन्होंने घर गृहस्थी बसा कर देखा है। मैं पूछती हूँ कि जीवन का सार मिला उसमें? फिर उसी के लिए अपने को अटकाना और यह कहना कि भाई दुनिया के बाजार में चलो तो पता चले। संत कबीर को सूझा तो सबको ललकारने लगे।

"कबीरा खड़ा बाजार में, लिए लकुटिया हाथा

जो घर जारै आपना सो चले हुमारे साथ।"

चलो आओ! उजाड़ कर देखो तो पता चले कि क्या बात है। बहुत बड़ी बात है, बहुत बढ़िया बात है। किसी को नहीं डरना चाहिये। किसी को नहीं घबराना चाहिये। केवल हमारी बहादुरी से कुछ नहीं होता है। कितने जन्म हो गए रोग में, शोक में, वियोग में तड़पते हुए कोई एक बार का रोना थोड़े ही है। कितनी बार रो चुके हैं, प्रिय जनों के वियोग में। कोई पहली बार का काम यह थोड़े ही हो रहा है। बहुत बार हो चुका है। कितनी बार क्रोधित हुए, कितनी बार क्षुभित हुए, कितनी बार वियोग में पड़े। कितनी बार मर चुके कितनी बार पैदा हो चुके अब यही क्रम लगा रहेगा? इसी को चलाते रहोगे? इसी को निभाने के लिए उस वास्तविक जीवन के प्रकाश को, आनन्द की अनुभूति को छोड़ दोगे? बडत्री बुद्धिमानी है? कभी किसी साधक को हार नहीं मानना चाहिए। एक क्षण पहले तक अगर दस भूलें मैंने की और इस वर्तमान क्षण प्रभु की याद आ गयी, वास्तविक जीवन की याद आ गयी, उस दिव्य लोक के साम्राज्य की याद आ गयी, काम हो गया। कोई हमको ढोना ही थोड़े न पड़ेगा। अरे बिना भाई-बाप के हैं हम लोग? अनाथ हैं? कोई मालिक है कि नहीं है अपना? अनाथ नहीं है। जो है बड़ा सामर्थ्यवान है,जो है वह परम पवित्र है। उसके स्मरण मात्र से सब भूलें मिट सकती है। उसकी कृपा दृष्टि से पाप का पहाड़ गल सकता है। उसमें क्यों डरेंगे? अब शांत हो जाइए।

प्रवचन 8

उपस्थित महानुभव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनों ओर भाईयो!

हम सब लोग साधक के जीवन की समस्याओं पर विचार कर रहे हैं। दिखाई देने वाले जगत् के साथ हम क्या करें? सुने हुए प्रभु के साथ हम क्या करें? सुने हुए प्रभु के सम्बन्ध में अनुभवी संत की वाणी हम सुन रहे थे, उसमें उन्होंने यह बतायाकि नित्य विद्यमान परमात्मा के उपस्थित होने का जो आनन्द है और उसके प्रेम स्वरूप से अभिन्न होने की जो सरसता है, इसका अनुभव व्यक्ति को कैसे होगा? उत्तर बताया कि परमात्मा से अभिन्न होने का उपाय है—उनको अपना मानना।

हम सब लोगों ने भगवत-भक्ति के रूप में बहुत सुना है। कि भाई भजन करो, भजन करो, प्रभु का नाम लो, तो भजन शब्द का अर्थ महाराज

जी ने बताया-प्रियता, परमात्मा के प्रति हमारे हृदय में प्रियता हो, उस प्रियता को भजन कहते हळैं? मैंने ऐसा सुना कि भजन से भगवान को आनन्द मिलता है। भजन उसको कहते हैं जिससे कि जिसका भजन हम कर रहे हैं, वह आनन्दित हो, उसको प्रसन्नता मिले तो ऐसा भजन शारीरिक क्रियाओं के आधार पर नहीं होता है।

भजन का असली अर्थ बताया महाराज जी ने प्रियता। तो परमात्मा कैसे मुझको प्रिय लगे। प्रियता के भाव का अर्थ है भजन। प्रियता कैसे जगती है? अब अभी आप सोच करके देख लीजिए कि बहुत से लोग बैठे हैं। रेलवे स्टेशन पर, प्लेट फार्म पर और किसी जगह पर और किसी सभा-सम्मेलन में बहुत से लोग बैठे हों, उसके बीच में एक दो व्यक्ति ऐसे भी हों, जिनको कि आपने अपना माना है। थोड़ी-थोड़ी देर में ध्यान उन पर जाएगा जिनको कि आपने अपना माना है और उनकी उपस्थित से आपके भीतर एक प्रकार का हर्ष का संचार होता रहेगा कि जिनको आपने अपना माना है।

संसार के व्यक्तियों को अपना मानना यह नित्य सम्बन्ध नहीं है। परन्तु साधन रूप सम्बन्ध बना सकते हैं। आसक्ति पैदा करने वाली बात तो भूल है लेकिन माने हुए सम्बन्धियों के सम्बन्ध को साधन रूप बनाया जा सकता है, जिससे कि हम अपनी आसक्ति को मिटा सकें, अशुद्धि को मिटा सके। लेकिन यह माना हुआ सम्बन्ध जो है व्यक्तियों के साथ तो सदा के लिए निभने वाला नहीं है। थोड़े दिन के लिए संयोग बन गया वह बुद्धिमान लोग क्या करते हैं? कि थोड़े दिनों के लिए जिन व्यक्तियों से सम्बन्ध बन गया है, पता नहीं वह कब बिछुड़ जाए तो इस बीच में समझदार लोग उस माने हुए सम्बन्ध को साधन-रूप बनाकर जल्दी-जल्दी जो आदर, प्यार, सम्मान, सेवा, देने की है वह देकर के सम्बन्ध की आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं लेकिन वह सदा के लिए रहने वाला नहीं होता है। परमात्मा के साथ जो सम्बन्ध है वह मेरे मानने से बन जाता हो और न मानने से बिगड़ जाता हो, ऐसा नहीं होता। यह अन्तर है उसमें।

व्यक्तियों के साथ माना हुआ सम्बन्ध मानो तो बना रहेगा और मानना छोड़ दो तो बिगड़ जाएगा। ऐसा होता है। ऐसा इस जगत् में समाज में आपने अनेक बार देखा है। जब तक मानते रहो तब तक सम्बन्ध का प्रभाव रहता है और सम्बन्ध मानना छोड़ दो तो प्रभाव मिट जाता है। लेकिन मनुष्य के जीवन में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना और उनके साथ अपने आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करना ऐसा नहीं है कि मेरे मानने से बन जाता है और न मानने से बिगड़ जाता हो।

ऐसा नहीं है, कैसा है वह? कि उनकी ओर से मेरे साथ जो नित्य सम्बन्ध है वह तो कभी टूटता ही नहीं है। परमात्मा कभी किसी प्राणी को अपने से अलग करते ही नहीं है और हम लोगों को वे कभी भूलते ही नहीं है। तो वे सदा ही याद रखते हैं। वे सदा ही भीतर-बाहर विद्यमान रहते हैं। वे सदा ही हम लोगों को अपना करके मानते ही हैं, जानते ही हैं। अन्तर क्या होता है, अन्तर होता है मेरी ओर से। मैंने देह-बुद्धि से जीवन को देखा और जगत् के सम्पर्क से सुख भोगने में अपने को लगाया तो उस नित्य सम्बन्धी की ओर से विमुखता हो गयी। उसकी विस्मृति हो गयी मेरी ओर से। सत्संग के प्रभाव से संत की वाणी का आदर करके, वेद-वाक्यों को आदर करके, भागवत्, पुराण, रामायण, गीता आदि के वाक्यों

का आदर करके यदि मैंने परमात्मा को अपना करके स्वीकार किया तो इस सत्य की स्वीकृति के प्रभाव से हमारे अपने ही अहम् रूपी अणु में परिवर्तन आरम होता है।

आज की दशा कैसी है? तो आज की दशा ऐसी है कि आँखे खोलकर देखो तो विधि रूप जगत् दिखाई देता है। और आँखें बन्द कर लो तो घोर अंधकार हो जाता है। ठीक है। जी? यह दशा है आज की। लेकिन उस अविनाशी, अनादि, अनन्त, नित्य विद्यमान है, अनन्त माधुर्यवान परमात्मा को अपना मानो, तो अपन मानने ही से अपने ही में इतना परिवर्तन हो जाता है कि आँखें खोलकर देखों तो 'जित देखो तित तू ही तू'। जहाँ देखो वहाँ वही दिखाई देता है। जित देखो तित श्याममयी है। जहाँ देखे तहाँ वही दिखाई देता है। और आँखें बन्द करो तो भीतर भी वही विद्यमान है और खोल के देखो तो जगत् के विभिन्न रूपों में विभिन्न आकृतियों में सत्ता रूप से वह अपना प्रेमास्पद ही विद्यमान हे। ऐसा दिखने लग जाता है। बाहर से मुख मोड़ लो, अंतरमुख हो जाओ, आँखे बन्द कर लो, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ लो, शरीर और संसार से असंग हो जाओ, तो अपने में वह ही विद्यमान है, वह ही दिखता है। उसी का दर्शन होता है, उसी से मिलन होता है। उसी में अपना अहम् समाहित हो जाता है।

यह जीवन का सत्य है। प्रारम्भ में जब मुझे ईश्वरवाद की चर्चा सुनायी गयी और मनुष्य के जीवन में विकास के लिए, दुःखों की निवृत्ति के लिए यह एक अनिवार्य तत्त्व है, ऐसा मैंने सुना तो जैसी अपनी पुरानी आदत थी, वैज्ञानिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर इसकी व्याख्या मैं खोजने लगी कि जो दिखता है वह क्या है? जिसका आभास मिलता है वह क्याहै? जिसके आकर्षण में व्यक्ति सारी सृष्टि को धूल के समान नगण्य मानने लग जाता है वह क्या है? बहुत से प्रश्न पैदा हुए और मैंने खूब सोचा-विचारा और केवल सोचने-विचारने की बात नहीं है। संत ने उस सत्य से अभिन्न होने के लिए जो प्रयोग बताया उस प्रयोग को भी मैंने करना पसंद किया। करके देखो क्या होता है? क्योंकि जो स्थूल जगत् के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन किए जाते हैं, उनमें प्रयोंगे का बहुत महत्त्व बताया जाता है। भई जो भी प्रश्न तुम्हारे सामने हैं? उसका उत्तर जो तुम्हारे सामने आ रहा है, उसको करके देखो। सही निकले तो सही नहीं तो फिर दूसरा खोजना। तोा इस तरह की एक पृष्ठभूमि बनी हुई थी।

संत की वाणी को सुन करके सोचना-विचारना भी हुआ और उसमें से जो कुछ अपने प्रयोग में लेने के लायक हुआ, अपनी हैसियत के अनुसार तो प्रयोग करने का मौका भी आया उन सारी बातों के आधार पर आज अपने भाई-बहनांे के सामने बड़े ही दृढ़ विश्वास के साथ यह बात निवेदन कर रही हूँ मैं कि इसमें जरा भी संदेह नहीं रखना चाहिए। वर्तमान दशा को देखकर सत्य के परिणाम में अविश्वास नहीं करना चाहिए। वर्तमान दशा क्या है? तो वर्तमान दशा यह है कि बनने-बिगड़ने वाला संसार सत्य मालूम होता है, ठोस मालूम होता है, पकड़ में आने वाला मालूम होता है।

यह वर्तमान दशा है और नित्य विद्यमान परमात्मा अत्यन्त रहस्यमय मालूम होता है, छिपा हुआ मालूम होता है, और रह रहके उसके सम्बन्ध में संदेह भी उठता रहता है। क्या जाने है कि नहीं? क्या जाने किसी मिलता भी है कि नहीं है। यह वर्तमान दशा है। तो इस वर्तमान दशा को देख करके हम लोगों को संत की वाणी में संदेह नहीं

करना चाहिए। वेद के वाक्यों में संदेह नहीं करना चाहिए।

एक सज्जन एक बार बड़ी अच्छी बात कह रहे थे। मैं सुन रही थी, कहने लगे कि देखो तो भला अगर दुनिया में कोई बात पक्की करानी होती है तो पाँच पंचों को बैठा लिया जाता है। नगर के पाँच प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाकर बैठा लेते हैं और कहते हैं कि देखों पाँच पंच के सामने यह बात मैं स्वीकार करता हूँ। तो सब लोग मान लेते हैं कि यह आदमी अपने वचन पर दृढ़ रहेगा। क्योंकि उसने पाँच पंच के बीच में कह दिया है और सोचो तो भला! अठारह अक्षौहिणी सेना के लोग खड़े हैं। और उस बीच में खड़े होकर श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन से कह रहे हैं कि जो मेरी शरण में आ जाता है, उसके कुशल-क्षेम का मैं वहन करता हूँ। तो पाँच पंच के बीच में कही हुई बात आदमी नहीं बदलता है, तो बड़े जन समूह के बीच में कही हुई बात कृष्ण भगवान बदल देंगे? बहुत मजा आया सुनकर के बहुत अच्छा लगा, मैंने सोचा कि इस आदमी ने दलील तो अच्छी निकाली। सो नहीं बदल देंगे। उन्होंने मनुष्य के साथ अपना जो सम्बन्ध बताया है, उस पर वे अडिग रहते हैं। शरण में आए हुए के कुशल-क्षेम के वहन करने की प्रतिज्ञा उन्होंने जो मनुष्यों के प्रति की है, उसको वे कभी नहीं बदलते हैं, कभी नहीं छोड़ते हैं। अपने को भ्रम हो गया है तो भ्रम के समय में भ्रमित काल का जो अपना अनुभव है, उसके आधार पर सत्य में सन्देह कभी नहीं करना चाहिए। परमात्मा के सम्बन्ध में सन्देह कभी नहीं करना चाहिये।

गुरु की वाणी में सन्देह कभी नहीं करना चाहिए। वेद, पुराण, गीता, रामायण के वाक्यों में सन्देह कभी नहीं करना चाहिए। क्या करना होगा? आपज आप अपनी ओर देखते हैं तो शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसा क्यों लगता है अपने को? क्योंकि स्थूल स्तर से, इन्द्रिय-दृष्टि से जीवन को देख रहे हैं। तो इन्द्रिय-दृष्टि से देखेंगे तो स्थूल जगत् की दिखायी देगा और क्या दिखेगा? पाँचभौतिक तत्त्वों से बनी हुई इन्द्रियाँ हैं और पाँचभौतिक तत्त्वों से बना हुआ जगत् है। तो जिस जाति का जो औजार है, उससे वही दिखेगा।

भौतिक तत्त्वों से बनी हुई इन्द्रियों के द्वारा भौतिक तत्त्व का ही दर्शन होगा, अलौकिक का दर्शन नहीं होगा। तो आज अपनी दशा क्या है? तो आज अपनी ओर देखो तो मालूम होता है कि ठोस शरीर ही तो सत्य लगता है। कहाँ है परमात्मा, उसका तो हीं पता ही नहीं चला। तो इन्द्रिय-दृष्टि के स्तर से जीवन को देखना यह अधूरा देखना है। यह एक स्थूल-दृष्टिकोण है। इसके फैसले पर विश्वास मत करो इन्द्रिय-दृष्टि से देखे हुए को अन्तिम बात मत मानो। क्यों? क्योंकि जब इन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ लिया जाता है, स्थूल जगत् गायब हो जाता है। खत्म हो जाता है।

आँखें नहीं रही तो दृश्य जगत् गायब हो गया, कान में सुनने की शक्ति नहीं रही तो ध्वनि जगत् गायब हो गया, नाक में सूँघने की शक्ति नहीं रही तो गंध का अनुभव खत्म हो गया, चमड़े में स्पर्श करने की शक्ति नहीं रही तो उसकी सारी अनुभूतियाँ खत्म हो गयी। तो जो इन्द्रियों के स्तर पर आपको सत्य मालूम होता है, उसी पर विचार करेंगे तो बुद्धि के स्तर पर उसमें निरन्तर परिवर्तन दिखाई देगा। और इसी को देख करके, निर्माण में विनाश का दर्शन करके संत कबीर ने हम लोगों को सुनाया।

क्या सुनाया? उन्होंने कहा—

"हाड़ जले जैसे लाकड़ी, केस जले जैसे घास,

सब जग जलता देखकर, कबिरा भया उदास।"

यह कौन-सी दृष्टि है? तो यह इन्द्रियों के ऊपर की दृष्टि है। यह बुद्धि की दृष्टि है जिस दृष्टि से देखने पर सारे जगत् मे ंनिर्माण के साथ-साथ विनाश का क्रम दिखायी देता है। इसलिए मैं आप भाई-बहनों से निवेदन कर रही हूँ कि वर्तमान दशा में आपको इन्द्रिय-दृष्टि से जो कुछ दिखायी देता है, उसको अन्तिम फैसला मत मानिए। सत्य की स्वीकृति के प्रभाव के लिए आप उसका प्रयोग कीजिए। उस प्रयोग में क्या मिलेगा कि जिस दिन से आपने उत्पत्ति-विनाशयुक्त सृष्टि का सहारा अपने लिए छोड़ दिया, जिस दिन से आपने बिना देखे बिनाजाने परमात्मा को अपने जीवन का आश्रय बना लिया, उसी दिन से अहम् रूपी अणु में परिवर्तन मालूम होता है। उस परिवर्तन का यह परिणाम होगा कि आज संसार आपको जैसा दिख रहा है, आगे वैसा नहीं दिखेगा।

आज निर्माण और विनाश क्रम में सुख-बुद्धि और सद्बुद्धि बन गयी है, यह बदल जाएगी। इसमें सुख-बुद्धि नहीं रहेगी। फिर क्या होगा? किस जिस नित्य विद्यमान को, बिना देखे बिना जाने आपने अपना कहकर स्वीकार किया है, वह बिना देखा हुआ आगे चल करके देखा हुआ हो जाएगा। बिना जाना हुआ, आगे चल करके जाना हुआ हो जाएगा। और आज साधन के प्रारम्भ में जो अत्यन्त रहस्यमय मालूम होता है, वह इतना प्रत्यक्ष हो जाएगा और उसका प्रत्यक्ष होना, इतना व्यापक प्रभाव वाला होता है कि सिवाय उसके और दूसरा कोई दिखेगा ही नहीं। ऐसा होता है तो आप कहेंगे कि आज छिप क्यों गया? तो मैं कहूँगी कि वह छिपा नहीं है। स्वामी जी महाराज ने मेरे संदेह की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों को मेरे सामने रखा तो उन्होंने यह कहा कि तुम सोचो तो सही? कि एक सृष्टि की तो कौन कहे, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक अंश में है। आपने सुना है ना? जी सुना है। रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने लिखा है—

"दिखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड।

रोम-रोम प्रति लागे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड।।

एक-एक रोम पर करोड़ो ब्रह्माण्ड आश्रित है जिसके, वह छिपेगा कहाँ? सोचो? तो इतना विस्तार है, इतना विस्तार है कि जिसके एक अंश में कोटि-कोटि ब्रह्माण समा जाए, उस इतने विस्तृत, असीम, अनन्त, विशाल को तुम कहते हो कि छिप गया? कहाँ छिपेगा भाई? छोटा-सा हो, सृष्टि से छोटा होगा तो सृष्टि में छिपेगा।

जो इतना विशाल है, इतना विशाल है, असीम अनन्त है कि जिसके एक अंश में करोड़ों करोड़ों ब्रह्मांड समा जाएँ, उसके लिए हम सोचते हैं कि छिप गया तो वह कहाँ छिपेगा? छोटा है कि कहीं समा जायेगा? तो वह कहीं नहीं छिपता है, वह जहाँ के तहाँ ज्यों के त्यों अपने असीम, अनन्त अपनी महिमा में आप अभिभूत जैसे के तैसे विद्यमान है। उसके छिपने के लायक कोई जगत् है नहीं। उसको छिपाने के लायक उससे बड़ी वस्तु चाहिए जी! समझ में आता है? तो उससे बड़ा कुछ है क्या? नहीं है। इसलिए वह छिपेगा कहाँ? वह छिपा नहीं है। बड़ा दुःख होता है, मुझे जब कभी मैं सोचती हूँ कि हाय मैंने क्या किया? जीवन की अनमोल घड़ियों को कैसी दशा में बता दिया। बड़ा दुःख होता है सोचने से कि ऐसे अनन्त माधुर्य,

से अपनी मधुरिमा की गोद से किसी भी प्राणी को बाहर निकालते ही नहीं है।

छोटे से छोटे कीट पतंग भी उनके अनंत माधुर्य के भीतर समा जाते हैं। वे अपने प्रेम के रस से सबका पालन-पोषण करते हैं? सबको अपना करके जानते हैं। ऐसे के रहते हुए अगर अनाथ बन करके एक क्षण भी दुःख में बिताया तो वह क्षण मेरा बेकार गया। आज अगर प्रेम स्वरूप परमात्मा मेरे भीतर बाहर सक तरफ विद्यमान होकर अपने प्रेम-रस से मुझको सींचता हुआ मेरे अनुभव में नहीं आता है तो इसका अर्थ यह है मैंने अपनी आँखों पर जड़ता का पर्दा डाल दिया है। जड़ता का घोर अंधकार है। मेरे पास आँखंे ही नहीं है कि उस अनन्त, असीम, विशाल की उपस्थिति का अपने को पता चले। हृदय का दरवाजा मैंने बंद कर दिया है। इतनी संकीर्णता, इतनी स्वार्थपरता, भर ली है कि जिससे वह इतना कठोर हो गया कि उसमें प्रेमस्वरूप परमात्मा की ओर से जो प्रेम की लहरियाँ आ रही हैं, वे कारण हृदय की जड़ता और कठोरता उसमें उस प्रेम का स्पंदन हो ही नहीं रहा है। टकरा-टकरा करके वापस जा रही है, पे्रम की लहरियाँ। उधर से कोई कमी नहीं है। उधर से रस बरस रहा है।

यहाँ दरवाजा बन्द है। जड़ता की कठोरता की दिवाल सख्त होकर के हृदय को व्रज बना करके रखा है, तो यह मेरी भूल है। सुख-भोग की तृष्णाओं में हृदय की सारी कोमलता सूख गयी, सब सरसता सूख गयी। शुष्कता और कठोरता में वह सैन्सटिविटि नहीं है कि उधर से प्रेमस्वरूप की ओर से अनन्त कृपालु की ओर से जो प्रेम बरस रहा है, कृपा बरस रही है, उसके स्पर्श से इसके भीतर कोई स्पंदन पैदा हो गयी, ऐसी सैन्सटिविटी खत्म हो गयी। ऐसी संवेदनशीलता खत्म हो गयी। तब क्या हो रहा है? तो भीतर में शुष्कता, नीरसता, जड़ता कठोरता भरी है और उससे जब आदमी व्याकुल होता है तो बाहर-बाहर खोजता है, दौड़ता फिरता है संसार में। कौन मेरा आदर करे, कौन मुझको सन्मान पूर्वक शब्द सुनाए, कौन मुझसे मीठी बोली बोले, कौन मेरी सहायता करे, कौन मेरे सूखे जीवन को सरस बनाए।

जब मेरी समझ में यह बात आयी तो आँखों के सामने से अंधकार मिट गया। पर्दा जैसे हट गया। मैंने कहा कि यह तो बड़ी भारी भूल हो गयी। आँखों पर पट्टी बाँध लो, तो काला घना अंधकार और उसके बाद कहो कि सूर्य का तो प्रकाश ही नहीं है अंधकार है। तो इसमें यह बात नहीं है कि सूर्य छिप गया है। यह बात नहीं है, कि उसकी किरण लुप्त हो गयी। यह बात नहीं है कि उनका प्रकाश मिट गया। सो नहीं।

वे तो ज्यों के त्यों जैसे के तैसे, जहाँ के तहाँ विद्यमान ही हैं। और सदा-सदा के लिए रहने ही वाला है। संत की कृपा से जब अपनी आँखों से अविश्वास का पर्दा हट जाए, संदेह का पर्दा हट जाए, जड़जा की दीवार टूट जाए तो ज्यों का त्यों जहाँ के तहाँ विद्यमान उस अनन्त परमात्मा के दर्शन कर, उनके स्पर्श का, उनकी मधुरता का, उनकी सरसता का अनुभव आपको ऐसा सराबोर कर देगा कि उसके बाद अपनेपन का भी कोई भास शेष नहीं रहता है। यह है इस जीवन का रहस्य। आरम्भ कहाँ से करें? पिछली दो बैठकों में चर्चा हो रही है। आरम्भ कहाँ से करे? तो आरम्भ करने के लिए आप बिल्कुल निर्भय, निश्चित होकर के परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कीजिए। उनको अपना मानिए। सारी सृष्टि उनकी है, ऐसा जानिए उन्हीं की दी हुई शक्ति के द्वारा उन्हीं की

सृष्टि की सेवा में जो सहयोग लगा सकते हैं लगाइए और उसका अर्थ अपने लिए रखिए कि परम पे्रमास्पद प्रभु को प्रसन्नता होगी।

हमारे महाराज जी ने देह के अभिमान-काल में साधक के लिए बड़ी अच्छी साधना बतायी कि भाई देह का आभास तुम्हारा जब तक बना हुआ है, तब तक छोटा-सा छोटा कार्य करके तुम प्रभु की प्रसन्नता का अर्थ लेकर चलो तो देह की आसक्ति भी मिट लाएगी और उसकी प्रसन्नता जब तुम्हारे जीवन का स्पर्श करेगी तो तुम जहाँ हो वहीं पर उस अनन्त रहस्यमय का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाएगा, मिलना हो जाएगा, अभिन्नता हो जाएगी। सदा के लिए तुम और वे एक हो जाएँगे, ऐसा उन्होंने सुनाया। बहुत छोटी-छोटी बातों का उदाहरण महाराज जी कहते कि देखो अगर किसी को प्यास लगी है, और तुम्हारे हाथ में बल है अपने आस-पास में परिपाश्र्व में जल है, तो प्रेम पूर्वक प्रभु को अर्पण करने के समान आदर और प्रियता के भाव से प्यासे शरीर को एक गिलास जल अर्पण कर दो तो जल तो जाकर के उसके पेट की थैली में रह जाएगा, परन्तु तुमने जिस प्रेम से प्रभु की प्रियता के लिए जल पिलाया तो तुम्हारे हृदय का वह प्रेम-भाव भौतिक सीमाओं को तोड़ता हुआ, अलौकिक परमात्मा तक पहुँच जाएगा। उससे तुम्हारे चित्त में जो शुद्धि आएगी, उससे तुम्हारे हृदय में जो कोमलता आएगी, उस आधार पर तुम अनन्त परमात्मा के प्रेम के लहरियों का अनुभव कर सकोगे। तुम्हारे भीतर वह प्रेम-भाव स्पंदित होगा, उनके और तुम्हारे बीच की दूरी का नाश होगा। इतना महत्त्व है। इस प्रकार से भजन के तीन रूप बताए महाराज जी ने सेवा-त्याग और पे्रम। सेवा करते समय इस भाव से सेवा करो कि अनेक रूपों से मेरे प्यारे ही तो है। इसलिए उनकी सेवा में विद्यमान वर्तमान प्राप्त सामर्थ्य को लगाओ तो उसके अर्थ में इस बात का ध्यान रहे कि मेरी इस छोटी-सी सेवा के बदले में प्रभु को बड़ी से बड़ी प्रसन्नता होगी। वे आनन्दित होंगे कि उनकी सृष्टि में मैंने कुछ सेवा कार्य किया।

त्याग का अर्थ क्या है? कि जिस जगत् की सेवा करो उससे भी कुछ मत माँगो और जिस प्रभु के पे्रमी बनो, उससे भी कुछ मत माँगो तो त्याग हो गया और प्रभु को अपना मानने के फलस्वरूप हृदय में जो अपनेपन का भाव उपजे, वह उनको अर्पण करते रहो तो यह पे्रम हो गया। भजन जो है वह प्रभु के प्रति अगाध प्रियता का नाम है और उस प्रियता में सेवा तथा त्याग से सहयोग मिलता है। तो सेवा भी भजन का एक रूप है। त्याग भी भजन का एक रूप है और असली अर्थ है प्रभु के प्रति आत्मीय सम्बन्ध। आत्मीयता के सम्बन्ध से भजन की अभिव्यक्ति होती है सेवा और त्याग से भजन की पुष्टि होती है। इस अर्थ में महाराज जी ने कहा कि भगवत्-भजन तो मानव का जीवन है। ऐसा थोड़े कि चैबीस घण्टे में से हमने प्रोग्राम बना लिया कि आधा घण्टा भजन करेंगे हम। तो आधा घण्टा भजन करोगे तो बाकी साढ़े तेईस घण्टे क्या करोगे? भजन तो खण्डित हो गया। सो नही, ऐसा नहीं। प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध से जाग्रत प्रियता जो है, वह थोड़ी-थोड़ी देर में उनकी याद दिलाती रहेगी और साधक के जीवन में भगवत्-स्मृति का जाग्रत हो जाना भजन है।

ऐसा भजन अखण्ड रूप से चलता है। जो काम करो वह प्रभु की पूजा, जो घटना हो रही है, वह प्रभु की लीला। और क्षण-क्षण में उनकी याद आ रही है, प्रियता उपज रही है, इसका नाम भजन है। और ऐसा भजन हर घरबारी सामाजिक

व्यक्ति, समाज का काम करने वाला, घर गृहस्थी को संचालन करने वाला हर भाई, हर बहन इस प्रकार का भजन कर सकते हैं। जब चाहें तब कर सकते हैं। पूरे समय के लिए जीवन को उनके समर्पित करके उन्हीं की दी हुई शक्ति से उन्हीं का दिया हुआ काम करें और उसके बदले में उनके प्रेम की प्रतीक्षा में रहें। तो काम करें तो उनकी पूजा और घटना देखें तो उनकी लीला और शांत हो जाएँ तो उनकी स्मृति।

यह भजन कभी खण्डित होगा? जी नहीं होगा। बड़ी भारी भूल है, कि हम लोग सोचते हैं कि क्या बताएँ आज का जीवन इतना व्यस्त हो गया कि भजन के लिए समय ही नहीं मिलता है। तो भजन के लिए समय नहीं मिलता तो मिला हुआ समय कहाँ जाता है भाई! क्या कर रहो हो? ऐसा नहीं है कि दैनिक जीवन का जो रुटीन है, भजन उससे कुछ भिन्न अलग की बात होती हो, सो नहीं होती है। एक साधक की घटना महाराज जी ने हम लोगों को सुनायी थी। मुझे बहुत अच्छी लगती है। कभी-कभी सुनाया करती हूँ। गुरु-शिष्य दो जने थे, बड़े अनुरागी थे। भगवान के भक्त थे। एक-दूसरे में बड़ा पे्रम था। गुरु महाराज के लिए सबेरे-सबेरे उठकर शिष्य देवता जो थे किसी नदी के पास रहते थे। गंगा जी का ही तट होगा। तो एक बड़ा-सा जल का पात्र लोटा लेकर शिष्य जाते थे।

गंगा जी के तट पर और खूब उसको बालू से मिट्टी से माँज करके एकदम चमाचम साफ करके गंगा-जल भर कर ले आते थे। गुरु महाराज जब बह्म मुर्हूत की साधना से उठते तो उसे जल से वे आँख-मुँह धोते। इसके लिए वे शिष्य तैयारी करके रखते थे। बड़ी प्रियता थी शिष्य में, गुरु के प्रति। भगवान के प्रति और गुरु महाराज जी सेवा का कार्य करने में उनको बड़ा आनन्द आता था। मैं सेवा की महिमा आपको बता रही हूँ। एक दिन की घटना है यह कथा-कहानी नहीं है। यह सच्ची घटना है। एक दिन की घटना है कि शिष्य सबेरे-सबेरे उठ करके जल का पात्र लेकर पहुँच गए गंगा जी के पास और उसको माँजने लगे बालू-मिट्टी लगा करके लोटा साफ करने लगे। तो गुरु महाराज की सेवा में इतनी प्रियता है उनको, इस बात से परम प्रेमास्पद प्रभु को बड़ी प्रसन्नता है। और जब उधर से प्रसन्नता की लहर आयी तो साधक के भीतर इतना आनन्द इतना पे्रम भर गया कि बाहर से तो हाथ चल रहा है, लोटे को रगड़ रहे हैं और भीतर पे्रम के अतिरेक में अपने आप में मस्त है। इतनी प्रसन्नता छा गयी, इतनी प्रसन्नता छा गयी कि बाहर की क्रिया का उनको याद ही नहीं रहा। बहुत समय बीत गया। उधर गुरु महाराज हाथ धोने के लिए बैठे हैं, दूसरे-दूसरे शिष्य लोग जल लाने को भी तैयार है। लेकिन गुरु महाराज को उस शिष्य का लाया हुआ जल इतना प्रिय है कि उसी की प्रतीक्षा में बैठे रहे। अच्छा जाओ अब आ रहा होगा, अब आ रहा होगा। बहुत देर होने लगी तो दो-चार लोग दौड़े कि चल के देखो कि क्या कर रहा है? आ ही नहीं रहा है क्या बात है? पहुँच गए वहाँ, तो देख रहे हैं कि वह आनन्द की मस्ती मैं आप मस्त हो गया है और हाथ जो है लोटे के चारों ओर बालू-मिट्टी के साथ घूम रहा है। माँजना जो शुरू किया, माँजता ही रह गया। क्रिया ही होकर रह गयी। पे्रम के अतिरेक में वह बाहर का सब संसार भूल गया।

इतना आनन्द! तो क्या हो गया? शरीर-धर्म के ऊपर उठ गया। किस लिए? सेवा की प्रियता से। तो गुरु की सेवा के प्रति उसकी जो निष्ठा है, वह निष्ठा परमात्मा को पसंद आ गयी और

प्रेमपूर्वक सेवा की कृति देख करके परमात्मा का आनन्द उसके हृदय में भर गया तो अब शरीर का भास किसको है? ऐसा भजन। तो आप क्या कहेंगे? लोटा माँज रहा है, जल भर रहा है कि असली भजन कर रहा है? जी? असली भजन हो रहा है। इस प्रकार का भजन, इस प्रकार का पूजन, इस प्रकार का प्रक्टीकल ईश्वरीय पे्रम जो कि रोम-रोम में भर जाए, हर क्रिया को सरस बना दे, हर प्रवृत्ति को पूजा बना दे, हर क्षण में अपने प्यारे की स्मृति को जगा दे। ऐसा जीवन हम भाई-बहनों का हो सकता है। इसी वर्तमान में हो सकता है, इसी कलिकाल में हो सकता है। अमीरी और गरीबी में हो सकता है। आरोग्य और बीमारी में हो सकता है। क्योंकि शरीर से इस भजन का कोई सम्बन्ध नहीं है, वह स्वधर्म है। भगवत्-भजन जो है वह स्वधर्म है और प्रभु को अपना मानने से इसका आरम्भ होता है और प्रभु जब अपनी ओर से अपना रस साधक के जीवन में भर देते हैं तो यह भजन पूरा हो जाता है।

प्रवचन 9

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संग-पे्रमी मातओ, बहनो और भाइयो!

हम सब लोग मानव-जीवन के तथ्यों पर विचार कर रहे हैं। एक बहुत ही प्रत्यक्ष सत्य है कि वस्तुतः इस दृश्य जगत् में कुछ भी अपना व्यक्तिगत नहीं है। जो कुछ अपने पास मिला हुआ सा मालूम होता है वह सब किसी का दिया हुआ है, किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिला है, प्राप्त नहीं है। फिर भी एक बड़ी भारी भूल अपने से हुई कि मिले हुए शरीर को मैंने अपना माना और उस पर पूरा अपना अधिकार माना। उसके माध्यम से जो चाहे हम कर सकते हैं, ऐसा माना। जो अपना नहीं है, उसको अपना मान लेने की भूल से बड़ी भारी परधीनता जीवन में आ गई। क्योंकि एक शरीर को अपना मान लेने से फिर उस बनने, बदलने और बिगड़ने वाली वस्तु की सारी आवश्यकताएँ अपनी आवश्यकताओं जैसी लगने लगती है। तो बहुत-सा सामान भी चाहिए, सुरक्षित स्थान भी चाहिए, तन की खुराक भी चाहिए, मन की खुराक भी चाहिए। शरीरों का अपना मान लेने का यह फल होता है, कि हम बहुत ही पराधीन हो जाते हैं।

स्वाधीनता स्वभाव से पसंद है, हर भाई को हर बहन को। और बड़ी दयनीय दशा मैंने देखी है अपनी कि पसंद है स्वाधीनता, पसंद है सम्मानपूर्वक जीना और शरीर को अपना मान लेने से हम इतने पराधीन हो जाते हैं प्रतीत होने वाले जगत् के, कि सम्मानपूर्वक जीना तो कभी सम्भव ही नहीं होता। जो चाहते क्या है? तो चाहते यह है कि जब कभी भी भूख लगे तो रुचिकर, स्वादिष्ट, स्वास्थकर भोजन बड़े आदर और पे्रम के साथ मिल जाए। रुचिकर भी हो, स्वास्थकर भी हो, स्वादिष्ट भी हो और वह भी खूब आदर-सम्मान के साथ मिल जाए। लेकिन ऐसा होता नहीं है। कभी रुचिकर मिलता है, कभी रुचिकर नहीं मिलता है। कभी स्वादिष्ट मिलता है, कभी स्वादिष्ट नहीं मिलता है। कभी सम्मान के साथ मिलता है, कभी सम्मान के साथ नहीं मिलता है। तो इस घोर पराधीनता को स्वीकार करके भी हम सब लोग सम्मान पसंद करते है, स्वाधीनता पसंद करते हैं। यह सम्भव होता नहीं है और ऐसी हालत में अगर परम स्वाधीन जीवन पर दृष्टि न जाए, निज स्वरूप भी मस्ती पर दृष्टि न जाए तो व्यक्ति में भीतर-भीतर बहुत प्रकार कब बवउचसपबंजपवदे पैदा हो जाते हैं। कितनी ेनचमतपवतपजल कितनी

पदमितपवतपजल कितनी हीन भावना भीतर से उपजती है। और ऊपर से जबरदस्ती अपने को श्रेष्ठ दिखाने की कोशिश करके किसी तरह से अपमान-जनित दुख, पराधीनता-जनित दुःख को हम लोग ढकने की चेष्टा करते रहते हैं।

किसी-किसी समय जिन निकटवर्तियों के सहयोग से दैनिक जीवन का काम चल रहा है, उनकी ओर से अगर उतना सम्मानपूर्वक व्यवहार नहीं मिला तो भीतर-भीतर दुःख होता है। तो मैं कभी-कभी ऐसे सोचती हूँ कि अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न ये स्वाधीन जीवन के लिए, पूर्ण जीवन के लिए अनिवार्य व्रत हैं। अकिंचन अर्थात् मेरा कुछ नहीं है। अचाह अर्थात् मुझे कुछ नहीं चाहिए। अप्रयत्न अर्थात् अपने लिए कुछ नहीं करना है। तो पराश्रय छोड़ना, परिश्रम छोड़ना, प्रयास छोड़ना जरूरी है। पराश्रय छोड़ेगे तो स्वाश्रय अथवा हरिआश्रय होगा। परिश्रम छोड़ेंगे, श्रम-रहित होंगे, अप्रयत्न होंगे तो शरीरों से तादाम्य तोड़ने की साम्थ्य आएगी। अशरीरी, अलौकिक तत्त्वों से अभिन्नता होगी। तो अपने को जो पसन्द है, जैसा जीवन, वैसा तो अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होने से ही सिद्ध होता है। जब बाहरी बातों से सम्मान पर आघात पहुँचता है, पराधीनता की पीड़ा सताती है, तो मैं अपने को याद दिलाती हूँ, आपको भी पसंद आए तो अपने को याद दिलाना।

लाभ तो जरूर होगा। क्या याद दिलाती हूँ कि सचमुच अविनाशी, अलौकिक जीवन का जो अधिकारी है। मानव मात्र, साधक मात्र, जन्म-सिद्ध अधिकारी है। इतना ही नहीं ऐसा भी सुना है हम लोगों ने कि जीवनदाता, जन्तदाता ने मानव बनाकर हम लोगों को संसार में इसीलिए रखा है कि हम ज्ञान और पे्रम जैसे अलौकिक तत्त्वों के विकास के द्वारा सब प्रकार से जीवन को परिपूर्ण कर लें। इसी उद्देश्य से बनाकर उन्होंने भेजा है। तो इस जीवन के मूल में भी यह उद्देश्य है। और अलौकिक तथा अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति में सर्वदुःखों की निवृत्ति है, अपने को पसंद भी है। तो अब सोचकर देखिए कि निजस्वरूप के आनन्द का जो अधिकारी है, वह नाशवान् संसार की किसी वस्तु का लालच रखे भीतर, तो इससे बढ़कर उसके जीवन का अपनमान और कुछ होगा।

समझ में आया कि नहीं। अविनाशी जीवन का जो अधिकारी है, निजस्वरूप के बोध के आनन्द का जो अधिकारी है, परम पे्रमास्पद प्रभु के मधुर रस का जो अधिकारी है वह बनने-बिगड़ने वाले परप्रकाश्य जगत् की ओर देखे और किसी वस्तु की कामना रखे, तो क्या अपने भीतर कामनाओं को रखना अपने जीवन का अनादर करना नहीं है? है। तो अपना अनादर जितना मैं कर रही हूँ उतना कोई और कर सकता है क्या? नहीं कर सकता।

यही की चर्चा है। मैंने एक बार ऐसा सुना था कि आनन्दमयी माता जी से प्रश्न कर दिया गया कि आप अपनी पूजा क्यों करवाती है? अगर आप अपने को भगवान मानती है तो भगवान जैसा प्रमाणित करके दिखाइए और नहीं तो अपनी पूजा करवाना बन्द करिए। तो उन्होंने बड़ी सरलता से कहा कि मैं पूजा करवाती नहीं हूँ। करने वाले जो जी में आता है, करते हैं। मैं कराती नहीं हूँ और मेरे लिए तो इस शरीर पर कोई चंदन लगा दे या विष्टा लगा दे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह कहा उन्होंने कोई चन्दन लाके लगा दे या विष्ठा लगा दे। इतना समझ गई कि कोई फर्क नहीं पड़ता, अपने लिए दोनों बराबर है। ऐसे जन जो है उनको बाहर से कोई अपमानित कर सकेगा? कभी नहीं

कर सकता। तो दूसरों ने हमें दुःख दिया, दूसरों ने हमारे सम्मान में बाधा पहुँचाई, ऐसा तो सोचना बिल्कुल बेकार की बात है। अगर सोचना ही चाहिए तो ऐसा सोचना चाहिए, कि परम स्वाधीन जीवन हमारा अपना स्वरूप है, देहातीत स्वाधीनता का आनन्द इस मानव-जीवन की मौलिकता है। उसके रहते हुए अगर मैंने पराश्रय पसंद किया है परिश्रम पसंद किया है तो जिसने पराश्रय पसंद किया वह कब तक स्वाधीनता की कुशल मनाएगा। पराश्रय, पराधीनता को पसंद करने वाला कभी भी स्वाधीनता नहीं पा सकता।

हो ही नहीं सकता कभी। तो ऐसा अगर आप सोचें अकेले में बैठकर अपने ओर देख करके, तो प्रतिदिन के जीवन में दैनिक, व्यावहारिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में छोटी-छोटी बातों के लिए जो हम लोग भीतर क्षुब्ध होते रहते हैं वह क्षोभ खत्म हो जाए, परस्पर का वैमनस्य खत्म हो जाए। एक ने जरा सी गलती मेरे साथ की, मुझको उसमें बड़ा गौरव मालूम होता है कि एक ने मेरे साथ जो किया, उसने दुगुना, चैगुना उसके साथ करके दिखाएँगे। तो यह मानवता की प्रतिक्रिया है, कि अमानवता की? यह अमानवता की प्रतिक्रिया हो गई।

एक कदम नीचे वह उतरा तो पाँच कदम नीचे मैं उतर जाऊँ तो उसका नुकसान तो कम हुआ, अपना नुकसान ज्यादा हुआ। और भीतर शांति सुरक्षित रहे, प्रसन्नता सुरक्षित रहे, यह बहुत बड़िया बात है साधक के लिए। अपने साध्य की ओर आगे बढ़ते रहने में बहुत सहायक बात है। और कोई भी समय ऐसा आ जाय जबकि भीतर से मुझे किसी कारण से क्षोभ हो जाए तो बाहर की ओर उतना ज्यादा देखने की आदत नहीं है तो भीतर की ओर देखती हूँ मैं। थोड़ी देर के लिए सब काम छोड़ देती हूँ। क्षुब्ध दशा में कोेई काम बढ़िया तरीके से तो हो नहीं सकेगा छोड़ करके, चुपचाप बैठ करकेे बाहर से जो हो रहा है सो तो हो ही रहा है उसकी प्रतिक्रिया मुझ पर क्या हो रही है वह महत्त्वपूर्ण है अपने लिए। तो प्रतिक्रिया को देखो उसका अध्ययन करो, उसके कारण को मिटाओ। तो बाहर की दशा चाहे जो भी हो अन्दर से आदमी शांत हो जाता है। परिस्थिति भले ही न बदले परन्तु अपने भीतर शांति आ जाती है। तो जब शांति आ जाती है जब मानसिक हलचल खत्म हो जाती है। तो मुझे ऐसा लगता है कि उठी हुई हलचल को थोड़ा पहले अपने भीतर दबाना पड़ता है कि उल्टी-सीधी प्रतिक्रिया न हो जाए। फिर उसके बाद साधक की हैसियत से अनुसार उसका अध्ययन करना पड़ता है। फिर सत्य के, ज्ञान के प्रकाश में प्रभु-विश्वास के प्रकाश में उस का निवारण करना पड़ता है। तो इतना समय निकल जाता है इस मामले में शांति से बिछुड़कर, प्रसन्नता से बिछुड कर। प्यारे प्रभु की कृपामय लीला हो रही है, मेरे सुधार के लिए हो रही है, मेरी राग-निवृत्ति के लिए हो रही है इस पर से दृष्टि हट गई तो क्षोभ आ गया। रस के रासायनिक पदार्थ बदल गए। कहीं ठसववक चतमेेनतम बढ़ता है,कहीं सिर में दर्द होता है, कहीं पेट में गैस भरता है। ये सब शारीरिक विकृतियाँ हैं। ये सब मानसिक अप्रियता कपेसपापदहए कोई भी बात आदमी पसंद के खिलाफ हो गई तो इसके कारण होती हैं। सफलता के नाते अपने को सँभालता है व्यक्ति। बहुत बार असमर्थता के कारण मन ही मन मचल करके रह जाता है।

बाहर से कुछ करते नहीं बनता फिर साधक होने के नाते उसकी व्याख्या करके उसका निवारण करता है, फिर अलौकिक जीवन पर दृष्टि

रखकर अन्तत परमात्मा का विश्वासी होकर उनको समर्पित होकर भीतर की शान्ति और सरसता को वापिस लाता है। इतने ेजमचे होते हैं इसके भीतर। तो इन सब बातों पर आज ध्यान रखकर देखिए। जब कभी ऐसा मौका आता है तो मैं देखती हूँ तो कभी-कभी बड़ा अफसोस होता है कि उतनी देर और अधिक निकटता अनुभव किए होते किससे? अपने मौलिक तत्त्वों से। जीवन के मौलिक तत्त्व हैं—परम शांति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम। तो अगर बीच में क्षोभ न उठा होता, रासायनिक परिवर्तन शरीर में न हुए होते, तब मेरे मन में अनेक विकार न पैदा हुए होते तो इसके निवारण के लिए इनको सँभालने के लिए जो समय मुझे लगाना पड़ा, जो शक्ति मुझे खर्च करनी पड़ी वह सारी शक्ति और वह सारा समय कहाँ गया होता? तो साधना के पथ पर साक्ष्य से निकटता अनुभव करने में गया होता। तो किसी-किसी समय तो भीतर से इतनी पीड़ा होता है मुझे ऐसा लगता है कि वह समय जैसे कि मृत्यु के समान हो गया।

मानव-जीवन की सजगता चली गई और इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं में शक्ति लग गई, जो कि हमारे लिए हानिकारक है, तो वह तो मृत्यु के समान है

साधक के लिए। ऐसे प्रत्येक दिन के जीवन में जिन विकारों के कारण हम सत्य से दूर हो जाते हैं, शांति से दूर हो जाते हैं, हृदय की प्रियता से दूर हो जाते हैं उन सब बातों को हटा कर ही रखना चाहिए, अपने को बचा कर ही रखना चाहिए। इसके विपरित एक बहुत विचित्र चीज देखी है मैंने जीवन में और बहुत स्पष्ट अनुभव है उसका कि जैसे परिस्थितियों की अनुकूलता मिले पसंद के लायक कोई खाने-पीने की चीज मिल गई या मन पसंद कोई और बात मिल गई तो एक ऐसे अवसर पर मैंने ऐसा पाया कि परस्पर बैठकर सत्संग की बातचीत हो रही है और केवल बातचीत नहीं हो रही है, सत्य के प्रकाश में जीवन को देखकर जो त्याज्य है उसको त्यागने की बात, जो ग्राह्म है उसको ग्रहण करने की बात चल रही है अपने द्वारा। तो बहुत ही ेपदबमतम और ईमानदार साधकों की, 2-4 साधकों की टोली बैठी है और इस तरह की बातचीत हो रही है।

कभी-कभी स्वामी जी महाराज के पास हम बैठे होते और इस तरह की बात होती तो उसमें ऐसा मैंने पाया। ज्यादा लम्बा-चैड़ा च्तवहतंउउम नहीं है, बस थोड़ी सी बात है। अगर जरा सी देर के लिए ध्यान में आ गया कि यह जो दृश्य आकृति अपनी दिखाई देती है, मैं उसके भीतर कैद कभी नहीं हुआ, वह तो केवल एक क्रियात्मक संयोग है। शरीरों के माध्यम से प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील जगत् का संयोग करेंगे, कुछ सुख चाहेंगे से प्रतीत होने वाले परिवर्तनशील जगत् का संयोग करेंगे, कुछ सुख चाहेंगे तो इन शरीरों से सम्बन्ध जुट जाएगा। आँखों से सुन्दर दृश्य देखना पसंद आएगा तो आँखों से तादात्म्य हो जाएगा।

तो महाराज कहते देवकी जी, सुन्दर दृश्य देखने से कोई संसार में फँस जाता हो ऐसी बात नहीं। आँखों से प्रतीत होने वाले जगत् में सुन्दरता का भास, यह भूल तुम्हारे भीतर पहले से है। और इस भूल ने आँखों से सुन्दरता देखने का राग पैदा किया। और भीतर राग है तो कामना उत्पन्न होती है देखने की। और भीतर में नाशवान् संसार के लिए सुन्दरता का भास है, तो उसमें आकर्षण होता है। राग है पहले से, आकर्षण है पहले से और भोग की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है पीछे

से। तो ऐसा नहीं करना चाहिए कि संसार सुन्दर है इसलिए हम फँस गए। ऐसा सोचना चाहिएकि इस नाशवान् में सुन्दरता का भास मुझमें पहले से है। अन्यथा विवेकी जन को सुन्दरता का भास नहीं होता है और जो सब दृष्टियों से पार हो जाते हैं उनको सुन्दरता, असुन्दरता कुछ भी नहीं दिखती है। ऐसा जब कभी विचार करते-करते उन्हें अपने निज स्वरूप की बात सामने आ जाती है अथवा कैसा भी कोई कितने भी जन्म का भटका व्यक्ति क्यों न हो प्रभु की कृपा का आश्रय लेता है अथवा कृपाश्रित हो करके रहना पसंद करता है तो किस प्रकार से प्रभु की कृपा-शक्ति उसकी मलिनता को जल्दी-जल्दी दूर करती है। अपने ही में वह कृपा का सागर कैसे अपने को सँभालता है यह सब चर्चा होती है। और होती तो जरा-सी देर की बात होती है। बहुत मामूली सी बात होती है, कि जिसके साथ मेरा बनावट से सम्बन्ध नहीं है, केवल कामना से सम्बन्ध जुट जाता है। उस कामना से तिमम होते ही, उसका आवश्यकता नहीं है मुझे, इसको अनुभव करने से ही तत्काल उससे सम्बन्ध छूटता है और इतना हल्कापन, इतना आराम अपने आप को मिलता हे उसी समय तत्काल। और कहीं अपनी ही असमर्थता से पीड़ित व्यक्ति अहंशून्य होकर उस सर्वसामर्थ्यवान् की शरणागति पसंद करता है तो जिस समय किसी ईश्वर-विश्वासी ने उनकी महिमा को सुनाया और मैंने अपनी असमर्थता को देखकर उस शरण्य की शरण ली नहीं कि जीवन कहाँ से कहाँ पहुँचता है। कितना आराम मिलता है, कितना स्पष्ट होता है, कितना हल्कापन आता है, कितना भीतर-भीतर रस बढ़ता है। यह सब होता है चाहे साधकों की गोष्ठी हो चो संत-समागम हो।

यह सब होता है। ऐसे अवसर अनेक आए जब मैंने अपने को अनेकों विकारों और दुर्बलताओं से तिमम बड़ी सरसता और बड़े हल्केपन में पाया। अगर उसी में कुछ काल ठहर जाएँ तो बड़ा उपकार हो जाता है। अगर उसी क्षण में जैसे घंटी लगाकर काम करने की तवजपदम जहाँ बन जाती है, उसी क्षण में चाय-नाश्ता की घंटी लग गई और उठकर आप नहीं गए तो लाकर किसी ने पकड़ा दिया। और मै। क्या बताऊँ कितनी बढ़िया-बढ़िया बातें जो थीं सब अच्छा-अच्छा अनुभव जो था, स्वादिष्ट वस्तु को मुख में डालो, खाद्य पदार्थ का जीभ से स्पर्श हुआ ैंसपअंतल हसंदके ने काम करना शुरू किया, रसना से स्वाद का सुख भासित हुआ नहीं कि देहातीत जीवन की बातें और उस सर्व सामर्थ्यवान् की शरणागति में कितनी भी शांति थी, कितना आराम था कहाँ हम थे, कैसे वह सब लुप्त हो जाता है, कहाँ चला जाता है। और सब इस शरीर के माध्यम से छोटी-सी क्रिया में फँस करके सारा मामला चैपट हो जाता है। ऐसा मैंने देखा है, ऐसा मैंने अनुभव किया है।

एक-दो बार ऐसा हुआ जब मुझे बड़ा दुःख हुआ, बड़ी तकलीफ मालूम हुई। ऐसा लगा कि यह सब चैपट ही हो रहा है भाई। इतनी जल्दी बदलता है। अब सोचिए आप, शरीर के माध्यम से सुख की बात भीतर में आई नहीं कि शरीरों के पार जो कुछ है सब छिप गया। और सत्संग के प्रकाश में एक-एक कदम केवल विचार के स्तर पर इन सम्बन्धों को छोड़ते हुए चले जाओ तो इससे सम्बन्ध सदा टूटा हुआ रहता ही है। सारी वृत्तियाँ, सब शक्तियाँ सिमट करके जब एक चवपदज पर आकर केन्द्रभूत होती है, कि इधर से हटी नहीं,

कि इधर का भार, इधर का झंझट यह सब समाप्त हो जाता है, देर नहीं लगती है।

पता नहीं कितना समय बीत गया थोड़ी-थोड़ी देर के शांत रहने के प्रयास में। ऐसा लगता है कि बड़ा कठिन काम है। कोई-कोई साधनजो शरीर और मन अर्थात् सम्पूर्ण जीवन का जो लौकिक पहलू है इस पहलू से उलझकर साधकों ने कितना-कितना समय बिताया है। अब एक वस्तु को न खाने का व्रत लेंगे, तो जबरदस्ती व्रत ले रहे हैं। खाए हुए ओर भोगे हुए के प्रभाव से रह-रह कर उस वस्तु का संकल्प उठ रहा है फिर जोर लगा करके उस संकल्प को दबा रहे हैं, तो क्रिया से अपने को रोक लिया तो कामना के रूप में रह गया फिर अशांति के रूप में रह गया। फिर मानसिक तनाव के रूप में रह गया। और कहाँ-कहाँ तक वह जाता है। विवेक के प्रकाश में व्यक्ति अपने को थामता है तो मैंने मनोविज्ञान में ऐसा पढ़ा कि जब जबरदस्ती करके, विचार के प्रकाश से व्यक्ति अपने को रोक लेता है तो भीतर का जो दबा हुआ राग है वह चेतन स्तर पर आता नहीं है। वासना और कामना के रूप में बवदेबपवने समअमस में आएगा तब न उसके प्रति आप क्रियाशील होंगे तो डर के मारे भीतर का दबा हुआ राग बवदेबपवने समअमस पर आता नहीं है और भीतर-भीतर इतना बैचेन रखता है व्यक्ति को कि कुछ समय के लिए एक जगह पर शांत चुपचाप बैठा ही नहीं जाता है। कितना असंतुलन कितनी विकृतियाँ ये सब हो जाती है। तब आदमी सोचता रहता है, निराश होता रहता है, घबराता रहता है। इसलिए सही प्रतिक्रिया क्या होनी चाहिए? तो सही प्रतिक्रिया यह होनी चाहिए कि जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण हम सब भाई-बहनों को बनाना चाहिए। यह पहली बात है।

सही दृष्टिकोण का अर्थ क्याहै? तो सही दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि भाई, जिन शरीरों के माध्यम से सुख-दुख के द्वन्द्व में फँसे हुए आज तक अपने को संतुष्टि नहीं मिली उनमें सत्यता, सुखरूपता का भ्रम न रखा जाए। यह पहली बात है। बड़ा आराम मिलता है इससे, बहुत आराम मिलता है। फिर दूसरी बात क्या आएगी। स्वभाव से आएगी अपने सामने कि यदि अपने ही में विद्यमान शांति की सरसता को आप पसंद करत हैं, बहुत सरसता है शांति में, जितना ही अधिक हम शांति को सुरक्षित रखेंगे, मन और तन बहुत जल्दी-जल्दी स्वास्थ्य लाभ करते हैं। और इनके स्वस्थ होने की पहचान क्या है? कि आप जब चाहे इनका जैसा उपयोग करें और अब चाहे तो इनसे असंग हेा जाएँ। ऐसा होता है तो शांति को सुरक्षित रखना बहुत ही उपयोगी बात है। और शांति सुरक्षित रहेगी कैसे? तो उस अविनाशी जीवन पर दृष्टि रखने से।

जो शान्ति मुझे पसन्द है वह अपने ही में विद्यमान है, जो अमरत्व अपने को पसंद है वह अपना स्वरूप ही है। जिस परम प्रेमास्पद के मधुर रस की प्यास है भीतर, जिसके बिना आज तक किसी प्रकार से तृप्ति हो ही नहीं सबी वह अपने में ही विद्यमान है। तो जो अपने में ही है उससे अभिन्न होने के लिए बाहर की सब इच्छाओं को, सब कामनाओं को, सब वासनाओं को छोड़ देना चाहिए। और फिर नई वासना पैदा होगी नहीं, नई कामना पैदा नहीं होगी नहीं। लेकिन भुक्त-अभुक्त प्रभावों का नाश कैसे होगा? पहले जो भोग कर चुके हैं उसका ेजंउच भीतर अहं में लग चुका है, उसका नाश कैसे होगा? उसके नाश के लिए बहुत ही व्यावहारिक उपाय है दुःखी जनों के दुख में शामिल होना। तो अगर कुछ किए बिना

रहा न जाए तो सेवा-प्रवृत्ति में हाथ डालना चाहिए और एक शरीर के प्रति भी जो कुछ करना हो वह सेवा के ही भाव से करना चाहिए, सुख-भोग के भाव से नहीं करना चाहिए। बड़ा सूक्ष्म भेद है। और आरम्भ में दोनों ही बातें मिली-जुली हुई रहती है। और कितनी बार तो मैंने अपने को देखा है कि पसंदगी भी है और सेवा के रूप में उस पसंदगी को सही करके उसमें आदमी फँस भी जाता है। लेकिन साधक की सच्चाई है तो उस फँसावट में से आदमी निकलता भी है।

तो प्रारम्भ में थोड़ा बहुत मिश्रण रहेगा लेकिन ईमानदार साधक में सत्य का दिया हुआ बल आता है। समर्पित साधक में सर्वसमर्थ स्वामी का दिया बल आता है और इन सब दुर्बलताओं पर आदमी विजय पाता है। इसलिए हारना नहीं, डरना नहीं, निराश नहीं होना। कदम उठाना अपना पुरुषार्थ है और हमको पार लगाना प्रभु की प्रतिज्ञा है। वह करेंगे, इसलिए डरने की कोई बात नहीं हे। तो जहाँ तक हो सके वस्तुओं की सुखरूपता, सुन्दरता का भास, इस भूल को विचार के आधार पर बिल्कुल निर्मूल कर देना चाहिए। और फिर अगर कोई प्रवृत्ति आती है सामने तो सेवा-भाव से उसमें भाग लेना चाहिए। और जहाँ भी कहीं आपको शांति-सम्पादन का अवसर मिले अथवा उच्च कोटि का ऐसा सत्संग कि जिसमें विचार करते जा रहे हैं, छोड़ते जा रहे हैं जिसमें कि हरिआश्रय के आधार पर अहं-शून्य होने का मौका लगे, ऐसा कोई अवसर मिले तो कभी नहीं चूकना और फिर यहीं देखने की बात भी खत्म कर देनी चाहिए। उस शान्ति को जितनी देर तक सुरक्षित रख पाएँगे उतनी ही देर में अहं रूपी अणु में से अलौकिक तत्त्वों को ऐसा विकास होता है कि उसके बाद फिर पीछे हटने का प्रश्न साधक के सामने नहीं आता है। नहीं हटता है व्यक्ति। बुहत ही एकान्तिक साधना की बात है। तो समय कम है अपने पास, परिस्थितियाँ बहुत ही उलझी हुई है, अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ भी आज मानव समाज को व्यग्र कर रही हैं। कभी-कभी भीतर, जब राजनैतिक बातों को मैं देखती हूँ सामाजिक बातों को देखती हूँ, साम्प्रदायिक बातों को देखती हूँ तो घबरा करके कभी-कभी अनन्त परमात्मा से प्रार्थना करने लग जाती हूँ—हे प्रभु, कम से कम साधक जन जो आगे बढ़ना चाह रहे हैं, उनकी स्वाधीनता सुरक्षित रखना।

भई देश में, समाज में, वायुमण्डल में कम से कम इस प्रकार की बात भी हो तो आप देखिए। इन सबके सहयोग से ही तो हम सब लोग इस जगह बैठ करके शान्तिपूर्वक बातचीत कर रहे हैं। तो समाज का भी सहयोग है राष्ट्र का भी सहयोग हे, प्रकृति भी अनुकूल है तभी यह बात सिद्ध हो रही है। तो जहाँ तक सेवा के द्वारा राग-निवृत्ति का प्रश्न है, जहाँ तक बैठ करके ग्रन्थों के आधार पर विचार करने की बात है, जहाँ तक शरीरों से अतीत, अविनाशी जीवन के अनुभव के लिए तैयारी की बात है, उसमें तो भई, प्राप्त अवसर का अधिक से अधिक लाभ अपने लोगों से ही लेना चाहिए।

किस समय क्या असुविधा पैदा हो जाए कोई कुछ कह नहीं सकता। और जब जीवन की माँग तीव्र हो जाएगी, जब सेवा की अनिवार्यता राग-निवृत्ति के लिए पूरी हो जाएगी। जन-समाज के हित के लिए तो हमेशा ही होती रहेगी, राजनीति के लिए पूरी हो जाएगी। जब प्रभु प्रेम की प्यास अति तीव्र हो जाएगी तब तो फिर अपने लिए कुछ करणीय शेष रहेगी ही नहीं। तो आवश्यकता की तीव्रता और आवश्यकता की पूर्ति को स्वामी जी

महाराज ने युगपत कहा है, साथ-साथ होने वाली बात कही है। और चूँकि वे सब अलौकिक तत्त्व हम भाई-बहनों में अपने ही में विद्यमान हैं,

इसलिए उनकी अभिव्यक्ति में कोई शंका रखने की बात नहीं है। उसमें कोई अधिकारी होने की बात नहीं है। जब जीवन के प्रश्न को लेकर सन्त के पास बैठकर प्रश्न करना आरम्भ किया मैंने तो मुझे बहुत ही सुलझा हुआ उत्तर मिला।

जब जन्म-मरण और सुख-दुःख के द्वन्द्व से उलझी हुई बुद्धि के कारण थकित हो गई थी मैं, तो मैंने स्वामी जी महाराज से कपतमबज सीधे प्रश्न किया, महाराज, जीवन है कि नहीं। तो उन्होंने कहा—है। बड़ा आराम मिला। अगर सचमुच आप भीतर से प्रश्न को लेकर व्यग्र है, तो सच्चा उत्तर पाते ही बिना किसी और प्रयास के शान्ति मिलती है। कोई लम्बी चैड़ी बातचीत नहीं। भरी सभा में और क्या बातचीत हो सकती है। तुम्हारा कोई प्रश्न है? हाँ, महाराज है। क्या है? तो थोड़ा सो सुख-दुःख का चित्र सुनाया। हमने कहा ऐसी जिन्दगी क्या करूँगी? महाराज मैं जानना चाहती हूँ कि जीवन है कि नहीं तो उन्होंने कहा—है, तो आँखों के सामने जैसे निराशा का अंधकार हट गया। मैंने कहा अच्छा है। तत्काल इसका उत्तर किसको मिलता है? क्योंकि पता चले किसको मिलता है तो देखे हमें भी मिलेगा कि नहीं। मिलता है, कि कहीं कोई गंुजाइश है कि नहीं। तो किसको मिलता है? तो सबको मिलता है। तो पहले निराशा हटी फिर आशा जगी, कि अच्छा कई सबको मिलता है उसमें मैं भी शामिल हो सकती हूँ। और कैसे मिलता है? अब पुरूषार्थ भी तो चाहिए न। अब वह तरीका भी हमको मालूम होना चाहिए? न कैसे मिलता है? तो जो उसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसको मिलता है। आवश्यकता अनुभव करने से मिलता है। जीवन है और सबको मिल सकता है। किस उपाय से? आवश्यकता अनुभव करने मात्र से। बिल्कुल सच्ची बात है। जो दूर है उसको पकड़ने के लिए चलकर जाना पड़ेगा, प्रयास करना पड़ेगा। जो खोया हुआ है उसको ढूँढने के लिए मेहनत करनी पड़ेगी, बुद्धि लगानी पड़ेगी। जो नित्य प्राप्त है, सर्वत्र, सदैव विद्यमान है, अपने भीतर-बाहर भरपूर है तो जो नित्य प्राप्त है उसको बाहर-बाहर खोजन के लिए दौड़ेंगे तो उस नित्य प्राप्त से दूर हो जाएँगे कि नजदीक हो जाएँगे? दूर हो जाएँगे। जो अपने ही में विद्यमान है, अपने से अधिक अपने को प्यार करने वाला है, जोअपने से अधिक अपना हित-चिन्तक है, तो जो सब प्रकार से अपने ही में है, अभी है ऐसा में कब तक कहती रही। स्वामी जी महाराज जी की बातों को सुन-सुन के कहना सीखा। अपने को समझाने के लिए तो ऐसा मैं कब तक कहती रही।

तब तक कहती रही जब तक कि अपने व्यक्तित्व का अभिमान और उसकी प्रधानता बनी रही। सोचना इस बात को। अपने व्यक्तित्व की प्रधानता है तब आप क्या कहते हैं कि, यह मेरा घर है, यह मेरा पद है, यह मेरा विचार है यह मेरी सन्तान है यह मेरी बहादुरी है, यह मेरा परिश्रम है। वहाँ क्या है? अपने व्यक्तित्त्व की

प्रधानता है। तो यह जब तक जोरदार था पढ़ने लिखने का सहारा, जिज्ञासु होने का आभास, मैं बड़ा भारी जिज्ञासु हूँ। साधक होने का आभास, मैं बड़ा भारी साधक हूँ। ये अच्छी-अच्छी बातें भी अपने अहंरूपी अणु को पोषित करती रहती हैं, मोटी बनाती रहती हैं। सत्य से दूर रहता है आदमी। तो इसकी प्रधानता जब तक थी जब तक मैं इस भाषा में अपने को समझाती रही कि

अरे तुमको अब कुछ करना नहीं है, कुछ खोजन नहीं है। जिससे मिले बिना कहीं आराम है नहीं, वह तो तुम्हारे ही भीतर है। और जब संत की कृपा से , उन महामहिम की महिमा से उनकी कृपालुता से जब उनकी विशालता का आभास होने लगा, जब महामहिम की महिमा का कुछ आभास होने लगा तब मैं ऐसा नहीं सोचती हूँ। तब मैं दूसरे ढंग से सोचती हूँ। तब मैं कहती हूँ कि जो भीतर-बाहर सब तरह से भरपूर है तो उसी में मेरी उत्पत्ति हुई। उसी की सत्ता से अपनी सत्ता भासित होती है। तो जिसमें मैं हूँ मेरा आधार है। तो अब ऐसी भाषा बन गइ, वे भी महाराज जी के ही वाक्य हैं जिनको अपने लिए पकड़ा मैंने। तो जो उत्पत्ति का आधार है वही मेरे जीवन का आधार है। जो सब प्रतीति का प्रकाशक है वही मेरे विवेक के प्रकाश का आधार है तो उसी में मैं हूँ, उसी ने मुझे बनाया, उसी ने अपने प्रेम से सँभाला, उसी ने मुझको सत्ता दी। उसी से मुझे अभिन्न होना है। तो जब ऐसा है तो कौन-सा प्रयास रहेगा कौन-सी चेष्ट रहेगी कौन-सा संकल्प रहेगा। यह सब कुछ नहीं रहेगा तब क्या रहेगा कि भाई अपने पास उन्हीं की दी हुई सामर्थ्य है तो उनकी प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा में

सधन्यवाद वापिस कर दो और जब प्रवृत्ति से हटने का अवसर मिले तो उसको सबसे अधिक महत्त्व हम लोगों को देना चाहिए।

प्रवचन 10

संसार में कुशलतापूर्वक निर्वाह का अर्थ क्या हुआ? तो उसका अर्थ यह हुआ कि हम संसार के लिए अनुपयोगी न रहें। और एक शरीर जो संसार का ही छोटा-सा नमूना है, यह शरीर भी संसार ही है। जो बन जाताहै, बदल जाता है, बिगड़ जाता है, मिट जाता है उसी का नाम संसार है। एक छोटा-सा नमूना है जो संसार का, जो हमारे पास है ऐसा लगता है तो उसकी आसक्ति, उसका भार, उसकी पराधीनता, अपने में न रहे। ऐसा कौन-सा तरीका है।

स्वामी जी महाराज ने बोलचाल की भाषा में बहुत ही सहज उपाय बता दिया हम लोगों को। और यह कहा कि संसार सेवा का क्षेत्र है। उससे जो कुछ मिला हुआ-सा लगता है, वह सब उसकी सेवा में लगा दो और अपने लिए उसको पसंद न करो तो हुत ही कुशलतापूर्वक निर्वाह हो जाएगा। जिन लोगों ने शरीर और संसार की एकता को मानकर शरीरों को संसार की धरोहर मानकर उसकी सेवा के लिए अर्पण कर दिया, उन पर एक शरीर को सँभालने का भार नहीं रहा। जहाँ भौतिकवाद की चर्चा होती है, भौतिक विकास होना चाहिए तो उसमें बहुत बढ़िया सुझाव महाराज जी ने दिया कि जगत् की सत्ता अगर तुम स्वीकार करते हो तो एक शरीर जो तुम्हारे पास है यह भी जगत् ही है। शरीर और संसार में भेद मत मानो। और एक छोटे से संसार के लिए बृहद् संसार को हानि मत पहुँचाओं। भौतिक विकास का मूल मंत्र है बड़ा रहस्य है इसमें। एक शरीर की सुरक्षा के लिए अनेकों शरीरों के हित को न देखना, एक शरीर को अपना मानकर अनेकों को पराया मानना यह भूल है कि जिससे हम शरीर और संसार के सम्बन्ध का सुन्दर निर्वाह नहीं कर पाते। और जिन लोगों ने शरीर और संसार की एकता कोमान करके, शरीरों को संसार की सेवा में लगाया, उनका जीवन कैसा होा गया तो उनकी आवश्यकता को संसार ने अनुभव किया और वे स्वयं शरीर तथा संसार की आवश्यकता से मुक्त हो गए। तो जगत् को आपकी जरूरत पड़े जगत्

आपके शरीर को अपनी वस्तु मान कर उसकी रक्षा करे, उसका पोषण करे, उसमें काम ले उसको सँभाले और आप स्वयं सेवा का अवसर खत्म होते ही जब अकेले हो जाएँ तो शरीर और संसार के भास से मुक्त हो जाएँ। जगत् को शरीर की जरूरत रहे और मुझे अपने लिए जगत् की आवश्यकता न रहे, शरीर की आवश्यकता न रहे, शरीर का भार मुझ पर न रहे, उसकी जिम्मेदारी मुझे न ढोनी पड़े, और उनकी खातिरदारी के लिए दूसरों के अधीन न होना पड़े। इसको स्वामी जी महाराज ने भौतिक विकास बताया। आपके पास जो एक शरीर है उसकी आवश्यकता को समाज अपनी आवश्यकता मान लें और उसको पूरा करने के लिए समाज लालायित रहे, इसको स्वामी जी महाराज ने भौतिक विकास बताया। और आप एक शरीर को अपना मानकर उसकी आसक्ति में फँसे रहें और यह आशा करें कि कुटुम्ब-परिवार, बाल-बच्चे, माता-पिता, नाता-रिश्ता, अड़ोसी-पड़ोसी सब मिलकर के मेरे एक शरीर की आवश्यकता पूरी करते रहें। तो आप चाहे कि सब सहायता दें और संसार आपकी ओर बेरूखी का व्यवहार करे तो इसके समान और कोई काला समय सम्मानित व्यक्ति का हो सकता है? जी। हम चाहे कि आप मेरी खातिर करें, मदद करें, हमको वस्तु दें और आप मेरी ओर मुखातिब न हों, आप मेरी उपेक्षा करें। तो मैं संसार को पसंद करूँ और संसार मेरा तिरस्कार करे।

इस जीवन को देखो, कैसा लगता है। और आपके पास जो शरीर है समाज इसको अपनी वस्तु मान करके उसकी रक्षा में, सेवा में लालायित रहे और आप अपने लिए उस शरीर की आवश्यकता अनुभव न करें। इस जीवन को देखो, दोनों में से कौन-सा पसंद आएगा पहला कि दूसरा? जी! दूसरा। तो मैं क्या बताऊँ मानव सेवा संघ के सत्संग के प्रकाश में यह बात बहुत ही स्पष्ट रूप से विदित हो गई मुझे कि संसार में कुशलता से रहना है तो भी संसार के बंधन से मुक्त होकर अविनाशी जीवन से, अविनाशी परमात्मा से अभिन्न होना हो तो भी सत्संग की बड़ी भारी आवश्यकता है। अगर आप संसार से लेने की आशा करेंगे तो उसकी पराधीनता से कभी मुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि आशा में ही तो बँधा है व्यक्ति, वस्तु तो हमेशा से छूटी हुई है। वस्तु तो है नहीं आपके भीतर, घुस ही नहीं सकती प्रवेश कर ही नहीं सकती। तो उसकी आशा में ही व्यक्ति बँध जाता है। और प्रकृति की इतनी उदारता है कि शरीर जे हमको मिला है साधन-सामग्री के रूप में, संसार के बंधन से मुक्त होने के लिए तो उसको प्रकृति ने ऐसा बनाया कि एक बार थोड़ा उस पर ध्यान दे करके कुछ समय के लिए उसकी सेवा कर दो तो कई घंटों के लिए व्यक्ति तिमम रहता है। उन शरीरों को लेकर सेवा-निवृत्ति के द्वारा पुराने रागों को निवृत्त करने के लिए और शान्ति-सम्पादन में शरीरों से तादात्म्य तोड़ने के लिए उन शरीरों की असंगता में अविनाशी जीवन के अनुभव के लिए काफी ेबवचम है, खूब समय दिया गया है। 24 घण्टे के समय को ठीक प्रकार से आप बाँट कर देखिए तो जिसने शरीरधारी बनाया अपने लोगों को ओर जिसने इस प्राकृतिक पदार्थ में निर्वाह किया संसार में, उसने ऐसा नहीं किया कि 24 घण्टे हमको शरीर के साथ उलझा रहना पड़े। ऐसा नहीं बनाया।

एक बार एक समय स्वास्थ्यकर, हितकर, निष्क्रिय-भाव से शरीर की सेवा कुछ देर के लिए कर दो तो कई घंटों के लिए इसकी ओर से तिमम होकर हम लोग इसका उपयोग साधन-

सामग्री के रूप में कर सकते हैं। अपनी ही भूल से उसी को प्रधानता देकर, उसी के पीछे पड़े रहने में, उसी के माध्यम से जगत्-भोग का इन्तजाम करते रहने में बहुत सारा समय जीवन का निकल गया। और अब क्या हो गया? कल एक चिट्ठी मेरे पास आई। मैं उत्तर दे रही थी। तो उन सज्जन को मैं सन् 1937 से जानी हूँ, तब वे 17-18 वर्ष के युवक थे अब वे तमजपतमक हो गए हैं। बड़ा लम्बा समय बीत गया। इस सारे लम्ब समयके भीतर हमेशा ही जब कभी उनका पत्र आया तो समस्याओं से ही भरा हुआ आय। अब कई बच्चों के बाप हो गए हैं ेमतअपबम खत्म हो गई, तमजपतमउमदज हो गया अब भी उनकी समस्याएँ ही समस्याएँ हैं। तो जब पढ़ रहे थे तो पढ़ाई का इन्तजाम नहीं था, समस्याएँ थीं। विवाह हो गया बच्चे हो गए तो बच्चों के लालन-पालन, पढ़ाई का इन्तजाम नहीं था, उनकी समस्या थी। नौकरी खत्म होने लगी तो छूटने का डर हो गया यह तमजपतमउमदज हो जाएगा तो क्या करेंगे वह समस्या हो गई। और अब तो वह घड़ी सिर पर आ ही गई तमजपतमकउमदज हो ही गया अब यह समस्या हो गई। अब कहाँ रहें, क्या करें तो जिस दिन जीवन आरम्भ किया था उस दिन भी समस्या थी, जिस दिन पढाई-लिखाई, नौकरी-चाकरी, शादी-ब्याह, बाल-बच्चे हो गए उस दिन भी समस्याएँ थीं और अब सब छूट रहे है। तब भी समस्या है। आफत है कि क्या है? जिन्दगी है कि समस्या की ढ़ेरी है, पूछो भला। तो बनाने वाले ने इसीलिए बनाया क्या? सारी जिन्दगी अपने लिए समस्याएँ पैदा करते रहो और रोते रहो। यह तो मानव का जीवन नहीं है। बनाने वाले ने ऐसा नहीं बनाया। उत्तर देते समय बड़ा अजीब सा लगा कि इस भले आदमी को अब मैं क्या हूँ। अब शरीर थकित होने लग गया। अब तक जिस बल पर काम कर रहे थे वह बल भी खत्म हो गया। तो साधन की सामग्री जो मिली थी उस सामग्री के खत्म होने के दिन आ गए और साधना के आधार पर उस सामग्री से तिमम होने की सामर्थ्य आपमें नहीं आई। ठीक है न।

जिसने बनाया उसने साधन-सामग्री किस लिए दी? तो उसने इसलिए दी कि अब तक तुममें शरीर धारण करके जगत् में खेलने-कूदने का शौक था तो प्रकृति के विधान ने तुमको अवसर दे दिया। अब तक तुमने जीवन-मुक्ति का पुरुषार्थ नहीं किया तो प्रकृति ने अपनी उदारता से एक बींदबम और तुमको दे दिया। तो इस बार जो साधन-सामग्री मिली है भाई, उसका ठीक उपयोग करके सामग्री के खत्म होने से पहले अपनाकाम तो पूरा कर लो। तो कौन-सा काम? शरीरों की आसक्ति से मुक्त हो जाओ, समाज और प्रकृति के द्धण से उद्धण हो जाओ, जीवन-मुक्ति के आनन्द से भर जाओ। जीवन दाता, जन्म दाता, परमप्रेमास्पद के प्रेम के रस से भर जाओ। उसके बिना तो समस्या हल होती नहीं है।

एक साधिका, एक बहन मुझे किसी कारण से, क्या उनके मन में था मैं नही जानती हूँ मेरे पास निश्चिन्तता से बैठकर धीरज से कहने लगी कि माता जी अब तो मैं जा रहीं हूँ, तो मुझे बड़ा मजा आ गया। मैंने कहा बहुत खुशी की बात है भाई जाओ। अरे! आप इतने सहज से कह देती हैं, जाओ। तेा हमने कहा मुझे तो कोई नयापन लगता नहीं है। जाओगी कहाँ? अनेक बार यहाँ से जाना हुआ है और जा करके यही लौट कर आना हुआ है, तो हम काहे को घबराएँ? जाना चाहती हो तो जाओ। जाओगी कहाँ? इस भौतिक सीमा के बाहर तो जाना होगा ही नहीं। तो मुझे परेशानी क्या

है। जाना चाहती हो जाओ, फिर लौटकर आ जाओगी यहीं। हमको क्या करना है? सोच कर देखो न। अगर संसार से जो कुछ लिया है हमने उस पर से अपना अधिकार नहीं उठाया, उससे व्यक्तिगत सुख भोगना नापसन्द नहीं किया, अपने पास जो कुछ बचा-खुचा रह गया है उसको ले करके

सधन्यवाद संसार की सेवा में अर्पण नहीं किया तो इसका राग मिटेगा नहीं। इसका आकर्षण खत्म नहीं होगा तो अपने ही में विद्यमान अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति कैसे होगी भई? तो कदम तो यहीं पर रुका रहता है, और हम अविनाशी जीवन की कल्पना करते रहते हैं।

बहुत सोचने की बात है। और आप कहेंगे नाम लेने को तो कहा नहीं, ध्यान करने को सिखाया ही नहीं, व्रत-उपवास करने को सिखाया ही नहीं तो यहाँ तो कोई साधना हीं नहीं सिखाई गई। ऐसी किसी-किसी का ख्याल हो सकता है। अभी मुझे एक पारसी महिला मिली थी उनकी लड़की ने एक सनातनी लड़के से ब्याह किया। तो उसी सम्बन्ध में वह अपनी समधिन के साथ मिलने आई, तो ऐसे ही सूत्र हमारे कमरे में जगह-जगह पर टँगे हुए थे। सत्संग का प्रोग्राम चल रहा था तो 2-4 सूत्रों को पढ़कर कहने लगी कि यह तो बहुत अच्छी चीज मालूम होती है। तो मैंने कहा हाँ, अच्छी चीज है ठीक है। तो मुझे मिल सकती है क्या? तो मैंने मँगवाकर उन्हें दे दिया ेजवबा में से। मैंने कहा दे दो इनको। ले लिया उन्होंने फिर कहने लगी बहन जी, तो हम आश्रम में आएँगे, आपका सत्संग सुनेंगे। मैं भी साधना कर रही हूँ। मैंने कहा बहुत अच्छी बात है हिन्दी तो नहीं बोल पा रही थी, अँग्रेजी ही अँग्रेजी बोल रही थी। बहुत पढ़ी-लिखी महिलाएँ थीं सब। तो कहने लगी कि देखिए मैं साधरना कर रही हूँ। ओर सचमुच उस दिन उनको जलपान चाव गवैरह दिया तो उन्होंने लिया नहीं। कहा, मेरा व्रत है। तो मैंने सोचा लड़की का ब्याह कर रही है, कुछ व्रत-उपवास कर रही होगी। तो हमने कुछ कहा नहीं। तो महिला कहने लगी मुझसे कि मैं उपवास कर रही हूँ। पहले मै। चास पीकर करती थी, अन्न और फल नहीं लेती थी। अब मैंने चाय छोड़ दिया है, केवल जल पीकर कर रही हूँ। और बहनजी मेरा ऐसा विचार है जल पीकर के व्रत करना जब मेरा सध जाएगा तो उसके बाद मैं निर्जल करूँगी। इससे काम तो ठीक बनेगा न! तो ऐसी साधना हम कर रहे है।, करेंगे। अब मैं उस महिला को क्या कहूँ कुछ कह नहीं सकी। उसको हतोत्साह भी नहीं करना था मुझे और पारसी ढंग की साधकना किस तरह की होती है मुझे परिचय भी नहीं है। बीच में मैं अपना कुछ लगा दूँ तो बिचारी गड़बड़ा जाए, इसलिए समय भी नहीं था। ज्यादा समझाया-बुझाया नहीं मैंने लेकिन भीतर-भीतर मैंने सोचा, महिला में दृढ़ प्रतिज्ञा तो बहुत अच्छी बात है भाई। अन्न छोड़ दिया फिर फल छोड़ दिया फिर चाय और दूध छोड़ दिया तो अब दिनभर प्रातः काल से लेकर संध्या समय तक जल पीकर रहती हैं। और उस दिन मुझसे कह रही थी कि उनकी लड़की यास्मीन का विवाह हो जाएगा, अब मैं ऐसा व्रत करूँगी कि जल भी नहीं लूँगी। तो मैंने उनको कहा ठीक है। जितना तप आप कर सकती हैं भले करिए, लेकिन हठ करने की जरूरत नहीं है। शरीर को ज्यादा जरूरत पड़े तो दे देना। कह करके उनको मैंने विदा किया।

लेकिन अपनी ओर से मैं ऐसा सोच रही हूँ कि उनके लिए कितना कठिन व्रत है फिर भी उनको लगता है कि यह साधना है। ऐसा करने से

सफलता मिल जाएगी। ऐसा वे सोच रही हैं तो मैं तो ऐसा नहीं सोच रही हूँ। मैं ऐसा सोच रही हूँ कि शरीर को अपना मान करके उसको अन्न और जल के बिना तपाओ तो तप का फल तो होता है, बल बढ़ता है, मन संयमित होता है लेकिन जिस शरीर को अन्न और जल के बिना तपा रहे है, उसको अपना मानते रहिए, उसके महत्त्व को जीवन में धारण करिए तो उस शरीर से अलग होते नहीं बनेगा। यह बात पकड़ में आती है? जी! और शरीरों की ममता नहीं टूटे उससे असंग होते नहीं बने तो देहातीत जीवन की अभिव्यक्ति अपने लिए बहुत दूर की बात हो जाएगी। ऐसे ही इस विषय पर बहुत विचार करके देखने की बात है, कि शरीरों को अपना न मानना, उसको साधन-सामग्री मानना और जगत् का मानकर जगत् की सेवा में लगा देना बहुत मामूली बात होती है उनके लिए, जो ऊँचे विचार और ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले और ऊँचे-ऊँचे सत्संग सुनने वाले लोग हैं।

एक महिला मुझे मिली तो कहने लगी, यह तो बहुत साधारण स्तर की बातचीत हो गई। तो मैंने मन में सोचा कि शरीरों को अपना न मानना, जगत् के साथ उसके सम्बन्ध को जानकर के जगत् की सेवा में उसको लगाना यह अगर मामूली बात है और इसको मामूली बात जानकर के छोड़ दो और जिसे विशेष साधन समझते हो उसमें अपने को लगाओ तो लगाते-लगाते कितना समय बीत जाए साधना कभी पक्की ही नहीं हो पाएगी। सोचकर के देखो तो मामूली सी बात नहीं है, बहुत जोरदार बात है। अपना न मानना, अपने लिए न मानना, जिस उद्देश्य से यह सामग्री मिली है उस उद्देश्य की पूर्ति में इसे लगा देना यह इतनी जोदार साधना है। जिसने कर लिया वह पार पा गया। हम लोगों को भी इस दृष्टि से बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

अब उसके आगे की बात देखो। अब क्या कहते हैं अनुभवी संत। यह कहते हैं कि शरीरों को लेकर समाज के काम आने लग जाओ तो प्रकृति, परमात्मा, समाज इतने उदार हैं कि जितना तुम अपनी तरफ से देना पसंद करते हो उससे कई गुना अधिक वे तुझको दे देते हैं उसी समय, तत्काल, यह तो मैंने देखा है। कई जगह आश्रमों की स्थापना हुई है। स्वामी जी महाराज ने उन्हीं दिनों में कहा था और अब वे बातें मेरे सामने प्रत्यक्ष होकर आ गई। तो पहले पहल जिन सज्जन के मन में आया कि मेरा एक छोटा सा बगीचा है उसमें दो कुएँ हैं और इतनी सी जमीन है तो आश्रम बनाने के लिए मैं उसका दान करूँगा। अच्छी बात है भई कर दिया उन्होंने। तो इतनी छोटी-सी जमीन, एक छोटा-सा बगीचा उन्होंने अपनी ओर से दान किया सहज भाव से, इस उद्देश्य से कि वस्तुएँ जो अपने पास आई हैं उन वस्तुओं में से कुछ अच्छे काम में लगना चाहिए। ऐसा भाव होता है आदमी का। ऐसा समझ कर उन्होंने दान किया। और जैसे ही उस पर मानव सेवा संघ का ठवंतक लग गया और सत्संग होने लगा तो उसी साल 6 महीने के भीतर-भीतर जितनी जमीन पहले दान करने वाले सज्जन ने दी थी, मैं सोचती हूँ कि उससे दस गुना अधिक और मिल गया। किसी ने उसके पास वाला प्लॉट खरीदकर उसे साथ जोड़ दिया। उसके दाएँ-बाएँ, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जहाँ तक जगह मिल सकती थी उस नगर के लोगों ने मिलाकर इतना बड़ा बना दिया कि उस सज्जन ने जितना दिया था उससे दस गुणा अधिक हो गई। तो महाराज जी यह कहते हैं कि देखो भई, समाज है, प्रकृति है,

परमात्मा है ये इतने उदार हैं कि तुम इतनी-सी उदारता दिखाओगे, तो यह द्धणि नहीं रहते किसी व्यक्ति के। ये उससे बहुत

अधिक उदारता तुम्हारे साथ कर देते हैं, भर देते हैं। तो अब हमको क्या करना चाहिए? तो जो मैं आपकी दृष्टि में लाना चाहती हूँ वह यह बात है कि शरीर और संसार के सम्बन्ध में निर्वाह में, सेवा के व्रत में आहुति देते समय भेंट-पूजा चढ़ाते समय ज्ञान के प्रकाश में इतने सावधान रहो कि तुम्हारी सेवा की भावना के बदले में जो प्रकृति, समाज और परमात्मा तुम्हारी सेवा करने लगे, तो तुम कर्त्तापन के अभिमान में मत फँस जाना। यह खास बात हो गई।

मैं बड़ा उदार तो समाज जब तुम्हारी सेवा करने लगे तो अधिक-अधिक लेने के लोभ में मत फँस जाना। ऐसा होता है। मैंने तो बहुत ही शुष्क और कठोरता के स्तर से साधना के जीवन को आरम्भ किया तेा कहाँ-कहाँ फँसावट आती है, कहाँ-कहाँ व्यक्ति अपनी दबी हुई दुर्बलताओं का शिकार बन जाता है। मुझको मालूम हैं, मैंने देखा, मैंने अपनी दशा का अध्ययन किया है। और आप भाई-बहन भी उसके शिकार न हो जाएँ, आप बच जाएँ इसलिए मैं अपना अनुभव आप लोगों को सुना रही हूँ समाज की उदारता। आप बहुत भाई-बहन यहाँ ऐसे बैठे हैं जो समय-समय पर आकर के पूछते रहते हैं, बहन जी, कोई सेवा बताइए। कोई जरूरी काम हो तो बताइए। तो मै। अपने साधकों को सावधान करती रहती हूँ कि देखो भई, समाज जब उदारतापूर्वक तुम्ळारी सेवा करने लगे तुम्हारा विश्वास करके, तो आती हुई अनुकूलता को देखकर अपनी जरूरतों को बढ़ाते मत जाना। नहीं तो पहले जितने द्धणी थे, उससे अधिक द्धणी बन जाओगे। क्योंकि परिश्रम करके कमाया हुआ पैसा जब आदमी खर्चने चलता है तो जरा सोच-समझ कर खर्च करता है। कम से कम में काम चले ऐसा सोचकर खर्चता है और समाज आकर बरसाने लगता है उदारतापूर्वक। यह भी अपनी सेवा में ले लीजिए, यह भी अपनी सेवा में ले लीजिए। उस समय साधक अपनी जरूरतों को अगर बढ़ाता चला जाए तो वह फँसेगा कि छुटेगा? जी! फँसेगा। हुआ है ऐसा। कई बार मैंने अपने भीतर इस प्रकार से समाज-सेवा के बदले में बिना मेरे माँगे, मेरे पास वस्तुएँ आ रही हैं तो इनका उपयोग करने में अपने को हिचकाना नहीं चाहिए? इस अनुकूल परिस्थिति के भीतर अपनी बढ़ती हुई लालच के, लालच कहूँ तो थोड़ा छोटा ही शब्द बनेगा, लिप्सा कहूँ तो और ज्यादा चोट लगेगी दिल पर। तो ऐसे चोट लगाने का काम मैंने किया है। सोच विचार करके, जानबूझकर के, यह अपने को थोड़ा अपमान लगेगा थोड़ा धक्का लगेगा, तो सावधानी रहेगी। इसलिए महाराज जी ने कहा, शरीर और संसार के सुन्दर निर्वाह के लिए बढ़िया से बढ़िया बात है कि इन दोनों को तुम अपने लिए न मानना। यह साधन-सामग्री है, संसार की वस्तु है। सेवा में लगाना यह पहला कदम हुआ और की हुई सेवा के बदले में अपने लिए शरीर और संसार से कुछ पसन्द मत करना। यह ज्ञान की बात हुई। ज्ञान के प्रकाश को ले करके सेवा के क्षेत्र में आदमी को घुसना चाहिए।

जगह-जगह मानव सेवा संघ की शाखाएँ बनी हुई है। कई शाखा के सत्संगी भाई-बहन यहाँ उपस्थित हैं तो जब उनके यहाँ सत्संग का समारोह होता है तो कहते हैं कि बहनजी कोेई सेवा-प्रवृत्ति शुरु करवा दीजिए, तो बहुत अच्छा रहेगा, जन-समाज का हित होगा तो मैं कहती हूँ कि महाराज जी ने मुझको ऐसा दृष्टिकोण दिया कि

देवकी जी, पहले सही सेवक बनाना। तो सही सेवक कहीं बन जाएगा तो उसके द्वारा तुम्हारे किए बिना बढ़िया-बढ़िया सेवा-कार्य होने लग जाएँगे। तो बाहर से सेवा-कार्य दिखाई देता हो और भीतर से सेवा करने वाले में सुख-लोलुपता बढ़ती जाए, कर्त्तापन का अभिमान बढ़ता जाए तो उसके द्वारा किए गए काम से अगर उसी का कल्याण नहीं हुआ तो उसकी सेवा-प्रवृत्ति से जग का उद्धार हो जाएगा? नहीं होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि आपने जो सेवा-कार्य करने शुरु किए हैं वह छोड़कर बैठ जाएँ, यह अर्थ नहीं है। अपने पास सामग्री है तो सामग्री का उपयोग किए बिना आप छूटेंगे कैसे? तो जीवन-काल में उपयोग कर लेना हैं, नहीं तो कुछ लोग आखिरी घड़ी तक सँभालकर रखे ही रहते हैं, रखे ही रहते हैं। तो पीछे चलकर क्या होगा? तो मैं सोचती हूँ कि जीव-काल में उसका सदुपयोग न कर लिया तो मेरे मरने के बाद कौन गारन्टी है, सदुपयोग होगा। मरने के बाद और कुपात्र के हाथ पड़ गई तो दुरुपयोग होगा कि नहीं होगा। तो इसलिए प्राप्त सामग्री को सेवा के कार्य में लगाना अनिवार्य है। लगाए बिना छुट्टी मिलेगी नहीं। लेकिन कार्य आरम्भ करने से पहले कर्त्ता को ज्ञान के प्रकाश में अपने को निष्क्रिय बना लेना बहुत जरूरी बात है।

तो प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर जगते ही व्यक्तिगत सत्संग के रूप में अकेले में बैठ करके अपने सम्बन्ध में जब विचार करिए तो ज्ञान के प्रकाश में जीवन को देखना, प्रभु-विश्वास में उनकी शरणागति लेकर समर्पण-भाव लेकर शान्त रहना। देहातीत जीवन की अनुभूति के लिए, शरीरों की असंगता में विश्राम लेना, यह सब आपका व्यक्तिगत सत्संग हो गया। यह सब आपका नित्यनियम हो गया। उसके बाद जब कर्म के क्षेत्र में सेवा करने चलें तो इन मौलिक बातों को पाठ दोहराने की तरह दोहरा करके चलें। जो कुछ मेरे पास है, मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं। सब संसार का ही है। और संसार को देना है वापिस और इस भलाई के बदले में समाज जो मुझे अनुकूलता देगा उसका भी भोगी नहीं बनना है, उसका भी भोगी नहीं बनना है। और फिर कर्त्तापन के अभिमान से तिमम रहना है। तो सेवा करेंगे उसके बदले में कुछ चाहेंगे नहीं। और बिना मेरे चाहे, बिना मेरे माँगे समाज बहुत कुछ देगा तो उसके भोगी नहीं बनेंगे। इनती सावधानी भीतर-भीतर लेकर करके आप सेवा के क्षेत्र में प्रवृत्त होइए और खूब प्रेमपूर्वक सेवा कीजिए। और मैंने तो ऐसा पाया है कि इतना स्पष्ट दृष्टिकोण लेकर सेवा के क्षेत्र में आपने प्रवेश किया तो तन से, मन से पूरी लगन के साथ जो सेवा-कार्य आपके सामने आया है वह कर रहे हैं। उसी बीच में ज्ञान के प्रकाश में आपको याद आ गया कि इसमें से मेरा कुछ नहीं है और प्रभु-विश्वास के भाव में, ध्यान में यह आ गया कि न जाने मेरे भीतर का राग मिटाने के लिए, मेरे परम हित-चिन्तक, मेरे प्यारे प्रभु ही सेव्य बनकर आ गए हैं, सेवा स्वीकार कर रहे हैं। जरा सी देर के लिए चेतना के स्तर पर यह बात आई नहीं, कि उसी समय इतनी सरसता, इतनी रस-तरंग जीवन में भर जाती है कि शरीर जहाँ के तहाँ, ज्यों के त्यों शिथिल, जैसे के तैसे रह जाता है। सेवा करने वाले के भीतर का यह भाव और उसकी यह सरसता बाहर भी फैल जाती है। और जिनकी सेवा आप कर रहे थे उनको भी इतना रस आ जाता है कि वे भी जहाँ के तहाँ जैसे के तैसे, बैठे के बैठे रह जाते हैं, देखते के देखते रह जाते हैं। आनन्द बरसता रहता है दोनों ओर से और काम करने वाले और सेवा लेने वाले दोनों उस रस

के प्रवाह में आनन्द लेते शिथिल, जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। होता है ऐसा।

मुझे बहुत अच्छा लगता है और इसी आधार पर मरणशील शरीर को लेकर नाशवान् जगत् में सेवा की प्रवृत्ति में लगे हुए साधकों की सेवा में मैं निवेदन करती हूँ कि तुम्हारे व्यक्तिगत की रचना ऐसी विलक्षण है कि अभी-अभी संसार के साथ जगत् का एक अंश बनकर, जगत् के व्यवहार में लगे हैं आप और उसी के भीतर व्यवहार में लगे हुए ही ज्ञान के प्रकाश में प्रभु-विश्वास के प्रभाव में देहातीत जीवन का अनुभव कर सकते हैं। होता है ऐसा। सत्य है यह। वह रस नित्य-जीवन का रस, परम शान्ति का रस, प्रभु-पे्रम के भाव का रस, वही तो जीवन का रस है। उसी के आधार पर हम भाई-बहन अपनी सत्ता अनुभव कर रहे हैं। उसी के विमुख हो जाने के कारण जगत् में जगह-जगह ठोकरे खाते फिर रहे हैं। जिनको पराया मानते हैं उनकी ठोकरे कड़वी लगती हैं। जिनसे मोह का सम्बन्ध माना है, प्रभु के मंगलमय विधान से अपनी निजी आत्मीय सम्बन्धी कहलाने वाले भी ठोकरे देते हैं। और धिक्कार है मेरी जड़ता को कि चेतना नहीं आती। ऐसा होता है कि नहीं? होता है। क्या दुर्दशा करके बैठे हैं देखो तो सही। ऐसा मत करो, ऐसा मत करो लड़के नाराज हो जाएँगे। ऐसा मत कहो, बहू बुरा मानेगी। अरे बेटे-बहू तुम्हारे पास आए तो थे माँ-बाप का राग मिटाने के लिए, कि उनकी गुलामी में बँधने के लिए? जी! सास बनी थी तो पराए घर की बेटी को लाकर अपने राग से मुक्त होने के लिए उस पर अधिकार जमा कर उसमें सेवा भोगने के लिए। काहे के लिए सास बनी थी? सोचो तो बड़ा रहस्य है जीवन का। इतना चतंबजपबंस है इतना चतंबजपबंस है कि अगर है अगर इन बातों पर ध्यान नहीं जाता, व्यवहार करने में अगर हम इतने सावधान नहीं होते हैं तो ग्रन्थों के जो महावाक्य हैं वे जीवन में सिद्ध होते हुए अनुभव में तो नहीं आते।

पति बने थे पत्नी के राग से मुक्त होने के लिए कि उस पर अधिकार जमाने के लिए, कि अपनी रूचिपूर्ति में उसको खुराक बनाने के लिए। पत्नी बनी थी पति के राग से मुक्त होने के लिए कि उसको अपनी खुराक बनाने के लिए। तो सत्संग तो ऐसा होना चाहिए कि जीवन के प्रत्येक पहलू को बिल्कुल साफ कर दे। मैंने जब मानव-जीवन के व्यक्तित्व को वैज्ञानिक ढंग से पढ़ा था बड़े गौरव के साथ बड़े गर्व के साथ कि मुझको बहुत जानकारी है।ज्ीमवतल व िचमतेवदंसपजल मनुष्य के व्यक्तित्व के तीन विशेष पहलू जीतमम कपउमदेपवदे कर्म, ज्ञान और पे्रम और इस पर बड़ा विषद विवेचन किया गया है। अंग्रेजी में लिखी हुई जो पुस्तकें और ज्ञान है, उनमें उलझ-उलझ करके जनकमदजे को उलझा करके कितना समय बिताया। संत के पास आकर के इतना सहज हो गया इतना सहज हो गया, कि अब तो जीमवतल के समर्थन, खंडन-मंडन की कोई जरूरत ही नहीं है।

मनुष्य को जरा सी देर शांत होकर बैठने में, भीतर-भीतर संसार चक्कर काटता है, उसके चिंतन से तुम्हें मुक्त होना है तो बस एक ही व्रत पर्याप्त है। जिसके पास संसार का दिया हुआ जो कुछ है, संसार! आपकी सेवा में अर्पित है। और बदले में तुम्हें क्या चाहिए भाई? तुम हमको दोगे तो बदले में हम भी तुमको कुछ देंगे। सो नहीं, मुझे तो आपसे कुछ नहीं चाहिए। क्यों? क्योंकि मेरा भरण-पोषण करने वाला, मुझे भरपूर करने वाला, मुझे हर प्रकार से अपनाने वाला, मुझे निजस्वरूप

से अभिन्न कराने वाला, मुझे जन्म-जन्मान्तर के ताप से मुक्त करके परम-शीतल, शांत, रसमय बनाने वाला मेरे भीतर है मेरे पास है। तो है विश्वरूप भगवान् अपने इस विश्वरूप के प्रलोभन से मुझे मुक्त करिए, अपने शांति स्वरूप में मुझे मिलाइए, अपने ज्ञान स्वरूप में मिलाइए, अपने प्रेम स्वरूप में मुझे मिलाइए। ऐसी यह प्रार्थना जब बन जाएगी तो काम हो जाएगा। समय निकल गया अब शांत हो जाइए।

प्रवचन(11)

जैसा कि साधारण रूप से कह दिया जाता है वह योग नहीं है। योग का विशेष अर्थ है कि इस समय हम लोग अपने को परामात्मा से दूर अनुभव कर रहे हैं। योग माने दोनों का जुट जाना। तो शरणागति की बड़ी भारी विशेषता है जिससे आज दूरी मालूम हो रही है उससे जुटा देगी। यह विशेषता है। कोई ज्ञान स्वरूप जुट जाता है और कोई शरणागत भाई होते हैं वे प्रेम स्वरूप से जुट जाते हैं। योग माने जुटे जाना और एक हो जाना। भगवत्-शरण भाई हैं क्या? आपका प्रश्न परसों से ही रखा हुआ है तो थोड़ी बातचीत कर ली जाए। करना होने में बदल जाए इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मुझे क्या करना चाहिए? करना होने में बदल जाता है किसका। जो अहं-शून्य हो जाता है उसका।

बहुत सहज बात है कि अपने को अहं-शून्य करना है, तो दोषों को जीवन में रखना नहीं है। दोष दिखाई दें तो उनको मिटाते जाओ और गुणों का अभिमान बनाना नहीं है। गुण दिखाई दे तो स्वामी जी महाराज ने एक बहुत छोटा-सा मंत्र सिखाया और कहा कि देखो भई मिठास कहीं भी है, तो खाँड की है ठीक है न। गुड़ बना लो, चीनी बना लो, मिश्री बना लो, मिठाई बना लो, शर्बत बना लो कितने विविध रूप में बदल डालो कहीं भी कोई वस्तु जीभ पर रखने से अगर मीठा स्वाद आता है तो जानने वाले को जानना चाहिए कि यह मिठास गन्ने में से आया है। चाहे कहीं भी हो और किसी रूप में हो। तो अहं-शून्य जिनको होना है, उनको अपने गुणवान परमात्मा का ही गुण है, यह मेरा नहीं है। गुणों का अगर अपने पर आरोप न करो तो गुण का अभिमान नहीं बनेगा। गुणों का सहारा लेकर समाज में ऊँचा होकर चलने की कोशिश न करो तो गुणों का अभिमान नहीं बढ़ेगा। भक्ति के आधार पर निर्भय रहो लेकिन गुणों का अभिमान लेकर अपने को बलिष्ठ अनुभव न करो तो अभिमान नहीं बढ़ेगा। तो जाने हुए दोषों का त्याग करते जाओ और मिले हुए गुणों का सदुपयोग करते हुए भी अपने को गुणवान मानने की भूल न करो, अहं का नाश होगा। और जिनके अहं का नाश होता है, जिनकी सारी शक्तियाँ समष्टि शक्ति के साथ जुट जाती हैं उनका करना होने में बदल जाता है। जो शरीर से करते भी हैं तो उनको ऐसा दिखाई देता है कि जैसे गंगा बह रही है, जैसे वृक्ष के पत्ते डोल रहे हैं वैसे इस यन्त्र में से भी एक प्रकार की ध्वनि निकल रही है। तो ध्वनि के साथ वे जुटे हुए नहीं होते हैं तो बोलता हुआ शरीर भी उनको ऐसा नहीं लगता कि मुझमें श्रम हो रहा है।

चलता-फिरता काम करता हुआ शरीर भी उनको ऐसा नहीं लगता है कि ये सब जारी क्रियाएँ मुझमें हो रही हैं, ऐसा उनको नहीं लगता है तो करना होने में किनका बदलता है? जो दोषों को जीवन में रखते नहीं हैं, गुणों का अभिमान नहंी करते हैं, कर्त्तापन अपना नहीं रखते नहीं हैं, जो असंग होकर रहते हैं या समर्पित होकर रहते

हैं, उनका करना होने में बदल जाता है। तो करना होने में बदले यह तो आखिरी बात हो गई। प्रारम्भिक बात क्या है कि जितना कर सकते हैं उतना जरूर करना चाहिए। काम करने की क्षमता अपने में है और उसको बचा करके रखो तो मतलब सिद्ध नहीं होगा, करने का राग नहीं मिटेगा, और करने का राग नहीं मिटेगा तो मरणशील शरीर से छुट्टी पाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। तो बढ़िया-बढ़िया बातों को हम लोग सीख लें और कहते रहने और सुनते रहने का मजा लेते रहंे तो न कहना खत्म होगा, न सुनना खत्म होगा और मतलब सिद्ध नहीं होगा।

ये हमारे भाई जी आते हैं, प्यारेलाल डागा जी बैठे हैं वहाँ, कितने दिन हो गए उनको स्वामी जी महाराज की संगति में, सेठ जी की संगति और हमारे पास भी जब कभी पत्र लिखते हैं और आते हैं तो एक बात मैं याद दिलाती हूँ कि बाबा सुनने का काम अब और कितने दिन बाकी है? तो बेचारे क्या कहते, हँस कर रह जाते हैं। तो सुनने की ताकत खत्म हो गई और सुनने का काम बाकी रह गया तो सुनना सफल हो गया क्या? जी! नहीं हुआ। शक्ति चली गई और जरूरत रह गई, तो ये बाजी हार जाने के समान हो गया। इस बार का मजा तो गया ही। अब प्रकृति फिर उदारता करेगी पल-पल करते छिनते-छिनते यह शरीर खत्म होगा।

प्रकृति के विधान में मेरे लिए उसके न्याय में मेरे लिए फिर श्रवण-शक्ति देने की बात रह गई होगी तो फिर से शरीर मिलेगा, फिर सुनने की ताकत मिलेगी। और नहीं तो कोई जन्म से ही अन्धा बहरा पैदा हो तो वह भी एक-प्रकार से भुगतान ही है और क्या है। तो करना होने में बदल जाए, यह उनका होता है जो प्राप्त सामर्थ्य का बहुत ठीक-ठीक सदुपयोग कर डालते हैं। काम मैंने किया और स्थूल स्तर पर वह सफल दिखाई देता है कि नहीं यह विचार तो दूसरे लोग करेंगे, लेकिन कर्त्ता को तो अपने किए हुए का फल तत्काल मिल जाएगा। किस रूप में, अगर उसने ईमानदारी से काम किया है और अगर करने का राग खत्म हो गया तो उसका काम तो पूरा हो ही गया और समाज का काम तो कभी पूरा होना ही नहीं है। सृष्टि का काम तो कभी पूरा होता ही नहीं। जब से सृष्टि बनी तब से चलने लगी और लगातार चल ही रही है और लगातार चलती ही रहेगी।

पिछली दफा स्वामी रामसुखदास जी आए थे हम लोगों के बीच। आमन्त्रित किया था हम लोगों ने। स्वामी जी महाराज के प्रेमियों में से हैं। जब वे वृन्दावन में होते हैं तो स्वतः भी कृपा करते हैं और समारोह था तो हमने समाचार भी भेजा था, महाराज आइए और हमारे सब साधक लोगों को कुछ कह जाइए। तो उस दिन जब वे भाषण दे रहे थे। श्रम परिश्रम की बात पहले मैंने की थीं उसके बाद उन्होंने गुरु किया था तो उसमें यह कह रहे थे कि जब महाप्रलय हो जाता है सारी सृष्टि एकदम नाश के रूप में छिप जाती है तो बहुत दिनों के लिए छिप जाती है, तो मालूम होता है कि सब क्रियाएँ बन्द हो गई हैं, फिर भी सब क्रियाएँ बन्द नहीं रहती हैं। क्योंकि हम लोगों को स्थूल दृष्टि से दिखाई देता है कि सब गतिशीलता शांत हो गई, बन्द हो गई, सब नाश हो गया। लेकिन उस नाश में और उस निष्क्रियता में भी भीतर-भीतर एक क्रिया हो रही है जिसकी पूर्ति हो जाने पर फिर से नई सृष्टि आरम्भ हो जाती है।

समझ में आता है। ेबपमदबम में से पदबनइंजपवद चमतपवक कहलाता है। हम लोग चेलबीवसवहल में इस रूप में इसकी

व्याख्या करते थे। पदबनइंजपवद चमतपवक का आशय यह है कि सब चमतचंतंजपवद आपने कर ली है सब तैयारी आपने कर ली, सब चीज सजा-सजा के कर करके जिस चीज को जहाँ रखना चाहिए रख दिया। तो बाहर से आपको कुछ करना नहीं है कुछ छेड़ना-छाड़ना नहीं है, लेकिन चुपचाप ठीक जगह पर ठीक तरह से रखा हुआ है तो उस रखी हुई हालात में ऊपर से नहीं, भीतर से उसमें अपने आप से कुछ क्रियाएँ, हो रही हैं जोकि एक खास समय पर प्रकट हो जाएँगी। तो इस तरह से गति तो नाश हुई नहीं। तो सृष्टि में कभी क्रियाशीलता खत्म हाख्ेख् ऐसी बात नहीं है लेकिन कर्त्ता जो है वह अगर अपना काम बहुत ही निष्ठा के साथ, सावधानी के साथ पवित्र भाव से भावित होकर, प्यारे प्रभु की प्रसन्नता का लक्ष्य लेकर, राग-निवृत्ति का लक्ष्ण लेकर कर डालता है तो उस कर्त्ता का काम पूरा हो जाता है। उसका राग खत्म हो गया तो काम पूरा हो गया। और बाकी सृष्टि का क्या होगा? तो मैं कहती हूँ कि पहले वीतराग होकर तो देखो पीछे चिन्ता करना, सृष्टि का मालिक तो परमात्मा है ही। अकेले काफी है, चिन्ता करने के लिए।

तो जिसने सृष्टि बनाई है वह सोच लेगा कि कैसे कि कैसे करना है, कैसे सँभालना है सो चिन्ता हम क्यों लें। अपने को पहले हम वीतराग बनाए तो सही। काम करने का जो अवसर मिला है उसको इतनी सावधानी से काम में लिया जाए कि करने की शक्ति रहते-रहते करने का राग खत्म हो जाए। तो जिनके करने का राग खत्म हो जाता है, उनका करना होने में बदल जाता है। जो सर्व समर्थ प्रभु के हो जाते हैं, अपना कर्त्तापन नहीं रखते हैं, उनका करना भी होने में बदल जाता है। कैसे बदल जाता है? कि वे स्वयं तो अपने प्यारे के प्रेम में छके रहते हैं और भगवत् कृपा से, उन करुणामय, के मंगलमय विधान से शरीर यंत्रवत काम करता रहता है, चलता रहता है उसमें कोई बाधा नहीं होती, कोई कठिनाई नहीं होती है। इसी तरह से शरीरों से असंग पुरुष जो होते हैं वे अपनी असंगता में आप प्रतिष्ठित रहते हैं और शरीर यंत्रवत काम करता रहता है। तो करना होने में बदल जाए यह बहुत बढ़िया बात है, बहुत ऊँची बात है। अब भाई मेरा पूछ रहा है कि इसके लिए मुझे क्या करना चाहिए। तो करना होने में बदल जाए इसके लिए अपने को जो काम सामने मिला है उसको बड़ी सावधानी से कर डालना चाहिए।

यह बिल्कुल प्रारम्भ की बात हो गई है और आपको कैसे मालूम होगा कि करना होने में बदल गया तो उसका अर्थ यह है कि अपने पर आपको कोई ेजतंपद नहीं मालूम होगा, श्रम नहीं मालूम होगा, थकान नहीं मालूम होगी, सफलता-विफलता का प्रभाव नहीं मालूम होगा। कुछ नहीं। जैसे करते समय आप असंग हैं ऐसे ही उसके शुभ-अशुभ फलाफल में भी प्रसन्न हैं, शांत हैं, स्थिर हैं अपने पर उसका कोई असर नहीं हो रहा है। तो ऐसा होता है तो कर्म क्षेत्र की पहली बात यह है कि जितनी क्षमता है अपने में उसको खर्च करने में चूकें नहीं। खर्च करें तो सर्वहितकारी भाव से करें। और छोटा से छोटा काम जो हाथ में लें तो पूरी विधि से उसको ठीक करें। और करने के साथ-साथ राग-निवृत्ति पर दृष्टि रखें, किए हुए कर्म की फलासक्ति अपने में न रखें।

ऐसा होना ही चाहिए। ऐसा हो जाए तो बहुत अच्छा है। और होता हुआ नहीं दिखता तो सत्य पर से हट जाओ, थोड़ा बहुत असत्य का मिश्रण कर लो, सहारा ले लो कि किसी तरह से काम तो पूरा हो। तो काम पूरे होने पर दृष्टि चली

गई और सत्य पर से दृष्टि हट गई तो काम बहुत बढ़ गया, हुआ कुछ नहीं।

एक जगह एक पण्डित जी कथा कर रहे थे तो बहुत दोहरा रहे थे बारम्बार कि अरे भई जैसे आटे में नमक डाला जाता है तो इतना सा आटा होगा तो इतना सा उसमें नमक डालेंगे। तो ऐसे ही जरूरत पड़ने से सत्य के बीच में इतना सा असत्य मिला सकते हैं। तो इस बात को बार-बार दोहरा रहे थे तो हमको इतना बुरा लग रहा था। हमने कहा कि आटे में नमक मिलाने में और सत्य में असत्य को मिलाने उसमें कोई तुलना है क्या? तो हमको तो बड़ा अजीब सा लग रहा था। हमने कहा कि लोग तो वैसे ही घबराए हुए रहते हैं सामने जो काम उनके आ गया उस काम को समाज में सफलतापूर्वक दिखलाने का राग इतना अधिक होता है कि आदमी ढुलमुल करता रहता है अरे भाई जाने दो इतनी-सी झूठ तो बतानी ही पड़ेगी। अब जाने दो इतनी सी बात बदलकर बताने में क्या है, तो कह ही डालो। तो आदमी तो ऐसे ही दुविधा में फँसा रहता है और पंडित जी कथा कह रहे थे और बारम्बार सुनाते जा रहे थे तो हमको ऐसा लगा कि पंडित जी जरूर ऐसा करते होंगे। खुद इनके भीतर अपने में बवदपिकमदबम नहीं है कि सत्य में असत्य मिलाए बिना काम चल सकता है। इसलिए बार-बार उसकी पुष्टि कर रहे हैं। तो देखने में लगता है कि व्यवहार-कुशलता का यह भी एक ढंग है कि अब जरूरत पड़ गई तो उसमें थोड़ा असत्य भी मिला दो। लेकिन आप देखिये कि काम सफल हो गया कि आपकी सारी साधना ही विफल हो गई। कैसा लगता है? साधना विफल हो गई न। तो कौन-सा काम निकला भाई? अगर हम यह कहें कि काम चलता नहीं हैं।

बोध गया में विनोबा जी का बनाया हुआ समन्वय आश्रम है। बोध गया में बुद्ध भगवान का स्थान जो है उसके पास ही वह आश्रम बना हुआ है। तो वहाँ पर 1969 में डममजपदह व िडपदके आराध्य देवाकर जी ने बुलाया था। स्वामी जी महाराज गए थे। हम सब लोग गए थे। बहुत से साधु संतों को बुलाया था उन्होंने, यह कहने के लिए कि भई अब देश का कल्याण कैसे हो। राजनीतिज्ञों को, नेताओं को क्या करना चाहिए। बहुत से संत आए थे और बहुत से संत नहीं आए थे, तो जो लोग नहीं आए थे उन्होंने अपने-अपने विचार व संवाद लिखकर भेज दिया था। स्वामी चिन्मयानन्द जी ने अपना विचार लिखकर भेज दिया था। उन्होंने लिखकर भेजा था कि तुम लोगों ने डममजपदह बुलाई है बहुत अच्छी बात है। बहुत संत महात्मा आए होंगे बातचीत कर लो सलाह ले लो लेकिन मैं राजनैतिक लोगों को और राजनीति की दृष्टि से देश को सँभालने की बात तो कौन कहे मैं तो ऐसा अनुभव कर रहा हूँ कि साधकों के लिए जो जगह-जगह आश्रम बने हैं उन आश्रमों को भी शुद्धता से चलाने में मुझको कठिनाई हो रही है। यह उन्होंने लिखकर भेजा था मैंने सुना था उनका पत्र पढ़कर सुनाया गया था। कठिनाई हो रही है, ठीक है, अब कठिनाई को हल कीजिएगा कि अपनी साधना कीजिएगा। अच्छा, अब कठिनाई को हल करने के लिए आटे में नमक डाल देना आपने स्वाभाविक मान लिया तो करने का राग मिटा नहीं। राग मिटाने की साधना नहीं बन पाई आपकी तो सेवा आश्रम का क्या अर्थ हुआ सेवा का अर्थ क्या हुआ? साधना का अर्थ क्या हुआ? ऐसे तो सब लोग कमा रहे हैं, खा रहे हैं, निर्वाह हो ही रहा है और जो लोग अपने को साधक नहीं कहते हैं और जो लोग आश्रमों में

नहीं रहते हैं, वे सब लोग मिथ्यावादी होते हैं क्या? जी! सब नहीं होते। सर्वांश में मिथ्यावादी होते हैं? नहीं होते। साधकों की सूची में नाम लिखाए बिना और आश्रमों में वास किए बिना निज विवेक का आदर करने वाला आदमी समाज में होता है कि नहीं होता है? होता है। ठीक है न। तो निज विवेक के आदर की महिमा है और निज विवेक के आदर में हम लोग अधिक-अधिक बलिष्ठ हो जाए, इसी के लिए सारा इन्तजाम है। तो निज विवेक के आदर पर ही पर्दा डाल दिया तो कौन-सा काम निकला भाई। करने का राग समाप्त नहीं हुआ तो दुनिया का कौन-सा कल्याण किया मैंने।

तो करने का राग जो हैं, जैसा स्वामी जी महाराज ने खोज की है जैसे स्पष्ट शब्दों में कहा है वैसा और किसी के ध्यान में आया है कि नहीं? मुझे तो शास्त्रों का ज्ञान नहीं है लेकिन जो लोग जानते हैं वे लोग कहते हैं कि ये बिल्कुल ही विलक्षण बात सुनने में आई कि एक गिलास जल तुम ठीक प्रकार से नहीं पिला सकोगे तो तुम ध्यान नहीं कर सकोगे। और लोग जब ध्यान-हवन, जप-जप में लग जाते हैं तो कहते हैं कि अब मेरा घर के काम में मन नहीं लगता तो मुझे लगता कि कहीं खटका है, गड़बड़ है क्योंकि अध्यात्मक-जीवन में न कर्त्तव्य में नीरसता आती है न कर्त्तव्य से जी ऊबता है, न कर्त्तव्य से आदमी हटता है। यह है उसकी खास बात। प्रारम्भिक दिन जो है, हमारे जैसे हम लोगों ने अपनी साधना आरम्भ की है तो उन प्रारम्भिक दिनों में क्या करने से मेरा होने में बदल जाएगा इस पर ध्यान देना हो तो यहीं से आरम्भ करो।

जितनी सामर्थ्य है उसको खर्च कर डालना जरूरी है। रखना नहीं चाहिए, जी चुराना नहीं चाहिए किसी प्रकार से। और तीसरी बात यह है कि राग-निवृत्ति के लक्ष्य को सामने लेकर करना चाहिए। और कोई लक्ष्य जीवन में रखना नहीं चाहिए। तो लक्ष्य की पूर्ति हो जाए, जीवन की माँग पूरी हो जाए, दुख-निवृत्ति, चिर-शान्ति जीवन-मुक्ति भगवत-भक्ति जो भी आपको अच्छा लगेगा वह एक ही में सब शामिल है। इसी पर दृष्टि रखकर हम लोग काम करना शुरू करेंगे तो आगे चलकर करना होने में बदल सकता है। और प्रारम्भिक कदम में गलती होती रहेगी तो बहुत मुश्किल पड़ेगी। एक बात हो गई।

दूसरी बात यह है कि प्रेमी जनों को करना भी होने में बदलता है। क्योंकि वे भी बिल्कुल अहंशून्य होते हैं और जो लोग अहंशून्य होते हैं जिनको कभी भी ऐसा नहीं लगता कि यह काम मेरे करने से हुआ, ऐसा कभी नहीं लगता। तो सारी शक्ति मेरे दाता की है, मेरे परमात्मा की है, मेरे भगवान की है, हमारे प्रभु की है ऐसा वे मानते हैं तो प्रभु की शक्ति से प्रभु काम काम हो रहा है इस बात का पूरा, पक्का, विश्वास जिसको है, उसमें कर्त्तापन का अभिमान नहीं आता है और अभिमान नहीं आता है तो उसका भार भी उस पर नहीं पड़ता है, ेजतंपद भी उनको नहीं लगता है, उसमें किसी प्रकार का विकार भी शामिल नहीं होता है और करना होने में बदल जाता है।

स्वामी जी महाराज के अपने जीवन का अनुभव है। उन्होंने बताया था हम लोगों को मुँह जबानी बातचीत करते-करते कहा था और वह टेप में भी है प्दजतवकनबजपवद में और जगह-जगह साहित्य में भी है। उन्होंने कहा था कि देश की सेवा करते समय जब खूब काम कर रहे हैं और जय-जयकार के नारे लगा रहे हैं। पुलिस की लाठियाँ खाने के लिए बहुत उत्साहित हो रहे हैं। उत्साहित बहुत हुए थे और अपने सिर पर हाथ

फेरते हुए कहते कि गंजा सिर, बाल तो कटा हुआ होता था, नई उम्र थी। तो मुण्डन नहीं हुआ था, बाल कटे हुए थे पूरा चिकना घुटा हुआ तो कहते बड़ा शौक लगता देवकी जी, इस पर पुलिस की लाठियाँ पड़ेगी बड़ा मजा आएगा। लेकिन किसी पुलिस की लाठी उस पर पड़ी नहीं।

यह भी बताते थे, पड़ती कैसे। वह तो भगवत्-अनुराग से भरा हुआ जीवन था। उसकी रक्षा करने वाले को इतना कष्ट देना उन्होंने पसन्द नहीं किया होगा तो लाठी पड़ी नहीं, लेकिन ऐसा लगता था कि जैसे कोई भी मामूली आदमी एक शुभ प्रेरणा से प्रेरित हो करके काम जैसे करता है एकदम तन्मय हो करके, उसकी तरह से स्वामी जी महाराज कर रहे थे। व्याख्यान देना और नारे लगाना और जिला कांग्रेस के प्रेसीडेन्ट थे और प्रेसीडेन्ट की हैसियत से यह सब काम करना। ऐसे तन्मय होकर कर रहे थे जैसे कि कोई भी व्यक्ति करेगा। और संत ने जब पूछा तो उन्होंने बिल्कुल निर्भीक होकर बिल्कुल मुक्त कंठ से घोषित कर दिया कि मैं त्रिकाल में भी कुछ भी करता-कराता नहीं हूँ। मैं सदैव अपनी अखण्डता में ही स्थित हूँ।

तो करना होने में बदल गया था न, वे कुछ नहीं कर रहे थे, उनको अपना कुछ करना ही नहीं था। व्याख्यान देते समय आप लोगों ने सूना होगा बातचीत करते-करते कभी-कभी कह देते कि अरे भई, जैसे तुम सुनते हो, वैसे मैं भी सुनता हूँ यह भी कहा। कभी कोई बीच में से पूछे कि महाराज जी आपने ऐसी बात कही थी ऐसा कहा था, सो क्या था? अरे भाई, जो निकल गया सो निकल गया फिर कहते जैसे तुम सुनते हो वैसे मैं भी सुनता हूँ। मैं भी तो श्रोता हूँ। तो इसका मतलब क्या है? कि उनका बोलना न बोलना के समान था। जिस समय वह बोल रहे थे हम लोग के देखने में वे वक्ता थे उस समय वह सब प्रकार से शांत श्रोता थे।

ऐसा अहंशून्य व्यक्तित्व होता है। तो कार्य करते हुए भी उसको यह मिमस नहीं होता कि मैं कर रहा हूँ। आश्रम में कभी-कभी जो हम लोग टेप कर लेते कहीं भी, वृन्दावन में भी बहुत बार हुआ और दूसरी जगह भी। तो सुन लेते स्वामी जी महाराज। थोड़ी दूर पर कहीं बजा कर देखते होते कि देखें, ठीक आया है अथवा नहीं आया। और अपना ही कोई ेमदजमदबम उनके कान में पड़ जाए और सुन ले तो खूब ताली बजाते खूब हँसते और कहते वाह बाबा जी आपके बडे ठाट हैं, वाह बाबाजी। ऐसे जैसे दूसरा कोई दूसरे पर तमउंता दे, ऐसे कह देते। तो इसका अर्थ यह है कि सब कुछ करते हुए भी न करने का जीवन उनको प्राप्त था। यह असम्भव नहीं है, यह कल्पना नहीं, अनहोनी बात नहीं है। होती है, अनेकों संत अभी भी ऐसे हैं कि सब कुछ करते हुए भी न करने के समान बिल्कुल शांत, निश्चित, निर्भय, निद्र्वन्द्व जिनके अन्दर किसी प्रकार का विक्षोभ भी पैदा न हो ऐसा करके रहते हैं। तो वहाँ तक पहुँचने के लिए अपने लोगों को क्या करना चाहिए। तो यहीं से आरम्भ करना चाहिए। जहाँ भी कहीं अपने सामर्थ्य मालूम हो और करने का अवसर मिले चूकना नहीं चाहिए। जरूर खर्च करना चाहिए और प्रेमपूर्वक करना चाहिए, ज्ञानपूर्वक करना चाहिए, सद्भाव पूर्वक करना चाहिए, जीवन के लक्ष्य को सामने ले करके करना चाहिए। और किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर के काम करने में गलत-सलत, सत्य-मिथ्या का मिश्रण नहीं करना चाहिए। हो गया भगवत् शरण भाईं।

प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करने से करने का राग मिटेगा। और शक्ति मेरी है, मैंने किया और मैंने विशेष किया दूसरे लोगों ने नहीं किया और मेरी कृति का तमबवहदपजपवद करना चाहिए तो अगर यह रहेगा भीतर कि मैंने जो किया वह समाज की दृष्टि में आना चाहिए कि मैंने किया तो समाज तमबवहदपेम करेगा। इतनी अँग्रेजी तो आप जानते ही हैं। समाज तमबवहदपेम करेगा तो उसका फल क्या होगा कि हमको इच्छित वस्तु, सुविधा-सम्मान मिल जाएगा। तो इसलिए जो अपने को बहुत ही चतंबजपबंस पदजमसपहमदबम वाले लोग समझते हैं तो वे लोग ऐसा काम नहीं करते हैं कि श्रम भी लग जाए, समय भी लग जाए, योग्यता भी लग जाए और लोगों की नजर में भी न आए और लोगों के लिए फलदायक भी न हो, तो ऐसे काम में हाथ नहीं डालते हैं। ऐसे काम में हाथ डालते हैं कि काम अगर करे तो लोगों की नजर में आए कि इन्होंने इतना किया। और फिर उसका परिणाम बनेगा, प्रतिफल मिलेगा उसका भोग करेंगे। तो अगर इस प्रकार की मनोवृत्ति है तब तो राग मिटने का कोई प्रश्न ही नहीं है। तब तो राग नहीं मिटेगा लेकिन जिसको राग से मुक्त होना है उसको तो इन बातों पर ध्यान नहीं देना होगा उसे शक्ति का सदुपयोग करना होगा और करते हुए भी राग-रहित होकर रहना पड़ेगा।

उसके सम्बन्ध में मेरी एक सलाह है आपके लिए। सब लोग अपने लिए न लगाना। व्यक्ति-व्यक्ति का, साधक-साधक का जो वर्तमान हाल है, वह एक-दूसरे से भिन्न है। तो ये जो भाई है मेरे भगवत् शरण जी बहुत ईमानदार व सच्चे आदमी हैं लेकिन किसी न किसी तरह से कुछ मानसिक बवउचसपबंजपवद है, इसलिए मैं इनकी दशा के अनुसार उत्तर दे रही हूँ। आपको मैंने पहले भी बताया था और अब भी बता रही हूँ कि आप बिल्कुल सहज भाव से देख लीजिए कि क्या सही है क्या गलत है और उसको कर डालो और उसके बाद उसकी छानबीन मत करना।

उसमें गहराई में उतरना ही मत क्योंकि मानसिक कमजोरी के कारण जिसकी निश्चयात्मक बुद्धि की ताकत घट जाती है, वे फैसले पर पहुँच ही नहीं पाते हैं। इसको सोचेगें फिर इसमें भी उनको लगेगा कि अमुक-अमुक गलती है। दूसरा ंसजमतदंजपअम लेंगे तो उसमें भी लगेगा कि कहीं कमी न रह जाए। तो मानसिक दुर्बलता को ऐसा मान लीजिए कि जैसे अपने पास एक यंत्र है काम करने का और वह कुछ बिगड़ गया है। तो जितना वह कर सकता है उतना काम उसमें ले लो। बहुत ज्यादा उसके भीतर प्रवेश करने से फिर आप तकलीफ में पड़ जाते हैं। फिर द्वन्द्व की दशा पैदा हो जाती है इसलिए कभी मत सोचना।

तुम ईमानदार आदमी हो। जो सोचोगे, जो करोगे वह किसी के लिए हानिकारक हो ही नहीं सकता और आज तक हुआ भी नहीं। आपका कोई काम किसी के लिए हानिकारक नहीं है। बस इतने से सन्तुङ्ग रहना, ज्यादा गहराई में मत जाना और नाम रखा है स्वामी जी महाराज ने भगवत्-शरण। ठीक है न, तो जो आप नहीं कर सकते हैं उसकी जिम्मेदारी अपने शरण्य पर डालकर बिल्कुल निश्चिन्त रहो। तो मानसिक शक्ति बढ़ जाएगी।

तब भगवत्शरण जी ने कहा दीदी, आपको भी इस मामले में बिल्कुल भयभीत नहीं होना चाहिए। मत सोचिए कि क्या जाने मुझमें इस प्रकार का भ्रम हो जाए। नहीं होगा। इसलिए नहीं

होगा कि किसी के पास इतनी सामर्थ्य नहीं होती है कि वह अखण्ड रूप से गतिशील रहे। इतना भी कर्मठ व्यक्ति होगा क्या? इसलिए कि गतिशीलता के मूल में शांति रहती है तो शांति में से गति उत्पन्न हुई और शांति में जाकर विलीन हुई तो काम हो गया। तो जहाँ वह जाकर विलीन होगी वहाँ शांति-सम्पादन की साधना में हम लोग लग जाते हैं। सवेरे उठ कर मूक सत्संग करो, दोपहर में समय भोजन के बाद विश्राम के समय विश्राम में रहो, रात्रि को सोने से पहले मूक सत्संग में रहो। जितनी बार जिसको मौका मिले समर्पण भाव है, तो समर्पण योग में रहो। और विचारक हो तो मूक सत्संग में रहो। तो वह भूल जो आप बता रही हैं, नहीं होगी। साधकों से नहीं होगी और लवनदह ंहम में, नई उम्र तब होती है, जब क्रियाओं का वेग ज्यादा रहता है तो आदमी ज्यादा शक्ति खर्च कर लेता है, करना पसन्द करता और होना भी चाहिए लेकिन अब आपके लिए ऐसी कोई दिक्कत नहीं है। एकान्त से अदम्य शक्ति तो कोई है ही नहीं है।

जितनी है तो उतनी का सदुपयोग करने की बात है। तो अधिक से अधिक विश्राम का सम्पादन आपके लिए बिल्कुल स्वाभाविक पड़ेगा। और अगर मन की चंचलता नहीं रुकती है। शरीर शिथिल हो गया ऐसा होता है न कि काम करते करते शरीर तो थक गया और मन की चंचलता रुक ही नहीं रही है। नहीं रुक रही है तो इसका उपाय यह नहीं है कि उठकर के कुछ करने लग जाओ। अगर समर्पण भाव की साधना है तो प्रभु के समर्पित करके और छोड़ दो। थोड़ी देर उसमें हलचल मचेगी थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें आएँगी फिर धीरे-धीरे अपने आप वह शांत हो जाएगा। तो अपने निर्णय में संदेह कभी नहीं करना चाहिए।

किसी को नहीं करना चाहिए। तो अपना कल्याण मुझको अभीष्ट है इसलिए निर्णय गलत हो नहीं सकता। दूसरों का निकटवर्ती, जन-समाज का हित मुझको अभीष्ट है इसलिए निर्णय में गलती नहीं हो सकती। अब रही बात स्मअमस व िप्दजमससमहमदबम की और हमारी तरह जिनको चतंबजपबंस ंइपसपजल कम हो तो इस प्रकार की कमी पर भी मैंने अनेक अवसरों पर देखा है कि जो बात मेरी समझ-बूझ के, मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात थी लेकिन भीतर में भाव की शुद्धि होने से कोई करने वाला उसको ठीक-ठीक कर देता है। जब हो जाता है तब मुझको दिखाई देता है कि मैं तो इतना सोच ही नहीं सकती थी, मैं तो इतना समझ नहीं सकती थी, मेरे वश की तो बात ही नहीं थी। उसने सँभाल दिया। अपना तो एक ही है। भई दो चार है नहीं कि पता लगाएँ कि यह काम किसने किया। अपना तो एक ही है। तो पूछने की जरूरत नहीं, खोजने की जरूरत नहीं इसलिए बिल्कुल निद्रवन्द्व हो जाइए। हर समय हाय काम, हाय काम वह भी अच्छी बात नहीं है। अब सब समय कोई कर नहीं सकता है। केवल करने से राग से धुन में फँसा रहता है। तो धुन नहीं जाएगा इसका निवारण हो जाएगा। बहुत सहज से होगा।

अरे वह कहने से होगा या कर्त्तापन का अभिमान मिटाने से होगा? कहने से तो नहीं जाएगा। लक्ष्य वैसा रखो फिर अनासक्त बनो, वीतराग बनो, समर्पित हो फिर हो जाएगा, तो हो जाएगा। जब लगता है कि मैं कर रहा हूँ तो सावधान रहना चाहिए न। ऐसे तो वेदान्त दर्शन के आधार पर मैं ब्रह्म हूँ। तो एक वेदान्ती सज्जन

हमसे कहने लगे कि बहनजी, अगर जैसे लोग इन बातों को कहते हैं वैसे उनकी बातों को मान लीजिए तो उनके मुख से कहलवा दीजिए कि दुनिया में बहुत से ब्रह्म हैं। तो भई सूत्र के वाक्य जो होते हैं, सत्य के संकेत, वह तो आदर्श है न वहाँ तक चलने की निष्ठा है। आज जो अपनी दशा है वह देख देखकर चलना पड़ेगा।

वे दिल्ली में भ्पही ब्वनतज के जज थे। 1-2 बार हमारे पास भी आए थे भीखचन्द्र मिश्रा। करपात्री जी से सन्यास लिया है, बड़ा कठोर सन्यास। दण्डी स्वामी हो गए। 2 ही साल हुए हैं बने हुए तो जगह-जगह पर मुझसे उनकी भेंट होती रहती थी। राम तीर्थ आश्रम में देहरादून में थे तब वहाँ पर मिले थे, दिल्ली में आए थे, दिल्ली से यहाँ आए थे वृन्दावन में मिले थे।

विश्वनाथ बाबूजी ने बहुत कोशिश की कि मानव सेवा संघ से इनकी तृप्ति हो जाए। 2-4 बार यहाँ ले आए। हम लोगों के यहाँ भाषण भी दिलवाया, बात भी करवाई लेकिन जिनकी जैसी बनावट होती है, तो उनको वह सब पसन्द था। बहुत दिनों तक एकान्त में अनुष्ठान किया उन्होंने, उसके बाद करपात्री जी से सन्यास लिया, वह ही उनको पसंद था। अगर इसी तरह से हर आदमी कहने लग जाए कि मैं ब्रह्म हूँ तो फिर वह तो यही कहेगा कि दुनिया में बहुत से बह्म है। तो करना होने में बदल जाए यह बात तो बहुत बढ़िया है लेकिन अहम्-शून्य होकर देखो तब न पता चले। और नहंी तो उल्टा-सीधा काम करो और कहो कि हो रहा है।

दाल पकाते समय नमक की जगह चीनी डाल दो और कह दो कि मैं कर नहीं रही हूँ, हो रहा है। यह कोई साधन की बात थोड़े ही है। नकल करने से नहीं बनता, महावाक्यों को दोहराने से नहीं बनता। साधना करते-करते वहाँ पहुँचे तो काम बनता है। तो भगवत् शरण भाई ने तो यह पूछा कि मुझे क्या करना चाहिए तो प्रश्न कितना अच्छा है। बेचारे दूसरों पर नहीं ले जा रहे हैं हमदमतंसपेम करके नहीं बोल रहे हैं।

प्रवचन(12)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

प्रभु की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन मिलता है और उन्हीं का दिया हुआ अवसर है कि हम सब लोगों को जीवन के सत्य को स्वीकार करने का अवसर मिला।

इस समारोह की यह आखिरी बैठक है। तो इस समारोह की यह आखिरी बैठक है परन्तु हमारे जीवन में सत्संग की तो अखण्डता है। सब समय सत्संग के प्रकाश में ही चलना चाहिए कब तक? जब तक कि यह जीवन पूर्ण न हो जाए। तो इस दृष्टि से एक सप्ताह के भीतर जो भी कुछ जीवन का सत्य हम लोगों के सामने आया, जिस पर हम लोगों ने विचार किया उसमें से कुछ खास चुनी हुइ्र बातों को फिर से दोहरा लेना चाहिए। इसलिए कि उन पर हम सम्पूर्ण जीवन में प्रयोग करते रहे। तो संघ के प्रणेता संत ने एक बहुत क्रान्तिकारी बात हम लोगों के सामने यह रखी कि जीवन के पूर्ण विकास के लिए श्रम की ओर से विश्राम की ओर बढ़ना चाहिए। ऐसा नहीं कि संसार में शरीरों का निर्वाह करने के लिए अनेक प्रकार के श्रम हम कर रहे थे, अब शरीरों से अतीत अविनाशी जीवन से मिलने के लिए भी कुछ श्रम करना पड़ेगा। ऐसी बात नहीं है।

क्या करें? तो महाराज जी कहते हैं कि भई श्रम तुम्हारे पास है, श्रम करने की सामर्थ्य है

तो सेवा करो, खर्च करो उसे। और जो तुम्हें शान्ति-सम्पादन का समय मिले तो श्रम-रहित होकर अविनाशी जीवन की और आगे बढ़ो। तो श्रम होता है शरीरों के लिए, श्रम होता है शरीर और संसार के सहयोग से। श्रम होता है, शरीर और संसार को सहयोग देने के लिए। और साधक की दृष्टि में श्रम किसलिए? अब तक जितनी बातें निवेदन की मैंने वे सबके लिए समान रूप से सत्य है। और साधक की दृष्टि किस बात पर रहनी चाहिए कि श्रम करते हैं हम विश्राम पाने के लिए। तो ऐसा श्रम करना चाहिए और इस ढंग से करना चाहिए कि श्रम के अन्त में मुझे सहज भाव से बिना किसी विधि-विधान के स्वाभाविक रूप में विश्राम मिले। तो एक वाक्य अगर सामने रखा जाए तो क्या कहेंगे हम कि श्रम करना है, विश्राम पाने के लिए। एक बात यह विशेष बताई।

स्वामी जी महाराज ने दूसरी बात यह बताई कि भौतिक जगत् के कल्याण में और व्यक्ति के कल्याण में अन्तर नहीं है। ऐसा नहीं है कि जो लोग संसार की सेवा में लग जाते हैं, वे आध्यात्मिक विकास से वंचित हो जाते हैं। ऐसा नहीं है। और जो लोग आध्यात्मिक विकास में लग जाते हैं, वे संसार के काम नहीं आते, ऐसी बात नहीं है। व्यक्ति और समूह में अविच्छिन्न सम्बन्ध बताया महाराज जी ने। इसलिए उन्होंने जगत् की सेवा और शांति की अभिव्यक्ति, जगत् की सेवा और भगवत्-भक्ति दोनों को परस्पर विरोधी नहीं बताया। इसलिए कि सेवा करने की सामर्थ्य, सत्य पर विचार करने की सामर्थ्य और सर्वस्व समर्पण करने की सामर्थ्य एक ही व्यक्तित्व में होती है।

इसलिए उन्होंने तीनों में योग बताया कि जो भगवत्-समर्पित हो करके जीना पसंद करेगा अर्थात् उस अनन्त परमात्मा से सदा के लिए अभिन्न होना पसन्द करेगा उसको त्याग से भी काम लेना पड़ेगा और सेवा से भी काम लेना पड़ेगा। क्योंकि ईश्वर से अभिन्न होने के लिए कोई श्रम अपेक्षित नहीं है, अहं का परिवर्तन अपेक्षित है। अब तक हम जी रहे थे सुख-भोग के लिए, अब इसी क्षण से, इसी वर्तमान में मैंने निश्चय किया है कि अब हम जिएँगे प्रभु की प्रसन्नता के लिए, उनके प्रेम के लिए। तो एक जीना है सुख भोग के लिए और एक जीना है परमात्मा के प्रेम के लिए। तो यह परिवर्तन कि अब मैंने आज से इसी क्षण से सुख-भोग को इन्कार किया और परमात्मा के प्रेम को पसन्द किया इसमें कोई श्रम की बात नहीं है। इसको महाराज जी ने स्वधर्म बताया कि अपने द्वारा व्यक्ति यह निश्चय लेता है और उसके निश्चय के साथ ही उसका अहम् परिवर्तित हो जाता है। और अहम्-परिवर्तन के साथ ही मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सबमें अपने आप से परिवर्तन होने लगता है। तो यह खास बात है। अहम् के परिवर्तन की बात, जिसको स्वामी जी महाराज ने इतना स्पष्ट करके और बिल्कुल मेंमदजपंस चवपदज के रूप में कि साधक के लिए यह होना अनिवार्य है। अगर उसने अपने अहम् को नहीं बदला, अपने लक्ष्य को नहीं बदला, जीवन के अर्थ को नहीं बदला तो किसी विधि-विधान से भगवत्-भक्ति उसमें उपजेगी, यह सम्भव नहीं है।

एक जो प्रचलित कायदा है जगह-जगह मैंने देखा है किसी बात के लिए तो मुझे बहुत तकलीफ होती थी देख-देख करके और कभी-कभी हँसी भी आती थी। लेकिन मैंने देखा है कि अहम् के परिवर्तन के लिए असत्य की अस्वीकृति और सत्य की स्वीकृति को प्रधानता नहीं देने से साधकों में, एक बड़ा भारी भ्रम पैदा हो जाता है। वह क्या हो जाता है कि वे प्रारम्भ ही कर लेते हैं

नाम जप से, भजन से, कीर्तन से, पाठ से, नित्य नियम से। तो मैंने, पुरुषों के बारे में तो इतना नजदीक से हमको मालूम नहीं है, लेकिन एक जगह पर जहाँ बहुत से साधक लोग ही रहते हैं महिलाओं की मण्डली में मैंने देखा था।

नई-नई उम्र की लड़कियाँ 20 बरस की 22 बरस की कोई 25 बरस की, 28 बरस की बहुत सी लड़कियाँ थी। कम से कम 25 तो होगी, पूरी गिनती मुझे मालूम नहीं है। तो उन लोगों के साधन का ढंग ऐसा था कि सवेरे से उनका बड़ा कठिन नियम बना हुआ था कि इतने घंटे आपको इस तरह से बिताना है, इतने घंटे इस तरह से बिताना है, इतने घंटे नाम-जप करना है। तो भई सबकी रुचि अलग, सबकी शारीरिक दशा अलग। तो 25 में से कुछ तो ऐसी थी जिनका सहज से यह सब नित्य नियम हो जाता था 11-12 बजे तक और कुछ की शारीरिक दशा अच्छी नहीं रही, तो किसी को आलस्य आता, किसी के पाँव दुखते, किसी की पीठ दुखती, किसी के सिर में दर्द होता तो उसका पूरा ही नहीं होता। मानसिक दशा भी सबकी अलग-अलग। कोई उमदजंससल कुछ ज्यादा इंसंदबमक है, तो वह नित्य नियम अपना ठीक तरह से पूरा कर लेती है। किसी के मन में बहुत-सी अतृप्त इच्छाएँ परेशान कर रही है तो उसका चित्त एकाग्र होता ही नहीं, ध्यान लगता ही नहीं है किसी बात में, बड़ी परेशानी से वह अपना पाठ पूरा करे।

तो शाम के समय 4 बजे जब आपस में एक-दूसरे की बातचीत होती तोसब तमउंतो मुझे सुनने को मिलते। एक-दूसरे से ब्वउचमजमजपवद हो जाता। एक-दूसरे के प्रति ऊँचा-नीचा भाव हो जाता। तो जिनसे सहज से हो जाता वे लोग सोचते कि हम अच्छे साधक है। जिनको कठिनाई होती उनको एक हीन भावना आती। तो पदमितपवतपजलए ेनचमतपवतजलए बवउचमजपजपवद और उसमें भी अच्छा साधन बन गया तो उसका अभिमान। नहीं बन रहा है तो एक अजीब सी क्षोभ की दशा। तो देख-देख करके मेरे भीतर इतना दुःख होता। मैं सोचती कि देखो आदमी चला है साधन करने भगवान के नाम पर तो वहाँ भी कितने असाधन का सृजन हो रहा है। तो जिन लड़कियों से होता नहीं था, उनके प्रति मेरी बहुत सहानुभूति भी रहती थी। अब क्या करें भई, ऐसा नहीं होता है, पीठ दुःख गई, घुटने दुःख गए। मन में अनेक प्रकार की अशांति है, इतनी दमित इच्छाएँ, विविध स्थितियाँ होती है। तो जो लोग इतने समर्थ होते हैं कि सत्य के प्रकाश में इच्छाओं की अपूर्ति को गिनते नहीं है। है तो है—नहीं हुई तो नहीं हुई हटाओ इस। इतने जो भीतर से सामर्थ्यवान हैं, जिनका चित्त अपेक्षाकृत शुद्ध है, जिनके भीतर की वासनाएँ इतनी प्रबल नहीं है, तो उनके लिए सहज हो जाता है प्रतिकूलता के साथ ंकरनेज करना और जिनके भीतर इतनी सामर्थ्य नहीं है अथवा जिनको बहुत अनुकूलता मिली है कि मन में जो आया वह बात पूरी हो गई, माता-पिता ने कर दिया कि सास-ससुर ने कर दिया कि पति-पुत्र ने कर दिया कि पत्नी, माता, बहन ने कर दिया। यह भी मनुष्य की साधना में एक बड़ी बाधा हो जाती है कि उसको परिवार और कुटुम्बी बहुत अनुकूल मिल जाएँ और हर इच्छा-पूर्ति लोग प्रेम से, स्नेह से, सहज से कर दें। तो ऐसी किसी भी आदत बन गई है अब उसके सामने प्रतिकूलता आ जाए तो इच्छाओं के साथ अपने को अभियोजित करने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती।

स्वामी जी महाराज ने आधुनिक मनोविज्ञान में बहुत आगे आने वाली बात को बहुत पहले कह दिया था। आधुनिक मनोविज्ञान वाले लोग अब समझ रहे हैं कि इच्छाओं की अपूर्ति से मनुष्य के मस्तिष्क की ताकत जैसे घट जाती है, ऐसे ही इच्छाओं की पूर्ति होने से भी मस्तिष्क की ताकत घट जाती है। यह बात मनोविज्ञानवेत्ता बहुत बार अब कह रहे हैं, स्वामी जी महाराज ने बहुत पहले कहा। तो चाहे अपूर्ति के कारण क्षोभ रहे, चाहे बहुत अधिक पूर्ति के कारण, मानसिक दुर्बलता आ जाती है। जिसके मन में बहुत सी इच्छाओं ने होड़ जमा रखी है और जो असंतुष्ट है भीतर से उसका भी साधना में मन नहीं लगता, किसी बात में मन नहीं लगता, कोई काम उसको दे दो तो वह जम करके बिल्कुल तन मन लगाकर, उसी काम के साथ रम जाए ऐसा बहुत कम लोग कर सकते हैं।

समझदारी से दबा कर अपने को सँभाल लेना अपने पर जोर डालकर के काम पूरा कर लेना यह बात अलग है। और कुछ काम करने वाले ऐसे होते हैं जो बिल्कुल तन-मन लगाकर उसी काम में रम जाते हैं। तो जिनकी मानसिक दशा संतुलित होती है, स्वाभाविक होती है, स्वस्थ होती है, वे तो ऐसा कर सकते हैं और जिनके मस्तिष्क में भीतर-भीतर अधिक असंतोष है और ज्मदेपवद है तो उनसे नहीं होता है। तो अलग-अलग शारीरिक दशाएँ हैं, अलग-अलग मानसिक दशाएँ हैं। और सब लोग एक समान ध्यान भी नहीं लगा सकते, जप भी नहीं कर सकते। मामूली काम ही नहीं कर सकते तो यह सब कैसे हो? तो सब लोगों के भीतर हलचल मची रहती थी। और एक को देखकर दूसरा एक प्रकार का तमउंता चंे कर रहा है, दूसरे को देखकर दूसरा कुछ और कह रहा है। अरे भई इनकी तो क्या बात है? इनकी तो बन गई, कोई कह रहा है। अरे भई यहाँ भी आए तो क्या-क्या करते रहते हैं, साधना करते नहीं है। तो केवल एक-दूसरे पर दीनता और अभिमान के प्रभाव से प्रेरित होकर अजीब-अजीब तरह का व्यवहार करना देखकर के बहुत दुःख होता था।

स्वामी जी महाराज के पास आई ही थी मैं। देखती रहती थी सब। मानव सेवा संघ की पद्धति में स्वामी जी महाराज ने सत्संग से पहले साधन का कोई क्रम किसी को पकड़ाया नहीं कभी। कहा, पहले सत्संग करो, सत्य के प्रकाश में जीवन को पहले अच्छी तरह समझो, तो व्याख्या करो उसका निरीक्षण करो अपने जाने हुए का असत् का त्याग करो। तो जीवन के सत्य को स्वीकार करने की बात करो। अधिक से अधिक महाराज जी ने हम लोगों की शक्ति, समय सत्संग में लगाया, बिना सत्संग के, बिना स्वीकृति के बदले किसी साधन-पद्धति को पकड़ाया नहीं। गुरु ने कह दिया ऐसा करना, तो न करते बने न छोड़ते बने। बहुत लोग असमंजस में पड़ जाते हैं। करना चाहते हैं तो होता भी नहीं है और गुरु ने कह दिया कि ऐसा करो तो छोड़ते भी नहीं बनता है, डर लगता है कि छोड़ कैसे दे तो फिर क्या करेंगे।

मानव सेवा संघ में साधकांे को इस प्रकार के द्वन्द्व में कभी नहीं डाला। आप लोग इतने भाई-बहन यहाँ बैठे है, जिन लोगों को इस पद्धति का परिचय है, कोई नहीं कह सकता कि स्वामी जी महाराज ने सत्संग कराया हो पीछे और साधना पकड़ा दी हो, कि चलो बेटा बैठकर ऐसा-ऐसा करो। कभी नहीं किया, करने को नहीं कहा। तो एक यह विशेषता है जिस पर जहाँ तक दृष्टि जाए अपनी, हम लोगों को अपना दृष्टिकोण इस

सम्बन्ध में बड़ा स्पष्ट रखना चाहिए और दूसरे साधकों के दृष्टिकोण को भी इतना स्पष्ट रहने देना चाहिए। अच्छा उपवास करते नहीं बनता है, तो कोई बात नहीं। अब कोई निर्जला एकादशी कर ले, कोई न कर सके तो जल पीकर रह जाए। कोई इतने से भी न बने तो दूध पीकर रह जाए। किसी से उतना भी न बने तो फलाहार भी कर लो।

इन बातों में मानव सेवा संघ कभी किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत साधना को कुछ नहीं कहता है। भई शारीरिक दशा है, शरीर धर्म है। जितनी तुम्हारी ताकत है, जैसे तुम्हारी शक्ति है, वैसे करो। कभी-कभी देखा गया है बहुत कजोर ओर दुर्बल साधक भी संकल्प के बल पर बड़ा कठिन-कठिन तप कर लेते हैं। ऐसा भी देखा है। अभी मैं अगस्त-सितम्बर महीने में राजस्थान में थी। जोधपुर में काफी गर्मी थी उन दिनों में। जैन मत के हिसाब से कुछ विशेष दिल चल रहे थे कुछ उनके त्याग-तप के। तो किसी ने 6 दिन तक निर्जल व्रत किया और किसी ने 21 दिन तक किया, किसी ने 1,1/4 महीने तक किया किसी ने 3 महीने तक किया। एकदम निर्जल व्रत। जल भी नहीं पीते हैं।

घबराती महिलाएँ, जिस घर में मैं ठहरी थी उस घर में जो बहुत थी वह हर दूसरे दिन शाम को बाहर जाने का तैयार। कहे माता जी, आज उसके यहाँ जाना है। क्यों जा रहे हैं, क्या बात है भई? तो उसने 21 दिन का व्रत लिया है। तो आप जाकर क्या करेंगे? तो आस-पास के सब जान-पहचान के लोग आते हैं, उसके पास बैठकर भजन गाते हैं, प्रार्थना करते हैं, उसका आदर-सत्कार करते हैं, अभिनन्दन करते हैं कि इसने इतना कठिन तप किया है इतना कठिन तप किया है। तो ऐसी-ऐसी बातें भी चलती है तो उसको मैं क्या कहूँ। शारीरिक बल पर भी काम होता है, संकल्प के बल पर भी काम होता है लेकिन सबसे एक समान नहीं हो सकता।

बहुत दिनों के बाद एक महिला उसी घर में आई,तो वह बहू हमको आकर कहने लगी कि माताजी, ये ही हैं जिनके घर मैं जाया करती थी। आई थी मिलने के लिए। इन्होंने 1,1/2 महीना या 3 महीने का व्रत किया था। तो आई और थोड़ी देर बातचीत करने के बाद एकदम पसीने से परेशान हो गई, फिर जमीन पर लेट गई। हमने कहा कि क्या हो गया भाई, इनकी तबियत खराब है? तो उन्होंने कहा कि इन्होंने उस समय जो व्रत किया था, उसकी कमजोरी अभी गई नहीं है और अब घर में कोई सेवा करने के लिए है नहीं। सब लोग अपने-अपने घर चले गए। तो बच्चांे को भी देखना है, घर भी देखना है। इनको दुर्बलता लगती है, परेशान रहती हैं। यह सब भी मैंने देखा है।

मानव सेवा संघ ने इस प्रकार की साधना का प्रतिपादन नहीं किया, ब्वउचनसेवतल नहीं बताया कि आपको यह करना ही चाहिए। शरीर धर्म तो शरीर के साथ निभेगा और स्वधर्म है तो स्व के साथ निभेगा। तो स्वधर्म की सेवा में लगाना यह शरीर-धर्म की बात हो गई। शरीर से शरीरों की सेवा बनेगी। तो सब जो कुछ मिला हुआ है, उसमे मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है तो निर्मम होना यह स्वधर्म की बात हो गई। इस संसार में ऐसा कुछ नहीं है, जो मेरे जीवन को पूर्ण बना सके। दुःख-रहित जीवन की, चिरशांति की, जीवन-मुक्ति, भगवत् भक्ति की प्राप्ति करा सके। ऐसा इस जगत् में कुछ नहीं है, इसलिए मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो अचाह होना उन्होंने स्वधर्म बताया। और सर्व समर्थ प्रभु हम सभी के अपने हैं और अपने में है अतः उन्हीं के होकर रहना मुझे पसंद आया तो प्रभु की शरणागति, प्रभु का आश्रय, हरि-

आश्रित होकर रहना, इसको स्वधर्म बताया। तो ज्यादा से ज्यादा जोर इस बात पर है कि हम लोग स्वर्धम और शरीर धर्म का पालन स्वेच्छा से करने के लिए तैयार हो जाएँ, इस पर ज्यादा जोर है। ऐसा नहीं है कि शरीर चलता भी नहीं है, हिम्मत भी नहीं है, उसमें बर्दाश्त करने की ताकत भी नहंी है तो भी एक साधना ऐसी जबरदस्त आपके सिर पर बैठ गई, कि मरे भी जाओ और किए भी जाओ। होता भी नहीं है और परेशान रहो। तो ऐसी बात मानव सेवा संघ में नहीं कही गई है।

आज एक सज्जन हमारे पास आए। विवाह-शादी की बात चली, निमन्त्रण की बात चली तो मैंने कहा कि अगर आप अपने सम्बन्धी का हित चाहते हैं तो उनको यह सलाह दीजिए कि आश्रम-वास का पूरा लाभ उठाएँ अर्थात् विवाह-सम्बन्धी कार्यों में भाग लेना अनिवार्य न माने। मानव सेवा संघ केवल साधकों को सलाह देता है कि अगर आप सीमित मोह के सम्बन्धों को तोड़कर, परमात्म के नाते असीम सम्बन्ध में असीम परिवार में शामिल हो करके हृदय को विस्तृत करना चाहते हैं, लोभ, मोह से मुक्त होना चाहते हैं, दीनता और अभिमान से मुक्त होना चाहता हैं, अपने पराए का भेद मिटाना चाहते हैं, तो ऐसा करिए।

हम लोगों को सिखाया गया कि अरे भई, अगर तुम मुक्ति का व्रत लेना चाहते हो तो बंधन का उत्सव देखना बन्द कर दो। ललित भाई, समझ में आया। अगर मुक्ति का व्रत लेना पसन्द किया तुमने, पंसद तो करना चाहिए था बहुत जल्दी। अफसोस की बात है कि 60 बरस के ऊपर ही आ गए अब क्या करें। तो अब ही सही, 60 बरस की उम्र के बाद ही सही। अगर मुक्ति का व्रत लेना है आपको, तो बंधन के व्यवहारों को देखना, उसमें शामिल होना छोड़ दो। जरूरी है कि नहीं है? जरूरी है तो मानव सेवा संघ अपने साधकों को यह नहीं कहता कि आपको विवाह शादी में शामिल होने के लिए हम नहीं जाने देंगे। स्वामी जी महाराज ने इसको बहुत घटिया किस्म का साधन माना, कि किसी के कहने से आप रुक जाए। बहुत घटिया किस्म का साधन है। अगर हम ऊपर से दबाव डालें कि आश्रम वासी लोगों को, साधकों को जो मुक्ति के पुरुषार्थ में लगे हुए हैं उनको गठबन्धन को देखने के लिए नहीं जाना चाहिए। तो मैं कह दूँ कि नहीं जाना चाहिए, तो कई साधक हैं, जो रुक जाएँगे, नहीं जाएँगे। लेकिन स्वामी जी ने ऐसा पसंद नहीं किया। नहीं भई, मेरे कहने से नहीं। तुम्हारे भीतर में इच्छा रह गई तो हमारे कहने से रुक भी जाओगे तब भी तुम्हारा उतना विकास नहीं होगा, जितना होना चाहिए। तो बात क्या है? तो यह बात है कि जो जीवन का सत्य है, जो आपके विकास के लिए आवश्यक है वह आपके सामने प्रस्तुत कर दिया गया। आपका विकास कब होगा, जब स्वेच्छा से आप इस बात को पसन्द करें कि हाँ यह मेरे लिए हितकारी बात है, यह मुझे मानना चाहिए। तो जब आप उसे मानना पसंद करेंगे तब वह आपके लिए हितकारी होगा।

तो सच्ची बातें जो हैं, आपके लिए जो हितकारी बातें हैं वे आपकी सेवा में निवेदन कर देना अपना काम है। अब कब समझ में आवेगा? जब समझ में आवे तब ही सही, अभी तो अभी ही सही। और अभी नहीं तो कभी सही। और भी अवसर ऐसे आते हैं कि मान लो आप जाते हैं गृहस्थी के रीति-रस्म में भाग लेने के लिए और बताते नहीं है। मत बताइए कोई बात नहीं। दूसरे-दूसरे दस काम है उसमें यह भी शामिल कर

लिया, हो आए, कर आए। किसी ने जाना नहीं, किसी ने सुना नहीं, किसी को आकर बताया नहीं तो भी आपके भीतर यह राग रह गया है और किसी न किसी तरह से आप उसमें शामिल होना पसंद ही कर रहे हैं तो मानव सेवा संघ शासन नहीं करता कि आप क्यों गए, आप क्यों शामिल हुए। इससे कोई फायदा नहीं होने का है। आपके भीतर से ही यह चीज उपजनी चाहिए कि भई अब मुझे साधक होकर रहना है, अब मुझे जीवन-मुक्ति व भगवत्-भक्ति का पुरुषार्थ करना है तो अब जिस स्वीकृति को अस्वीकार कर चुके उसे पुनः स्वीकार नहीं करना है।

एक दिन था, एक क्षण ऐसा आया कि जब आपके अपने को गृहस्थ स्वीकार किया। और एक क्षण जीवन में ऐसा आया कि जब आपने अपने को गृहस्थी की स्वीकृति से अस्वीकार किया। तो अस्वीकृति के बाद भी अगर उसी राग की पूर्ति करता है, तो दुनिया में कोई आपको राग-रहित बना नहीं सकता। तो मानव संघ की एक यह विशेषता है कि हम जबरदस्ती नहीं करते। नहीं तो जबरदस्ती करने से क्या होता है, शासन करने से क्या होता है, कि बाहर-बाहर से आदमी का व्यवहार तो नियन्त्रित हो जाता है लेकिन भीतर से उसकी राग-निवृत्ति नहीं होती।

यहाँ तक कि मैं तो महाविद्यालय से आती थी स्वामीजी महाराज के पास। छात्रावास में रहती थी। सैंकड़ों लड़कियों को लेकर के घंटी लगाकर जगाना, घंटी लगाकर सुलाना, घंटी पर भोजन, घंटी पर अध्ययन इस तरह का एक क्रम था। तो स्वामी जी महाराज के पास आकर जब मैं देखती कि सत्संग के समय कोई कहीं पर सो रहा है, तो हम धीरे-धीरे महाराज जी से पूछते कि महाराज जी एक आदमी उधर सो रहा है जगा दूँ? तो कहते कि नहीं-नहीं जगाओ मत, जगाओ मत।

सत्संग की अपेक्षा नींद उसको ज्यादा महत्त्वपूर्ण मालूम होती है तो उसको सोने दो, जगाने से कोई फायदा नहीं होगा। जगाने नहीं देते थे। जिसको नींद की अपेक्षा सत्संग अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम हो तो उसको तो उस समय में नींद आएगी नहीं। घंटी भी बज रही है लोग-बाग सब आ भी रहे हैं, सभा हो रही है, बैठक हो रही है और कोई सो रहा है आराम से, तो जगाने नहीं देते थे। कितने विधि-विधान से साधकों के जीवन को सही क्रम पर चलाने का इन्तजाम इन्होंने किया लेकिन कहीं पर किसी जगह पर जोर नहीं डाला, तो एक यह विशेषता है। और महाराज जी ने इसको जाना, इसलिए उन्होंने यह नियम हम लोगों के सामने रखा। और इनमें दार्शनिक सत्य भी है। दार्शनिक सत्य क्या है? कि हम लोगों का जो यह अहं रूपी अणु है, जिसने सत्य को भी स्वीकार किया है फिर असत्य से सम्बन्ध भी रखा है। तो चाहते यह हैं कि दुःखरहित, देहातीत, अविनाशी जीवन के आनन्दमय अस्तित्व का भी अनुभव हो जाए, और परम प्रेमास्पद प्रभु के अलौकिक प्रेम-रस को पा करके जन्म-जन्मान्तर के लिए सब प्रकार की तृष्णा शान्त हो जाए, अभाव मिट जाए, नीरसता मिट जाए और हम प्रेम स्वरूप होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाएँ। माँग तो यह है कि इस माँग को रख करके हम लोग साधक भी बनते हैं, सत्संग भी आरम्भ करते हैं, साधन में भी लगते हैं और साथ-साथ नाशवान शरीरों से भी जुटे रहते हैं, शरीर के सम्बन्धियों से भी जुटे रहते हैं। तो ऐसी दशा में यह प्रारम्भ की बात है। जैसी-जैसी वर्तमान दशा अपने लोगों की है उसमें से आगे निकलने के लिए यह प्रणाली

बहुत अच्छी है कि अकेले में बैठकर आत्म-निरीक्षण करो। पहला नियम है—निज विवेक के प्रकाश में आत्म-निरीक्षण करना, अपनी भूलों को देखना और दूसरा नियम है की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेना। तो बिल्कुल आरम्भ की बात है। तो कहा गया इस संसार में व्यक्तिगत किसी का कुछ नहीं है तो इसलिए किसी वस्तु को व्यक्तिगत मत मानो तो ममता के नाश की सामर्थ्य आ जाएगी। और जो कुछ अपने को मिला हुआ है, वही मुझे अविनाशी जीवन देने में असमर्थ है, वही मुझे रसरूप देने में असमर्थ है तो जो मिला हुआ है वह ही मेरे काम का नहीं है तो जो नहीं मिला है उसकी कल्पना क्यों करना उसकी चाहना क्यों करना, उसकी कामना जीवन में क्यों रखना। यह हो गई विचार की बात। इस प्रकार से अध्ययन करके, जीवन को देख करके, विचार करके और फिर कामना-रहित होने का प्रयास करो। तो अहं के परिवर्तन की बात महाराज जी ने पहले कही और उन्होंने इसका जो स्वरूप बताया उसमें इतनी गुंजाइश है अपने को बदल डालने की कि जो भाई स्वयं अपनी धारणा को बदल देता है, जीवन के मूल्यांकन को बदल देता है, लक्ष्य को बदल देता है, ठीक कर लेता है, क्या कर रहे थे अब क्या करना है। क्या मान रहे थे, अब क्या मानना है। किसको हमने सत्य माना था और सही बात क्या है?

यह सब अपने द्वारा निश्चित कर लेने पर मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सबमें परिवर्तन आता ही है। निजस्वरूप के सम्बन्ध में संत समागम वाले ग्रन्थ में यह बात कहीं लिखी हुई है, पृष्ठ संख्या इत्यादि मुझे याद नहीं है। लेकिन आपने पढ़ा होगा तो मिल बाजा उदाहरण दिया है महाराज जी ने मनुष्य के अहं रूपी अणु को। क्या है भाई? कोई नहीं पहचानता है। बहुत प्रकार के वाद्य यन्त्र लोग लेकर बैठे हैं। उसमें एक आदमी एक टेढी-मेढ़ी लकड़ी का टुकड़ा लेकर बैठा है। सब लोग अपना-अपना यन्त्र बजा रहे हैं, तो वह भी अपनी लकड़ी पर हाथ फेर रहा है। पूछा गया कि भई तुम्हारे इस यन्त्र का नाम क्या है? तो उसने कहा इसका नाम है मिल बाजा। तो इससे स्वर कौन-सा निकलता है? तो अपना कुछ नहीं, सबके साथ मिल जाता है और जैसा जिसका स्वर हो वैसा मिल जाएगा। उदाहरण देने के लिए उन्होंने यह चीज ली और कहा कि हमारे अहं का भी यही हाल है।

अगर उसे देह के साथ मिला दो तो देह के जितने लक्षण है सब घटित हो जाते हैं। अभी हम बलिष्ठ है, अब दुर्बल हो गए अभी जी रहे हैं अभी मर जाएँगे। अभी बहुत दुखी हैं, अभी बहुत सुखी हैं तो शरीर के साथ सुर मिला दो तो सब लक्षण पर उस आरोपित हो जाते हैं, घटित हो जाते हैं और आदमी उसी के अनुसार सुख-दुःख का भोग करने लग जाता है। और उसी के अनुसार सुख-दुःख अनुभव करने लग जाता है। और यदि इस बात को विवेक के प्रकाश में देख करके और अपनी ओर से असत् के संग का त्याग हमने कर लिया और जीवन के सत्य को स्वीकार करना उसकी स्वीकृति के आधार पर जीना आरम्भ किया तो सत्य की स्वीकृति के आधार पर उसी अहं में, जो यह कहता है कि हम बहुत सुखी हैं हम बहुत दुखी हैं, उसमें बड़ा परिवर्तन आ जाता है।

आपने संतों, भक्तों, महापुरुषों के जीवन में सुना होगा वे रोग, आपत्ति, विपत्ति—सबके सामने क्या कहते हैं मेरा न कभी जन्म हुआ न कभी मृत्यु होगी। अब क्या हो गया? असत् के संग के त्याग से, सत्य की स्वीकृति से उसी अहम् रूपी

अणु में विद्यमान अलौकिक और अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो एकदम परिवर्तन हो जाता है। तो भय नहीं है, दुःख नहीं है, अशांति नहीं है, मृत्यु नहीं है ऐसा हो जाता है। तो इसलिए उन्होंने मनुष्य के विकास के लिए सत्संग पर बहुत जोर डाला कि पहले सत्संग करो। सत्संग के आधार पर जब असत् की स्वीकृति निकल जाएगी जब सत्य की स्वीकृति तुम्हारा जीवन बन जाएगी। तब उसके बाद कोई कठिनाई नहीं होगी।

इस एक विशेष बात पर ध्यान रखना और इसी आधार पर उन्होंने कहा कि दुनिया का कोई भी काम हम करते हैं तो उसका सफल होना, विफल होना विशेष अर्थ नहीं रखता है। सफलता की कोई गारंटी नहीं होती, लेकिन मनुष्य के जीवन के साथ जीवनदाता प्रभु का बनाया हुआ मंगलमय विधान इतना बढ़िया है कि जिस समय से आप सत्य के जिज्ञासु बनते हैं अथवा भगवान के विश्वासी बनते हैं तो आस्था, श्रद्धा का पंथ पकड़ो अथवा विचार का पंथ पकड़ो किसी भी प्रकार से आपने सन्मार्ग पर चलना आरम्भ किया तो कभी मत सोचना कि आखिरी समय तक आप असफल रहेंगे। उस दिशा में असफलता नहीं होती है। जैसे-जैसे विचार बदलता जाता है, दोष मिटते जाते हैं। जैसे-जैसे आपकी जीवनी शक्ति आपके लक्ष्य के साथ जुट जाती है तो सत्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। बड़ी बात जो मैंने सुन लिया, समझ लिया और साधन के क्रम में थोड़ा-थोड़ा अनुभव भी कर लिया तो सबसे बढ़िया बात क्या है हम लोगों के लिए? कि इस दिशा में पुरुषार्थ करने वाले साधक के लिए बहुत ही आशाजनक बात यह है कि जहाँ साधक अपनी ओर से ऐसा अनुभव करता है कि क्या बताएँ इन विकारों का नाश करना तो मेरे लिए बहुत कठिन हो गया। मैं काम, क्रोध, मोह, लोभ को रखना नहीं चाहता हूँ। मेरे प्रयास से ये मुझ में से निकलते नहीं हैं। तो जहाँ आप अपनी असमर्थता से अधीर होते हैं, वही पर करुणामय की करुणा का दरवाजा खुल जाता है।

स्वामी जी महाराज का अपना अनुभव था और उन्होंने मानव-जीवन के 'मंगलमय विधान' में इस बात की बहुत अच्छी चर्चा की। समय-समय पर हम साधकों को बड़ा ही आश्वासन दिया। यह कह करके कि डरने की घबराने की बात नहीं है। अपनी ओर से तुम बुराई करो मत और की हुई बुराई के परिणाम का नाश करने में अगर असमर्थ हो जाओगे तो डरने की कोई बात नहीं है। एक सामर्थ्यवान तुम्हारा रक्षक है, सहायक है और तुम उसे बुलाओ चाहे मत बुलाओ लेकिन जहाँ तुम हारते हुए अनुभव करोगे, वहाँ वह आकर के तुम्हें सँभाल लेगा, और तुम्हें पार लगा देगा। यह भी बहुत बड़ी बात है। हार होगी नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

आज के युग के ईश्वर-विश्वासी महात्मा गाँधी ने भी लिखा है कि सत्य के मार्ग पर चलते हुए आखिरी दम तक केाई गलत रास्ते नहीं गया। तो 'सत्य महाव्रत कथा' लिखा था उन्होंने। नमक के आन्दोलन में जेल में जब थे 1929-31 के बीच में, तो उसमें यह वाक्य लिखा है। उसी समय का मेरा पढ़ा हुआ याद रहता है, बहुत अच्छी लगती है यह बात। तो सत्य के मार्ग पर चलते हुए अन्तिम समय तक कोई गलत रास्ते नहीं गया। क्यों? क्योंकि जिस सत्य की आराधाना में आप लगे हैं वह आप ही में विद्यमान है, सर्वज्ञ है, अन्तयामी है, आपको देख रहा है। बस अन्तर इतना है कि आपको पसंद क्या है? अगर निर्विकार होना पसंद है, किसी भी प्रकार से विकार युक्त दशा को आप

सहन नहीं कर सकते हैं तो विकारों को मिटाने की सामर्थ्य आपमें है अथवा नहीं, महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। कुछ इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। क्यों? क्योंकि सारी जिम्मेदारी अपने पर नहीं है। कोई है हमको सँभालने वाला। तो आप जितना कर सकते हैं, पूरी शक्ति लगा डालिए और जहाँ आपकी शक्ति खत्म हो जाएगी तो वहाँ अमसर्थता की वेदना में आवश्यकता की पूर्ति स्वतः होती है। असमर्थता की वेदना में करुणामय के करुणा का दरवाजा खुलता है अर्थात् जहाँ जाकर हम रुक जाते हैं, वहाँ आकर के वे मिल लेते हैं। अनेक प्रकार से इसकी अभिव्यक्ति की गई है और अनुभवी जनों ने इस सत्य को जाना है। इस आधार पर वर्तमान में अपने सरीखे सभी भाई-बहनों से यह निवेदन कर रही हूँ कि जीवन के सत्य को सामने रखकर खूब आशा और विश्वास के साथ आप अपने पुरुषार्थ में लगे रहिए। जितनी शक्ति आपके पास बची-खुची है, ज्यादा तो खर्च ही हो गई इधर-उधर में। इसके लिए तो कम ही बची है लेकिन कुछ परवाह नहीं जितनी बची हुई शक्ति है उसको इस दिशा में लगाइए और जहाँ आपके पास घट जाएगी वहाँ अनन्त सामर्थ्यवान हमारे साथ है। वे शक्ति भी देंगे, सामर्थ्य भी देंगे, प्रकाश भी देंगे, चलने की राह भी बताएँगे और समय-समय पर ऐसा मैंने अनुभव किया है कि हाथ पकड़ कर चला भी देते हैं, पार भी करा देते हैं। पथ भी देते हैं, पाथेय भी देते हैं, मंजिल पर पहुँचा भी देते हैं। इसलिए खूब निश्चिंतता से, निर्भयता से, आशा और विश्वास के साथ हम लोगों को चलते रहना चाहिए। अब शांत हो जाओ।

प्रवचन(13)

स्वामी जी महाराज ने कहा कि भला काम करने से आदमी भला नहीं होता है। यही भ्रम हे। भला काम करने के साथ-साथ बुराई भी जीवन में रहती है। तो भला काम करने से आदमी भला नहीं होता, भ्रम पूर्वक भी भलाई करता रहता है। लेकिन बुराई के छोड़ने से आदमी भला होता है। यह मानव सेवा संघ का सिद्धान्त है। तो कौन-सा सत्य स्वीकार करो? यह सत्य स्वीकार करो, अपने लिए व्रत स्वीकार करो कि हम प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करेंगे।

दूसरी बात, निज विवेक का अनादर नहीं करेंगे। यह व्रत जो है, यह तथ्य जो है मानव मात्र के लिए एक समान आवश्यक है। दुनिया काा कोई भी मत हो, कोई भी मजहब हो, कोई भी सम्प्रदाय हो, कोई भी देश, युग हो आज के लिए नहीं पहले भी और आगे भी किसी युग का, किसी देश का, किसी मजबह का, किसी मत का, किसी सम्प्रदाय का व्यक्ति हो अगर वह निज विवेक का अनादर करता होगा तो उसका उद्धार नहीं होगा। और जिस किसी ने इस व्रत को ठान लिया कि हम निज विवेक के प्रकाश में जो सही दिखाई देता है, वह करेंगे और जो सही नहीं मालूम होता है उसको नहीं करेंगे। तो इसमें से ज्ञान का बहुत बड़ा प्रभाव अपने जीवन पर आ जाएगा। जैसे कि निज विवेक के प्रकाश में क्या हम सब भाई-बहनों को यह नहीं दिखाई दे रहा हैं कि शरीर पहले जैसा था, आज नहीं है वैसा। दिखता है कि नहीं? तो उसमें से यह ;ब्वदबनसेपवदद्ध निकलेगा, यह निष्कर्ष निकलेगा कि आज जैसा है आगे नहीं रहेगा। तो जैसे शरीरों को बनते-बदलते हुए, बिगड़ते हुए, मिटते हुए हम लोग देखते हैं, उसी हिसाब से यह शरीर भी बन गया, बिगड़ रहा है,

मिट जाएगा। निज विवेक का प्रकाश इस बात को बताता है कि नहीं?

एक बार एक साधक ने कहा कि भाई उधर से यह समाचार, यह संदेश आता रहता, तो हम शरीर के मोह में क्या पड़ते। एक संत ने कहा कि चिट्ठियाँ तो बहुत बार आई आपके पास, आपने पढ़ा ही नहीं। कैसे? अरे भाई, दाँत एक टूट कर गिर गया यह समाचार नहीं आया कि शरीर भी गिर जाएगा। संवाद तो उधर से आता ही रहता है। समाचार भेजने वाले भेजते ही रहते हैं। आप सुनते ही कहाँ हैं? तो कौन-सा सत्य स्वीकार करो कि निज विवेक का अनादर नहीं करना है। दूसरी बात, निज विवेक का अनादर नहीं करना है।

और तीसरी बात क्या है? तो तीसरी बात यह है कि ईश्वर-विश्वास में विकल्प नहीं करना है। ईश्वर-विश्वास में विकल्प रखना है कि नहीं है सुनते हैं कि नहीं सुनते हैं, मानते हैं कि नहीं मानते हैं, मुझे अपनाएँगे कि नहीं अपनाएँगे। क्या जाने किसी को मिलते हैं, कि नहीं मिलते हैं? आजतक किसी ने पाया है कि नहीं पाया? तो इस प्रकार के जो अनेक संदेहात्मक धारणाएँ अपने जीवन में हैं उनको छोड़ देना पड़ेगा। तो तीन ही बातें हुईं। प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करना, निज-विवेक का अनादर नहीं करना, प्रभु-विश्वास में विकल्प नहीं करना ये—तीन बातें ऐसी है कि दुनिया के किसी युग, किसी देश, किसी मजबह का व्यक्ति अगर मानेगा तो उसकी सफलता जरूरी होगी। और ये बातें जो मानने की हैं ये मानने वाली बातें शरीर धर्म पर आधारित नहीं है।

यह हाथ-पाँव, आँख-कान का निर्णय नहीं है। यह निर्णय किसका है? यह निर्णय स्व का है। अपने द्वारा मैंने यह सत्य स्वीकार किया। अब इसको दूसरे शब्दों में कह दो और इनको किन-किन रूपों में हम कह सकते हैं जैसे ऐसे देखिए शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है, वह तो प्राकृतिक बात है न? वैज्ञानिक तथ्य है, तो जिन धातुओं से संसार बना है, उन्हीं धातुओं से शरीर बना है। तो शरीर और संसार का अविभाज्य सम्बन्ध है। इस अविभाज्य सम्बन्ध का हम जब स्वीकार करेंगे, तो अर्थ क्या होगा? अर्थ उसका यह निकला कि एक शरीर की रक्षा और भरण-पोषण का जितना ख्याल मुझको है, उससे कम ख्याल अन्य शरीरों के लिए नहीं रहेगा। कम से कम इतना ख्याल हमको रखना पड़ेगा। तो यह सत्य की स्वीकृति का प्रभाव होगा कि आपके हृदय की संकीर्णता टूट जाएगी। दूसरी बात क्या है? जो भी कुछ सामग्री मिली है अपने को, सामर्थ्य है अपने को, वह अपनी नहीं है, अपने लिए नहीं है इस सत्य को स्वीकार करना होता है। अपनी नहीं है, क्यों नहीं हैं अपनी? कि जब तक चाहे तब तक नहीं रख सकते हैं, जैसा चाहे वैसा नहीं रख सकते। यह सब मिली हुई है, निजी नहीं है और अपने काम आने वाली नहीं है। क्यों? मेरे काम तो आएगी परमशांति, मेरे काम आने वाली बात है जीवन-मुक्ति, मेरे काम आने वाली बात है, भगवत् भक्ति। तो संसार में कुछ ऐसा नहीं है जो मेरे काम आए। तो सभी साधकों के लिए विश्वास-पथ के, और विचार-पथ के और कर्म-पथ के जितने भी साधक होंगे अलग-अलग ढंग के सबके लिए आवश्यक बात होगी, कि वह शरीर और संसार से अपने को अलग स्वीकार करें। तो शरीर और संसार जो है वह अपना नहीं है और अपने काम नहीं आता है इस सत्य को स्वीकार करो। और मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से है और किसी से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, यह सत्य आपके लिए समान रूप से आवश्यक है। तो मिली हुई वस्तु,

सामर्थ्य इत्यादि मेरी नहीं है, मेरे लिए नहीं है। और मेरे लिए केवल परमात्मा है और उस परमात्मा का प्रेम ही मेरा जीवन है। इसमें से कोई भी वाक्य सत्य के रूप में स्वीकार कर लें, तो आपकी जीवन की समस्याएँ हल हो जाएँगी।

कई रूपों में महाराज जी ने कहा, सेवा करने के लिए सबको अपना मानो। यह भौतिक दर्शन का सत्य है। सुख लेने के लिए किसी को अपना मत मानो यह अध्यात्म-दर्शन का सत्य है। प्रेमी होने के लिए परमात्मा को अपना मानो। यह आस्तिक दर्शन का सत्य है। तो भाई ने पूछा कि वह कौन-सा सत्य है जिसको स्वीकार करने मात्र से जीवन सफल हो जाता है। तो सेवा करने के लिए सभी को अपना मानो, यह भौतिक दर्शन का सत्य है। जब हम सभी को अपना नहीं मानते हैं तो भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष, संघर्ष इत्यादि उत्पन्न होते हैं।

न मानना मनुष्य जीवन का कोई ध्येय ही नहीं है। अगर मानना है सत्य को तो भौतिक दर्शन के अनुसार सभी को अपना मानो सेवा करने के लिए। और शरीर और संसार की आसक्ति से मुक्त होना चाहते हो, देहातीत जीवन में प्रवेश करके सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य होना चाहते हो, तो स्वयं सुख लेने के लिए इस शरीर को भी अपना न माना जाए, किसी को भी अपना न माना जाए। तो एक सत्य क्या है? सेवा करने के लिए सबको अपना मानो। दूसरा क्या है? सुख लेने के लिए किसी को अपना न मानो। तीसरी बात क्या है, प्रेमी होने के लिए केवल प्रभु को अपना मानो। जिसको जो अच्छा लगे, स्वीकार करो। तो इस स्वीकृति मात्र से जीवन बदलता है। तो सत्य को स्वीकार करना व्यक्ति का पुरुषार्थ है। और उस स्वीकृति के परिणाम से अहं का परिवर्तित हो जाना, यह मनुष्य के जीवन की महिमा है। अपने आप होता है। तो मानव सेवा संघ में मानव-जीवन का महत्त्व साधक भाई-बहनों के सामने रखने की बात है। आप अपने जीवन का महत्त्व जब स्वीकार करेंगे, तो सारी बातें आपके काम आएँगी।

अगर जीवन का महत्त्व स्वीकार नहीं करेंगे, तो सब ग्रन्थ और सब सन्त और सब उपदेश जहाँ के तहाँ ज्यों के त्यों रहेंगे क्योंकि यह जो सत्य का प्रकाश है, यह तो मिटेगा नहीं। लेकिन इन सबके होते हुए भी अपने भीतर अंधकार ही छाया रहेगा। अब कोई कहे यहाँ से इतनी ऊँचाई पर बड़ा अच्छा भगवान जी का मंदिर है, उसमें भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, तो अगर कोई ऐसी बात कह दी जाए तो अब सब बैठकर अपना बल तोलेंगे कि देखें कि हम इतनी ऊँचाई पर चढ़ सकते हैं कि नहीं। तो जिसमें ऐसा विश्वास लगेगा कि हम तो चढ़ जाएँगे, तो वह तो दौड़कर चढ़ जाएगा। और जो ऐसा सोचेगा कि अरे भाई, हमको तो तकलीफ है, हमारे तो भ्मंतज में खराबी है तो हमसे तो पाँव से नहीं चला जाएगा। तो पहले ही से जो अपनी असमर्थता स्वीकार करके बैठ जाएगा वह तो उठेगा ही नहीं। पहले ही से हार मान जाएगा।

मानव सेवा संघ के प्रणेता संत ने हम लोगों को यह प्रेरणा दी कि भाई मेरे, दुनिया की अन्य सभी बातों में तुम घोर पराधीन हो, तुम्हारी कोई स्वाधीनता नहीं हैं लेकिन सत्य से अभिन्न होने में कोई भी भाई, कोई भी बहन अनधिकारी नहीं है, असमर्थ नहीं है। निराश नहीं होना कभी भी। शरीर में बल नहीं है, तो कोई बात नहीं। क्यों? क्योंकि शरीर के बल से सत्य को पकड़ा जाता। ठीक है न? जो शरीर के बल से पकड़ा जा सकेगा वह शरीर से घटिया होगा कि बढ़िया होगा? जो

जीवन आपको चाहिए वह शरीर से बढ़िया चाहिए कि घटिया चाहिए? बढ़िया चाहिए। इसलिए जो जीवन आपको चाहिए वह शरीर के बल से पकड़ा नहीं जाएगा।

इसलिए शरीर दुर्बल हो गया, असमर्थ हो गया, पदअंसपक हो गया, कुछ भी हो गया, तो सत्य से अभिन्न होने में निराश नहीं होना। क्यों? क्योंकि उसमें शरीर के बल की आवश्यकता ही नहीं है। तो सत्य को स्वीकार करो जाने हुए असत्य का त्याग करो तो अहं में परिवर्तन आ गया। और वह परिवर्तन आ जाता है, तो धन की कमी, तन के बदल की कमी, कुटुम्बी जनों की कमी, अच्छी परिस्थितियों की कमी, कोई अर्थ ही नहीं रखती है। इसका कोई प्रभाव ही अपने पर नहीं होता है। उदाहरण मैंने आप लोगोंक ो एक बार सुनाया था। चम्बल-तट पर स्वामी जी महाराज के पास एक साधक को लाया गया था भेंट कराने के लिए। बड़े आनन्द में थे वे साधक, बड़े आनन्द में थे। और उनके दोनों हाथ भी यहाँ से कटे हुए थे। दोनों पाँव भी कटे हुए थे। दोनों हाथ भी नहीं थे और दोनों पाँव भी नहीं थे और वे साधक बड़े आनन्द में थे। वह आनन्द कहाँ से आ गया? तो शरीर का मोह मिट गया तो आनन्द ही आनन्द है। सुख-भोग की आसक्ति छूट गई, तो आनन्द ही आनन्द है।

सन्त की वाणी में, भगवत् महिमा में विश्वास जम गया, तो आनन्द ही आनन्द है। हाथ पाँव का कट जाना कोई अर्थ ही नहीं रखता। स्वामी जी महाराज ने पूछा, समाचार पूछा, परिचय पूछा तो उन्होंने कहा कि गुरु महाराज ने कहा था चारों धाम का दर्शन करने आना। तो तीन धाम हो चुके हें, अब बद्रिकाश्रम जा रहा हूँ। कैसे जाते हो भाई? कैसे यात्रा कर रहे हो? तो आपके पास जैसे आ गया, ऐसे ही करता हूँ। टेªन में बैठे हुए जा रहे थे और उधर से टेªन निकलती थी उसमें स्वामी जी महाराज के दूसरे संत जन, प्रेमी जन थे जो चम्बल तट पर गुफा पर जा रहे थे स्वामी जी से मिलने। तो इस मस्त आदमी को देखकर उनको आनन्द आ गया तो उन साथियों ने कहा यहाँ गुफा में एक बड़ अच्छे महात्मा रहते हैं बड़े ऊँचे महात्मा है तो आपको भेंट करने का मन हो तो ले चले। तो उन्होंने कहा ले चलो। तो किसी ने लाद करके ट्रेन पर से उतार लिया और किसी ने लाद कर गुफा में पहुँचा दिया। स्वामी जी के पास पहुँच गए तो खूब बातचीत हो गई, आनन्द हो गया। और प्रणाम कैसे करते हो और खाना कैसे खाते हो उसने बड़े मजे में स्वामी जी महाराज को सब बात बता दीं।

हमारे गुरु ने ऐसे कह दिया था। हम बड़े आनन्द में है घूम रहे हैं, हमको कोई तकलीफ नहीं है। तो शरीर-धर्म नहंी है शांति, मुक्ति, भक्ति। देहातीत जीवन की शांति, अमरत्व का आनन्द यह सब देहधर्म है ही नहीं है, देह से इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अच्छा हो तो क्या, बीमार हो तो क्या और कमजोर हो तो क्या और कट गया तो क्या। ओर जब शरीर ही आवश्यक नहीं है उस अविनाशी जीवन के लिए, तो इस शरीर से दूर जो अन्य संगी-साथी दिखाई देते हैं उनकी जरूरत क्या पड़ेगी?तो इन सब बातों की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं रहती है। सत्य की स्वीकृति मात्र से अपने में परिवर्तन होता है। और अपने में से असत्य के प्रति खिंचाव टूट गया तो उसके बाद आप और कुछ जानिए अथवा मत जानिए, मानिए अथवा मत मानिए। यह असत्य का पर्दा हट गया, विकार मिट गए तो जो सदा से हैं वह प्रकट हो ही जाता है। उसका आनन्द उसको आ ही जाता है। फिर और कुछ कहना-सुनना शेष नहीं रहता है।

इसलिए मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में सत्य की स्वीकृति पर बहुत जोर डाला गया। स्वामी जी महाराज ने बारम्बार इस बात को दोहराया है कि भई, जीवन में सफलता चाहते हो, तो जीवन के सत्य को स्वीकार करो।

मानव सेवा संघ कहता है कि उपर्युक्त सत्य की प्राप्ति में देश-काल की दूरी नहीं है, इसमें हमारे भाई-बहनों को संदेह नहीं होना चाहिए। सत्य की प्राप्ति में देश-काल की दूरी नहीं होती है। सभी अनुभवी संतों ने कहा है, ग्रन्थों में भी लिखा है। हम लोगों के लिए मानने की बात जो है वह यह है कि ऐसा सोच करके देखिए कि सत्य कहो और नित्य तत्त्व कहो और परमात्मा कहो एक है कि दो? एक ही है न। ज्ञान की दृष्टि से उसको सत्य कहते हैं और भक्तजन की दृष्टि से उसको भगवत् कहते हैं। तत्त्व तो एक ही है। जो महाराज जी का तर्क इतना बढ़िया है वह कहते हैं कि अगर आज तुम उस नित्य तत्त्व से, उस जीवन से देश-काल की दूरी मान लोगे, ऐसा मान लो कि आज वह मुझसे दूर है और कल वह मेरे नजदीक होगा मेरी साधना से, तो आज जो देश-काल की दूरी पर हो सकता है वह किसी भी क्षण दूर हो सकता है फिर आगे भी दूर हो जाएगा तो क्या करोगे? जी! एक बात दूसरी बात सोचो कि हम लोग उसको कहते हैं, वह सर्वव्यापी है तो जो सर्वव्यापी है वह सब स्थान पर अथवा नहीं। अगर उसको देश की दूरी पर मानोगे, स्थान की दूरी पर मानोगे तो उसका सर्वव्यापकता कर विशेषण झूठा हो जाएगा। तो हम लोग ऐसा नहीं मान सकते हैं कि परमात्मा से किसी भी भक्त की देश-स्थान की दूरी है, मान सकेंगे?

अगर ऐसा मानिएगा, कि मैं यहाँ हूँ और मेरे भगवान दूर है ऐसा मानिएगा तो, वह भगवान आपके काम नहीं आएँगे। जो आज दूर है वह कल फिर दूर हो जाएगा हम कहाँ तक बुलाएँगे। जो सत्य होता है, जो जीवन का तत्त्व होता है, जो भगवत् तत्त्व है वह कभी भी किसी स्थान पर अनुपस्थित नहीं होता। स्थान की बात हो गई अब काल की बात देखो कि आज तो परमात्मा मेरे से दूर है कल मैं प्रार्थना करूँगी तो मेरे नजदीक होगा। तो जिस परमात्मा के लिए हम लोग इस बात को मानते हैं कि वह सदैव है, सर्वकाल में है, ऐसा सबने माना है। केवल हिन्दू परम्परा में ईश्वर-वाद में यह बात नहीं है। दूसरे ईश्वरवादी महजब के लोग जो है जैसे क्रिश्चियन लोग भी भगवान को मानते हैं इस्लाम में भी भगवान की सत्ता स्वीकार की जाती है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तीनों ही बड़ी जातियाँ संसार की ऐसी है कि जिन्होंने भगवत्-सत्ता को स्वीकार किया है। और किसी से भी पूछे लो, किसी भी ग्रन्थ में पढ़ कर देखलो सब जगह यह बात कही गई है कि परमात्मा उसे नहीं कहते जिससे देश-काल की दूरी हो। परमात्मा उसको कहते हैं जो सर्वत्र है और सदैव है तो इस सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा सदैव है, भूतकाल में था और वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा।

इसलिए मानव सेवा संघ में यह बात कही गई, कि सत्य की प्राप्ति में देश-काल की दूरी नहीं है। देश की दूरी मानकर सत्य का विशेषण कट जाएगा, वह काम का नहीं रहेगा। काल की दूरी मान लो तब भी उसका विशेषण कट जाएगा, वह अपने काम का नहीं होगा। क्यों? क्योंकि जो आज दूर है वह आगे भी दूर हो जाएगा। जो आज भी यहाँ मौजूद नहीं है, वह आगे भी गैरहाजिर हो जाएगा। इसलिए जो जीवन का सत्य है, सत्य कहते ही है उसको जिससे देश-काल की दूरी नहीं होती है। तो जो सर्वत्र और सदैव विद्यमान है, ऐसे

सत्य के अभिलाषी हम सभी भाई-बहन हैं। तो जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उससे अभिन्न होने में पराश्रय तथा परिश्रय क्या लगेगा? ऐसा सोचो। बड़ा अच्छा प्रश्न किया है जिज्ञासु भाई ने। मानव सेवा संघ का सिद्धान्त भी आपकी दृष्टि में स्पष्ट हो जाएगा और आपकी अपनी साधना में से भी संदेह निकल जाएगा।

परिश्रम और पराश्रय-दूसरे का, अन्य का सहारा लेना पराश्रय कहलाता है और बल लगाना परिश्रम कहलाता है। सत्य की अभिव्यक्ति में पराश्रय और परिश्रम नहीं है। और जब तक हम लोग पराश्रय और परिश्रम को पसंद कर रहे हैं, तब तक वह अत्यन्त निकट होते हुए भी अपने अनुभव में नहीं आ रहा है। यह बात समझ में आती है? पहला सत्य तो हम लोगों ने स्वीकार कर लिया कि उससे स्थान की दूरी भी नहीं है और काल की दूरी भी नहीं है, जिस समय हम बैठ करके उससे अभिन्न होने के उपायों की चर्चा कर रहे हैं, कि ऐसा करोगे, तो, भगवान मिलेंगे ऐसा करोगे तो भगवान मिलेंगे तो जिस समय हम लोग ये सब बातें कर रहे हैं उस समय भी भगवान हमारे भीतर-बाहर मौजूद हैं, कि नहीं है। सुन रहे हैं कि हम लोग उनके बारे में क्या-क्या बातें कर रहे हैं। उनको सब मालूम हो रहा है कि तो अब महाराज जी की वाणी दोहरा लो। वे कहते हैं जो नित्य विद्यमान है, जो सदा विद्यमान है, तुम्हारे ही में और अभी इसी क्षण में विद्यमान है तो नित्य विद्यमान, नित्य सम्बन्धी को पुकारोगे और ढूँढने के लिए बाहर-बाहर जाओगे तो उसके निकट आओगे कि उससे दूर हो जाआगे? जो अपने में विद्यमान है, इसी क्षण में प्राप्त है उसकी प्राप्ति के लिए अगर तुम परिश्रम करोगे तो परिश्रम करने के लिए शरीर की सहायता लेनी पड़ेगी। परिश्रम करने के लिए लेनी पड़ेगी न। जैसे कोई सोचे कि हम निर्जन स्थान में पैदल चलेंगे और खूब ढोल-मजीरा बजाकर परमात्मा को बुलाएँगे तो गाने-बजाने के लिए शरीर की सहायता लेनी पड़ेगी। और निर्जन स्थान पर जाने के लिए पाँव की सहायता लेनी पड़ेगी। स्थान की सहायता लेनी पड़ेगी। और जब जाएँगे तो ऐसा करेंगे तो काल का आश्रय लेना पड़ेगा। ठीक है न। तो स्थान और काल और शरीर और हाथ-पाँव और ढोल-मजीरा और ये स्वर यन्त्र टवबंस वतहंद जिसे गाने-बजाने का अंग कहते हैं, ये सब स्व है, कि पर है? पर है।

तो पर की सहायता से स्व से कैसे मिल जाएगा? जी! नहीं मिलेगा न। तो स्व में स्व है और उससे दूर होकर पराश्रम लिया जाता है। पराश्रय से उससे मिलना नहीं होता, जो अपने में है। और देखिए बड़ा रहस्य है मानव सेवा संघ के सिद्धान्त का। ये भाई कहते हैं, पराश्रय नहीं चाहिए यह बात तो ठीक हो गई न। अब परिश्रम नहीं चाहिए, यह भी देख लो। तो परिश्रम तो बिना पराश्रय के हो ही नहीं सकता। जब परिश्रम करना पड़ेगा तो परिश्रम के जववसे आपको लेने पड़ेंगे। कुछ प्राकृतिक हथियार है कुछ बनाये हुए है। तो परिश्रम के लिए पराश्रय लेना पड़ता है। इसलिए पराश्रय कट गया तो परिश्रम भी कट गया। और सबसे भीतरी और सूक्ष्म बात क्या है? कि कर्म के रूप में, चिंतन के रूप में, स्थिति के रूप में कहीं भी मनुष्य के भीतर कुछ भी करने का संकल्प है, तो करने का संकल्प सूक्ष्म अति सूक्ष्म होने पर भी अहंकृति को जीवित रखता है।

हाथ पाँव मत हिलाइए। एकदम से शांत रहिए, चुपचाप बिल्कुल। बाहर से कुछ नहीं है, लेकिन भीतर में बुहत ही सूक्ष्म और शुभ संकल्प है। क्या? कि हम मन की और चित्त की चंचलता

को रोक देंगे और उस स्थिरता में अवस्थित होंगे। तो हम मन ओर चित्त की चंचलता को रोकेंगे, अगर यह संकल्प भीतर में बना हुआ है, तो अहंकृति नहीं रुकेगी। अहंकृति होती है न, शांति में से, स्थिरता में से एक गतिशीलता उदित होती है। तो जहाँ सूक्ष्म संकल्प मन के भीतर आ गया कि हम ऐसा करेंगे, इस संकल्प से अहंभाव भी जीवित रहेगा, अहंकृति भी होती रहेगी और अहं में इस संकल्प की पूर्ति की स्फूर्ति भी होती रहेगी। तो आपने सत्य से अभिन्न होने का अन्तिम कदम क्या सुना है? कि जहाँ सीमित अहंभाव का लोप हो जाता है, वहाँ असीम अनन्त से अभिन्नता हो जाती है। सुना है न? तो क्या हो गया?

सन्त कबीर ने कहा जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर-भीतर पानी, फूटा कुम्भ जल जल हि समाना इहि तत् कहिए ज्ञानी। कबीर बढ़िया भाषा बोलना नहीं जानते हैं। जल में कुम्भ माने मिट्टी का घड़ा तो उसको पानी में डुबा दो तो कहते हैं जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है। जल के भीतर घड़ा है और घड़े के भीतर पानी है। तो बाहर भी पानी है भीतर भी पानी है। जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी। फूटा कुम्भ जल जल हि समाना इहि तत् कहिए ज्ञानी। तो मानव सेवा संघ ने सलाह क्या दी? सलाह यह दी कि पहला काम क्या करो कि अहं की अशुद्धि मिटाने का उपाय करो।

अशुद्धि कैसे मिटेगी? भाव की शुद्धि, विचार की शुद्धि, कर्म की शुद्धि, पहले इसका उपाय करो और अशुद्धि का नाश करो। तो अशुद्धि का नाश कैसे होगा? तो पहले जिन तीन सत्यों को सामने रखा गया, उन व्रतों को धारण करो। प्राप्त बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे, निज विवेक का अनादर नहीं करेंगे, ईश्वर-विश्वास में विकल्प नहीं करेंगे। इन बातों को मान लीजिए तो अहं की अशुद्धि का नाश हो गया। तो क्या रह गया?

तो बल का सदुपयोग रह गया, विवेक का आदर रह गया और ईश्वर-विश्वास रह गया। तीन अच्छी बातें रह गई, रहने वाली बातें रह गईं। तो पहले असत् के त्याग से अहं शुद्ध होता है फिर उस शुद्ध अहं में साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, शांति आती है, स्थिरता आती है। तो जब साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होने लग जाए तो इनके फल का भी भोग मत करना, योग का भोग मत करना है। तो बुराई का त्याग कर दिया आपने तो आप भले हो गए और भलाई के अभिमान को भी छोड़ दिया तो अहं के लोप की तैयारी हो गई। और फिर जो अपने ही में विद्यमान है, नित्य निरन्तर विद्यमान है, मेरी परम हितैषी है, मुझे जो खूब प्यार करने वाला है, मुझको सब प्रकार से सँभालने वाला है, ऐसा जो मेरा अपना है, अपने ही में विद्यमान है, उसकी आनन्ददायिनी विभूतियाँ अपने में प्रकट होने लगती है। अशुद्धि का नाश होने पर फिर क्या होता है? वह आनन्द बढ़ने लगता है, बढ़ने लगता है बढ़ने लगता है। उसमें कहीं भी कोई बाधा कोई रुकावट नहीं, कुछ नहीं। वह अपने आप से प्रस्फुटित होने वाला है। जैसे फूल की कली खिल जाए तो सुगन्धि ऐसे ही वायुमण्डल में फल जाती है। उसी प्रकार, मैंने अपने जाने हुए असत् का त्याग कर दिया तो मेरे भीतर जो नित्य तत्त्व विद्यमान है, उसकी विभूतियाँ स्वतः ही प्रकट होने लगती है, अभिव्यक्त होने लगती हैं, अब वहाँ जाकर के बड़ा भारी खतरा होता है साधक के लिए जब उसके भीतर से शांति आती है तो उसको भासित होने लगता है कि क्या बताएँ, सब लोग जो बैठे हुए हैं वे तो अशांति में

दिन काट रहे हैं, मैं तो परम शान्त हूँ। तो शांति तो नित्य तत्त्व है उसका नाश कभी नहीं होगा उसके चारों ओर 'मैं' का घेरा लग गया। गलती समझ में आ रही है? ये सब लोग तो रुखे-सूखे क्रियात्मक ढोल मजीरा बजाते रहते हैं, मैं तो प्रभु का बड़ा प्रेमी हूँ। मैं तो यह सब कुछ नहीं करता हूँ, मेरे हृदय में तो उनका प्रेम भरा रहता है। तो प्रेम तो अविनाशी तत्त्व है और सचमुच आ रहा है उन्हीं की ओर से। दिया है उन्होंने मेरे कल्याण के लिए, जन्म जन्मातर के भोग से, कामनाओं से, तृष्णाओं से जले हुए हृदय को शांत, शीतल, सरस बनाने के लिए परम कृपालु ने बरसा दिया लेकिन मैंने क्या किया? मैंने 'मैं' को घेरा लगा दिया। मैं बड़ा भक्त हूँ, तो डूब गया।

मानव सेवा संघ ने सभी भाई-बहनों को सलाह दी कि भैया सत्य से अभिन्न होने में परिश्रम और पराश्रय मत रखना। अगर परिश्रम-पराश्रय की बात रखोगे तब भी सत्य से दूरी हो जाएगी, क्योंकि वह स्व में ही विद्यमान है। और परिश्रम की बात रखोगे तब भी स्व से दूरी हो जाएगी क्योंकि परिश्रम जब कभी होगा, तो अहंकार बुलन्द हो जाएगा। मुझे ऐसा करना है, मैंने ऐसा किया है। तो जहाँ मैं, मैं, मैं, यह अहं भाव जहाँ जिंदा है और साधना के फल पर। बुराई से तो अहं का श्रृंगार कोई नहीं करता है। स्वामी जी महाराज कहते कि समाज में कहीं भी साइन बोर्ड नहीं देखोगे कि यहाँ पर घूसखोरी सिखाई जाती है। यहाँ पर ठसंबा उंतामजपदह की जतंपदपदह होती है। ऐसा साइन-बोर्ड कहीं देखा है। नहीं देखा, तो बुराई का समर्थन कोई नहीं करता है। मैं बुरा हूँ, यह कमबसंतंजपवद कोई नहीं देता है। लेकिन भलाई के बल पर हम सत्य से दूर हो जाते हैं। अच्छाई के बल पर अहंभाव का पोषण होता रहता है। इसलिए परिश्रम बंद किया। और अंतिम बात क्या है? लग जाए थोड़ा ज्यादा समय, शांति से बैठे रहिए।

अंतिम बात क्या है, बड़ी अच्छी है, बड़ी अच्छी है और वह क्या है, कि मैंने अनुभवी संत के मुख से सुना और उनकी कृपा से, जीवन के मंगलमय विधान से किसी-किसी अद्‌भुत घड़ी में इस रहस्य का दर्शन पाया। वह रहस्य क्या है? कि साधक के भीतर एक लगन है किस बात की? कैसे भी हो, करने वाले जिस तरह से करें हमारे भीतर के सब विकार मिट जाने चाहिएँ, हमारे और उनके बीच में जो दूरी मालूम होती है, प्रतीत होती है, है नहीं, प्रतीत होती है, वह मिट जानी चाहिए। किसी भी प्रकार यह जीवन पूर्ण हो जाना चाहिए तो ऐसी आवश्यकता जब जगती है साधक में तो पुरुषार्थी साधक क्या करते हैं? समर्थ साधक जो होते हैं वे क्या करते हैं? कि उनको जो जो सूझता है कि ऐसा करने से अच्छा होगा, ऐसा करने से अच्छा होगा सो सब कर डालते हैं वे जल्दी-जल्दी। सब करने के बाद क्या होता है? कि उनको अपने से इस बात का सत्य पता चल जाता है, कि ऐसा करने से मेरा काम बना। करने से तो बनता ही नहीं है। करते रहोगे तब तक तो सत्य की दूरी रहेगी ही। तो उनको पता चल जाता है। और मेरा ऐसा विश्वास है कि हमारा-आपका सबका जो परम हितैषी है न जो प्रतीक्षा कर रहा है कि मेरे बच्चे कब संसार के बंधन से मुक्त हो करके, हमारे दिए हुए ज्ञान और प्रेम का आनन्द लेंगे इसकी प्रतीक्षा है उसमें, तो ऐसा जो है न वह हमारे हर गलत कदम पर भीतर से ही अपने को सुझाव देता रहता है।

ऐसे काम नहीं बना, ऐसे काम नहीं बना तो क्या स्वामी जी महाराज ने कहा कि साधक के जीवन में एक बड़ी शुभ घड़ी आती है। कौन-सी

घड़ी? कि करणीय कुछ शेष रहा नहीं जितना बल चला, जितनी बुद्धि चली, जितनी धन-सम्पत्ति लगा सके सब करके देख लिया। अब करने लायक कुछ बाकी नहीं है, तो अब करने का प्रश्न खत्म हो गया न। तो अब चित्त-वृत्ति शांत होने लगती है। साधक को इस बात का पता नहीं चलता लेकिन अनुभवी जन जानते हैं कि जब वह हार जाता है न, मेरे किए तो कुछ हुआ नहीं और करने के लायक कुछ रहा नहीं तो जहाँ करना बन्द हो गया तो उसकी अहंकृति शांत होने लगती है, अहं भाव उसका गलने लगता है। क्या करें मेरे लिए कुछ नहीं हुआ और अब उन परम हितैषी, परम प्रेमी, परम कृपालु से मिले बिना तो किसी तरह रहा जाता नहीं। तो अपने परिश्रम और पराश्रय का त्याग और उस ओर का जबरदस्त खिंचाव, पहले दिन बात हुई थी न, बड़ा आकर्षण है उसमें, बड़े जोर से खींचते हैं वे अपनी ओर। महाराज जी ने एक जगह लिखा है कि शरण्य की कृपा दृष्टि जब शरणागत पर पड़ती है और उसको वे अपनी ओर खींचने लगते हैं तो उनका आकर्षण इतना मधुर इतना जोरदार होता है कि शरणागत उससे न हटने के लिए बाध्य हो जाता है। रहा ही नहीं जाता एकदम। इतनी जोर से खिंचाव मालूम होता है।

तो अन्तिम बात क्या हो गई? अपना बल, अपना पुरुषार्थ शांत हो गया। अब हमें कुछ नहीं करना है और तब भी उनसे दूरी है वह सही नहीं जाती है। अब हम नहीं कह सकते तुमसे मिले बिना तो उधर का उतना जोरदार आकर्षण उसको छू देता है। प्रभु की आनन्दमय विभूतियाँ, ज्ञान का प्रकाश भी बड़ा सरस होता है। प्रेम का रस तो सरस होता ही है। यह विभूतियाँ जब साधक को छू देती है तो वह अपने आप को भूल जाता है। अपने आप को जब भूल गया तो सीमित अहंभाव समर्पित हो गया तो असीम से, अनन्त से अभिन्नता हो गई। यह आखिरी कदम है। यहाँ पहुँचकर भक्त जनों ने भक्ति के प्रवाह में अपने-पन के खोने का बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है। बहुत सुन्दर वर्णन किया है। "लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल, देखनी में गई मैं भी हो गई लाल", जब हम है तब हरि नहीं, अब हरि है हम नाहिं, प्रेम गली अति साँकरी तामें दोऊ न समाहिं।

प्रवचन(14)

उपस्थित महानुभव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

संत वाणी में अभी हम लोगों ने प्रश्न भी सुना और उत्तर भी।

प्रश्न क्या किया गया था उनसे कि पंथ-प्रदर्शन कीजिए, मार्गदर्शन कीजिए। अथवा जीवन की राह दिखलाइए। तो स्वामी जी महाराज ने उत्तर दिया कि चलने की रुचि में मार्ग दिखाई देता है अर्थात् जो वास्तविक जीवन की ओर आगे बढ़ना चाहता है आगे बढ़ने की आवश्यकता अनुभव करता है, उसे स्वतः ही राह दिखाई देती है ऐसा उत्तर स्वामी जी महाराज ने दिया। स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त जी ने प्रश्न किया था, महाराज जी ने उत्तर दिया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी ने कहा कि चलने की रुचि है और मार्ग दिखाई देता है, चल नहीं पाते। तो ऐसी दशा हम सब भाई-बहनों में से बहुतों ने की है। शांति, मुक्ति, भक्ति की ओर आगे बढ़ने की आवश्यकता अपने को है कि नहीं? जी है। और कैसे आगे बढ़ेंगे? उपाय मालूम है कि नहीं? जी। उपाय भी मालूम है, 'हाँ' कहने में कोई संकोच की बात नहीं है।

हम लोगों में से किसी से भी पूछा जाए कि भाई, शांति कैसे मिलेगी तो बहुत सहज से हम

कह सकेंगे कि कामनाओं के त्याग से शांति मिलती है। कामनाओं के त्याग से शांति मिलती है, यह बात हमें मालूम है कि नहीं? मालूम है। तो स्वामी जी महाराज के सामने यह प्रश्न रखा गया कि चलने की आवश्यकता भी है और राह भी दिखाई देती है, पर चल नहीं पाते हैं, चला नहीं जाता है। ऐसे हम लोग कहते हैं। क्या करें, बुराइयों का त्याग कर देना चाहिए ऐसा तो हम जानते हैं, पर मेरे से बुराइयों को छोड़ा नहीं जाता है। तो ऐसे ही वहाँ भी कह दिया लोगों ने क्या बताएँ। आवश्यकता भी है, मार्ग भी दिखाई देता है और चला नहीं जाता है, चल नहीं पाते हैं। तो स्वामी जी महाराज ने उत्तर दिया कि न चल सकने की वेदना में चलने की शक्ति आ जाती है। यह भी बहुत अच्छी बात है न चल सकने की वेदना में। क्या बताएँ? बुराई जीवन में दिखाई देती है। और देखकर बहुत ही कड्ढ होता है अपने को और मैं तो सब प्रकार से बुराई-रहित होना चाहती हूँ परन्तु हमसे बुराई छोड़ी नहीं जाती। तो बुराई रहित न होने का जो कड्ढ होता है, उस कड्ढ से बुराई-रहित होने की शक्ति आ जाती है।

इसी बात को प्रायः प्रत्येक समारोह के समय कई प्रकार की शब्दावलियों में हम लोग प्रकट करते रहते हैं। सुनते रहते हैं, निवेदन करते रहते हैं। बात यह बिल्कुल सही है और ऐसा क्या सम्भव है? ऐसा कैसे हो सकता है? तो इसके सम्बन्ध में मनुष्य के जीवन पर विचार करने से, सन्त की वाणी को सुनने से यह मालूम हो गया कि कोई भी मनुष्य जब पतन के रास्ते को छोड़कर उन्नति की ओर आगे बढ़ना चाहता है और उसमें अपने को असमर्थ पा करके असमर्थता की पीड़ा से पीड़ित होता है तो उन्नति की ओर जाने वाले की पीड़ा सर्व समर्थ प्रभु से सही नहीं जाती। ऐसा होता है। वे नहीं सह सकते। तो क्या होता है?

उनके पास तो अनन्त सामर्थ्य है। जितना चाहिए, उतना दे देते हैं। जितना बल लेकर आप आगे बढ़ सकेंगे, उतना बल परमात्मा दे देते हैं। उनके पास सामर्थ्य की कमी भी नहीं है और उनके पास उदारता की भी कमी नहीं है। देने में भी कभी कंजूसी करते, हिसाब नहीं करते। जितना जिस साधक को चाहिए, बिना माँगे बड़ी उदारता से अनन्त परमात्मा दे दिया करते हैं। इसी बात को महाराज जी ने हमको इन शब्दों में कहा, कि भई चलने की आवश्यकता महसूस करो तो राह दिखाई दे जाएगी। और राह पर चलने की असमर्थतता है, तो उस असमर्थता से पीड़ित हो जाओगे कि मैं क्या बताऊँ, सत्य का रास्ता दिख तो रहा है परन्तु मेरे कदम आगे नहीं बढ़ रहे हैं। तो इस बात की बड़ी पीड़ा हो जाए, उससे सामर्थ्य की वृद्धि हो जाती है। यह मानव-जीवन का मंगलमय विधान है। यह मानव-जीवन के मंगलकारी रचयिता की मंगलकारिता है कि उन्नति के पथ पर जाने वाले किसी को परमात्मा असमर्थ छोड़ नहीं देते हैं, उसे अपनी ओर से बिना माँगे सामर्थ्य देते हैं और उसे आगे बढ़ाते हैं।

कई बार तो मुझे ऐसा लगा कि सामर्थ्य दे करके साधक को आगे बढ़ा देते हैं और कई बार मुझे ऐसा लगा कि स्वयं ही उसकी समस्या का समाधान कर देते हैं, अपने आप ही कर देते हैं। बल मिल गया और मैंने कर लिया ऐसा भी होता है। असमर्थता से व्याकुल हूँ और सामर्थ्यवान ने हमारा संकट दूर कर दिया ऐसा भी होता है। दोनों तरह की बातें होती है। हमेशा साधक के जीवन में इस बात का बहुत ही दृढ़ निश्चय अपने में रहना चाहिए कि साधना के पथ पर किसी भी

स्तर पर जा करके यदि हमें असमर्थता की पीड़ा होगी तो सामर्थ्यवान हमेशा ही मदद दे करके पार लगा देते हैं। बीच रास्ते में कोई नहीं रहता है।

महात्मा गाँधी आज के युग के बड़े अच्छे साधक थे। उन्होंने अपने जीवन को साधना में साधा और अपने अनुभव के आधार पर एक ग्रन्थ में लिखा है। बहुत छोटी-सी किताब है। 1929-30 में नमक का आन्दोलन आरम्भ हुआ था जब वे जेल में थे तो प्रत्येक मंगलवार को एक संदेश देश वासियों को व आश्रम वासियों को भेजते थे तो वह सारा 'मंगलप्रभात' के नाम से एक छोटी-सी किताब है, उसमें साधना के एक-एक खण्ड को ले करके उन्होंने बहुत ही चतंबजपबंस विवेचन उसमें लिखा है। तो उसी में एक जगह पर लिखा है कि सत्य के मार्ग पर चलते हुए कोई भी साधक अन्त काल तक गलत रास्ते नहीं गया।

ऐसा उन्होंने लिखा है कि सत्य के मार्ग पर चलने वाला कोई भी साधक अन्त समय तक गलत रास्ते नहीं गया। जरा सी गलती हुई ठोकर लगती है, चेतना आती है और साधक सही रास्ते पर आ जाता है। यह भी उसी तरह की चीज है कि हमको किसी प्रकार का भ्रम रह गया है, किसी प्रकार की असमर्थता रह गई है, अपने को पता नहीं चल रहा है। वह जो नित्य निरन्तर विद्यमान रहने वाला सत्य हर एक साधक के भीतर सब समय विद्यमान है वह देखता रहता है, कि हम लोगों की दशा क्या हो रही है। हम क्या सोच रहे हैं हम क्या कर रहे हैं? हम कैसे चल रहे हैं? हम कहाँ पीछे हट रहे हैं? इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान उन परमात्मा को रहता है। और वे सब समय साधक के जीवन को आगे बढ़ाने में सचेड्ढ रहते हैं।

हमेशा इसलिए हम सब भाई-बहनों को इस बात में बहुत निश्चिन्त रहना चाहिए कि मेरी सामर्थ्य घट जाएगी, तब भी मैं बीच में रास्ते में नहीं रहूँगा। बहुत बढ़िया बात है। अगर अपनी ही पूँजी से काम चलाना हो तो आदमी सोचे कि मेरे पास कितनी है और जितना घटेगा उतनी उदार दाता सब समय देने के लिए तैयार है। तो फिर क्या चिन्ता है, कोई चिन्ता की बात नहीं। अवश्य ही बेड़ा पार होगा, ऐसा निश्चय ले करके साधन के पथ पर आगे बढ़ना चाहिए। अपनी दुर्बलता को देख करके हिचकना नहीं चाहिए कि क्या बताएँ, हममें तो दम ही नहीं है। हम कैसे बढ़े, सो नहीं करना चाहिए।

अब देखिए कि असफलता और असमर्थता की पीड़ा भी हम लोगों को महँगी पड़ जाए, ऐसा भी होता है। सफलता मिली भी नहीं और असफलता की गहरी वेदना भी नहीं। ठीक है? सत्संग में बैठते तो हैं ही, कमाई का कुछ हिस्सा दान में लगा दिया, शरीर का कुछ बल समाज की सेवा में लगा दिया। अच्छी तरह से दिन कट रहे हैं सत्य से अभिन्नता नहीं हुई तो कोई बात नहीं है। परमात्मा से भेंट-मुलाकात नहीं हुई तो कोई बात नहीं है। देखा जाएगा आगे कभी कर लेंगे इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि सत्संगी होते हुए भी, किसी न किसी रूप में साधन करते हुए भी, अपने लोगों में साध्य से अभिन्न होने की तीव्र लगन नहीं है। यह अर्थ निकला।

एक घटना जैसे मैं आप लोगों को सुनाया करती हूँ कभी-कभी। तो अपने लोगों को सत्य की ओर आगे बढ़ने में अथवा चिन्ता तथा भय से मुक्त होने में, सर्वांश में मुक्त होने में अगर देर लगती है तो देर जो लग रही है, उसको हम लोग सहन क्यों कर रहे हैं? ऐसा सोचकर के देखो। अगर सहन

नहीं होता हर तरह से, आदमी अधीर हो उठता है। परमात्मा से मिले बिना किसी प्रकार से रहा नहीं जाता, तो इस प्रकार की अधीरता भी अपने को मँहगी पड़ गई है कि अधीरता भी नहीं आई।

स्वामी जी महाराज सुनाया करते थे कि तीव्र प्यास लगी है और हाथ में भरा हुआ जल भी है और जब सत्य से अभिन्न होने की तीव्र आवश्यकता जाग्रत होती है, तो पानी पिया नहीं जाता। हाथ में जल है और प्यास से कंठ सूख रहा है लेकिन साधक पानी को पी नहीं पाता है क्या लगता है उसको? प्रभु से मिलेंगे पहले और जल पिएँगे पीछे। तो इसको वे सिद्धान्त के रूप में कहते थे लेकिन थी उनके जीवन की बात। कभी-कभी व्यक्तिगत सत्संग के सिलसिले में उन्होंने कह दिया कि मुझे तो ऐसा लगता था कि 1-2 मिनट का समय मैंने जल पीने में लगा दिया, तो जल पीते-पीते प्राण पखेरू उड़ गए तो? परमात्मा से मिलने का प्रोग्राम तो बाकी रह जाएगा।

इसलिए प्यास लगी है और हाथ में जल है और पीते नहीं थे, पकड़े बैठे रहते थे। और भीतर में गहरी व्याकुलता रह-रहकर उमड़ रही है। क्या? कि पहले मिलना जरूरी है। पहले प्रभु से मिलें, पीछे जल पिए तो ऐसा होता है साधकों के जीवन में। इस तरह का एक चवपदज आता है, जबकि करणीय कुछ भी शेष नहीं है अपने को। जो करना था मैंने सब कर लिया। अब सब प्रयास, अप्रयास में विलीन हो गए। फिर भी अगर उनसे, परमात्मा से अभिन्न होने का आनन्द नहीं आया तो साधक तड़प उठता है कि अब तक हम किसी प्रकार आपसे मिले बिना रह ही नहीं सकते हैं। जब ऐसी उसकी लगन लग जाती है, ऐसी धुन लग जाती है तो कब उसकी लगन तीव्र हुई और कब उसको प्रभु-मिलन का आनन्द आया, यह पता नहीं चलता। तत्काल ऐसे अद्‌भुत अनुभव साधकों को होते हैं कि जिनके सम्बन्ध में कुछ भी कहना, सुनना, वर्णन करना सम्भव नहीं है। ऐसे अद्‌भुत अनुभव साधकों को होते हैं। जिन साधकों ने परमात्मा को मान करके अपनी साधना आरम्भ की, वे तो पुकारते ही रहते है। और महाराज जी की गीता-भवन की चर्चा है। वहाँ इस तरह की बातें बहुत होती थीं तो महाराज जी कभी-कभी कहते, देखो भाई प्यास लगी है और जल नहीं मिल रहा है। जल न मिलने के कारण प्यासा आदमी भीतर से पानी की आवश्यकता बंद कर देगा? जी! बंद तो नहीं करेगा। हाय पानी, हाय पानी अगर मुँह से नहीं बोलेगा, तो भीतर-भीतर जल का अभाव अनुभव करेगा।

राजस्थान में जैन सम्प्रदाय में एक प्रथा है कि शरीर छोड़ने के लिए ये लोग व्रत ले लेते हैं। क्या कहलाता है वह व्रत? सन्थारा। सन्थारा व्रत ले लेते हैं। क्या व्रत ले लेते हैं उसमें? कि अन्न, जल अब ग्रहण नहीं करेंगे। तो संख्या भी होती है कोई 3 कोई 4 और कोई 5 दिन। वे लोग बता रहे थे, तो सन्थारा किया हुआ एक आदमी जिसने सोच लिया था कि अब शरीर को त्याग कर ही देना ही चाहिए, अन्न जल नहीं लेना चाहिए। तो जैन सम्प्रदाय में सन्थारा लेकर शरीर त्याग करने वाले की बड़ी महिमा है। बहुत प्रकार की उनके यहाँ प्रथा है, जिससे व्यक्ति को इस प्रकार के तप करने में बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। ऐसा खूब मैंने देखा है वहाँ। तो एक सज्जन ने लिया था सन्थारा और कई दिन बीत गए। अब जब उनको बड़ी गहरी प्यास लगी जल की तो वे पुकारने लगे, जल चाहिए, जल चाहिए, तो लोग मुझको बता रहे थे कि उनके सगे-सम्बन्धी, हितैषी मित्र, परिचित, साधु-संत सब मिलकर के चेड्डा यही करते हैं कि इस आदमी ने

व्रत लिया तो इसको जल न दिया जाए। ऐसी चेड्डा करते हैं तो देते नहीं है। समझाते रहेंगे उसको और समय काटते रहेगे और चाहेंगे कि इस आदमी ने सन्थारा लिया है तो बिना जल लिए इसके शरीर का अन्त हो ही जाना चाहिए।

इसी प्रकार की मदद कुटुम्बी जन भी करते हैं। मित्र भी करते हैं और उनके संगी-साथी जो भी हों, वे करते हैं। तो लोग मुझे बता रहे थे। तुरन्त ही उनका देहान्त हुआ था, शायद एक दो दिन ही बीते थे तब मैं वहाँ पहुँची थी और मौहल्ले में बड़ी चर्चा थी इस बात की। तो महिलाएँ मुझसे कहने लगी कि वे पानी-पानी पुकारते रहे लेकिन उन्हें दिया नहीं गया। तो जो भी उससे मिलने जाए उनको धीरज देने के लिए अथवा व्रत पर दृढ़ रहने की बात याद दिलाने के लिए जो भी कोई जाए तो उनको देखे और देखते ही पानी की इतनी तीव्र आवश्यकता उनके भीतर थी कि वे कहने लग जाएँ कि भाई जी, आपके घर तो जल की धारा बह रही है जल की नदी बह रही है, उसमें बहुत जल है, जल ही जल है क्या मतलब है? कि आवश्यकता इतनी जबरदस्त थी कि उनके मस्तिष्क के मानसिक स्तर पर जल ही जल दिख रहा था और दूसरी बात वे करते ही नहीं थे। जल है आपके घर के सामने तो गंगा बह रही है, आपके घर के सामने तो जल का समुद्र लहरा रहा है। उसमें बहुत जल है, उसमें बहुत जल है हाय मुझ को जल चाहिए। बड़ा दुःख लगा मुझे। दिल में बड़ा धक्का लगा लेकिन हमने कुछ नहीं कहा नहीं। हमने कहा कि भाई अपने मजहब की बात है, जिसको हो सो हो। अभी मुझे याद आ गया मैं आपको इसलिए सुना रही हूँ। तो स्वामी जी महाराज हमें कहा करते थे कि तुम्हारे में अगर सब अपने से करने की सामर्थ्य नहीं है, तो जीवन में से जिन बुराइयों को मिटा देना चाहते हो, उन बुराइयों के रहते हुए तुम्हें चैन कैसे है? जी! एक बात हो गई न।

दूसरी बात क्या कहते कि जिस परमात्मा से मिलने की आवश्यकता है तुमको, उसके बिना तुमसे रहा कैसे जाता है? और तब यह बात कहते कि लगन तो ऐसी लगती है कि मान लो कि प्यासा आदमी तड़प रहा है प्यास से और उसको चारों ओर से निराश कर दिया जाए। यहाँ कही भी जल नहीं है, आपको मिलेगा नहीं तो यह कह देने के बाद भी उसके भीतर से पानी का चिनतन मिटेगा? नहीं मिटेगा। फिर और कहते, मान लो कि उसके सामने आप हथियार लेकर चले जाओ और जा करके कहो कि खबरदार जो पानी का नाम लिया अगर पानी का नाम लोगे तो गोली से उड़ा देंगे। तो इस भय के देने के बाद भी वह हाय पानी कहना बन्द कर सकेगा? नहीं कर सकेगा। क्यों?

क्योंकि वह उसकी आवश्यकता है। तो ऐसे ही होता है। सत्य की अभिव्यक्ति में परमात्मा से मिलने के लिए जब तीव्र लगन जगती है तो उसको मना करो तो मुँह से बोलना बन्द कर देगा, तो भीतर पुकारता रहेगा। ऐसी दशा क्यों होती है? एक बार मैं बैठ करके उस दशा को पकड़ने की कोशिश कर रही थी तो मुझे ऐसा दिखाई दिया कि परमात्मा से मिलने के लिए जिस साधन ने जो कुछ करना था सब कर लिया अब केवल साधन के फल के अभिमान का नाश करना बाकी रह गया है। अब यह काम तो परमात्मा करेंगे न। अपनी ओर से तो मैंने ठान लिया कि हम किसी प्रकार का सुख नहीं लेंगे तो सुख लेना छोड़ दिया। हम निरन्तर भजन करेंगे, तो कर लिया। तो करने का था वह कर लिया, छोड़ने का था वह छोड़ दिया। उसके बाद भी ऐसा लगता है कि हमारे और हमारे प्रेमास्पद के बीच के कुछ दूरी रह गई है। ऐसा

लगता है साधक को, तो उतना हिस्सा कब मिटेगा? जब की हुई साधना का अभिमान मिटेगा तब मिटेगा वह। तो उतना-सा हिस्सा रह जाता है फिर तो साधक व्याकुल होने लगता है। अब क्या करें अब क्या करें, अब कैसे करें। अब कैसे मिले। होते-होते ऐसे समय जब उसको सूझता है कि अब मेरे लिए कुछ होगा नहीं अब तो स्वयं ही प्रभु अपनाए तो काम बने। तो इतना घना आकर्षण, इतना जोरदार आकर्षण परमात्मा की ओर से उस साधक को अपनी ओर खींचने लगता है। इतनी जोर से कि साधक जो है वह किसी भी भय से अथवा किसी भी प्रलोभन से उस ओर खिंचे बिना रुक नहीं सकता। ऐसा होता है। बहुत तीव्र प्रवाह होता है इसमें। बड़ा तीव्र आकर्षण होता है उस खिंचाव में। उस खिंचाव में भी इतना आकर्षण होता है उस मिठास में। जितनी भी आसक्ति रही होगी सुख-भोग की, वह सब दुर्बल पड़ जाती है और परमात्मा की ओर से जोरदार सच्चा आकर्षण है, बलवान हो जाता है। इतना बलवान हो जाता है कि किए कराए, जन्म जन्मान्तर के सब अधिकार मिट जाते हैं, सब आसक्तियाँ टूट जाती है सब की विस्मृति हो जाती है। और साधक जब तीव्र व्याकुल हो जाता है तब उसके अहं का भी नाश हो जाता है, साधन के फल का अभिमान भी खत्म हो जाता है।

और अभिमान खत्म हुआ नहीं कि सत्य से अभिन्न होने का अनुभव हुआ। केवल इतनी-सी बात शेष रह जाती है, तो यह काम पूरा हो जाता है। तो आज इस संध्याकाल में अपने लोगों की अपनी दशा पर थोड़ा विचार करना है। यहाँ से उठने के बाद जब बोलना और सुनना बन्द हो जाए और दूसरे आवश्यक कार्य भी आपके पूरे हो जाए तो अकेले बैठ करके थोड़ा सा विचार करके देखिए, कि सत्य के रास्ते पर चलने का प्रयास करते कितना समय बीता? अपने को मालूम तो है न? पता तो है ही। एक बार इसको देखिए। फिर ऐसा सोचिए, मैंने अपनी और से प्रयास करके अपने जीवन को कितना ऊँचा उठाया, यह भी देख लो। फिर यह भी देख लो, कि यह सब करते हुए भी सत्य से अभिन्न होने का जो आनन्द है, वह आनन्द अगर अब तक नहीं आया और अपने को लगता है कि मैं रास्ते में हूँ, अभी घर नहीं पहुँचा ऐसा लगता है, तो घर न पहुँचने की पीड़ा अपने को क्यों नहीं है? ऐसा सोचिए। तो आप सभी भाई-बहनों को अलग-अलग उत्तर मिलेगा। और आज मैं उत्तर नहीं दूँगी।

हम सब लोग अलग-अलग बैठकर अकेले आज रात्रि में अपने से पूछेंगे कि अगर परमात्मा से मिलने का आनन्द मुझे नहीं आया कि सत्य से अभिन्न होने का आनन्द मुझे नहंी मिला तो जीवन का जो सबसे महत्त्वपूर्ण व आवश्यक कार्य है, वही पूरा नहीं हुआ तो उसका पूरे न होने का दुःख अपने को कितना है? यह भी देख लो क्योंकि और कोई उपाय चाहिए नहीं। केवल पीड़ा के तीव्र होने के बात है। तो पीड़ा इतनी तीव्र हो जाए कि और कुछ न सुहाए अपने को, तो काम बन गया। तो ऐसा सोचकर देखिएगा और कल प्रातः काल की बैठक में इस सम्बन्ध में हम और बातचीत करेंगें। जो प्रश्न सूझे, वह प्रश्न लिखकर ले आना।

जो उत्तर सूझे, छोटे-छोटे वाक्यों में लम्बा-लम्बा नहीं, तो उत्तर लिखकर ले आना तो इस विषय में हम और बातचीत करेंगे। कहाँ से ऐसी शिथिलता जीवन में आ गई? कौन-सी ऐसी जड़ता जीवन में छा गई है? जीवन के लक्ष्य को भी हम लोग जानते हैं, लक्ष्य-पूर्ति के रास्ते को भी

जानते हैं, थोड़ा बहुत चलते भी है और न पहुँचने की पीड़ा भी नहीं है। ऐसी जड़ता क्या हो सकती है जीवन में, इसके सम्बन्ध में थोड़ा सोच-विचार करने से अच्छा रहेगा। सुनाने के लिए तो मैं 2-4 बातें सुना दे सकती हूँ क्योंकि व्यक्तिगत रूप से अपना हाल मुझको मालूम है तो मैं सुना दे सकती हूँ लेकिन मेरे सुना देने से आपको उतना लाभ नहीं होगा। और अकेले बैठकर अपने बारे में स्वयं सोचिएगा और आपके जीवन की दशा स्वयं आपके समझ में आएगी, तो उससे आप भाई-बहनों को विशेष लाभ होगा। इसलिए मैं नहीं सुना रही हूँ। कल सवेरे की बैठक में हम इससे सम्बन्धित बातचीत करेंगे। अब इस समय की वार्ता जो है, वह मैं पूरा करने जा रही हूँ। यह कह करके कि सन्त जनों का जो अनुभव है, वह बिल्कुल पक्का है, सत्य है उसमें कोई संदेह की बात नहीं है। और प्रत्येक अनुभवी संत ने हम लोगों को यह बताया कि सूर्य का प्रकाश और अंधकार का नाश एकदम एक साथ होता है। पता नहीं चलता है कि कब सूर्य का उदय हुआ और कब उसके बाद कब अंधकार का नाश हुआ? ऐसा कभी आप अनुभव करते हैं? या ऐसा कोई मौका आपको मिलता है कहने का, कि ठीक-ठक अब सूर्योदय हो गया है अब थोड़ी देर में अन्धकार चला जाएगा। ऐसा मौका नहीं लगता है।

क्यों नहीं लगता है क्योंकि जैसे-जैसे सूर्योदय हो जाता है, साथ ही साथ अन्धकार मिटता जाता है। ऐसे ही मनुष्य के जीवन में ईश्वर-मिलन की लगन जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, ईश्वर और उनके भक्तों के बीच की जो दूरी है, वह ऐसे ही मिटती जाती है। जैसे सूर्योदय के प्रकाश से अन्धकार का नाश होना एकदम साथ ही साथ हो जाता है, आगे पीछे नहीं होता। देर नहीं लगती है, पता नहीं चलता है अपने को। कब क्या हो रहा था, कब क्या हो गया? सो बड़ा ही अद्‌भूत चमत्कारपूर्ण परिवर्तन मनुष्य के अहंरूपी अणु में होता है। और अब मैं कभी ऐसा सोचती हूँ कि सारी पढ़ाई-लिखाई हुई और समाज में बड़ी धूम-धाम मचाई और बहुत धन कमाया गया और बहुत धन जोड़ा गया, बहुत कुछ किया गया। आदमी को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है कि छोटी सी जिंदगी में अल्प सामर्थ्य को ले करके ही बहुत कुछ करता रहता है और बुहत कुछ करने को सोचता रहता है, लेकिन सब कुछ हुआ तो क्या हुआ? यदि शरीरों की आसक्ति का नाश नहीं हुआ, तो जन्म-मरण का चक्कर नहीं खत्म होगा। तो कुछ नहीं हुआ। यदि सर्वाधार परमात्मा, जो सब प्राणियों के जीवन का आधार है, उसका आधार ले करके हम सदा-सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय नहीं हो सके, तो क्या हुआ फिर? कुछ नहीं हुआ। और कभी-कभी मुझे हँसी भी आती है। कभी-कभी बहुत अच्छा भी लगता है जब मैं सोचती हूँ कि कितना करेगा एक आदमी अपनी जिंदगी में, कितना करेगा? आदमी के लिए संसार का कोई काम पूरा हो जाता है, ऐसा तो सम्भव है नहीं। करते जाओ, करते जाओ और अन्त में बहुत कुछ करने को शेष रह जाता है। जी! रहता है कि नहीं? रहता ही है। कभी-कभी मुझे अच्छा लगता है यह सोच करके कि आदमी की शक्ति तो बहुत ही सीमित है, लेकिन सीमित शक्तियों के द्वारा जो विराट संसार का काम कराने वाला परमात्मा है, उसकी शक्ति असीम है। तो क्या हुआ? अगर मेरा शरीर नाश हो गया अगर मेरी मृत्यु हो गई, मैंने अधूरा काम छोड़ दिया, तो काम अधूरा थोड़े रहेगा, नहीं रहेगा।

एक आदमी की जगह वह सामर्थ्यवान वह सृष्ठिकर्त्ता दस आदमी को खड़ा कर दे सकता है, जो उस काम को पूरा कर दे। तो संसार के काम को पूरा करने का प्रश्न नहीं है, अपने जीवन में काम-रहित होने का प्रश्न है। दुनिया का काम खत्म होगा, सो कोई चिंता की बात नहीं है, दुनिया का मालिक तो है ही। थोड़ा बहुत हम जो करते हैं, सो करते हैं। बाकी तो वह सब अपना सँभालते ही रहते हैं, देखते ही रहते हैं, कराते ही रहते हैं। कभी-कभी बहुत मदद करने वाले साधक आ जाते और बहुत अच्छी तरह से काम होता तो कोई पूछते मुझसे कि अच्छा अब यह साधक आपके यहाँ से चले जाएँगे तो फिर यह काम कौन करेगा? तो मैं याद दिला देती। मैं कह देती कि जिसने इनको भेजा था वह थोड़े ही कहीं चला जाएगा। वह तो कहीं नहीं जाएगा। जिसने इनको भेजा था मेरा यह काम सँभालने के लिए वह एक की जगह दस भेज सकता है। तो मैं क्या सोचूँगी कि इनके चले जाने के बाद क्या होगा? अगर आदमी का किया हुआ, तो आदमी सोचे। तो कराने वाला तो हर समय मौजूद है और उसकी सामर्थ्य की भी कभी कहीं कमी नहीं होती।

तो प्रश्न अपने लोगों के सामने क्या है? तो प्रश्न यह नहीं है कि मैंने संसार का बड़ा-बड़ा काम कर दिया और मैंने जो काम हाथ में उठाया, उसको पूरा कर दिया। यह सब तो बिल्कुल बकवास की बातें हैं। वह तो उसके मंगलमय विधान से जो भी कुछ हो जाए सो बढ़िया और मुझको किसी प्रकार से अपनी शृंखला के चलाने में मुझको एक कड़ी बना करके सृष्ठिकर्त्ता कहीं पिज कर ले, तो मेरा सौभाग्य, ऐसा मैं मानती हूँ। उसकी विशेषता नहीं है। विशेषता यह है कि छोटा-सा काम करने को मिला है आपको, चाहे बड़ा-सा काम करने को मिला जो करने को मिला, सो करके आप स्वयं राग-रहित हो गए कि नहीं? जीवन में से आसक्ति का नाश हो गया कि नहीं? सत्य से अभिन्नता हो गई कि नहीं? चिर शांति की अभिव्यक्ति हो गई कि नहीं अथवा भगवत् विश्वासी हैं तो प्रभु-मिलन में अनन्त प्रेम के आदान-प्रदान का प्रोग्राम पूरा हुआ कि नहीं, यह सोचने की बात है।

इसलिए हम लोगों को क्या करना चाहिए? कि जो भी कोई काम सामने आता है, कोई साधक जरा दिल खोल करके काम करने वाला होता है स्वभाव होता है, किसी-किसी का। परिश्रम करना किसी-किसी को प्रिय लगता है तो इसके आगे ज्यादा-ज्यादा काम आता रहता है। और कोई शारीरिक स्वास्थ्य के कारण धीरे-धीरे काम करने वाला होता है तो उसके पास कुछ काम आता है। तो जितना भी काम अपने लोगों के सामने आए और जितनी भी सामर्थ्य हो करने की, उस सम्पूर्ण दैनिक रुटिन को और सारे कार्यक्रम को कहाँ पिज करना चाहिए तो अपनी साधना के रूप में उस साध्य की अभिव्यक्ति के मामले में उसको पिज करना चाहिए। काम शुरू करने जाओ तो एक बार सोच करके चलो कि ये भाई, यह काम तो मुझे इसलिए करना है, कि करने का राग मेरा निवृत्त हो जाए और मैं शांति में रह सकूँ। काम खत्म हो जाए, विश्राम के लिए जाएँ तो इस बात को याद करके हटें वहाँ से। तो लाभ का लोभ और हानि का भय और कर्त्तापन का अभिमान और समाज का सम्मान यह सब बिमारी हमारी छूट जाएगी। लाभ का लोभ भी छूट जाएगा, हानि का भय भी छूट जाएगा, कर्त्तापन का अभिमन भी छूट जाएगा समाज के दिए हुए सम्मान का रोग भी छूट जाएगा। किसका छूट जाए? जो सब समय

लक्ष्य को दृष्टि में रख करके काम करने चलेगा, उसका सब छूट जाएगा। ऐसा नहीं कि किसी को दफ्तर में बैठ करके पदाधिकारी बना दिया गया, तो वहाँ से हकूमत चलाने लग गया और मुझे तो झाड़ू लगाने का काम दे दिया, यह तो छोटा काम है। तो कोई बड़ा काम कर रहा है तो हम भी बड़ा काम करेंगे, छोटा काम क्यों करंे? यह साधक की दृष्टि नहीं है। हो सकता है कि दफ्तर में बैठकर वतकमत देने वाला बंधन में रह जाए और निरभिमानता पूर्वक झाड़ू लगाने वाला पार हो जाए। ऐसा हो सकता है।

तो परिवार में, कुटुम्ब में रह करके काम करती है तो क्या और समाज में काम करते हैं तो क्या, संस्था में काम करते हैं तो क्या? काम छोटा बड़ा नहीं होता साधक की दृष्टि से। और काम को पूरा करने का प्रश्न, उसकी जिम्मेदारी में भाग नहीं लेना चाहिए। देखना चाहिए कि किसी भी काम को इतना लगने से करो, इतने ज्ञान पूर्वक करो, इतने प्रेम पूर्वक करो कि करने का राग खत्म हो जाए और सत्य से अभिन्न होने की आवश्यकता तीव्र हो जाए। आवश्यकता क्यों नहीं बढ़ी? शीघ्रता क्यों नहीं आई? सत्य से अभिन्न नहीं हो सके तो इसकी पीड़ा क्यों नहीं बढ़ी? ऐसा सोचते रहो, सोचते रहो, सोचते रहो। कारण भी दिखाई देगा, निवारण भी होगा और काम बन जाएगा। अब हो गया। अब शांत हो जाइए।

प्रवचन(15)

पूज्य संत महानुभव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

मनुष्य के व्यक्तित्व में तीन प्रकार की शक्तियाँ है—क्रियाशक्ति, भावशक्ति और विचारशक्ति। इन तीनों शक्तियों के आधार पर साधना के अलग-अलग तीन अंग होते हैं। इनमें से भाव-शक्ति के आधार पर मनुष्य ईश्वर-विश्वास को धारण करता है और ईश्वर-विश्वास का एक विशेष साधन-पंथ है, जिसके आधार पर ईश्वर-विश्वासी साधक अपनी वर्तमान दैनिक दशा से मुक्त होकर जीवन की पूर्णता तक पहुँचाता है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर-विश्वासी शरीर-धर्म नहीं है स्वधर्म है। बातें तो बहुत-सी है और बहुत प्रकार से हमारे भाई-बहन इन बातों को सुन चुके हैं। किन्तु कुछ खास-खास बातें जो इस विचारधारा के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं। और अधिकांश भाई-बहन हमारे जो यहाँ बैठे हैं, उनमें अधिकांश साधक ईश्वर विश्वास को रखने वाले हैं। तो उनके हित के लिए भी और विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए भी कुद आवश्यक बातें आपकी सेवा में निवेदन करूँगी।

तो पहली बात हम सब लोगों के लिए ज्ञातव्य, जिसे कि हम सब लोगों को जानना चाहिए कि वह यह है कि ईश्वर-विश्वास शरीर-धर्म नहीं है स्वधर्म है। शरीर धर्म और स्वधर्म का क्या अर्थ है? कि शरीर धर्म का अर्थ यह है कि जिसको शरीर की सहायता से पूरा किया जा सके। यह शरीर-धर्म है और जिसको स्वयं अपने द्वारा पूरा किया जा सके वह स्वधर्म है। मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर-विश्वास शरीर-धर्म नहीं है, स्वधर्म है अर्थात् यह शरीरों की सहायता से नहीं पूरा किया जाता, यह अपने द्वारा स्वीकार किया जाता है। प्रातः काल की बैठक में जैसा मैंने निवेदन किया था कि हमारा आपका यह मैं-पन जो है जिसको हम लोग कहते हैं मैं हूँ। मेरा अस्तित्व, मेरी सत्ता, अपना अहं अनेक शब्दों में प्रकाशित किया जाता है उसको, तो वह बड़ा

विलक्षण है, बड़ा विचित्र है और इसकी सबसे बड़ी विचित्रता क्या है कि जिस संसार से मैं का जातीय सम्बन्ध नहीं है नित्य एकता नहीं है उस शरीर के साथ तादात्म्य जोड़ लेने पर उत्पत्ति-विनाश से युक्त जो शरीर के लक्षण हैं वे सब मैं पर आरोपित हो जाते हैं।

पहले युवक था, अब वृद्ध हूँ, पहले स्वस्थ था अब बीमार हूँ, जिंदा था, मर रहा हूँ, अमीर था गरीब हूँ गरीब था अमीर हो गया तो जो बदलने वाली दशाएँ है, वे शरीर की है और जो शरीर की धातु से परे बना हुआ 'मैं' है वह जब शरीर के साथ अपने को मिला लेता है तो शरीर के लक्षण उस पर स्वयं पर घटित होने लगते हैं। और उसी के अनुसार हम सब लोग अपने को दुःखी सुखी मानने भी लगते हैं और उसी तरह से मिमस भी करने लगते हैं। तो इसी लिए यह चर्चा आई कि ईश्वर-विश्वास को जब धारण किया जाता है अर्थात् कोई भी साधक अपनी साधना के लिए, अपने जीवन को पूर्ण करने के लिए सत्य को अपने व्यक्तित्व में अभिव्यक्त करने के लिए परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लेता है, तो यह स्वीकृति 'स्व' के द्वारा होती है, शरीर के द्वारा नहीं होती है। इस स्वीकृति में हाथ-पैर, आँख, नाक, कान की सहायता नहीं चाहिए, यह स्वीकृति मन के द्वारा है। जिसने पहले यह स्वीकार किया था कि मैंने कि शरीर का हूँ, मैं कुटुम्ब का हूँ, मैं मकान का हूँ, मैं दुकान का हूँ, अनेक प्रकार की ममताएँ अनेक प्रकार के सम्बन्ध पहले जिसने स्वीकार किया था वहीं 'मैं' इन सब असाधन रूपी अस्वीकृतियों को अस्वीकार करके एक सत्य की स्वीकृति कर लेता है, गुरु की सहायता से, ग्रन्थ की सहायता से, जीवन की आवश्यकता से। तो अपने द्वारा वह मान लेता है, कि भगवान हैं। अब मैं और किसी का नहीं हूँ, केवल परमात्मा का हूँ। तो प्रभु की सत्ता स्वीकार करना, उनके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है इस बात को स्वीकार करना और उनकी प्रियता के अतिरिक्त इस जीवन का दूसरा कोई अर्थ नहीं है, इस सत्य को स्वीकार करना ईश्वरवाद कहलाता है। फिर दोहराती हूँ एक बार और सुन लेना। क्योंकि भजन, चिंतन, ध्यान, पूजन, प्रेम भगवान के सम्बन्ध में जो सब लोग चाहते ही रहते हैं। आवश्यकता तो हम सब लोग महसूस करते हैं, कि भगवान की याद बनी रहे, भगवान का ध्यान बना रहे, उनके चिंतन में रहे उनके प्रेम से हृदय भर जाए, ऐसी अभिलाषा सभी ईश्वर-विश्वासी साधकों की होती है। लेकिन इस अभिलाषा की पूर्ति में बड़ी देर लगती रहती है, साधन परेशान होते रहते हैं।

मानव सेवा संघ में ईश्वर-विश्वास का जो उंपद आधार है, जिस आधार पर यह सारे साधन-तत्त्व व्यक्तिगत में अभिव्यक्त होते हैं, उन आधारों को अपने भाई-बहनों के सामने रखा। हमने स्वेच्छा से ईश्वर-विश्वास पंसद किया, दबाव से नहीं, जबरदस्ती से नहीं। क्यों? क्योंकि आन्तरिक जीवन का जो विकास है वह दबाव से नहीं होता, जबरदस्ती से नहीं होता है, आरोपित करने से नहीं होता है, वह स्वेच्छा से होता है। तो स्वाधीनता पूर्वक स्वेच्छा से हम भाई-बहनों ने स्वीकार किया कि हम ईश्वर-विश्वासी है। उनकी सता में विश्वास करते हैं, उनको अपना नित्य सम्बन्धी मानते हैं, आत्मीय सम्बन्ध मानते हैं। और अब मैंने यह व्रत लिया है कि मेरे जीवन का अर्थ केवल प्रभु-प्रेम है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो मेरे यह स्वधर्म है, ऐसी स्वीकृति व्यक्ति अपने द्वारा लेता है। इस में अभ्यास हेतु नहीं है कि इन बातों को बहुत बार दोहराऊँ तो पक्का हो जाएगा, बहुत

बार बोलूँगी तो पक्का हो जाएगा, कि बहुत बार सूनूँगी तो पक्का हो जाएगा। तो अभ्यास से इसमें काम नहीं चलता है। इस सत्य को स्वीकार करना मानव सेवा संघ की भाषा में सत्संग कहलाता है। अभी जो ईश्वर की बातचीत हो रही है, यह बातचीत ईश्वर की चर्चा है। और सुन करके किसी भी भाई ने, किसी भी बहन ने निश्चय कर लिया कि बिल्कुल सच्ची बात है। अब तो हम केवल ईश्वर में ही विश्वास करेंगे और उन्हें के होकर रहेंगे, उनके प्रेम के लिए हम जिएँगे, ऐसा जिसने अपनी ओर से ठान लिया, उसका सत्संग हो गया। तो सत्संग अपना पुरुषार्थ है, स्वधर्म है। और सत्संग के फल से साधक के जीवन में साधना की अभिव्यक्ति होती है। अपने आप से साधन होने लगता है, करना नहीं पड़ता है। तो आपने भी यह सुना होगा, मैंने भी सुना है। क्या सुना है? कि अपने द्वारा केवल परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना, उसके अतिरिक्त और कुछ न चाहना, उसके प्रेम को ही जीवन मानना इस पर तो साधक वर्ग की दृष्टि नहीं जाती, इस स्वधर्म पालन पर। दृष्टि किस बात पर जाती है कि मुझे अगर समय मिलता तो हम इतनी देर बैठकर नाम लेते।

अगर मुझे समय मिलता तो हम इतने समय बैठकर जप करते कि ग्रन्थ पढ़ते, कि ध्यान करते, कि पूजन करते, कि भजन गाते इस तरफ ध्यान जाता है। हम कुछ करें ईश्वर-विश्वासी होने के अनुसार हमको कुछ करना है, ऐसा सोचकर सत्संग किए बिना साधक जब साधना में लग जाता है तो उसको सफलता नहीं मिलती है अर्थात् प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना, उनसे अपनी आत्मीयता स्वीकार करना और उनके प्रेम को ही जीवन मानना। इन तीन बातों को प्रारम्भ में किए बिना जब हम भजन करना चाहते हैं, साधन करना करना चाहते हैं, ध्यान करना चाहते हैं तो मन लगाना चाहते हैं भगवान में, तो हमारी यह अभिलाषा पूरी नहीं होनी है, तकलीफ होती है। तो स्वामी जी महाराज के हृदय में एक बड़ी पीड़ा थी। वह क्या थी? उन्होंने अपने मुख से कहा और मैंने लिखकर रखा है। क्या कहा उन्होंने? मुझे जब ईश्वर-विश्वास मिला, ऐसा कहा। शब्द पर ध्यान दीजिएगा, मैंने ईश्वर-विश्वास प्राप्त किया, ऐसा नहीं कहा। कहा मुझे जब ईश्वर-विश्वास मिला और उसके प्रभाव से मैंने देखा तो मेरे भीतर एक बड़ी लगन लग गई कि कोई भी भाई, कोई भी बहन ऐसा न हो जो ईश्वर-विश्वास से वंचित रह जाए। अर्थात् सबको ईश्वर में विश्वास मिल जाना चाहिए। सबका दुःख मिट जाए, सब निश्चिन्त हो जाएँ, सब निर्भय हो जाएँ, ऐसा एक सर्वहितकारी भाव उस महापुरुष में जग गया तो उन्होंने विश्वास करो और विश्वास मिला इन दोनों में थोड़ा सा भेद रखा। क्या भेद रखा? कि मनुष्य का विकास चाहे भक्ति-पंथ में, चाहे ज्ञान-पंथ में और चाहे कर्म-पंथ में, किसी भी रास्ते से व्यक्ति का जो विकास है वह सत्य की स्वीकृति से आरम्भ होता है। सत्य की स्वीकृति से क्या होता है? कि अहं रूपी अणु में आमूल परिवर्तन होता है वहाँ से आरम्भ हुआ। जिसने प्रभु को अपना माना तो उनकी सत्ता को स्वीकार करने मात्र से वह आश्वस्त हो गया। मेरा भी प्रभु पति है, मैं अनाथ नहीं हूँ, मैं असहाय नहीं हूँऊ मेरा समर्थ स्वामी है।

पैगम्बर मुहम्मद युद्ध में जा रहे थे एक मित्र के साथ तो नगर के प्रेमी लोगों ने आगे से आकर उनको घेरा और कहा कि वहाँ बड़ा भारी समूह है, बड़ी भारी सेना है दुश्मन की। आप तो एक ही के साथ जा रहे हैं, आप लोग तो दो ही मित्र जा रहे हैं, वहाँ तो बहुत सेना है तो ऐसा मत

कीजिए और सेना अपने साथ ले लीजिए। तो पैगम्बर मुस्कराए और उन्होंने कहा कि हम दो नहीं हैं मेरे साथ एक और है। वह दुनिया की सारी शक्तियों का सामना कर सकता है। इसलिए आप लोग डरिए मत, निश्चिन्त रहिए। अब सोच कर देखो उनके ईश्वर-विश्वास व मेरे ईश्वर-विश्वास में कितना अन्तर है? कितनी सजीवता है उनके विश्वास में। कि बाहर से दिखाई तो नहीं देता, प्रेमी लोग, नगर के लोग घबरा रहे हैं ये दो ही आदमी जा रहे हैं इतनी बड़ी सेना से लड़ेंगे कैसे? तो मौहम्मद मुस्कराते हैं नहीं, हम दो ही नहीं मेरे साथ एक और है। और वह अकेला ही सारी सृष्टि की शक्ति का सामना करने के लिए तैयार है। यह कहलाता है उनकी सत्ता को स्वीकार करना। तो जिसने सत्ता को स्वीकार किया और केवल सत्ता नहीं, नहीं तो मेरी तरह अक्खड़ स्वभाव का आदमी हो तो उससे कह दे झट से, होंगे जिसके लिए होंगे, हमारे काम नहीं आते तो हम काहे के लिए सोचें। तो केवल सत्ता नहीं, वह है और मेरा केवल उसी से नित्य सम्बन्ध है और बाकी सब जो दिख रहे हैं वह क्या है? तो यह सब तो उसके हैं। उसके नाते इन सबकी सेवा करो, सबका भला मनाओ, सबसे मीठा बोलो, सबका आदर सत्कार करो सबको सहयोग दो भले, पर अपना नित्य सम्बन्ध केवल उसी से है।

तो ऐसा जिन ईश्वर-विश्वासियों ने माना, उनके जीवन में ईश्वर की उपस्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया। तो कितने दिन में हो गया, कितनी बार कहना पड़ा कि मेरा उससे नित्य सम्बन्ध है, मेरा उससे नित्य सम्बन्ध है। जप करना पड़ा कि लिखना पड़ा कि करना पड़ा कि बोलना पड़ा, सो नहीं है। और महाराज बड़ा सहज उदाहरण दे देते कि भाई मेरे, जब तुम विवाह करने गए थे, वेदी पर बैठे थे तो तुमसे मंत्र थोड़े जपवाया गया कि यह लड़की मेरी पत्नी है। दोहराया, बार-बार कहा तुमने? सो तो नहीं कहा। और तुमने तो अपने मुख से कहा भी नहीं, पंडित ने मंत्र पढ़ दिया और तुमने मान लिया। मान लेने के बाद से कभी विस्मृति हुई क्या? कि यह लड़की मेरी पत्नी है कि नहीं है। संदेह हुआ? नहीं हुआ। मान्यता का बड़ा जोरदार प्रभाव होता है। मनुष्य के अहं में स्वीकृति को स्वीकार करने की बड़ी अद्‌भुत क्षमता है। तो महाराज कहते हैं जो अपना होगा और अपने पास होगा और समर्थ होगा और अपने ही में विद्यमान होगा, उसको याद करोगे, उसका नाम जपोगे, कि उसका चिंतन करोगे कि उसका ध्यान करोगे कि उसका काम करोगे। क्या करोगे? उसको प्यार करोगे कि उसको बुलाओगे।

ईश्वर-वाद मनुष्य के जीवन का एक अद्‌भूत तत्त्व है। और कभी-कभी मैं सोचती हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि जिसने व्यक्तित्व में अभाव अनुभव किया, जिसने व्यक्तित्व में नीरसता की पीड़ा को अनुभव किया, वह अगर उस अनन्त परमात्मा को अपना परम प्रेमास्पद मान करके उनकी विभूतियाँ से सम्पन्न नहीं हुआ तो फिर उसके जन्म लेने का अर्थ ही क्या निकला? कुछ नहीं निकला। बड़ा भारी महल बना लिया, बहुत दुनिया में नाम कमा लिया, बहुत धन कमा लिया, बहुत साथी जोड़ लिए। जितना भी सब यहाँ पर किया गया हो, आधुनिक ढंग की भाषा में बड़े गौरव से लोग कहते हैं उनकी तो बड़ी उन्नति हो गई। वह आदमी तो बहुत तपेम कर गया। अँग्रेजी मिला-मिला कर हम बोलते हैं न तो कहते हैं कि बहुत तपेम किया, तो मैं भीतर-भीतर सोचती हूँ कि कोई आदमी बड़ा तपेम कर गया बड़ा ऊँचा उठ गया? क्या वह प्रेम में ऊँचा उठ

गया, क्या वह उस अलख-अगोचर अविनाशी को अपने सामने, अपने भीतर-भीतर प्रत्यक्ष करके उससे मिल गया। अगर यह सब हो गया तो कहना चाहिए सचमुच उसने तपेम किया। और अगर मकान और दुकान दलबन्दी और सम्पत्ति और डिग्री यह सब माध्यम माना जा रहा है तपेम करने का अर्थ, यह लिया जा रहा है तो जिस दिन आँखों से दिखाई नहीं देगा, तो पढ़ा लिखा हुआ क्या काम आएगा? जिस दिन मुख से बोला नहीं जाएगा, उस दिन बढ़िया-बढ़िया भोज्य पदार्थ क्या काम आएगा? तो तपेम करना तो धूल में मिल गया, तपेम करना क्या कहलाएगा।

जब सब प्रकार से तुम दीन-हीन हो गए और सारा सामान और सब साथी जो इकट्ठा किया था एक भी साथ नहीं दे रहा है तो हम अपने को ही बमतजपपिबंजम दे लें, हम कह सकेंगे कि मैंने बड़ा तपेम किया। जी! नहीं कह सकेंगे। तो ऐसा जो एक अनमोल जीवन है जो कुछ हमें दिखाई दे रहा है जो कुछ बुद्धि के आर-पार समझ में आ रहा है, उस देखे हुए और समझे हुए के परे अगर अविनाशी अनन्त तत्त्व से मेरा मेल नहीं हुआ, उससे मेरी अभिन्नता नहीं हुई, तो मैं ऐसा सोचती हूँ कि जीवन निरर्थक ही गया। और फिर बड़े दुःख की बात है कि हम अपने को ईश्वर-विश्वासी भी कहते हैं और देह के विश्वास पर चलते हैं, धन के विश्वास पर चलते हैं। यह तो और भी दुःख की बात है। तो मानव सेवा संघ की दृष्टि से ईश्वर-विश्वास की साधना जो है, वह स्वधर्म पर आधारित है। अपने द्वारा उस सत्ता को स्वीकार करने पर आधारित है। और जितने साधना के रूप हैं, वे सारी साधनाएँ इस आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति में से निकलने वाली हैं। थोड़ी-थोड़ी देर में उनकी याद आ रही है, उनकी उपस्थिति के आभास से जीवन में निर्भयता आ रही है, उनकी उपस्थित के आभास से हृदय में मधुरता आ रही है, तो उनकी मधुर स्मृति का जाग्रत हो जाना, यह साधन होता है। कैसे उत्पन्न हुआ? आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से। तो आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति सत्संग है और उससे उत्पन्न हुई स्मृति साधना है। और उस स्मृति की वृद्धि जब होती है, तो प्रभु की स्मृति प्रभु के समान ही मधुर है।

उसमें बड़ा रस है उसमें बड़ा आकर्षण है। और जैसे-जैसे स्मृति तीव्र होती जाती है, उससे भिन्न सबकी विस्मृति भी होती जाती है। और अन्त में क्या होता है? साधक के अहं में सिवाय भगवत्-स्मृति के और दूसरा कुछ रह ही नहीं जाता। तब उस मधुरता में, उस रस में सीमित अहं-भाव का लोप हो जाता है। प्रेमी और प्रेमास्पद मिलकर एक हो जाता है। अब बताइए, आप सोच करके देखिए कि ईश्वर-विश्वास का आरम्भ किया था स्वधर्म से। और उसकी वृद्धि कैसे हुई? तो स्वधर्म से उदित हुई साधना से। और उसकी पूर्णता कहाँ जाकर के हुई? कि जहाँ अहं में से सब कुछ निकल गया, केवल एक स्मृति मात्र ही रह गई। तो सीमित अहं-भाव का भी लोप हो गया और सम्पूर्ण अहं प्रेम के धातु में परिवर्तित हो करके प्रेमास्पद से एक हो गया। तो आरम्भ भी हुआ था स्वधर्म से, विकास भी हुआ अपने में उदित हुई साधना-तत्त्व से। तो जगह-जगह महाराज जी ने इस बात को प्रकट किया है कि साधन-तत्त्व जो है वह भी जीवन सत्य है, वह भी अभ्यास पर आधारित नहीं है। शरीर के द्वारा किए गए अभ्यास का परिणाम वह नहीं है। अपने द्वारा किए स्वीकार किए गए सत्य की अभिव्यक्ति है वह। तो कहाँ तो जीवन का यह सत्य और कहाँ हम लोगों को थोथा प्रयास है।

अब इतनी देर बैठकर नाम लेंगे तो इन्तजाम तो ऐसा किया था कि अब तो हम 2-3 घण्टे दुनिया की ओर देखेगे नहीं, अकेले में बैठ जाएँगे, कमरा बन्द कर लेगे और प्रभु का नाम लेगे। तो कमरे में बन्द हो जाने से, अकेले बैठ जाने से, अपने पर जोर डालने से नाम तो हृदय में आया नहीं। जोर डालकर थोड़ी देर मैंने नाम लेने का प्रयास किया, तो नीरसता से मानस में थकान आने लग गई। फिर क्या हुआ कि बीच-बीच में दूसरी-दूसरी बातों की याद आने लग गई तो जोर डालने से साधन नहीं बनता है जबरदस्ती करने से साधन नहीं बनता है।

ईश्वर-भक्ति जो है, वह किसी क्रिया का परिणाम नहीं है। ईश्वर-भक्ति जो है वह ईश्वर के साथ आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करने पर उदित होती है। तो प्रारम्भ में भी आप ही हैं और साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति आप ही में हुई है मन में, बुद्धि में, चित्त में, शरीर में नहीं हुई। प्रभु का नाम हृदय में याद आया और प्रेम उमड़ा तो उसके प्रभाव से रोमांच हो रहा है कि उसके प्रभाव से अश्रुपात हो रहा है कि आँखें सजल हो रही है कि देह की विस्मृति हो रही है। ऐसा भी होता है। प्यारे प्रभु की याद आई तो सशरीर बैठे हुए होने पर भी देह का भास खत्म होने लगता है। तो आप देखेगे कि सत्संग भी व्यक्ति का स्वधर्म है और सत्संग के प्रभाव से जिस साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, वह भी स्व में से ही होती है। और हम क्या कहते हैं? हम कहते हैं कि महात्मा जी कोई उपाय बताइए कि मेरा मन भगवान में लग जाए। तो मन भगवान में कैसे लगे। और मन को जबरदस्ती लगा भी लोगे तो तुम्हें क्या मिलेगा? मन तो तुम्हारे पास तक पहुँच नहीं सकता, चित्त तो तुम्हार पास तक पहुँच ही नहीं सकता है। ये मन, चित्त, बुद्धि, इन्दियाँ से सब शक्तियाँ जो है ये तो न्दपअमतेंस मदमतहल हैं समड्ढि शक्तियों के हिस्से हैं। इनकी सीमा तो भौतिक तत्त्वों के भीतर है। तो साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति तो स्व में से होती है। तो सत्य की स्वीकृति कहाँ हुई? अपने द्वारा स्व में हुई, और साधन की अभिव्यक्ति कहाँ हुई? वह भी स्व में हुई। और भगवान में जाकर विलीन कौन हुआ? वह भी स्व हुआ। तो अपनी बात है न यह। अपनी बात है यह शरीर धर्म नहीं है।

अब आगे अपने लोगों को सामने रखकर देखना है और सोचना कि अगर इस जीवन की अन्तिम परिणति प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति है तो इस वर्तमान क्षण में हम सब भाई-बहन जहाँ हैं, जैसे हैं, क्या करें? कैसे करें? कैसे आगे बढ़ें? तो भाई, क्रियात्मक जो बातें हैं जीवन की उन पर तो जोर डालने की बात नहीं है। किसी की बहुत रुचि हो तो भले करे, किए बिना न रहा जाए तो। लेकिन जोर डालने की बात क्या है? कि अपने व्यक्तित्व में सिवाय परमात्मा के और किसी की सत्ता न मानों और किसी की महत्ता मत मानो और उसके आत्मीय सम्बन्ध को न भूलो और उसी के होकर रहना उसके प्रेम को ही जीवन का अर्थ मानना और उसी के नाते निकटवर्ती जन-समुदाय की सेवा करना। तो प्रभु के नातेे निकटवर्ती जन समुदाय की सेवा, एक बात हो गई। और संसार से और निकटवर्ती समुदाय से कुछ न माँगना, त्याग की बात हो गई। जिस प्रभु का प्रेम अपने को अभीड्ढ है, उससे भी कुछ न माँगना यह त्याग की बात हो गई और सिवाय उनके प्रेम के कोई दूसरा अर्थ ही नहीं है उनकी प्रसन्नता के लिए उनको प्यार करना यह अन्तिम बात हो गई।

महाराज जी का एक नोट है। एक जगह कहा होगा, मैंने लिखा। तो उसमें लिखा है कि मैं

ईश्वर वादी केवल इसलिए हूँ—स्वामी जी की वाणी है—मैं ईश्वर वादी केवल इसलिए हूँ कि मुझे जो चाहिए था वह और जो परमात्मा के देने की चीज थी, उन्होंने बिना मेरे माँगे स्वयं ही दे दिया। और संसार से विलग मैं क्या हुआ? कि संसार के पीछे खूब दौड़ा, खूब दौड़ा, दौड़ा लेकिन कुछ नहीं पाया। तो माँगने पर भी संसार ने मुझे कुछ नहीं दिया और न माँगने पर भी उसने सब कुछ दिया इसलिए संसार को मैंने छोड़ दिया, परमात्मा को पकड़ लिया। यह मैं अपनी बात कह रहा हूँ, अपनी तरफ से।

तो बड़ा विलक्षण तत्त्व है मानव जीवन का ईश्वर-विश्वास। और इसके द्वारा बड़ा परिवर्तन होता है बड़ा चमत्कार आता है जीवन में। जिस दिन से उनको अपना माना अनाथ-पन सदा के लिए मिट गया। जिस दिन से उनकी महिमा स्वीकार की, सब तरह का भय मिट गया। जिस दिन से उनके होकर रहना पसंद किया तो अहं का अभिमान चला गया। प्रभु हैं, मेरे है, और मैं उनका हूँ और उन्हीं की प्रसन्नता के लिए यह जीवन है। तो जैसे रखें वैसे रहो, जो कराएं सो करो।

मीरा जी कहती हैं जित बैठाओ तित ही बैठूँ, जहाँ बैठा दो वहाँ बैठ जाऊँ और जो देओ सो खाऊँ, जो तुम दे दो, वहीं मैं खाऊँ जो रंग राचे आप सावँरिया ताही में रंग जाऊँ, क्या अर्थ है?

अपना कोई संकल्प नहीं है अब देखिए महाराज जी ने एक गद्य-खण्उ लिखा है तो उसमें यह लिखा है कि परमात्मा के प्रेम से जीवन भरा नहीं, इस दिशा में असफलता रह गई। कारण क्या है? बहुत से कारण हो सकते हैं। एक कारण उन्होंने बहुत पदजमतमेजपदह लिखा है। अब तक मेरा ध्यान उस पर नहीं गया था। अभी दो-चार दिन पहले मैं छवजम पढ़ रही थी तो उसमें निकला। बड़ा विचित्र है। वे कहते हैं, कि देखो भाई, परमात्मा को पसंद करने वाले होकर भी ईश्वर-विश्वासी और ईश्वर-भक्त होने के अभिलाषी हो करके क्या पसंद किया हमने? तो हमने प्रभु को प्रेम प्रदान करना नहीं पसंद किया। हमने प्रभु को अपना प्रेमास्पद बनाने के लिए उनको नहीं पसंद किया। क्या पसंद किया? मेरी वेशभूषा से, मेरी दैनिक दिनचर्या से, नाम लेने से, तरह-तरह के विधि-विधान से हम प्रभु को नहीं चाहते हैं, प्रभु-पद चाहते हैं। यह लिखा है महाराज जी ने।

मैं स्वयं प्रभु हो जाना चाहता हूँ। क्यों? लोगों के मन में श्रद्धा हो जाए। तो प्रभु को तुम नहीं चाहते। वे तो तुमसे मिलने को बड़े लालायित है और उन्होंने तो ठेका लिया है कि जो मुझे पसंद करेगा उसी से मैं मिल जाऊँगा। चाहे वह रविदास हो तो चाहे शबरी हो तो चाहे पंडितपंथ में पैदा हुए तुलसीदास हो तो। जो मुझे पसंद करेगा उसी में मैं मिल जाऊँगा, तो यह तो प्रण उनका है। हमने क्या किया? हमने प्रभु को पसंद नहीं किया, प्रभु-पद पसंद किया। तो भगवत् भक्ति का नाम लेकर भगवान का नाम लेकर मैं उस पद पर प्रतिष्ठित हो जाऊँ जिसपद पर पर प्रभु प्रतिष्ठित हैं। तो लोग मेरी आराधना करें, लोग मेरा ध्यान करें लोग मुझ में श्रद्धा रखें, तो लक्ष्य बदल गया न।

इसलिए असफलता हो गई सफलता मिल ही नहीं सकती। और उनका ढंग कैसा है? वे तो बड़े रसिक हैं बड़े कौतुकी हैं। मैंने तो साधन-काल में थोड़े समय में ऐसा पाया सोचने से बड़ा ही कैसा लगता है कि हम कैसे बताएँ? लेकिन मैंने ऐसा पाया कि अनेक प्रकार के संकल्पों में फँसा हुआ व्यक्ति अनेक प्रकार के विचारों से भरा हुआ व्यक्ति यदि अपनी दुर्दशा से पीड़ित होकर, संत

की सलाह मानकर, ग्रन्थ की सलाह मानकर जब वह सब भले-बुरे संकल्पों को प्रभु-प्रेम के लिए छोड़ देता है।

प्रारम्भ तो करेगा ही। तो जिस दिन आरम्भ किया उस दिन निश्छल, निर्भय तो थे नहीं। बहुत प्रकार की कमजोरियाँ भीतर में थी। बहुत प्रकार के दोष भीतर में थे। बहुत-सी अतृप्त वासनाएँ, कामनाएँ भीतर थीं तो ऐसी दशा में ईश्वर-विश्वास को धारण करके, उनकी भक्ति, उनकी पूजा, उनकी आराधना, उनके प्रेम के लिए आपने जीवन को आरम्भ किया। तो उन परम कृपालु की कृपालुता ऐसी देखी गई है कि बहुत छोटे-छोटे संकल्प, बहुत मामूली-मामूली बातें लेकिन आपके लिए हितकर हैं, जिनको आपने प्रभु-प्रेम के लिए छोड़ दिया था, उनमें से बहुत से संकल्प उनकी कृपा से पूरे किए जाते हैं और उनके साधक को मुक्ति दिलाई जाती है। ऐसा होता है। कभी-कभी तो मैं आश्चर्यचकित हो करके स्वामी जी महाराज से बताती कि महाराज अब यह क्या बात है? जब मैं संकल्पों को लेकरके जीती थी तब आपने कहा था कि लाली, झोली में जो भरा है, वह सब पहले झाड़ दो तुम खाली हो जाओ तब सगाई की बातचीत होगी। वह शब्दावली मुझको ठीक से उच्चारण करना नहीं आता है जो लोग जानते हैं वे लोग ठीक कर लेंगे। लेकिन कहा करते थे महाराज कि यूसुफ नहीं जो मिले चन्द दरम से, कीमत जो दो आलम की है, बयाना है उसका। संसार के सुख भोग का और मोक्ष के आनन्द का दोनों का जो मूल्य है जो उस प्रेमी से सगाई करने के लिए ंकअंदबम में देना पड़ता है।

जो कीमत है, जो भोग और मोक्ष हैं, दोनों न्यौछावर करो पहले तब परमात्मा के सम्बन्ध की बातचीत होगी पीछे। है तो वह सदा-सदा से, छूटा कभी नहीं था, मिटा कभी नहीं था, लेकिन मुझे जो विस्मृति हो गई थी, मैं भूल गई थी तो उस विस्मृति को और नित्य सम्बन्धी की स्मृति की जागृति, इस विशेषता के लिए भोग और मोक्ष ंकअंदबम में देना पड़ता है, ऐसा सुना था। अपने लिए बहुत ही कठिन बात थी। खैर वह कथा कहने की जरूरत नहीं है।

जो कहना था असली में वह यह है कि एक बार हिम्मत करके उसकी महिमा, उसकी आत्मीयता उसकी कृपालुता को स्वीकार करके, अपने को इस पंथ पर डाल दिया जाए, तो उस महामहिम की महिमा ऐसी है कि जिन संकल्पों को त्यागने में हम असमर्थ थे, उनके त्यागने की शक्ति उन्होंने दे दी है और जिन संकल्पों की पूर्ति मेरे लिए हितकर थी सो अनायास ही उन्होंने पूरी करवा कर उसको खत्म की। ऐसा भी होता है। तो जब मैं अपना चित्र देखती पुराना तो महाराज को बताती कि ये ऐसी-ऐसी बातें हैं जो अपने साहस और प्रारब्ध के बल पर तो सम्भव ही नहीं थी, तो यह सब कैसे हो रहा है? क्यों हो रहा है? और क्यों और क्या और कैसे की आदत तो बहुत थी न। और परमात्मा में दोष देखने की उनकी आलोचना करने में भी एक शौक होता है आदमी को। आदमी अपने को बड़ा गौरवशाली समझता है। हमने भी समझा था पहले और कोई न समझता हो तो कोई बात नहीं। तो हम उनको कह देते कि स्वामी जी महाराज, अब ऐसा क्यों हो रहा है। यह अब क्या मुझे यह सब चाहिए? मुझे तो नहीं चाहिए। अब ऐसा क्यों हो रहा है तो स्वामी जी महाराज रामायण की कथा सुना देते कि देखो विभीषण जी आए थे अधीर हो करके रघुनाथ जी के समर्पित हो गए और उन्होंने लंकेश कहकर

सम्बोधित कर दिया और समुद्र का जल मँगवा कर उनका राज्यभिषेक कर दिया। और बाद में जब बातचीत होने लगी तो विभीषण जी बड़े ज्ञानी पण्डित हो गए तो कहने लगे कि हे महाराज पहले तो कुछ वासना थी लेकिन अब आपकी प्रीति के रस में वह बह गई है, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो भगवान हँस दिए। हँसकर कहते हैं—जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं। यह नहीं कहा कि तुम्हारे भीतर कहीं दबी होगी, हमारी तरह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया। यह उस पर दोषारोपण नहीं किया, यह नहीं कहा तुम नहीं जानते तुम्हारे भीतर यह दोष है, सो नहीं कहा। जैसे ही विभीषण ने वर्णन किया वैसे ही स्वीकार कर लिया और कहते हैं जदपि सखा तोहि इच्छा नाहीं, मम दर्शन अमोघ जग माहीं, हे सखा, सच्ची बात है तुम्हारी इच्छा तो नहीं है लेकिन अब हमारी योजना है, तुमको करना ही पड़ेगा। हम जो दे रहे हैं सो लेना ही पड़ेगा। हम जो कह रहे हैं सो करो। तो बड़ी विचित्र बात है कुछ कहा नहीं जा सकता कि ईश्वर-विश्वास को जीवन में धारण करने पर इतना चमत्कार पूर्ण प्रभाव होता है मनुष्य के जीवन पर। कि वे क्या नहीं करते हैं आपको अपना प्रेम-पात्र बनाने के लिए और जब बन जाता है साधक उनका प्रेम पात्र तो उसकी ओर से आने वाले प्रेम रस को स्वीकार करके प्रभु अपने को कृतार्थ मानते हैं।

इतना ऊँचा यह जीवन इस वर्तमान में हो सकता है। और इस विलक्षणता को इस जीवन में अभिव्यक्त किए बिना ही साँस खत्म हो जाए तो बहुत बड़ा घाटा लगेगा। तो ऐसा न होने पाए। मैं फिर दोहरा दूँ आरम्भ की बात। मानव सेवा संघ सब भाई-बहनों को यह नहीं कहता कि तुम ईश्वर-विश्वासी बन जाओ। बिना बने रह सकते हो, तो बड़े आराम से रहो। अब स्वामी जी महाराज बहुत आनन्दित होकर कहते थे कि बड़ा अच्छा है सारी दुनिया ईश्वर-वाद को इन्कार कर दे, सबके सब ईश्वर को छोड़ दें कोई न विश्वास करें तो बहुत मजा आएगा। हम और वह दोनों मिलकर रहेंगे।

प्रवचन(16)

सन्त की सद्भावना और अनन्त की कृपालुता हम सभी भाई-बहनों के साथ है। और उसी का यह शुभ परिणाम है कि हम सभी भाई-बहन अपने को साधक स्वीकार करके, साधक की स्वीकृति के अनुसार सत्संग के द्वारा अपने जीवन को पूर्ण करने के लिए उत्सुक हैं। थियोसिफिकल सोसाइटी के एक संत जिन्होंने अपना अनुभव लिखा था और यह शीर्षक था उसका रिटर्न जर्नी 'वापिसी यात्रा' इस नाम से उन्होंने निबन्ध लिखा अपने अनुभव के आधार पर। उसमें यह प्रकाशित किया, उसमें यह बताया कि जब कोई मनुष्य, जब कोई साधक घर वापिस जाने की यात्रा आरम्भ करता है तो उसके जीवन में एक आनन्द होता है। घर वापिस जाना आप समझ ही रहे होंगे। हम सब लोग यहाँ के वासी तो है नहीं! शरीर बना है भौतिक-तत्त्व से हम सब भाई-बहन बने हैं परमात्म-तत्त्व से। और यहाँ शरीर के साथ तादात्म्य जोड़ने के कारण ममता में फँसे हुए है। ममताा करते हुए भी, अपना मानते हुए भी यहाँ कोई रह नहीं पाता है और उस अनन्त तत्त्व को न जानते हुए भी उस ओर सभी आकर्षित रहते हैं। तो पूर्णता कब मिलती है, शांति कब मिलती है, आवागमन कब मिटता है, भय और पराधीनता कब मिटती है? जब हम जहाँ के हैं, वहाँ पहुँच जाएँ, जिसमें से निकले हैं उसमें समा जाएँ, यह भाषा तो समझ में आ गई न। तो रिटर्न जर्नी का

यही अर्थ था कि वापिस जा रहे हैं। तो उन्होंने लिखा कि बड़ा आनन्द, बड़ा आनन्द छाया हुआ है चारों ओर। आज मैं तो पता नहीं कितने-कितने युगों के बाद, कितने-कितने वर्षों के बाद घर जा रहा हूँ। अपनी जगह पर पहुँचने जा रहा हूँ अपने उद्गम से मिलने जा रहा हूँ, अपने प्रियतम से मिलने जा रहा हूँ।

बड़ा आनन्द छाया हुआ है। तो लिखा उस सज्जन ने कि मुझको ऐसा लगता है कि जैसे धरती और आसमान भी मेरे साथ आनन्द मना रहे हैं। ऐसा लगता है मुझे कि मेरे रोम-रोम में आनन्द छाया है। और वृक्ष के जो पत्ते हैं, वे डोल डोलकर, हिल-हिल कर आपस में एक-दूसरे के साथ टकरा कर उसमें से जो आवाज निकलती है, वृक्ष के पत्ते आपस में हिलते हैं तो वे कहते हैं कि मालूम होता है कि सारी पृथ्वी ताली बजा-बजा कर मेरे साथ नाच रही है। इस वर्ष में कि आज एक आदमी भूला भटका हुआ संसार के वन में खोया हुआ अपने घर जा रहा है।

तो अभी मैं यहाँ आकर बैठी तो मेरे भीतर भी बड़ा आनन्द आया। क्या सोचकर कि आज इतनी-इतनी आत्माएँ, आज इतने-इतने हमारे भाई-बहन सब रिटर्न जर्नी के यात्री होकर के घर वापिस जाने के लिए अपने उस अनन्त उद्गम से मिलने के लिए उत्सुक होकर एक साथ यहाँ पर उपस्थित हुए हैं। तो ऐसे उन्नति की ओर उन्मुख होने वाले, अपने उद्गम से मिलने के लिए उत्सुक भाई-बहनों के जीवन का उत्कर्ष देख करके जैसे हमारे चारों ओर की प्रकृति की ओर से, प्रकृतिपति की ओर से और जिस परम कारुणिक संत, मानवता के संरक्षक हमारी पीड़ा से द्रवीभूत होकर हमारी उन्नति के लिए प्रेरणा देने वाले सन्त भी हमारे इस प्रयास से आनन्दित हो रहे हैं।

चारों और जैसे एक लहर दौड़ रही है भीतर से भी बाहर से भी, प्रकृति की ओर से भी, परमात्मा की ओर से भी और पिता तुल्य संत की ओर से भी। इतने-इतने मनुष्य जो हैं, भाई-बहन जो हैं प्रभु के प्यारे बालक जो हैं वे अपनी-अपनी उन्नति के लिए रिटर्न जर्नी की तैयार कर रहे हैं। इस दृष्टि से आप सभी भाई-बहनों का हार्दिक स्वागत है और आपके साथ मिलकर मैं उस अनन्त से और संत से यह प्रार्थना कर रही हूँ कि शरीर का नाश होने से पहले यह शरीर इस धरती पर चलता फिरता रहे उससे पहले हम सब लोग उस उद्गम से मिलकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाएँ।

अब कैसे चलेंगे? कहाँ से यात्रा आरम्भ होगी? जो प्रकाश हमें दिया गया है उस प्रकाश में जीवन के इस दार्शनिक सत्य को हम स्वीकार कर लें कि शरीर बना है भौतिक तत्त्व से, और आप बने हैं, अनन्त तत्त्व से। इस बात को स्वीकार करके ही इस यात्रा में हम लोगों को उत्साह मिलेगा, आनन्द बढ़ेगा, बल मिलेगा इसलिए पहले इस सत्य को स्वीकार कर लें। शरीर बना है भौतिक तत्त्वों से, तीनों ही शरीर। सामाजिक तत्त्वों की भौतिक सीमा है। शरीर बना है भौतिक तत्त्वों से और आप सभी भाई-बहन बने हैं अनन्त तत्त्वों से। तो महाराज जी के दो वाक्य मिले थे मुझे 2-4 दिन पहले, उसमें ऐसा लिखा था, कि वस्तुएँ खिंचती है धरती की ओर। भौतिक तत्त्वों से जो बना है वह भौतिक तत्त्वों की ओर आकर्षित होगा। तो वस्तु खिंचती है धरती की ओर और मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर। यह हतंअपजंजपवद कहलाता है।

धरती में जो आकर्षण-शक्ति है उससे सब वस्तुएँ धरती की ओर से खिंचती हैं और अनन्त में जो आकर्षण शक्ति है उस आकर्षण शक्ति से हम सब लोग उनकी, अनन्त की ओर खिंचते हैं। स्वभाव से क्या होना चाहिए? स्वभाव से यह होना चाहिए कि हमारा आपका सहज आकर्षण उस अनन्त परमात्मा की ओर होना चाहिए था। सच्ची बात तो यही है और यही होता भी यही है। यह तो अपनी भूल है कि हम वस्तुओं के साथ अपने को मिला देते हैं तो अपनी ही मिट्टी-पलीत होती है। ऐसा लगता है कि इस वस्तु के बिना कैसे रहेंगे, इस मकान के बिना कैसे रहेंगे, इस सामान के बिना कैसे रहेंगे, इस व्यक्ति के बिना कैसे रहेंगेे तो यह अपनी दुर्दशा ही है। अपनी भूल का परिणाम है कि हम सब लोगों को वस्तुएँ इतनी आकर्षक लगती है, कि जो सच्ची बात है उसको हम कुछ देर के लिए हटा देते हैं अपने सामने से। याद आती है तो उसको ढक देना चाहते हैं उसको दूर कर देना चाहते हैं, लेकिन सच्ची बात यह है कि मनुष्य की जो रचना है हमारा आपको जो यह अहं है, मैं-पन है अहं शब्द के भी बहुत से अर्थ होते हैं, तो उससे भी काम नहीं चलेगा मैं-पन सबसे स्पङ्ख शब्द है। तो हमारा आपका मैं-पन जो हैं, इसकी रचना अनन्त तत्त्व से हुई है। यह एक ऐसा दार्शनिक सत्य है कि इसको स्वीकार नहीं करने पर एक कदम भी आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ने की बात नहीं होगी। तो यह पक्की बात है सन्त की वाणी के अनुसार और मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार कि हम सभी भाई-बहनों को आगे की ओर बढ़ना है, अमर जीवन की ओर बढ़ना है, परम प्रेम से अपने को भरना है। तो यह काम जो है अपने जीवन का यह प्रोग्राम जो है वह कब सत्य होगा? जब हम दार्शनिक सत्य को अपने द्वारा अपने लिए स्वीकार करेंगे। अपने लिए स्वीकार करेंगे तो आपके भीतर बड़ा बल बढ़ेगा।

कौन-सी बात स्वीकार करें कि शरीर बना है भौतिक तत्त्वों से और मैं बना है अनन्त तत्त्व से। तो जो जिस धातु से बना है उसकी की ओर आकर्षित होगा। ठीक है न? इसलिए मरणशील शरीर के संग रहते हुए और संसार के विविध रूप दृश्यों से अपना जी बहलाते हुए भी मनुष्य रह नहीं सकता आत्मा-परमात्मा, शांति, मुक्ति, स्वाधीनता की चर्चा किए बिना। नहीं रह सकता है, किसी न किसी रूप में उसे सोचना ही पड़ता है, कुछ न कुछ उसको करना ही पड़ता है, कहीं न कहीं वह टिकता ही है इस आधार को लेकर के। तो उसका कारण यही है कि हमारी जो रचना है वह अनन्त तत्त्व से हुई है तो उस आकर्षण से हम सभी उस ओर खिंचते हैं।

प्रारम्भिक दिनों की बात है जब मुझे संघ के दर्शन से परिचय हुआ तो भारतीय दर्शन का ज्ञान तो थोड़ा कम ही था। मामूली पुस्तकों के पढ़ने का आधार था। पश्चिम दर्शन का कुछ पढ़ा हुआ था ठण्।ण् तक। ॅमेजमतउ च्ीपसवेवचील पढ़ा था मैंने, वह जो सामने आया तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे पास इतना पुरुषार्थ होना चाहिए, इतना बल होना चाहिए, इतनी सामर्थ्य होनी ही चाहिए। जिसके आधार पर यह जो वर्तमान दशा है, शरीर के साथ इतना घुला मिला हुआ सा अस्तित्व मालूम होता था उन दिनों में, इतना घना तादात्म्य था शरीर के साथ, कि शरीर से अलग अपना कोई अस्तित्व है, ऐसा सोचने से ही लगता था कि पता नहीं यह कैसी बात है।

महाराज जी जब देहातीत जीवन की चर्चा करें तो मैं भीतर अपने आप सोचती हूँ कि

पता नहीं स्वामी जी कौन-सी स्ंदहनंहम बोलते हैं। हमारे लिए तो कोई अर्थ ही नहीं है देहातीत जीवन का, कुछ पता ही नहीं चले। तो उस समय मेरे भीतर एक बड़ी उथल-पुथल होती थी, कि कहाँ से मैं शक्ति लाऊँ कि शरीर के तादाम्य को तोड़कर, अशरीरी जीवन को पाकर के हमेशा के झंझट खत्म करूँ। तो भीतर ही भीतर व्याग्रता होती। और अब मेरे प्रयास विफल हो जाते बहुत गुस्सा होती थी कि शरीर का तादात्य टूट जाए और बिना शरीर के मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है इस बात का मुझको पता चल जाए तो इसके लिए जितना मैं प्रयास करूँ, मेरे प्रयास में सफलता न मिले तो भीतर से एकदम से निराशा होने लगे, ठण्डी होने लग जाऊँ कि मैं अब क्या करूँ? जब सोचा था कि मुझे अविनाशी जीवन चाहिए तब आवश्यकता मालूम हुई कि कोई अनुभवी संत मिले तो मुझे मार्ग बताएँ तो अब मुझे संत मिल गए और मुझे मार्ग बता दिया। अब उन्होंने जो करना था सो तो उन्होंने कर दिया। मुझे जो करना है, उसमें पार नहीं जाऊँगी, तो क्या होगा फिर? तो एकदम से भीतर से अन्धकार छा जाए कि अब क्या होगा? अब क्या होगा? फिर जब मेरी इस दशा का महाराज जी ने अनुभव किया उनको बहुत जल्दी पता चल जाता था कि किसी साधक के भीतर क्या हो रहा है? तो उनको पता जब चला तो उन्होंने इतने सुन्दर-सुन्दर ढंग से मेरे आत्मविश्वास को पाला और उसने मुझे यह बताया कि कई तुम मंगलकारी प्रभु की मंगलकारिता पर विश्वास करो और जीवन के अविनाशी तत्त्व पर विश्वास करो। अपने पुरुषार्थ के बल पर जीवन पकड़ना चाहते हो और उसमें हारने से तुम निराश होते हो, यह बड़ी भारी भूल है। तो बड़ा आश्वासन मिला मुझे, धीरज मिला।

अपने भाई-बहनों को यह कथा मैं केवल इसलिए सुना रही हूँ कि सम्भव है कि हमारा जो यह समूह मेरे सामने जो विद्यमान है और भी किसी भाई-बहन को ऐसी घबराहट हओती होगी कि हमारे करने से हो नहीं रहा है, फिर कैस होगा? तो आपकी सेवा में, संत की जीवनदायिनी वाणी मैं निवेदन कर रही हूँ कि बिल्कुल डरने की, घबराने की कोई बात नहीं है। क्यों नही है? इसलिए कि मनुष्य की जो रचना है, उस रचना की सारी योजना ही इस ढंग की है कि आपको वह जीवन चाहिए तो उसका सारा इन्तजाम जीवन दाता की ओर से किया हुआ है। बस घबराने की, हार मानने की बात नहीं है। एक चर्चा हो गई। अब यह सब सुनकर मुझे क्या मालूम हुआ? तो एक दिन अकेले बैठे-बैठे में अपने सम्बन्ध में सोच रहीं थी। परमात्मा के प्रति एक बड़ी कोमल भावना भीतर से उपज रही थी स्वामी जी महाराज की कृपा से, नहीं तो बचपन से तो मैं परमात्मा से बहुत नाराज थी। यह सन्त की कृपा थी। मेरी दशा देख करके नवनीत के समान कोमल हृदय संत का द्रवित होता रहता था और उनमें भीतर जो करुणा द्रवित होती थी उसके प्रभाव से मुझे बल मिलता था। तो यह उनकी करुणा का फल था। एक दिन मैं बैठे-बैठे सोच रही थी कि ऐसा कैसे हो सकता है। तो ध्यान में आया कि उस अनन्त तत्त्व को, उस अविनाशी तत्त्व को, उस परम रहस्यमय को, उस अनन्त माधुर्यवान को मैं किस मधुर भाव से पकड़ पाऊँगी। उस अनन्त ऐश्वर्यवान को मैं किस बल से पकड़ पाऊँगी। तो अकेले में बैठकर मैं सोच रही थी। तो एकदम से स्वामी जी महाराज के वचन का अर्थ मेरे सामने आया कि अच्छा यह बात है। क्या बात है? तो मुझमें उद्गम से मिलने की जितनी आवश्यकता है, मुझ में अपने उत्थान के लिए

जितना चाव है, वह तो बहुत ही सीमित है, और बहुत ही संदेहास्पद है निःसंदेह कहाँ है? तो इधर की हालत तो बहुत खराब है। परन्तु एक बड़ी जोरदार आशा है। वह क्या है? कि साधक के जीवन में उत्थान की जितनी लगन होती है, उसमें जितना, जिस मात्रा में उधर के लिए आकर्षण होता है। उससे कहीं अधिक तीव्र आकर्षण उस ओर से हमारे लिए आता है। बड़ा आनन्द आ गया। हमने कहा एक इतनी छोटी सी वस्तु है और एक असीम है किन्तु हम है उसी के जात के इसमें कोई शक नहीं है। और दोनों में एक-दूसरे के लिए आकर्षण है। लेकिन जो अनन्त है उसका ज्यादा बल होगा कि हमारा होगा। वह ही खींच रहा है ज्यादा जोरदार तो फिर हम काहे को डरें। हमारी पकड़ अगर ढीली भी होगी तो इससे क्या होता है। उधर से जो आकर्षण-शक्ति आ रही है हर मनुष्य को उस अनन्त जीवन की ओर प्रेरित करने के लिए तो वह शक्ति बहुत जोरदार है। बहुत जोरदार है।

ग्वालियर में वे महारानी, जो उस समय थी अभी भी हैं विजया राजे सिंधिया, उन्होंने अपने पति के कैलाशवासी, स्वर्गवासी होने पर संत सम्मेलन बुलाया था। बुलाती हैं, अभी भी होता है। स्वामी जी महाराज के साथ मैं भी थी वहाँ, तो बातें सब हो रही थीं। तो मुझको महाराज जी ने कहा कि आप भी कुछ कह दीजिए। उस समय यह उधेड़-बुन हमारे भीतर बहुत चल रही थी कैसे होगा? कैसे होगा? कैसे होगा? जैसे ही ध्यान में आया तो लगा डरने की कोई बात ही नहीं है। मैं अपना हाल देखकर, अपनी सीमित भावना, सीमित विचार और अनेक प्रकार के विकारों से भरा हुआ जो अहं है, उस अहं में कितनी लगन है, कितनी सामर्थ्य है कितना खिंचाव है यह देखकर धरती पर बैठी हूँ मैं हार मानकर के, यह तो बड़ी गलत बात है। संत की वाणी में कितना आश्वासन है कितना बल है वे तो कह रहे हैं, तुम क्यों सोचे रही हो। तुम अपनी ओर मत देखो, अपनी असमर्थता अपनी दुर्बलता को मत देखो, उस अनन्त की महिमा को देखो। तो बड़ा आनन्द आ गया। हमने कहा कि बात तो बिल्कुल सही है। हम तो फँसे हैं, गिरे हैं, हाथ-पांव टूटे हैं कोई गम नहीं है। कोई साथ नहीं है। अपने विकारों का जो जाला बना हुआ है उसको काट करके उसमें से निकल करके वहाँ तक पहुँच सकें। लेकिन उस सर्वशक्तिमान की दृष्टि मुझ अकिंचन पर है। घना आकर्षण हम सब भाई-बहनों को खींच रहा है। तो बड़ा आनन्द आ गया, हर्ष हो गया, भय मिट गया और उसी समय महाराज जी ने खड़ा कर दिया वहाँ। फिर हम गए हमने सोचा मनुष्य की क्या सामर्थ्य है। जो देह से तादाम्य जोड़कर मिट्टी के साथ मिट्टी होकर बैठा है उसकी क्या हिम्मत? लेकिन एक बात है जिन्होंने मुझे बनाया, जिन्होंने अपना ही तत्त्व देकर निर्माण किया उन्होंने इस जीवन की च्संददपदह इसकी योजना इतनी अच्छी बनाई है कि मेरे भीतर उत्थान के लिए एक छोटा-सा अंकुर पैदा होता है तो वे अपनी कृपा दृष्टि से पाल कर बड़ा बना लेते हैं। तो मैं बहुत खुश हो गई। तो गई वहाँ, थोड़ी-सी चर्चा हुई। संत के जीवन का उदाहरण रखा, महात्मा बुद्ध का। और फिर मुझे याद आ गया कि प्रभु की महिमा को याद करके मैंने एक वाक्य जो मैंने याद आ गया कि प्रभु की महिमा को याद करके मैंने एक वाक्य जो मैंने साहित्य में पड़ा था, उसे सुना दिया लोगों को। बोलते-बोलते हमने कहा कि ऐसे-ऐसे सत्संग से, इस प्रकार की संत वाणी से जीवन में कितनी क्रान्ति आती है, कितना उत्थान होता है आज मुझे कितना साहस मिला है और मैं निश्चय

पूर्वक कह सकती हूँ कि हे मेरे प्यारे, हे मेरे प्रभु, हे मेरे प्रेमास्पद मैंने तेरी छाँह गही, तूने मेरी बाँह गही। सब लोग एकदम शांत हो गए। कितने हजार लोगों की मंडली थी सब एकदम शांत हो गए। मैंने तेरी छाँह गही, मैं कहाँ पहुँच पाऊँ तुम्हारे पास, मैं तो तुम्हारी छाया को ही छू रही थी। मैंने तेरी छाँह गही, तूने मेरी बाँह गहीं मुझे निश्चिन्त कर दिया मुझे निर्भय कर दिया कंधे पर से अपने पुरुषार्थ और साधना का सब भार उतार दिया। तो ऐसा जो एक अनुपम जीवन मिला है, हार मानकर बैठने के लिए नहीं मिला है, निरुत्साह होकर बैठने के लिए नहीं मिला है, भविष्य की आशा पर दिन काटने के लिए नहीं मिला है। यह जो एक अनुपम क्षण मिला है हम सब भाई-बहनों को। अनेक प्रकार की बाधाओं को काट-काट के किसी प्रकार से आप निकल सके हैं।

अनेक प्रकार की कठिनाइयों के सिर पर पाँव रखकर के बड़ा साहस करके आप निकल सके हैं। तो मैं यह नहीं कहती हूँ कि घर छोड़कर वृन्दावन आ जाने की बड़ी भारी विशेषता है। मैं इस बात की विशेषता मानती हूँ कि सत्संग का महत्त्व नहीं है लेकिन इस यात्रा के भीतर सत्संग की जो विशेषता आ गई उस विशेषता का महत्त्व अवश्य है। और वही एक बल है जो हम सभी भाई-बहनों को संत की वाणी का अनुसरण करने में समर्थ बनाएगा। तो आज एकादशी की तिथि है। मानव सेवा संघ के प्रार्दुभाव की तिथि और संत के विभु व्यापक होने की तिथि। इस तिथि के पुण्य पर्व पर हम सब लोग जीवन सम्बन्धी चर्चा करने के लिए बैठे हैं तो इस पहली बैठक में मैं यह निवेदन करना अच्छा समझ रही हूँ कि किसी के भीतर किसी प्रकार की दुर्बलता हो, तो उसकी परवाह मत करो। अगर आप दुर्बलता को मिटाना चाहेंगे तो अवश्य मिट जाएगी। क्यों? क्योंकि हमारे ही बल से उसको मिटाना होता तो मैं आप सब भाई-बहनों में सबसे पहले हार मानकर बैठ जाती। लेकिन हमारे बल से नहीं मिटता लेकिन हमारा पुरुषार्थ क्या है? अपना पुरुषार्थ यह है कि उस सर्व साम्थ्र्य की उपस्थिति मान करके, अकेले में बैठ करके, अधीर हो आप इस बात की आवश्यकता अनुभव करिए कि वह कौन-सी घड़ी होगी कि मैं अपने ही बुने जाले को काट कर पार कर जाऊँ। वह कौन-सी घड़ी होगी कि जो इस भ्रमात्मक स्वीकृति में से निकलकर, उस नित्य सम्बन्धी से मिलकर सदा-सदा के लिए आनन्दित हो जाएँगे। वह कौन-सी घड़ी होगी, वह कौन-सी घड़ी होगी, यह जीवन कब ऐसा होगा। आवश्यकता अनुभव करना मनुष्य का पुरुषार्थ है और उस आवश्यकता की पूर्ति कर देना प्रेमास्पद का सहज स्वभाव है। इतनी सी बात है।

अब ऐसा समय कब मिलेगा, ऐसी घड़ी कब आएगी। साँस-साँस का पता नहीं है। एक-एक दिन का ठिकाना नहीं है तो हम लोग की शिथिलता में थोड़ा रहन-सहन का एक अच्छा सा ढंग बन गया है। और खाने-पीने का और बीमार होने से इलाज होने का एक प्रबन्ध बन गया और समाज में अच्छा आदमी कहलाने का एक अनुकूल संयोग बन गया है तो इसी मिथ्या सुख के आभास में उस अनमोल जीवन की घड़ी को चूक जाना बहुत बड़ा घाटा है। इसे सोच के देखो न। और कहाँ टिके है हम लोग। जिस शरीर में बड़ी घनी ममता है उसी शरीर को रखने के लिए एक सुरक्षित स्थान मिल गया तो सोचने लग गए क्या नुकसान है 2-4 बरस और सुख से रह लो।

अरे भई, कब तक रह लोगे कुछ पता है? नहीं पता। जन-समाज के साथ अच्छे वचन बोल

करके अच्छे व्यवहार करके कुछ ऐसी दृष्टियाँ अपने को प्राप्त हो गई कि जो आदर और प्रेम से मेरी ओर देखती हैं तो इसके बल पर कब तक साँस लोगे? अनुकूलता बनी रहेगी? जी? नहीं रहेगी। यह जो आदर और प्रेम की दृष्टि है कि कुछ लोग मुझको अच्छी निगाह से देखते हैं तो यह दृष्टि का जो सुख है कि हमको अच्छा समझने वाले कुछ लोग मेरे पास है, तो यह सुख जो है वह देह के अभिमान के पार पहुँचेगा? जी। यह देह का अभिमान ही है, जो सम्मान के सुख को महत्त्व दिख्लाता है, अपमान के दुःख को विशेष मानता है यह देह का अभिमान ही है, यह अहं का अभिमान ही है।

ये जो ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, से संगी-साथी मिले इस दुनिया में आकर रहने के लिए ये विचारे भी सम्मान, अपमान को नहीं जानते हैं। हाथ-पाँव को क्या परवाह है? आँख नाम को क्या चिन्ता है कि कौन कैसे हमारी ओर देख रहा है, ये कभी नहीं जानते हैं। यह तो बिल्कुल मिथ्या बिल्कुल ही निरर्थक यह देह का अभिमान है, जिसके कारण से मुझको सम्मान प्रभावित करता है, अपमान प्रभावित करता है। तो इस सीमा के भीतर हम लोग कब तक रहेंगे? कहाँ तक कुशल रहेगा बताओ? हमारे बचपन का सुना हुआ है भोजपुरी में कि स्त्रियाँ आपस में जो कहावत कहती है, मुहावरा जिसको कहते हैं, तो यह कहेंगी चोर की स्त्री कहाँ तक सगुन मनाएगी। कहावत कहा जाता है। चोर जाता है न चोरी करने के लिए तो लोग कहावते कहते हैं, कि चोर की स्त्री कहाँ तक सगुन मनाएगी। पति जा रहा है चोरी करने के लिए वह कहाँ तक सगुन मनाएगी क्योंकि वह तो मृत्यु के मुख में जा ही रहा है। ऐसा हाल है अपना। तो इन बाहरी आधारों पर जीने की सुविधा मिल गईं, शरीर की सेवा की सुविधा मिल गई, कुछ अच्छे वचन बोलने वाले साथी मिल गए हैं, इस अनुकूलता के आधार पर उस अनमोल तत्त्व से कब तक मैं वंचित रहना चाहती हूँ, यह प्रश्न हर भाई-बहन को अकेले में अपने से पूछना चाहिए। तो चेतना आएगी। सामर्थ्य की बात नहीं है। सामर्थ्य तो सामर्थ्यवान के पास बहुत है। वे तो अपनी ओर से तत्पर रहते हैं, कि कौन मेरा बच्चा असमर्थता की घड़ी में मुझको याद करेगा। उनके पास सामर्थ्य बहुत है। मेरे पास आता क्यों नहीं। तो मुझको इसका पता इसलिए नहीं चलता है कि जो बिना माँगे जो सामर्थ्य उन्होंने अपनी ओर से मुझे दे दी थी, उसी का अभिमान ले करके मैंने अपने चारों ओर एक घेरा डाल लिया, सीमित हो गया। अब पता ही नहीं चलता है। उसी अभिमान के कारण से उस अनन्त सत्य की अनन्त सामर्थ्य से हम वंचित हो गए। और जिन्होंने अपने अहं के अभिमान को छोड़ दिया, जिनका सीधा कपतमबज बवददमबजपवद उधर से लग जाता है उनको तो कभी असमर्थता का पता ही नहीं चलता है। थकावट कभी मालूम ही नहीं होती। किसी बात के लिए कभी कुछ उनको ऐसा लगता ही नहीं है कि अब मुझसे नहीं होगा कि अब हम नहीं कर सकेंगे। ऐसा कुछ नहीं लगता है। अनन्त की ओर से उस अनन्त सामर्थ्यवान की ओर से जिनका सम्बन्ध जुट जाता है,

उनका तो कुछ नहीं बाकी रहता, सब पूरा ही पूरा है सब समय। तो देखिए संसार में व्यवहार करते समय, परस्पर एक-दूसरे से मिलते-जुलते समय जहाँ पर, जिस समय जो काम सामने आया, काम को करते समय और कार्य-क्षेत्र से अलग होकर अकेले बैठते समय, अगर इस बात की याद अपने की बनी है कि यह तो अपनी

यात्रा है, यहाँ तो कहीं टिकाव नहीं है, ठहराव नहीं है चलो-चलो आगे बढ़ो तो इस तरह की एक लगन लग जाए भीतर, तो ऐसा चमत्कार है मनुष्य के अहं रूपी अणु में, ऐसा चमत्कार है कि जैसे-जैसे हम सामाजिकता के लिए विमुख होने लगते हैं, जैसे-जैसे इधर के बंधनों को ढीला करते हैं वैसे-वैसे उस अनन्त के मधुर आकर्षण का प्रभाव अपने पर उनकी तरफ से होता है। मैंने बहुत ही कठिन घड़ी में उस मधुर आकर्षण का परिचय पाया है। कौन-सी कठिन घड़ी? बड़ी कठिन घड़ी थी मेरे लिए मेरी साधना की। मैं अपने को बड़ी जोर से समझा रही थी, मना रही थी अपने को किस बात के लिए कि यहाँ चारों ओर जो कुछ दिखाई देता है, यह जो कुछ दिख रहा है। लेकिन संत ने तुमको बताया है कि स्वामी जी महाराज ने जो कहा है, उसको सत्य मानो और यह जो कुछ दिखाई दे रहा है इसको अस्वीकार करो। तो दो-ढाई महीने लग गए थे। महाराज जी के पास सत्संग सुनकर वापिस चली गई थी, कार्यक्षेत्र में काम कर रही थी और दिन-रात इस बात की चेड्ढा चल रही थी कि किसी तरह से मैं अपने को समझा लेती कि संत ने जो कहा है वह सत्य है और तुम्हें जो चारों ओर दिखाई दे रहा है वह मिथ्या है। तो समझाने से काम ही न बने। बुद्धि के आधार पर पकड़ने पर भी जीवन में उसका प्रभाव ही न हो। बहुत परेशानी, बड़ी कठिन घड़ी थी मेरी साधना के लिए। एक कदम भी आगे बढ़ने का कोई भरोसा नही था। क्यों? क्योंकि इस मूल बात को ही पकड़ न पाओ तो कैसे कदम आगे बढ़े? संसार के बंधन ढीले कैसे होंगे? क्या योगवाशिष्ठ-पाठ करने से बंधन ढीले होते हैं। वह तो नहीं होता है। उसमें तो हर ैमदजमदेम में यह लिखाया हुआ है कि भई संसार मिथ्या है और परमात्मा सत्य है कितने उदाहरण, कितने कथानक हमारे)षियों, मनीषियों ने, अनुभवी संत जनों ने हमको समझाने के लिए रच लिया, लिख दिया, बता दिया, सुना दिया तो उस से तो होता नहीं है। तो मैं बहुत सच्चाई के साथ अपने आत्मीय भाई-बहनों की उत्साह-वृद्धि के लिए यह घटना सुना रही हूँ कि साधना की दृड्ढि से बड़ी कठिन समस्या थी मेरी। बड़ा कठिन समय था मेरा।

यह उलझन पार ही न पाए तो आगे मैं क्या करूँ? ऐसी घड़ी में ैजंिि तववउ में बैठी थी। एक चमतपवक पढ़ा कर आई थी। 2 घण्टे फिर चतंबजपबंस बसंेे लेने के लिए जाना था। और मैं ैजंिितववउ में मेंल बींपत में बाहर से देखने में बड़े आराम से बैठी थी और भीतर-भीतर हृदय-मंथन हो रहा था। क्या बताऊँ, यह तो यहाँ से कदम उठता ही नहीं हैं। यह तो महादलदल में, ऐसे लगे कि इतने-इतने पाँव मेरे कठिन दलदल में फँस रहे हैं। जितना निकालने की चेड्ढा करूँ लगे कि और धँसे जा रहे है। बड़ा संकट, तो ऐसी संकट की घड़ी में मैंने दुःखहारी हरि को याद किया हो, सो नहीं। वह तो आदत ही नहीं थी, स्वभाव ही नहीं था, अभी भी सहज से नहीं होता है। मैं तो याद करती हूँ सो बात नहीं थी। याद नहीं किया, मैंने मदद माँगी नहीं कि मैं अपनी ही दुर्बलता में डूबी जा रही हूँ मुझे उबारो। ऐसा कह कर मैंने पुकारा नहीं, लेकिन दुखी अवश्य हो रही थी कि अब कैसे होगा अब कैसे होगा। इतनी जोरदार शक्ति! मेरे बिना बुलाए अदृश्य रूप से कि मैंने देखा भी नहीं, बिना देखे और बिना याद किए इतने जोर से और इतने घने और इतने मधुर आकर्षण ने मुझे खींचा, पार होने के बाद मुझे पता चला कि अच्छा कठिनाई तो पार हो गई, समस्या तो हल हो गई, दुविधा तो मिट गई, कैसे हुआ?

ऐसा कैसे हुआ तो याद आया कि अच्छा! स्वामी जी महाराज कहते हैं कि आवश्यकता अनुभव करना तुम्हारा पुरुषार्थ है और उसकी पूर्ति करना उनके प्यारे का सहज स्वभाव है। तो एक बार सच्चाई में इस मार्ग पर कदम बढ़ाने की अभिलाषा तो जाग्रत हो जाए, फिर तो देर नहीं लगती है। फिर कोई बाधा नहीं है, कोई बाधा नहीं हो सकती। कितने जन्म हमने भूल में बिताए और कितनी शक्ति मैंने सुख-भोग की प्रवृत्ति में गँवाया। इसका हिसाब वे अनन्त सामर्थ्य वान रखते नहीं है। हिसाब तो वह रखे जिसके पास सीमित चीज हो किसको कितना देंगे, बाँटने के लिए हिसाब करेगा। अब इस आश्रम में अपने आए हुए सम्माननीय अतिथियों को सबको हम सुविधापूर्वक जगह नहीं देते हैं, नहीं दे पाते हैं क्या करें? तो हिसाब बनाकर रखते हैं, चार्ट बना कर रखते हैं, सात दिन पहले से सोच कर रखते हैं कि इतने हमारे भाई-बहन आयेंगे उनको कहाँ रखेंगे कैसे करेंगे। तो जिसके पास सीमित चीज हो वह हिसाब करता है। उस अनन्त परमात्मा की शक्ति की कोई सीमा नहीं, उनको हिसाब नहीं करना है। यह बच्चा मेरा कितने दिन भटका हुआ है कि कितने जन्म गँवा कर आ रहा है, कुछ नहीं सोचता है। जिसको आवश्यकता है, जिसने आवश्यकता अनुभव किया उसी पर बरसा दिया। कितना? कोई सीमा नहीं? जितना तू ले सके, जितना तू ग्रहण कर सके, जितने में तेरा कल्याण हो जाए। इतनी मंगलकारिता है उस जीवनदाता में, और इतनी कृपालुता है उस जगत्पिता, जगत्जननी में, कि उस समय इसी क्षण में उसी रूप में वह विद्यमान भी है। जैसे और अनुभवी जनों ने अनुभव किया है, जैसे और अन्य संत महात्माओं ने अनुभव किया उसी प्रकार का उसी ढंग से व्यवहार करने के लिए अपनी उदारता, अपनी कृपालुता, अपनी सामर्थ्य बरसाने के लिए सदैव तत्पर है। और ऐसी अच्छी परिस्थितिया फिर कब आएगी, सोचना ही नहीं चाहिए। वर्तमान में जो हम सब भाई-बहनों के सामने आ गया है, उसी का हार्दिक स्वागत करिए। उसका आदर करिए और उसकी कृपालुता का बल लेकर के अपने स्तर से ऊपर उठने के लिए हमेशा तत्पर रहिए। हम सब भाई-बहनांे का कल्याण होगा, अवश्य होगा। संत जन भी सदैव मदद करने के लिए तैयार हैं, भगवान भी सदैव मदद करने के लिए तैयार है और केवल मेरा ही संकोच है कि इतनी देर हुई। तो अब संकोच छोड़ दिया जाए। काम बन जाएगा।

प्रवचन(17)

उपस्थित संत महानुभव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

मनुष्य के जीवन में शांति, मुक्ति और भक्ति की ओर विकास का जो क्रम है, उसमें सबसे आवश्यक बात मुझे यह मालूम होती है कि हमारे जीवन में उस ओर आगे बढ़ने का उत्साह होना चाहिए और कोई योग्यता अपेक्षित नहीं है। अभी जैसा कि हम लोगों ने संत-वाणी में सुना। वह क्या सुना कि यदि आप शांत होना, मुक्त होना, भक्त होना नहीं चाहते हैं तो आप इस जीवन की आवश्यकता अनुभव करेंगे तो उसी से बड़ा भारी विकास आरम्भ हो जाएगा।

अब देखिए, अपने लोगों की एक दशा है जीवन में। क्या दशा है? कि आँखों में जो दिखाई देता है उसमें हम लोगों का विश्वास भी बन जाता है और उसके प्रति एक खिंचाव भी बन जाता है। विश्वास भी बनता है, खिंचाव भी बनता है। यद्यपि हम इस बात को जान रहे हैं केवल इन्द्रियों के

आधार पर नहीं, बुद्धि के आधार पर भी हम लोग इस बात को अच्छी तरह से जान रहे हैं, कि जिन शरीरों के माध्यम से संसार में अनेक प्रकार का भोग किया मैंने, वह शरीर दिन-प्रतिदन बदलता जा रहा है और किसी न किसी क्षण में यह मेरा साथ छोड़ देगा। इस बात की जानकारी हम लोगों को हैं कि नहीं है? है। अब कठिनाई क्या हो जाती है? हम किसी महजब के मानने वाले क्यों न हो, कठिनाई इतनी सी होजाती है, कि देखा हुअ संसार एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहता है, प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है फिर भी यही संसार अपने जीवन का आधार मालूम होता है। और जो परमात्मा एक क्षण के लिए भी किसी से अलग नहीं होता, वह परमात्मा अपने से बहुत दूर और अप्राप्य मालूम होता है। ऐसा लगता है कि परमात्मा को पाना बहुत कठिन बात है, बहुत कठिन बात है। तो स्वामी जी महाराज ने मानव-जीवन की एक समस्या हमारे सामने रखी और यह कहा कि थोड़ा सोचकर देखो। तो तुम क्या सोचो? यह सोच करके देखो जो संसार आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ, न होगा वहीं संसार तुमको सत्य मालूम होता है।

और जो परमात्मा कभी भी किसी से अलग नहीं होता है, न हुआ है, न होता है, न होगा वहीं परमात्मा अपने से बहुत दूर मालूम होता है। तो तन में विश्वास करना, धन में विश्वास करना कुटुम्बियों में विश्वास करना यह है विवेक-विरोधी लेकिन यह ही अपने को सत्य मालूम होता है, सहज मालूम होता है। और परमात्मा में विश्वास करना है सत्य और वह ही अपने को कठिन लगता है। तो जो आज तक किसी को मिल न सका, मुझे भी कुछ मिला नहीं लेकिन मिला हुआ-सा लगता है। और जो आज तक कभी अलग हुआ नहीं लेकिन वही अपने से बहुत दूर मालूम होता है। ऐसी दशा है कि नहीं है? जी है? जो चला गया वह मालूम होता है कि मेरा था। कितना बड़ा भ्रम है। जो पलक मारते ही आँखों के सामने से ओझल हो गया। एक माँ मुझसे बात कर रही थी प्रिय-वियोग की कथा कह रही थी। तो यह कह रही थी कि ऐसा लगा जैसे कि हम दोनों बैठकर अभी बात कर रहे हैं और किसी न स्विच वि कर दिया ऐसे झट से प्राणान्त हो गया तो मेरी आँखों देखी घटना है। इस अनिश्चित को मैंने अपने द्वारा अनुभव किया फिर भी हम इस सत्य को मानने के लिए राजी नहीं है और उसी की अनुपस्थिति में सम्पूर्ण व्यक्तित्व जो है, अस्त-व्यस्त हो गया। इसका नाम है असत् का संग। अब अनुभवी जन क्या सलाह देते हैं? अनुभवी जन सलाह यह देते हैं कि जो तुम्हारी आँखों से ओझल हो गया, पलक मारते ही जिसके संयोग का अन्त हो गया और बड़ा ही दुःखद कठिन वियोग सामने आ गया उसको अवश्य ही तुम अपना मानना बन्द कर दो। पता चल गया न कि मेरा होकर रह न सका, जो मेरा होकर रह न सका उसको मेरा कहना छोड़ दो। अच्छा, मेरा कहना छोड़ दें, लेकिन 20 बरस, 40 बरस एक साथ रह करके जो समय बिताया और अपने जीवन का सम्बल जिसको बनाया, उसकी याद कैसे मिटेगी? रह-रह कर उसकी याद आती है, इसका क्या करें? तो इसके बार में यह बताया कि जब-जब मृतक प्राणी की याद आती है और उसके वियोग में अपने को सब कुछ निराधार लग रहा है तो उसकी याद आने पर, उसे अपना न मानते हुए भी, उसकी कल्याण-कामना रखो, उसके लिए भगवान से प्रार्थना करो हे प्रभु मुझे भी मोह-मुक्त कीजिए, उस दिवंगत आत्मा को भी मोह-मुक्त कीजिए। इसको अपनी शांतिमय गोद

में स्थान दीजिए। मैंने बड़ी भूल की कि बनने-बिगड़ने वाले को अपना करके स्वीकार किया था। इस स्वीकृति से हम दोनों मोह के बंधन के जकड़ गए। हे परमात्मा, हम दोनों को मोह के बंधन से मुक्त कीजिए। मुझे भी शांति दीजिए उसे भी शांति दीजिए। जहाँ रहे, आनन्द से रहे, जहाँ रहे, शांति में रहें। ऐसा जब-जब उस बिछड़े हुए प्रिय-जन की याद आती है तब-तब उनके कल्याण के लिए प्रार्थना निकलनी चाहिए हृदय से। इसका फल क्या होगा? इसका फल यह होगा कि जब अपना जीवन मोह-मुक्त हो जाएगा तो मृतक प्राणी का जीवन भी मोह-मुक्त हो जाएगा। जब अपने को शांति मिल जाएगी तो बिछड़े हुए को भी शांति मिल जाएगी। यह अनुभवी जनों का अनुभव है। यह जीवन का विज्ञान है। इसी के अनुसरण से कल्याण होता है।

अब दूसरा पक्ष लिया जाए। जो सदा-सदा से अपना है, जिसने कभी मेरा साथ छोड़ा ही नहीं, उसको मैं अपना मानूँ। बड़ी सच्ची बात है, बड़ी सीधी बात है, बहुत आवश्यक बात है। अब कठिनाई क्या होती है कि हम लोग जब उस बिना देखे, बिना जाने सर्वव्यापी परमात्मा को अपना मानना आरम्भ करते हैं, गुरु की वाणी पर विश्वास करके या वेद-शास्त्र के वाक्यों में विश्वास करके। अगर हम उसको मानने का साहस करते है तो भीतर से बड़ा निराधार लगता है, कि देखा है नहीं, कहीं कुछ पता ही नहीं चलता है कि वह कहाँ है और कैसा है क्या करता हैं, वह मिलेगा कि नहीं मिलेगा। तो मानना भी चाहते हैं हम उनको और माना जाता भी नहीं है। डर लगता रहता है, संदेह होता रहता है कि क्या करें, कैसे माने, तो समय-समय पर बैठ करके अकेले में भी मैंने सोचा और स्वामी जी महाराज से भी बहुत बातचीत की तो मुझको एक खास बात मालूम हुई। और खास बात यह मालूम हुई कि ईश्वर में विश्वास करने का प्रश्न जब सामने आए तो मत पूछो कि वह कहाँ है और कैसा है और क्या करेगा। क्यों? क्योंकि ऐसा जब हम पूछेंगे, भीतर में तर्क और बुद्धि को प्रश्रय देगे तो कभी भी मान नहीं पाएँगे। इसलिए बुद्धि मत लगाओ। दूसरी बात क्या है जब मेरे सामने प्रश्न आया तो मैंने यह सोचा कि अच्छा हुआ भगवान देखे हुए जगत् में सामने नहीं आया।

क्यों, क्योंकि जितना जो कुछ मैंने देखा, सुना वह सब मेरी मुट्ठी में से निकल गया। जितना मैंने देखा, सुना, समझा, पकड़ने की कोशिश की वह सब मेरे हाथ में से निकल गया। बड़ा परिश्रम करके पढ़ना-लिखना किया, बड़ा बढ़िया तमेनसज पाया, बड़ी अच्छी नौकरी मिली, बड़ा बढ़िया पद मिला। मैं अभी हूूँ और वृद्धावस्था आने के कारण से मेरी आवश्यकताएँ बढ़ गईं अब किसी की सहायता चाहिए। अब अधिक आराम चाहिए। अब शरीर को अधिक सँभाल चाहिए। तो जब शरीरों की आवश्यकता बढ़ गई तब आवश्यकता-पूर्ति की सामग्री जो संसार ने दी थी वह छूट गई। मजा आ गया न। वृद्धावस्था आई जब ज्यादा सहारा चाहिए। तो संसार ने क्या किया? युवावस्था में जो सब सहारे दिए थे वह सब वापिस ले लिया। नहीं-नहीं अब तुम हमारे काम के नहीं हो, अब कुर्सी छोड़ दो, अब यह धन तुम छोड़ दो अब इस कुर्सी पर हम किसी युवावस्था वाले को बैठाएँगे और ये धन-सम्पत्ति, सम्मान, सुविधा तो हम उसको देंगे, अब तुम हमारे काम के लायक नहीं रहे, अब तुम जाओ। क्या मुसीबत, अब क्या करे? तो यह सब छूटता गया। सब छूटता गया और जो थोड़ा बहुत शेष बच गया है वह भी छूट जाएगा। इन बातों को हम सब लोग अच्छी

तरह से देख रहे हैं, जान रहे हैं। तो मेरे सामने जब प्रश्न आया तो मैंने भला मनाया। हमने कहा बहुत अच्छा हुआ कि मेरे परमात्मा इस देखे हुए जगत् का दृश्य बन कर मेरे सामने नहीं आए। अच्छा किया उन्होंने, अगर दृश्य बनकर आ जाते तो जैसे सब दृश्य मेरी आँखों के सामने से भाग रहे हैं ऐसे वे भी भाग जाते, फिर तो मैं अकेली रह जाती है। तब तो मेरा फिर वही हाल रह जाता कि अब किसका सहारा पकड़े? अब कौन ऐसी है अचल आधार, कि जिसको ले करके मैं सदा-सदा के लिए निश्चित हो जाती?

तो स्वामी जी महाराज के सिखाने, समझाने से थोड़ा साहस तो आया था और उसी साहस के बल पर मैंने यह सोच लिया कि अच्छा है भगवान आप छिप करके रहे, आप अदृश्य हो करके रहे, आप देखने-सुनने में नहीं आए। तो मेरे लिए एक रास्ता बच गया। जो देखने सुनने में नहीं आता है और देखे हुए दृश्य के समान मेरी आँखों से ओझल नहीं हो सकता है लेकिन सदा-सदा से हैं। स्वामी जी महाराज कह रहे हैं कि है, संत कबीर ने कहा कि है, मीरा जी ने कहा कि है, क्राइस्ट ईसा मसीह ने कहा कि है, पैगम्बर मौहम्मद ने कहा कि है। तो मैं क्या करूँ? मैं जानती तो नहीं हूँ लेकिन इन सब संत महापुरुषों ने कहा कि है तो मेरे लिए एक ब्ीदबम बच गया है कि वह परमात्मा जो देखने, सुनने, समझने में नहीं आता है लेकिन जब इतने सन्त महापुरुष कह रहे हैं कि है, वेद-शास्त्र में लिखा है कि है तो एक बार उसको मान करके देखो कि क्या होता है? यह श्रद्धा-भक्ति की बात नहीं है, यह हारे हुए जीवन की कथा है। संसार के सब दृश्य चलचित्र की भाँति आँखों के सामने आ रहे हैं और निकल जा रहे हैं और जिन आँखों से मैंने संसार को देखना आरम्भ किया था, वे आँखें भी मेरा साथ छोड़ रही है। जी, छोड़ रही है न?

एक दिन ऐसा था कि रात्रि के समय बहुत ही सूक्ष्म-सूक्ष्म क्तंूपदह.चंपदजपदह मैं कर लेती थी और आज का दिन है कि खुले प्रकाश में दिन के समय 2-4 चिट्ठियाँ लिख दूँ, तो सिर दर्द से परेशान हो जाती हूँ। तो जिन आँखों से मैंने देखे हुए संसार का सुख लिया था वह देखा हुआ संसार तो धीरे-धीरे खिसक ही गया, जिन आँखों से देखा करती थी वह आँखें भी छोड़ रही हैं। तो भला हुआ, परमात्मा देखे हुए में शामिल नहीं रहा। इसलिए डरिए मत, सोचिए मत नहीं दिखाई देता है तो उसको कैसे माने। मान लीजिए मेरी तरह झख मारकर मान लो अथवा अपने हृदय की श्रद्धा, भक्ति प्रेम से आनन्द से मान लो। किसी भी तरह से मानो उसको मानना पड़ेगा जरूर और अगर उसको नहीं मानेंगे हम, फिर हमारे जीवन में मानने का जो स्वभाव है, वह कुछ नहीं रह जाएगा, तो मानों। अब फल क्या हुआ? तो बड़ा अद्भुत फल है? परमात्मा देखने में नहीं आया, उसने आकर मेरे सामने खड़े कभी कहा नहीं कि मैं परमात्मा हूँ और मुझको मान लो, तो तुम्हारा दुःख मिट जाएगा। ऐसा उसने नहीं कहा लेकिन संत महापुरुषों की वाणी सुनकर, गुरु के वाक्य का आधार लेकर जिन साधकों ने बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को माना, उनके जीवन में बड़ा परिवर्तन हो गया। क्या परिवर्तन हो गया? कि अब बड़ी विचित्र बात हो गई। ऐसा नहीं कि धनुष धारी बन कर सामने खड़ा हो गया कि मुरली मनोहर बनकर साने खड़ा हो गया सो नहीं। बड़ा भारी परिवर्तन उसके जीवन में आया कि अब अपने को निश्ंिचत और निर्भय करने के लिए आँखें खोल

कर संसार की ओर देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्या हो गया?

कि शांत हो रहो, चुप रहो, खुली आँखों से जगत् को देखो अथवा बन्द आँखओं से अपने भीतर समा जाओ। वह जो नित्य-निरन्तर अपने ही में विद्यमान रहने वाला परमात्मा है, वह अपनी उपस्थित का आभास तुमको दे देगा। देखो, तुम्हारे गुरु ने कहा था कि तुम्हारा परमात्मा तुम में विद्यमान है। तो अपने गुरु की वाणी का विश्वास किया तुमने। अब देखो तुम्हारे गुरु ने जो कहा था उसी के अनुसार मैं तुम्हारे साथ विद्यमान हूँ।

इतना प्रत्यक्ष और इतना जोरदार आवश्वासन उस परमात्मा की ओर से विश्वासी साधकों को मिल जाता है। अनाथ-पथ का दुःख सदा के लिए खत्म हो जाता है। याद रखने में कभी भी ईश्वर-विश्वासी को ऐसा नहीं लगता कि मैं अकेला हूँ, मैं अनाथ हूँ ऐसा कभी नहीं लगता है। कभी भी अपने लिए अन्य सहारे ढूँढने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मैं क्या करूँ। मैं कैसे रहूँ? मैं कहाँ जाऊँ, यह सब उसको नहीं सोचना पड़ता है क्यों नहीं सोचना पड़ता? कि प्रत्यक्ष रूप में परमात्मा उस को कब मिलेगे, वह तो परमात्मा जाने। लेकिन अज्ञात रूप से परमात्मा की विभूतियाँ उस विश्वासी साधक के जीवन में इस प्रकार से भरने लग जाती है, कि वह समझता नहीं है कि क्या हो रहा है। लेकिन आँखें बन्द करके अकेले में एकान्त में उसे अपने में ऐसा एक विशेष बल मालूम होता है ऐसी एक विशेष सरसता मालूम हेाती है कि वह उसी में मस्त रहने लग जाता है। तो मेरा ऐसा विश्वास बन गया कि आदमी को अपने आप में जब तक वह बल और वह विश्वास और वह रस नहीं मिलेगा, तब तक उसको दुनिया के किसी आधार पर निश्ंिचतता और शांति मिल जाए अथवा वियोग-जनित पीड़ा खत्म हो जाए, यह कभी सम्भव नहीं है। भले कुछ काम करके अपने को बहला लो, भले कुछ स्थान का परिवर्तन करके अपने को बहलाने की कोशिश करो, भले बुद्धि के बल पर बौद्धिक और मानसिक योग्यता के बल पर अपने को धीरज देने की कोशिश करो कुछ भी करो मोह-जनित पीड़ा जो है, प्रिय-वियोग का दुःख जो है वह परमात्मा के प्रेम रस से ही मिटता है और किसी प्रकार से मिट नहीं सकता, जीवन भर नहीं सकता। बुद्धि का जो बल है वहाँ तक पहुँचना नहीं हैं। मैंने भी बुद्धि का बड़ा सहारा पकड़ा था। अपनी बुद्धिमता का बहुत बल था मुझको और समझा बुझा कर मैं अपने को ठीक कर लूँगी, इसमें मेरा भी बड़ा विश्वास था किसी समय। लेकिन समझाने-बुझाने पर भी काम नहीं बना, सबसे उच्च शिक्षा में सबसे आखिरी परीक्षा दे करके मैं विश्व विद्यालय के मुख्य द्वार से बाहर निकलने लगी तो मेरा हृदय हाहाकार करने लगा। मुझे भीतर से यह आवाज आने लगी कि 14 वर्षों का समय अध्ययन में लगा कर देह को धुन डाला मैंने। साहित्य के लिए विज्ञान के लिए और दर्शन के लिए बहुत कुछ किया और आखिर में प्रायोगिक परीक्षा देकर बाहर निकलने लगी तो हृदय रोने लगा। क्या मालूम हुआ? कि 14 वर्ष का सारा परिश्रम बेकार गया। क्यों? क्योंकि बौद्धिक विकास से जीवन का अभाव नहीं मिटता है। भीतर सब सूना, सब अंधकार। तो पटना न्दपअमतेपजल का जो डंपद हंजम है उससे मैं बाहर निकल रही थी तो एक बार मैंने पीछे फिर करके विश्वविद्यालय को प्रणाम किया और मैंने कहा कि तुम्हारा कोई दोष नहंी है। तुम तो अपनी जगह हो भई, आबाद रहो। मुझे जो चाहिए था सो नहीं मिला। आ गई।

बौद्धिक विकास से जीवन का अभाव नहीं मिटता है। बौद्धिक विकास से सदा-सदा का असल आधार आदमी को नहीं मिलता हे। क्योंकि बौद्धिक तत्त्व जो है वह भौतिक तत्त्व है। ईश्वर-विश्वास के बल पर जब अलौकिक, ईश्वरीय विभूतियाँ का प्राकट्य अहं रूपी अणु में से होने लगता है तब अपनी असमर्थता का नाश होता है, चिंता और भय का नाश होता है, नीरसता का नाश होता है, तब उस रस को लेकर के व्यक्ति सदा-सदा के लिए निश्चिंत और निर्भय होता है।

बिल्कुल सच्ची बात है और हम सब भाई-बहनों को जीवन के उस मौलिक सत्य में आस्था रखनी चाहिए। नहीं तो आप देखिए ऊँचे से ऊँचे सुख की घड़ियों को भी आपने अनुभव किया है। हरएक भाई-बहन को प्रकृति के मंगलमय विधान से जीवन में अनेक बार अच्छे-अच्छे सुख के अवसर आते हैं और आप ही आकर सुनाते हैं कि उन सुख की घड़ियों में भी अपने को सूझता है कि भाई यह तो आने-जाने वाला है, इसमें तो जीवन नहीं है। तो सदा-सदा के लिए रहने वाला जो है उसको पकड़ना है, यह सूझता है। यह चेतना मानव मात्र को उस परमात्मा ने दी है, इसलिए सूझता है आदमी को। और मैंने तो बड़ी-बड़ी प्रतिकूल घड़ियों में इस चेतना को अपने को थामते हुए देखा है, पाया है। इस आधार पर अपने आत्मीय भाई-बहनों की सेवा में मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि सुख-भरी परिस्थिति है तो क्या और दुःखभरी परिस्थिति है तो क्या? परिस्थितियों को सत्य मत मानो। बड़ा धोखा होगा, अवसर निकल जाएगा, परिस्थितियाँ संसार की संसार में रह जाएँगी और जब सब कुछ छूटने लगेगा तो अपने को अकेला और निराधार पा करके बड़ी बुरी दशा हो जाएगी।

परमात्मा ने अथवा हमारे रचयिता ने जिन्होंने हम लोगों को बनाया है वह इस दुनिया में आ करके निराधार होकर के हाय-हाय करके जीने के लिए और हाय-हायकरके मरने के लिए नहीं बनाया है। जो ईश्वरत्व जो ईश्वरीय विभूतियाँ सामर्थ्य के रूप में, शाति के रूप में, ज्ञान के प्रकाश के रूप में और प्रेम के रस के रूप में हमारे ही अहं रूपी अणु में से प्रकट होने वाली हैं, उन आलौकिक तत्त्वों को प्रकट होने देना हमारा-आपका वर्तमान का परम पुरुषार्थ है। कभी-कभी तो इतना आनन्द आ जाता है मुझे, किसी-किसी सन्त के चरित्र को देख करके कि कैसे सीमित व्यक्तित्व के भीतर जब ईश्वरीय विभूतियाँ प्रकट होने लगती है तो इतनी सामर्थ्य आ जाती है कि साधक स्वयं नहीं सोचे सकता है यह सब कैसे हुआ? यह सब कहाँ से आया? यह सब किसने दिया?

रमण महर्षि जी के जीवन की एक घटना मैंने सुनी। वह तो अहं-शून्य अनन्त तत्त्व से मिले हुए महात्मा थे। बैठे रहते थे। गुमसुम, चुपचाप। बोलते बहुत कम थे। किसी दुखी परिवार ने आ करके सुनाया दुखी परिवार सन्तों के पास आता है तो अपना दुखड़ा ही सुनाना पसंद करता है। स्वामी जी महाराज के पास कोई-कोई आ करके सुनाया, महाराज यह झंझट हो गया यह झंझट हो गया। कहीं आर्थिक संकट है, कहीं लड़कियों के विवाह-शादी का झंझट है, कहीं कुछ, कहीं कुछ। तो पहले तो महाराज खूब हँसते और कहते, भले आदमी, साधु संत के पास जा करके मुक्ति, भक्ति माँगनी चाहिए कि फकीरों के पास आ करके धन माँगते हो। तो पहले तो खूब हँस देते कि तुमने भी क्या सोचा है? अरे रंगे फकीर के पास आ करके तुम धन की बात करते हो। क्या बात है भई? ऐसा

कह कहर हँस देते। भई साधु-सन्तों के पास जाओ तो मुक्ति, भक्ति की चर्चा करो वहाँ आकर भी तुम वही दुनिया का बखेड़ा ले आए हमारे पास। रमण महर्षि के पास, मैंने सुना उनके पास भी ऐसे ही लोग आते थे दुखड़ा सुनाने के लिए। तो एक पति-पत्नी आए उनकी 12 वर्ष की लड़की बीमार थी उसकी हालत बहुत खराब थी। सूचना आई, कि उसकी हाल बहुत खराब है, जल्दी वापिस जाओ। तो माता-पिता ने संत को प्रणाम किया और कहा कि महाराज ऐसी-ऐसी हालात है। तो सब लोग जानते थे कि इनका आशीर्वाद हो जाए तो ठीक हो जाए यह सब बहुत तरह की बातें रहती हैं। तो सुन लिया, कोई उत्तर नहीं दिया। वे लोग तो व्याकुल है वापिस जाने के लिए, जल्दी जाएँ लड़की की हालत खराब है, जाकर देखें तो फिर दोहरा कर कहा कि ऐसी-ऐसी हालत है। फिर महर्षि ने कोई उत्तर नहीं दिया और उनकी व्याकुलता और बढ़ती जा रही है। तो आस-पास में बैठे हुए संत के जो भक्त होते हैं वह कुछ अपना तीन-पाँच लगाते हैं। तो एक उनका भक्त आगे बढ़कर कहने लगा महर्षि, इन लोगों का ऐसा-ऐसा हाल है इन्होंने आपके सामने अपना दुःख सुनाया है मतलब कि कुछ उत्तर दीजिए। कह दीजिए कि लड़की अच्छी हो जाएगी और क्या? इतना खुल कर उन्होंने नहीं कहा। फिर से याद दिलाई। तो महर्षि ने जब उनके मस्तिष्क पर इतना जोर डाला गया, तब उनके ध्यान में आया तब उन्होंने क्या कहा, कि महर्षि कुछ नहीं जानता है। महर्षि कुछ नहीं कर सकता है। तूने सूना दिया सुनने वाले ने सुन लिया। उसको जो करना होगा करेगा। महर्षि कुछ नहीं जानता है।

अहं-शून्य, अपने में अपना करके कुछ है नहीं। तो जिन संतों का जीवन अहंशून्य हो जाता है उनकी शक्ति परमात्मा की शक्ति से जुट जाती है, तो उधर उनका प्रकाश सीमित व्यक्तित्व के माध्यम से प्रकाशित होता रहता है। उन्हीं का अनन्त प्रेम प्रभु के विश्वासी भक्तों के व्यक्तित्व के माध्यम में से संसार में प्रसारित होता रहता है। तो प्रभु का अनन्त ज्ञान, प्रभु का अनन्त प्रेम, प्रभु की अनन्त सामर्थ्य, प्रभु की अनन्त शांति यह सब भक्तों और संतों के व्यक्तित्व के माध्यम से संसार में प्रसारित होता रहता है, बढ़ता रहता है, बँटता रहताहै, फैलता रहता है। स्वयं वे आन्नदित रहते हैं और उनके नजदीक आने वाले उनके सम्पर्क में आने वालों को भी आनन्द की लहरियों का स्पर्श होता रहता है, जो जीवन को बदलता रहता है।

स्वामी जी महाराज कभी-कभी व्याख्यान के द्वारा, जो सत्संग की विधि है, कभी-कभी उनका जी बड़ा फट जाता, खिन्न हो जाता तो कहते देवकी जी, आज उपदेष्टा, गुरु की आवश्यकता नहीं है। संसार में उपदेड्डा गुरु की जरूरत नहीं है। आदमी इतना दुर्बल हो चुका है। अपनी ही भूलों से, आदमी आज इतना शक्तिहीन हो चुका है कि आज तो ऐसा गुरु चाहिए, प्रभु के प्रकाश और उस अनन्त के प्रेम से भरा हुआ ऐसा गुरु चाहिए कि जिसके सम्पर्क में आने से ही साधकों की सब दुर्बलताओं का नाश हो जाए। आज उपदेड्डा गुरु की जरूरत नहीं है क्यों? क्योंकि उपदेश को सुनकर, सच्ची बातों को सुनकर उसको ग्रहण कर लेना और उस पर आचरण कर लेना इस प्रकार की सामर्थ्य ही आज भाई-बहनों की कम हो गई, घट गई। तो मैं कभी-कभी बोलती। महाराज जी जब बैठे होते तो और भी निर्भीक होकर के उत्साह में भरके उनकी उपस्थिति से अपने जीवन का स्तर कुछ ज्यादा ऊँचा लगता था। जितना निर्विकार नहीं हो गया है,

उससे अधिक निर्विकारता मालूम होती थी। उनके पास बैठे रहो तो ऐसा लगता था कि मेरी तो सब समस्या खत्म हो गई। ऐसा लगता था।

मैं अलौकिक जीवन में हूँ ऐसा अपने को भास होता रहता था। तो बड़ी जोर से ओर जोश में आ करके स्वामी जी की बातों को मैं दोहराया करती और दोहराते-दोहराते कभी-कभी श्रोताओं पर दृड्डि जाती जैसे कि ब्सं ेे में पढ़ाने की आदत तो पढ़ाते समय लड़कियों की आँखें हम देखा करते थे कि देखें ये लोग समझ रही हैं कि नहीं, देखें ये लोग पकड़ रही हैं कि नहीं। शुरु-शुरु में ऐसे ही सत्संग में भी बैठ करके मैं श्रोताओं को देखा करती। कि देखे यह मैं इतनी ऊँची-ऊची बात बोल रही हूँ, सुनने वालों की पकड़ में आती है कि नहीं। और जब ऐसा लगता कि यह सारी चर्चा तो ऊपर-ऊपर हवा में जा रही हैं, श्रोताओं को पकड़ नहीं आ रही हैं, उनकी आँखों में चमक नहीं दिखाई देती है, उनकी मुखाकृति में प्रसन्नता का मगचतमे ेपवद नहीं आ रहा है ऐसा लगता तो मेरा उत्साह थोड़ा-सा ठण्डा हो जाता है।

तो बाद में मैं सुनाती महाराज से। तो महाराज जी कहते तुम ऐसा क्यों करती हो। देखकर क्यों बोलती हो। मैं तो नहीं देख कर बोलता हूँ? तुम श्रोताओं को देखकरके क्यों बोलती हो? और पीठ ठोक कर कहते बेटा बोले ही जाओ जितने ऊँचे ैजंदकंतक से बोलने का तुम्हारा जी हो सब बोल जाओ। डरने की कोई बात नहीं है। जो उसका अधिकारी है, वह तो ग्रहण कर ही लेगा, वह तो सँभाल ही लेगा और फिर कहते-कहते कह जाते कि देवकी जी, आज उपदेड्ढ गुरु की आवश्यकता नहीं है संसार में। आदमी इतना निर्बल हो गया है, इतना थकित हो गया है कि आज तो वैसा गुरु चाहिए, जिसके सम्पर्क मात्र से श्रोताओं की सब निर्बलता खत्म हो जाए। ऐसा होता है। नहीं होता है, सो बात नहीं है।

दक्षिण भारत में चिनम्मा करके एक बहुत ही विवेकवती महिला, जब शरीरों की असंगता में मस्त हो गई तो न घर-बाहर का ध्यान रहा न कपड़ों का ध्यान रहा, न शरीर का ध्यान रहा, नंग धड़ंग जंगल में पड़ी रहती थी। दक्षिण के एक संत उनसे मिले। मानव सेवा संघ का बहुत काम किया था उन्होंने हैदराबाद में। वे संत मिले तो कह दिया उन्होंने जाओ-जाओ, उत्तर भारतवर्ष के एक प्रज्ञाचक्षु संत जब तुम्हें मिलेंगे, तब तुम्हारा उद्धार होगा। तो वे बेचारे प्रतीक्षा में थे कि उत्तर भारतवर्ष से प्रज्ञाचक्षु संत आएँगे तो मेरा उद्धार होगा। जब स्वामी जी महाराज मिले तो बड़े आनन्दित हो गए, कहने लगे कि मेरे गुरु ने आपकी शरणागति हमको दी थी, महाराज अब हमको सँभालिए। तो वे बताते थे कि चिनम्मा जंगल में नंग घडं़ग पड़ी रहती थी, कुछ पता ही नहीं है कब दिन हो रहा है, कब रात हो रही है। शरीर और संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अपनी निजानन्द में मस्त है। तो लोग जब मिलने के लिए जाते तो पुरुष लोग तो दूर-दूर बैठ जाते क्योंकि स्त्री-शरीर यूँ ही पड़ा है जंगल में जमीन पर, तो दूर-दूर बैठ जाते। स्त्रियाँ जाती तो अपने पास से कोई चादर-वादर कपड़ा-वपड़ा लेकर जाती। उनके बदन पर डाल देतीं और अपनी ही मस्ती में कभी भी उठकर बैठ गईं तो एकदम से उनसे मिलने के लिए, बात के लिए जो लोग गए होते, सबमें बड़ा हर्ष फैल जाता और तभी उनके मुख से निकलता—क्यों आया है? बोल तेरा क्या प्रश्न है? तो अनुभवी, उनके पास जाने वाले अनुभव करने वाले लोगों ने बताया कि माँ के मुँह से निकलता कि बोल तेरा क्या प्रश्न है? उनका पूछना

और साधक के सब प्रश्नों का हल होना एक साथ। जहाँ उन्होंने पूछा कि बोल तेरा क्या दुःख है, तो जो भी दुःख है सब खत्म। ऐसा होता है। तो मैं यह निवेदन कर रही थी कि बाहरी व्यवस्था के आधार पर हम व्यक्तित्व को सँभाल लेंगे यह भूल है,। जब तक संसार में पद-मर्यादा सुख-सुविधा संगी-साथी ये सब रहेंगे तब तक उस अविनाशी जीवन की माँग थोड़ी दबी हुई सी रहती है। और जिस समय पर जब वह माँग जाग्रत होती है तो आप सच मानिए कि विश्वास के आधार पर उस अनन्त परमात्मा की आत्मीयता स्वीकार करने मात्र से अपने ही अहं रूपी अणु में से वे तत्त्व प्रकट होने लगते हैं कि जिनके आधार पर आदमी की आँखों में त्रिभुवन का वैभव धूल हो जाता है, सबका महत्त्व खत्म हो जाता है। कुछ नहीं चाहिए कुछ नहीं चाहिए। किसी चीज का कोई महत्त्व जीवन में नही रह जाता। अगर वे किसी वस्तु को हाथ मे लेते हैं तो जन-कल्याण की भावना से लेते हैं। अगर वे आए हुए साथियों को साथ में रखते भी हैं, तो उनके कल्याण के लिए रखते हैं। और अपने लिए न कोई साथी चाहिए, न कोई सामान चाहिए आँखें खोलकर संसार को देखने की आवश्यकता होती है और न आसन-मुद्रा साधने से अभ्यास की आवश्यकता होती है। तो हृदय का जो भाव है, मैं कैसे कहूँ, मुझसे कहा नहीं जाता। अहं रूपी अणु में जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, उसके प्राकट्य के साथ ही मनुष्य की सब समस्याएँ खत्म हो जाती है। और जब तक उस ज्ञान और प्रेम तत्त्व का विकास नहीं हुआ तब तक सारी तैयारी मिट्टी है। कुछ काम में नहीं आता है, किसी से कुछ काम नहीं बनता है। ऐसा मैंने संत-वाणी में सुना और ऐसा मैंने अपने जीवन के भूतकाल को भी देखा है, सन्त-मिलने से पहले की दशा भी देखी है और, सन्त-मिलन के बाद की दशा भी देखी है। इस आधार पर बड़ी सच्चाई और आत्मीयता के साथ मैं निवेदन करती हूँ कि और ज्यादा इधर उधर भटको मत और बेशी समय अध्ययन में, तैयारी में लगाओं मत। बहुत हो गया बाबा। अपने ही जीवन की घटनाओं का एक-एक पन्ना पढ़ लो, तो उसी से धरती-आसमान तक, यहाँ से वहाँ तक प्रकाश फैल जाएगा, सब कुछ उजाला-उजाला हो जाएगा, सब दिखाई देने लग जाएगा, कि कहाँ क्याहै? जो तो त्याज्य है उसका त्याग करना ही है, जो ग्राह्य है उसको ग्रहण करना ही है, जान बचेगी नहीं। कितना अपने को बहलाते फुसलाते रहो, कुछ होने वाला नहीं है। और किसी भी देश में रहो, किसी भी परिस्थिति में रहो किसी भी नगर में रहो, चाहे जहाँ रहो अगर अपने अन्तर्निहित उस अहंरूपी में अणु में व्याप्त ज्ञान और प्रेम तत्व के विकास पर आपकी दृष्टि चली गई, तो काम हो गया। ज्ञान के प्रकाश में भी बड़ा रस होता है और प्रेम के रस में भी बड़ा प्रकाश होता है। ज्ञानी जन भी प्रेम के रस से सराबोर होते हैं। और प्रेजी जन भी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। क्योंकि ये दोनों ही विभूतियाँ उस अनन्त परमात्मा की है। तो ज्ञान-पंथ के साधक को भी सब कुछ मिलता है और प्रेम-पंथ के साधक को भी सब कुछ मिलता है। और जो पथ अपने को पसंद आए जल्दी-जल्दी पकड़ लो और छोटा-छोटा कदम उठाना हमारा पुरुषार्थ है, आगे बढ़कर मेरी दुर्बल बाँहों को पकड़ लेना, उस परमात्मा का स्वभाव है। अब शांत हो जाओ।

प्रवचन(18)

हम आश्रम में आए हैं तो समय काटने नहीं आए हैं? ठीक है? जी। और आनन्द जी भाई

साहब को मालूम है मंत्री जी हैसियत से कि जब कभी कोई ऐसा आदमी पत्र लिखता है कि हम जितना खर्च लगेगा देंगे और आश्रम में रहेंगे। और वृद्धावस्था है, हमारी सेवा के लिए एक नौकर रख दीजिएगा और एक ठंजीतववउ ंजजंबीमक कमरा हमको दे दीजिएगा। हम बास करना चाहते हैं। ऐसे जो लोग समय बिताने के लिए आश्रम में आने की चर्चा लिखते हैं तो उन लोगों को हम लोग हमेशा हाथ जोड़ करके प्रार्थना करके क्षमा माँग लेते हैं। दूर से देखने में लगता है मानव सेवा संघ का आश्रम है, तो भाई हमारी सेवा करो, रखो। तो बसंपउ तो उसका ठीक ही है मानव सेवा संघ बोर्ड लिख करके तुमने लगाया है बाहर और मैं एक मनुष्य हूँ और दुखी हूँ और हमको समय बिताने के लिए कोई जगह नहीं है रहने के लिए हमारी देखभाल करने के लिए हमारे बेटे-बहू असमर्थ हैं, विदेश में रहते हैं, तो पैसा ले लो और हमको रखो। क्यों? क्योंकि तुमने मानव सेवा संघ लिख रखा है।

अब मैं तो बता रही हूँ आपको इस तरह के प्रश्न भी सामने हम लोगों के आते हैं। कोई-कोई तो यहाँ तक कह डालता है कि आपने मानव सेवा संघ लिखा क्यों? जाने बिना।

यह मैं निवेदन कर रही हूँ कि अभी तक जितने लोग यहाँ आए, स्वामी जी महाराज ने चुन-चुन करके देखे-देख करके खास-खास लोगों को प्रोत्साहन दिया रहने के लिए। तो जो भी यहाँ कोई आया रहने, समय काटने नहीं आया। अधिक संख्या हम लोगों में से ऐसे साधकों की है कि जो इस कारण से नहीं आए कि उनके रहने के लिए कोई जगह नहीं थी। ऐसी असमर्थता से नहीं आए। क्यों भाई? इस कारण से नहीं आए कि रहने के लिए दुनिया में कोई जगह नहीं थी, कि उनको खाना नहीं मिलता था इसलिए नहीं आए। जो भी कोई आया सन्त के प्रभाव से, उनके ज्ञान से, उनके प्रेम से, उनकी सत्प्रेरणा से अपने कल्याण के लिए आया। तो अब यहाँ आकर के हम क्या कर रहे हैं, इस सम्बन्ध में अपनी ओर से मुझे कुछ नहीं कहना है किसी को। उद्देश्य मैंने याद दिला दिया कि हम लोग इसीलिए नहीं आए कि रहने के लिए कोई जगह नहीं थी। और इसलिए नहीं आए कि रोटी का इन्तजाम नहीं था। नंदा भाई जी, खाना नहीं मिल रहा था कानपुर में? तो ऐसी बात नहीं थी? मानव सेवा संघ का आश्रम इसलिए है ही नहीं है, कि जिसको कहीं जगह नहीं मिलती उसको रख दो, जिसको कहीं खाना नहीं मिलता, उसे खाना दे दो। इस किस्म की सेवा की भावना स्वामी जी महाराज की थी नहीं। ऐसा नही है, कि जो लोग इस प्रकार की असमर्थता में पड़े हैं वे सेवा के अधिकारी नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। वे अधिकारी हैं लेकिन हमारी शक्ति सीमित है, हमारी परिस्थिति सीमित है। तो जिस विशेष उद्देश्य से यह आश्रम बनाया गया, उस उद्देश्य के भीतर अपाहिज और असमर्थ और भूखे लोगों को रखने के लिए अभी सुविधा नहीं है। किसी दिन हमारे पास युवक साधकों की इतनी श्रेणी आजाए कि वह समाज के अपाहिज, भूखे व नंगों की सेवा के द्वारा अपनी चित्त-शुद्धि पसंद करें तो हमारे पास जन और धन आ जाए तो हम और आश्रम खोल देंगे और बड़ी जगह लेकर मकान बना देंगे और असमर्थों को रखकर सामर्थ्यवान साधकों से सेवा करवा देंगे। अगर ऐसी परिस्थिति बनेगी तो हम कर सकते हैं। तो सेवा पाने केवे अनधिकारी है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन यह आश्रम तो उन जाग्रत साधकों के लिए बनाया गया, कि जो अपनी असमर्थता के कारण समय काटने नहीं आए, जो

बची-खुची सामर्थ्य लेकर आए कि हम सामर्थ्य का सदुपयोग करेंगे, सेवा करेंगे, और अपने चित्त को शुद्ध करेंगे और मानव जीवन के उद्देश्य को पूरा करेंगे, इसलिए आए। तो पहले से भी जो रह रहे हैं, उनके लिए और आगे भी जो आने वाले हैं उनको रखने में आश्रम के प्रबन्ध को इस विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए। ये चवपदज आप अपने से बना कर लिख लीजिए।

क्या हर एक आदमी मानव नहीं है

हम लोग यह सब क्यों किसी को कहने जाएँगे? क्या जाने किसके भीतर क्या है? अहं तो सबके भीतर है और उस आनन्दमय की ज्योति, प्रेम का बीज तत्त्व तो सबमें हैं। अपनी ओर से हम किसी को नहीं कहेगे तुम मानव नहीं हो। यह हमारा काम नहीं है। अभी तो मैं केवल आश्रम में वास करने वाले लोगों को याद दिला रही हूँ कि यहाँ पर बसने हम लोग क्यों आए? अभी बाहर की बात छोड़ दीजिए, दूसरों की चर्चा। तो एक बात हो गई। अब आगे सैंकड़ों साधक आश्रम में वास करने के लिए आना पसंद करे और पत्र लिखे और बात करे तो सब आश्रम प्रबन्ध के ही चिन्तक और पुराने लोगों को पद और ना पद ऐसी कोई बात नहंी है यह तो सब सेवा के लिए है, तो सब मिलकर इस विषय पर विचार कर लीजिएगा। और जो भी कोई इस दृष्टि से सचेत मालूम हो तो उसको रखना चाहिए। और वह भी जगह की सीमा जब खत्म हो जाएगी तो हम नहीं कर सकेंगे।

गौशाला बन रहा था तो स्वामी जी महाराज ने हम सब लोगों में से बहुत से पूछा। कुछ लोग कहते थे कि ऐसी गौशाला बनाओ जिससे सब गऊओं की सेवा बने। बाल-मन्दिर में बच्चों को रखने की बात हुई तो महाराज जी ने सब लोगों से पूछा कि भई कैसा-कैसा करोगे? तो हम लोगों को मत जानना चाहते थे अलग-अलग तरह से भिन्न-भिन्न प्रकार से लोगों ने मत प्रकट किया। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि देखो गौशाला में बहुत लोगों को ख्याल था और खास तौर से उन भाई का जिन्होंने संकल्प पैदा किया और सबसे पहले धनराशि जुटाई कि भई दूध न देने वाली अपाहिज और ऐसी गऊओं की सेवा करनी चाहिए, जिनकी कोई नहीं करता है, दूध वाली की तो सब लोग करते हैं। तो स्वामी जी महाराज ने यह दृष्टिकोण दिया। क्योंकि उनकी दृष्टि जो है, न उत्थान की तरफ है सब समय। तो महाराज जी ने दृष्टिकोण यह दिया कि देखो, मानव सेवा संघ की गौशाला जो होगी वह अच्छी नस्ल की गायों के विकास के लिए होगी। तो ऐसा नहीं कि उलूल-जलूल जैसे तैसे को लेकर भर दो और कह दो जिनकी सेवा कोई नहीं करता है उनकी हम करेंगे। इसकी कोई मनाही नहीं है, उनकी सेवा भी हो सकती है लेकिन अपना ध्यान तो इस बात की ओर रखना है कि अच्छी नस्त की गायें बढ़ती जाएँ उनकी वृद्धि हो तो हम ऐसा करेंगे। तो आपको याद होगा शुरू-शुरू में हरियाणा से बहुत बड़ी-बड़ी अच्छी गायें व बछड़े खरीदे गए। हम लोग सँभाल नहीं सके अथवा इस ब्सपउंजम में वे लोग पिज नहीं रह सकी यह बात दूसरी है परन्तु प्रयास किया। और बाल मन्दिर में बच्चियों को रखने की चर्चा जब चली थी तो बाल-मन्दिर के खुलने के समय कैसे-कैसे रखना चाहिए, क्या-क्या करना चाहिए तो यह नहीं कि अनाथ लड़कियों को जिनके माता-पिता नहीं है, जिनके पालन करने के लिए नहीं है, ऐसे सब इकट्ठा कर लो सो नहीं। लड़कियों को रखो तो ऐसी-ऐसी पदजमससपहमदज और जाग्रत बुद्धि की लड़कियों को रखो जो कि खास प्रकार का

वायुमण्डल जो हम देना चाहते हैं, उसमें से वे अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। समझ में आया? तो गौशाला खोलने में वह दृष्ठिकोण की अच्छी से अच्छी नस्ल की गायों की वृद्धि हो जाए और बाल-मन्दिर चलाने में वह दृष्ठिकोण कि एक से एक मेधावी लड़कियों को रखो, जो अच्छे संस्कारों से लाभ उठा सकें। तो यह सब उदाहरण मैं दे रही हूँ। और आप सब सभी आश्रमवासी लोग है। सबको इस प्रकार का दृष्ठिकोण कमअमसवच करने में मदद मिलेगी और इसी प्रकार से इस आश्रम में उन जाग्रत साधकों को स्थान दो, जो कि साधना के द्वारा अपनी सफलता की ओर आगे बढ़ने में सचेत हैं। समझ में आ रहा है? एक बात हो गई।

अब आज की जो दशा है, किसकी कैसी दशा है हर भाई-बहन अपने से अपनी जानकारी करें और देखें अपने आप से अपने को और एक मंत्र, जो मुझे सूझ रहा है, वह मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ। अच्छा लगे तोआप लोग अपने पर लागू करके देखिएगा कि प्रातः काल, संध्या-समय, व्यक्तिगत सत्संग के समय एक बात भीतर से सोचकर देखना कि आश्रम में बस करके मैं आश्रम का उपयोग अपने लिए कर रहा हूँ कि अपने जीवन का उपयोग आश्रम की सेवा के लिए कर रहा हूँ यह एक खास बात है। सोचने से भीतर से ऐसा लगता है कि घर-गृहस्थी में रहकर हमने जो किया था कि भाई के साथ अच्छा व्यवहार इसलिए करेंगे कि दुःख में भाई काम आएगा और पैतृक सम्पत्ति है तो उस भाई के घर में उतना खर्चा हो रहा है तो हमारे घर में उतना ही होना चाहिए, उससे कुछ ज्यादा ही होना चाहिए। कम काहे को होगा। तो दो भाई थे, दो जेठानी देवरानी थीं। एक के दो बच्चे थे एक के चार बच्चे थे। तो हर समय उनके घर झंझट रहता था। इनके तो चार बच्चे हैं, इतना खाते हैं तो हमारे दो में उतना खर्च जरूर हो जाना चाहिए। तो यह सब जो हम लोगों ने घर-गृहस्थी में किया। उसी के परिणाम से हमारे लिए जन्म-मरण का बंधन बन गया। राग से भर के, द्वेष से भर के, और कुछ भोग की तृष्णा से भर के हम निश्ंिचतता की साँस ले नहीं सके। निश्चिन्तता से मर नहीं सके और जन्म-मरण के बंधन को काट नहीं सके। अब प्रभु-कृपा से, संत-कृपा से, जीवन के मंगलमय विधान से आश्रम में वास मिलता है। तो हर साधक को यह सोचना चाहिए कि आश्रम में रह करके हम आश्रम को अपने लिए उपयोग कर रहे हैं, आश्रम की सुविधाओं को आश्रम के स्थान को, आश्रम की उदारता को मानव सेवा संघ के सिद्धान्त को हम अपने उपयोग में ला करके घर से अधिक सुविधा और तिममकवउ हम यहाँ उपभोग कर रहे हैं कि साधना की दृष्ठि से मेरे पास जो कुछ है, वह आश्रम में लगा करके अपना चित्त शुद्ध कर रहे हैं। यह एक सोचने की बात है। अगर ऐसा लगता कि दूसरे लोग तो सब तरह से आश्रम का उपयोग कर रहे हैं तो हम ही क्यों पीछे रहें? तो अच्छी बात नहीं है भाई, मानव सेवा संघ की तो उदारता इतनी है कि शासन होता नहीं, कठोरता होगी नहीं, दबाव डाला नहीं जाएगा तो अच्छी बात है तो दूसरे लोग दिख रहे हैं वह तो बैठे-बैठे आलस्य में दिन काट लेते हैं और उन्हें भी खाना-पीना, सोना सब मिल जाता है तो हम परिश्रम करके क्यों खाएँ? हम भी उतने आराम से आलस्य में दिन काट करके, उतनी ही सुविधा लेकर रहेंगे। अगर ऐसा कोई सोचे तो ऐसा सोचना उसका किसी भी प्रकार से कल्याणकारी नहीं होगा। अगर आपको यह बात जँचे, तो प्रातः काल व्यक्तिगत सत्संग के समय

उठते ही ध्यान दीजिएगा और देखिएगा और सोचिएगा कि आश्रम का और मानव सेवा संघ की उदारता का और संत के परिश्रम के परिणाम का उपयोग मैं अपने लिए कर रहा हूँ कि जो कुछ बची-खुची शक्ति ले करके, तमजपतमउमदज के बाद आदमी के पास बचता क्या है, सारी जिंदगी निकल गई, सब परिश्रम किया, सब बाल बच्चों में लगाया परिवार में लगाया, सब उपर्जित किया हुआ धन परिवार वालों को दिया और उसके बाद बची-खुची मामूली सी शक्ति रह गई तो ले करके आश्रम में आए तो ध्यान देना इस बात पर। बची-खुची जो शक्ति ले करके आए, उसका भी उपयोग हम सेवा के लिए, आश्रम के लिए कर रहे हैं कि आश्रम से अधिक से अधिक मदद लेने की सोच रहे हैं। और जहाँ मौका मिले वहाँ ले रहे हैं। और लेने में बाधा पड़े तो क्षुब्ध हो रहे हैं और दूसरों की आलोचना कर रहे हैं, मन ही मन कुढ़ रहे हैं। ऐसा सोचना चाहिए अपने को। मैं किसी व्यक्ति से नहीं कहती हूँ और किसी को आदेश नहीं देती हूँ। आश्रम-वासी साधक हम सब लोग है आश्रम का आश्रय हम लोगों ने इसीलिए लिया है कि भाई, ममता से मुक्त वायुमण्डल में रह करके चित्त को शुद्ध कर सकें। तो चित्त-शुद्धि का उपाय यह है। और यह सोचे कि भई हमको तो मानव सेवा संघ में रहने को मिला है तो हम तो यहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ जाना चाहते हैं, यह करना चाहते हैं, यह करना चाहते हैं तो प्रबन्धक हमको रहने का चमतउपेेपवद दे तो रहें, नहीं,तो आज ही चले जाएँ। यह सूचना मेरे पास आई एक ठहरे हुए साधक के बारे में कि आकर के उन्होंने प्रबन्धिका से यह कहा कि हम ऐसा-ऐसा करना चाहते हैं और अगर आप हमको सुविधा दीजिएगा तो रहेंगे, नहीं तो कल ही चले जाएँगे। ठीक बात है भई, चले जाइए बड़ी खुशी से। तो मैं अन्दाजी बात नहीं कह रही हूँ और किसी व्यक्ति की आलोचना के लिए नहीं कह रही हूँ और कोई मेरी बातों को किस अर्थ में लेगा उससे मैं डरती भी नहीं हूँ वह मुझे डर नहीं है। कोई कैसा उसको रंग देगा कोई कैसा उसको ब्वसवनत देगा, कोई किस प्रकार से पदजमतचतमज करेगा और कैसे उन वचनों को ढूढँ निकालने की चेड्ढा करेगा इससे भी मुझे कोई डर नहीं है। कोई आपने बुला कर बैठाया है कि कहो तो जो मुझे सूझता है मैं कहती हूँ। तो सोचना चाहिए इस ढंग से। एक बात यह हो गई। बस एक ही लाइन। मैं आश्रम का उपयोग कर रहा हूँ कि मैं आश्रम के लिए उपयोगी हो रहा हूँ। दो ही बातें काफी है, अब इस ढंग से सोचना। अगर आश्रम का उपयोग अपने लिए करोगे, अपने संकल्प-पूर्ति के लिए करोगे, जो सेवा करने को हाथ में मिला है, उस सेवा के बदले में बहुत सारा अपना सब ंकअंदजंहम पसंद करोगे तो बंधन और अधिक सुदृढ़ होता चला जाएगा।

आज सवेरे जब इस सभा में आने की बात थी तो मेरे ध्यान में आया। बहुत अच्छी बात सूझी मुझे। राँची में एक स्वराज्य के कार्यकर्त्ता व्यक्ति थे। स्वामी जी महाराज के बहुत प्रेमी हो गए थे पीछे। और आँसुओं से पति-पत्नी रोते थे और कहते थे बापू को जब गोली लगी तो हम लोग अपने को सोचने लगे, कि अनाथ बालक हो गए अब कोई माँ-बाप मिलेगा नहीं। स्वामीजी महाराज को जब से देखा तब से ऐसा लगता है कि बापू फिर हमको देखने के लिए आ गए।

तो उन्होंने अपनी बात का वर्णन किया तो कहा कि चार भाई हम लोग हैं और चारों भाई सयाने हो गए, सबका ब्याह हो गया, सबकी

गृहस्थी बाप ने सजा दी। दुकान-मकान सब दी। व्यापारी वर्ग के हैं तो बाप ने चारों को कर दिया अब। दुकान-दुकान मकान-मकान सब भाइयों को बैठा कर और उसके बाद कहा अब एक पैसा मैं अपना तुम लोगों को नहीं दूँगा। और बहू जो है वह स्वामी जी की बहुत प्रेमी है वह तो हँसती, कहती ससुर ने कहा बहुओं से, सब हीरा, सोना जो कुछ यहाँ रखा था तुम्हारी सास का तुम्हारा दिया हुआ वह सब लाकर हमारे पास इकट्ठा कर दो अब तुम्हारे पतियों को मैंने समर्थ कर दिया। अब वे कमा कर पहनाएँगे सो पहनाएँगे। सावित्री बहन हँसे और कहे कि हमारा मंगल सूत्र भी ससुर ने ले लिया क्यों ले लिया? गांधी जी को देना था स्वराज्य के, देश के काम में लगाना था सब इकट्ठा करके ले लिया और गाँधी जी को दान दे दिया यह सब जाएगा देश की सेवा में और तुम्हारे पति अब कमाएँगे और जो पहनाएँगे सो पहनना, जो खिलाएँगे सो खाना। इस मगजतमउम की चर्चा मैं नहीं करती हूँ।

उस समय देश की हालत ऐसी थी। ऐसी लहर थी एक-एक आदमी रक्त निछावर करने के लिए तैयार थे। फिर सोना हीरा का क्या मूल्य था? तो हमने सोचा कि अपनी कमाई का दुरुपयोग तो कोई करता ही नहीं है। अपनी कमाई का जो पैसा होता है परिश्रम पूर्वक जो कमाता है उसका दुरुपयोग कोई नहीं करता है। जो बाप बहुत सम्पत्ति इकट्ठा कर लेते हैं, उनके लड़के बच्चे नालायक होकर बाप की कमाई का दुरुपयोग करते हैं। वह दुरुपयोग एक सीमा के भीतर सीमित रह जाता है। एक बाप की कमाई चार बेटे नुकसान कर लिया और क्या करेंगे? तो हमारे ध्यान में आया कि संत की सद्भावना, संत का परिश्रम जो भी कुछ कहा जाए, उसका दुरुपयोग हम न करें।

एक उदाहरण मुझे याद है शुद्ध बोध माता जी के सामने की बात है। आश्रम अभी बन ही रहा था। स्वामी जी महाराज कहीं से यात्रा करके आए। हम लोगों ने ठवग को खोला, सँभालने लगे कि भाई सँभाल करके रख दो और स्वामी जी कपड़े-वपड़े जो कुछ देना है दे दो यात्रा के लिए। तो उसमें से कपड़े निकालें हम। पुराने कपड़े का एक टुकड़ाथा, उसके कोन में लाल मिर्च के दो टुकड़े और इतना-सा नमक गाँठ में बाँधा हुआ था। तो डाॅक्टर मदन और हम दोनों कर रहे थे काम। तो मदन तो एकदम रोने लगा एकदम। दीदी पिता जी का हाल देखो दीदी ये नमक और मिर्च बाँध कर लाए है साथ। खूब रोया। तो याद दिलाया मैंने किसलिए? कि यह आश्रम आपके पुरुषार्थ से नहीं चल रहा है। संत के हृदय में एक बड़ी जोरदार भावना थी, कि ऐसा आश्रम हो कि जिसमें साम्प्रदायिकता, मतभेद और यह सब छोड़ करके सचमुच कोई साधक है तो वह रोटी से निश्चिन्त हो करके सत्य की खोज कर सके। इस आश्रम की स्थापना का यह आधार है। यदि सचमुच कोई साधक सत्य से मिलना चाहता है, ईश्वर को मिलना चाहता है, तो उसको भिक्षा करने के लिए चिन्ता न करनी पड़े, शांति से बैठ करके सत्य की खोज कर सके। एक ऐसा इन्तजाम मैं करूँ तो रोटी हो और दूध हो। यह उनके भीतर की कल्पना थी कि ऐसा हो जिसमें कि सचेत साधक जाग्रत हो करके और सत्य की खोज कर सकें इसके लिए उन्होंने यह जुटाया। तो यह आश्रम चल रहा है यहाँ अन्न, जल, वस्त्र और दवा मिल रही है।

तो उस संत, उस प्रभु-प्रेमी की प्रेरणा से मिल रही है, उसकी सद्भावना काम कर रही है। अब कभी जब मेरे सामने ऐसी कोई बात सुनने को आती है कि अन्न का नुकसान हो रहा है कि किसी वस्तु का अपव्यय हो रहा है, कि आश्रम की सामग्री गड़बड़ हो रही है कुछ भी, किसी भी प्रकार से मैं किसी व्यक्ति का नाम नहीं ले रही हूँ। नाम लूँगी नहीं क्योंकि ये सब हमारी सुनी हुई बातें हैं, जानी हुई बातें नहीं है। जानने की जिम्मेदारी यहाँ के रहने वालों पर है। और जो लोग आँख से देखते हैं, उनकी जिम्मेदारी है कि वे अपने को भी सँभाले और साथियों को भी सँभाले। और प्रेम पूर्वक सँभालें, मान-अभिमान बिना सँभाले, बिना लड़ाई किए सँभालें। देखने वालों का काम है।

मेरा काम केवल इतना है कि मैं सुझाव दे दूँ कि तुम साधक हो करके अगर आश्रम की वस्तु को किसी भी प्रकार से बिगाड़ो अथवा आश्रम की वस्तु के बल पर तुम उपकारी और दानी बनो तो इससे तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। नहीं होगा कल्याण। चाहे कितना ध्यान करो चाहे कितना पाठ करो चाहे कितना भजन करो चाहे कितना एकादशी का व्रत करो नहीं होगा कल्याण, एक पैसा भी अगर बिगाड़ते हो, खराब करते हो। जहाँ रहती हूँ मैं, उस जगह पर बहुत से बंद है तो कभी-कभी मुझे दिखता है कि रोटी छत पर पड़ी सूख रही है। तो बंदर तो रसोईघर से बर्तन में से नहीं ले गया होगा। इसलिए नमक मिर्च की बात आज मैंने सबके सामने कह दिया। कहाँ-कहाँ से कुली अगर 14 आने की जगह एक रुपया माँगता है तो त्रिगुणातीत पुरुष, जिनको संसार से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं था, वे 14 आने दिलवाएँगे 16 आने नहीं देंगे 2 आने के लिए बैठ करके, खड़े होकर 10 मिनट कुली से बात करेंगे। तो क्या समझा है हम लोगों ने? तो एक भी आवश्यक पैसा जो खर्च करता है, मैं कहने जा रही थी कि बाप की कमाई सम्पत्ति का अपव्यय करने का उतना दोष नहंी लगता होगा, जितना संत की कमाई का अपव्यय करने का लगेगा। बाप की कमाई को बिगाड़ने में और भाइयों का भी डर रहता है, मार-पीट हो जाएगी, मुकदमा हो जाएगा। झगड़ा-झंझट हो जाएगा मानव सेवा संघ की उदारता में इतना भय नहीं है, तो निर्भयता का यह उपयोग हम लोग करें तो उससे बढ़कर और कोई नुकसान की बात नहीं होगी। तो सो नहीं करना चाहिए, किसी को कभी नहीं करना चाहिए। सार्वजनिक सम्पत्ति जो साधकों की सेवा के लिए आई, उसमें से दान करने का मेरा क्या हक है? उसको दूषित करने का मेरा क्या हक है? उसको अब क्या-क्या मैं कहूँ अपना-अपना सब लोग सोचेंगे। तो दूषित करो तो अपने लिए असाधन की जंजीर कस रहे हो, बाँध रहे हो।

प्रेम करना, सहयोग देना, प्रार्थना करना, दुखी होना पर-पीड़ा से पीड़ित द्रवित हृदय से प्रार्थना करना, परमात्मा को पुकारना। मुकदमा करना और झगड़ा करना यह मैं नहीं कहूँगी।

विधि-विधान मैं किसी को कुछ नहीं बताऊँगी इसलिए कि सबके पास अक्ल है और सबको अपने-अपने कल्याण की चिंता है। इसी से हमारे दिल को बहुत संतोष आ जाता है, धीरज आ जाता है कि हम सब लोग सयाने हैं। अपने-अपने कल्याण की चिंता सबको है। तो सयाने हो, सयानेपन से लाभ उठाओगे तो तुम्हारा विकास हो जाएगा। सयाने होकर के सयानेपन का लाभ नहीं उठाओगे तो कोई नहंी करा सकेगा, यह है। तो जो भी कुछ निकटवर्ती जनसमुदाय के बीच में रहना पड़ा, मैं तो कहती हूँ कि हम लोगों से एक-एक आदमी अगर कड्ढ सह करके भी गलती नहीं

करेंगे, खुद, गलती नहीं करेंगे चाहे कितना भी कङ्ढ हो जाए। केवल इस व्रत के लिए हम लोग तैयार हो जाते हैं, तो वातावरण बदल जाएगा। तो कभी-कभी हम ऐसा सोचने लगतें है कि अरे वाह, आपने उनको नहीं रोका हमको काहे रोक रहे हैं। भीतर से बड़ा दुःख हो जाता है। हमने कहा कि वह गढ्ढे में जा रहा है तो हम भी जाएँ, वह गिर रहा है तो हम भी गिरेंगे। तो यह आदमी का काम नहीं है। दूसरा दुरुपयोग कर रहा है तो हम नहीं भी करेंगे। दूसरा असाधन कर रहा है तो हम क्यों न करें। यह सयानेपन की बात नहीं है। दूसरे जो अच्छाई कर चुके हैं, उनकी अच्छाई से कोई उत्साह नही। दूसरे जो निःस्वार्थ सेवा कर रहे हैं, उनकी निःस्वार्थ सेवा से मैं उत्साह लूँ। दूसरे जो सचेत होकर भजन में, भगत् भक्ति में, शांति में, उदारता में, प्रेम में लगे हुए है तो उनको देखकर के हम इन सब बातों में आगे बढ़ें, उन्नति का तो यह रास्ता है तो दूसरे लोग अच्छाई में क्या-क्या कर रहे हैं, सबमें अच्छाई भी है न, खाली बुराई तो नहीं है। बहुत सी बातों में बहुत सी अच्छाईयाँ आपके पास है तो सब एक-दूसरे की अच्छाई देख-देख कर सीखें, कि उनके बोलने का ढंग कितना अच्छा है, तो हम भी अच्छा बोलें। उनमें दूसरों को मदद करने की कितनी प्रवृत्ति है,तो हम भी मदद करने की सीखें। उनमें थोड़े से अपना निर्वाह करने के लिए कितना अच्छा आदर्श है, तो हम भी वैसा सीखें। तो आखिर इतने लोग इकट्ठे हुए हैं, सब बुराई की खान तो नहीं है। बहुतों में बहुत अच्छाइयाँ हैं। तो हम लोग एक-दूसरे की अच्छाई देख-देख करके आगे बढ़ने को आगे निकले, इसलिए बहुत सोचा तो मेरी समझ में यह आया अपने लिए तो मैंने तय कर लिया है आप भाई-बहनों को भी यहसलाह दी कि जब कभी आश्रम में पारिवारिक गोष्ठी बैठाओ तो किसी को मत कहो कि तुममे क्या बुराई है, और तुम क्या गलती कर रहे हो। अपने में क्या बुराई है, हर साधक जानता है। तो सबके प्रति प्रेम रखो, सद्भाव रखो, सबका कल्याण मनाओ और मना करने की जरूरत पड़े तो खूब प्रेम पूर्वक, खूब आत्मीयता से मना करो और इतने बल से मना करो कि भई यह गलत काम तो आपको करने ही नहीं देंगे, क्योंकि आप मेरे भाई है, आप मेरी बहन है, आप मेरी माता है।

एक बार ऐसी कोई बात हो गई थी। एक महिला जो स्वामी जी की शरण में आ गई थीं, रह रही थी यहाँ तो उसके पति लेने आए। ऐसे कुछ पारिवारिक खटपट हो गया था, तो वह महिला जाना नहीं चाहती थी। तो स्वामी जी ने कहा था कि हम यहाँ रख कर जा रहे हैं। और जब तक हम आएँगे तक तक इसको यहाँ रखना, फिर परिवार के लोगों से बातचीत करके इसको यहाँ से विदा करेंगे। तो उसके पति आ गए पीछे ही और कहने लगे कि हम ले जाएँगे। तो वह कह रही थी हम अभी नहीं जाएँगे। स्वामी जी कह के गए हैं ऐसा वे आएँगे जब जाऊँगी तो पति में इतना उतावलापन था कि उन्होंने जबरदस्ती कहा कि नहीं तुमको जाना ही पड़ेगा। और जोर डाल कर ले गए। तो स्वामी जी महाराज आए, तो बड़ी माता जी थी और लोग भी थे। खूब गुस्सा हुए कहने लगे महिलाओं का आश्रम और महिला जिन्हें रखके गया था उनके जाने की तो बात ही नहीं थी। तो शुद्धबोध माता जी से उन्होंने कहा 'ऐसा कैसे हुआ कि तुम्हारे देखते-देखते वह ले गया, तुम रास्ते में लेट क्यों नहीं गई? तुम्हारे जिंदा रहते-रहते यह काम हो कैसे गया? तुमको रोकना चाहिए था, नहीं भेजना चाहिए था।' और बहुत कुछ बातें बताईं,

सब कुछ कथा कहने की जरूरत नहीं है। तो इतना मैं कहती हूँ कि भूल करने वाले को देखकर भूल करना यह मेरा धर्म नहीं है, अच्छाई करने वाले साधकों को देखकर अच्छाई सीखना यह अपने लिए कल्याण की बात है। तो सबके पास कुछ न कुछ अच्छाई है। अच्छाई को देखते जाइए, अच्छाई सीखते जाइए, अच्छाई का अनुसरण करते जाइए और अपनी बुराई आप देखिए और दुखी हो जाइए और सभी भाई-बहनों का कल्याण मनाना चाहिए। आपकी दृष्टि में अगर कोई बहुत ही गलत साधक दिखाई देता हो, तो भी आपके हृदय में उसके लिए बड़ी गहरी पीड़ा होनी चाहिए कि हे भगवान् इसे सद्‌बुद्धि दे दो, यह सँभल जाए। मैंने खूब सोचकर देखा कि यह अपने लिए बड़ा नुकसानदेह है कि हम साधकों की शक्लें देख-देखकर उसके बारे में सोचते रहें। बहुत नुकसान-देहबात हो गई और जैसे-जैसे हम उसको बुरा कहेंगे अपने में सद्‌गुणों का अभिमान बढ़ता रहेगा। यह तो इतना गलत करने वाला है, मैंने तो ऐसा नहीं किया। इसमें त्रुटि है हमने तो ऐसा नहीं किया। तो दूसरों की बुराई देखते-देखते अपना ही मामला चैपट हुआ है। तब मैंने सोचा कि तब क्या करना चाहिए? तो महाराज जी की वाणी में से ढूँढ करके यह रास्ता मैंने निकाला कि हम किसी को कहेंगे नहीं कि तुम्हारे में यह बुराई है। हम नहीं कहेंगे कि भैया, बुराई-रहित होने के लिए इस आश्रम में आए हो यह साधन-धाम तुम्हें पवित्र करने के लिए है, यह संत-धाम तुमको सत्य और परमात्मा तक पहुँचाने के लिए है। अगर यहाँ बैठ करके अपनी बुराई को बढ़ावा देते हो, तो मैं कहती हू, कि गृहस्थी में रहकर बुराई करने से जितना नुकसान होता था, इस संत-धाम में बैठ करके उसका सहस्त्रगुणा अधिक भार अपने पर लग जाएगा। तो हम अपने को सँभालेंगे तो मानव सेवा संघ पर अहसान नहीं करेंगे। हाँ, थोड़ा काम करेंगे तो आश्रम पर अहसान नहीं करेंगे, कि इतने बड़ा काम किया है, अपने को सँभाला है। हम तो कहते हैं कि संत ने ऐसा अवसर बना दिया कि बची-खुची पूँजी भी तुम अर्पण करो तो उतना ही देने में वहीं जीवन मिलेगा, जिन्होंने जन्म से ही समर्पण किया हो।

बड़ा मंगलकारी विधान है। इन सब बातों को तुम सब लोगों को ध्यान में रखना चाहिए और किसी की बुराई को कहने से कोई लाभ नहीं होगा। प्यार पूर्वक सँभाल करके चलना चाहिए और अपने साधना की चेतना बढ़ गई तो अपने आप से ही सब त्रुटियाँ खत्म हो जाएँगी। तो हर समय दूसरों के दोष का उल्लेख करते रहो, यह ऐसा कर रहा है इसने यह ऐसा किया, इतने बिगाड़ दिया यह अपने चित्त को दूषित करना है। और संघ की सम्पत्ति, के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ? हमें धनबाद से टे^न पकड़नी थी और पुरलिया में सत्संग था। हमें एक दिन पहले पुरलिया से शाम के समय बुला लिया। ले आए कार में बैठा करके। भोर में टे^न है तो भोर में इतनी लम्बी यात्रा ठीक नहीं रहेगी आप चलिए तो मै आई। कुछ लोग धनवाद से पुरलिया में आए थे सत्संग में शामिल होने के लिए। एक सज्जन आए मेरे पास बैठे तो 101 रु. उनका देने का उनका मन था और उनकी स्त्री का मन था और ज्यादा दिया जाए, तो उन्होंने कुछ संकेत किया होगा। तो पति-पत्नी आपस में बात कर रहे थे थे। मैं उधर बैठी थी तो पति ने कहा अरे भई तुम बोलो तो कितना देना चाहती हो उतना देंगे, काहे नहीं देंगे। फिर आपस में जैसा उन लोगों ने सलाह की 251 रु. उन्होंने निकाला और निकाल कर हमारे पास लाए तो रख करके

कहने लगे कि माता जी यह आपके लिए मैं दे रहा हूँ तो आप जिस तरह से सेवा-कार्य में लगाना चाहें लगा दीजिए। और हँसकर कहते हैं आपको दिया हुआ पैसा जो है सो बढ़िया से बढ़िया काम में लगेगा। ऐसा कह करके वह आदमी चला गया। हमने कहा इसने तो पुण्य कमा लिया। अब हमारे ऊपर वह भार डाल गया कि अगर उस 251 रुपयों में से एक भी नया पैसा मैं बेईमानी करूँ, इधर-उधर करूँ तो कितना बड़ा अपराध मेरे लिए बनेगा। तो वह आदमी तो बड़ा जबरदस्त काम कर गया। खड़ा हो करके हमारे सामने रख करके चला गया कि माता जी, आपको दिया हुआ बढ़िया काम में लग जाएगा। हँस करके दोनों पति-पत्नी चले गए तो हमारे भीतर ऐसे करंट सा लग गया। हम ने कहा, कि इस आदमी ने भगवान की प्रसन्नता प्राप्त कर ली। तो भई दे दिया, इस विश्वास से दे दिया कि मानव सेवा संघ को दिया हुआ अच्छे काम में लगेगा। अब अगर हम उसमें से एक नया पैसा भी इधर-उधर करें, तो, सोचो हमारे लिए नरक में भी जगह रहेगी? कितनी बुरी बात है?

तो शरीर वैसा ही है जैसा कि पैसा है। शरीर का उपभोग भी पूरी तरह से सेवा के लिए, साधना के लिए होवे तो चित्त शुद्ध होवे। तो महाराज मामूली बात है? जन्म-जन्मातर का इतना जबरदस्त विकारों का प्रभाव, मोह का प्रभाव, लोभ का प्रभाव, काम-क्रोध का प्रभाव बड़े-बड़े)षि-मुनियों का कितने ऊँचे ेजंहम पर जाकर पछाड़ देता है, कोई सहज बात है क्या? तो सहज बात नहीं है और इतना बड़ा पुरुषार्थ करने के लिए अब यह समय जो हम लोगों को मिला हुआ है, खत्म हो जाएगा देखो यह 5 मिनट का समय भी खत्म हो जाएगा। खूब सावधानी रखो। परमात्मा कभी भी नारा नहीं होते हैं। संत-जन कभी भी साथ नहीं छोड़ते हैं।

अरे भई, प्रभु जब हम प्रकार के लिए किए हुए अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार है, तो तुम्हारी क्या हैसियत है कि दस भूल अपने में रखो और दूसरे की एक भूल देखकरके उसको क्षमा करने के लिए हृदय नहीं रखते हो। यह क्या बात है? तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इसमें अपना अहं बढ़ता है, अभिमान बढ़ता है, अपना कल्याण नहीं होता है। हो सकता है, महाराज जी की वाणी है तो हो सकता है जिसने भूल की, उसके भीतर पश्चाताप की आग जल उठे तो तुम्हारे से पहले पवित्र हो करके परमात्मा के पास पहुँच जाएगा और तुमका उसकी भूल देखकर अभिमान लिए बैठे रहोगे तो पीछे रह जाओगे। तो हम लोग सब अभिमान गलाने आए हैं और दूसरे को देख-देख करके उनके सद्गुणों का अनुसरण करने आए हैं, अपना कल्याण करने आए है और जो कुछ लाए है अपने पास जो बचा-खुचा रह गया है, उसके द्वारा सेवा करके अपने को शुद्ध करने आए है, बस आज तो इतनी बात कह कर बस करती हूँ। और जो भी कहा मैंने, उसकी कोई भी बात किसी भाई-बहन को अच्छी न लगी हो, तो मैं हृदय से क्षमा माँगती हूँ। हित-भावना से ही मैंने कहा, जो कहा है। और कोई बात आप लोगों को नापसंद आई हो, तो उस पर ध्यान मत दीजिएगा, मेरी भूल कहकर उसको छोड़ दीजिएगा। और अपना कल्याण जिसमें लगे सो कीजिएगा। सब मिल करके सबके प्रति सद्भाव रखो हे प्रभु हम सब भाई-बहनों को सद्बुद्धि दीजिए। हे प्रभु हमह सब भाई-बहनों को सन्मार्ग पर चलने की शक्ति दीजिए। हे स्वामी जी महाराज, आपने प्रभु के समर्पित किया है तो हे महाराज, हम सब लोगों को

उसके योग्य बनाइए। वे अपना प्रेम-रस छोटे-छोटे पात्र में भी भर दें ऐसी प्रार्थना करते रहो। जिस पर दृष्टि पड़े, उसकी भूल को मत याद करो, उसके कल्याण को लेकर के उसके लिए भी प्रार्थना करो। जिस पर दृष्टि पड़े, तुम्हारे मत को मानता है कि नहीं, तुम्हारे पक्ष में बोलता है कि नहीं, तुम्हारी भलाई-बुराई सबका समर्थन करता है कि नहीं, तुमको सहयोग देता है कि नहंी, तुम्हारे काम आता है कि नहीं, मत सोचना। सब साधक है, सब प्रभु के हैं सब स्वामी जी महाराज के हैं, सबको अपना कल्याण अभीष्ट है। हे प्रभु! सबका कल्याण करो, हे प्रभु! सबका कल्याण करो। अब इसी प्रार्थना, इसी भाव को लेकर के थोड़ी देर शांत हो जाओ।

प्रवचन(19)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

दायित्व पूरा कर देंगे, माँग पूरी हो जाएगी, ऐसा मानव-जीवन का सत्य है, इस सत्य में आस्था हो जाने पर दायित्व पूरा करने की तत्परता मानव जीवन में बढ़ जाती है। जैसे-जैसे मैं महाराज जी की वाणी अभी सुन रही थी, मेरे ध्यान में आ रहा था कि योगवित होना, तत्त्व वित होना और भागवत् भक्त होना, ये बातें हम सभी भाई-बहनों को स्वभाव से पसंद है। ऐसा हम सब लोग होना चाहते हैं। क्या कारण है कि सत्संग सुनने वाले भाई-बहनों में से कुछ लोग इस दिशा में बड़ी जल्दी आगे बढ़े जाते हैं, ऐसा दिखाई देता है, ऐसा हम लोगों को मालूम होता है। और अपनी ओर देखो तो विकास के क्रम में कुछ शिथिलता दिखाई देती है। तो ऐसा क्यों होता है?

ऐसा मैं सोचती हूँ, स्वामी जी महाराज ने एक महिला साधक के सम्बन्ध में बताया कि किसी सन्त का बड़ा प्रभाव हो गया उनके जीवन पर, तो बड़ी श्रद्धा-भक्ति उपज गई उनके प्रति। वे लोग किसी नदी के किनारे-किनारे कहीं जा रहे थे। तो महिला ने हाथ में बहुत मोटे-मोटे सोने के कड़े पहने हुए थे। कुछ दूर चलते-चलते यह पता नहीं सन्त के जी में क्या करेगी यह सोना पहन के, तो महिला ने कहा क्या करूँ महाराज, कोई खास बात नहीं है। तो निकाल के डाल दे जल में। तो उन्होंने दोनों हाथों में से निकाला और जल में डाल दिया। कोई बात नही, चली जा रही हैं अपना। कुछ दूर तक जाने के बाद संत ने उस देवी से पूछा, सोने के कड़ों का कोई ध्यान तो नहीं आ रहा है। तुमको? तो उन्होंने कहा नहीं महाराज, हमको तो कोई ध्यान नहीं आ रहा। संत ने कहा कि भाई हमको तो ध्यान में आ रहा है, तुमसे डलवा दिए मैंने। तो बोली कि आप अपने पर इसकी जिम्मेदारी ले रहे हैं। तो आपको लग रहा है, महाराज, हमें नहीं लग रहा है। ऐसा उत्तर दिया उन्होंने। उनको तो ध्यान हीं आ रहा है। तो हृदय में एक उच्चता होती है, जैसा मैंने संतवाणी में सुना। जीवन में पहले से एक तैयारी होती है, जिसके प्रभाव से संत की वाणी सुनो, गुरु के वाक्य सुनो, ग्रन्थ के वाक्यों को पकड़ो तो जिस समय जो कुछ सुनने-समझने में आया, उसका बड़ा असर हो जाता है अपने पर। बड़ा गहरा असर हो जाता है अपने पर। और अगर इस प्रकार की तैयारी नहीं है, तो सोचते-सोचते, समझते-समझते, कोशिश करते करते धीरे-धीरे विकास होता रहता है।

एक सज्जन अभी जीवित है, करीब 30-35 वर्ष पहले की बात है। धन कमाने का उनका

रोजगार था। और अच्छा रोजगार था और उसे छोड़कर स्वावलम्बी होकर, स्वावलम्बी इस अर्थ में कि नौकर चाकर से काम नहीं लेंगे तो खुद ही अपना कमरा साफ करेंगे, खुद ही अपने कपड़े धोएँगे, खुद ही अपने खाए हुए बर्तन धोएँगे, सफाई रखेंगे, बिस्तर बनाएँगे। तो पैसा वाला होने के कारण से बहुत आराम से उनकी रहने की आदत थी और एकदम से उन्हें धुन लगी तो सब कुछ एक साथ छोड़ दिया और बहुत ही सावधानी से साधना में लग गए। उनके सम्बन्धी मुझको बता रहे थे कि इस बार जब मैंने स्वामी जी महाराज को बताया कि बड़ा ही त्यागमय जीवन हो गया है और ऐसे-ऐसे उन्होंने रहना आरम्भ कर दिया है और सब समय वह अपनी साधना में लगे रहते हैं। ऐसा मन प्रसन्न हो करके स्वामी जी महाराज को बताया। तो स्वामी जी महाराज ने सुना अपने दिल से जानते होंगे अथवा अन्तर्यामी रूप से उनकी साधकों के जीवन का चित्र उनको दिखता ही रहता था। उस दिन भी वह बता रहे थे कि स्वामी जी महाराज सुन करके गम्भीर हो गए और थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा कि भैया मैं क्या बताऊँ वह आदमी अपनी साधना में बल का प्रयोग कर रहा है। यानि अपने से लड़ रहा है, ऐसा उन्होंने कहा। तो उस समय यह बात समझ में किसी के नहीं आई। क्योंकि सभी नाते-रिश्ते, कुटुम्बी, अपने-पराए सभी लोग उनके रहन-सहन से एवं त्याग से एकदम प्रभावित हो गए थे। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि भैया, बल का प्रयोग कर रहा है, वह लड़ रहा है अपने से। सुन लिया उन्होंने, चुपचाप रहे, कोई बात ही नहीं है।

बहुत लम्बा समय निकल जाने के बाद उन साधक सज्जन के जीवन भीतर से सरसता नहीं उपजी होगी, ऐसा हम लोग अब अनुमान लगाते हैं। तो बड़ी खिन्नता है, बड़ा क्षोभ है, बड़ी उदासी है और निकटवर्ती कुटुम्बी जनों की ओर से। उन्होंने जिन के प्रति जीवन में बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं इनको ऐसा करना चाहिए, मेरे लिए इनको ऐसा करना चाहिए मेरे लिए। यह सब अब पैदा हो गया तो सुना मैंने सब समाचार तो भीतर-भीतर एक चिंतन पैदा हो गया मेरे, मैंने सोचा कि प्रौढ़ अवस्था में, युवावस्था के बाद की बात है, जब शरीर हर प्रकार से हड्ड-पुड्ड है और बहुत अच्छी तरह से परिश्रम कर सकता है आदमी तो। यह क्या उनके स्वास्थ्य की अनुकूलता थी, कि उन्होंने संसारियों से किसी से भी मदद लेना, एकदम से बन्द कर दिया। और बिल्कुल अपने आप को सँभालने लगे, करने लगे, देखने लगे। तो यह त्याग का बल था कि शारीरिक स्वास्थ्य की अनुकूलता का बल था, ऐसा मैं सोचने लगी। फिर मैं सोचने लगी, कि क्या जाने अपने साथ भी कहीं ऐसा न हो कि शारीरिक असमर्थता की घड़ी में दूसरों के प्रति बहुत प्रकार की आशाएँ जाग्रत हो जाएँ कि इनको ऐसा करना चाहिए मेरे साथ, इनको ऐसा करना चाहिए मेरे साथ। ऐसा मैं सोचने लगी फिर मेरे ध्यान में आया। अब दोनों तरह की बातें रख रही हूँ मैं आपके सामने। एक वह साधक जिसके जीवन में इतनी तैयारी थी कि संत के कहने से उन्होंने, महिलाओं को सोना, हीरा का शौक भी रहता है और महत्त्व भी रहता है, तो उन्होंने संत के कहने से एक सेकण्ड के लिए भी सोचा नहीं और सब उतार कर डाल दिया गंगा जी में। उसके बाद उनके मन में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं आया उसके बारे में। एक यह दृश्य और दूसरा यह कि सब कुछ करने के बाद लम्बी अवधि बीत गई उस रहन-सहन में और फिर पुरानी सारी वे बातें लौट करके आ गई, कि अमुक समय पर मेरा

अमुक यह सब काम होना ही चाहिए। और नाते-रिश्ते, अपने-पराए, नौकर-चाकर सबको हमारे पर ध्यान देना ही चाहिए। ये सारी बातें फिर दोहरा कर आ गई। और मंगलमय प्रभु का ऐसा विधान है कि सब कुछ रहते हुए भी अब किसी का जी ही नहीं होता है, कि उनकी बहुत अच्छी सेवा की जाए। सब सुविधाएँ हैं, ऐसा नहीं है कि किसी विशेष परिस्थिति की प्रतिकूलता आ गई सो नहीं है। लेकिन जिन लोगों ने मुझे बताया उन लोगों की बात को ध्यान में रखकर मैं कह रही हूँ। अब असली बात मैं क्या कहना चाहती हूँ, जो अपने लिए और आप सब भाई-बहनों के लिए आवश्यक है, वह मै ंअब कहने जा रही हूँ। क्या है? जैसा यह उदाहरण सामने आया कि जब चारों ओर उनका जयकार हो रहा था उस गृहस्थ साधक का गृहत्याग के समय, तो स्वामी जी महाराज ने यह वाक्य कह दिया, कि भैया वह तो बल का प्रयोग कर रहा है। लड़ रहा है अपने से। यह बात बहुत अच्छी नहीं निकली। बल का प्रयोग करके, अपने पर दबाव डाल करके और त्यागमय जीवन की नकल करना, कि ऐसा होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए, यह बात भी बहुत उपयोगी सिद्ध नहंी हुई। आगे चलकर वे सज्जन बहुत तकलीफ में पड़ गए। और भी इस बार 2-4 गृहस्थों के बारे में इस तरह का समाचार मुझे सुनने को मिला। चारों की कहानी नहीं बता करके एक ही दो में खत्म कर रही हूँ मैं। आगे हम लोगों को अपने बारे में सोचना है। तो अभी मेरे ध्यान में आया कि घर-गृहस्थी में रहते हुए, समाज में रहते हुए, जन समाज से सम्पर्क रखते हुए यदि हम लोग आई हुई अनुकूलता को दुखी जनों की सेवा में लगा करके, अपने चित्त को शुद्ध और शांत नहीं कर लेंगे, तो योगवित होना, तत्त्ववित होना, भगवत्-भक्त होना तीनों ही उद्देश्य हमारे अपूर्ण रह जाएँगे। यह खास बात मेरे ध्यान में आई।

स्वामी जी महाराज यह तो कभी कहते ही नहीं है अपनी ओर से कि इतनी देर बैठ करके नाम लेना, कि इतनी देर बैठ करके जप करना कि इतने तीर्थाटन करके आओ कि इतने दिन उपवास करो, ऐसा तो उन्होंने कभी नहीं कहा। यह नहीं है कि जप, तप, उपवास, व्रत इत्यादि को बुरा माना जा रहा है, कि खण्डन किया जा रहा है, सो बात नहीं है। लेकिन स्वामी जी महाराज ने मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाकर, अशुद्धि मिटा कर, उसको शुद्ध करके, उस सीमित व्यक्तित्व के मोह से मुक्त करके योगवित्, तत्त्ववित्, भगवत-भक्त होने के जो मूल उपाय हैं, वे हम लोेगों के सामने रख दिए। और ये सब जो है बाहरी क्रिया-कलाप आदि ये सब सहयोगी हैं लेकिन किसके जीवन में यह सजीव होते हैं? जिन्होंने उस मूल उपाय को कर लिया है। उसके द्वारा ध्यान, जप, पूूजा, व्रत जो भी कुछ किया जाता है, यह सजीव होता है, इन सबका अच्छा फल निकलता है। और वह मूल उपाय जिसने नहीं किया है उसके लिए यह सब इतने लाभदायक सिद्ध नहीं होते हैं। कभी-कभी मैंने ऐसा सुना संतवाणी में कि यह कालान्तर में जाकर फलित होते हैं। तो उस मूल उपाय का ध्यान दीजिए।

मनुष्य के जीवन में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, साधना के पथ पर आगे बढ़ाने वाली। एक तो है वह, जिससे आदमी को प्रकाश मिलता है, कि क्या अच्छा है क्या बुरा है? क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए? किस तरह से चलना चाहिए, किस तरह से नहीं चलना चाहिए। इस बात का एक निर्णयात्मक प्रकाश हर एक व्यक्ति को मिलता है। वह प्रकाश क्या है? वह

प्रकाश जो है वह जीवन दाता का दिया हुआ मार्ग दर्शक है वह हमारी उपज नहीं है, वह मिला हुआ है। किसको मिला हुआ है? मानव मात्र को मिला हुआ है। ऐसा वह एक प्रकाश है, जिसमें कि व्यक्ति को सही रास्ते पर चलने का ज्ञान, निर्णय मिलता है। यह तो एक जीवनदाता, जन्मदाता का दिया हुआ प्रकाश है जो कि सबमें सदा के लिए विद्यमान रहता ही है।

दूसरी एक शक्ति और है मनुष्य के भीतर। मनोविज्ञान वाले उसको लिबिग्नल फोर्स कहते हैं सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति। अनुवाद करके हिन्दी शब्द बनाए गए हैं, लेकिन मुझे ठीक जँचते नहीं। किसी ने ऊर्जा कहा, किसी ने और कुछ कहा तो मैं अपने को समझाने के लिए और जिस तरह से मेरी समझ में आया उसी तरह से आपको बतलाने के लिए जीवनी-शक्ति कहती हूँ, भाव-पक्ष की प्रबलता। वह एक शक्ति मनुष्य में होती है, जिस शक्ति का काम है कि आपको विवेक के प्रकाश में जैसा दिखाई दे रहा है। उस पर आप चल पड़े। तो दो बातें हुई न, एक से दिख रहा है कि यह सही रास्ता है और एक शक्ति आपको मदद दे रही है, कि इस पर चल पड़ो। तो जिन लोगों में यह विवेक का प्रकाश और हृदयशीलता के आधार पर, उस प्रकाश में चलने की शक्ति दोनों का विकास साथ-साथ होता रहता है, उनको देर नहीं लगती है। ग्रन्थ में से पढ़ लिया तो क्या? सन्तों के मुख से सुन लिया तो क्या? और किसी के प्रति-श्रद्धा भक्ति है तो गुरु बना लिया और उसके मुख से सुन लिया तो क्या है?

चाहे जैसे हो उसके अपने जन्म-जात प्राप्त विवेक के प्रकाश में जो सही बात जँच जाती है, उसके अनुसार चलने में उसको देर भी नहीं लगती, दिक्कत भी नहीं होती। और जिन साधकों में यह लिबिग्नल फोर्स जिसको कहते हैं जीवनी-शक्ति जिसको कहते हैं, यह हृदयशीलता भाव-पक्ष की प्रबलता जिसको कहते हैं यह अंश कम विकसित है, ऐसा न कह करके मैं ऐसा कहूँ, कि अधिक कुण्ठित हो गया है। उनको सुने हुए, समझे हुए मार्ग पर चलने में देर लगती है। दिखाई देता है और चला नहीं जाता। ऐसा कभी आपने अनुभव किया है? जी। रोज होता है। क्या होता है? भला कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो योगवित हो करके उस अविनाशी से अविनाशी योग हो जाने के बाद का जो आनन्द है उस आनन्द को पसंद नहीं करेगा? कौन ऐसा मनुष्य होगा कि मरणशील शरीर के रहते-रहते उस अविनाशी जीवन से अभिन्न होकर, अखण्ड आनन्द में निवास करना पसंद नहीं करेगा। कौन ऐसा आदमी होगा, जो जीवन भर की नीरसता से जला हुआ, तड़पता हुआ अनन्त माधुर्यवान के आजस्त्र प्रेम-रस की धारा से अपने को आप्लावित करना पसंद नहीं करेगा? ऐसा तो नहीं लगता, कि कोई होगा। ऐसा ही लगता है कि अगर वह मनुष्य है तो योगवित होना, तत्त्ववित होना, भगवत्-भक्त होना अवश्य पसंद करता है। उसमें सब भाई-बहनों की गितनी है। है कि नहीं है? है। हम सब लोगों की गिनती है उसमें। अब इसके आगे आप सोच करके देखिए कि योग वित होने का, तत्त्ववित होने का, भगवत-भक्त होने का जो मौलिक उपाय है वह क्या है? बाहरी विधि-विधान और साम्प्रदायिक अनुष्ठान और मत विचार पंथ आदि के भेद को पार करके सार्वभौम सत्य जो सबके सामने स्वामी जी महाराज ने रखा, उस रूप में योगवित होने का, तत्त्ववित होने का भगवत्-भक्त होने का उपाय हम लोगों को मालूम है कि नहीं? बोलिए? जी उपाय तो मालूम है सुना ही है और रोज सुन रहे हैं प्रतिदिन। और अपने

महाराज जी की वाणी जो सुन रहे हैं, उसमें भी सुने रहे हैं और भी कहीं किसी सन्त महात्मा के पास जाइए तो वहाँ से भी सुन आते हैं, किसी भी सद्ग्रन्थ को उठाकर पढ़ना आरम्भ करिए तो उसमें भी वहीं लिखा है। तो उपाय तो अपने सब लोगों को मालूम है। अपनी आवश्यकता का भी ज्ञान है हमें। वह जीवन चाहिए जिसमें मृत्यु नहीं है, हमें वह रस चाहिए जो क्षति-पूर्ति से रहित है। हमें वह सुख चाहिए जिसमें दुःख मिश्रित नहीं है। आवश्यकता तो अपनी है अपने सामने। और बिना किसी के सिखाए समझाए, बिना किसी के पढ़ाए-लिखाए इस आवश्यकता का ज्ञान सब मनुष्यों को होता है। तो आवश्यकता भी मालूम है और कैसे होगा यह उपाय भी मालूम है। जी! मालूम है।

स्वाजी जी महाराज ने कहा, कि किसी को बुरा मत समझो, किसी के साथ बुराई मत करो, किसी का बुरा मत चाहो, ऐसा अगर करोगे तो तुम्हारा चित्त शुद्ध हो जाएगा। जहाँ तक हो सके सहयोग देते रहो, ऐसा करोगे तो चित्त शुद्ध हो जाएगा। की हुई भलाई के बदले में किसी प्रकार की आशा नहीं करोगे, तो सब कामनाएँ छोड़ दोगे, तो चित्त शांत हो जाएगा। और योग किसका नाम है भाई? मन और चित्त की शुद्धि और शन्ति का नाम योग है। तो आजतक अपने को योगवित होकर रहने आया ही नहीं। सहज समाधि की बात अनुभवी संतों ने हम लोगों को सुनाया है। तो वह सहज समाधि की बात तो छोड़ दो। वह तो अपने लिए बहुत दूर मालूम होती है। 24 घण्टे में से 1/2 घण्टा प्रातः काल और 15 मिनट संध्या समय मूक सत्संग का कार्यक्रम हम लोगों ने रखा है। और जब कभी मौका मिले जिस भाई-बहन को उस समय भी इसके बारे में सोचते रहते हैं कहते रहते हैं। तो क्या हो गया अपने को कि 1/2 घण्टे के लिए भी चिंतन से मुक्त होकर शांति में रहना कठिन होता है। यह सोचने की बात है कि नहीं? जी, है। सोचने की बात है। क्या हो गया? चित्त का शुद्ध होना और शांत होना इतन जरूरी काम है और अशरीरी जीवन में प्रवेश करने के लिए अथवा अलौकिक अविनाशी तत्त्वों से अभिन्न होने के लिए यह पहला ही कदम है, कि चित्त शुद्ध और शांत हो। और चित्त की शुद्धि और शांति का उपाय भी अपने को मालूम है। और ऐसा नहंी है कि एक दिन याद रहता हो, दूसरे दिन भूल जाते हों, सो भी नहीं है। फिर भी क्या कारण है? ऐसा सोचना चाहिए।

एक संत के मुख से मैंने ऐसा सुना, बड़ा अच्छा लगा मुझे सुन करके, उन्होंने मुझे बताया, कि उनके गुरु महाराज बड़े महापुरुष थे, सिद्ध पुरुष थे। तो वे मनुष्य के व्यक्तित्व की व्याख्या कर रहे थे और यह बता रहे थे, कि ऐसा-ऐसा करो, तो स्थूल शरीर से संग छूट जाता हे। और ऐसे-ऐसे करो तो सूक्ष्म शरीर से संग छूट जाता है। और इस तरह से रहो तो कारण शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है। और जब तीनों शरीरों से तादात्म्य टूट जाता है, तो व्यक्ति उस जीवन से अभिन्न हो जाता है, जिसमें मृत्यु नहीं है, अखण्ड आनन्द है। तो बताते-बताते उन्होंने ऐसे कहा कि पता नहीं क्या हुआ था कि गुरु महाराज जी कहते जा रहे हैं और जैसा-जैसा वे कहते जा रहे हैं वैसा-वैसा अपने साथ घटित होता जा रहा है। उन्होंने वर्णन किया ऐसे ऐसे ज्ञान के आधार पर शरीरों से तादात्म्य टूटता है तो जैसे-जैसे गुरु कहते गए वैसे-वैसे तादात्म्य उनका टूटता गया। और व्याख्यान जब खत्म हो गया गुरु महाराज का, तो इनका शरीर से कोई सम्बन्ध था ही नहीं। शिष्य महाराज जो हैं वे अशरीरी जीवन के आनन्द में डूबे हुए हैं। तो शरीर

कहाँ हैं, संसार कहाँ इसका पता कहाँ चलता है? पता ही नहीं। तीनों शरीरों से सम्बन्ध टूटा नहीं, कि सृष्ठि लुप्त हो जाती है।

तो ऐसा कैसे हुआ उनका? मैंने तो जब सुनना आरम्भ किया तो इन बातों को सुनने में, सहन करने में समझने में और उनको पकड़ने की चेष्ठा में सिर से पाँव तक एक-एक स्नायु ऐसे-ऐसे स्पंदित होने लगते थे, स्वामी जी महाराज की सभा में। जैसे ही खत्म होता था व्याख्यान उनका। उठकर के भाग करके एकान्त में कहीं कोठरी में दरवाजा बन्द करके मैं बैठ जाती थी। और सुनने-समझने की चेष्ठा को जाने दो। जब ग्रन्थों को लिखवा रहे थे महाराज, तो मैं बैठकर लिखती रहती थी, कई सहायक लोग सहायता करते रहते थे। गर्मी के दिन होते थे, गर्मियों की छुट्टियों में आती थी। तो लिखवाते जा रहे हैं महाराज और जो वाक्य मैं लिखती जाती, उसके अर्थ को पकड़ने की चेष्ठा में भी सारे शरीर का एक-एक तन्तु, एक-एक स्नायु एकदम से कम्पित होने लग जाता है, उसमें झनझनाहट पैदा हो जाती। और लिख करके खत्म करके ही जहाँ के तहाँ छोड़ करके एकान्त में दरवाजा बन्द करके मैं छिप जाती, लेट जाती ऐसा होता। समझने की चेष्ठा करने में इतना ेजतंपद हो जाता था। और उस साधक की महिमा का तो वारा-पार नहीं है। जिन्होंने कहा कि गुरु महाराज बोलते जा रहे थे और जैसे-जैसे सुनते जाएँ वैसे-वैसे शरीर का तादात्म्य टूटता गया, टूटता गया और जब खत्म हो गया व्याख्यान, सब लोग उठ गए, आरती हो गई, जय जयकार हो गया पर इनको कुछ पता ही नहीं है। यह दृश्य का सम्बन्ध कब तक बना है? जब तक मुझे दृश्य से सम्बन्ध पसंद है। जब तक शरीरों का तादात्म्य टूटा नहीं तब तक यह सृष्ठि दिखाई देती है। और स्थूल शरीर, कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर इनसे सम्बन्ध टूटा नहीं, कि सृष्ठि लुप्त हुई। फिरतो वह है ही नहीं है। यह बात कल्पना नहीं है। यह बात हवाई नहीं है और जो लोग जीवन की गहराई में नहीं पहुँचते हैं, केवल इन्द्रिय दृष्ठि और बुद्धि के व्यापार को ही जीवन का सत्य मानते हैं वे लोग तो घबरा जाते हैं।

कभी नाराज हो जाते हैं, कभी हँसी उड़ाते हैं। अरे यह तो आर्म चेयर डिस्कशन है, यह तो पास टाइम है ये अब दुनिया के किसी काम के लायक नहीं रहे तो ऐसी काल्पनिक बातों की चर्चा करते रहो, जिसका कोई ओर-छोर नहंी है, जिसका कोई अर्थ नहीं है, ऐसा कहने लग जाते हैं। पर बात यह बिल्कुल सत्य है। तो ऐसा कैसे हुआ? कि मेरे लिए तो सुनकर के और उसको हतंेच करने में इतना उमदजंस ेजतंपद कि एक-एक स्नायु एकदम काँपने लगता था, हाथ पाँव झनझनाने लगते, हाथ पाँव ऐसा हो जाता तो हम तो चुपचाप एकान्त में जाकर के लेटना। वह इसलिए मैं करती थी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार कि जो स्टेªन पड़ा है स्नायु पर, वह स्थित हो जाए। इसलिए मैं किसी से बात नहीं करूँगी। दूसरा कोई काम नहीं करूँगी। वृत्ति को इधर-उधर नहीं होने दूँगी। जो कुछ मैंने सुना है, उसी में ध्यान रखूँगी। इसलिए अकेले में जाकर बैठ जाती ऐसा करती और उस साधक को यह सब कुछ करना ही नहीं पड़ा। वे सुनते जा रहे हैं सम्बन्ध टूटता जा रहा है। सारी मण्डली उठ गई, सब लोग अपने-अपने घर जाने लगे। वह शरीर जहाँ के तहाँ शिथिल शांत जैसे का तैसा बैठा हुआ है। तो बाद में ध्यान गया लोगों का तो कहना शुरु किया नाम ले करके, उठो सत्संग खत्म हो गया चलो, तो उनका सत्संग खत्म थोड़े हुआ था, उनका सच्चा

सत्संग हो गया। वे तो तीनों शरीरों से अतीत अविनाशी जीवन से मिल के उस आनन्द की मस्ती में थे। उनको क्या पता? जब शोर-गुल होने लगा, इधर-उधर बातचीत होने लगी तो गुरु महाराज ने लोगों को बुला करके मना किया। कि अरे भाई, तुम तो देहातीत जीवन की चर्चा सुनकर जा रहे हो, ये तो देहातीत जीवन में पहुँच गए। इसलिए अब इनको जाने के लिए मत कहो, नाम लेकर के पुकारो मत, उन्हें उस आनन्द में रहने दो। तो उनको जहाँ के तहाँ जैसे के तैसे बैठा हुआ छोड़ दिया गया। वे सब चले गए। बड़े आनन्द से बताया उन्होंने अपने ही मुख से बताया मुझे कितना समय वहाँ बीता, कई घण्टे बीते होंगे फिर गुरु महाराज ने स्वयं उनको सचेत किया। तो वे कहें नाम लेकर पुकारने पर कोई ध्वनि सुनाई दी? तो हमें लगे कि कौन पुकार रहा है किसको पुकार रहा है, पता ही नहीं चले। मैं पूछूँ बार-बार कौन? पुकारने वाला कौन और सुनने वाला कौन? कौन पुकार रहा है और किसको पुकार रहा है। इस भेद का ही पता न चले उनको। काफी समय लगा। तो अब अपने लिए क्या है? एक बात आप अपने से खोजिएगा। आज रात को जब सब कार्यक्रम पूरा हो जाए, आप अपने विश्राम की जगह पर जब पहुँचे तो अकेले में बैठकर के अपने बारे में सोचिएगा। मैंने सोचा तो मुझे ऐसा लगा कि विचार के आधार पर योगवित होने का, तत्त्व वित होने का, भगवत् भक्त होने का उपाय जो है, वह तो हमारी समझ में बहुत सहज से आ जाता है, दिखता ही है न, कि कामना के फेर में पड़कर मैंने अपने को कितना अशांत किया और फिर अपनी अशांति से मैंने निकटवर्ती जन-समूह में खलबली पैदा की।

यह बात सूझती तो है ही है। और ऐसी-ऐसी कठिन विषम परिस्थितियों में मैंने अपनी ओर से अपने संकल्प का त्याग कर दिया, तो मेरे भीतर भी शांति हो गई, निकटवर्तियों में भी शांति बनी रही। यह दोनों तरह के अनुभव आपको हैं। मालूम हैं आपको। तो इसी तरह से अकेले में बैठ करके सोच करके देखिएगा, आपको स्वयं पता चलेगा। मुझे क्या पता चला सो मैं आपको बताऊँ। मुझे पता चला कि अनुकूलता का सुख जितना ही अधिक अपने लिए मैं पसंद करूँ उतना ही अधिक जीवन-रस का स्त्रोत जो है, वह छिन्न होता जाता है। ये पता चला मुझे। उसी का यह परिणाम हो गया कि योगवित होने का, तत्त्ववित होने का भगतव् भक्त होने का उपाय भी मालूम है, आवश्यकता भी है, रास्ता भी साफ दिखाई देता है और वर्तमान क्षण उसके लिए सबसे उपयुक्त क्षण है। वह निकलता जा रहा है और दिखाई देता है कि अभी भी जीवन साध्य से अभिन्न नहीं हुआ। मुझे एक खास कारण यह मालूम हुआ।

मनुष्य के हृदय में जो रस-स्रोत है जिसके संचार से वह अपने आप को इतना भरपूर अनुभव करता है, कि बाहरी सहारे को छोड़ना उसे कुछ लगता ही नहीं है। सहज से छोड़ करके आगे निकल जाता है और हमें सहज नहीं मालूम होता, अपने पर थोड़ा चतमे◌नतम मालूम होता है जहाँ त्याग का प्रश्न आया, वहाँ पर अपने को थोड़ा सा दबाव मालूम होता है विचार का। जैसा मैंने सोचा वैसा झटपट मैं कर डालूँ और सहज से कर डालूँ और कर डालने के बाद फिर पीछे की ओर न देखूँ इतनी स्वाभाविकता अपने जीवन में नहीं दिखाई देती है। जहाँ ऊँचाई पर उठने का प्रश्न आता है, वहाँ पर थोड़ा दबाव मालूम होता है, थोड़ा पीछे की तरफ खिंचाव मालू◌ूम होता है। तो जब अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण मैंने किया ◌ंदंसलेपे मैंने किया, तो मुझे यह सूझा कि जहाँ-

जहाँ जीवन में थोड़ी सी भी अनुकूलता है, उस अनुकूलता का सुख पसंद कर लो, तो सन्मार्ग पर चलाने वाला, चलाने में मदद देने वाला, जो लिबिग्नल फोर्स है, उसमें शिथिलता आ जाती है। जो जीवनी शक्ति है जो रस को स्रोत है वह क्षीण हो जाता है, पतला हो जाता है, दुर्बल हो जाता है, तो हम सुनते भी रहते हैं, कहते भी रहते हैं, समझते भी रहते हैं, और जहाँ त्याग की घड़ी आती है, वहाँ पीछे हट जाते हैं।

तो अकेले में बैठ करके अपने सम्बन्ध में इस विषय पर सोचना चाहिए। और लगे, कि मार्ग तो दिखाई दे रहा है और चलने में बहुत शिथिलता मालूम हो रही है। अगर ऐसा दिखाई दे किसी भाई-बहन को, तो अपने बारे में सोचना। और क्या सोचना? कि ऐसे ही घर में, परिवार में, समाज में, आश्रम में, निकटवर्ती जन समूह के बीच में कहीं भी मैं हूँ, वहाँ पर बहुत सम्भव है अनुकूलता-जनित सुख को पसंद करके उस तरह से हम चल रहे हैं। जिसने पराश्रय और परिश्रम-जनित सुख को पसंद किया उसके हृदय में से यह जीवन रस-स्रोत सूखता है, क्षीण होता है। और यही कारण है, कि रास्ता दिखाई दे रहा है और चलने में देर लग रही है। नहीं तो देर लगने की कोई बात नहीं है।

प्रवचन(20)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेरमी माताओ, बहनो और भाइयो!

मानव-जीवन का विश्लेषण करके हम देखें, तो इसमें दोनों तरह के तत्त्व पाए जाते हैं, एक भौतिक पहलू है जिसके आधार पर तीनों शरीरों की रचना होती है, एक अलौकिक तत्त्व है, जिस पर हमारा अपना मैं पन का भास आधारित है। तो भौतिक तत्त्व जो है स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, इन तीनों को हमने इतनी प्रधानता दी है कि इनके माध्यम से दृश्य जगत् से सम्पर्क स्थापित करना और उस सम्पर्क में कभी सुख भी मालूम होता है, कभी दुःख भी मालूम होता है, कभी अनुकूलता भी आती है कभी प्रतिकूलता भी आती है। तो शरीरों के माध्यम से संसार से सम्पर्क स्थापित करना और उसमें सुखद बातों से चिपक जाना और दुःखद बातों से भागने की चेड्ढा करना, इस सीमा के भीतर रहने के लिए हम लोग नहीं बनाए गए हैं।

शरीरों में जीवन-बुद्धि स्वीकार कर लेना और उनके माध्यम से भौतिक जगत् से सम्पर्क से सुख लेने की चेड्ढा करना और दुःख से बचने की चेड्ढा करना, इतना तो पशु श्रेणी में भी होता ही है। आपने देखा होगा प्रकृति विज्ञान पढ़ते समय बहुत-सी बातें ऐसी मिली कि जैसे कोई लता पता है, कोई छोटे कीड़े-मकोड़े हैं तो प्रकृति उनको बाह्य वातावरण के खतरे से बचाने के लिए तरह-तरह की बनावट में ही सुरक्षा दे देती है। कोई लता-पता है, उसमें इतने कैंटीले रोएँ होते हैं कि कोई कीड़ा उसको चाट नहीं सकता है। छोटे-छोटे कीड़े होते हैं, किसी-किसी के बदन पर ऐसे विशाल रोम होते हैं कि आप छू दीजिए तो कितनी खुजली हो जाए सूजन हो जाए। यह सब तो इस जगत् में शरीर धारी बनना और भौतिक तत्त्वों से पोषण और सुख लेना और दुःख देने वालों और हानि पहुँचाने वाले तत्त्वों से बचना, इतना तो पशु-जीवन में होता ही है। अगर इतने ही में हमने अपने को सीमित किया, तो फिर मानव-जीवन सार्थक नहीं हुआ। हम लोगों के व्यक्तित्व में केवल जीवों के भरण-पोषण और सुरक्षा का ही प्रश्न नहीं है। आप देखेंगे कि जीवों के भरण-पोषण और सुरक्षा का प्रबन्ध करते-करते भी और सब प्रकार से

भरा-पूरा होते हुए भी मनुष्य के भीतर उसके आगे और आवश्यकताएँ होती है। तो जब उसे दुःख मिलता है, तो वह पसंद करता है कि इस दुःख में भाग लेने वाले साथी भी चाहिएँ जी होता है न? कितने प्रकार के सामाजिक नियम इत्यादि बनाए गए हैं कि कोई व्यक्ति अगर किसी प्रकार के दुःख में पड़ गया तो उसके दुःख को बाँटने के लिए, उसमें सहायक होने के लिए, सहानुभूति प्रकट करने के लिए भी उसको समूह चाहिए। यह तो कोई शारीरिक आवश्यकता नहीं हुई न? स्थूल शरीर की आवश्यकता नहीं हुई, यह सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता हुई।

अभी इस गर्मी में उत्तरकाशी के लोगों ने मानव सेवा संघ की शाखा बनाई, और मुझे बुलाया था। तो वे सज्जन मुझे लेकर के जा रहे थे स्वर्गाश्रम से उत्तरकाशी। रास्ते में मैंने देखा, कि एक लाश जा रही थी और उसके पीछे कितने ही लोग थे, पुरुष भी थे स्त्रियाँ भी थीं। सब के सिर पर लकड़ी की छोटी-छोटी गठरी थी। रस्सी से बाँधकर सिर पर रखके। हर आदमी जो उस लाश के पीछे जा रहा है वह लकड़ी की गठरी लेकर जा रहा था। तो जो लोग मुझे ले जा रहे थे, उन लोगों से मैंने पूछा कि यह क्या बात है? तो उन्होंने कहा कि पर्वतीय प्रान्तों में यह प्रथा है, कि किसी एक के घर पर मृत्यु हो जाए तो उसको लकड़ी का इन्तजाम नहीं करना पड़ेगा। सहानुभूति में जितने लोग आते हैं सब कोई घी भी लाएगा, कोई चंदन भी लाएगा, कोई पुष्प भी लाएगा और लकड़ी तो सभी लाएँगे। तो जिसके घर में मृत्यु हुई उसको इस अन्तिम संस्कार के लिए अपनी तरफ से कुछ भी करना नहीं पड़ता है। बड़ा अच्छा लगा मुझे। मैंने कहा यह तो बहुत बढ़िया सामाजिक सहयोग है। समाज के सब लोग, दूसरे ही लोग सब इंजाम करके और लाश के साथ जाएँगे और अन्तेष्ठि करके चले आएँगे।

तो आदमी को यह भी चाहिए कि अगर मैं दुःख में हूँ, तो दुःख में सहानुभूति देने के लिए भी, उसको बाँटने के लिए भी समूह चाहिए। अगर किसी प्रकार का हर्ष का अवसर है, तो उस हर्ष की वृद्धि के लिए भी आदमी को समूह चाहिए। ये सब आवश्यकताएँ भी मनुष्य की होती हैं। अच्छा तो यह भी हो गया। समाज इतना उदार है, प्रकृति में इतनी उदारता है, कि ये सब आवश्यकताए भी मनुष्य की पूरी हो गई। इतना ही नहीं उसके आगे भी इसकी आवश्यकता है। वह क्या है? अगर मेरे जीवन में हर्ष आया तो उस हर्ष का भी अन्त नहीं होना चाहिए, तो अनन्त आनन्द की खोज उसे लग जाती हैं। अगर कहीं पर मृत्यु दिखाई देती है कि शरीर नाशवान, है, जो अणु-परमाणुओं के संगठन से बन गया है उसका विघटन होगा ही, प्रकृति का यह अटूट नियम है, तो आदमी इस सीमा को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। क्यों नहीं तैयार है? उसमें सामर्थ्य है कि मृत्यु पर विजय पा सके। वह नहीं मानता है। हम मृत्यु को नहीं मानेंगे। हम मृत्यु के वश में नहीं होंगे। तो जो मनुष्य इस दिशा में अपनी आवश्यकता को जाग्रत रखता है, उसमें यह सामर्थ्य आ जाती है, कि मृत्युजंय होने के लिए जो पुरुषार्थ चाहिए, वह सब करने के लिए तैयार हो जाता है।

राजकुमार सिद्धार्थ ने यही किया था। एक मृतक शरीर को देखा तो उस महापुरूष के जीवन में सब जीवित शरीरों में मृत्यु का दर्शन हो गया। युवावस्था थी, सुख-वैभव से भरा हुआ महल था, सब प्रकार का सुख-आराम था लेकिन इन्द्रिय-जन्य सुख न उसके विवेक को धूमिल नहीं किया। उसने सारथी से पूछा कि भई यह क्या है? देखा

नहीं था कभी मृतक को। तो सारथी ने कहा कि राजकुमार यह मृतक है? तो क्या हम भी मरेंगे? तो उसने कहा, राजकुमार जो भी शरीर धारण करेगा सभी को मरना पड़ेगा। तो मृतक को देख करके उन्होंने मृत्यु पर विजय पाना पसंद कर लिया। रोगी को देखा, रुग्ण अवस्था की पीड़ा, वृद्धावस्था का दुःख और मृत्यु की सीमा उस वीर पुरुष ने स्वीकार नहीं किया। नहीं, नहीं मनुष्य इतना विवश होकर के पैदा नहीं हुआ है, कि उसको वृद्धावस्था का दुःख भोगना ही पड़ेगा, उसको रोगावस्था का दुःख भोगना ही पड़ेगा, उसको संयोग-वियोग की दासता में बँधना ही पड़ेगा। इतनी बेबसी में जीने के लिए मनुष्य नहीं पैदा हुआ। तो बड़ी तीव्र जिज्ञासा उस वीर पुरुष के दिल में जग गई और अमर जीवन की खोज के लिए, दुःख-रहित जीवन की खोज के लिए, उन्होंने सुख-वैभव से भरे हुए राज्य को ठुकरा दिया। नहीं नहीं, मुझे यह सब नहीं चाहिए। क्यों भाई क्यों नहीं चाहिए? वह कह उठा "त्रिविध दुःख निवृत्ति हेतु बाँधू अपना पुरुषार्थ सेतु, सर्वत्र उड़े कल्याण केतु तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम हे क्षण भंगुर भव राम राम। हे क्षण भंगुर संसार आपको राम राम है।

यह किसका काम है? यह मनुष्य का काम है। तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि भाई, मोह की पीड़ा से पीड़ित होकर के, संयोग-वियोग की दासता में आबद्ध हो करके तो पशु-पक्षी भी सुख-दुःख भोगते हैं। आपने देखा होगा पशु-पक्षियों में मादा पक्षी को, जब उसका छोटा-सा बच्चा खूँटे में दाना चुगने के लिए लायक हो जाता है तो मादा पक्षी बाहर से दाना चुग-चुग करके उसके मुख में डाल देता है। देखा है आपने, तो क्या उसको अन्येष्ठि करवानी है उस बच्चे से, क्या श्राद्ध-कर्म करवाना है, कि परलोक जाने पर पिण्डदान लेना है उसको? नहीं। पक्षी का बच्चा तो माँ-बाप के लिए यह सब नहीं न करेगा। तो भी वह पक्षी ममता से प्रेरित होकर, प्रकृति के नियम से बँधा हुआ होकर अपने मुख का दाना बच्चे के मुख में डाल रहा है।

तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि अगर तुमने भी अपनी सीमा यहीं तक रखी कि कमाई करके लाएँगे और मोह से प्रेरित होकर, भविष्य की आशा रखकर बच्चे के मुँह में डालेंगे, तो तुमने भी अपना ममता के घेरे में पुरुषार्थ रखा, तो कैसे आशा करते हो कि हम मृत्यु पर विजय पा सकेंगे, शांति में निवास कर सकेंगे, योगवित हो सकेंगे तत्त्ववित हो सकेंगे कैसे आशा करते हो।

एक माँ का लड़का 25-28 वर्ष का हो गया। सज्जन लोग हैं, परिवार के सब लोग हैं, हम लोग जानते हैं। तो एक दिन कोई बात हो रही थी। लड़का माँ की बात मान नहीं रहा था। आनन्द था उनका नाम आनन्द भाई आनन्द भाई हम कहते हैं उनको तो माँ कहने लगी कि अरे आनन्द तू कैसी बात करता है। अरे मैंने ही तुझे पैदा किया है तो आनन्द भाई कहते हैं कि माँ तू कैसी बात करती है, तूने इतना-सा पैदा किया था मैंने अपने को मदसंतहम किया। तो अगर स्वार्थ की बात को देखो, यह कथा, कहानी, कल्पना नहीं है, मैं सच्ची बात बता रही हूँ, तो अगर स्वार्थ की बात देखो, अगर भविष्य में संतान से मुझको मदद मिलेगी इस आशा से तुम उसका पालन-पोषण करो और इस आशा की पूर्ति न हो तो क्रोध करो, क्षोभ में जलो, दुःख में गलो, तो यह तो भई। मनुष्य का जीवन नहीं।

तो स्वामी जी महाराज कहते हैं कि ममता-जनित उदारता जैसे मादा पक्षी ने अपने मुख का दाना बच्चे के मुख में डाल दिया यह

ममता-जनित उदारता है न। तो स्वामी जी महाराज ने बताया कि ममता-जनित उदारता पशु-पक्षियों में भी होती ही है। अगर तुमने भी अपने को इसी सीमा में रख लिया, तो मनुष्य होना सार्थक कैसे होगा भाई? नहीं हो सकता है। इसीलिए हृदय की उदारता को बढ़ाओ।

कल संध्या समय की बैठक में जो चर्चा थी कि एक मृतक को, जैसे अभी मैं कह रही थी, एक मृतक को देखकर के राजकुमार सिद्धार्थ ने सब जीवित शरीरों से मृत्यु का दर्शन कर लिया। और उस मृत्यु पर विजय जाने के लिए, अमरत्व के लिए, जो पुरुषार्थ चाहिए था कर डाला। हो गया उनका। उसी तरह से हम सब भाई-बहनों ने भी अत्यन्त प्रिय कुटुम्बी जनों को आँखों से देखते ही देखते श्मशान की ओर भेजा है। फिर भी इस पाँचभौतिक तत्वों से बने हुए शरीर में से मोह न मिटे, तो यह मनुष्यता का आदर हुआ कि अनादर हुआ? जी, अनादर हुआ।

बिल्कुल साफ बात है और किसी किसी समय तो ऐसी धड़कन होती है, मेरी हृदय की गति तीव्र हो जाती है, ऐसी घटनाओं को जब मैं देखती हूँ कि कितना ऊँचा जीवन मनुष्य का हो सकता है और जरा सी भूल के लिए, जरा सी बात में पससनेपवद में पड़कर क्या दुर्दशा कर बैठताा है, कि स्वयं भी दुखी रहता है और जिस समाज में उपस्थित रहे उसमें भी दुःख फैलाता रहता है। तो भई, हम सब भाई-बहनों के लिए आवश्यक क्या है, कि हृदयशीलता बढ़नी चाहिए। नहीं बढ़ेगी, तो आप असत्य को असत्य जानकर भी नहीं छोड़ सकेगे, और सत्य को सत्य मानकर के भी स्वीकार नहीं कर सकेंगे। बड़े कठिन-कठिन समय में साधना के पथ में जहाँ-जहाँ मैंने अपने को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है, वहाँ-वहाँ जब पसंदगी को, आसक्ति को, वस्तु और व्यक्ति के विश्वास को रास्ते में बाधा डालते देखा है, बहुत स्पष्ट विभाजन मुझे दिखाई देता है कि बिल्कुल प्रभु का दिया हुआ विवेक का प्रकाश बिल्कुल साफ दिखाता है कि इस रास्ते से चलकर काम बनेगा। और जानते हैं, कि आसक्ति कभी निभेगी नहीं, ममता कभी साथ देगी नहीं, जिनको अपना मानते हैं अपना मानते भी रहते हैं और संयोग में वियोग हो ही जाता है। वस्तुओं की आसक्ति, शरीर की आसक्ति, हम सब लोग अपने में पालते हैं, तो उसी आसक्ति के परिणाम से जीवन में नीरसता बढ़ जाती है, कठोरता भर जाती है, असमर्थता आ जाती है। तो आसक्ति भी पकड़े रहो और असमर्थता को दूर करना चाहो, कभी सम्भव होगा? नहीं होगा। ममता भी पकड़े रहो और समाधिष्ठ होना चाहो, समाधि का आनन्द लेना कभी सम्भव होगा? नहीं होगा। तो बड़ा भारी द्वन्द, है मनुष्य के जीवन में। यह द्वन्द है, वह सत्य को भी पसंद करता है और असत् के संगजनित सुख को भी नहीं छोड़ना चाहता है। वह परमात्मा को भी पसंद करता है और हाड़-मांस के बने शरीर की भी पूजा करता रहता है।

एक दिन की बात है संध्या समय, दिल्ली में हम लोग थे तो एक प्राकृतिक चिकित्सक आ गए। और बातचीत होने लगी तो उन दिनों में मुझको ेoापस कपेमेंम था चमड़ी पर एक्जीमा होता था। तो प्राकृतिक चिकित्सक थे तो उनसे बातचीत होने लगी। तो बातचीत करते-करते मूक सत्संग का समय हो गया था और उसमें से 15 मिनट निकल गया बातचीत करने में। मुझको एक्जीमा के लिए प्राकृतिक चिकित्सक से बात करने में इतना पदजमतमेज आ गया, इतनी अभिरुचि पैदा हो गई कि ध्यान ही नहीं रहा कि

मूक सत्संग का समय बीत रहाहै। तो करीब 15 मिनट निकल गए। उसके बाद मेरे ध्यान में आया कि यह तो मूक सत्संग का समय है। तो फिर डाक्टर को भी बिठा दिया मैंने, मैं भी बैठ गई, समय पूरा हो गया, सत्संग हो गया। जब सब बीत गया तो स्वामी जी महाराज मुझसे बात करने लगे। सन्तों के सिखाने के तो बहुत से ढंग है तो पूछने लगे मुझसे सब समाचार, उन्होंने क्या-क्या बताया, क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। करते-करते अपने कंधे पर तौलिया झाड़ कर उठने लगे तो कहने लगे कि लाली, करती रहो शरीर की पूजा। कह करके चल दिए। तो मेरे ध्यान में आया कि क्या बता हो गई। तो सोचा मैंने तो ध्यान आ गया, ठीक बात है। मूक-सत्संग अर्थात् अविनाशी जीवन का संग, तो सब प्रकार के दुखों की निवृत्ति, परम शांति और जिससे चमड़े पर होने वाले रोग से भी छुट्टी, स्वस्थ शरीर से भी छुट्टी और अस्वस्थ शरीर से भी छुट्टी, तीनों शरीरों से छुट्टी, तो शरीरों से परे देहातीत जीवन जो मेरा अपना है और जिन अलौकिक तत्त्वों से इस मैं-पन की रचना हुई है उन अलौकिक तत्वों के निवास करने का समय जो था वह किसमें बीत गया? नाशवान शरीर की सुरक्षा की चर्चा में। महाराज जी ने और कुछ नहीं कहा। सब बात मुझसे पूछ ली। सब जो बताया था बता दिया और उसके बाद उठकर खड़े हुए अपना पकड़ा-वपड़ा सँभाल कर उठे और कह कह चले गए, कि लाली करती रहो शरीर की पूजा।

तो जो सदा-सदा के लिए रह सकता है वह न्दपउचवतजंदज मालूम होता है। फुरसता मिलेगी, तो सत्संग में कभी जाएँगे, अब जरूरी काम से छुट्टी मिलेगी तो गैर जरूरी काम करेंगे। तो सत्य से अभिन्न होने का प्रोग्राम जो है वह तो गैर जरूरी है और असत्य को सँभाल-सँभाल करके मुट्ठी में बाँध करके रखे रहने की चेड्ढ जो है, वह है निरर्थक। तुम्हारे मुट्ठी में बाँधने से भी वह रहेगा नहीं। लेकिन वह जरूरी मालूम होता है। तो इसको कैसे मिटाएँ? बीमारी का वर्णन करना मेरा उद्देश्य नहीं है। क्या करूँ वर्णन करके, यह थोड़ा ही संकेत बहुत है। क्योंकि हम सभी लोग भुक्त-भोगी है अंजान तो है नहीं। तो चर्चा किस बात की हो रही है कि इससे ऊपर कैसे उठे? तो ऊपर उठने के लिए बहुत-बहुत बड़े उपाय लोगों ने बताए। किसी ने कहा निरन्तर भगवान का भजन करते रहो, सब रोग छूट जाएगा, सब आसक्ति मिट जाएगी, सब दोष नाश हो जाएँगे। तो स्वामी जी महाराज कहते हैं भले आदमी, निरन्तर भगवान का भजन तुम तब न करो, जब तुममें क्षमता हो करने की। करने बैठते हो भगवान का भजन और होता रहता है संसार का चिंतन। कैसे कर लोगे?

विदेशी बालक यहाँ आया था, स्वामी जी महाराज के पास कि स्वामी जी महाराज डकमकपजंजपवद सिखा देंगे। तो स्वामी जी ने कहा, नहीं सिखाऊँगा। महाराज, क्यों नहीं सिखाएगा? वह तुमसे नहीं होगा इसलिए नहीं सिखाऊँगा। बात तो सच्ची है। अनजान तो है ही नहीं है। हम सब लोग जानते ही हैं। क्यों नहीं होता है भई? कैसे होगा? इसी संदर्भ में कल संध्या काल की बैठक में जैसा मैंने निवेदन किया था उस विषय का, थोड़ा और विश्लेषण करके निवेदन कर रही हूँ कि भाई, हम सब भाई-बहनों को हृदयशीलता बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। कोई ऐसा व्यवहार करो मत, कि हृदय में कठोरता आवे, स्वार्थ की सीमा गाढ़ी हो जाए ऐसी कोई क्रिया मत करो, ऐसा कोई व्यवहार मत करो, ऐसा

कोई भाव जीवन में मत रखो। अगर हृदय-पक्ष सबल नहीं हुआ तो रास्ता दिखाई देता ही रहेगा और जीवन जहाँ का तहाँ बँधा रहेगा। हृदय शीलता को बढ़ाने का उपाय क्या है? तो उपाय हर एक की अपनी-अपनी परिस्थिति, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार बना लीजिए आप अपने से। मूल बात क्या है? तो मूल बात यह है कि ममता-जनित उदारता में संतुङ्ढ मत रहो। मैंने देखा है कि हमारे बहुत वृद्ध सत्संगी भाई-बहन बैठे हैं, ये जान रहे हैं कि सम्पत्ति मैं साथ नहीं ले जाऊँगा। हर समय आकर के मुझसे पूछते हैं और मेरी इनके प्रति बहुत सहानुभूति है, प्रियता है और हर बार सलाह देती हूँ कि भाई जी, सब कुछ छोड़-छाड़कर चले आइए, सो सहन नहीं होता है छोड़ना चाहते हैं लेकिन लड़के ले ले तो अच्छा है, भतीजे ले लेंगे तो थोड़ा घाटा मालूम होता है। कैसे सत्य को पकड़ना चाहते हो भाई? सारी सृङ्ढि के छोटे से छोटे कीड़े-मकोड़े को भी जो खिलाला है, पिलाता है, भरण-पोषण करता है, सुरक्षा करता है उस सृङ्ढि में रहकर उस सृङ्ढिकर्त्ता के प्रेमी होना चाहते हो और अपने लड़के व भाई के लड़के में इतना भेद दिखाई देता है। कैसे हृदयशीलता का विकास होगा?

आपके दुःख से दुखी होकर मैं बोल रही हूँ, नाराज मत होना। एक की आत नहीं, अनेक की बात है, छोड़ने के लिए भी तैयार होते हैं तो मोह का नाता भी खोजते फिरते हैं, कि किसको दूँ? कई भाई ऐसे आए जिन्होंने स्वयं विवाह नहीं किया, घर नहीं बसाया। इस मण्डली में और भी एक मेरा भाई बैठा है। बड़ी बहादुरी की, उसने घर-गृहस्थी नहीं बसाई। नहंी नहीं नहीं, मुझे सत्य चाहिए, मुझे सत्य चाहिए, मुझे परमात्मा चाहिए। बड़ी अच्छी बात है भैया। स्वामी जी महाराज को तो ऐसा कोई मिल जाए साधक, तो वह रत्न-पारखी कंकड़ पत्थर में फँसे हुए, मिले हुए में से छाँट-छाँट करके, तराश-तराश करके तैयार कर देने में जैसे जौहरी को मजा आता है, ऐसे स्वामी जी महाराज को आनन्द आता था। कोई साधक इतनी-सी आगे बढ़ने की अभिलाषा दिखाए, तो उस पर स्वामी जी महाराज अपने प्राण निछावर करते थे। तो उन्होंने गले लगाया खूब प्यार किया, खूब सँभाला। और अभी तक वही क्रम चल रहा है। थोड़ा भतीजों का काम रह गया थोड़ा भाइयों का काम रह गया, तो एक शरीर को मोह के बंधन से बचाने के लिए तुमने बाजार नहीं फैलाया तो दूसरे फैले हुए बाजार में अपने को फँसा दिया।

तो भई ममता-जनित उदारता पशु-पक्षियों में भी है। मनुष्य हो करके भी उसी सीमा में हम लोग अपने को बाँध करके रखना पसंद करते हैं, तो फिर असीम, अनन्त परमात्मा के प्रेमी होना अभी तो नहीं होगा। आगे उनकी मौज है, किसको कैसे करा देते हैं वह तो वे जाने सब दिन के लिए दरवाजा तो मैं नहीं बन्द कर सकती पर अभी नहीं होगा बहुत कठिनाई है। और मैं क्या बताऊँ? इतनी अच्छी धातुओं से मनुष्य की रचना उन्होंने की है, कि रास्ते चलते समय और बातचीत करते समय और काम करते समय और मैंने जब काम किया है, उस समय की बातें भी मुझको याद है और अब भी जो जो कर रही हूँ उसकी बातें भी मुझको याद हैं। तो पढ़ाने के लिए जब मैं प्रवेश करती, तो महाराज जी ने मुझे मंत्र दिया कि देखो जब तुम महाविद्यालय में जाओ, छात्राओं के सामने खड़ी हो जाओ तो उनको भीतर ही भीतर प्रणाम करो और यह याद रखो, कि तुम्हारे भीतर पढ़ाने का राग था, दूसरों को समझाने का राग था,

तो तुम्हारे ही प्रेमास्पद ने सृष्ठि का रूप बनाया, छात्राओं, का रूप बनाया और वे सुनने को बैठे हैं तो यह सब गँवार हैं, मूर्ख हैं, नहीं जानती हैं और मैं विशेष जानती हूँ ऐसा अभिमान लेकर काम मत करना। यह पढ़ाया उन्होंने। तो भला ये बातें हर समय याद रहती है, तो कब का काम हो गया होता।

लेकिन मुझे याद है कि समय-समय पर जब कभी प्रवृत्ति में लगे हुए, उसी घड़ी में यह सत्य याद आ गया, तो काम और काम करने का साधन और काम करने का क्षेत्र संसार सब एकदम एक सेकण्ड में लुप्त हो जाता। कुछ नहीं रहता। इतनी जल्दी परिवर्तन होता है, इतनी जल्दी ये यह ब्रह्मदहम मनुष्य के भीतर आता है, कि जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, जिसका कोई वर्णन भी नहीं कर सकता। और सन्तों की जो वाणी है कि सत्य से अभिन्न होने के लिए काल अपेक्षित नहीं है यह वाणी सर्वांश में सत्य है। काल अपेक्षित नहीं है। तो रचना तो हम लोगों की इतनी अच्छी है, कि अभी-अभी असत्य को स्वीकार करो तो अभी-अभी सत्य के होने का स्पर्श भी प्राप्त हो जाता है, आनन्द भी जा जाए, प्रकाश भी हो जाए और भ्रम का निवारण भी सदा के लिए हो जाए। ऐसा नहीं होता, कि एक बार आप देहातीत जीवन के आनन्द को पा चुके तो फिर आप भूल जाएँगे कि आपको भ्रम हो जाएगा सो कभी नहीं होगा भ्रम नहीं होगा।

पुराना राग रह गया है उसकी निवृत्ति नहीं हुई है, तो कुछ काल और प्रवृत्ति की परिस्थिति प्रकृति देती है। जैसे सत्संग के प्रकाश में तत्काल आपने असत्य को अस्वीकार कर दिया, कि सत्य को स्वीकार कर लिया। तो सत्य की स्वीकृति मात्र से सत्य की विभूतियाँ आपके व्यक्तित्व में प्रकट हो जाती है। भीतर तो है ही, प्रकट होने की देर है। तो प्रकट हो गई, तो उनके प्रकट होने का प्रभाव क्या होता है? कि साधन काल में ही साधक शरीर-धर्म से ऊपर उठ जाता है। तो सत्य की विभूतियाँ क्या है? सत्य की विभूतियों की गिनती तो हम गिना नहीं सकते हैं, लेकिन जो मुख्य बात है, सामर्थ्य का प्राकट्य होगा, आनन्द का प्राकट्य होगा, रस का प्राकट्य होगा, अपने आप को जीवन इतना भरा-पूरा ऐसा रसमय लगेगा कि शरीर है, संसार है कि काम है कुछ पता नहीं चलेगा।

तो शरीर-धर्म से आप तत्काल छूट जाते हैं ऐसा होता है। फिर क्यों प्रवृत्ति में आ गए? तो उसके बाद आपके जीवन में कोई राग पैदा नहीं होगा, लेकिन पुराने राग जो तुम्हारे रह गए हैं, उन रागों के लिए प्रकृति पुनः मुझको प्रवृत्ति का अवसर देती है और उस प्रवृत्ति में फिर मैं नया सुख लेने लग जाऊँ, तो इससे बढ़कर मनुष्य का दुर्भाग्य और कुछ नहीं हो सकता। तो प्रवृत्तियाँ तो कुछ काल और चलती है लेकिन आदमी भ्रम में नहीं पड़ता, अंधकार में नहीं पड़ता, ऐसा होता है। अनेक साधकों के साथ ऐसा हुआ है। प्रकृत्ति में बड़ी उदारता है, प्रकृति-पति परमात्मा में बड़ी उदारता है। वे तो इतना प्यार करते हैं हम सब लोगों को, इतना उपाय करते हैं कि कौन-सा उपाय नहीं रच डालते हैं। कि किसी तरह से मेरा बच्चा संसार के भ्रम में पड़ करके दुःख न पाता रहे। तो ज्ञान के प्रकाश से भ्रम का निवारण हो जाए, हृदय के रस के विकास से जन्म जन्मातर का ताप शांत हो जाए, इसके लिए उनकी ओर से हर चेष्ठा रहती है।

अब अपने लोगों का हिस्सा कितना-सा बाकी है? केवल इतना-सा बाकी है, कि जिस दिन

से अपने भीतर चेतना जग जाए, कि मैं मनुष्य हूँ फिर मनुष्यता के स्तर से नीचे मत उतरना। न किसी लोभ से, ने किसी भय से, न किसी लाभ के लालच से। लाभ से, लोभ से, भय से किसी भी लालच से मनुष्यता के ैजंदकंतक से नीचे मत उतरना। ऊपर उठाने का काम तो वे खुद करते हैं। शरीर के सम्बन्ध से सबसे बड़े भाई यहाँ आ चुके हैं वृन्दावन आश्रम में। बड़े सरस, बड़े साहित्यकार, सज्जन पुरुष थे,तो उनके मुख से मैंने बहुत बार सुना। कोई बात होगी साधन की चर्चा चलेगी, साधक के पुरुषार्थ की बात चलेगी तो अपनी भोजपुरी भाषा में कहेंगे अरे बहनी, भगवान की बाहें बड़ी लम्बी है बड़ी लम्बी है, तू डरती काहे हो है। जितनी दूरी तुम अनुभव करते हो उससे अधिक लम्बी बाहें बढ़ा करके वे उठा सकते हैं, डरती काहे को है।

डरने की कोई बात ही नहीं। सकुचाने की कोई बात ही नहीं है। तो इतना अच्छा अवसर यह वर्तमान है जिस वर्तमान में बैठकर हम सब लोग बातें कर रहे हैं और जीवन के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। यह वर्तमान ही सबसे अधिक शुभ घड़ी है और बढ़िया से बढ़िया अवसर है, इस जीवन को सार्थक करने का। तो भूतकाल में मैंने क्या किया है, भूल जाओ। सब क्षमा कर दिया जाएगा। बहुत उदार विधान है। और भविष्य की कल्पनाएँ भी छोड़ दो, कल्पना की भी आवश्यकता नहीं है। बस वर्तमान में मुझे क्या करना है दो बातों के लिए—जाने हुए असत के संग का त्याग और जीवन के सत्य की स्वीकृति। अब किस रूप में कर सकते हैं कहाँ तक कर सकते हैं, कैसे कर सकते हैं, बस इसे सोचना है अपने लोगों को और इसे करना है। और ईश्वर का इतना सुन्दर और इतना प्रेमपूर्ण ंजजपजनजम है हम लोगों के प्रति। अपनी तरफ से इतना बढ़िया एक व्यवहार वे रखते हैं मनुष्य के साथ।

स्वामी जी महाराज की वाणी में आप लोगों ने सुन लिया है, टेप में भरा हुआ है। वे कहते हैं, कि परमात्मा ने ठेका लिया हुआ है। है न? जब मुझे अंग्रेजी साहित्य में पढ़ाया जाता था? थाॅमस हार्डी के उपन्यास हमारे जमाने में पढ़ाए जाते थे, तो वह नाराज होकर लिखता है एक जगह पर ळवक ीं ंे हवदम जव ेसममचण् छमअमत जव इम ं्ूं ंामद कहाँ है परमात्मा? वह चला गया है और सो गया है और कभी नहीं जगेगा, उसने छोड़ दिया है दुनिया में दुःख-सुख भोगने के लिए। तो मैं खूब समर्थन करती, बहुत नाराज रहती कि तुमको क्या गरज पड़ी है। तुम जाकर के क्षीर-सागर में आराम से सोओ। काहे को सृष्ठि रच देते हो। हम रो रहे हैं, हम चिल्ला रहे हैं, बिलख रहे हैं, यह हो रहा है, वह हो रहाहै, आपको कुछ मालूम ही नहीं होता है। तो सृष्ठि-कर्ता परमात्मा को मैं सलाह देती थी कि सब समेट लो, अपने गर्भ में डाल लो और क्षीर-सागर में जाकर सो जाओ। तो मेरी सलाह की तो उनको जरूरत थी नहीं, सुनते ही नहीं थे।

सन्त के पास जब मैं पहुँची तो सन्त ने परमात्मा को ऐसा गैर जिम्मेदार नहीं बताया। जब कभी मैंने अपनी ओर से उनकी कठोरता की चर्चा की, तो स्वामी जी महाराज के भीतर कितनी पीड़ा होती थी, कि मैं क्या बताऊँ? एकदम मुट्ठी बाँधकर के कलेजा थाम लेते थे। कहते थे कि मेरी जगह पर अगर कोई भगवत्-भक्त होता तो इस वचन को सुन करके उसका भ्मंतज ंिपस हो जाता। जब कभी मैं परमात्मा की कठोरता के बारे में कहती, तो मुझको ऐसा सुनाते, एकदम मुट्ठी बाँध करके कलेजा थाम लेले। ऐसे मत कहो, ऐसे मत

कहो, तुम, तुम्हारा ऐसा कहना उनके बारे में, मैं नहीं रह सकता। क्यों महाराज क्या बात है? तो बात क्या है उन्होंने ठेका लिया है। किस बात का? जो मुझे पसंद करेगा उससे मैं मिलूँगा। तो मैंने सब मुकदमें उन पर से उठा दिए। हमने कहा ठीक है, अब सही बात है। अब बनाओ खूब सृष्ठि और प्रेम लुटाओ और मुझे भी सँभालों, मैं भी आनन्दित होऊँ तुम भी आनन्दित रहो। तब से मैंने सृष्ठिकर्त्ता की शिकायत करना छोड़ दिया। अब नहीं करती।

इतना कोमल, इतना मधुर, इतना प्रेमी वह। बार-बार मैं उनके सामने व्रत लेती हूँ और बार-बार बेईमानी करती हूँ। बार-बार कहती हूँ हे प्रभु सब तेरा और फिर रह-रह कर किसी न किसी रूप में व्यक्तित्व का अभिमान पालती हूँ। और बार-बार वह क्षमा करने के लिए तैयार है। बार-बार क्षमा कर रहे हैं। बार-बार भूल करते जाओ फिर जाके कहो, हे परमात्मा, भूल हो गई क्षमा करो, अच्छा कोई बात नहीं जाओ, सब क्षमा किया। तो सृष्ठि-कर्त्ता ने हम सब लोगों को बनाया है, इस संसार में आ करके सक्रिय सहयोग के द्वारा समाज को सुन्दर बनाने के लिए, अचाह होकर अपने को स्वाधीन करने के लिए और प्रेमी होकर उस परमात्मा को प्यार करने के लिए। तो उनका जो मंगलमय उद्देश्य है मेरी रचना के सम्बन्ध में, इस उद्देश्य की पूर्ति में वे सर्व समर्थ स्वामी सब प्रकार से मदद करते हैं और करेंगे। इस आशा को आप अपने जीवन में गाँठ बाँध लीजिए। बेड़ा पार हो जाएगा, अवश्य हो जाएगा।

प्रवचन 1

प्रश्नμकहा जाता है, कि स्वामी जी ने अपने गुरुदेव से जब अपने धर्म-ग्रन्थ पढ़ने की प्रार्थना की तो गुरुदेव ने कहा कि स्थिर बुद्धि में अर्थात् ठहरी हुई बुद्धि में सब ज्ञान स्वतः पैदा हो जाता हे। और देखते हैं स्वामी जी का दिव्य ज्ञान, जिसमें हम सभी स्नान कर रहे हैं। स्थिर बुद्धि का क्या अर्थ है और स्वामी जी ने स्थिर बुद्धि की स्थिति प्राप्त करने के लिए क्या साधना की थीं?

उत्तर—बहुत अच्छी बात है जहाँ अपने यह चर्चा पढ़ी होगी, वहीं इसका उपाय भी पढ़ा होगा। उसी जगह पर यह लिखा हुआ है कि उसकी पाठशाल है एकांत और पाठ है मौन। बुद्धि की स्थिरता में सब ज्ञान स्वतः ही अभिव्यक्ति होते हैं। इसकी पाठशाला है एकांत और पाठ है मौन। और थोड़ा और विस्तार कर दूँ तो इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन को नि£वकल्प कर देने से बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि जो है वह समष्ठि की शक्ति का एक अंश है, और भौतिक तत्त्वों पर ही यह काम करती हैं।

इतना तो आप लोग मानते ही हैं, सत्य से अभिन्न होने से अविनाशी से अविनाशी योग प्राप्त करने में और परमात्मा से एक होने में बुद्धि सहायक नहीं है। तो बुद्धि वहाँ नहीं जाती है, बुद्धि का फंक्शन बुद्धि का काम कहाँ तक है? जहाँ तक भौतिक तत्त्वों का मामला है। तो इन्द्रियाँ जब विषय-विमुख कर लेंगे आप तो मन नि£वकल्प हो जाएगा। मन में अगर किसी प्रकार का संकल्प नहीं उठेगा तो बुद्धि की आवश्यकता नहीं रहेगी। जब मैं कुछ बोलना चाहती हूँ, भीतर से मेरे में बोलने का संकल्प है, तो स्वर-यन्त्र से काम लेती हूँ मैं और यह बजने लगता है। जैसा-जैसा स्वर निकलने का संकल्प हैं वैसा-वैसा बज रहा है। तो इस स्वर यन्त्र के काम करने की आवश्यकता कब तक है? जब तक मुझमें बोलने का संकल्प है। ठीक है? अगर मैं बोलना न चाहूँ किसी प्रकार की बात-चीत करना आदमी न पसंद करे छोड़ दे तो

स्वर-यन्त्र शांत हो जाएँगे न। उनकी जरूरत नहीं रहेगी। ऐसे ही जब व्यक्ति इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लेता है। और मन को निर्विकल्प कर लेता है, अब मुझे कुछ नहीं करना है अब मुझे कुछ नहीं चाहिए तो इन्द्रियों क विषय-विमुख करने से, मन को निर्विकल्प करने से बुद्धि का काम खत्म हो जाता है। अब उसका कुछ करने की जरूरत नहीं है, तो जो इन्टलेक्चुयल फंक्शन है, बुद्धि का, इन्टैलीजेन्स का जो काम है वह कब तक चलता है जब तक किसी प्रकार के संकल्प की उत्पत्ति होती रहे तो उसका काम है कि वह विवेचन करेगी कि सम्भव है कि नहीं, कि कैसे होगा, होगा कि नहीं होगा, करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए। बहुत तरह की बातें उसमें फंक्शन क्रियाएँ होनी लगती है। तो ऐसा कर देने से बुद्धि सम हो जाती है तो उस बुद्धि की समता में जब बाहर के भौतिक तत्त्वों के प्रभाव से उसमें फँसी हुई बुद्धि नहीं है तो उस बुद्धि की समता के भीतर के ज्ञान का प्रकाश होता है, अभिव्यक्ति होती है और उसमें, जो सब सद्ग्रन्थों में जीवन का सत्य अभिव्यक्त किया गया है, वह स्वतः ही उसमें सब प्रकट हो जाता है।

एक भाई ने एक और प्रश्न दिया है और उसमें लिखा है कि स्वामी जी ने स्थिर बुद्धि प्राप्त करने के लिए क्या साधना की ? इन्द्रियों को विषय-विमुख करना, मन को निर्विकल्प करना, एकांत में रहना और मौन रहना। पाठशाला है एकांत और पाठ है मौन। और साधना है विषयों से विमुख हो जाना और जब संकल्पों का त्याग कर देना। सब विषय-भोगों का त्याग कर दो तो इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो जाएँगी, सब संकल्पों का त्याग कर दो, तो मन निर्विकल्प हो जाएगा। यह उसकी साधना है और इसी साधना से उनकी बुद्धि स्थिर हो गयी। और बुद्धि की स्थिरता में उन्होंने सब वेद, उपनिषद सब पढ़ लिया और पढ़ने वालों को धड़ाधड़-धड़ाधड़ उत्तर देते रहे। तो बुद्धि के स्तर पर शास्त्रों का जो अर्थ समझा जाता है उसमें और ठहरी हुई बुद्धि में जो शास्त्रों काअर्थ प्रकाशित होता है, उसमें कितना अनतर मालूम होता था सो हम लोगों ने देखा नहीं, सुना है। अध्ययन के आधार पर बोलने वालों की जुबान बन्द हो जाती है।

एक भाई लिख रहे हैं। जब हमें प्रभु से भी कुछ नहीं चाहिए, तो प्रार्थना क्यों? अच्छी बात है, उनके भीतर यह शंका उठ ी है। प्रार्थना उसको नहीं कहते हैं, जो कुछ चाह की पूर्ति के लिए किया जाए वह प्रार्थना नहीं है। प्रार्थना का अर्थ है, जीवन की आवश्यकता अनुभव करना। मुझे सत्य चाहिए, मुझे अविनाशी जीवन चाहिए, मुझे नित्य योग चाहिए व मुझे प्रभु-प्रेम चाहिए। तो जो सत्य है, नित्य विद्यमान है उसमें अभिन्न होने की आवश्यकता जो जगती है भीतर में उसको नाम है प्रार्थना और वह अनिवार्य है।

वह प्रार्थना तभी आरम्भ होती है, जब भगवान से कुछ और नहीं माँगना है।

धन चाहिए कि स्वास्थ्य चाहिए कि यश कीर्ति चाहिए, सन्तान चाहिए कि सुख-भोग चाहिए कि लम्बी जिन्दगी चाहिए ये सब जो लोग चाहते हैं इसके लिए भगवान से जो कुछ कहा जाता है, उसका नाम प्रार्थना नहीं है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी महाराज ने प्रार्थना शब्द के दो अर्थ बता दिए। एक कहा वैधानिक प्रार्थना और एक कहा अवैधानिक प्रार्थना। अब महाराज जी का अपनी एक शब्दावली की रचना है। तो वैधानिक प्रार्थना उसको कहते हैं कि जो अवश्य पूरी होती है, जीवन की माँग पूरी होती है, सत्य की जिज्ञासा पूरी होती है, प्रेम की अभिलाषा पूरी होती

है। इसकी जो आवश्यकता अनुभव करता है आदमी, उसका नाम है वैधानिक प्रार्थना। और हे भगवान मुझे मुकदमा जिता देना, हे भगवान मुझे व्यापार में लाभ दे देनाμइसका नाम स्वामी जी ने हम लोगों को समझाने के लिए कह दिया कि भाई यह अवैधानिक प्रार्थना है। यह पूरी हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है और जो जाए एक बार फिर भी सब कुछ चुक सकता है।

प्रश्नμविधान के आधार पर विधायक की सत्ता और विधायक के नाते विधान की सत्ता मानना इसमें से हमारे लिए कौन अधिक हितकर है?

उत्तर—जो तुम्हें पंसद आए सो अधिक हितकर है। एक ईश्वर-विश्वासी विधायक की सत्ता को स्वीकार करता है तो विधान को मान लेता है कि यह परमेश्वर की आज्ञा है। क्या आज्ञा है? कि तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो किसी को हानि मत पहुँचाना। विधायक को मान लिया तो विधान को मान लेता है और एक विचारक है खोज के आधार पर चलना चाहता है। तो वह देखता है कि संसार में इतना जबरदस्त विधान चल रहा है विधान को देखकर के विधायक को मान लेता है।

एक साइंटिस्ट का उदाहरण में आप लोगों को सुनाया करती हूँ। चार छः वर्ष पहले की बात है, बातचीत हुई थी मेरी एक साइंस लेक्चरर से, तो उन्होंने अपने मित्र की कथा सुनायी थी मुझको कि वे एस्ट्रोनामी में रिसर्च कर रहे थें देखा उन्होंने कि शून्य आकाश में इतना ट्रेफिक है, दिन-रात ग्रह, नक्षत्र, तारे अपनी-अपनी धुरी पर अपनी-अपनी गति चलते ही जाते हैं, चलते ही जाते हैं तो शून्य आकाश और उसमें इतने असंख्य यात्री और फिर भी कहीं एक्सीडेन्ट नहीं हो रहा है। कौन सँभाल रहा है? इनको कौन चला रहा है? टे°फिट-कन्ट्रोलर वह कोई दिखता ही नहीं है। तो उसने अपने रिसर्च के विषय को छोड़ दिया। एकांत में जाकर बैठ गया कहने लगा, कि अब ग्रह-नक्षत्रों की गति-विधि कौन नापता रहे, अब चलो उस कन्ट्रोलर से मिल लो तो सब समाचार मालूम हो जाएगा। यह अभी की बात है। उस भाई को मिल ही गए होंगे कन्ट्रोलर। जो इस प्रकार से इतना सब छोड़-छाड़ के बैठेगा उसे मिलने में क्या देर लगेगी। तो उसने क्या किया? उसने विधायक की सत्ता नहीं स्वीकार की थी, उसने विधान देखा कैसे-कैसे हो रहा है? कौन चला रहा है? कौन सँभाल रहा है? किसके संकेत पर इतने ग्रह-नक्षत्र, अबाध गति से असंख्य-असंख्य वर्षों तक, युगों तक चलते रहते हैं, चलते रहते हैं।

फ्रैक्शन आॅफ सेकन्ड, एक सैकिण्ड का एक सहस्त्रांश भी उनकी गति में

धीमापन या तेजी नहीं आती है। लाख-लाख वर्ष बीत गए, चल रहे हैं तो चल ही रहे हैं अपनी ही धुरी पर चल रहे हैं फर्क हुआ ही नहीं कभी। तो ऐसा कन्ट्रोलर तो कोई होगा जरूर भले दिखाई नहीं देता है तो चलो अब उससे मिल लेते हैं। तो

विधान देखकर के विधायक को मानना हो गया न? जी! अब प्रश्न कर्ता भाई पूछ रहे हैं कि मेरे लिए कौन-सा अधिकार हितकर है। दोनों ही हितकर है। अहितकर तो इसमें से कोई है ही नहीं है। और आपको जो रुचे सो ग्रहण कर लीजिए।

विधायक में सहज से विश्वास होता हो तो विधायक की सत्ता स्वीकार करके विधान मान लीजिए और विधायक को मानने की इच्छा न होती हो तो जीवन के

विधान को देख-देख करके विधायक को स्वीकार कर लेना पीछे से।

प्रश्न—सेवा-प्रवृत्ति का अन्त सहज निवृत्ति में होना चाहिए, इस निवृत्ति का स्वरूप क्या है?

उत्तर—सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए, और करने का राग मिट जाना चाहिए, इस बात की व्याख्या तो बहुत जोर से उस दिन हो गयी थी, काफी कर दिया मैंने। सहज निवृत्ति का अर्थ यह होत है कि अपने आप से ही आपके भीतर बाहर की सब गतियाँ शान्त हो जाएँ। तो जीव-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान, इन तीनों ही के आधार पर एक पाठ हम लोगों को पढ़ाया जाता था विश्वविद्यालय में कि गति कहाँ से आरम्भ हुई? तो कहाँ से आरम्भ हुई, उसकी पृष्ठ भूमि खोजने चले तो वहाँ जो पढ़ा वह तो अधूरा ही था, स्वामी जी महाराज ने जो पढ़ाया वह पूरा था। स्वामीजी महाराज ने क्या पढ़ाया कि जीवन में करने का राग है, तो राग के कारण से अहम् में स्फूर्ति उत्पन्न होती है फिर अहंङ्गति आरम्भ हो जाती है, फिर संकल्पों के नये-नये रूप बन जाते हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियाँ, कार्मेन्द्रियाँ सक्रिय हो जाती हैं। तो इसका खूब विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन भी किया मैंने और फिर दार्शनिक अध्ययन करने पर भी इस बात का पूरा पोषण भी हो गया और निवारण की साधना भी सामने आ गयी। तो प्रवृत्ति में हम लोग प्रवृत्त क्यों होते हैं, ऐसा अगर सोचिएगा तो स्थूल स्तर पर देखिए सूक्ष्म शरीर में संकल्पों का दर्शन होता है, होता है न? यहाँ जाना है, वहाँ जाना है, यह खाना है, यह करना है, ऐसा तो जब भीतर से संकल्प उठते हैं तो हम प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो जाते हैं। साधकजन क्या करते हैं, अशुद्ध संकल्प को और सुख-भोग-जनित संकल्पों का त्याग कर देते हैं।

नहीं-नहीं मैं साधक हूँ, इन संकल्पों का स्थान नहीं है मेरे जीवन में, तो वे संकल्प वहीं खत्म हो जाते हैं। और शुभ संकल्प जिनमें कि परिवार और समाज की सेवा बनती हो, ऐसी प्रवृत्ति में हाथ डालते हैं और हाथ डालने में भी उनको इस बात का पूरा ज्ञान रहता है कि यह कर्म करना है केवल करने के राग को मिटाने के लिए, इसके बदले में अपने को कुछ नहीं चाहिए। न मैटिरियल रिगार्ड चाहिए न वरबल रिगार्ड चाहिए। आदमी बहुत शानदार हो जाता है कि कि हुए के बदले में कुछ समान लेना पसंद नहीं करता है। यह क्या बात है? मैंने पैसे के लिए किया था क्या? मैं मजदूर हूँ क्या? मैं गरीब हूँ क्या? इन्कार कर देता है, नहीं नहीं यह सब नहीं चाहिए। तो यह सब नहीं चाहिए तो उनको वरबल रिवार्ड चाहिए कि पेपर में निकलना चाहिए कि इन सेवा-भाव सज्जनों ने इतना-इतना सामाजिक कार्य किया और ये इतने महान है कि इसके बदले में जो कुछ देने के लिए पसंद किया गया, सो उन्होंने इन्कार किया। यह जो पेपर में निकल जाएगा यह क्या है? यह वरबल रिवार्ड है। मुँह जबानी पुरस्कार है शाब्दिक। तो सही प्रवृत्ति का अर्थ होता है कि उसके बदले में अपने को किसी प्रकार का कुछ नहीं चाहिए। ऐसा ज्ञान लेकर के जब प्रवृत्ति में हाथ डालता है आदमी, तो काम खत्म होने के बाद भीतर, से बाहर से सब तरफ से अपनी आप शांति आ जाती हैं। सहज निवृत्ति का अर्थ क्या होता है? एक निवृत्ति का अर्थ तो यह है कि अभ्यास के बल पर इन्द्रियों को विषय-विमुख करो, मन की गति पर कन्ट्रोल करो, चित्त को स्थिर करो तो मन को रोकना, मन को बाधित करना, मन को सँभालना और चित्त को स्थिर करना। इनका एक अभ्यास होता है। एक तो अभ्यास-जन्य निवृत्ति है और एक है ज्ञान पूर्वक

आपने हित कारी कार्य किया और उसके बदले में कुछ भी लेना पसंद नहीं किया।

तो कार्य के अन्त में सब प्रकार की क्रिया-शक्ति जो है वह उस अविनाशी शांति में अपने आप डूब जाती है, तो संसार की जो गतिशीलता आरम्भ होती है वह अखण्ड शांति में से आरम्भ होती है और जब उसका काम खत्म होता है तो वह जाकर के उसी शांति में विलीन हो जाती है। तो एक तो अपने पर जोर डाल करके गति को रोकन और एक सहज भाव से सब गति जाकर के उस शांति में विलीन हो जाए। सहज भाव से जब गति विलीन हो जाती है, शांति में जाकर के डूब जाती है, इसको सहज निवृत्ति कहते हैं।

सेवा का अन्त त्याग में तो सेवा का व्रत मनुष्य के जीवन में है, इसी उद्देश्य से कि उसमें त्याग का बल आ जाए। सुख का त्याग भोगी बन्धन में बँधता चला जाता है, पराधीन होता चला जात है और सेवा का व्रत लेने वाला सेवक उत्तरोत्तर स्वाधीन होता चला जाता है। कैसे, कि सेवा करेंगे और उसके बदले में अपने लिए कुछ नहीं चाहेगें तो इस व्रत से उसके भीतर अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है, जिसके बल पर वह सब सांसारिक बन्धनों को तोड़ देता है। इसलिए सेवा का अन्त अगर त्याग में हो जाए तो समझना चाहिए कि मैंने ठीक सेवा की और सेवा के बदल में अगर अधिकार-लोलुपता जग जाए तो समझना चाहिए कि मैंने सेवा नहीं की मजदूरी की।

जब इन सर्किल में घनिष्ठ साधकों के साथ बैठ करके बातचीत होन लगती है, तो मैं अपना दिल टटोलती हूँ। अपना चित्र उनके सामने रखती हूँ और उनको भी संकेत देती हूँ कि सोचते जाओ, छः महीने सेवा कार्य किया है कि दो वर्ष किया है कि पाँच वर्ष के लिए पद लेकर किया है कि एक साल के लिए कि बिना पद लिए इतने दिन सेवा की है तो सेवा के अन्त में भीतर से अपने आप में रोम-रोग में शांति छा नहीं जाती तो ऐसा समझो कि मेरी सेवा में कहीं कोई त्रृटि रह गयी। अथवा ऐसा न लगे कि देखो इस संस्था की मैंने इतनी सेवा की और इस संस्था वाले लोग हमारी इस सुविधा का ध्यान नहीं रखते तो वे तो ध्यान नहीं रखते तो वे अपने कर्तव्य से चूक रहे हैं। उनका तो मालिक भगवान ही है जाने दो उनको, लेकिन तुम्हें जो याद आ गया कि मैंने इस संस्था की इतनी सेवा की, उसके बदले में मुझे सुविधा नहीं मिल रही है। तो जो सुविधा नहीं दे रहा है तो उसकी त्रुटि तो उसके लिए छोड़ दो, अपने लिए देख लो कि मुझे याद आ गया कि तुम्हें सुविधा क्यों नहीं मिली तो सब किया कराया मिट्टी। सेवक को अपनी सुविधा की याद नहीं आती है, सेवक में त्याग का बल आ जाता है।

जो पहली पीढ़ी के अपने लोग थे जैसे राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी, प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री जी,तो इन लोगों को जहाँ बैठा दिया गया, आज वहाँ बैठ करके वैसे काम किया और कल वहाँ से उठा करके दूसरी जगह बैठा दिया गया तो वहाँ बैठकर काम किया। तो ये लोग पद की शोभा बढ़ाते थे, पद के अधीन नहीं होते थे। ऐसे लोग हैं संसार में जो पद की पकड़ में नहीं आते। हैं। पद पर बैठा दो, तो उस व्यक्तित्त्व से पद की शोभा बढ़ जाती है, लेकिन वे स्वयं उस पद में बँधते नहीं। जब मौका लगा तो छोड़ करके अलग खड़े हो जाते हैं तो सेवा का अन्त जो है त्याग में होता ही है, यह मानव-जीवन का एक अनुभूत सत्य है। और स्वाधीन तो व्यक्ति होता ही है राग-

निवृत्ति से, राग मिट जाएगा तो स्वाधीनता मिल जाएगी।

इस प्रश्न में भी वही बात है। स्वामी जी ने कहा कि ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति का ज्ञान अवतरित होता हे। डुपया स्पष्ट करें। तो हो गया

प्रश्नμहम अचाह होना चाहते हैं, उपाय बताइए?

उत्तरμतो उपाय का उपाय नहीं पूछा जाता है। अचाह होना शांति का उपाय है, अचाह होना मुक्ति का उपाय है, अचाह होना स्वाधीन जीवन में प्रवेश करने का उपाय है। तो उपाय का उपाय पूछते रहोगे तो बनेगा नहीं। यह उपाय है, इसको करना है। चाह छोड़ना है और आपको चाह छोड़ना आता है। जैसे मैं बताऊँ एक मोह की संतान है और एक मित्र की संतान है और आपने भले आदमी होकर के भलमानसाहत से दोनों को सँभालना शुरू किया। अपना लड़का बड़ा आदमी बन जाए, बड़ी पोस्ट पर पहुँच जाए, बड़ी अच्छी तरह से पढ़ना लिखना कर लें और यह मेरे मित्र का लड़का भी ऐसा ही हो जाए बहुत अच्छी बात है तो यह आपकी चाह हुई इसमें आपने प्रयास आरम्भ किया। और दोनों ही लड़के पिछड़ रहे हैं, तो बड़े ही सहज भाव से आप मित्र के लड़के से अचाह हो जाएँगे, भाड़ में जाए नहीं होता है, तो मत पढ़। नहीं सीखता है तो मत सीख। छोड़ देंगे उस चाह को बड़े सहज से छोड़ देंगे और जो अपना लड़का है यदि दस बार फेल होगा तो ग्यारहवीं बार इमतिहान दिलवाएँगे। अचाह होना आता है, कि नहीं जी आता है।

प्रश्नμईश्वन को हम स्वीकार करते हैं, पर स्वीड्डति दृढ़ नहीं हो पाती है।

उत्तरμबड़ा बढ़िया उपाय महाराज जी ने बताया। ईश्वर को स्वीकार करने में एक शर्त है, केवल ईश्वर को स्वीकार करो। स्वामी जी महाराज कहते हैं कि वह इतना बड़ा है, इतना विशाल है, इतना व्यापक है, कि वह और किसी के साथ तुम्हारे दिल में नहंी घुसेगा। वह अकेला ही घुसना पसंद करता है। इसलिए स्वीड्डति दृढ़ क्यों नहीं होती? कि ईश्वर भी मेरा है, यह हाड़-मांस का शरीर भी मेरा है, यह ईंट-पत्थर का बना मकान भी मेरा है यह मेरा है, यह मेरा है। तो भाई सौ चीज मेरी है उनमें से एक ईवश्वर भी मेरा है। 1/100 ईश्वर का स्थान हुआ न? तो कैसे दृढ़ होगा स्वीकृति। वहाँ तो सैन्ट पर सैन्ट चाहिए 99 प्रतिशत भी नहीं चलेगा, शत प्रतिशत चाहिए इसलिए स्वीड्डति दृढ़ नहीं होती। जिन भाई-बहनों को स्वीड्डति दृढ़ करनी हो उनको भक्तों की सलाह माननी चाहिए। भक्तों ने क्या सलाह दी?

मीरा जी ने कह दियाऋ उपदेश नहीं देती थी, मेरी तरह लेक्चर नहंी देती थी मीरा जी लेकिन मीरा जी अपने मन का भाव प्रकट करती रहती थी। तो उन्होंने कहाμ"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोऊ"। और प्रेम का मन्त्र स्वामीजी ने पढ़ाया तो कहा, कि कोई और नहीं है। मीरा ने कहा कि 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई'। दूसरा कोई मेरा नहीं है यह मीरा जी ने कहा तो स्वामी जी महाराज कहे रहे हैं कि ईश्वर-विश्वास को दृढ़ करना है तो यह कहो कि दूसरा कोई है नहीं, है ही नहीं दूसरा कोई और नहीं है। वह एक ही है जिससे मैंने नाता जोड़ लिया, जो मेरा हो गया और हम हैं और वह है। बस सब कुछ उसमें खो गया तो स्वीड्डति दृढ़ हो जाएगी।

स्वामीजी महाराज को आस-पास हम लोग घेरे रहते थे, दो चार नयी उम्र के लोग भी, पुरानी उम्र के लोग भी। बातचीत हो रही है कोई जल पिता रहा है, कोई सिर सहला रहा है, कोई

गपशप कर रहा है कोई अपना दुःख सुना रहा है। तो बात करते रहते महाराज तरह-तरह से और बीच-बीच में हृदय से उद्गार कुछ-कुछ निकलता रहता थाμप्यारे तुमने खूब किया वाह यार तुमने खूब किया, ऐसा किया वैसा किया। तो कभी-कभी मुझे लगता कि हम लोग, जो स्वामी जी महाराज की सेवा में लगे हुए हैं तो महाराज हम लोगों को शाबाशी दे रहे हैं। तो संतोष में, कुछ नम्रता में मैं यह कह देती, अरे महाराज हम लोगों से क्या बनताहै आप काहे ऐसी बातें कहते रहते हैं। तो खूब हँस देते और कहते कि लाली मैं तुमको थोड़े कह रहा हूँ। तुम समझ रही हो कि मैं तुमको कह रहा हूँ, कोई और है ही नहीं। तो ईश्वर-विश्वास को स्वीड्डति को दृढ़ करने का यह अचूक उपाय हैμकिसी और की सत्ता ही नहीं है। तो पहले मीराजी की बात मान लो। क्योंकि बहुत सारे दिख रहे हैं अपने को, तो पहले उनकी बात मान लो। मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई। दूसरों कोई मेरा है नहीं, केवल गिरधर गोपाल मेरे हैं। तो पहले ऐसा मान लो कि वहीं मेरे हैं। पीछे क्या होगा? कि सब उनमें समा जाएगा। तब अपने आप दिखने लगेगा वह ही है, वह ही है, कोई और है ही नहीं। यह प्रेम का मन्त्र है। स्वीड्डति को दृढ़ करो, उसका उपाय है।

प्रश्नμकहा जाता है कि पूर्व जन्म में मनुष्य अच्छे कर्म करने से मानव बनता है तो फिर वह मानव बनने के बाद गलत काम क्यों करता है?

उत्तरμतो पूर्व जन्म में मनुष्य। मनुष्य और मानव इन दोनों में आप ने भेद कर दिया। मानव को ही मनुष्य कहिए, मनुष्य और मानव में भेद मत कीजिए। और मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त में तो ऐसा माना गया कि मानव-जीवन जो मिलता है किसी को, तोवह कर्म का फल नहीं है। क्योंकि शुभ कर्म करने का प्रश्न तो उठेगा, मानव बनने के बाद। गाय, बैल, घोड़ा बकरी के जीवन में शुभ-अशुभ् कर्म का प्रश्न नहीं है। वे तो प्रड्डति के नियम में बँधे हुए भोग योनियाँ है। शुभ कर्म करने का प्रश्न उठेगा कब जब विवेक का प्रकाश देकर आपको दुनिया में भेजा जाएगा तब तो पहले मनुष्य बनता है, पीछे शुभ कर्म करता है, इसलिए मानव जीवन जो है, वह शुभ कर्म का परिणाम नहीं है। मानव जीवन जो है, वह जीवन-दाता का ड्डपा-प्रसाद है।

अब जीवन मिलने के बाद आदमी को शुभ कर्म ही करने चाहिए अशुभ कर्म नहीं करने चाहिए। तो आप कहते हैं कि क्यों करताहै? तो दूसरों के बारे में तो हम जान ही नहीं सकते। अपने से पूछ लो कि मैं गलत काम क्यों करता हूँ? ठीक है न? किससे-किससे पूछें कि तुमने गलती क्यों की? तुमने गलती क्यों की? और दूसरों से पूछने में फायदा ही क्या होगा? अपने ही से पूछ लो कि मैंने गलती क्यों की? और सचमुच अगर आप पूछेंगे तो आपको उत्तर भी मिल जाएगा और गलती मिटाने का बल भी मिल जाएगा। उत्तर क्या मिलेगा? विवेक का अनादर किया इसलिए गलती की। और बल क्या मिलेगा? अब से अनादर नहीं करूँगा, गलती खत्म हो जाएगी।

प्रश्नμकहा जाता है कि मनुष्य ईश्वर का अंश है किन्तु वह माया से प्रेरित होकर कार्य कतर है। क्या माया ईश्वर से भी प्रबल है?

उत्तरμऐसा मालूम होता है। अब मैं साइक्लोजिस्ट हूँ न? तो साइक्लोजिकल उत्तर आ रहा है दिमाग में। ऐसा मालूम होता है कि हम लोग अपनी गलती का दायित्व चाहे ईश्वर पर चाहे माया पर देना चाहते हैं, सो मानव सेवा संघ नहीं करने देगा।

प्रवचन 2

अब एक बहुत अच्छी मुझे याद आ गयी, वह मैं आपको सुनाऊँ। समाज की बड़ी भयंकर दशा है। एक-एक अंग जो है वह विड्डत हो गया है, सामान्य जन समाज इस पीड़ा से बहुत पीड़ित है। मुझे व्यक्तिगत रूप से बहुत से नवयुवकों से परिचय है, जो बड़े होनहार विद्यार्थी थे और एडमिन्टे॰टिव सर्विस में हैं जगह-जगह पर, तो उनसे अभी भी बातचीत होती रहती है, और वे कहते हैं कि जहाँ भी रहो अगर ईमानदारी और सच्चाई से राष्ट्र की सम्पत्ति की रक्षा करते हुए, प्रजा की सेवा करना पसंद करो, तो बहुत तकलीफ हो रही है। ये वे लड़के कह रहे हैं।

शरीर के सम्बन्ध में छः भाईयों के बीच में अठारह भतीजे हैं, बहुत इन्डियन गवर्मेन्ट में भी हैं एडमिन्स्टे॰टिव सर्विस में भी है और दूसरी-दूसरी जगह पर भी है और शिक्षा-विभाग में भी है, तरह-तरह के स्थान पर है। और भी बहुत से हैं बड़ा भारी लम्बा चैड़ा परिवार, बहुत सी रिश्तेदारियाँ। लड़के एडमिनिस्टे॰टिव सर्विस में आते तो प्रायः मैं राँची में ही थी और उनकी एक-एक गोष्ठी रविवार को हुआ करती थी। उन लोगों की बात में बता रही हूँ। कई लड़के ऐसे हैं जो हाईब्लड प्रेशन और डाइबिटीज के रोगी हो गए। युवावस्था में चालीस वर्ष के आस-पास हैं अभी कम उम्र के ही हैं। क्या हो गया तो कहते हैं, बुआ करें क्या? ऊपर से दबाव और नीचे से घिराव ब्लडप्रेशन कैसे ठीक रहे। थोड़े में, वह कथा मुझको ज्यादा नहीं कहनी है, अब मैं बता रही हूँ कि अंग-अंग ऐसा विड्डत हो गया है कि सही आदमी, ईमानदार आदमी कुशल से रह नहीं सकता है।

बड़ी परेशानी है तरह-तरह की। खास करके अब कौन विभाग का नाम लिया जाए शिक्षा में भी वैसे ही है और शासन में भी वैसे ही है। और जगह-जगह पर अब सेना में भी वैसे ही प्रवेश कर रहा है। तो क्या होता है कि मानव-सेवा-संघ का कार्यक्रम जब होता है, सामाजिक लोग जब आते हैं, तो मुझे कहते हैं कि आपने व्यक्तिगत रूप से शान्ति, मुक्ति, भक्ति की बात बहुत अच्छी तरह सामने रख दिया और हम भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन हम सब लोग तो बड़े जोर से उलझे हुए हैं, क्योंकि बृहत् समाज के साथ व्यक्तिगत जीवन इस प्रकार से जुट गया है कि समाज में आने वाली आपत्ति-विपत्ति के बीच में हम लोग मेन्टर बैलेन्स को रखें कैसें और अपने नैतिक स्तर को सँभालें कैसें? अच्छी बात है भाई मैं सोचने लग जाती हूँ, मैं चुप हो जाती हूँ ऐसा लगता है कि इस प्रश्न का मैं क्या उत्तर दूँ? मानव सेवा संघ ने उत्तर तो दिया, क्या कहा, भाईμसमाज कोई हवा में तो बनता नहीं है।

व्यक्तियों का समूह समाज है। एक-एक व्यक्ति अगर एक-एक जगह पर सही हो जाए तो उस व्यक्ति से वहाँ का वायुमण्डल सही हो सकता है। और एक-एक व्यक्ति अपने कर्तव्य में दृढ़ हो जाए तो कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों का समूह जो बनेगा, तो बहुत सुन्दर समाज बन सकता हे। तो उपाय तो यही है, दूसरा उपाय नहीं है। लेकिन फिर कोई-कोई साधु संत मण्डली के मिल जाते हैं तो हमको डरा देते हैं, कह देते हैं। एक सज्जन मिले थे, हमारे साथ कार्यकर्ता को कहने लगे कि मैं अपने गुरु महाराज के पास गया तो उन्होंने पूछा कि अरे राधानाथ तू मानव सेवा संघ में क्या करता है? तो उन्होंने कहा कि महाराज अपना कल्याण और सुन्दर-समाज का निर्माण करता हूँ। और

क्या बताएँ? सही बात जो थी वह उन्होंने कर दिया, तो उनके गुरु महाराज ने कहा कि अरे भैया, तू कलियुग मिटा देगा, कलियुग के स्वभाव को मिटा देगा, कलियुग के प्रभाव को मिटा देगा? चला है सुन्दर समाज का निर्माण करने।

बेचारे सुन करके चुप रह गए। अब गुरु महाराज को क्या उत्तर दें? मेरे पास आकर कहने लगेμबहन जी, अब क्या करें? अब बहन जी भी चुप, अब क्या करें? मन ही मन इस बात का मुझे दुःख हो गया। मैंने कहा कि ये बात कह रहे हैं अब हमारे पास इसका उत्तर क्या है? उत्तर तो आदमी जीवन से दे, कथन के उत्तर का तो कोई फल नहीं होगा। तो सहायता तो मुझे बहुत मिली है, बहुत सहायता मिली है। कल प्रातः काल की बैठक में आपने सुना कि बूढ़े लोगों को पेंशन दिलवाने के लिए हरिराम जी गाँव से फार्म भरवा कर, सही करवा कर ले जाते हैं। तो मानव सेवा संघ के आजीवन कार्य कर्ता के चरित्र की धाक ऐसी जम गयी है कि अगर हरिराम का वह रिकमेण्ड किया हुआ है, तो मजिस्टे्ट उस पर दोहरा कर सोचता नहीं है, कि सत्य है कि मिथ्या है। तो ऐसा तो आप नहीं कह सकते हैं कि कलियुग में नैतिक ऊँचाई का कोई प्रभाव नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता प्रभाव तो है, लेकिन सोचने की बात है यह। प्रभाव कोई व्याख्यान से तो नहीं जम सकता है।

यह प्रभाव ऊँचे चरित्र से जम सकता है। ठीक है न। तो बहुत संख्या मेरी दृष्टि में, अब हमारी दृष्टि कौन-सी पूर्ण है कि हम उसकी गलती न जानें। फिर भी ऐसे ही सोचो कि मेरी दृष्टि में अब बहुसंख्या गलत दिखाई दे रही है तो बुराई की वृद्धि में अगर कोई रोक नहीं डालता है, तो हम भलाई की वृद्धि में रोक डाल करके निराश क्यों हो जाएँ? जी! निराश तो नहीं हो सकते। तो एक-एक भाई को एक-एक बहन को इस ढंग से अपने को अच्छाई की ओर चलाना चाहिए। स्वामी जी महाराज ने लिखा भी है और बताया भी है कि अगर बिना प्रचार किये बुराई का प्रचार हो जाताहै, तो बिना प्रचार किये भलाई का प्रचार नहीं हो जाएगा? जी! हो जाएगा। इतना बड़ा समूह इस बीच में अगर एक व्यक्ति वीतराग बैठा है, एक व्यक्ति शुद्ध हृदय का बैठा है, एक व्यक्ति जन-समाज का हितकारी बैठा है, तो उसके भीतर से जो संकल्प और चिन्तन उठ रहे हैं, वे क्या दूसरों में अच्छे चिन्तन को उद्भूत नहीं करेंगे? करेंगे।

तो बुराई का प्रचार हो जाता है बिना व्याख्यान दिए, तो भलाई का प्रचार क्यों नहीं हो जाएगा? हो जाएगा जरूर। जीवन के माध्यम से करना पड़ेगा, कथन से नहीं होगा। इस तरह की बातचीत हम लोग करते रहे, काम अपना करते रहे। तो सुनने को मिला, मुझे बड़ा अच्छा लगता। पिछली दफा दिवाली के सत्संग के बाद भगवत् कथा हो रही थी यहाँ तो उस भगवत् कथा में यह सुनने को मिला कि कलियुग का जो पूरा पीरियड है, सतयुग, द्वापर, त्रेता से तो जरुर छोटा है लेकिन हम लोगों के जीवन की जो अवधि है, उसकी नाप तौल से तो कलियुग का पीरियड बहुत लम्बा है,तो उसमें यह लिखा है कि इतना जो लम्बा पीरियड है कलियुग का इतनी लम्बी अवधि है तो सारा समय जन समाज में घोर अंधकार, पाप और दुःख नहीं रहता है, बीच-बीच में थोड़े-थोड़े समय पर। थोड़े-थोड़े समय पर सतयुग का प्रभाव भी उसमें आता रहता है।

पंडित जी सुना रहे थे, मैं सुन रही थी। भीतर मुझ को बड़ा अच्छा लगा। हमने कहा कि अब हम नहीं कह सकते हैं कि जो सत्य के प्रभाव के लिए इतनी संस्थाएँ, इतने संत महात्मा, इतने

जन समाज के लोग प्रयास कर रहे हैं वह सबका सब निरर्थक जाएगा, ऐसी बात नहीं है? ठीक है न, तो मुझको बड़ा आश्वासन मिला। हमने कहा कि अब तो हम और उत्साह से प्रयास करेंगे क्योंकि सारा कलियुग घोर अंधकार में पड़ा रहेगा, ऐसी बात नहीं है। बीच-बीच में सत्य का प्रकाश होता रहेगा, अच्छी वृत्तियों वाले लोग आते रहेंगे और समाज के दुःख को घटाते रहेंगे और मनुष्य का समाज जो है वह अच्छे रास्ते पर चलता रहेगा। चूँकि मैं उस ग्रन्थ के वाक्य में विश्वास करती हूँ इसलिए मेरे दिल में कुछ सहारा मिल गया। हमने कहा कि अच्छी बात है तो अब हम इस ढंग से कार्य करेंगे, हम यह मान कर चलेंगे कि कलियुग के प्रभाव से सब के सब डूब जाए ऐसा न सोचें। और रामचरित मानस में भी लिखा है, गोस्वामी जी ने भी लिखा है। चैपाई स्पड्ढ नहीं कि जरूर कलियुग का प्रभाव हम लोग मानते हैं, लेकिन सबको वह प्रभावित नहीं करता, जो सचेत लोग हैं, जो भगवत्-भक्त लोग हैं, हरिआश्रित जो लोग हैं, विवेकी जन जो है उन पर प्रभाव नहीं पड़ता। यहाँ भी प्रमाण है कि आदमी चाहे तो ऊँचा उठ सकता है और इससे, समाज को ऊँचा उठाने में भी सहायता मिल सकती हैै।

ऐसी-ऐसी थोड़ी-थोड़ी आशा मेरे भीतर थी, और उत्साह पूर्वक हम लोग अपना काम करते जा रहे हैं। तो एक संत के पास मैं पहुँच गयी। उन संत के जीवन की जो बातें हैं, उसमें ऐसा प्रकट होता है कि वे सशरीर इस धरती पर हैं जरूर लेकिन उनको अपने निज स्वरूप का, निज लोक का, निज प्रेमास्पद का अनुभव हर समय रहता है। पास में रहने वालों ने देखा है, मैंने भी रहकर देखा है, उनके साथ मैं ठहरी हुई थी, बातचीत हो रही थी, तो उन्होंने मुझे बहुत बढ़िया बात बताई अभी याद आ गयी, मैं आप लोगों को सुनाऊँ बहुत आनन्द आएगा।

वे ध्यान में बैठी थी। स्त्री शरीर है, ध्यान में बैठी थी। उसके बाद उन्होंने कहा कि अब एकान्त कमराहै, जहाँ जब उनकी इच्छा होती है एकान्त में रहती हैं। तो कहने लगी कि हम एकांत में बैठे थे ध्यान में, तो मुझे ऐसा लगा कि एक पूरी प्रकाश से भरी हुई एक अद्भूत जगह पर मैं पहुँच गयी हूँ। वहाँ प्रकाश ही प्रकाश है और कुछ है ही नहीं। वहाँ पहुँच करके मुझे आश्चर्य हुआ कि कैसे में यहाँ आ गयी फिर कोई बात नहीं, देखा उन्होंने कि वहाँ नौ)षि बैठे थे, सबको तो उन्होंने नहीं पहचाना। बता रही थी एक तो मुझे मालूम हुआ वशिष्ठ जी हैं और दूसरे स्वामी शरणानन्द जी महाराज है और तीसरे उनके गुरु स्वामी कार्तिकेय जी महाराज हैं। तो नौ में से तीन को उन्होंने पहचाना। बाकी को नहीं पहचाना, तो हँस कर कहने लगीं कि धरती पर तो मैंने यह सुना था कि सप्त)षियों के मण्डल में सात)षि हैं, आप लोग नौ जने बैठे हैं यहाँ। तो उनके गुरु ने कहा कि हे किशोरी जी, आप ही ने तो हम दोनों को इसमें शामिल होने के लिए भेद दिया है। अपने को और स्वामी शरणानन्द जी महाराज को आप ही ने तो इसमें शामिल कर दिया है। बच्चे की तरह उनके साथ खेलते थे, विनोद की बातें होती रहती थीं और कुछ उसमें सत्यता भी है। तो उनके गुरु ने ऐसे कह दिया तो ये हँस के रह गयी। फिर वे लोग बड़े गम्भीर हो गए, ऐसा जैसे कि कोई बहुत चित्ता-जनक समस्या पर बातचीत हो रही हो। ऐसे वे नौ के नौ बिल्कुल गम्भीर हो गए। ये देख रही थीं, देखकर के पूछा उन्होंने कि क्या बात हो रही है? क्या हो रहा है? तो उनके गुरु ने और स्वामीजी

महाराज ने उत्तर दिया और किसी ने बातचीत नहीं की।

उनहोंने कहा कि संसार की हालत इतनी खराब हो गयी है, इतने लोग सब बड़े दुःख में पड़ गए हैं, तो हम लोग सोच रहे हैं कि अब कैसे इन दुःखी जनों को सँभाला जाए। तो किशोरी जी ने अपने महाराज जी से और हमारे महाराज जी ने कहा, दोनों से कहा कि महाराज जी आप लोगों को संसार के दुःखी लोगों पर इतनी दया आ रही है, इतनी चिंता हो रही है, तो आप दोनों चाहिए, हमारे साथ धरती पर चलके सँभाला जाए, तो स्वामी शरणानन्द जी महाराज ने कहा कि किशोरी जी, आपको तो मालूम है, हम धरती पर नहीं जाते, हम नहीं जाएँगें तो किशोरी जी चुप हो गयीं। इन्कार कर दिया बता रही थी कि बड़े जोर से दृढ़ता के साथ इन्कार किया, नहीं-नहीं हम नहीं जाएँगे। आप को तो मालूम है हम नहीं जाते हैं तो चुप हो गयीं।

फिर उसके बाद कहा उन्होंने कि बड़ा-बड़ा सा मोटा-मोटा सा एकदम सफेद रजिस्टन खूब लिख-लिख कर थान लगा कर रखा है उन)षियों के पास में। देखा उन्होंने देखने लगी ध्यान से तो उन्होंने कहा कि किशोरी जी यह सब विधान बन रहाहै, संसार को संँभालने के लिए। ऐसा बोलन-बोलने में जो भी उनकी बातें याद आ रही है, तो एकदम से बदन सिहर रहा है।, अच्दा लग रहा है सोच-सोच के। किशोरी जी यह विधान बन रहा है, संसार को सँभालने के लिए। और उसके बाद इन्होंने पूछा कि कौन-सा स्थान है, मैं कैसे आ गयी यहाँ तो उन्होंने कहा, स्वामी जी ने कहा कि यह सत्य लोक है। केवल प्रकाश और)षि और कुछ नहीं था। यह सत्य लोक है। वह करके वे बोलीं कि सब)षि एक स्वर से कहने लगे कि महात्मा और परमात्मा का सिद्धान्त संसार में चलेगा, महात्मा और परमात्मा का सिद्धान्त संसार में चलेगा। अब यह विधान चलेगा, महात्मा और परमात्मा का विधान संसार में चलेगा।

किशोरी जी को कहा उन्होंने। कहते-कहते फिर इनकी स्थिति बदल गयी तो उन्होंने अपने कमरे में अपनी इसी जगह पर बैठे हुए अपने को पाया, तो सोचने लगी कि मैं कैसे वहाँ चली गयी थी और कैसे वहाँ से यहाँ आ गयी। सो तो हमको पता नहंी चला लेकिनन काफी देर तक उस कमरे में बैठे हुए यही ध्वनि उनके कान में गूँजती रही परमात्मा और परमात्मा का विधान संसार में चलेगा। कितनी देर तक उनको यह ध्वनि सुनाई देती रही और कितनी देर तक उस देखे हुए दृश्य की स्मृति बनी रही और बैठे-बैठे सुनती रही बहुत देर तक। तो यह घटना उन्होंने अपने अनुभव की सुनाई। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं कि जिनके दिल में शंका हो कि क्या जाने स्वप्न होगा, तो क्या जाने कल्पना होगी तो भई जिनकी शंका हो उनको तो मैं नहीं जानती हूँ

शंका वाले शंका की बात जानें लेकिन मैं महाराज जी में विश्वास करती हूँ। मैं)षियों के लोेक-हितकारी चिंतन में विश्वास करती हूँ। मैं परमात्मा की शक्ति में विश्वास करती हूँ। और मैं किशोरी जी की वाणी में विश्वास करती हूँ वह मुझे तो बहुत ही अच्छा लगा, बहुत अच्छा लगा, जैसे कि एकदम हारे हुए सिपाही को किसी अदृश्य शक्ति से बहुत बल मिल जाए, इस प्रकार से मुझे बल मिल गया। उसी समय मेरे ध्यान में आया कि मैं सत्संगी भाई-बहनों को सुनाऊँगी कि भाई कलियुग का नाम लेकर के अपनी भूल को औचित्य मत देना कभी। यह भी होता है न? कलियुग का नाम लेकर अपने मन की बुरी वृत्तियों

को समर्थन मत देना औचित्य मत देना और सुधार से और उत्थान से निराश कभी मत होना। ठीक है, स्वीकार है? बहुत धन्यवाद।

अब आगे सुनों जब नया-नया नशा था साधक होने का, साधन होने का। तो तरह-तरह के प्रश्न स्वामी जी महाराज के सामने रखती थीं। तो जब मुझ में क्रिया का वेग था, खूब वेग था। जिस समय मुझको यह विश्वास था कि शारीरिक बौद्धिक बल के पुरुषार्थ से आदमी का जीवन पूर्ण हो जाता है। उस समय में खूब क्रिया के वेग में लगी रहती थी और अपने को समझाती रहती थी। भीतर और बाहर का संघर्षμभीतर तो अपने विकारों के साथ लड़ना, भीतर-भीतर, उठने वाले विकारों से संघर्ष करना। नहीं मैं ऐसा नहंी करूँगी नहीं मैं ऐसा नहीं होने दूँगी, नहीं मैं इस संकल्प की पूर्तिनहीं करूँगी। भीतर से उठ रहा है और ऊपर से जोर डाल करके दबा रही हूँ। तो एक तो भीतर का संघर्ष और एक बाहर प्रतिकूल परिस्थितियाँ का संघर्ष तो इतने संघर्ष में पड़ करके भी कभी हार मानने की बात जीवन में आयी नहीं। बड़े जोर से कमर कसके। जैसे कि सारे संघर्षों का सामना करने के लिए ही जीवन मिला हो। तो "जीवन है संग्राम बन्दे जीवन है संग्राम, लेकिन हिम्मत से काम बंदे, जीवन है संग्राम।"

यह गाती रहती थी और संघर्ष में पड़ी रहती थी। स्वामीजी महाराज के पास आने के बाद सब शांत करके बहुत धीरज से, भीतर के सब संकल्पों को छोड़ करके उनकी वाणी सुनने की जरूरत पड़ती है। सँभालते-सँभालते काफी समय लगा जबकि भीतर बाहर की क्रिया के वगे को मैं थोड़े-थोड़े समय के लिए अपने नियन्त्रण में ला सकूँ। महाराज जी तो एकदम पारखी, उनकी दृष्टि तो इतनी पैनी थी तो कि दूर से कोई साधक उनके पास आ रहा है तो क्या पूछने आ रहा है, तो स्वामी जी को मालूम हो जाता था। और कैसा भी प्रश्न करें, कितना भी सभ्य, शिष्ट शब्दों में छिपा कर करे, महाराज जी उसी मंशा को एकदम समझ जाते थे। मेरे को देखकर ही उन्होंने तो जान ही लिया कि इन्हें कैसे सँभालना होगा। जब मुझे सेवा के लिए प्रेरित करने लगे, कार्य के लिए प्रेरित करने लगे तो मैं बुहत प्रकार के प्रश्न करूँ उनसे। स्वामी जी महाराज, आप कैसी बात करते हैं। आप तो कहते हैं, जीवन मिलता है अप्रयत्न होनेे से, कुछ नहीं करने से, तो इतने प्रकार की सेवा प्रवृत्तियों में क्यों डाल रहे हैं मुझें? कैसे सँभालू मैं? ऐसे-ऐसे में तरह-तरह के प्रश्न करती।

तो बहुत बढ़िया उत्तर स्वामीजी ने दिया। स्वामी जी महाराज ने कहा, कि लाली देखो, अचल हिमाचल होकर के सेवा करो और चाहे लहराती हुई गंगा होकर सेवा करो लाली, तुमको सेवा करनी पड़ेगी। तुम्हें पीड़ितों की पीड़ा में भाग लेना पड़ेगा तो एक दिन हँस करके मैंने कह दिया कि महाराज कितनी मुसीबत उठा करके, भीतर-बाहर कितना संघर्ष करके, आपके पास बैठ करके किसी तरह मैंने व्यक्तिगत दुःख का भार उतारा। अब बाज आये साधु-संत होने से। दुनिया भर के दुःख का भार कौन लेता फिरे? रहने दो। तो फिर उन्होंने उत्तर दिया कि तुम रह पाओगी? रह नहीं सकती। आज मैं कहता हूँ कि करो, तो अगर मेरे कहने से करोगी तो संकल्प में बँधोगी नहीं।

गुरु हो तो ऐसा। मेरे कहने से करोगी तो संकल्प में बँधेगी नहीं। और फिर अपने संकल्प से करोगी तो उस पहाड़ को पार करने में भी स्टेªन होगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि करो। अच्छी बात

महाराज ठीक है। क्रिया का वेग तो भीतर था ही। वह तो जबरदस्ती निवृत्ति वाला बनाना चाहती थी मैं, तो महाराज जी ने नहीं बनने दिया, अच्छी बात है। फिर अचल हिमाचल होकर सेवा करो इसका अर्थ है? तब स्वामी जी महाराज ने मुझे बताया µदेवकी जी, जब राग की निवृत्ति हो जाती है जब संत जन में सहज निवृत्ति आ जाती है, जब उनके अहम् की सीमा टूट जाती है, वे सब प्रकार से सत्य से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए शांत हो जाते हैं। तब उनसे आगे करणयी जैसा कोई कर्म शेष रहता नहीं है। तब उनको सेवा करना है, ऐसा संकल्प उठता नहीं है। तब वे सचमुच अपने अहंङ्गति से, अहम् स्फूर्ति से प्रेरित नहीं होते हैं। तब तो वे अचल हिमाचल की तरह शांत रहते हैं। और उनके जीवन का सत्य, उनके जीवन की शक्ति, उनके जीवन की करुणा, उनके जीवन का ईश्वरीय प्रेम स्वतः ही बिना किये जन समाज की सेवा करता रहता है। कितनी बड़ी बात है, तो मुझे याद आ गया।

किशोरी जी ने जब)षियों की बात बतायी, तो मेरे ध्यान में आ गया। त्रिगुणातीत पुरुष, सत्य लोक के वासी धरती पर आएँगे नहीं, स्वामी जी ने इंकार कर दिया कहा, पार हो गए अब काँहे को आएगे यहाँ, आएँगे नहीं यहाँ। लेकिन जहाँ हैं वहीं से हमारे आपके कल्याण का काम कर रहे हैं। उनके हृदय की पीड़ा कौन बात की पीड़ा? हाय! मनुष्य होकर के इतने दुःख में पड़ा रहे? मनुष्य होकर हाड़मांस के शरीर की दासता में बँधा रहे? मनुष्य होकर जीवन और मृत्यु के संघर्ष में पड़ा रहे? जिसने अपना दुःख मिटाया वह दूसरे का दुःख देख नहीं सकता। रहा नहीं जाता तो उनके हृदय की करुणा, उन)षिमण्डल के हृदय की करुणा हम लोगांे को सँभाल रही है, अगर यह आस्था हम लोगों के भाई बहनों के जीवन में बैठ जाए तो कितना बड़ा बल मिलेगा आगे बढ़ने के लिए।

बहुत बड़ी बात होगी। तो अचल हिमाचल होकर सेवा करो। करो नहीं, करो नहीं वह सदा होती रहेगी। और ऐसी सेवा की भावना जिस महापुरुष में थी, वे क्या करते थे? वे कहा करते थे, हे मेरे प्यारे! कभी कभी अपने भीतर-भीतर सोचते-सोचते उनके मुख से वचन निफल भी जाते थे। भगवान से बातें होती रहती थी सो हम लोग चुन लेते थे। एक दिन बात कर रहे थे तो कह रहे थे। हे प्यारे, इस जीवन से जो सेवा लेनी है ले लो पर मेरे प्यारे, मुझ पर इतनी ङ्गपा करना कि मुझे इस बात का भास न हो कि इसके द्वारा सेवा हो रही है।

अचल हिमाचल बनकर सेवा करने का क्या अर्थ है? कि जीवन का सत्य अभिव्यक्त होकर जन-समाज की पीड़ा से, द्रवित हृदय से करुणा का रस बरसता रहे, पीड़ित जन-समाज की सेवा बनती रहे, सेवा करने वाले को करनी न पड़े। तो अचल हिमाचल होकर सेवा करो का क्या अर्थ है? कि तुम अपने जीवन को सत्य से अभिन्न कर लो, तो उस संत जीवनी से सेवा बनती रहेगी अपने आप स्वतः, या फिर गंगा की तरह लहराओ। तो हमारे तो लहारने के दिन थे न दौड़ करके, भाग करके, क्लास लेते-लेते आज 2 बजकर 10 मिनट पर घण्टी बजेगी तो काॅलेज में छुट्टी हो जाएगी तो मुझे स्वामी जी के पास जाना है, 2 बज करके 5 मिनट पर गाड़ी तैयार होकर के सामान सहित काॅलेज के फाटक पर खड़ी हो जाएगी।

लड़कियाँ जो हमारे पास रहती थीं साध्वी, सावित्री। ये लोग मुझे सँभालती थी। तैयार करके फाटक पर गाड़ी खड़ी है। घण्टी लगी

क्लास में से निकली और कार में बैठे, स्टेशन गए, टे᳭न में बैठे और स्वामी जी के पास पहुँचे और वापस जा रहे हैं तो मेरा टाइम टेबिल ले लेते। मेरा होली डेज लिस्ट ले लेते, साल में कहाँ-कहाँ कब छुट्टी होने वाली है, किस दिन का᳐लेज खुल रहा है, किस पीरियड में पढ़ाना है, तुमको कब उपस्थित होना है। महाराज आज ओपनिंग डे है, तो आज मुझको 12 बजे से पहले पहुँचना है। अच्छी बात क्लास कब शुरू होने वाला है। महाराज 10 बजकर 55 मिनट पर क्लास शुरू होगा। अच्छा ठीक है रास्ते मेंनहला देंगे, रास्ते में जल-पान करा देंगे।

कार में बैठा करके 10 बज करके 50 मिनट पर का᳐लेज पर खड़ी हो जाएगी गाड़ी, लाली, अब जाओ पढ़ाओ। टे᳭न से उतरी और क्लास लेने गयी। तो इस प्रकार का बीता है प्रत्येक वर्ष। तो यह गंगा की तरह लहराने वाली बात थी। हमने कहा इसका क्या अर्थ है महाराज? तब उन्होंने बताया कि जब तक क्रिया का वेग है भीतर, तब तक मनुष्य को इस प्रकार से सेवा करनी चाहिए। कोई समय, कोई शक्ति, कोई क्षण कोई योग्यता, तुम्हारी ऐसी न रह जाए, जो कि जन समाज की सेवा में लग न जाए। तो यह गंगा की तरह लहरा करके करो, और बल कहाँ से आता है? अब आप देखिए स्वामीजी महाराज के वचन में कितनी सत्यता है। कहते कि तुमको मालूम है यह शक्ति कहाँ से आ रही है? तो भाई देखो सब नदियों का उद्गम कहाँ है? है न, अरे वहीं न बर्फ जमती है, जल-कुण्ड सब वहीं पर तो हैं। मानसरोवर उसी पर तो है? तो यह सब शक्ति का जो भण्डार है, वह कौन है? जिसमें किसी प्रकार की क्रियाशीलता शेष नहीं रही, सर्वशक्ति का भण्डार वह है। और वह अचल हिमाचल होकर बैठा है, अप्रयत्न होकर बैठा है, करणीय कुछ भी उसमें शेष नहीं है।

प्रवचन 3

मानव जीवन की जो व्याख्या की जा रही है, वह तो मानव जीवन का चिरंतन सत्य है। लेकिन एक विशेष रूप से उसको संजोया गया है; एक विशेष रूप से उसे समाज के सामने प्रस्तुत किया गया है। तो यह ढंग जो है, यह शैली जो है, मनुष्य के जीवन को समझने की शैली और उसको सफल बनाने की शैली यह अपने आप में अनोखी है। ऐसा आप सभी जानकार भाई-बहन किताब पढ़ते हैं। तो मजहबी सीमाओबंब से अलग, मत-भेदों से अलग, वर्ग सम्प्रदाय इत्यादि की सीमाओं से मुक्त, वैचारिक रूढ़ियों से मुक्त शुद्ध सत्य ही मानव-जीवन के उद्धार के लिए, कल्याण के लिए, समाज के सामने आ जाए इसी उद्देश्य से महाराज जी ने इस विचार-प्रणाली का गठन किया।

आपने साहित्य पढ़ा होगा और उसमें देखा होगा कि कहीं पर उस साहित्य में स्वामी जी महाराज का नाम नहीं है। कहीं पर उस साहित्य में आप ऐसा नहीं देखेंगे कि यह लिखा गया हो कि यह हिन्दुओं का धर्म है और यह गैर हिन्दूओं का धर्म है। कहीं भी आपने ऐसा नहीं देखा होगा कि उस साहित्य में लिखा गया हो कि यह स्त्रियों का कर्तव्य है और यह पुरुषों का कत्र्तव्य है। देखा है कि ऐसा कहीं? कहीं नहीं। क्या अर्थ है? कि लिंग-भेद, वर्ग-भेद, मतभेद, मजबह-भेद, सम्प्रदाय के भेद, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, साकार उपासना, निराकार उपासना, इस प्रकार की जहाँ भी कोई बात होगी उसको स्वामी जी महाराज ने इस विचार-धारा में प्रवेश नहीं करने दिया। क्यों? क्योंकि उन्होंने एक ऐसी चीज मानव-समाज के

सामने रखना पसंद किया कि जिसमें किसी प्रकार का भेद प्रवेश न कर सके।

सब प्रकार की भेद की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ, सारे विश्व का मानव, मानव होने के नाते एक स्थान पर बैठकर जीवन की समस्याओं को सुलझा सके। तो बात तो चिर पुरातन है लेकिन शैली अपूर्व है। ठीक है न। बात तो चिर पुरातन है। जब से सृष्ठि की रचना हुई, जब से मानव-समाज हुआ, तब से मानवता की जागृति के लिए मानव समाज के कल्याण के लिए शांति, मुक्ति, भक्ति की प्राप्ति के लिए सत्य का प्रतिपादन होता आया है ग्रंथों के द्वारा और संतों के द्वारा और अनुभव जनों के द्वारा। वे ही बातें हैं यहाँ।

विशेषता क्या है? तो स्वामी जी महाराज ने यह चेष्ठा की कि भाई किसी बाहरी मतभेद के आधार पर साधक-समाज में विभाजन न हो जाए। तो सारे भेदभावों के सब कारणों से अलग करके इसको बचा करके और एक ऐसा स्तर तैयार किया गया, जहाँ सब भेदभव छोड़कर व्यक्ति, व्यक्ति के नाते, मानव होने के नाते परस्पर बैठ करके विचार कर सकते। हिन्दू हिन्दू बना रहे, मुसलमान मुसलमान बना रहे, ईसाई, ईसाई बना रहे, कोई बात नहीं है, कोई फर्क नहीं पड़ेगा लेकिन अगर मानव सेवा संघ के सदस्य वे बन गये तो उनके सामने एक सूत्र आ गया, एक मन्त्र आ गया। क्या आ गया? कि जो नहीं करना चाहिए वह किसी भी हालत में किसी भी कारण से, किसी भी भय से, किसी भी प्रलोभन से हम नहीं करेंगे। जो नहीं करना चाहिए हम नहीं करेंगे तो यह हिन्दुइज्म है कि मौहमडनइज्म है? क्रिशचन इज्म है कि ह्यूमनिइज्म है। क्या है? बताइए? जी? मानवता वाद है जो नहीं करना चाहिए सो नहीं करेंगे।

अब आप सोच करके देखिए कि एक अगर हिन्दू अपने को कहता है कि मैं बहुत ऊँचे संस्कार वाला हूँ और मैं बड़ी अच्छी परम्परा वाला हूँ, ऐसी हम लोगों की धारणा होते हुए भी जो नहीं करना चाहिए सो करता रहेगा तो उसका कल्याण हो जाएगा? नहीं हो जाएगा। कोई कहे कि हम तो इस्लाम में विश्वास रखते हैं, कोई कहे कि हमारे तो तरण तारण करने वाले, जगत् के बँधे हुए लोगों को परित्राण दिलाने वाले खुदा के पुत्र जिसेस क्राइस्ट आ गए तो हम तो जिसेस क्राइस्ट में विश्वास करते हैं और उसी विश्वास से हमारा कल्याण होगा, ऐसा कोई मानता है। बहुत से लोग ऐसे मानने वाले हैं। अब उनसे भी पूछिये उनके यहाँ भी जो बातें मना की गयी है कि ऐसा मत करना, ऐसा मत करना, ऐसा मत करना। तो जो नहीं करना चाहिए वह अगर जिसेस क्राइस्ट में विश्वास करने वाला भी अकरणीय करता रहेगा तो उसका कल्याण हो जाएगा? नहीं होगा। तो मानव-सेवा संघ के रूप में संघ के प्रणेता संत ने सच पूछिए तो मानव-धर्म को ही सब लोगों के सामने प्रस्तुत किया है। और हम सभी प्रभु की विशेष ड्डपा के पात्र हैं, संत की सद्भावना के पात्र हैं जिन्होंने हम भाई-बहनों को मत-भेदों के चंगुल से छुड़ा करके शुद्ध सत्य पर विचार करने के लिए और उसका अनुसरण करने के लिए एक आधार दे दिया। मानव सेवा संघ कोई संगठन नहीं है, कोई दल बन्दी नहीं है और इस संघ के माध्यम से संघ के मानने वाले और संघ के संचालक किसी प्रकार का लाभ उठाने की दृष्ठि नहीं रखते हैं, बड़ा शुभ लक्षण है, बड़ी बढ़िया बात है।

जैसे कि कल भी मंत्रियों की गोष्ठी हो रही थी तो हमारे सत्संग प्रेमी, भाई बन्धुओं, शाखाओं के प्रमी, शाखाओं के प्रतिनिधि जो भी यहाँ उपस्थित हो सके हैं उन लोगों ने अपनी-अपनी चर्चा चलायी अपनी-अपनी बात बताई मुझे बड़ा हर्ष होता है। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि आप जो मंत्रियों के मुख से रिपोर्ट सुनते हैं तो उसमें ऐसी चेष्टा नहीं है कि काम होता हो कम और रिपोर्ट में सुनाया जाता हो ज्यादा। एक भी शाखा ऐसी नहीं है जो इस प्रकार की टेन्डेंसी से काम करे। आपने देखा कि कितनी विनम्रता, कितनी अहंकार शून्यता से हमारे कार्यकर्ता आपके सामने उपस्थित होते हैं, और कितने संकोच से, थोड़ी सी बात कह करके, प्रणाम करके, हमहारा आपका सद्भाव मान करके जल्दी से अपना वक्तव्य खत्म कर देते हैं। ऐसी चेड्डा नहीं करते हैं जिससे अपने को शो किया जाए कि हम बड़े कार्यकर्ता हैं, हमारे यहाँ ऐसा होता है, ऐसा होता है सो नहीं, जहाँ तक सम्भव है उनसे अपनी त्रुटियों का भी उल्लेख कर देते हैं। यहाँ-यहाँ अभी इतना ही हो रहा है, अब ज्यादा हम करना चाहते हैं इसका अर्थ क्या है? इसका बहुत अच्छा अर्थ यह है कि सचमुच जिस उद्देश्य को लेकर मानव-सेवा-संघ बनाया गया हमारे सभी कार्य कर्ताओं, शाखाओं के प्रतिनिधियों, मंत्रियों, और जो शाखा के प्रतिनिधि और मंत्री नहीं है, जो आजीवन सदस्य, साधारण सदस्य हैं, प्रेमी हैं, मित्र हैं जो यहाँ आये हैं, सबसे भीतर यह दृड्ढिकोण बिल्कुल स्पड्ढ है कि इस संस्था में शामिल होने का अर्थ यह है कि मैं साधना के द्वारा अपना कल्याण करूँ और अपने ही समान अन्य भाई-बहनों का सहयोग दूँ। तो जहाँ केवल साधन और सेवा का प्रश्न है, वहाँ और कोई दूसरी त्रुटि, दूसरा विकार शामिल हो ही नहीं सकता। जगह-जगह पर जहाँ शाखाएँ बनी हैं, वे भाई सत्संग का विशेष आयोजन करने की चेड्डा में लगे भी रहते हैं। सूचनाएँ आती भी रहती हैं और जहाँ तक सम्भव हो सके मैं चेड्डा करती भी हूँ कि शाखाओं के भाई-बहनों के पास वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य मैं पहुँच जाऊँ और मिलकर के हम सब लोग विचार करें, अपनी-अपनी साधना में आगे बढ़ें। तो जहाँ-जहाँ भी जाने का अवसर मिलता है वहाँ के अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, मन्त्री और नगर-निवासी, साधारण सदस्य, आजीवन सदस्य और ऐसे सत्संगी भाई-प्रेमी मानव सेवा संघ का खूब काम करते हैं, सहयोग देते हैं।

जो किसी प्रकार के सदस्य नहीं है, सत्संग की दृड्ढि में इसमें कोई भेदभाव नहीं रहता। सब भाई-बहनों का मूल्य बराबर है किस दृड्ढि से कि जो अपना कल्याण करना चाहता है, वह मेरा सेव्य है, जो समाज के उत्थान में हाथ डालना चाहता है, वह मेरा सहयोगी है। तो प्रभु के नाते सभी अपने हैं, जगत् के नाते सभी अपने हैं इस प्रकार की एक अपनेपन की भावना संघ के माध्यम से बृहत् समाज में फैल रही है, यह बहुत अच्छी बात है, शुभ लक्षण हैं। और मुझे ऐसा लगता है कि मानवता के संरक्षक और मानव-समाज की पीड़ा से पीड़ित होने वाले संत के प्रति यदि मेरी कोई श्रद्धा है, भक्ति है, निष्ठा है, जो भी कुछ है तो वह यही है कि हम सब भाई-बहनों के बीच में एक अपनेपन की भावना का विस्तार हो, उससे अपना चित्त शुद्ध हो, जिसके द्वारा समाज में से बुराई मिटे। और हमारे-आपके इस सुलझे हुए जीवन से ही उस ब्रह्म-लीन संत को हम आनंदित कर सकते हैं और उनके प्रति सच्ची भावना और श्रद्धा प्रकट कर सकते हैं।

ये तो सबके लिए हो गयी। अब आपने थोड़ी-सी बात आश्रमों के बारे में सुनी, पाँच आश्रम स्थापित हैं मानव-सेवा-संघ के। वृन्दावन आश्रम जहाँ आप विराजमान हैं। गाजीपुर मैं आरोग्य आश्रम है आपने सुना। यह आरोग्य आश्रम एक डाॅक्टर के द्वारा संचालित था। उनके हृदय में जब पहले-पहल उन्होंने बातचीत की स्वामी जी महाराज से, तो उन डाॅक्टर सज्जन ने यह कहा कि महाराज जी, जब मैं आरोग्य आश्रम सँभालता हूँ और रोगियों की सेवा करता हूँ, तब यह सब काम करता हूँ, आमदनी होती है यह सब बात है, तो मेरे भीतर ऐसा लगता है कि मनुष्य का कियाμकराया जो कुछ है, वह अगर समाज के काम नहीं आया तो करने वाले कर्ता का चित्त शुद्ध नहीं होगा। यह उनकी भावना थी। तो सजाया, बनाया और खूब हँसे और साथ के लोग हम लोग मिलकर बात करें तो कहें कि बाप जेसे बेटी को पैदा करता है और पढ़ा के लिखा के, सजा के, श्रृंगार करके धन-सम्पत्ति देकर के और अच्छे योग्य वर के हाथ में सौंप देता है। ऐसी भावना थी कि हमने जो कुछ किया है, वह अगर समाज की सेवा में काम में नहीं आया तो मेरा चित्त शुद्ध नही होगा। ऐसा सोच करके उस सज्जन ने अपना जीवन-दान भी किया, आजीवन कार्यकर्ता भी बने मानव-सेवा-संघ के और उनके पास जो कुछ था वह संघ को समर्पित कर दिया, जिसके बारे में अभी आपने थोड़ा सा डिटेल सुना।

ऐसे ही दक्षिण बिहार में राँची में निर्माण निकेतन आश्रम बना है। राजस्थान में जयपुर में प्रेम निकेतन आश्रम बना है, राँची में राँची शहर से कुछ दूर पर एक और आश्रम की स्थापना हुई थी नवडीहा आश्रम। और महाराङ्ग[a] में उल्हास नगर में उल्लाहस नगर के सत्संग प्रेमियों ने भी एक छोटी-सी जगह बना कर रखी है मानव सेवा संघ की। तो आपने आरोग्य आश्रम के बारे में सुना गंगा जी के तट पर है, बहुत ही अच्छी जगह में है और बहुत अच्छी भावना से यह आश्रम बना है। क्योंकि दान करने वाले की भावना आपने सुन लिया न? उसके दिल में यही धुन थी कि हमने जो कुछ किया वह समाज के काम नहीं आया तो हमारा चित्त शुद्ध नही होगा, कितनी ऊँची भावना से वह बना। ऐसे ही जयपुर के प्रेम निकेतन आश्रम के बारे में आपने सुना। बड़ी-सी जगह है। साधकों के रहने के लिए छोटी-छोटी कुटिया हैं, मीठे पानी का कुँआ है और गौशाला भी रखा गया है। तो काम बहुत छोटे स्केल पर चला है मानव सेवा संघ का, निर्माण आश्रम की आज हालत ऐसी है। खूब घना बगीचा है वहाँ, आम, लीची, जामुन, काजू का बगीचा है। अमरुद का बगीचा है। खूब फल हैं। कुआँ भी हैं, पहाड़ी दृश्य भी बड़ा सुन्दर है शहर से दूर एकदम निर्जन शांत स्थान में हैं। तो यह सब जो आपने सुना इन सब आश्रमों की स्थापना के पीछे यह बात नहीं थी कि मानव सेवा संघ का खूब निर्माण कार्य हो जाए।

मुझे एक वाक्य मिला था स्वामी जी महाराज का, वह मैं सुनाऊँ आपको। बड़ी बढ़िया बात है। एक बड़ी अच्छी महाराज जी की वाणी है। आश्रम बनाने की आवश्यकता केवल इसलिए होती है, कि जहाँ हम लोग एकसंकल्प होकर बैठ सकें। वह भी इसलिए कि मानव मात्र का सब प्रकार से विकास कैसे होगा, इस पर विचार कर सकें। आश्रम बनाने के लिए आश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आश्रम के पीछे उद्देश्य होता है सबका सब प्रकार से विकास। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आश्रम निर्माण की जरूरत होती है।

अतः इस मूल बात को ध्यान में रखना होगा कि अपना उद्देश्य निर्माण नहीं है आश्रम बनाने में। बन जाए यह उद्देश्य नहीं है। क्यों बनाया? तो इसलिए बनाया कि सबका सब तरह से विकास हो। उस आश्रम में वास करके हमारा विकास हो और हमारे उस आश्रम वास से समाज का विकास हो। इसीलिए वह बनाया। एक दुःख की बात भी मुझे करनी पड़ेगी और आप ही योग्य पात्र हैं, जिनके सामने दुःख प्रकट करूँ। तो दुःख की बात यह है कि महाराज जी ने चेड्डा की कि खुली जगह में आश्रम बना करके साधक गण बैठेगे निश्चिन्तता से साँस लेगें। संसार का थका हुआ आदमी वहाँ बैठ करके विश्राम लेगा और अपने विकास के बारे में अपनी साधना का निर्माण करेगा और उसके विकसित जीवन से समाज को आराम मिले इससे उद्देश्य से बनाये गए। निर्माण निकेतन आश्रम राँची का भी साधकों से शून्य पड़ा है।

आरोग्य आश्रम गाजीपुर भी साधकों के बिना ऐसे ही पड़ा है। थोड़े कुछ प्रेमी लोग हैं, जो किसी तरह जिंदा रख रहे हैं। प्रेम निकेतन आश्रम जयपरु भी साधकों के बिना अविकसित रूप में पड़ा है। तो अपने भाई-बहनों को मैं यह सुना रही हूँ कि भाई सत्संग में तो हम लोग बार-बार इस बात को कहते हैं कि भाई मोह का घेरा तोड़ो। संतान जब सयानी हो गयी, वयस्क हो गयी तो उसके पीछे मत पड़े रहो।

मोह के सम्बन्ध में सारी जिन्दगी बिताएँगे। साधना के सम्बन्ध से थोड़ा भी समय नहीं देंगे तो व्याख्यान देने से और व्याख्यान सुनने से ममता का नाश नहीं होगा। ठीक है न। अरे एक बार हाँ तो कहिए। तो मैं तो कहती हूँ।

आगे चल करके स्वामी जी महाराज ने रजिस्टर्ड सोसायटी और विधि-विधान के बारे में भी हम लोगों को समझाया। एक बार ऊषाकान्त भाई और मैं हम दोनों चिन्ति हो रहे थे किसी काम से। वह बातचीत महाराज जी से हुई तो उन्होंने कहा कि देखो भाई यह भी मैंने लिखकर रखा है, खोजूँगी तो समय लग जाएगा मुँह जबानी सुना देती हूँ देखों भाई यह जो संस्था बनायी है और सोसायटी को रजिस्टर्ड कराया है और विधि विधान बनाया है तो तुम लोगों को दुःखी और चिंचित बनाने के लिए नहीं किया है। भार नहीं है। यह सब काम किसलिए किया गया? यह सब काम इसलिए किया गया कि जो साधक ममता के फेर में पड़ा हुआ, फँसा हुआ, उसमें से निकल करके अपनी परिस्थिति, अपनी योग्यता के अनुसार थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ना चाहता है सो उसको एक आधार दिया जाए। चिंचित मत हो जाओ दुःखी मत हो जाओ, भार मत मानों।

आपने देखा होगा, प्रारम्भ से लेकर आज तक स्वामी जी महाराज की भावना को जितना हम लोग ग्रहण कर सके, उसके आधार पर हम चलना चाहते हैं, आपको चलाना चाहते हैं। तो जरूरत मैं बता रही हूँ, आश्रम जो बन गए है, पाँच जगह का नाम ले लिया मैंने। और भी बहुत से बन सकते थे, लेकिन हम लोग अपना काम इसलिए नहीं बढ़ाते हैं कि भाई साधक हैं और साधक का काम इतना नहीं बढ़ाना चाहिए कि वह काम में ही उलझ जाए, उसकी साधना टूट जाए। इसलिए हम लोग प्रवृत्ति के विस्तार के फेर में नहीं हैं। मैं तो इस फेर में हूँ कि छोटी से छोटी प्रवृत्ति हमारे सच्चे साधकों के द्वारा संचालित होने लग जाए तो प्रधानता किस बात की होगी? प्रधानता इस बात की होगी कि उस साधना के द्वारा सेवा करने वाले का चित्त शुद्ध

होगा। पहले सेवा करने वाले की शक्ति बढ़ेगी, पहले से सेवा करने वाले की राग की निवृत्ति होगी और उस विकसित जीवन से व्यापक सेवा फैलेगी पीछे। यह उसमें मुख्य बात रहती है।

आप सभी भाई-बहनों ने जगह-जगह शाखाओं के द्वारा चलाए गई छोटी-छोटी प्रवृत्तियों के बारे में सुना। करनाल में जो सेवा-प्रवृत्तियाँ कुशलता से चल रही हैं, प्रेम और विश्वास से चल रही है, उसका कारण क्या हैं? आप सोच करके देखिए। कारण आपको मालूम होगा कि वहाँ पर एक जीवन-दानी मानव-सेवा-संघ का आजीवन कार्यकर्त्ताखड़ा है, इसलिए चल रहा है। आजन्म ब्रह्मचारी रहकर साधना और सेवा में जीवन लगाने का व्रत जिसने लिया उसके जीवन के रस से सेवा-प्रवृत्तियाँ फैलती है। फिर भी और भी देखिए जब से यह सब काम होने लग गया। और-और शाखा सभाओं में भी काम हो रही है, एक ही जगह की बात नहीं है। और काम की दृष्टि से बड़े काम का महत्त्व नहीं है। चूँकि हम लोग साधना की दृष्टि से काम करते हैं तो साधना में आपकी कितनी निष्ठा बढ़ रही है, अपने भीतर आप कितनी शांति पा रहे हैं, अपने भीतर आपके स्वयं कितना बल आ रहा है यह देखा जाता है। तो आप देखेगें कि भाई हरिराम जी ने स्वामी जी के परामर्श से जैसे-जैसे अपना जीवन आगे बढ़ाया। सर्विस में थे, एम.ए. बी.एड़ है। काफी दिनों तक उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में काम किया और करते-करते जब उनके भीतर में इतना बल आ गया कि अब मैं बिना नौकरी किये सारा समय जन-समाज की सेवा में लगाऊँ तो इन्होंने नौकरी छोड़ दी। तो यह बाहर का बल है कि अन्दर का? अन्दर का है। अब इस प्रकार का व्यक्ति जिसको अपने सुख-सुविधा की चिंता नहीं है, सेवा जिसकी साधना है, वह जिस जगह पर खड़ा हो जाएगा, वहाँ पर प्रेम और विश्वास और सहयोग जरूर बढ़ जाएगा। एक उदाहरण की बात हो गयी। दूसरी ओर भीतर बात देखिए।

जब-जब उन्होंने कार्य-क्षेत्र का विस्तार किया, काम किया तो सुनने में तो बड़ा अच्छा लगता ऐसा लगता कि यह तो बड़ा बढ़िया काम है मानव-सेवा-संघ का। लेकिन उससे भी बढ़ियाबात है, वह मैं आपको बताती हूँ। महाराज जी ने भी सलाह भी, सुझाव दिया और काम के लिए मुझे ठोक पीट कर खड़ा कर दिया तो हमेशा ही हरिराम भाई को, शांति बहन को, वहाँ के कार्यकर्ताओं को और दूसरी शाखाओं के कार्यकर्ताओं को जहाँ कहीं कार्य-क्षेत्र के विस्तार का वर्णन होगा वहाँ मैं बड़ी नम्रता से, चुपचाप से, धीरे से, एकांत में इन सारे कार्यकर्ताओं की सलाह देना शुरू करती देखो भैया, मानव सेवा संघ में अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण ये दोनों बातें एक-दूसरे की सहायता करने वली है। फिर क्या होगा? तो सेवा का अन्त होना चाहिए विरक्ति में, सेवा का अन्त होना चाहिए त्याग में, सेवा का अन्त होना चाहिए आन्तरिक शांति में। तो सेवा करने वाले भाई-बहनों को इस बात पर खूब ध्यान देना चाहिए कि हम सेवा करने के द्वारा राग-रहित हो रहे हैं कि नहीं हो रहे हैं। नहीं तो क्या होगा? जब तक शरीर में युवावस्था की एनर्जी है, बड़ा अच्छा लग रहा है, भाई बढ़िया काम हो रहा है, लेकिन जिस दिन यह शक्ति घटेगी, उस दिन तुम अपने को सूना-सूना तो नहीं अनुभव करोगे।

चला नहीं जाता है, चलना कम हो गया, बोला नहीं जाता है तो बोलना कम हो गया। रोगियों की सेवा नहीं बनती है तो सेवा छूट गयी। तो जब बाहर की क्रियाओं के द्वारा एक आनंदित होने का जो अपने पास औजार है तो जब कल पुर्जे

ढील ढाले हो जाएँगें, टूट फूट जाएँगें तो उसके बाद तुमको कैसा लगेगा, उस पर भी ध्यान रखो।

तो मानव सेवा संघ का सिद्धान्त क्या है? कि सही प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति दोनों साथ-साथ चलना चाहिए। तो मानव सेवा संघ के कार्यकर्ता जो हैं, जो लोग सेवा कार्य में खूब भाग लेते हैं, रस लेते हैं, हम लोगों की जा अलग की गोष्ठी होती है आपस की, उसमें हम लोग इस बात पर विचारकरते हैं, कि भई काम तो भले करो लेकिन काम जिस लिए कर रहे हैं हम? न करने के जीवन में प्रवेश करने के लिए। सेवा प्रवृत्ति में जरूर लग जाओ लेकिन सेवा प्रवृत्ति की सफलता कब होगी। जब जीवन में सहज निवृत्ति आ जाए, तो प्रति दिन के दैनिक जीवन में संघ की यह सलाह है कि काम करो और शांत रहो, काम करो और शांत रहो। इस मूक सत्संग की पद्धति ने, जो स्वामी जी महाराज ने हम लोगों के साथ जुटा दी, बड़ा उपकार किया ऐसा मैं जानती हूँ।

बाकी जो हमारे कार्यकर्ता हैं, अलग-अलग शाखाओं के प्रेमी भाई हैं तो उनसे मैं निवेदन करूँगी कि सभी लोग करनाल के समान बाहर से सेवा-प्रवृत्तियों को फैलाकर नहं करते हैं, तो इसके कारण से वे संकोच में न पड़ें, अपने को छोटा न समझें। बातें जो आपके सामने प्रस्तुत की जाती हैं वे उत्साह दिलाने के लिए आगे बढ़ाने के लिए। तोआप लोग कोई संकोच मत करिएगा कि अरे हमारे यहाँ तो इतना बढ़िया कार्य नहीं हो रहा है। संकोच के लिए नहीं है, उत्साह के लिए है। दूसरी बात यह है कि सेवा का विस्तार करने से पहले अपने जीवन के निर्माण पर ध्यान देना जरूरी है। स्वामी जी महाराज ने पहले हरिराम के जीवन का निर्माण किया उनको आजीवन कार्यकर्ता बनाया। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया, धन संग्रहित न करने का व्रत लिया, कमाई हुई सम्पत्ति के आधार पर उन्होंने सेवा की थी। बार-बार आपसे यह कहते हैं कि भई, जगत् की उदारता और प्रभु की ड्डपालुता में कमी नहीं है। तो यह कोई पुस्तक में से पढ़ करके सुनी सुनायी बात वे नहीं कहते हैं।

उन्होंने करके देखा है और उन्होंने ऐसा पाया है। खुद को कमाते थे उसका एक-एक पैसा पहले जन समाज में लगाना आरम्भ किया, लगाया, संग्रह नहीं किया, अपने लिए नहीं रखा तो ये सब जो बातें जीवन में हुई यह क्या है? यह व्यक्ति के निर्माण का क्रम है।और जब व्यक्ति बना तब उसके द्वारा सेवा बन रही है। तो आश्रमों की चर्चा इसलिए आपके सामने की गयी कि आप भाई-बहनों मेंसे जिस किसी के हृदय में यह उल्हास आए, उत्साह आए कि अच्छा, ठीक गृहस्थी का काम अब एक किनारे लग ही गया और जो बाकी है वह भी हो ही जाएगा। तो मानव सेवा संघ ने इतना बढ़िया-बढ़िया आश्रम बना के रखा और इतना प्रलोभन पूर्वक आकर्षक वर्णन सुनाया, तो चलो तो एक बार छः महीने रह करके वहाँ अपनी साधना करें, त्याग करें, तप करें, कठिनाई सहें और सेवा में भाग लें और साधना का निर्माण करें। तब अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण हो।

ऐसा उत्साह जगे और जो लोग आश्रम में वास करके अपना कल्याण करना चाहें और आश्रम की सेवा के द्वारा चित्त शुद्ध करना चाहें, उनका स्वागत है। यह आश्रम प्रबन्ध लोगों ने बहुत नम्रता के साथ अहंकार-शून्यता के साथ, छोटा-छोटा वर्णन आपको सुनाया था। लेकिन मैंने उन सबकी ओर से श्रोता भाई-बहिन जो यहाँ एकत्रित हैं, उनको आश्रम की सेवा की प्रेरणा दे दी।

प्रलोभन से नहीं, मेरा कोई लालच नहीं है और आप पर दबाब नहीं है। मानव सेवा संघ ने मनुष्य को स्वाधीनता दिलाना पसंद किया। स्वामी जी महाराज ने कभी भी व्यक्ति को पराधीन बनाना पंसद नहीं किया। तो आप ऐसा मत सोचिएगा कि अरे कहाँ से कहाँ आ गए वृन्दावन आश्रम में कि एक जबाबदेही सिर पर चढ़ गयी, ऐसा मत सोचिएगा। मेरे कहने से नहीं, ग्रंथ में लिखे हुए होने से नहीं, आप स्वयं अपना कल्याण सोचें।

जो लोग जैसे शादी ब्याह किये हुए लोग महाराज के पास आते, युवक आते, लड़कियाँ आतीं। स्वामी जी महाराज के प्रेमी मित्रों के बहुत से युवक हो गए थे। लड़के, लड़कियाँ, बेटे, बहुएँ आतीं सब महाराज के सामने और बातचीत होने लग जाती। कहते महाराज, कोई सेवा बताइए, कोई कार्य बताइए, हमको भी कुछ कहिए हम भी कुछ करें, तो महाराज उससे पूछते अच्छा बोलो तुमने ब्याह किया है कि नहीं तो अगर वह लड़ा कह देता हाँ महाराज, शादी तो हो गयी है। तो जा, जा, जा तेरी बिकी हुई जिन्दगी लेकर क्या करूँगा मैं। बिक गयी है जिन्दगी। तो ऐसा सुन करके आप लोग डरियेगा नहीं। सबके बहुत बहुत से बिके हुए बैठे हैं, ऐसा सोचकर घबराइए मत। अब मैं बिकी हुई जिन्दगी का भी उपयोग करना चाहती हूँ जिससे कि सौदा वापस हो जाए। तो जो सचमुच अनेक जन्म हम लोगों ने सुख-दुःख के भोग में बिताए। अगर आज जैसे कि कई उत्साही आजीवन कार्यकत्ताओं ने आजन्म अविवाहित रहकर सेवा और साधना में जिन्दगी का सदुपयोग करने का व्रत ले लिया। उसी प्रकार से आज भी और आगे भी इस तरह के साधन आते रहेंगे। तो कोई ऐसा निकल आए वीर, जो कि साधना और सेवा के लिए अपनी युवावस्था को न्यौछावर करना चाहते तो बहुत बढ़िया बात है।

अगर उसके बाद ऐसे भी वीर, माताएँ, बहनें, भाई होते हैं जिनका स्वास्थ्य अच्छा है, जिनकी घर की परिस्थिति ऐसी बनी गयी है कि घर छोड़ा जा सकता है, तो अच्छा स्वास्थ्य लेकर और सेवा का व्रत लेकर आश्रमों में आ जाएँ। और मैं तो यह भी कहती हूँ कि एकदम से घर से नाता तोड़ने का साहस न भी होता हो तो कम से कम दो-दो या चार-चार महीने के लिए आकर बैठो, साधन का निर्माण करो, समाज की सेवा करो, तो उसके द्वारा चित्त की शुद्धि होगी, शान्ति मिलेगी समाज कुछ आगे बढ़ेगा। तो यह सब भी आप लोगों के सोचने विचारने के लिए कह दिया मैंने और भी एक हँसी की बात बता दूँ।

मन्त्री जी बैठे हैं आनन्द नारायण भाई साहब। हर दो तीन महीने में शाखा सभाओं में, जन-जागरण का काम करके, सत्संग का आयोजन करके लौट के आती हूँ मैं वृन्दावन। तो जब आती हूँ तब इनके पास 5, 10, 20, 30 चिट्ठियाँ रखी रहती है। भाई साहब लेकर मेरे पास बैठते हैं। बहन जी ये चिट्ठियाँ आई हैं। कैसी चिट्ठियाँ हैं? आश्रम में आने वाले लोगों के प्रार्थना-पत्र हैं, अच्छा भाई साहब सुनाइए एक-एक करके पढ़िए। सबसे पहले मैं पूछ लेती हूँ भाई साहब, एक ही बात बता दीजिए कि प्रार्थना पत्र जो आया है तो प्रार्थी ने अपनी उम्र क्या लिखी है? तो कितने दुःख की बात है, उसमें लिखा रहता है, मेरी उम्र 77 साल की है, मेरी उम्र 80 साल की है। और जरा आँखें अब ठीक से काम नहीं देती, देखने में असुविधा हो रही है, लेकिन आप जो कहेंगे सो मैं सेवा करूँगा और आश्रम में वास करूँगा। तो मैंने कई अपने लोगों के साथ बैठ करके विचार किया।

हमने कहा कि देखिये ये सज्जन जी आश्रम आकर वास करने का प्रार्थना पत्र भेज रहे हैं, हम लोगों की, मानव सेवा संघ की सेवा और सहानुभूति के पात्र नहीं हैं, ऐसा मैं नहीं मानती हूँ। इन्कार तो जरूर करना पड़ता है, यद्यपि वे लोग सेवा के पात्र हैं।

उनकी सेवा अगर मुझसे बन पड़ती है तो मैं जरूर करती। शाखाओं में भी मैं सुना कर आती हूँ कि ऐसी प्रार्थनाएँ अब बहुत आने लग गयीं है, कि आश्रम में हमको रख लीजिए और आँख से हमको दिखता नहीं है और यह सब लिखते हैं। इतनी उम्र है और आप जो कहेंगे सो हम काम करेंगे यह भी लिखते हैं, तो मैं कहती हूँ कि वे हमारी सेवा के पात्र नहीं है, ऐसी बात नहीं है। सेवा के पात्र तो जरूर है लेकिन आश्रम उनकी सेवा तब न करे, जब उतनी ही संख्या में चाहे उससे कुछ कम ही सही ऐसे स्वस्थ शरीरों का प्रार्थना पत्र आए कि हम 58 वर्ष में रिटायर्ड हो गए हैं कि 50 वर्ष की उम्र में हमारी गृहस्थी का काम हो गया है, तो मोह के बन्धन का नाता हमने निभा लिया, अब प्रभु के नाते प्रभु के असमर्थ प्राणियों की सेवा का माध्यम चाह रहे हैं, इसलिए हम आश्रम में आना चाहते हैं, ड्डपापूर्वक मुझको स्वीड्डति दी जाए। तो कुछ स्वस्थ शरीर वाले कुछ सम्पन्न व्यक्ति सम्पत्ति लेकर, कुछ उदार हृदय के लोग अपनी चित्त-शुद्धि की हैसियत से आश्रम की सेवा करने के लिए जब सेवक आ जाएँ तब मैं सब वृद्धों को इकट्ठा कर लूँ कि आओ भाई। लेकिन बड़ा दुःख है कि जवानी तो हम बिता ही देते हैं मोह के बंधन में, रिटायर्ड होने के बाद भी अवकाश ग्रहण करने के बाद भी संतान के बालिग हो जाने के बाद भी भगतव् नाते कुछ करना नहीं चाहते हैं।

आखिरी-आखिरी क्षण तक थोड़ी-सी भी शक्ति है, तो बेटे के बेटे को, और पोतों के बेटों को, सँभालने में लगा देंगे और जब हर प्रकार से असमर्थ हो जाएँगे, जब परिवार ठुकरा देगा जब कोई कहीं आधार नहीं दिखाई देगा, तब कहते हैं कि आश्रम में वास दे दीजिए। तब भी मैं इन्कार करने में दुःख पाती हूँ। मानव सेवा संघ के कार्यकर्ता जो लोग हैं, ऐसी दशा में भी इन्कार करना नहीं चाहते। लेकिन क्या करें फिर? जब शक्तिशाली सेवक सेवाकरने अपने चित्त-शुद्धि के लिए आएँ तब में उन असमर्थ शरीरों को स्थान दे दूँ, तो यह भी प्दकपतमबजसल एक अपील है, समर्थ सेवा भावी भाई-बहनों से। यह बात भी हो गयी।

प्रवचन 4

सृड्डिकर्त्ताहै और उनकी सृड्डि है। अतिविशाल है, हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियांे कीसमा में समाने वाली नहीं है। हम सब कुछ जान भी नहीं सकते हैं। बहुत थोड़ा-सा अंश और बहुत थोड़े काल के लिए हम लोगों के सामने आता हैμसदा-सदा के लिए जो जीवन का आधार है वह परमात्मा। हम सब भाई-बहन अपने जीवन के उत्थान के लिए यहाँ पर एकत्रित हुए हैं। जो कुछ आप सुन रहे हैं, जो कुछ सोचने-विचारने में आ रहा है, मेरा संघ की ओर से आप भाई-बहनों से यह निवेदन है कि कम से कम इतना व्रत लेकर के ही हम लोग यहाँ से उठे कि भाई सृड्डि का छोटा-सा थोड़ा-सा भाग, जिसके सम्पर्क में हम आते हैं, कम से कम इस जीवन में थोड़े सा काल जो इस शरीर से धरती पर रहने को मिला है, हम किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई नहीं करेंगे।

यह व्रत हम सब भाई-बहनों को लेना चाहिए। प्रभु की ड्डपालुता, संत महापुरूषों की सद्भावना और जीवन की महिमा, मानव-जीवन की महत्ता यह है कि अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं के बीच में भी, हम लोग यहाँ बैठ गए हैं जीवन की चर्चा कहने और सुनने। यह अवसर अलभ्य है, कब-कब मिलेगा, बार-बार मिलेगा कितनी बार मिलेगा कोई कुछ नहीं कह सकता है। बड़ा मूल्यवान अवसर है। और इस अवसर को उपस्थित करने में जगत्पति, संत महानुभाव, समड्डि की शक्ति, बृहद् समाज और परिवार सबका सहयोग मैंने लिया है। सबके सहयोग से आप आकर के यहाँ पर बैठे हुएहैं। इतना सहयोग मैंने लिया तो समाज को दिया क्या? सोचना चाहिए कि नहीं? जी सोनना चाहिए। परिवार वालों से छुट्टी लेने से, आपके हट जाने से, कुछ न कुछ तो असुविधा परिवार वालों को हुई ही, फिर भी उन्होंने ड्डपा करके आपको इजाजत दे दी कि अच्छा भाई जाओ तो उन्होंने जो इजाजत दे दी और हम आकर के यहाँ बैठ गए, उन सबका सहयोग हमने लिया तो मेरे जीवन में कुछ न कुछ इतना विकास जरूर होना चाहिए कि इस जीवन से परिवार वालों को किसी प्रकार का कड्ड अब नहीं मिलेगा। लाभ तो पहुँचाएँगे, परमात्मा जितना मौका देंगे। जितनी शक्ति देंगे, परिवार के जितने भाई-बहन यहाँ आकर के बैठे हैं, उनको कम से कम इतना व्रत लेकर यहाँ से उठना चाहिए कि अच्छा भाई प्रभु की ड्डपालुता का कोई अन्त ही नहीं है, संत की सद्भावना तो सदैव सबके साथ है। जगत् के रूप में भी परिवार ने जो मुझको सहयोग दिया है, तो अब मैं अपने संकल्प की पूर्ति के लिए परिवार के किसी व्यक्ति को कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा। इतना करना चाहिए कि नहीं चाहिए? अगर इतना भी हम लोग नहीं सोचेंगे, तो आगे चलकर के परिवार वालों को दोष देने से कोई फायदा नहीं होगा।

यह प्रड्डति का विधान है, संत की खोज है, शोध है, और डंके की चोट उन्होंने मानव समाज को सुना दिया। क्या सुना दिया? प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करोगे तो परिस्थिति छिन जाएगी। प्राप्त सुविधा का सहारा लेकर के, सेवा त्याग प्रेम में आगे नहीं बढ़ोगे, तो भविष्य में यह सुविधा नहीं रहेगी। नहीं रहती है, किसी की नहीं रहती है। पश्चिमी दर्शन में, वैस्टर्न फिलोसफी हमारे जमाने में पढ़ाई जाती थी, जिस महाविद्यालय में हमने दर्शन का अध्ययन किया था वहाँ पश्चिम-दर्शन पढ़ाया जाता था, वहाँ एक दर्शनिक सिद्धान्त पढ़ाया जाता था। मुझे खूब याद आता है, बहुत वर्ष बीत गए, काफी दिन हो गए 30 वर्ष तो हो ही गए होंगे, उससे भी ज्यादा लेकिन मुझे हर समय याद आता है। जब स्वामी जी महाराज का चित्र मैं देखती हूँ कि प्राप्त परिस्थिति का सहयोग लेकर के सेवा, त्याग, प्रेम में आगे नहीं बढ़ोगे, तो यह परिस्थिति छिन जाएगी, नहीं रहेगी। यह समष्टि की शक्ति का विधान है। तो आज परिवार वालों के दिल में ऐसी सद्भावना जग गयी कि उन्होंने आपको छुट्टी दे दी कि चले जाओ, चले जाओ भाई सत्संग कर आओ तो यह तो प्रड्डति का इंतजाम है, प्रड्डति-पति का इन्तजाम है, परमात्मा का इन्तजाम है, यह आदमी का किया हुआ नहीं है, तो ऐसा समझों कि परमात्मा ने और परमात्मा की सृड्डि ने हम लोगों को हमारे कल्याण के लिए सहयोग दिया है।

अब इस सहयोग को लेकर के यहाँ जो कुछ हम कह रहे हैं, सुन रहें हैं, उसके आधार पर सेवा, त्याग, प्रेम के पथ में एक कदम भी अगर

आगे नहीं बढ़ाएँगे तो ऐसा सुयोग फिर मिलेगा कि नहीं मिलेगा, कोई नहीं कह सकता है। तब मत कहना कि हमारे पति छुट्टी नहीं देते हैं, उनका विचार बड़ा संकीर्ण है। फिर मत कहना कि हमारी पत्नी बहुत कलह करती है, राजी नहीं होती हैं, साथ नहीं देती है, बड़ी कठिनाई है। तो यह कलह, प्रतिकूलता, संकीर्णता, जो व्यक्ति में हम लोग देखते हैं अपने प्रतिकूल, मैं खूब अच्छी तरह से उसका अध्ययन करती हूँ अपने लिए। और आपके लिए सुना रही हूँ कि यह पति की संकीर्णता, पत्नी की कलहकारिता और परिवारकी नालायकी नहीं है। मत सोचना ऐसा। व्यक्ति में जो दोष दिखाई देता है कि हमारा साथ नहीं दे रहे हैं व्यक्ति, तो व्यक्तियों का दोष नहीं है। किसका दोष है? वह मेरा दोष है।

जब इन्होने मुझे सहयोग दिया था, तब इन्होंने मेरा साथ दिया था, जब इन्होंने हमारी मदद की थी, तब मैने अपने को सेवा, त्याग, प्रेम में आगे नहीं बढ़ाया तो यह प्रङ्गति का नियम है कि प्राप्त अवसर का लाभ नहीं उठाओगे तो अवसर छिन जाएगा, बार-बार नहीं मिलेगा। तो हमारा आपकी फ्री च्वायस नहंी है कि इस बार आ गए। हमारे जो उपप्रबन्धक हैं वे कहते हैं कि बहन जी, जब यहाँ से लोग घर जाते हैं तो बड़े आनन्दित होकर लिखते हैं कि नंदा जी, आपके आश्रम में हम आए, सत्संग का लाभ लिया, आप लोगों ने अच्छी तरह से रखा, बड़ा आनन्द आया।

उनके मुख से बड़ा बढ़िया लगता है सुनने में। कहते हैं कि नंदा जी, बड़ा आनन्द आया। तो बहन जी ऐसे लोग पत्र लिखते हैं, बड़ा आनंद आया। तो हम कहते हैं कि यह सुन करके मैं खुश हो जाऊँ अथवा आप इस अवसर का आनन्द लेकर के वहीं तक सीमा रख लें, तो हमारा आपका सुयोग जो हैं मिलने का, एक-दूसरे को मदद करके आगे उठाने का यह बार-बार नहीं आएगा। ऐसा हो जाएगा, कोई न कोई कारण बन जाएगा, और कोई न कोई झंझट खड़ा हो जाएगा। तो मैंने मानव के जीवन में जो प्रङ्गति का विधान काम करता है, सन्त के मुख से मैंने सुना है। उसका अर्थ मैंने यह निकाला कि अगर मेरे रास्ते में कोई व्यक्ति ऐसे दिखते हैं कि लगता है, कि ये हमारे बाधक बन रहे हैं तो व्यक्ति पर दृष्टि कभी नहीं रखनी चाहिए। सोचना चाहिए कि मेरी भूल हो गयी। इसके पहले जो-जो सुयोग मुझे मिला था, उस सुयोग को पाकर के मैंने अपना कदम आगे नहीं बढ़ाया, इसलिए सामने प्रतिबन्ध खड़ा हो गया।

एक तो यह निवेदन करता था। बड़ी सजगता की बात है, बड़ी सावधानी की बात है। अल्प शक्ति है, अल्प आयु है, कहाँ तक हम लोग असावधानी में बिताएँगे, कहाँ तक हम लोग शिथिलता में बिताएँगे कितना महँगा दिन जा रहा है, आप स्वयं अपने से विचार कर लीजिए। और मानव सेवा संघ के प्रेमी, संघ के साधक होने का अर्थ यह है कि आप मानव हैं और आप मानवता के प्रमी हैं, आप मानव है और अपने कल्याण के लिए तैयार हैं। आप मानव हैं और समाज की सेवा के लिए तैयारहै, सेवा भी साधना है, सेवा से पहले सेवक का कल्याण होता है, पीछे सेव्य को आराम मिलता है। तो स्वेच्छा से अपनी-अपनी परिस्थिति देखकर जिसको यहाँ जैसे बन पड़े, बुराई तो किसी के साथ करना मत और भलाई करना तो इस दृष्टि से करना कि मेरा चित्त शुद्ध होगा।

भलाई के बदले में, नाम-बड़ाई मिले, कुछ हो कुछ हो। एक भाई कल बात कर रहे थे तो बात करते-करते उनके मुख से निकला कि

अरे भाई, आजीवन सदस्य ने कम से कम 101 रुपया तो दिया है। तो हमने हँसकर कह दिया कि इसलिए ही स्वामी जी महाराज आपका नाम बदला करते थे। ऐसी बात आप कहते हैं तो कुछ नहीं किया, कुछ नहीं किया। सारी जिन्दगी की कमाई सब सुख-भोग में और ममता से सम्बन्ध में सब स्वाहा हो गया और 101 तुमको दिखाइ्र देता है। सोचने की बात है। आश्चर्य है। और फिर जहाँ चित्त-शुद्धि का प्रश्न है, वहाँ दिया हुआ तुमको याद आ रहा है कि मैंने इतना दिया है। यह चित्त शुद्धि का साधन हुआ कि बन्धन हुआ? जी! क्या हुआ भाई, सारी जिन्दगी लाख करोड़ करते-करते कमाया और महाराज कभी हँसते गीता भवन में सब व्यापारी वर्ग वहाँ आता न खूब हँसी होती और हँसते तो कहते कि अरे भैया सारी जिन्दगी की कमाई हीरा, मोती, जवाहरात सब लुगाई के लिए और बाबा जी के लिए पत्रम् पुष्पम् ;हँसी की ध्वनि) भाई देखो मानव-सेवा-संघ आपसे कुछ मांग नहीं रहा है।

आप ऐसा आशीर्वाद दीजिए, ऐसी सद्भावना रखिए कि हम स्वामी जी महाराज के बालक जिन्हें स्वामी जी महाराज ने पाल-पोस कर खड़ा किया। हम कभी भी किसी से कुछ माँगे नहीं, किसी से कुछ पाने की आकांक्षा न रखें तो ऐसा स्तर हो। और महाराज जी की वाणी है, अगर कोई कुछ देने के लिए आता है, कहता है, सुनाता है तो महाराज कहते अच्छा अगर बिना दिये तुमसे नहीं रहा जाता है तो दे दो। फिर आप कहती हैं, कि कम से कम हमने 101 दिया। सोचो कितने दुःख की बात है। बड़े दुःख की बात है। यह दृष्टिकोण रखकर तो फिर लाभ नहीं होगा। अगर दिया हुआ आपको याद आता है, कि हमने इतना दिया है, इसके बदले में आपको इतना करना चाहिए, तो वह ही व्यापार हो गया जो घर में होता था।

बेटे के मुख में माँ ने दाना डाला है, तो वृद्धावस्था में, जब हम बिस्तर पर पड़े हैं, तो बेटा मेरे मुख में लाकर क्यों नहीं डालता है? होता है कि नहीं? एक दिन बच्चा बाप की गोदी में लेटता है और अन्त समय में बाप बेटे की गोदी में लेटता है। देखा है मैंने बड़ा दर्दनाक दृश्य मैंने आँखों से देखा है। कल्पना नहीं कर रही हूँ सच्ची बात सुना रही हूँ आपको। तो अगर मानव सेवा संघ ज्वाइन किया आपने और अपने उद्धार के लिए अपने कल्याण के लिए, समाज की सेवा में आहुति डालने के लिए एक कौड़ी चाहे एक करोड़ डाला, तो जब आपको याद आता है तो चित्त-शुद्धि तो नहीं होगी भाई।

तो चित्त शुद्ध करने के लिए यहाँ हाथ डाला है। और मानव सेवा संघ कभी आप पर दबाब नहीं डालेगा कि जरूर करो। हम काहे को कहें। स्वामीजी महाराज कभी-कभी ईश्वरवाद के बारे में आनन्द लेते तोकहते कि हम काहे को कहें तुमको कि बाबा जी हो जाओ। अगर बाबा जी हुए बिना तुम्हारा कल्याण हो जाए तो कर लो हम काहे को कहें? भगवान कोई सस्ता है कि मैं लेकर आपके आगे पेश करता फिरूँ कि हमारे भगवान बड़े अच्छे हैं कि तुम मान लो, तुम मान लो, तुम मान लो हम काहे को कहें भाई। अगर तुमसे न रहा जाए तुम्हारी सौ बार गरज हो तो मानो। मानोगे तो कल्याण हो जाएगा इसमें संदेह नहीं है।

प्रवचन 5

पूज्य संत महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

यह विचार-विनिमय का समय है। साधको के कुछ प्रश्न आए हैं। मैं प्रश्न पढ़ती हूँ।

प्रश्नμअहंड्डति-रहित, अप्रयत्न, निर्विषय, निःसंकल्प, निर्विचार होकर शांत होते ही तंद्रा, निद्रा, जड़ता और बेखबरी में आबद्ध हो जाता हूँ, तो इस जड़ता में डूब जाने से बचने हेतु कोई उपाय बताने की ड्डपा कीजिए? मेरे साथ यह कठिनाई वर्षों से चल रही है। मौन होते ही हर बार ऐसा ही होता है। कोई भी प्रगति होती नहीं दिखती, तो कैसे आगे बढ़ूँ या क्या करूँ?

उत्तरμइसमें मुझे ऐसा लगता है कि शारीरिक दुर्बलता प्रश्नकर्ता को हैं। मैं जानती हूँ, काफी अस्वस्थ शरीर है, उनका। तो शारीरिक दुर्बलता और जीवन की नीरसताμइन्हीं से जड़ता और निद्रा, आलस्य, तन्द्रा छायी रहती है। यह कारण है। शरीर बहुत ही अस्वस्थ और दुर्बल है और जीवन में रस नहीं है, रस की कमी है, सरसता नहीं है। तो उन्होंने ऊपर जो लिखा है कि अहंड्डति-रहित, अप्रयत्न, निर्विषय और निःसंकल्प, निर्विचार। तो ये सब शब्द तो उन्होंने लिखे, लेकिन वस्तुतः अहंड्डति-रहित, अप्रयत्न होने पर जीवन में इतनी शांति, इतनी सरसता, इतना अच्छा लगता है कि उसय तो दुर्बल अथवा सबल, बीमार अथवा स्वास्थ्य शरीर का भास कभी नहीं रहता। जड़ता अथवा शिथिलता कहाँ रहेगी? अहंड्डति-रहित होना यह तो बहुत ऊँची बात है। जब सब प्रकार के संकल्पों का त्याग कर दिया जाए, तब की हुई भलाई और उसके फल का त्याग कर दिया जाए और मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए और मुझे अपने लिए इस क्षण में कुछ नहीं करना है इन सब संकल्पों के त्याग के बाद, ममता और कामना छोड़ने के बाद, जब व्यक्ति अहंड्डति-रहित होता है, अप्रयत्न होता है, जिसमें कि शरीर की सहायता की आवश्यकता ही नहीं है, तो उसमें तो इतना रस है, इतना आनन्द है, इतना हल्कापन है कि वहाँ जड़ता और शिथिलता कहाँ पहुँचेगी? मेरे जानते मेरे भाई का ख्याल जरूर होगा कि वे अहंड्डति-रहित हो गए कि वे निर्विचार हो गए कि वे निःसंकल्प हो गए ऐसा उनका ख्याल होगा, लेकिन ऐसा हुआ नहीं है। अगर होता तो उसमें जड़ता, शिथिलता, निद्रा और तन्द्रा हो नहीं सकती है। इसलिए ये जो बातें बतायी गयी हैं, सत्य की स्वीड्डति से साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अप्रयत्न हो जाना, निर्विषय हो जाना, निःसंकल्प हो जाना, निर्विचार हेा जाना यह सत्संग का फल है।

सत्य को स्वीकार किया और उसके प्रभाव से यह साधन तत्त्व अभिव्यक्त हुआ ऐसा जब होता है तब तन्द्रा, निद्रा, जड़ता नहीं रह सकती है। अब जिन भाई का प्रश्न है उनको मैं जानती हूँ बहुत पहले से। वेदान्त के आधार पर अपने को सँभालने की चेड्डा में वे लगे हैं। स्वामी जी महाराज के पास भी बहुत बैठे हैं और साधन-व्यवहार में, रहन-सहन में काफी सावधानी भी है, फिर भी मेरा यह निवेदन है कि जीवन में सरसता आनी चाहिए। सरसता कैसे आएगी? तो उनके लिए भगवान ने रास्ता साफ कर दिया है। घर-गृहस्थी के झंझट में अब उनके लिए फँसने की कोई बात है ही नहीं। सब कर्तव्य से निवृत्त हो चुके हैं। सरसता तो आती है, ऊँचे जीवन की लगन से।

मुझे अब अविनाशी जीवन चाहिए, मुझे अब देहातीत जीवन चाहिए, मैं अब निज स्वरूप में स्थित हुए बिना रह नहीं सकता यह लगन लग जाती है तो निंद्रा, तन्द्रा, जड़ता, आलस्य सब खत्म हो जाती है। आप कहेंगे कि क्या करें? तो मेरा ऐसा अनुमान है, सच्ची बात तो वे स्वयं ही जान सकेंगे, केवल उनकी मदद करने के लिए मैं कह रही हूँ

कि इतने दिन तक उन्होंने अप्रयत्न होना, निर्विचार होना, निःसंकल्प होना, देहातीत जीवन में स्थित होना, इन बातों पर अध्ययन किया है, विवेचन किया है खूब, लेकिन ये बातें उनके व्यक्तित्व में आयी नहीं है। अब ऐसा करना चाहिए जब शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं है, और तरह-तरह की उसमें तकलीफें रहती हैं, तो उनको पहले देह से सम्बन्ध-विच्छेद करने वाली बात ज्ञान के प्रकाश में अपने द्वारा स्वीकार करना चाहिए और हठ पूर्वक शरीर को लेकर बैठने की चेड्डा नहीं करके, कमजोर शरीर जिस पोस्चर में ठीक प्रकार से रहे उसपोस्चर में उसे रख दीजिए।

ईजी चेयर में डाल दीजिए तो उसको सँभालने में आपको ज्यादा कोंशस नहीं रहना पड़ेगा। और फिर उस विवेक के प्रकाश में जिसने आपको प्रत्यक्ष रूप से दिखला दिया। माता के प्रति, पत्नी के प्रति, बहन के प्रति, बहन के बच्चों के प्रति जो अपना-पन माना था उसमें से एक भी सत्य नहीं निकला। सब अपनी आँखों के सामने देखते ही देखते सारा खेल तमाशा खत्म हो गया। तो इस अनुभव का आदर करके निज विवेक के प्रकाश में, मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, इस सत्य को पहले हृदयंगम करें। सुख का भोग तो शरीर के माध्यम से उनके जीवन में अब कुछ है ही नहीं। तो किसी प्रकार का सुख तो नहीं है, लेकिन सुख की वासना रह गयी हो, बीते हुए भागे हुए सुख का प्रभाव रह गया हो तो वह ज्ञान के प्रकाश में कटेगा। नया कुछ भोगते नहीं है, इसलिए नया राग बनेगा नहीं। और विवेक के प्रकाश में इस सत्य को स्वीकार करें कि मैं शरीर नहंी हूँ, शरीर मेरा नहीं है इसे स्वीकार करें तो शरीर से जब सम्बन्ध टूटेगा और देहादीत जीवन के प्रति लगन बढ़ेगी कि अब तो हम उसके बिना किसी प्रकार से रह ही नहीं सकते। प्रक्रिया सब उनका जाना हुआ है, सब पढ़ा हुआ है, सब मालूम है। फिर तो और कुछ पढ़ना नहीं पड़ैगा और सचमुच जीवन में ऊँचे लक्ष्य के लिए लगन बढ़ जाएगी तो रस बढ़ जाएगा, सरसता आ जाएगी, तो आलस्य-तन्द्रा और निंद्रा खत्म हो जाएगी। दुर्बल शरीर को कुछ ज्यादा समय लगता है नींद के लिए तो उसको देने में संकोच न करें। जितनी समय में अच्छी नींद आकर के कमजोर शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाए उतना समय भले निंद्रा में लगा दीजिए। लेकिन उसके बाद आलस्य तन्द्रा नहीं रहनी चाहिए।

जब आँख खुल जाए तो सचेत होकर के सावधान होकर के मूक सत्संग में स्थित हो जाइए और यदि शारीरिक असमर्थता देखकर, जीवन की असफलता देखकर कहीं सर्वसमर्थ की शरणागति पसंद आ जाए तो समर्पण योग में रहिए। रास्ता तो खुला हुआ है सब। कोई जरूरी नहंी है कि जिस रास्ते से चल करके के अपने को आगे बढ़ने में नहीं लग रहा है कि हम आगे बढ़ रहे हैं तो उसके साथ और कुछ स्वीकार नहीं करें, ऐसी कोई बात नहीं है। ओर ऐसा भी संकोच नहीं करना चाहिए कि अरे भाई इतने समय से तो मैं वेदान्ती था अब ईश्वर-विश्वासी कैसे बनूँ? यदि जीवन की आवश्यकता मालूम होती है, तो बन जाओं। वेदान्त का प्रकाश जिसका है, शरण्य बन करके अपनी डुपा से वह ही सँभालेगा। विवेकी जन को वह ज्ञान का प्रकाश देकर के सँभालता है, विश्वासी जन को, डुपा की आवश्यकता अनुभव करने वालों को वह अपनी डुपा बनकर सँभालता है। पर है तो वही तो संकोच किस बात का है। जैसा अच्छा लगे वैसा कर डालो।

प्रश्नμउन्हीं भाई का प्रश्न है। जागने पर जो बिना प्रयत्न के स्वतः ही सत्य सम्बन्धी चिंतन या प्रभु प्रार्थना होने लगती है, सो उसे निरर्थक चिंतन या विचार का उदय समझा जाए अथवा उसे व्यर्थ चिंतन या मस्तिष्क का व्यायाम मात्र समझा जाए?

उत्तरμसच्चे प्रश्न हैं साधक का प्रश्न है, बनावटी बातें नहीं है बहुत ठीक-ठीक लिखा है उन्होंने, जैसा वे फील कर रहे हैं। तो इसके सम्बन्ध में स्वामीजी महाराज ने जो बातें हमें सुझायी हैं वे ये हैं कि ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किये बिना, जो अपने पर जोर डाल करके चिंतन किया जाता है, तो ईश्वर-चिंतन अच्छा है, ईश्वर को याद करना ऊँची बात है, बड़ी बढ़िया बात है, ऐसा मान करके बिना सम्बन्ध के बिना प्रियता के जो जोर डाल करके नित्य नियम के रूप में किया जाता है, तो महाराजी ने एक जगह पर कहा टेपरिकार्डिंग किया हुआ हैμदादा हनुमंत सिंह जी को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि हनुमंत सिंह जी, सुनो देखो ऐसा होता है। क्या होता है कि अभ्यास करते-करते जान बूझकर सचेत होकर चिंतन करते-करते उस चिंतन में आसक्ति हो जाती है, भगवत्-अनुराग पैदा नहंी होता है। तब क्या होता है? कि उसको छोड़ने का जी नहीं चाहता। अगर कह दिया जाए भाई फायदा नहीं हुआ तो छोड़ दो, साधक उसको छोड़ नहीं सकता है। क्यों? क्योंकि उसे लगता है कि यह तो अच्छी साधना है, इतने दिन से करता आया हूँ। इसलिए छोडूँ कैसे? तो करते-करते करने वाली साधना में अपनी आसक्ति पैदा हो जाती है, उसको किये बिना रहा नहीं जाता है परन्तु उसके द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती है। तो इसको न मैं व्यर्थ चिंतन कहूँगी, न मैं सार्थक चिंतन कहूँगी। स्वामी जी महाराज ने जिन शब्दों में उत्तर दिया वह उत्तर मैंने आपके सामने रख दिया। और आप ही का अनुभव है कि मेरे किये बिना होता रहता है। अगर यह सार्थक चिंतन होता तो इसका भी प्रभाव जीवन पर होकर के आपको तन्द्रा, निंद्रा से ऊपर उठ जाना चाहिए था। अगर यह विचार का उदय होता, विचार मार्ग के साधकों के लिए बताया गया कि निःसंकल्प होकर, अहंङ्गति रहित होकर अप्रयत्न हो जाने पर उनमें स्वतः उच्च विचार का उदय होता है, वह विचार उनको सत् असत् के विभाजन में समर्थ बना देता है, जो उनको शरीरों से तादात्म्य तोड़ने में सफल बना देता है, तो आपके जानते जो कुछ आपमें होने लगता है, वह विचार का उदय होता तो समस्या हल हो गयी होती।

ठीक है न तो समस्या तो हल हुई नहीं भाई आप ही कह रहे हैं कि तन्द्रा-निद्रा से मैं मुक्त नहीं हो सका तो उस अलौकिक विवेक के प्रकाश में विचार का उदय हो जाए जो कि 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्यां' का आपको बिल्कुल दर्शन करा दे अनुभव करा दे उसके बाद तन्द्रा निद्रा का प्रश्न रहेगा? नहीं रहेगा। और भाई स्वयं ही कहते हैं कि तन्द्रा, निद्रा आलस्य के राग से मैं मुक्त नहीं हो सका। तो उनको अपने से अर्थ ले लेना चाहिए। कि मेरे भीतर जो कुछ हो रहा है वह न सार्थक चिन्तन है न विचार का उदय है।

तब आप कहेंगे कि है क्या? मैं कहूँगी कि सारी जिन्दगी जो आपने अध्ययन किया है, उसका फल है। ऐसा होता है। एक माँ एक दिन मुझसे बात करने आयी तो बैठ करके बातचीत कर रही थी। तो बड़ी तकलीफ में बाहरी दृङ्घि से शारीरिक कङ्घ में है, सहायता करने के लिए कोई नहीं है। एक लड़की को अपने साथ रखती हैं वह भी असमर्थ हो जाने पर सेवा करने वाले की मौज

ही जाती है। हमारी इच्छा होगी तो तुम्हारी मद्द करेंगे नहं तो नहीं करेंगे अपनी मौज में आ जाते हैं, असमर्थ आदमी कुछ कर ही नहीं सकता। और सेवा करने वाले तो अपनी खुशी पर करेंगे, नहीं करेंगे। यह सब बताती जा रही थीं, ऐसे हुआ है, वैसे हुआ है, यह दशा है, वह दशा है और यह सब क्या है? यह सब जहाँ हो रहा है वहाँ हो रहा है। यह सब कहाँ आ गया बीच में, तो यह अध्ययन का फल है। यह जो पढ़ते-पढते, पढ़ते-पढ़ते सब शब्दावलियाँ याद हो गयी। अब देहातीत जीवन के क्या लक्षण हैं वे सब याद हो गए तो उसका फल है कि इतना अंधकार छाया हुआ है। अधिकार-लालसा नहीं मिटी, क्रोध आ रहा है सेवा करने वाले क्यों नहीं सही सेवा कर रहे हैं? इसके लिए क्षोभ हो रहा है, सब हो रहा है और रटी रटाई बात दुहरा रहे हैं। यह सब जहाँ हो रहा है, हो रहा है। जहाँ हो रहा है वहाँ हो रहा है तो आपके आँसू क्यों आ रहे हैं? है न? विचारने की बात है।

इसलिए मैं अपने भाई को कह रही हूँ कि आप इसको विचार का उदय तो मान ही नहीं सकते हैं। मेरे कहने से नहीं, अपनी दशा को ही देख करके आपको अर्थ लगा लेना चाहिए कि क्या हो रहा है कि वह किये हुए अभ्यास के बल पर स्नायु मण्डल में पहले से याद की हुई चीजों की पुनरावृत्ति हो रही है।

एक माँ इलाहाबाद में कुम्भ के अवसर पर स्वामी जी महाराज से मिली, तो काफी बड़ी उम्र भी थी और स्वामी जी महाराज उस समय इतने उम्र के नहीं थे। तो बच्चे की तरह स्वामी जी महाराज की पीठ के पास बैठ करके खूब पीठ सहलावे, सिर पर हाथ फेरे, खूब दुलार करे जैसे स्वामी जी बच्चा है, वह माँ हैं, ऐसा करे और रोवे खूब कि महाराज, अब तो मैं आपको नहीं छोड़ सकती हूँ, अब आप तो मुझे पार लगाइए।

क्या बात है माँ? मैंने इतने दिन ऐसा किया, इतने दिन ऐसा किया। उसने बड़े जोर से जप किया था, अब उस समय उसकी दशा ऐसी हो गयी थी कि वह कहे कि मैं चाहती हूँ कि अब यह छूट जाए, मैं सो जाऊँ। रस आया नहीं, जीवन से अभिन्नता हुई नहीं, शरीर का तादात्म्य टूटा नहीं। अब स्नायुमण्डल में क्रियात्मक वेग से इतना वह सब भर गया कि अब वह सोना चाहती है तो उसको नींद नहीं आती, अब भी उन बातों की पुनरावृत्ति होती रहती है, होती रहती है, होती रहती है। तो जीवन नहीं मिला तो एक मानसिक रोग तो गया, वे कहती हैं कि मैं चाहती हूँ कि जप करना छोड़ करके कुछ देर के लिए सो जाऊँ तो यह बन्द ही नहीं होता है। मस्तिष्क में, स्नायुमण्डल में, ऐसोसियेशन आॅफ ऐसासियेशन थाॅट वेग से इस प्रकार से गतिशील हो गए कि जब उसके कन्ट्रोल में ही नहीं है। जैसे मोटर चलाने वाले लोग चलाते हें, चलाते-चलाते उसमें कोई भी मशीन कमजोर हो जाए तो ब्रेक ड्राइवर के हाथ में ही नहीं आता है, तो चाहता है उसे कन्ट्रोल कर लूँ, कन्ट्रोल करने पर कन्ट्रोल होता ही नहीं है।

यह दशा हो जाती है, स्नायु मण्डल में। ज्यादा जोर डाल करके उसमें भर दो, तो फिर उसके बाद तुम उस क्रिया को बन्द करना चाहो तो बन्द नहीं होता, वह होती रहेगी, होती रहेगी, तो नींद ही नहीं आ सकती है, सो भी नहीं सकती। जीवन भी नहीं मिला, सत्य की अभिव्यक्ति भी नहीं हुई और मानसिक रोग पैदा हो गया। ऐसा होता है। इसलिए महाराज जी ने सभी साधकों को खूब याद दिलाया कि भैसा जिस भूमिका में तुम्हारी साधना सजीव बनेगी, उसकी तैयारी पहले करो।

क्या करो? तो पहले अपनी इस भूल को मिटाओ। अगर देहातीत जीवन की आवश्यकता आप अनुभव करते हैं तो मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, इस सत्य को हृदयंगम करो। इस सत्य की स्वीङ्गति से जब देह के प्रति आपकी भीतर जो महिमा बैठी है, वह मिटेगी तब आप शरीर से ऊपर उठने के अधिकारी बन सकेंगे। और अभ्यास करते-करते उसका फल क्या होगा कि उसमें आसक्ति हो जाती है, उसको छोड़ नहीं जाता, परन्तु उसके द्वारा जीवन में रस पैदा नहीं होता तो नींद से जगते ही मस्तिष्क में ये क्रियाएँ होने लगती हैं। तो इन क्रियाओं को विचार का उदय नहीं समझना चाहिए। नहीं तो विचार का उदय महापुरुषों के जीवन में हुआ है समय-समय पर। रमण महर्षि के जीवन की एक छोटी सी घटना उनकी जीवनी में पढ़ा था मैंने। 11 वर्ष की उम्र में घर छोड़ने से पहले चिंतन में तो रहते ही थे विचार इनका बहुत था शुरू से ही। तो एक दिन इनके भाई ने चिट्ठी डालने के लिए दिया कि पोस्टकार्ड खरीदने के लिए दियाकि ले आओ पोस्ट आफिस से और ये अपनी मस्ती में ही थे, इनके ध्यान में ही नहीं रहा। बिना खरीदे घर लौट कर आ गए। बड़े भाई ने माँगाμलाओ। तो लाए नहीं थे कहा भूल गए हैं। बड़े भाई ने बहुत डाँटा और कहा कि क्या करेगा इतना बड़ा लड़का 11, 12 साल का। 13 साल के थे शायद। तुम पोस्ट आॅफिस में स्टेंप खरीद के नहीं ला सकते। मर जा तू, ऐसे करके बड़े भाई ने डाँट दिया।

चले गए एकांत में, कोठरी बन्द कर ली, लेट गए और सोचने लगे कि ठीक तो है भाई साबह ने ठीक ही तो कहा है। क्या इै इसमें? क्या है यह? तो यह क्या है? मैं क्या हूँ? इतने जोर से उनके भीतर यह जागृति हुई और लेटे-लेटे मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर को मैंने छोड़ दिया है, शरीर की मृत्यु है, इसका नाश है, मैं इससे अलग हूँ। विचार का उदय हुआ, शरीर नाशवान है और मैं अविनाशी हूँ उनको दर्शन हो गया उसी उम्र में और वहाँ से उठकर चल दिए। ठीक है मैं किसी काम का नहीं हूँ मैं जाता हूँ। विचार का उदय तो एक ऐसा अमूल्य परिवर्तन वाली चीज है कि उसके बाद तो फिर कभी भ्रम हो ही नहीं सकता कि शरीर और संसार से भी सभी कोई त्रिकाल में मेरा सम्बन्ध था, अथवा है, अथवा होगा।

बहुत ऊँची चीज है, योग की साधना में। चाहे समर्पण योग हो, चाहे अन्य प्रकार का योग हो, योग की साधना में एक पोइंट ऐसा आता है, जहाँ कि अपने लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता। तो शरीर से सम्बन्ध रहा नहीं, अपने को कुछ चाहिए नहीं, अपना कुछ है नहीं, तो अपने को कुछ नहीं चाहिए, और अपने को कुछ करना नहीं है। तो ये बातें साधक अपने द्वारा न स्वीकार करता है। और उसके भीतर से शांति की अभिव्यक्ति होती है तो उसमें यह विचार उदित होता है और तत्काल ही तीनों शरीरों से तादात्म्य ऐसा टूटता है, ऐसा टूटता है कि स्वामी जी के मुख से मैंने सुना था कि फूल के तोड़ने में देर लगती है और उस सत्य के अभिव्यक्त होने में देर नहीं लगती है। पलक के गिराने और उठाने में काल लगता है, और इस विचार के उदित होने में काल नहीं लगता। सुना था मैंने। और कोई स्तर पर, कई अवसरों पर हमने देखा भी। कब सारा संसार, शरीर सहित लुप्त हो गया सो पता ही नहीं चलता है। कुछ नहीं रहता है, टाइम एण्ड स्पेस। काल और स्थान का कन्सेप्शन तो ऐसा होता है जैसा कि कभी था ही नहीं। यह तो बहुत ऊँची चीज है, बहुत बढ़िया बात है, और बहुत सच्ची बात है। विचार

मार्ग के साधकों के लिए पुरुषार्थ की अन्तिम सीमा है।

उसके बाद कुछ करना नहीं होता। अपने आप ही सब खत्म हो जाता है। तो इस पर आप की दृष्टि रहे, उसके लिए आप सही प्रकार से प्रोसीड करे तो आ जाएगा जीवन में, क्यों नहीं आएगा? 50 प्रतिशत आपका काम तो प्रभुति ने कर दिया है, और आधा ही हिस्सा बाकी है, हो जाएगा।

प्रवचन 6

प्रश्नμजब सत्संग या प्रार्थना में रहते हैं तो ऐसा लगता है कि चित्त निर्मल हो गया है, अब अपने से व्यवहार करते समय कोई बुराई न होगी, परन्तु जब व्यवहार में जाते हैं तब कोई न कोई बुराई हो जाती है। उससे बहुत पश्चाताप भी होता है, परन्तु यह सत्संग, पश्चाताप और प्रार्थना भी बुराई-रहित जीवन नहीं दे सके। पूर्णतः बुराई-रहित जीवन के लिए और क्या साधन करना चाहिए।

उत्तरμइसमें एक बड़ा रहस्य यह है कि सत्संग, पश्चाताप और प्रार्थना मनुष्य को बुराई-रहित न बना सके, यह बात बिल्कुल गलत है, भ्रमात्मक है। ऐसा नहीं होता है। ऐसा आपको लगता होगा, प्रश्नकर्त्ताभाई को ऐसा लगता होगा लेकिन उसके भीतर रहस्य क्या है? कि जिस बुराई को आप विचार से छोड़ना चाहते हैं उस बुराई में कहीं न कहीं कोई तात्कालिक सुख आपको फँसा होगा जरूर। बुराई को बुराई जानकर कर उसका त्याग कर देना, यह तो विचारक जन का सहज स्वभाव होता है। लेकिन दो हिस्से हो गए व्यक्तित्व के। विचार के आधार पर आप बुराई छोड़ना चाहते हैं, लेकिन जीवन मेंउस बुराई-जनित सुख की आसक्ति शेष रह गयी है तो दोहरा कर आ जाती है। दूसरी बात क्या है? कि आपके प्रयास से जीवन की कुछ बुराइयाँ तो चली गयीं, अब छोटी-मोटी जो रह गयीं हैं, उसको आप सहन कर सकते हैं इसलिए वे दोहरा कर आ रही है। सहन नहीं कर सकते होते तो नहीं आती। आप कहते हैं कि सत्संग से भी यह काम नहीं हुआ, पश्चाताप से भी यह काम नहीं हुआ और प्रार्थना से भी यह काम नहीं हुआ। तो नहीं हुआ यह कहना तो आपको मैं मानती हूँ लेकिन यह मैं नहीं मानूँगी कि सत्संग, पश्चाताप और प्रार्थना फेल हो गए ऐसा मैं नहीं मानूँगी। क्यों नहीं मानूँगी मुझे मालूम है, मानव जीवन का यह मंगलमय विधान है कि जिस बात को आप अपने में नहीं रखना चाहेंगे वह कभी ठहर नहीं सकता।

तो आपके केस में क्या हुआ होगा? तो आप के केस में या तो यह हुआ है कि पश्चाताप भी सजीव नहीं है, प्रार्थना भी सजीव नहीं है। आपने सुन लिया है, सुनने के आधार पर आप ऐसा कर रहे होंगे लेकिन इसमें सजीवता नहीं होगी, तो दोनों बातें खत्म करिए। किसी भी बुराई से जो तात्कालिक सुख मिलता है, उसको आप निकालिये जीवन में से। बुरा परिणाम पीछे आता है और सुख परिणाम पहले आता है। जैसे किसी रोगी आदमी का लिवर खराब हो गया हो और उसको तली, भूनी हुई चीजें खाने के लिए मना किया गया हो, तो खाते समय स्वाद का सुख पहले आ गया और डायरिया का दुःख पीछे आया।

बुराई जीवन में ठहरती है इसलिए कि बुराई का आदमी तात्कालिक सुख पंसद करता है, कालान्तर में जो दुःख आएगा उस पर दृष्टि नहीं जाती है अन्यथा बुराई ठहर नहीं सकती। तो एक तो मेरे भाई को यह उपाय करना चाहिए कि

उसके तात्कालिक सुख को मत देखो, कालान्तर में आने वाले घोर अंधकार और दुःख को देखो। दूसरी बात यह है कि पश्चाताप ऐसे जान-बूझ कर किया जाता हो सो तो सम्भव नहीं है। अगर निर्मल जीवन की आवश्यकता है, तो अपनी बुराई को देख करके ही हृदय में बड़ी गहरी वेदना पैदा हो जानी चाहिए। और हृदय में गहरी वेदना ही आस्तिक प्राणी की प्रार्थना है। जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करते हैं, उसी का नाम प्रार्थना है। तो आप शब्दों में प्रार्थना कर रहे होंगे, सचेत होकर सुना रहे होंगे। हृदय में गहरी पीड़ा पैदा नहीं हुई होगी।

अनेक बार मैंने सुना है अनेक बार आपने भी सुना होगा बहुत से उदाहरण हम लोगों को मालूम हैं। इसी वृन्दावन की बात है, कोई एक महिला कमला जी उनका नाम था, गलत रास्ते पर थी तो किसी खास तिथि पर, एकादशी के दिन कि भैया दूज के दिन कि अक्षयतृतीया के दिन किसी खास तिथि पर मदन मोहन जी के मन्दिर में जल चढ़ाने जा रहीं थीं। जैसे ही उन्होंने प्रवेश करना चाहा, पंडा ने खूब जोर से उनको डाँट दिया, कंलकितनी, पापिनी आयी है मन्दिर में भगवान को जल चढ़ाने के लिए, निकल जा तू मन्दिर में घुसने के लायक नहीं है। निकल गयी, पीछे चली गयी, मन्दिर के पीछे परिक्रमा ामें जहाँ पर प्रणाम किया जाता है, पीठ की तरफ। वहाँ जा करके जल चढ़ाया और केवल पात्र का जल ही नहीं, आसुँओं का जल भी चढ़ाया। मदन मोहन जी आज मेरा जीवन ऐसा हो गया कि हम मन्दिर में आपको जल अर्पित नहीं कर सकते। कह करके जल चढ़ा के आसूँ चढ़ा के चली गयी। घर पहुँची, मन्दिर से घर जाते-जाते वृत्ति उनकी पूरी बदल गयी। जिस पुरुष के साथ रहती थी उनसे जाकर के उन्होंने कहा कि देखिए जी अब आज से मेरा आपका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। जप करना पड़ा, सम्बन्ध तोड़नें का जप करना पड़ा? नहीं! हृदय में ग्लानि हुई कि अच्छा! मेरा जीवन इतना पतित हो गया, इतना अधम हो गया कि मदन मोहन जी को मैं जल चढ़ाने के लायक नहीं रहीं। इस पीड़ा ने उनके विवेक को जगा दिया, उनकी आसक्ति को तोड़ दिया और उस पराये पुरुष के साथ, जिसके साथ रह रहीं थी अपना घर छोड़ के, उसको जाकर उन्होंने कहा कि देख्एि जी! आज से आपका मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अब मैं इस मकान में नहीं रहूँगी, कह करके चली गयी। दूसरी जगह जाकर रहने लगी। प्रतिदिन जमुना जी में जाकर के स्नान करना, लुटिया में जल लेना और मन्दिर के पीछे मदन मोहन जी की याद करके पीछे ही जल चढ़ाना। सामने अब जाती ही नहीं थी। स्वामी जी महाराज ने यह कथा सुनायी थी। एक साल बीत गया। हृदय के पश्चाताप ने, की हुई भूल को पुनः न दोहराने के व्रत ने और मदन मोहन जी की शरणागति, उनकी महिमा, उनकी याद करना, उनका सहारा माँगना, यह सब मिलकर के उसके हृदय को इतना निर्मल बना दिया। स्वामी जी कहते थे कि ऐसा लग रहा था कि एक साल कमला जी ने मन्दिर में प्रवेश नहीं किया और पीछे-पीछे खड़े होकर जल चढ़ाती रहीं मन्दिर की पीठ पर, तो उनके हृदय की निर्मलता उनका भाव, उनकी हीनता उनकी शरणागति यह सब मिल करके मदन मोहन जी स्वयं ही, उनसे मिलने के लिए व्याकुल हो गए। उसी तिथि को उसी व्रत के दिन एकदम धड़धड़ा कर मन्दिर में पहुँची और जो उन्होंने समर्पण भाव से प्रणाम किया तो मदन मोहन जी में उनका प्राण उसी जगह लय हो गया।

तो एक साल पहले जिसको कंलकितनी कहकर निकाल दिया था, एक साल के भीतर ही, वह सब खत्म हो गया। और जब उन्होंने प्रणाम किया मदन मोहन जी को हृदय खोलकर जब उनसे मिलने गयी तो मदन मोहन जी ने उनको अपने में लय कर लिया। तो जय जयकार होने लगा, कमला जी की भक्ति का बखान होने लगा और बड़ी धूमधाम से उनकी अंतेड्डि कर दी गयी। तो मैं इस बात को नहीं मानती हूँ, कि पश्चाताप से हृदय की शुद्धि नहीं होती है, प्रार्थना से हृदय की शुद्धि नहीं होती है कि सत्संग से मनुष्य के जीवन का अंधकार नहीं मिटता है, मैं ऐसा नहीं मानती हूँ। और जो भी भाई जिन्होंने ये प्रश्न लिखा है, उनके भीतर निराशा नहीं आनी चाहिए, उनको ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि सत्संग, पश्चाताप और प्रार्थना से काम नहीं चला। उनको ऐसा सोचना चाहिए कि जानते, अनजानते, कहीं न कहीं मैंने बुराई को पसंद किया होगा इसलिए बुराई रह गयी है। और कहीं न कहं मेरी प्रार्थना में और पश्चाताप में कहीं न कहीं निर्जीवता रही होगी, विश्वास कम रहा होगा इसलिए काम नहीं बन रहा है। तो आगे से उनको क्या करना चाहिए? कि बुराई का जो तत्काल एक सुख भास होता है, उसका त्याग करना चाहिए। बुराई को नापसंद करना चाहिए पूरी तरह से और प्रार्थना से, पश्चाताप से और सत्संग से कभी हटना नहीं चाहिए। जहाँ पर आज हैं, वहाँ तक तो डटे रहें और उसके आगे बढ़ने की चेड्डा में लग रहें। उनकी जरूरत बढ़ती जाएगी, सामर्थ्यबढ़ जाएगी और जल्दी से जल्दी उनका काम शुरू हो जाएगा।

प्रश्नμहर क्रिया के पीछे पवित्र भाव, भाव के पीछे ज्ञान रहना चाहिए। इसमें पहले भाग को समझ लगती है किन्तु दूसरे भाग को समझ नहीं लगती है।

उत्तरμअच्छ खैर यह तो अपने समझ की बात है लेकिन प्रवृत्ति में भाव की पवित्रता और ज्ञान का प्रकाश हमेशा रहना ही चाहिए। ज्ञान के प्रकाश का क्या फल होगा? ज्ञान के प्रकाश का फल यह होगा कि जिस किसी साधक को अविनाशी जीवन चाहिए, वह किए हुए कर्म के फल की आशा नहीं रखेगा। फल की आशा छोड़ना यह ज्ञान के प्रकाश का परिणाम है। क्यों? क्योंकि कर्म होता है, कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म का अन्त होता है। ठीक है न? सत्संग का कार्यक्रम हम लोगों ने शुरू किया है, बोलने का आरम्भ हुआ है, सुनने का आरम्भ हुआ है, तो बोलने और सुनने का अन्त भी होगा। तो जिसका आरम्भ होता है, जिसका अन्त होता है उसका फल भी बनने और मिटने वाला होगा, क्रिया का फल जो बनेगा।

इसलिए जो विवेकी जन होते हैं वे सही प्रवृत्ति में भाग लेते हैं, लेकिन प्रवृत्ति का फल अपने लिए नहीं चाहते हैं। क्योंकि उसका फल भी नाशवन होता है। ज्ञान का प्रकाश क्या करेगा कि जब हम कर्म-क्षेत्र में हाथ डालेंगे, सर्वहितकारी काम करेंगे तो इस सावधानी के साथ करेंगे कि इस किए हुए कर्म का कोई फल मुझको नहीं चाहिए, रिगार्ड मुझको नहीं चाहिए, अभिमान अपने में नहीं रखेंगे। किस उद्देश्य कर्म करेंगे? कि करने के राग की निवृत्ति हो जाएगी तो यह ज्ञान का फल हुआ। भाव क्या है? कि कर्म में भाव की पवित्रता का बड़ा महत्त्व है। क्या महत्त्व है कि भाई, जो भी कुछ कर्म हम करने जा रहे हैं उस कर्म के फल से किसी भी प्राणी को कड्ढ नहीं होना चाहिए, किसी का अहित नहीं होना चाहिए। तो

हितकारी हम कितनना बनेंगे वह तो परमात्मा के मंगलमय विधान से बनेगा। लेकिन हम अपनी ओर से, मन से, वचन से, भाव से, कर्म से, किसी को क्षति नहीं पहुँचाएँगे इस व्रत को धारण करना भाव को पवित्र बना देता है।

तो होता क्या है? अपने सुख की धुन में लगा हुआ व्यक्ति दूसरों की तकलीफ का ध्यान नहीं रखता। अपने स्वार्थ से प्रेरित व्यक्ति दूसरों को क्षति पहुँचा कर, दुःख देकर भी सुख लेना पसंद करता है, इसलिए वह थक जाता है। भाव की पवित्रता का अर्थ क्याहै? दुनिया की भलाई कर पाओगे कि नहंी वह तो भले छोड़ दो लेकिन किसी भी प्रकार से, मेरे किसी भी धर्म से किसी का अहित नहीं होना चाहिए। तो इस सत्य को स्वीकार करने से कर्म में भाव पवित्र हो जाता है। अब मेरे भाई पूछ रहे हैं कि भाव की पवित्रता तो समझ में आती है और ज्ञान वाली बात समझ में नहीं आती। पहले और पीछे का प्रश्न नहीं है। समझ में आने न आने की बात नहीं है, आप जब काम करने जाते हैं तो बहुत ही स्पष्ट है कि जब दूसरा कोई मेरे साथ अहितकर कर्म करता है तो मुझे बुरा लगता है, तो हमको दूसरे के साथ अहितकर कर्म नहीं करना चाहिए।

और यहाँ तब बात है, बड़ी अच्छी बात है। प्रश्नकर्त्तानि जो प्रश्न किया है, उसमें से एक उदाहरण मुझे याद आ गया। स्वामी जी महाराज से एक बार ऐसे ही मेरी बातचीत हो रही थीं, भाव की पवित्रता और विधि की शुद्धता, ठीक विधि से काम करना, पवित्र भाव से काम करनाा तो महाराज जी ने बताया। मैंने अपना कोई उदाहरण दिया, हमने कहा कि महाराज इस काम में ऐसा-ऐसा हो रहा है, पूरा पक्का नहीं उतर रहा है तो मुझे करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए। तो स्वामी जी ने यह नहंी कहा कि तुमको करना चाहिए कि नहीं करना चाहिए। उससे ऊपर की बात बोल गए, उन्होंने कहा कि देखो साधक होकर के अगर कर्म करने में इतनी सावधानी नहीं रखी जाएगी। ठीक विधि से पूरा करो, पवित्र भाव से पूरा करो और विवेक पूर्वक पूरा करो। तो ज्ञान का हिस्सा उसमें से हटा दो तब भी और भाव की पवित्रता का हिस्सा हटा दो तब भी, या विधि की शुद्धता हटा दो तब भी काम तो हो जाएगा, उल्टा, सीधा जैसा तैसा लेकिन तुमको सबसे बड़ा घाटा यह लगेगा कि करने का राग नहीं मिटेगा।

यह है उसका रहस्य। अगर जो काम करना है, उसको पवित्र भाव से नहीं करोगे, ज्ञानपूर्वक नहीं करोगे और ठीक विधि से नहीं करेंगे, हमारी विधि गलत हो रही थी, तो विधि पर हमने ध्यान दिया था, हमने महाराज जी से कहा कि इसको जैसा होना चाहिए वैसे हमारे द्वारा नहीं हो रहा है तो करें कि नहंी करें? तो यह नहीं कहा कि मत करो और यह नहीं कहा कि करो, यह कहने लगे देवकी जी, बहुत बड़ा घाटा यह लगेगा कि इसमें से कोई भी हिस्सा छोड़ दिया तुमने, उन पर ध्यान नहीं दिया तुमने तो करते जाओ, करते जाओ, करने का राग नहीं मिटेगा, तो बहुत बड़ा घाटा है,राग नहीं मिटेगा तो क्या होगा? राग नहीं मिटेगा तो बारम्बार शरीर धारण करना पड़ेगा। ऐसाहै तो आगे पीछे की बात नहीं है और किसको पहले लें किसको पीछे लें ऐसा कोई प्रश्न नहीं है। कर्म के सम्बन्ध में कर्म विज्ञान के आधार पर तीनों की बातें अच्छी तरह से निभानी पड़ेगी, तभीप राग की निवृत्ति होगी, तभी आप शान्त हो सकेंगे, तभी आप देहातीत जीवन में प्रवेश पा सकेंगे।

प्रश्नμआत्म-विकास अथवा आत्मज्ञान में शरीर की स्वस्थता एवं निरोगता का महत्त्व

निर्विवाद है। मानव सेवा संघ शरीर-शुद्धि चित्त-शुद्धि एवं निरोगता के लिए क्या मार्ग सुझाता है? डुपया प्रकाश डालें।

उत्तरμइसलिए कि ये सब औजार जो अपने को मिले हैं संसार में रहने के लिए। शरीर मिला है, मन मिला है, चित्त मिला है, बुद्धि मिली है, ये सब साथी जो मिले हैं प्राडुतिक शक्तियों के अंश के रूप में इनको इनकी स्वाभाविकता में रहने देना है।

इनकी स्वाभाविकता में रहने देना है, मन को भी, चित्त को भी, बुद्धि को भी शरीर को भी। सब शरीर ही है, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर अब उनके अंग है अलग-अलग। तो इनको स्वस्थ रखना अपना कर्तव्य है, इनको स्वाभाविक रहने देने अपना कर्तव्य है और निरोग शरीर से सत्य पकड़ा जाएगा ऐसा सोचना भूल है। शरीर नाशवान है। नाशवान शरीर से अविनाशी जीवन नहीं मिलता है। नाशवान शरीर के माध्यम से अविनाशी तक पहुँचा नहीं जाता है। शरीर को स्वस्थ रखना है इसलिए क्योंकि यह एक प्राडुतिक यन्त्र है। यह ठीक रहेगा तो संसार के काम आएगा। मन, चित्त को ठीक रखना है, शुद्ध रखना है इसलिए क्योंकि ये प्राडुतिक शक्तियाँ है ये ठीक रहेंगी तो सेवा में सहायक होंगी। अपने को तो सबसे असंग होना है स्थूल शरीर से भी, सूक्ष्म शरीर से भी, कारण शरीर से भी। सबसे असंग होने के बाद ही अविनाशी जीवन से अभिन्नता होती है। अविनाशी का अविनाशी योग, अविनाशी का बोध, अविनाशी का प्रेम तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ने के बाद ही सम्भव होता है।

मानव सेवा संघ शरीरों की स्वस्थता, नीरोगता, संयम, सदाचार, हितकर श्रम इस पर खूब जोर डालता है किसलिए? इसलिए कि अगर शरीर के साथ जो करना चाहिए सो नहीं करोगे तो उससे सम्बन्ध तोड़ने में आपको कठिनाई होगी। शरीर स्वस्थ रहता है भोग प्रवृत्ति से कि संयम से? संयम से। तो जो भोग-प्रवृत्ति में लग-लग करके शरीर को रोगी कर देगा, आसक्ति में पराधीनता में लग जाएगा। तो जो आसक्ति में बँधा है, वह शरीर का संग छोड़ सकेगा? नहीं छोड़ सकेगा। तो मानव सेवा संघ में शरीर की सेवा, मन की सेवा, चित्त की सेवा का यह अर्थ है।

प्रश्नμयह कहा जाता है कि जो हमारे मित्र अथवा सम्बन्धी थे जिनका वियोग हो गया, उनकी तो हमें याद आती है परन्तु जो प्रभु मौजूद है, हमारे साथ है, उनकी याद करनी पड़ती है।

उत्तरμइस सम्बन्ध में निवेदन है कि जो हमारे मित्र अथवा सम्बन्धी थे, उनको सम्बन्ध हमारे शरीर, मन, बुद्धि से था, जिस कारण उनकी याद आती रहती है। यह भी भ्रम है। परन्तु प्रभु का सम्बन्ध? आप कहते हैं कि जिनका मैंने सम्बन्ध माना, उनका सम्बन्ध हमारे शरीर, मन, बुद्धि से था इसलिए उनकी याद आती है और इसलिए सम्बन्ध बना हुआ है। तो आप ऐसा सोचिए कि बहुत घना सम्बन्ध आपने माना था पर मन के प्रतिकूल होने से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। हाथ-पाँव तो बना ही हुआ है, शरीर, आँख, नाक, कान तो बना ही हुआ है लेकिन अब उस व्यक्ति की ओर देखना भी आप पंसद नहीं करते हैं, अलग-अलग रहना पसंद करते हैं, विलग हो जाना चाहते हैं। शरीरों से सम्बन्ध था तो शरीरों के रहते-रहते अलगाव कैसे हो गया? इसका अर्थ यह है कि सम्बन्ध माना था मैंने और तोड़ा मैंने। इसमें शरीर का सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्नμपरन्तु प्रभु का सम्बन्ध हमारे साथ कभी नहीं हुआ।

उत्तरμआह! विश्वास-पथ की जड़ ही काट डाली मेरे भाई ने। अरे भैया, तुम्हारा नित्य सम्बन्ध और किसी से कभी हुआ ही नहीं। सम्बन्ध अगर है, तो केवल एक उसी अनन्त तत्त्व से है कि जिसमें से हम सब भाई बहनों को जीवन मिला है। मेन स्ंिप्रग आॅफ लाइफ कहते हैं उसको रिजर्वोयर आॅफ लाइफ यह सब छोटा-छोटा यूनिक दिखाई दे रहा है न दृश्य जगत् में विविध रूपों में विविध प्राणी दिखाई दे रहे हैं, अलग-अलग सब। इन सबका कौन-सा मेन स्ंिप्रह है? कौन-सा रिजर्वोयर है? कौन सा उद्गम है, किसमें से यह सब निकला है? उसी को न परमात्मा कहा जाता है। तो आपने तो सोर्स से ही कनेक्शन काट दिया। साँस कैसे लेंगे भाई? सत्ता ही नहीं रहेगी, अपना कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। तो यही भ्रम है कि उससे मेरा सम्बन्ध हुआ नहीं। सच्ची बात है कि उससे ही सदा-सदा का सम्बन्ध है, उससे भिन्न और किसी से सम्बन्ध कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं और मानते हैं तो मानना मेरी भूल है और इसी भूल का परिणाम है कि हाय-हाय करके तड़प रहे हैं। जो सच्ची बात है उसको उलट दिया, जो झूठी बात है उसको पकड़ लिया। यही तो भ्रम है, इसी को मिटाने के लिए सत्संग हैं।

प्रभु का सम्बन्ध कभी हमारे साथ टूटा नहीं। स्वामी जी महाराज कहते हैं भैया उससे सम्बन्ध तुम्हारा कभी टूटा नहीं, बड़ा भारी भ्रम है। केवल विश्वास ही विश्वास है, केवल सुना ही हुआ है, केवल सुना ही हुआ है इसलिए उनकी याद करनी पड़ती है। तो जब सम्बन्ध हुआ ही नहीं, है ही नहीं तो आप उसको याद करने का कष्ट काहे को करते हैं? अगर आप ऐसा मानते हैं कि उनसे सम्बन्ध हुआ ही नहीं और यह विश्वास जो मैं कर रहा हूँ दूसरों के मुख से सुन रहा हूँ तो यह सुनी सुनायी बात है। और ऐसा मिथ्या विश्वास है तो फिर उसको याद करने का कष्ट क्यों करते हैं आप? याद करने की जरूरत क्यों अनुभव करते हैं। यह अपने आप में विरोध है न? सम्बन्ध भी न मानो और याद करने की चेङ्का करो। अरे भाई काहे के लिए याद करो? हमारा उससे कोई मतलब ही नहीं है। जब बचपन में मैं भगवान से नाराज रहती थीं तो कोई कहता था कि भगवान बड़े ङुपालु हैं, जगत् पिता हैं, तो मैं सुना देती गौड इज नाॅट अवर फादर बट क्रूयेल जज और फिर जब कोई समझाता तो मै। कहती होंगे ङुपालु जिसके लिए उसके लिए मेरे लिए तो है नहीं, इसलिए हमको कोई मतलब नहीं है। सच्ची बात है जिसके सम्बन्ध को ही आप निराधार मानते हैं, तो उसको याद करने की जरूरत क्या है भाई छोड़ दो उसको हमारे लिए।

हम उसको याद करेंगे, हम उसको प्यार करेंगे हमें अच्छा लगता है, हमें सजीव लगता है। गलत बात है। इसलिए आप ऐसा मत सोचिए कि भगवत-स्मृति जो है वह बिना विश्वास के सजीव हो सकेगी? नहीं होगी, कभी नहीं होगी। मैं उन भाई को जानती हूँ, अच्छे समझदार और सोचने-विचारने वाले आदमी हैं। तो उन्होंने ऐसे बहस करने के लिए प्रश्न नहीं किया है उनके दिल में यह तकलीफ है, हो नहीं रहा है उसमें, तो मैं उनकी सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि भाई, आप इस मौलिक मूल को मिटाइए। जड़ में ही यह भूल है कि परमात्मा का सम्बन्ध केवल सुना हुआ है, माना माना हुआ है, है नहीं। सम्बन्ध है और जिस समय हम उसको नहीं मानते हैं, उस समय भी वह सम्बन्ध रहता है। कैसे होसकता है? आप बड़े विचारक है तो विचार के आधार पर सोच करके देखिए, तो आपको आप ने स्वयं अपने द्वारा नहीं

बनाया और जिस धातु से आप बने हैं वह धातु संसार की किसी फैक्ट्री का प्रोडेक्शन नहीं है। आप विचारक है तो विचार की दृष्टि से सोचिए। कोई उत्पत्ति बिना आधार के होती है? जी, नहीं होती है। कोई प्रतीति बिना प्रकाशक के होती है? नहीं होती। तो मत कहो भगवान उसको लेकिन अपनी उत्पत्ति का आधार तो मानोगे? तो मानना पड़ेगा न? तो मैं उत्पत्ति हूँ और मेरा आधार है और मेरा उससे सम्बन्ध नहीं है यह कहते बनेगा? नहीं बनेगा। तो यह प्रश्न ही गलत है।

एक भाई बड़े दुःखी हो रहे हैं कि स्वामी जी महाराज के विचारों के सम्पर्क में आया, तब से जबरदस्त प्रेरणा उनके विचारों से लेता रहा हूँ किन्तु उनके जीवन-काल में कभी भी उनके समीप में अपने आप को उपस्थित करने की आवश्यकता तथा प्रेरणा उत्पन्न नहीं हुई। क्या कारण है कि उनके जीवन-काल में यह इच्छा नहंी हुई? और अब उनके शरीर शान्त होने के पश्चात् यह प्रायश्चित हो रहा है कि उनका करुणामय प्यार भरा हाथ अपने शरीर से स्पर्श नहीं कराया गया।

उत्तरμतो कोई बात नहीं है। समय-समय की बात है। पहले आपने आवश्यकता नहीं अनुभव की तो ऐसा नहीं कराया? लेकिन ऐसा मानिए कि आपने नहीं कराया होगा लेकिन उन्होंने किया है। उन्होंने अपने प्यार का जादू चला दिया जरूर शरीर के रहते-रहते अन्यथा अब आपको उसकी याद नहीं आती। तो अब क्या करना है? कुछ नहीं करना है। आपके भीतर उनके प्यार-भरे स्पर्श की आवश्यकता अनुभव होती है तो उनके लिए यह बात कठिन नहीं है। और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि जब जिस साधक को ऐसी आवश्यकता पड़ती है तो उनके प्यार के स्पर्श का अनुभव होता है। इसलिए आप मत सोचिए। संत अमर होते हैं, उनका नाश नहीं होता, उनके सत्य का नाश नहीं होता, उनके प्रेम का नाश नहीं होता और जिस साधक को जिस समय जैसी आवश्यकता रहती है वे उसको देते हैं। इसलिए आप पछिताइए मत। अब भी आपको उनके प्यार की आवश्यकता है, तो जिस समय यह आवश्यकता तीव्र हो जाएगी आप जहाँ है वहीं बैठे-बैठे उनके प्यार-भरे स्पर्श का अनुभव कर सकेंगे, आनंदित हो सकेंगे, लाभ उठा सकेंगे।

प्रवचन 7

मानव सेवा संघ संस्था के आजीवन सदस्यों और स्थायी साधकों की सेवा में कुछ निवेदन करना है। साधन-पथ में आप दृढ बन रहें हैं, आगे बढ़ सकें इसके साधन रूप स्वीड्डति को अपने जीवन में सजीव बना सकें, इस सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें मुझे आप भाई-बहनों के सामने निवेदन करनी है। जिज्ञासु भाई-बहन पूछते रहते हैं, उत्तर देना जरूरी है। स्वामी जी महाराज के ाब्दों में ही कुछ बातें निवेदन कर देती हूँμमानव सेवा संघ की आजीवन सदस्यता अथवा किसी भी प्रकार की सदस्यता स्वीकार करने का क्या अर्थ है? कैसे वह हमारे जीवन के विकास में सहायक बन सकता है? इस सम्बन्ध में कुछ सुन लीजिए। मानव सेवा संघ साधकों का संग है। इसका उद्देश्य अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संघ मान-मा. को सेवा, त्याग और प्रेम की प्रेरणा देता है। सभी मत-सम्प्रदाय और मजबह के भाई-बहन इसके सदस्य हो सकते हैं।

संघ की सदस्यता की स्वीड्डति साधक भाई-बहन को अपने सुधार की प्रेरणा देती है।

यदि सम्भव हो तो प्रत्येक सदस्य को प्रतिदिन संघ की प्रार्थना एवं नियमों का पाठ करना चाहिए। इसका शुभ परिणाम यह होगा कि प्रत्येक परिस्थिति में सदस्य को याद आएगा कि मैं संघ का सदस्य हूँ। अतः मुझे जानी हुई भूल नहीं करनी है, और की हुई भूल नहीं दोहरानी है। कुटुम्बी जनों के अधिकार की रक्षा करनी है और अपने अधिकार का त्याग करना है, इत्यादि। भूल-रहित जीवन में शान्ति, मुक्ति और भक्ति की अभिव्यक्ति होती है और भूल-रहित व्यक्तियों के समूह से निर्भूल समाज का निर्माण होता है।

संघ के कार्यक्रम में सर्व प्रमुख सत्संग को माना गया है। व्यक्तिगत सत्संग, पारिवारिक एवं सामूहिक सत्संग के द्वारा जीवन में जागृति लाने की चेष्ठा की जाती है। प्रत्येक सदस्य को अपने जीवन में सत्संग को विशेष महत्त्व देना अनिवार्य है। ग्यारह नियमों में से, जितने नियमों का पालन अपने द्वारा सम्भव हो, तत्काल प्रयास आरम्भ कर देना चाहिए। श्री महाराज जी के शरीर के नाश के बाद भी यह कल्याणकारी विचारधारा मानव-समाज में बनी रहे, इस उद्देश्य से मानव सेवा संघ को श्री महाराज जी ने रजिस्टर्ड सोसायटी बना दिया है। इसी कारण इसके सदस्य होने का नियम है। वार्षिक सदस्य होते हैं, आजीवन सदस्य, सम्मानीय सदसय, एवं दानी सदस्य। संघ के आजीवन सदस्यों का सदस्यता-शुल्क संस्था के स्थायी कोष में जमा होता है, इसका ब्याज केन्द्रीय कार्यालय द्वारा संचालित प्रवृत्तियों में खर्च होता है। इस संस्था को दिया गया दान आयकर से मुक्त है। प्रत्येक आजीवन सदस्य का निकट सम्बन्ध वृन्दावन केन्द्र से रहता है।

प्रत्येक वर्ष होली के अवसर पर वृन्दावन में मानव सेवा संघ का वार्षिकोत्सव सत्संग-समारोह होता है। उस समारोह का निमन्त्रण प्रत्येक आजीवन सदस्य के पास आता है। जितने भी आमंत्रित सदस्य यहाँ आते हैं, सबके भोजन, निवास एवं सत्संग सुनने की व्यवस्था सत्संगी भाई-बहनों के सहयोग से आश्रम की ओर से होती है। इन सारी प्रवृत्तियों का मूल उद्देश्य है मानव-साधक बन जाए और स्वाधीनता पूर्वक शान्ति, मुक्ति और भक्ति की साधना में लग जाए। साथ ही यथाशक्ति सेवा के द्वारा सामाजिक उन्नति में सहयोगी बने। सारांश यह है कि व्यक्ति का शरीर विश्व के काम आ जाए, अहम् अभिमान-शून्य हो जाए, हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाए, यह मानवता की पूर्णता है। मानवता की पूर्णता में ही मानव सेवा संघ की सफलता है।

मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली का परिचय आपने प्राप्त कर लिया है। जिन साधक भाई-बहनों को इस साधन प्रणाली से अपनी साधना में सहायता लेनी हो, वे निम्न प्रकार से लाभ उठा सकते हैं। संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के पढ़ने में जिनकी रुचि हो, वे पुस्तके पढ़ें। स्थानीय शाखा द्वारा संचालित दैनिक एवं साप्ताहिक सत्संग में भाग ले सकते हैं। साधकों के लिए सही मार्ग-दर्शक के रूप में संघ द्वारा 'जीवन दर्शन' मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है। पत्रिका पढ़ने में रुचि रखने वाले भाई-बहन पत्रिका के ग्राहक बन सकते हैं। उपर्युक्त बातों की विशेष जानकारी यहाँ पर केन्द्रीय कार्यालय से प्राप्त कर सकते हैं। भगवत डुपा एवं उत्साहित कार्यत्ताओं के सम्पर्क से तथा संघ की विचार धारा से प्रभावित होकर अनेक भाई-बहन आजीवन सदस्य बन रहे हैं। मानव सेवा संघ अपने साधारण एवं आजीवन सभी प्रकार के सदस्यों का हार्दिक अभिनन्दन करता है। जिन भाई-बहनों ने अपने कल्याण एवं सुन्दर

समाज की निर्माण की दिशा में सक्रिय कदम उठाया है, साथ ही संस्था को भावात्मक एवं क्रियात्मक सहयोग दिया है, सर्व समर्थ प्रभु आपका जीवन सफल बनाएँ यह हमारी प्रार्थना है।

प्रवचन 8

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

यह विचार विनिमय का समय है, एक प्रश्न आया है, मैं प्रश्न सुनाती हूँ।

प्रश्नμबुराई-रहित होने के लिए बुराई को नापसंद करने की सलाह, मानव सेवा संघ देता है। नापसंद का थोड़ा अर्थ स्पष्ट करें। जैसे क्रोध को पसंद नहीं करता, मन, बुद्धि और हृदय से भी क्रोध को पसंद नहीं करता निज अनुभव से भी क्रोध के बुरे परिणाम के कारण क्रोध को पसंद नहीं करता। इस तरह आन्तरिक और बाह्य चेतना के स्तरों पर नापसंद करने पर भी कभी-कभी क्रोध आ जाता है और उसके अधीन होकर कार्य कर बैठता हूँ। अब इस क्रोध को किस प्रकार नापंसद करूँ कि कभी क्रोध के अधीन होकर कार्य न करूँ?

उत्तरμक्रोध की जो बुराई है वह तो उससे बड़ी बुराई की प्रतिक्रिया है। उसमें बड़ी बुराई क्या है? कि संसार में आ करके किसी पर अपना अधिकारी मानना, यह जड़ है क्रोध की। जब हम दूसरों पर अपना अधिकार मानते हैं और उस अधिकार की पूर्ति नहीं होती तब क्रोध आता है। मूल बुराई है अधिकार मानना और उसे मिटाने का, उसे नापसंद करने का मूल उपाय है अपने अधिकार का त्याग करना।

आप अधिकार मत मानिए, तो क्रोध की उत्पत्ति अपने आप खत्म हो जाएगी। क्रोध नापसंद तो आता ही है, चाहते नहीं है क्रोधित होना और उसके परिणामों को भी आप जानते ही हैं, आपने ही लिखा है। तो उसको जड़ से काटिए जो अपने आप से होने वाला संवेग है, खुद ही एकदम से उत्तेजना जो आ जाती है, तो उसके कारण को खत्म कीजिए तो उत्तेजना का आना बन्द हो जाएगा। और उसका एक मुख्य कारण है निकटवर्ती जन समुदाय पर अपना अधिकार मानना। पिता होकर पुत्र पर, पत्नी होकर पति पर, पति होकर पत्नी पर, मालिक होकर नौकर पर, व्यक्ति होकर समाज पर, नागरिक होकर देश पर, जीवन होकर ईश्वर पर, अधिकार मानने की जो गलती है, उसी से क्रोध की उत्पत्ति होती है। हम सब लोग साधक है, साधना की दृष्टि से विचार करने बैठे हैं, तो साधक को तो चाहिए कि वह हर प्रकार से परिवार, समाज, देश, सबके काम आने की सोचे, स्वयं अपना अधिकार किसी पर नहीं माने। अपने अधिकार की पूर्तिके लिए किसी से सम्बन्ध न रखे। यह एक ऐसा सुधार है कि स्वभाव से ही आपके जीवन में आ जाएगा, तो इसके बाद आपको क्रोध को रोकने के लिए कोई नया उपाय नहीं करना पड़ेगा। ऐसा होगा, तो कर्तव्य का पालन करना सहज हो जाएगा। कर्तव्य-पालन में क्या होता है? निकटवर्ती जन समुदायों के अधिकारों की रक्षा होती है। स्वामी जी महाराज की प्रणाली में आपने इन बातों को बहुत सुना होगा, जगह-जगह पर जहाँ-वहाँ पर सब अनेक रूपों में, अनेक स्थलों पर महाराज ने इस बात का विवेचन किया है कि भई अपने अधिकार का त्याग और निकटवर्ती जनों के अधिकार की रक्षा। तो दूसरे के अधिकार की रक्षा करने में कर्तव्य का पालन हो जाता है और अपने अधिकारों के त्याग में राग और आसक्ति खत्म हो जाती है। नापसंद

करने में कोई विशेषता नहीं है कि इतनी डिग्री में नापंसद किया तो इतनी डिग्री में नापसंद किया नापसंदगी तो नापसंदगी है, उसमें और कुछ नहीं करना होगा लेकिन उस नापसंदगी के आधार पर, इस विकार का नाश करने के लिए उसके मूल कारण को मिटाना होगा। कारण है अधिकार मानना।

जिस किसी पर अधिकार मानो, उसी पर क्रोध आ जाता है। अधिकार मानना आप विचार के द्वारा छोड़ सकते हैं। अकेले में बैठ करके शान्त होकर विचार करिए, सोच-विचार करके जिन-जिन व्यक्तियों के प्रति आपका जो कत्र्तव्य सूझता है, वह कर्तव्य पूरा करिए और उसके बदले में उससे किसी प्रकार की कोई आशा मत रखिए। आशा नहीं रखिएगा तो क्रोध नहीं आएगा। क्रोध दुर्बलता की भी निशानी है। क्रोध असंुलन की भी निशानी है। क्रोध अधिकार-लोलुपता की भी निशानी है। क्रोध बल के अभिमान की भी निशानी है। कमजोर आदमी एकदम से आवेश में आकर के जो सो नहीं करने लग जाता है? कमजोर आदमी को भी क्रोध आताहै, लेकिन वह जरा सँभाल में रहता है क्योंकि कमजोर आदमी जानता है कि हम कुछ नहीं कर सकते। क्रोध विशेष बल के अभिमान से भी आता है। बल के अभिमानन का त्याग करना, पद-लोलुपता, अधिकार-लोलुपता का त्याग करना, दूसरों से किसी प्रकार की आशा न रखना और अपने कर्तव्य का पालन करना और वर्तमान जीवन को सरस रखना। सातों बातें आप याद रखिए। वर्तमान अगर नीरस है तो नीरसता में भी बहुत क्रोध आता है। भीतर की जो अनेक प्रकार की अतृप्त वासनाएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिए जब उनका नहीं मिलता है या जोर डाल करके जब उनको रोका जाता है तब भी क्रोध आता है। ये बातें जो हैं ये व्यक्तिगत सत्संग के आधार पर आप मिटा सकते हैं। अधिकार न मानना, कर्तव्य पालन करना, बल का अभिमान न रखना, दूसरों पर अधिकार न रखना और जीवन को सरस रखना। जीवन की सरसता में बहुत सी बातें आ जाएँगी। अकेले में बैठकर सोच-सोच करके इन उपायों को धारण करिएगा तो क्रोध मिट जाएगा।

प्रश्नμसबल व्यक्ति निर्बल पर अत्याचार करे तो कैसे, क्या करना चाहिए?

उत्तरμआप सबल हैं कि निर्बल हैं, मैं प्रश्नकर्त्तासे पूछ रही हूँ।

प्रश्नकत्र्ताμनिर्बल।

उत्तरμआप पर कोई अत्याचार कर रहा है या अन्दाजी बात लिख रहे हैं?

प्रश्नकत्र्ताμअन्दाजी नहीं है।

उत्तरμक्या-क्या करने का सोचा है आपने, कुछ किया? कर नहीं सके?

प्रश्नकत्र्ताμजी, नहीं,

ठीक है। कई बातें हैं इसमें। स्वामी जी महाराज का कहना ऐसा है कि मैंने यदि अपने पर स्वयं अत्याचार न किया होता, तो किसी की सामर्थ्यनहीं थी कि वह मेरे साथ करता है। तो साधक होकर के पहले तो यही सोचना चाहिए कि मैंने अपने द्वारा अपनी भलाई नहीं की। अगर मैं देह की आसक्ति से मुक्त हूँ तो कोई मेरा अपमान कर नहीं सकता। मुझे अपने साथ जो करना चाहिए था, सो मैंने नहीं किया तो मेरी इस भूल से आज मेरे प्रति ऐसा मालूम होता है कि कोई सबल जो है वह अत्याचार कर रहा है। यह तो आन्तरिक बात हुई। और बाहर से बात क्या हुई कि, अगर सबल है किसी प्रकार से आपकी शक्ति चलती है तो इस बलवान का हाथ पकड़ लीजिए कि नहीं मैं

तुमको ऐसा नहीं करने दूँगा। अगर आप में बल नहीं है तो हृदय से पीड़ित होइए, सामर्थ्यवान को पुकारिए हे प्रभु इसका नाश करो ऐसा नहीं, हे प्रभु इसको सद्बुद्धि दे दो, यह बल का दुरुपयोग करना बन्द कर दे। मानव सेवा संघ के सदस्य होकर, साधक होकर इस सत्य का खूब प्रचार करिए कि भई बल मिला है निर्बलों की सहायता के लिए, बल मिला है निर्बलों को सताने के लिए नहीं। अगर बल का सदुपयोग करोगे तो अधिक बलिष्ठ होते जाओगे और बल का दुरुपयोग करोगे तो अत्यन्त बल-हीन हो जाओगे। यह तरीका है।

एक बड़ी अच्छी बात स्वामी जी महाराज के वचन से मिल गयी थीं, मैंने लिख कर रखा था, आप को सुनाने के लिए। बहुत इन्टे[a]ेस्टिंग है, पढ़ूँ। किसी ने पूछा होगा असफलता का कारण, महाराज जी बता रहे हैं, जीवन में असफलता इसलिए है कि हम बिना सामान के रहना पसंद नहीं करते हैं। सामान का पुजारी कभी भी दासता से मुक्त नहीं होता है। विज्ञानवेत्ता विज्ञान का और कलाकार कला का दास है। अब जान-पहचान के लोग आकर कभी परिचय दे देते हैं। स्वामी जी महाराज के मित्र की कोई लड़की हो, उसके साथ ही उसके पित आए और आकर पहचान बताएँ और कहे कि स्वामी जी महाराज, आप की अमुक लड़की का पति हूँ मैं। तो महाराज खूब हँसते और कहते भैया दास हो और पति कहलाते हो।

विज्ञानवेता विज्ञान का और कलाकार कला का दास है, परन्तु प्रभु का दास, दास नहीं रहता है, वह प्रभु का प्यारा हो जाता है। प्रभु उसके प्रेमी हो जाते हैं और वह उसका प्रेमास्पद हो जाता है। आखिरी बात बहुत बढ़िया है कहते हैं कि यदि दासता ही स्वीकार करना है तो उसकी दास्ता स्वीकार करो, जो तुम्हें अपना प्यारा बना लें। दास बनना ही है, बिना दास बने नहीं रह सकते हो, तो उसका दास बनो जो सबकी दासता से मुक्त करके तुम्हें अपना प्यारा बना ले, अपने समान बना ले और अपने से विशेष बना लें। ऐसा कौन करेगा?

तो हमारे आपके जीवन में स्वाधीनता की माँग हैं। हम सब लोग स्वाधीनता पसंद करते हैं। मनुष्य की रचना ऐसी शानदार है कि वह किसी के अधीन होकर रहना पसंद नहीं करता है। भूल क्या होती है कि मन की गुलामी रखना चाहते हैं और व्यक्तियों के अपमान से बचना चाहते हैं। मन की दासता जीवन में है। वह संसार और समाज की ओर से मिलने वाले अपमान से बच नहीं सकेगा, जो मन का गुलाम है। तो मन की दासता पंसद करो, बुद्धि की दासता पंसद करो, धन की दासता पसंद करो, कहीं भी अगर उसकी आसक्ति को, उसकी पराधीनता को, उसकी गुलामी को पसंद करेंगे। तो फिर स्वाधीनता हम किसको कहते हैं? क्या मर्यादापूर्वक रहने को पराधीनता कहेंगे? क्या नियम-अनुशासन में रहने को पराधीनता कहेंगे? सबसे बड़ी पराधीनता तो यह है कि सामान के बिना रहने की बात ही नहीं सूझती और सबसे बड़ा सामान जो आरम्भ से लेकर अन्त तक मेरा पिंड नहीं छोड़ता है। सृष्ठि का जो सबसे नजदीक भाग है वह है यह अपना माना हुआ शरीर। यह सबसे बड़ा सामान है। जिसके कारण से बहुत संग्रह हो जाताहै, बहुत संघर्ष हो जाता है। और कितने जन्म बरबाद हो गए, इस सामान की ममता में। सामान के बिना रहना हम पसंद नहीं करते और फिर चाहते हैं कि जीवन में सफलता मिल जाए। तो सफलता नहीं मिल सकती। एक इस ;शरीर) सामान को अपने पस रख लो और बाकी सब बिखेर दो, हम महल

में नहीं रहेंगे, हम अधिक कपड़े नहीं रखेगे, हम साथियों के साथ नहीं रहेंगे, हम एकांत में चले जाएँगे, तो एकांत कहाँ हुआ भाई? शरीर अपने साथ है और सूक्ष्म जगत् में बड़ी तीव्र गति से विचरण करने वाला मन अपने साथ है, बहुत प्रकार की इच्छाओं, वासनाओं को रखने वाली ये अनन्त शक्तियाँ अपने साथ हैं। तो इतने साथियों को लेकर पहाड़ की गुफा में घुसो और कहो कि हम एकांत में रहेंगे, तो वहाँ एकांत रहेगा? जी नहीं रहेगा।

ऐसे साधकों को मैंने देखा है। जिनके सामने परिवार की बड़ी जिम्मेदारी हैं, संस्था की जिम्मेदारी हैं, संगी-साथियों के साथ बहुत तरह के कार्य हैं, तो वे लोग सोचते हैं कि अकेले जाकर बैठ जाओ तो सब झंझट से छुट्टी मिले। उनको जब अकेले बैठने का मौका लगता है, तब वे थोड़े ही समय में पाँच, सात दिनों में घबरा करके बाहर निकल आते है और कहते हैं कि ऐसे कैसे रहेगा आदमी? बिना किसी के बातचीत किये पागल हो जाएगा। क्या हो गया? तो हो क्या गया? देहातीत जीवन की जो सत्ता है, देहातीत जीवन में जो अमरत्व है, देहातीत जीवन में जो आनन्द है उस पर अपनी दृष्टि नहीं जाती, तो देह को लेकर हम उसके संग में रहते हुए भी संसार से स्वाधीन होना चाहते हैं। तो कैसे होगा? नहीं हो सकता है।

स्वामी जी महाराज के साथ रहकर यह सब मैंने देखा, सुना और सीखा। तो समय बँध गया, तो साहब इतने समय पर अमुक आदमी मिलने के लिए आएँगे। उनसे इतनी देर बातचीत करनी है। इस समस्या का समाधान करना है। एक आदमी हो चाहे पाँच-दस हों, चाहे किसी प्रकार का प्रोग्राम हो। बँध गया तो समय बँध जाने पर मैं स्वामी जी महाराज से कहती कि महाराज, आपने समय तो बाँध लिया, अब वे लोग समय पर नहीं आए तो आपका विश्राम का समय भी चला जाएगा। यह हो जाएगा, वह हो जाएगा। तो स्वामी जी कहते देवकी जी, मैं तो समाज के बनाए हुए नियम के अधीन हूँ। अगर मैं ज्यादा उसमें तर्क लागती तो कहते कि देखो सबसे बड़ी पराधीनता है कि आदमी शरीर को बनाए रखना चाहता है, शरीर को स्वस्थ रखना चाहता है, शरीर के माध्यम से सुख लेना पसंद करता है। इतनी बड़ी पराधीनता तो अपने भीतर रखो और फिर बाहर से समाज के साथ काम करने में जो नियम इत्यादि लग जाते हैं, अनुशासन लग जाता है, समय बँध जाता है तो उससे आदमी अपने को बँधा हुआ अनुभव करता है, तो यह बड़ी भूल है।

शरीर तो हमेशा ही संसार के साथ बँधा हुआ रहेगा। अगर आप शरीर की पराधीनता से अपने को मुक्त रखना पसंद करते हैं, तो शरीर को समाज का एक अविभाज्य अंग मान करके और उसी की खाद बना देना पंसद करिए। उसका मोह आप छोड़ दीजिए, उसकी गुलामी आप छोड़ दीजिए। और शरीर बना रहेगा तो तुम्हारा जीवन है और शरीर नहीं रहेगा तो तुम्हारा जीवन नहंी है, यह भूल अपने मेंसे निकाल दीजिए तो आप स्वाधीन हो जाएँगे। तो समान के बिना रहना अपने को पसंद न आए तो किसी भी प्रकार से स्वाधीनता नहीं मिल सकती है।

घर छोड़कर बाहर निकलेंगे, घर छोड़ कर बाहर जाएँगे तो जहाँ जाएँगे वहीं पर शरीर को रखने के लिए, सँभालने के लिए संसार बस जाएगा। होगा ही, क्योंकि यह तो संसार ही है, जिसकी रचना होती है जिसमें परिवर्तन होता है, जिसमें क्षति होती है, जिसका नाश होता है, उसी का नाम संसार है। तो यह जो एक समान अपने

पास है, उसमें हमने इतना तादात्म्य कर लियाहै आज कि उसके बिना भी मेरा अस्तित्व है, यह अपने गले उतरता ही नहीं है। लेकिन सत्य क्या है? सत्य है कि उसके बिना भी अपना अस्तित्व है? उसका पता कैसे चलता है? उसका पता तब चलेगा जब शरीर और संसार के अविछिन्न सम्बन्ध को हम लोग मानेंगे, शरीर को संसार की सेवा के लिए उसके हवाले करेंगे। देह में मम-बुद्धि अहम्-बुद्धि नहीं रखेंगे, यह मेरी है, यह मेरे लिए है, यह मैं हूँ। इन भूलों को मिटाने से उसमें से आसक्ति टूटती है। और समाज की सेवा करने से पुराने रोगों की निवृत्ति होती है। समाज के साथ इसको मिला देने से, इसकी चिंता और सुरक्षा के भार से आदमी मुक्त होता है। सहज प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति में देहातित जीवन का अपने को अनुभव होता है। तो एक बात तो यह है कि भाई शरीर के बिना भी हमारा अस्तित्व होता है, इस बात को मानना भी चाहिए और जानने का भी पुरुषार्थ करना होगा। अब आपके ज्ञान में यह बात आ जाएगी, जब इसका अनुभव हो जाएगा, तब भ्रम मिट जाएगा।

एक तो यह बात हुई। और दूसरी बात है कि अब पे्रम-पंथ की चर्चा कर रहे हैं महाराज। तो कह रहे हैं कि देखो संसार में किसी के प्रति अगर आसक्ति हो गई तो परिणाम क्या होता है कि वह वस्तु और वह व्यक्ति सदा के लिए तुम्हारे साथ रह नहीं सकता। ठीक है न? किसी को पसंद कर लिया हम लोगों ने, किसी व्यक्ति को पसंद कर लिया किसी वस्तु को पसंद कर लिया और उसको अपना माना तो कहते तो हम यह हैं कि इसकी मुझे सेवा करनी है, इसको मैं बहुत सँभाल रहा हूँ और इसकी बड़ी देखभाल कर रहा हूँ। तो आदमी को लगता है कि हम सेवा कर रहे हैं और भीतर-भीतर, भीतर-भीतर वह उसकी पराधीनता में, उसकी दीनता में फँसता चला जाता है। तो आगे चलकर क्या होगा? कि वस्तु और व्यक्ति तो सदा साथ दे नहीं सकते, अन्त में संग छूट जाएगा, वह क्षेत्र छूट जाएगा और उसकी गुलामी और उसकी आसक्ति अपने भीतर रह जाएगी, तो बहुत दुःखी रहेगा। जैसे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध मान करके आदमी कहता है कि हम तो उनको बहुत प्रेम करते हैं लेकिन बात उल्टी हो जाती है। जब संयोग में वियोग हो जाता है तब आदमी अधीर हो जाता है, अच्छा नहीं लगता कुछ भी। एक बार एक सज्जन स्वामी जी महाराज के पास आए। भागलपुर कमिश्नरी में मंदार पर्वत एक पर्वत है, बहुत ही रमणीक प्राङुतिक स्थान है, लोग कहते हैं कि बिल्कुल एकदम काश्मीर का बच्चा जैसा लगता है, इतना बढ़िया है वह, वहाँ पर उन्होंने एक)ष्शिकुल की स्थापना की और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए बहुत सा काम किया, जैसा उन्होंने बताया, मैंने देखा नहीं है। उन्होंने आकर के बताया था तो बहुत अधीर होकर के वे स्वामी जी महाराज के पास आए और कहने लगे। बताया उन्होंने अपना हाल महाराज, मैंने इतने वर्षों तक इतना-इतना काम वहाँ पर किया और बड़ी अच्छी शिक्षण-संस्था की स्थापना की।

एकदम सुन्दर रमणीक प्राङुतिक जगह में बच्चों को रखना और उनको विसकसित होने देना और उनको सुन्दर ढंग से शिक्षित करना इसके लिए हम हिन्दुस्तान भर से अच्छे-अच्छे शिक्षक लाए और सब जगह से माँग-माँग कर भिक्षा लाए औ यह सब मैंने किया और अब उसके बाद वहाँ की जो मैंनेजिंग कमेटी है, वह किसी न किसी प्रकार से हमको हटा देना चाहती है और केस करके। वे भाई अधीर होकर के रोगए, खूब

आँसुओं से रोए तो थोड़ा-थोड़ा हम लोगों ने सुना उनकी सारी बात हमने नहीं सुनी, महाराज के पास आते-जाते सुनते रहते थे। महाराज जी ने खूब उनको प्यार किया, खूब उनको प्यार किया, गले लगाया। दक्षिण भारत के रहने वाले सज्जन थे, और कहने लगे भैया तेरा भला हो जाएगा। भगवान ने बड़ी डुपा की तुम पर, अब तेरा कल्याण होगा। तब हम लोगों को सुझाया कि सेवा का फल होना चाहिए कि उससे अधिक तुम्हारा स्वयं का मूल्य बढ़ जाए। सेवा का अर्थ होना चाहिए कि जिसकी सेवा तुमने की, उससे तुम्हारा मूल्य बढ़ जाए।

अब उन भाई को कैसा लग रहा था? उन भाई को ऐसा लग रहा था कि उनको अपने में तो यह विशेषता मालूम पड़ रही थी, कि मैंने बड़ी सेवा की और उस सेवा के माध्यम से उस संस्था के साथ वे ऐसे बँध गए थे, कि वहाँ से हटने का सिलसिला देख करके अधीर होकर भागलपुर से भाग-भाग कर वृन्दावन आएँ और स्वामी जी महाराज के पास कुछ दिन तक रहें। महाराज जी ने उनको बहुत अच्छी तरह से, ज्ञानपूर्वक प्रेम पूर्वक सँभाला और व्यावहारिक ज्ञान महाराज को कुछ कम नहीं था। दुनिया को कैसे सँभालते हैं, बिगड़ते हुए मामले को कैसे थामते हैं यह सब भी उनको खूब प्रैक्टिकल इन्टैलीजेन्स बहुत ऊँची डिग्री का था। मुझे याद है हर तरह से स्वामी जी महाराज ने मुझे सँभाल लिया, अपने पास रख करके और हम लोगों से जब बातचीत होने लगी तब उन्होंने कहा। देखो देवकी जी, यह सेवा का एक नमूना है। भाई को भ्रम है कि मैं सेवक हूँ, सेवा करते-करते यह भाई बेचारा उस संस्था का दास बन गया है। अब वहाँ से हटने का मामला जब सामने आया तो अधीर हो रहा है। तो बहुत समझाया उन्होंने, बताया। उदाहरण मुझे याद आ गया कि जिन लोगों की दशा में इस प्रकार की बात है, अपनी ओर से सोचते हें कि हम तो उपकार कर रहे हैं लेकिन भीतर-भीतर, भीतर-भीतर उस उपकार के बदले में पता नहीं क्या पसंद करते हैं कि उसकी दासता में बँध जाते हैं। ऐसा होना नहीं चाहिए।

होना क्या चाहिए? कि हमेशा साधना की दृष्टि से कहीं भी कुछ करने जाओ, तो अपना मूल्य सदा ही उससे बढ़ा कर रखो। राग की निवृत्ति नहीं हुई, तुम्हारे भीतर से करने के राग के मिट जाने की शान्ति नहीं आ गई, बे-सामान रहने का बल नहीं आ गया तो सेवा क्या बन गई? सेवा के बल पर मुझे अधिक सामान मिल जाना चाहिए, सेवा के बल पर मुझे अधिक सुविधा मिल जानी चाहिए, इस प्रकार की कामनाएँ यदि मुझ में पैदा हो गई तो मैंने सेवा की कि भोग किया? गलती हो गई न? इसलिए महाराज जी कह रहे हैं जीवन में असफलता इस कारण से है कि हम बे-सामान के जीवन को पसंद नहीं करते हैं, तो एक बात तो यह कही। अब आगे चल करके कहे रहे हैं सच्ची बात है कि जिस समय हम सब भाई-बहन देह की पराधीनता और देह में ममबुद्धि, अहम्-बुद्धि लेकर के जब बैठे हैं हम, शरीर मेरा है शरीर मैं हूँ इतना तादात्म्य हो गया है कि देह से अलग अपना कोई अलग अस्तित्व ही नहीं भासित होता।

यहाँ से किस नीचे स्तर से हम लोगों की साधना का जीवन आरम्भ हो रहा है, यह भी विचार कर देखो। क्या करें? तब कह देते हैं महाराज कि अगर अपनी दुर्बलता के कारण किसी की आदत बन गई है, दास ही बनना चाहते हो तो भाई उस परमात्मा का दास बनो जो कि तुम्हें पराधीन नहीं रखेगा, स्वाधीन बना देगा, तुम पर शासन नहंी करेगा, तुमको पूर्ण बना लेगा। तो दास ही बनना

है तो उसकी दासता स्वीकार करो। यह बात मुझे बहुत अच्छी लग गई। हमने कहा कि बहुत बढ़िया बात है मानव समाज के लिए, अगर किसी के अधीर ही होकर रहना पसंद है तो परम स्वाधीन की अधीनता स्वीकार करो।

जिसमें इतनी क्षमता है कि वह तुम्हें स्वाधीन भी बना देगा और अपने प्रेम से भरपूर भी कर देगा और आगे चलकर के महाराज की ऐसी भी वाणी है कि देवकी जी, ऐसा मित्र संसार में तुमको नहीं मिलेगा, ऐसा कोई बड़ा आदमी तुमको नहीं मिलेगा, जिसके आगे जाकर के तुम झुको तो वह तुमको अपने सामान बना दे। समान बना देने की सामर्थ्यभी इस दुनिया में किसी की नहीं है। परमात्मा इतने अच्छे हैं और मनुष्य उनको इतना प्रिय है कि उस लिस्ट में हम सब लोगों का नाम है। आप उनको इतने प्रिय हैं कि उनके दास बन कर रहें उनके पास तो वे तुमको सब प्रकार की दासता से मुक्त कर देंगे, सब जन्म जन्मान्तर की पराधीनता मिटा देंगे। तो जो सचमुच उसका दास होना पसंद करता है, भक्तों ने ऐसा बताया है, कि भगवान उस भक्त के दास हो जाते हैं, ऐसा कोई साथी इस दुनिया में तो नहीं मिलेगा, जिसकी दासता स्वीकार करो वह तो खा ही लेना चाहता है, खत्म ही करना पंसद करता है।

एक परमात्मा इतने उदार हैं, इतने प्रेमी हैं, इतने समर्थ हैं, उनकी तीन विशेषताएँ मेरे बहुत काम आती हैंμआपके भी काम आ सकती है आपने भी सोचा होगाμसमर्थ होना, उदार होना और प्रेमी होना। तो इतनी अच्छी बात है। तो स्वामी जी महाराज कहे रहे कि मेरे भाई, अगर दास होना चाहते हो तो उस परमात्मा के दास होकर रहो जो कि तुम्हें अपना प्यारा बना लेगा। तो दुःख मिटा देगा एक बात, अभाव, मिटा देगा दूसरी बात, अपना प्यारा बना लेगा तीसरी बात। और एक जगह पर ऐसे भी कहा कि अपने से विशेष भी बना लेगा वह और भी आगे की बात है, इस प्रसंग में नहंी है। दूसरी जगह उन्होंने कहा था।

तो सच्ची बात यह है कि यहाँ पर कहीं अपने को आराम मिलता नहीं है। बहुत प्रयत्न किए, बड़ी बुद्धिमानी लगाई, बहुत आपस में संगठन किया बहुत कुछ किया लेकिन आराम मिला नहीं तो स्वामी जी महाराज की सलाह यह है कि मेरे भाई तुम्हारे लिए तो यह कर्म-क्षेत्र है, तुम्हारे लिए तो यह साधन क्षेत्र है। विश्राम तो तुम्हारे अपने में है अथवा उस सर्वसमर्थ शरण्य की शरणागति में है और तो कहीं है नहीं। तो क्यों आराम में सारी जिन्दगी बिता करके अपने को थका रहे हो, परेशान हो रहे हो, इसलिए मुझे याद आ जाता हैμ'अखिल लोक विश्राम, जिसमें सारा विश्व विश्राम लेता है, जिसमें सारे विश्व को आधार मिलता है, जो सभी का अपना है, सदैव अपना है, सर्वत्र विद्यमान है, उसको जीवन का आधार बना लो, उसकी दासता पसंद कर लो तो अपना कल्याण हो जाए। अब उसकी दासता में क्या बात होगी भाई? बड़ा अच्छा लगेगा अगर मैं अपने को परमात्मा की दासता में डालू दूँ, उनकी दासता को स्वीकार कर लूँ तो बड़ा अच्छा लगेगा। आप लोग भी सोच रहे होंगे। लेकिन उसमें एक बड़ी कठिन बात है, वह यह है कि जब भगवत् समर्पित होकर रहने का प्रश्न अपने सामने आए तो हम ईश्वर-विश्वासी भाई-बहनों को पहले से इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि उस समर्थ स्वामी की दासता स्वीकार करने के बाद फिर अपने मन की आवाज परहमें नहीं चलना है।

यही भूल हो जाती है। अपना संकल्प रखो और फिर कहो कि हे प्रभु मैं तुम्हारा दास हूँ तो यह बनेगा नहीं। अपना संकल्प छोड़ दो। मीरा जी का कहना सार्थक था, मीरा जी कहती थीμ'जनम जनम की मीरा दासी' मीरा जी कहती थीμ'मैं निरगुनिया गुन नहीं जानी एक धनी के हाथ बिकानी'। स्वामी जी महाराज ने एक बार सुनाया था, मैं तो हो गया उनका बिना दाम का ऐसे कुछ गाते थे कभी मौज में आकर के। तो एक धनी के हाथ बिकानी बे मोल बिकानी और जनम-जनम की मीरा दासी, उनका कहना सत्य था, कैसे सत्य था कि उन्होंने अपना करके अपने में कोई संकल्प नहीं रखा। अपने पर अपना अधिकार नहीं रखा। हम सब लोग जो प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, उनके समर्पित होकर रहना चाहते हैं, शरणागति का भाव लेकर जीवन में रहना पसंद करते हैं तो उसके साथ इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि अपने पर अपना अधिकार भी न मानें और अपना कोई संकल्प भी न रखें।

तो एक दिन मैं अकेले में बैठकर सोच रही थी, प्रोग्राम तो बनते ही रहते हैं, तो सोच रही थी, तो सोच करके एक रूपरेखा मैंने बनाई कि ऐसे-ऐसे काम मुझे करना है, अमुक-अमुक जगह पर मुझे जाना है, तो पता नहीं कागज में लिख करके भी रखा तब भी भीतर से पूरा उत्साह नहीं होता था कि पत्र लिख दूँ और इन्तजाम कर लूँ ऐसा जैसे कि एक दम भरा हुआ लगता है। वह लग ही रही था तो हमने थोड़ी देर सोचा, हमने कहा कि ऐसा क्यों हो रहा है? पता नहीं हमारे भीतर से उत्साह नहीं उठ रहा है कि सबको पत्र लिख करके पक्का कर लूँ कन्फर्म कर लूँ तो थोड़ी देर के लिए मैंने छोड़ दिया। हमने कहा कि छोड़ कर देखूँ कि कैसे लगता है?

साइकलौजी का एक सिद्धान्त है, मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि चेतन स्तर पर अगर कोई बात स्पष्ट न होती हो तो कुछ देर के लिए छोड़ देना चाहिए। तब उसमें क्या हेाता है, कि भीतर से अगर कोई बात ऐसी है,जो आपके कौंसस लेवल पर तो नहीं है लेकिन अनकोंससली आपके चेतन स्तर के निर्णय को प्रभावित कर रही हैं। कुछ देर के लिए छोड़ दिया जाता है, तो एकदम से भीतर की सच्ची बात प्रकट हो जाती है मालूम हो जाता है, फैसला हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़ी देर के लिए मैंने छोड़ दिया, हमने कहा रहने दो थोड़ी देर के बाद सूचना करेंगे। तो कई घण्टे बीत गए फिर दूसरे-दूसरे काम में लग गई। तो दुनिया के बड़े-बड़े मैथेमिटेशियन जो हुए हैं, आजकल के आधुनिक युग के, उन्होंने अपने सम्बन्ध में ऐसा लिखा है कि हमने ऐसा किया, ऐसा किया, यह समस्या हल नहीं हुई, प्रोबलम सौल्व नहीं हुई, ऐसा हुआ अब हम निकल कर चले गए, घूमने-घामने चले गए। तो चढ़ने के लिए कदम उठा रहे थे तो मुझको प्रकाश मिल गया और यह उत्तर मुझ को मिल गया। दुनिया के बड़े-बड़े काम इस ढंग से हुए हैं, मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस विषय पर काफी रिसर्च हुआ है।

तो कभी-कभी मौका लगने से मैं काम में ले जाती हूँ। तो मैं चुपचाप छोड़ करके उसको अपने दूसरे-दूसरे काम में लग गई तो कई घण्टे लग गए, फिर जब अपनी जगह में आकर के जहाँ बैठना है वहाँ बैठी, तो जो अधूरा प्रोग्राम सामने था, उसकी रूपरेखा फिर सामने आई, तो आई तो हमने कहा, मैंने सोचा कि मेरा इतना जोर क्यों है इस बात पर। उनका काम है, उनकी शक्ति है, उनका दिया हुआ अवसर है तुम ऐसा क्यों सोच

रही हो? तो एकदम से मेरे ध्यान में आया कि अपना संकल्प छोड़ करके जिन्होंने उनकी आज्ञा, उनकी प्रसन्नता के लिए काम करना पंसद किया उसके भीतर ऐसी दुविधा पैदा नहीं होती है। कुछ नहीं।

अच्छे ऊँचे भक्तों के जीवन को थोड़ा सा नजदीक से देखने को मिला, तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि प्रभु के संकेत पर अपना कोई संकल्प न रखने वाले भक्तों को, एक काम पूरा करते हुए अगले काम के लिए कुछ सोचना नहीं पड़ता है। फिर मेरे ध्यान में आ गया कि इसमें मेरा अपना संकल्प शामिल होगा, मेरी अपनी कोई रुचि की बात होगी, इसलिए यह सुलझ नहीं रहा है। तो मैंने सँभाला और उससे मुझे लाभ हुआ। तो इस तरह से अपने साधक भाई-बहनों की सेवा में नम्र निवेदन करती हूँ कि प्रभु के होकर रहना, यह बात तो हम सब लोगों को बहुत अच्छी लगती है। उसमें बाधा क्या है? कि हम अपने संकल्पों को नहीं छोड़ते हैं? अपने संकल्पों को नहीं छोड़ेंगे तो संकल्पों के होकर रहने लगे फिर प्रभु के होकर रहने का क्या अर्थ निकला? कोई अर्थ नहीं निकला। अपनी रुचि के अनुसार काम करने के लिए हम रहने लगे, फिर उनकी आज्ञा पर चलने का क्या अर्थ हुआ? कोई अर्थ नहीं हुआ। तो अपने पर अपना अधिकार मानते हो, तो उनको जीवन समर्पित करने का क्या अर्थ हुआ? उनका अधिकार अपने पर स्वीकार करें।

महाराज जी से किसी ने पूछा था, वे भाई अभी बता रहे थे मुझे किसी ने पूछा था महाराज, यहाँ के बाद आपका कहाँ का प्रोग्राम है? तो सहज-भाव से कह दिया कि भई गेंद को क्या मालूम कि खिलाड़ी किधर फेंकेगा? तो कितनी निःसंकल्पता है। इसका अर्थ हैµईश्वर-समर्पण इसका अर्थ हैµईश्वर की दासता। गेंद को क्या मालूम है कि खिलाड़ी किधर फेंकेगा? वे क्या जाने? तो उनके वचनों में हमारे लिए जीवन की राह है। ऐसा सोच करके देखो, एक दिन, एक भगवत् भक्त के पास मैं बैठ करके बातचीत कर रहीं थी, तो बातचीत हो चुकी तो हमने कहा कि जीवन की ऐसी कोई समस्या तो है नहीं, कि जिसका उत्तर महाराज जी में न मिल गया हो।

हमने कहा समस्या तो कुछ नहीं। इतनी सी बात मैं सोच रही हूँ कि कुछ-कुछ आधार जरूर होगा कि जिस पर मेरा अहम्-भाव टिका हुआ है और उतने में देर लग रही है। ऐसे सहज भाव से उनके मुख से निकला कि डरने की क्या बात है? अगर अहम् को रखना ही पसंद है, तो इस बात का अहम् रखो कि मैं उनका हूँ। आप अहम् को न रखने के लिए परेशान क्यों हैं? सुधारना, सँभालना, सँवारना और प्रेम के माध्यम से अपने समर्पित साधक को अपने स्वरूप में मिला लेना, यह सब तो उनकी बात है, वे तो करते ही हैं, सबके साथ करते हैं, अवश्य करेंगे बिना किए किसी को छोड़ेंगे नहीं, तो उसमें क्या चिंता है। अगर अहम् आपको दिखाई ही देता है, तो उसको थोड़ा बदल डालो, नाश की बात क्यों सोचो? उसको अगर अपने जीवन में गौरव लेना है, तो इस बात को गौरव मत लो कि मैं करोड़पति हूँ, इस बात को गौरव मत लो कि मैं डिग्री धारी हूँ इस बात का गौरव मत लो कि मैं बड़ा जपी-तपी हूँ। कहंी तक भी चले जाओ कोई फर्क नहीं पड़ेगा, कि मैं बहुत धनी हूँ कि मैं बहुत विद्वान हूँ कि मैं बुहत तपस्वी हूँ। ऐसा अहम् मत रखो। अगर अहम् को रखना ही है,तो ऐसा अहम् रखो कि मैं भगवत् समर्पित हूँ, मैं प्रभु का बालक हूँ, मैं प्रभु का मित्र हू, मैं प्रभु का दास हूँ। इस प्रकार का

रखो कोई हर्ज नहीं होगा। इसमें भी वही काम होगा जो अपने साथ आप जबरदस्ती करना चाहती है। तो यह बात भी मुझे बहुत अच्छी लगी। ये दोनों प्रसंग आज अपने भाई-बहनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि आप अगर सोचें भीतर-भीतर कि क्या बताएँ दुनिया की गुलामी में रहने की आदत बन गई है, तो अगर गुलाम ही होना चाहते हो तो उस परम स्वाधीन की गुलामी पंसद करो जो कि सबसे पहले तुमको सारे बंधन से छुड़ा करके, स्वाधीन बना देगा। जो स्वाधीन है, वही स्वाधीन बनाएगा, जो प्रेमी है वही प्रेमी बनाएगा, जो उदार हो वही उदार बनाएगा, जो मुक्त है, वही मुक्ति प्रदान करेगा।

इस दृष्टि से दस बनना हो तो उसी के दस बनो, और गौरव लेना हो अपने को कि मैं बहुत बड़ा आदमी हूँ तो गौरव भी लेना हो तो इसी बात का गौरव लो कि मैं प्रभु का दास हूँ, मैं प्रभु का बालक हूँ, मैं प्रभु की प्रिया हूँ, मैं प्रभु की माता हूँ, मैं प्रभु का पिता हूँ कोई हर्ज नहीं है, उनको सब पसंद है। और सबके अनुसार हमको ऐसा लगता है, इतना मजा आता है सोचने से। बड़ी छोटी बात है, कि हम सब लोग संकोच में पड़े रहते हैं, मैं तो भाई बहुत दिनों तक संकोच में थी बार-बार इस बात को ध्यान में लाती थी कि भई मैंने सुना है कि वे तो महान् और सब प्रकार से अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं तो हमको ऐसा लगता है कि ऐसा सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ परमात्मा, समर्थ परमात्मा और प्रेम का अथाह सागर परमात्माμतो उसके आगे हमारी कौन-सी गणना है कि हम उसके सामने खड़े होने की बात सोचें और उससे सम्बन्ध स्थापित करने की बात सोचें। ऐसा सोच करके मुझे बहुत दिक्कत होती थी, संकोच मालूम होता था। स्वामी जी महाराज ने एक दिन बड़े आनन्द की मस्ती में यह कहा कि देवकी जी, तुम ऐसा क्यों सोचती हो, ऐसा मत सोचों, अपनी बात लेकर के खूब आनन्दित होकर कहने लगे कि अच्छा सोचो तो अगर मेरे जैसे, मुझ जैसे अकिंचन की मित्रता का सम्बन्ध वे स्वीकार नहीं करेंगे, तो लाला रह जाएँगे ठन-ठन पाल मदन गोपाल। अकेले परमात्मा का मित्र होने के लिए कोई दूसरा परमात्मा आएगा? कितना विश्वास है। लाला रह जाएँगे ठन-ठन पाल मदन गोपाल अकेले रहे जाएँगे। उनसे मित्र बनने के लिए उनके समान दूसरा परमात्मा नहीं आएगा। तो सच पूछिए तो हम सभी भाई-बहनों को उन्होंने इस धरती पर भेजा है तो अपने उसी आनन्द की वृद्धि के लिए, अपने उसी कौतुक के लिए उन्होंने हम लोगों को भेजा है।

हाड़ मांस का शरीर लेकर, मृत्यु का ग्रास बना हुआ शरीर लेकर इस धरती पर तुम विचरण करते हो। स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि अपूर्णता के काल में, अपूर्णता को लेकर के इस धरती पर हम चलते-फिरते हैं, विचरण करते हैं, फिर भी, चाह, ममता और वासना का त्याग करके उस पूर्ण परमात्मा के प्रेम का पात्र बन जाते हैं, कितनी बड़ी बात है। तो इतना ऊँचा जीवन हो सकता है और नीचे धँसे रहो, अज्ञान के अंधकार में टटोलते फिरो, कौन मेरा साथ देगा, कौन मेरा दुःख का मददगार बनेगा? आगे चलकर के इस चीज की जरूरत पड़ेगी तो कहाँ से मिलेगा, तो ऐसी गरीबी को ही देख करके लज्जा के मारे जीवन इतना शिथिल करके छोटा हो जाता है। मैं कहती हूँ, हे भगवान! अनन्त परमात्मा का मित्र होकर, अनन्त परमात्मा का बालक होकर, अननत परमात्मा की प्रिया होकर तुच्छ वस्तुओं के बारे में सोचें? लज्जा की बात है कि नहीं?

सबसे पहला काम वे क्या करते हैं? कि आपकी पराधीनता को काटते हैं। किसी चीज की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, शरीर का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, और प्रेम में तो ऐसी विलक्षणता है, ऐसी विलक्षणता है कि जब तक यह भक्त के भीतर अभिव्यक्त नहीं हुआ तब तो लगता है कि हमारे में बहुत कमी है, मैं तो निराधार हूँ तो हे सर्वाधार, मुझे आधार दीजिए, हे सर्वाधार मुझे सँालिए, हे सर्वाधार मुझे पवित्र बनाइए, तो अपने को पतित अनुभव करके हम लोग उनको, पतित-पावन को पुकारते हैं, अपने को अनाथ समझ करके हम लोग उन विश्वनाथ को पुकारते हैं, अपने को दीन समझ करके हम लोग उन दीन बन्धु को पुकारते हैं तो प्रारम्भ में तो दशा ऐसी रहती है।

क्या अर्थ? तो प्रेमी जो होता है वह परमात्मा को बाँधता नहीं है कि मेरे नैनों में बस जाओ कि मेरे दिल में बस जाओ, मरने के समय हाथ में वंशी लेकर के मेरे आँखों के सामने खड़े हो जाना, यह सब कुछ प्रेमी के हृदय में नहीं रहता है। क्यों? क्योंकि वह तो नित्य निरन्तर अपने में उनको विद्यमान पाकर के उस रस में अपने आपको ही भूलता है, फिर बाँधेगा किसके लिए? तो महाराज खूब आजादी में आनन्द की मस्ती में कह देतेμजाओ यार तुम भी क्या कहोगे? तुम भी आजाद रहो मैं भी आजाद रहूँ। जहाँ अच्छा लगे वहाँ जाना, जिसमें तुम्हें प्रसन्नता हो सो करना। ऐसा कौन कह सकता है? जिसने अपने पर से अपना अधिकार उठा लिया, जिसने अपने सब संकल्पों का त्याग कर दिया और जिससे यह ठान लिया कि मैं तो उनका क्रीड़ा-क्षेत्र का कन्दुक हूँ, मैं तो उनके खेलने के लिए प्रिया-प्रियतम को रिझाने के लिए मैं गेंद हूँ। तो यह किस रूप में हैं? कि वे इसको जैसा चाहे उस रूप में प्रयोग करें।

गेंद कोई इच्छा रखता है? कि खिलाड़ी हमको इधर भेजे कि उधर भेजें, कि वहाँ बुलाओ कि वहाँ विदा करें। सब प्रकार की अपनी सब इच्छाओं से मुक्त होकर, सब प्रकार से अपने सब संकल्पों का त्याग करके। महाराज बहुत ही आतुरता से कहते कि भैया एक बार ऐसा करके देखो तो फिर क्या गुल खिलता है। तो इस जीवन में इतना सौन्दर्य आ सकता है, इस जीवन में इतनी स्वाधीनता आ सकती है। हम सभी भाई-बहनों के लिए बड़ा अच्छा अवसर है, हमारे सामने हमारा सुनहला वर्तमान है। भूतकाल कैसा बीता उसकी परवाह मत करो, क्योंकि जिसकी करुणा का एक बूँद पाप के पहाड़ को क्षण भर में खत्म कर सकता है, उसके लिए हमारी भूलों का परिणाम मिटाना क्या बड़ी बात है? इसलिए भूतकाल के बारे में भी मत सोचो। बस इतनी सावधानी अपने लोगों को चाहिए कि भविष्य का एक भी क्षण उस परम प्रेमास्पद से विछिन्न होकर न जाए। उससे बिछुड़ कर न रह सकें, उसको विसरा कर हम न रहें, अपने संकल्प को जीविन न रखें। यदि दास बनना है तो उसका दास हो जाएँ, यदि अहम् रखना है तो गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है "यह अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।" कितनी अच्छी बात है उस अभिमान जनि भोरे, यह अभिमान कभी भी भूले नहीं तो अभिमान हो तो इसका इतना बढ़िया कैसा बढ़िया "मैं सेवक रघुपति पति मोरे।" मैं उनका सेवक हूँ और वे मेरे पति है। अभिमान ही रखना है तो इतना बढ़िया अभिमान जाइ रखो, जो सब प्रकार से तरण तारण करके, सदा-सदा के लिए ड्डतड्डत्य कर दें।

प्रवचन 9

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो!

हम सभी साधक भाई-बहनों के सामने आज वर्तमान में एक प्रश्न है कि हम जिस स्तर के साधक हैं, वहाँ से अपने लक्ष्य तक कैसे पहुँचे? सबसे पहली बात जो मुझे सूझती है, वह यह है कि पहले मनुष्य के व्यक्तित्व में शुद्धि आती है। फिर जब उसके भीतर से असत् के संग-जनित विकारों का नाश हो जाता है तब उसके शुद्ध अहम् में वह अलौकिक परिवर्तन होता है। जिस परिवर्तन के फलस्वरूप अनन्त की विभूतियों से वह अभिन्न होता है। यह एक प्रोसेस है, प्रक्रिया है।

अनेकों प्रकार की अशुद्धियों को रखते हुए, असत् के संग-जनित सुख के प्रलोभन को रखते हुए, आई हुई अनुकूलता से सुख को भोगते हुए हम सब लोग भगवत् भजन करना चाहते हैं, भगवत् भक्त होना पसंद करते हैं और उसके लिए विध्यात्मक अनकों साधनों का अनुसरण करने लगते हैं। तो दोनों ही चीजें जीवन में चलती रहती हैं, एक ओर किया हुआ भजन-ध्यान भी चलता रहता है और दूसरी ओर अपने आप से होने वाला विषय-चिंतन भी चलता रहता है, लोभ और मोह का आक्रमण भी होता रहता है। इस प्रकार का एक मिश्रित जीवन चलता है। थोड़ी देर शान्त होकर बैठ भी जाए, थोड़ी देर भजन भी कर लिया, थोड़ी देर पूजा भी कर ली, थोड़ी देर और किसी प्रकार का अभ्यास भी कर लिया और फिर काम से उठे तो विविध प्रकार के कार्य में लग जाने पर, क्रोध से प्रेरित भी हो रहे हैं, लोभ से प्रेरित भी हो रहे हैं, मोह से प्रेरित भी हो रहे हैं, दीनता और अभिमान से आक्रान्त भी हो रहे हैं और फिर 12 घंटे का 10 घण्टे का समय बीत गया, तो संध्या समय रात्रि में, सोने से पहले कुछ देर के लिए साधक बन कर प्रार्थना भी कर रहे हैं। ऐसी दशा रहती है कि नहीं? जी रहती है।

तो मैं यहाँ निवेदन करना चाहती हूँ कि जिन भाई-बहनों के जीवन में थोड़ी-बहुत विध्यात्मक साधना का अभ्यास है, उसके प्रति निष्ठा है कि उसमें अभिरूचि है तो वे भाई-बहन अपनी की हुई साधना को छोड़े नहीं। मानव सेवा संघ की प्रणाली में स्वामी महाराज ने हम लोगों को सुझाव दिया कि असाधन का नाश किया जाता है, साधन की अभिव्यक्ति होती है। व्यर्थ चिंतन का नाश किया जाता है, सार्थक चिंतन होता है। विषय-चिंतन का त्याग किया जाता है, भगवत् चितन होता है। तो ध्यान होने की चीज है, भगवत् चिंतन होने वाली बात है। करने वाली बात क्या है? तो करने वाली बात यह है कि मेरी जिन-जिन भूलों से जीवन में अनेकों विकार उत्पन्न हो गए, उन भूलों का त्याग मैं करूँ।

मेरा पुरुषार्थ है जाने हुए असत् के संग का त्याग, यह मेरा पुरुषार्थ है। और अपनी की हुई भलों को, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग जब हम मिटा देते हैं, की हुई भूलों को छोड़ देते हैं, असत् के संग का त्याग कर देते हैं तो अपना पुरुषार्थ पूरा हो गया। फिर क्या होगा? कि अहम् रूपी अणु में जो अशुद्धियाँ उत्पन्न हो गई हैं, उन अशुद्धियों का नाश होता है। तो अशुद्धि का नाश यह पहली बात है, तो आप कहेंगे कि भाई मेरे में तो सामर्थ्यनहीं है कि अपनी अशुद्धि का नाश हम अपने से करें, मेरा संकल्प का बल इतना दुर्बल हो गया है कि शुभ संकल्प में भी ताकत नहीं है। ऐसा भी हो सकता है। सुख-भोग की प्रवृत्तियोंको प्रश्रय

देने से व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है, अपनी आदतों के अधीन हो जाता है। और बुहत सी बातों को गलत जानते हुए भी, उसको छोड़ने की इच्छा रखते हुए भी छोड़ने में चूक जाता है।

ऐसा भी कभी-कभी होता है, किसी-किसी के साथ ऐसा भी होता है, तो क्या होगा उसका? क्या उसके लिए बन्द हो गया रास्ता? मानव सेवा संघ से सलाह लीजिएगा तो संत के वचन से आपको सहारा मिल जाएगा। क्या सहारा मिलेगा? कि अगर ऐसी ही दशा तुम्हारी हो गई कि भूतकाल की भूलों के प्रभाव से अहम् रूप अणु में अर्थात् मुझमें इतने विकार उत्पन्न हो गए हैं, अपने में यह सामर्थ्यनहीं है कि हम उनको मिटा सकें। अगर ऐसी दशा हो गई है तब भी निराशा होने की बात नहीं है, तब क्या करना चाहिए? तो मत देखो अपनी भूलों को और मत डरो अपने अपराधों से, निराश मत होओ अपनी दुर्बलता से। क्यों? क्योंकि सर्व सामथ्र्यवान तुम्हारे साथ हैं, सर्वज्ञ परमात्मा तुम्हारे साथ है, क्षमा-सिन्धु तुम्हारे हितैषी हैं, सहायता देने वाले हैं।

इस कारण से निराश हुए बिना ही अपनी सारी दुर्बलाताओं के साथ अपने सब विकारों को देखते हुए भी उस सामथ्र्यवान की शरण में आ जाओ। अधीर होकर एक बार पुकार कर कह दो हे समर्थ, मैंने अपनी ही भूलों से अपनी दुर्दशा कर ली है, अब आप अपनी ड्डपा से मुझे उबारिए। ऐसा हम लोग कह सकते हैं कि नहीं? जी! कह सकते हैं। तो दो बातें हो गई एक तो यह बात हो गई विवेक के प्रकाश में अपनी की हुई भलों को देखा जाए और अपने द्वारा उनका त्याग किया जाए। तो जब अशुद्धि मिट जाती है तो बड़ा अच्छा लगता है। ऐसे सामथ्र्यवान साधक संसार में हुए हैं, अभी भी हैं, जिन्होंने सत्संग के प्रकाश में इस बात को जान लिया कि मेरा जीवन सुख, भोग के लिए नहीं है, सुख-दुःख के पार अमूर्त आनन्द के लिए है, परम प्रेमास्पद प्रभु को प्यार करने के लिए है। ऐसा जिन्होंने सत्संग के प्रकाश में, संत के सम्पर्क में निश्चय कर लिया, उन्होंने असत् के संग का त्याग कर दिया, ऐसे साधक भी हुए। और ऐसे साधक भी हुए कि जो प्यार करना चाहते हैं और नहीं कर पाते हैं, जो निर्विकार होना चाहते हैं और अपने ही बनाए हुए विकारों से हार जाते हैं, ऐसे साधक भी हुए।

तो अनुभवी संत जनों ने सलाह दी कि जितनी सामर्थ्यतुम्हारे में बच गई है, उतनी सामर्थ्यको लेकर तुम सत् पथ पर आगे बढ़ो। जहाँ तुम अनुभव करोगे कि अब मेरा वश नहीं चलता। अधीर होकर परम ड्डपालु की ड्डपा का सहारा पसंद करोगे तो उसी समय करुणामय की करुणा का दरवाजा खुल जाएगा। तो बीच का एक यह भी रास्ता हो गया। एक ऐसा सामथ्र्यवान, जिसने निश्चय पूर्वक सब बुराइयों का त्याग कर दिया, एक ऐसा असमर्थ, जो कुछ भी नहीं कर सकता है तो अधीर होकर सर्वसमर्थ की शरण में अपने को डाल दिया। एक दोनों के बीच की दशा, जिसमें में अपने को रखती हूँ। आप में से भी बहुत से भाई-बहन अपने को उस बीच की दशा में पाएँगे कि बिल्कुल असमर्थता भी नहीं है और इतनी सामर्थ्यभी नहीं है कि एकदम अपने पुरुषार्थ से सब बुराई छोड़ दें। तो दोनों के बीच में, सामथ्र्यवान और घोर असमर्थ दोनों के बीच में हम लोग अपने को पाते हैं।

अगर बिल्कुल असमर्थ होते तो किसी प्रकार के सुख-भोग की प्रवृत्ति में शामिल ही नहीं हो सकते थे। जी? नहीं हो सकते थे। धन कमाने और मान, बड़ाई, प्रशंसा पाने की प्रवृत्ति में उलझ

जाएँ यह भी नहीं हो सकता था, अगर असमर्थ होते तो। तो थोड़ी-थोड़ी सामर्थ्यहम लोगों में बची हुई है। बिल्कुल असमर्थ नहीं है और पूरी तरह समर्थ भी नहीं है। तो ऐसी बीच की दशा वाले साधक जो है, उनको यह सलाह दी गई कि तुम प्रातः काल सोकर जगते ही सबसे पहले व्यक्तिगत सत्संग करो। अब यह मैं सम्प्रदाय, मत, मजहब, देश, युग, परिस्थिति, सबसे पार मानव मात्र के जीवन के कल्याण के लिए जो साधना है, उसका विवरण दे रही हूँ। इस आशा से कि सत्संग में हमारे भाई-बहन जो आए हुए हैं वे तत्काल इसी समय कदम उठाना चाहें, तो उनके सामने राह दिखाई देनी चाहिए। इसलिए यह बात मैं निवेदन कर रही हूँ। पत्र-पुष्प के रूप में आपकी सेवा में अर्पण कर रही हूँ। क्योंकि मुझको यही निष्ठा दी गई कि श्रोता के रूप में भाई-बहन जो बैठे हैं, वे भी गैर नहीं है, कोई और नहीं है, प्रेमास्पद ही हैं, जो मेरे वक्ता होने का राग मिटाने के लिए, श्रोता बनकर बैठे हैं। तो श्रोता भगवान के चरणों में पत्र-पुष्प अर्पण करना है मुझे, तो वह पवित्र होना चाहिए, सुगन्धित होना चाहिए, सुन्दर होना चाहिए। ये सुन्दर, पवित्र, सुगन्धित पत्र-पुष्प आपकी सेवा में अर्पित करूँ वे क्या हैं कि किसी भी मत के मानने वाले हैं, किसी भी गुरु से मंत्र दीक्षा ली हो आपने, किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हों, कुछ भी आपकी साधना रही हो, आपका कल्याण अभीष्ट है मानव सेवा संघ को। मानव सेवा संघ के प्रणेता संत ने संघ की साधन-प्रणाली के रूप में मूक सत्संग को प्रस्तुत किया। जैसा भी साधक होगा, उसके कल्याण के लिए, उसके लिए आवश्यक वस्तु कुछ मिलनी चाहिए। तो यह बहुत आवश्यक तत्त्व है कि प्रातः काल सोते से जगते ही तत्काल, आप आँख-मुँह-धोकर के शान्त होकर के बैठ जाइए और व्यक्तिगत सत्संग कीजिए। व्यक्तिगत सत्संग में क्या करेंगे? तो पहले अपना लक्ष्य याद कीजिए।

आज जो सवेरा हुआ है और जिस दशा में मेरी आँखें खुली है, अब रात्रि में आँखों को बन्दर करके निंद्रा की जड़ता में डूबने से पहले, अपने लक्ष्य की ओर एक छोटा सा तिल के बराबर भी आगे बढ़ना है। ठीक है। क्रिश्चनिटी में ईसाई मत के बड़े धर्मात्मा पुरुष थे। तो उनसे बात हो रही थी स्वामी जी महाराज की तो उन्होंने कहा कि महाराज जी, प्रार्थना के बारे में कुछ कहिए। तो महाराज जी ने कह कर सुनाआ उनको। हम लोगों के बीच में दुभाषिया बैठते थे हिन्दी का अंग्रेजी करने, अंग्रेजी का हिन्दी करने। तो कितना गतल-सतल करते थे सो तो कह नहीं सकते लेकिन कोशिश करके पूरी तरह सुनाया उनको। तो सुन लिया उन्होंने वे सज्जन अपने सम्बन्ध में कहने लगे, स्वामी जी महाराज हम लोग प्रातः काल सोकर जगते हैं, तो परमात्मा से प्रार्थना इसलिए नहीं करते हैं कि परमात्मा से कुछ माँगें। परमात्मा से प्रार्थना हम लोग इसलिए करते हैं कि जो कुछ उन्होंने दिया है, उसके लिए पहले उनको धन्यवाद दो।

बहुत अच्छी लगी बात मुझे, तो कहते हैं कि ईसाई मत के अनुसार आँखें खुलती है, तो हम प्रार्थना करके कहते हैं पिता से, ईसा मसीह ने बाप माना था, तो ईसाई लोग सब परमात्मा को बाप मानते हैं, तो कहते हैं कि प्रातः काल हम लोग उठकर पिता से कहते हैं, कि हे पिता आज आँखें मेरी खोली तो आपने मुझे सूर्य का प्रकाश देखने को दिया। तो आज का दिन मेरे लिए नया दिन हो। आज का दिन मेरे लिए नया जीवन का दिन हो। और हे प्यारे, जब तक तुम्हारा प्रेम न पाऊँ यह नया-नया दिन आता ही रहे। तुमने जो आज

मुझको एक सवेरा देखने को दिया जिसमें कि मैं आगे बढ़ सकूँ इसके लिए तुमको बारम्बार धन्यवाद। यह बाइबिल में लिखा हुआ है। बातचीत हो रही थी, स्वामी जी महाराज ने सुनाया, उन्होंने सुनाया मुझे बहुत अच्छा लगा। उसने कहा कि हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं तो माँगते नहीं हैंअपनी डुपा से जितना उन्होंने दिया उसके लिए धन्यवाद देते हैं। तो बड़ा महत्त्वपूर्ण तत्व है अपनी परम्परा में पता नहीं कहाँ से यह भूल समा गई कि आदमी युवावस्था में सोचता है कि यह अवस्था तो मुझ को सुख भोगने के लिए मिली है औरजब वृद्धावस्था आ जाएगी, जब किसी प्रकार भी सुख भोगने के लायक नहीं रहेंगे, तब पुरुषार्थ कर लेंगे परमार्थ का। तो सोचो तो सही सुख-भोग जैसी नीची से नीची स्थूल प्रवृत्ति के लायक तुम नहीं रहोगे तो परमार्थ जैसी उत्तम प्रवृत्ति के लायक कैसे रहोगे? सोचो जिस युवावस्था में धन कमाने की सामर्थ्यहै, समाज से सम्पर्क बनाने की सामर्थ्यहै, अपने में शक्ति मालूम होती है, उस शक्ति काल में अगर असत् के संग पर विजय पाने का पुरुषार्थ नहीं करोगे, तो शक्तिहीनता में यह काम कैसे हो जाएगा? तो यह पुरुषार्थ जो है जीवन का, यह प्रारम्भिक काल से ही आरम्भ होना चाहिए। इस भ्रम में कभी मत रहना कि युवावस्था जो है वह सुख भोगने के लिए है, जो नहीं करना चाहिए सो करने के लिए है। और वृद्धावस्था आज जाएगी, जब किसी काम के लायक नहीं रहेंगे तो परमात्मा को पकड़ लेंगे, तो यह नहीं होने का।

परमात्मा से मिलने का, नित्य योग से अभिन्न होने का, तत्व-बोध से अभिन्न होने का, परमात्मा के परम प्रेमी होने का पुरुषार्थ ऐसा नहीं है, कि अभी से आखिरी क्षण के लिए रख दिया जाए। तो आखिरी क्षण के लिए नहीं रखना है। इसके लिए तो प्रातः काल जैसे ही आँख खुले, कुल्ला कर लीजिए, आँख धो लीजिए और बैठ जाइए, जहाँ सो रहे थे वहीं पर। उसी बिस्तर में शान्त होकर के व्यक्तिगत सत्संग कीजिए। तो पहली बात क्या होगी? कि अपने लक्ष्य को याद कर लो। अब सेवरा हुआ है, प्रभु का दिया हुआ जीवन का नया दिन आज मुझको मिला है, तो आज मैं दिन भर इस प्रकार से चलूँ संसार में कि संध्या होने से पहले हमारे जीवन में परमार्थ के पथ में कुछ प्रगति हो, पहले याद कर लो। अब दूसरी बात क्या है? दूसरी बात यह कर लीजिए कि अब देखें कि जो नहीं करना चाहिए था, सो करना छोड़ दिया क्या? छोड़ दिया है, तो बहुत अच्छी बात है। परमात्मा से डुपा की भिक्षा माँग लीजिए हे प्यारे, आपके नाम पर आपकी प्रति होने के लिए मैंने ये व्रत लिया है कि जो नहीं करना चाहिए सो नहीं करूँगा। तो हे समर्थ, आप मेरी सहायता कीजिए असमर्थता के क्षणों में मेरा हाथ पकड़ कर उबारिए। ऐसा होता है, सोच विचार करके ठीक-ठीक काम करने के लिए आदमी चलता है और बीच रास्ते में कहीं प्रलोभन ने दबा लिया, कहीं भय से दबा लिया तो पहले का किया हुआ निश्चय खास मौके पर बदल गया। आदमी थोड़ा खिसक जाता है, ऐसा भी होता है। तो ऐसे क्षणों के बचाव के लिए, यह भी मैंने क्रिश्चयनिटी की प्रार्थना से सीखा। हमारी लड़कियों ने ैजनकमदे ने सुनाया मुझे कि हम लोगों की प्रार्थना में एक पंक्ति यह भी होती है, कि हे प्रभु हे समर्थ, प्रलोभन की घड़ी में मुझको सँभालना। तो सेवेर का निश्चय क्या हुआ? परमात्मा से उसी समय प्रार्थना कर लीजिए, अगर आप परमात्मा को मानते हैं तो और मैं इसी दृष्टि से बोलती हूँ, कि हम लोग जितने यहाँ बैठे हैं, प्रायः सभी परमात्मा को मानने वाले ही है। विरला ही

कोई होगा जो न मानता हो। इसलिए उसकी चर्चा मैं छोड़ देती हूँ, तो प्रार्थना कर लीजिए, ऐसा दिखाई देता है यह बिल्कुल ठीक है। जो नहीं करना चाहिए सो करना मैंने छोड़ दिया, तो मेरा ऐसा अनुभव है, अन्य संतों-भक्तों और साधकों के जीवन को मैंने सुना है, देखा है, विवेचन किया है, उस अनुभव के आधार पर मैं आपको बताती हूँ कि जो नहीं करना चाहिए सो नहीं करूँगा,ऐसा निश्चय आपने किया तो हो सकता है कि निश्चय करते समय सत्य के प्रकाश में आपने अपनी दुर्बलताओं को नहीं देखा, उत्साहित होकर के निश्चय कर लिया, परन्तु उसके पालन करने की शक्ति उस समय आपके पास है नहीं, ऐसा हो सकता है।

फिर भी यह जीवन का मंगलमय विधान है दुर्बल व्यक्ति भी सत्य के भरोसे, परमात्मा के भरोसे, सत्-पथ का कोई व्रत ले लेता है, तो सत्य स्वयं ही उसकी रक्षा करता है, उसको शक्ति देता है और प्रलोभनों के क्षणों में उसके कदम को आगे बढ़ा देता है। ऐसा भी होता है। ठीक जिस समय लोभ आपको आक्रान्त करने वाला होगा, कदम पीछे हटने वाला होगा, अच्छा चलो आज ऐसेही गलत-सलत कर लेते हैं, आज का काम तो हो गया कल फिर सोचेंगे, नहीं करेंगे। हे भाई दुर्बलताआएँ हम लोगों में नहीं होती फिर तो हम लोग परमात्मा एक ही होते। उन्हीं छोटी, मोटी दुर्बलाताअें के कारण ही सज्जन पुरुषों का, अच्छी निष्ठा वाली माताओं-बहनों का कदम जो है, वह साधना के पथ पर जगह-जगह पर अटक-अटक के रहता है।

तो मैंने ऐसा अनुभव किया है कि आपने सत्य के नाम पर, परमात्मा के नाम पर अगर व्रत ले लिया, तो अपने बल से नहीं, सत्य ही आपका साथ देगा, परमात्मा ही आपका साथ देगा और कठिन घड़ियों में आपको पार करा देगा। इसमें दूसरा कार्य यह करो। उसके बाद ईश्वर-विश्वासी आप हैं तो थोड़ी देर के लिए अहम्-शून्य होने का साधन अपनाइए। तो अहम्-शून्य होना कैसे होता है? अनन्त परमात्मा की शरण में अपने को डालकर समर्पण-योग में रहिए। मुझे कुछ नहीं करना है, मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ प्रभु का है।

प्रभु की ड्डपा-शक्ति की गोद में विश्राम लीजिए, तो भीतर में जो कुछ भी रहा होगा भूतकाल की भूलों के प्रभाव से, जो कुछ बना हुआ होगा, अगर आधे मिनट के लिए, एक मिनट के लिए, दो-तीन मिनट के लिए भी बिल्कुल शांत और निरीह बालक की तरह जगत-जननी करुणामयी माँ की गोद में अपने को छोड़ सकेंगे, तो महाराज जी ने मुझको आश्वासन दिया कि थोड़े से थोड़े समय में ड्डपालु की ड्डपा-शक्ति जितनी सफाई तुम्हारी कर देगी उतनी तुम वर्षों के अभ्यास में नहीं कर पाओगे। यह एक रहस्य है जीवन का। तो जितनी देर शान्ति से रहा जाए, घड़ी मत देखिए, समय बाँधने की जरूरत नहीं है, करुणा सागर अपनी करुणा का विस्तार करके हमारे जैसे सभी प्राणियों का रक्षण-पोषण कर रहे हैं, सँभाल रहे हैं। हम क्षुद्र मनुष्य उतना अपराध कर ही नहीं पाएंगे, उतनी सामर्थ्यही नहीं है, जितनी क्षमाशीलता उस क्षमा-सिंधु में है। उनकी करुणा की एक बूँद, हमारे जन्म जन्मांतर की भूलों को मिटाने के लिए पर्याप्त है।

प्रवचन 10

संघ के प्रर्वतक परम कारुणित संत के हृदय में एक लगन थी कि संघ का वह प्रेमी साधक जो तत्काल जीवन-दानी नहीं हो सकता है, उसे

भी इस दिशा में आगे बढ़ने का एक मार्ग मिलना चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव सेवा संघ में स्थाई साधक बनने का नियम है। स्थाई साधक उसे कहते हैं, जो संघ की विचार धारा द्वारा अपने साधक का निर्माण करता है। उसे यह आत्म-विश्वास हो जाता है कि मानव सेवा संघ की विचार धारा जीवनोपयोगी हैं। संस्था की दृष्ठि से स्थाई साधक भी संघ का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। आजीवन कार्यकर्त्ताहोने के पहले स्थाई साधक होना अनिवार्य है।

स्थाई साधक न हो और आजीवन कार्यकर्त्ताबनना चाहे और कहे कि हम खूब काम करेंगे, तो वह संघ के लिए ज्यादा मंगलकारी नहीं होगा और न उसका स्वयं का हित होगा। लेकिन यदि स्थाई साधक होकर काम करे तो मानव सेवा संघ का जो उद्देश्य है, अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण, वह पूर्ण हो सकता है। स्थाई साधक बिना हुआ संघ की सेवा का काय्र करने वाले का खुद का भी कल्याण नहीं होगा, तो उसकी सेवा से संस्था का विकास भी सम्भव नहीं है। स्थायी साधक की पहचान क्या है? स्थाई साधक उसे कहते हैं, जिसका मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुरूप पूरा जीवन साधक हो जाए। स्थाई साधक जो होता है वह सत्संग के द्वारा साधन का निर्माण करता है। किसी अभ्यास के द्वारा जो साधक का निर्माण करता है, वह मानव सेवा संघ का स्थाई साधक नहीं है। पूरा जीवन साधक कब होगा? जब हम इस सत्य को स्वीकार कर लें कि शरीर विश्व के काम आ जाए, अहम् अभिमान-शून्य हो जाए, और हृदय प्रेम से भर जाए। यह स्थाई साधक का लक्ष्य है और यह सत्सग से होता है, अभ्यास के द्वारा नहीं।

विश्वास और विचार के द्वारा होता है। विश्वास और विचार सत्संग का मूल आधार है। विश्वास क्या है? हमारा और भगवान का जातीय सम्बन्ध है और आत्मीय सम्बन्ध है, यह विश्वास है। विचार क्या है? शरीर और संसार का जातीय सम्बन्धहै। मन, वाणी, कर्म से बुराई-रहित होने से विकास होता है। उदार और स्वाधनी होने से विकास होता है। यह विचार-पथ है। विश्वास के भगवत्-प्रेम की प्राप्ति होती है और भगवत्-प्रेम विश्वास से सिद्ध है। विचार के आधार पर स्वाधीन होने का प्रश्न और विश्वास के आधार पर प्रेमी होने का प्रश्न स्थाई साधक होकर हल करना होगा।

कुछ दिन पहले मानव सेवा संघ के माध्यम से सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने की अभिलाषा रखने वाले भाई-बहनों ने स्थाई साधक होने का व्रत लिया था। उनका साधन और सत्संग का क्रम चल रहा है। गत वर्ष इस सम्बन्ध में न कोई बातचीत हो सकती न स्थायी साधकों का एक विशेष आयोजन प्रति वर्ष हुआ करता था, वह भी इधर नहीं हो सका। तो उन सभी स्थाई साधक जो यहाँ पर विद्यमान है, उनके लिए भी और जो आगे चलकर सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने के लिए मानव सेवा संघ के स्थाई साक होना पसंद करेंगे, उनके लिए यह सूचना है। क्या करना होगा? कैसे करना होगा? किस प्रकार से आप अपने साधक के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं, इसकी सब सूचनाएँ हैं।

संघ की नीति यह नहीं है, कि आप संघ की सेवा करते हैं तो बड़े अच्छे आदमी हैं और नहीं करते हैं तो अच्छे आदमी नहीं है। संघ की सेवा करते हुए, अधिकार-लोलुपता रखते हैं, यह साधक का लक्षण नहीं है। इसलिए परामर्श यह है

कि संघ की सेवा कीजिए अथवा मत कीजिए पर स्थाई साधक होकर रहिए। जो अपने पर सबका अधिकार मानता है और अपना अधिकार किसी पर नहीं मानता है, वही स्थाई साधक हो सकता है। जो इस सिद्धान्त को ठुकराता है अथवा पंसद नहीं करता है, यह स्थाई साधक नहीं है। वह सही अर्थ में साधक ही नहीं है। संघ का स्थाई साधक जो होता है, वह सेवा को प्रधानता देता है, पद को नहीं। सेवक में यदि पद-लोलुपता है, तो स्थाई साधक नहीं हो सकता है।

प्रश्नμमानव सेवा संघ का स्थाई साधक कौन कहलाएगा?

उत्तरμजिसको यह विश्वास है कि संघ की पद्धति से मेरा कल्याण होगा।

प्रश्नμस्थाई साधकों के लिए निश्चित व्रत नियमादि बनाना आवश्यक है?

उत्तरμव्रत नियमादि बनाना मानव सेवा संघ की पद्धति ही नहीं है। स्थाई साधक का सबसे बड़ा व्रत यह होता है कि वह सत्संग से साधन का निर्माण करे, अभ्यास का अनुसरण नहीं करे। किसी न किसी नाते सभी को अपना मानो और प्रेमी होने के िलए प्रभु को अपना मानो। जो अपने को स्थाई साधक मानेगा, जिसके हृदय पर संघ की छाप लगी है वह अपने आप ही अपना रहन-सहन बदलेगा। परन्तु संघ की यह पद्धति नहीं है कि साधक पर जोर डाला जाए, कि तुम अपने को अवश्य बदलो। स्थाई साधक के लिए संघ की पद्धति में स्थाई श्रद्धा होना अनिवार्य है। फिर वह आश्रम में आए अथवा न आए, संघ में सम्पत्ति लगाए अथवा न लगाए, उसको अपना कल्याण अभीड्ढ होना जरूरी है।

जैसे संघ की सेवा में लिए आजीवन कार्यकत्र्ताओं का एक विभाग बनाया स्वामी जी महाराज ने कि ऐसे साधक ऐसे भाई-बहन जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके, अपनी करके अपने पास कोई सम्पत्ति न रख करके अपने को संघ की सेवा में खाद बना देने को जो तैयार है, उसको आजीवन कार्यकर्त्ताबनाया गया है। यह एक विभाग है।

ऐसे साधकों का सम्पूर्ण जीवन साधन में और संघ की सेवा में लग जाता है। फिर कुछ ऐसे घर-गृहस्थी वाले लोग भी थे, जिन्होंने कहा कि महाराज, हम लोगों को तो तैयारी के लिए थोड़ा समय चाहिए। इधर इस प्रकार की हम तैयारी कर सकें, तो उनको तैयारी के लिए समय जो दिया गया, उसमें यह बताया गया कि सब सम्पत्ति, सारा जीवन और सब कुछ संघमें लगाने के लिए तैयार न हो तो कम से कम अपने जीवन में से बुराइयों का त्याग करो। विचार के आधार पर अधिकार-लोलुपता और पद-लोलुपता का त्याग करो। जिनसे सम्बन्ध माना उनकी सेवा करो और प्रेमी होने के लिए प्रभु में विश्वास करो। और अपने यहाँ की जो यह पद्धति है कि ईश्वर-विश्वास, संसार से असंग होना और उदारता पूर्वक पर-पीड़ा से पीड़ित होकर सेवा करना ये व्रत जो हैं ये मनुष्य के स्वधर्म हैं, ये सत्य की स्वीड्डति से ही पूरे होते हैं, इनके लिए अभ्यास अपेक्षित नहीं है।

तो जिन लोगांे को अभ्यास वाले साधक में विश्वास है, वे संघ के स्थाई साधक नहीं हो सकते हैं। जिन लोगों को इस प्रणाली में विश्वास है, ये बात जम गई कि जीवन में परिवर्तन सत्संग से आता है। और सत्संग मनुष्य का पुरुषार्थ है। और सत्संग का परिणाम है कि जीवन में साधक की अभिव्यक्ति हो जाए। जैसे शान्ति की अभिव्यक्ति है, तो शान्ति की अभिव्यक्ति कैसे होगी भाई? 'मेरा कुछ नहीं है', 'मुझे कुछ नहीं चाहिए', निर्मम और निष्काम

होने का यह व्रत जो स्वीकार करेगा, उसके भीतर शान्ति आ जाएगी। निर्मम औ निष्काम हुए बिना थोड़ी-थोड़ी देर के लिए एकांत में बैठकर हाथ-पाँव मोड़ लेने से, आँखें बन्द कर लेने से, साँस रोक लेने से, शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, यह विश्वास मानव सेवा संघ का नहीं है। तो सदस्य होने की चर्चा प्रातः काल हो चुकी थी, अब स्थाई साधक होने की चर्चा हो रही है। इस पूरी चर्चा में आप देखेंगे कि उद्देश्य केवल इतना ह कि व्यक्ति स्वयं अपने विकास में अपने आप स्वाधीन होेकर के आगे बढ़ सके, पराधीन न रहे।

बड़े दुःख की बात है मेरे नजदीक लोग अभी थोड़े दिन पहले आए थे। यहाँ मथुरा में एक यज्ञ होता है रामाश्रय सत्संग कहलाता है। वहाँ पर लोग आए थे, शरीर के सम्बन्ध से पुराना सम्बन्ध भी था उन लोगों के साथ उनकी चर्चा मैं सुन रही थी। पूछा मैंने कि आप लोग क्या करते हैं? वे लोग बता रहे थे। तो एक महिला, जिसको कि मैं बचपन से जानती हूँ, इस सत्संग में है। वह कहने लगी कि मेरी तो जिन्दगी खत्म हो गई थी तो हमारी गुरुमाता ने अपनी ओर से दस वर्ष मुझे दिए, अब देखा इन दस वर्षों में काम पूरा होता है कि नहीं होता है। मेरी हालत तो ऐसी हो गई है कि न हमको जीते बनता है न मरते बनता है, ऐसे वह कह रही थी। तो मैं नहीं कहती हूँ कि उस सत्संग का दोष है। सत्संग में क्या होता है? वह तो मुझे मालूम नहीं है लेकिन साधक की इस दशा को देख करके मुझे बड़ा दुःख हुआ कि आदमी जिस बात में स्वाधीन है, उसमें भी अपने को कितना पराधीन बना कर बैठ गया। बहुत तकलीफ हुई। और फिर मुझसे पत्र-व्यवहार उनका होता रहता है। तो चिट्ठी लिखती हैं जो भी कुछ अपने मत के अनुसार लिखती हैं, उसके बारे में तो मैं कुछ नहीं कहती हूँ। मानव सेवा संघ की यह नीति नहीं है कि दूसरे साधक की दूसरी-दूसरी साधना की प्रणाली की साधनाओं में, उस विचारों में विकल्प खड़ा कर दो कि संदेह पैदा कर दो। यह अपने लोगों का काम हीं नही है। भई तुम कहीं के भी साधक हो और किसी भी प्रकार की प्रणाली तुम्हारी हो, मैं तो हृदय से यही चाहूँगी कि भगवान तुम्हारी ही प्रणाली से तुमको पार लगा दें। तुम्हारा कल्याण हो जाए यह मुख्य बात है और मैं जैसे कहती हूँ वैसे करके हो जाए, दूसरे जैसे कहते हैं वैसे न हो, सो नहीं है।

कहीं से भी सीख के आओ, कोई भी मत, विचार, सम्प्रदाय तुम्हारा हो, किसी भी प्रणाली का अनुसरण तुम करते हो, मेरे हृदय की सद्भावना यही है, कि तुम्हारा कल्याण तुम्हारी ही प्रणाली से हो जाए। प्रभु तुम्हारे पर डुपा कर दें, सहायता दे दें, तुम्हें पार लगा दें। आदमी शांति प्राप्त कर सके, आदमी पराधीनता से मुक्त हो सके, ईश्वर में विश्वास करने वाला अपने ही हृदय में प्रभु की उपस्थित को अनुभव करके प्रेम में मस्त हो सके, इतना ही उद्देश्य है। उनको मैं उत्तर देती रहती हूँ, तो उत्तर दे देती हूँ, उनकी बातों का उल्लेख किए बिना संघ के सिद्धान्त के अनुसार यह जीवन का सत्य है, उसी के आधार पर मैं उत्तर दे देती हूँ। तो एक बार आई मेरे पास, चिट्ठियों का उल्लेख करते हुए कहने लगी कि देखो गुरुमाता ने हमारा इतना-इतना काम कर दिया और अब छोटी-छोटी शक्तियों ने ऐसा-ऐसा परमीशन दे दिया है, अब बड़ी शक्ति का परमीशन मिल जाएगा तो यह काम हो जाएगा।

हमारी कुछ समझ में नहीं आया। हम कहें कि तुम लोग कहाँ जाकर के, किस तरह दीनता में फँस गए भाई? सब कुछ करने वाला

तुम्हारे भीतर बैठा है। तुम स्वयं अपनी जानी हुई भूल को मिटा सकती हो। तुम स्वयं ईश्वर को मान करके उनमें विश्वास करके उनके शरणागति हो सकती हो। अब बीच में कौन छोटी-छोटी शक्तियाँ हैं कौन बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हैं ये क्या हैं? ये कुछ हमारी समझ में नहीं आईं। बहुत दुःख होता था मुझे। वह तो नजदीक की है उसे मैं खूब डाँटती भी हूँ, मना भी करती हूँ, बताती हूँ भई ऐसे-ऐसे मत करो, तो बड़ा अफसोस होता है। स्वामी जी महाराज ने कितना स्पङ्ख कर दिया अपने लोगों का रास्ता और कितने खुले शब्दों में कह दिया कि भई तुम संस्था में सम्पत्ति लगाओगे तो अच्छे आदमी कहलाओगे, सेवा करो तो अच्छे आदमी कहलाओगे और नहीं करोगे तो अच्छे आदमी नहीं कहलाओगे, ऐसी कोई बात नहीं है। अच्छा आदमी कौन है? जो अपने अधिकार का त्याग करता है दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है। अच्छा आदमी कौन है? जो पद लेकर के भी सेवा करता है, पद त्याग करके भी सेवा करता है। अच्छा आदमी कौन है? जिसने अपने चित्त को नि£वकार बना लिया। अच्छा आदमी कौन है? जिसने ईश्वर में विश्वास करके अपने को उनके समर्पित कर दिया। ठीक हैं न?

स्थायी साधक के लिए संघ की पद्धति में श्रद्धा का होना अनिवार्य है। आश्रम में आए अथवा न आए, संघ में सम्पत्ति लगाए अथवा न लगाए उसको अपना कल्याण अभीङ्ख होना जरूरी है। संघ का स्थाई साधक होने की यह शर्त है अपना कल्याण आपको अभीङ्ख होना चाहिए। इसी उद्देश्य से उसके रहन-सहन में स्वयं ही परिवर्तन आ जाएगा।

प्रश्नμस्थाई साधक को क्या करना चाहिए?

उत्तरμसेवा, सार्थक चिंतन, जितेन्द्रियताμयह सब करना चाहिए। स्थाई साधक में अपने कल्याण की बात मुख्य है। साधक निर्माण के साथ-साथ उसे सेवा करना है। स्थाई साधक का मतलब यह है कि वह इन्द्रिय-लोलुपता से जितेन्द्रियता की ओर और त्यागभावपूर्वक सेवा की ओर बढ़े। उसके भीतर यह पीड़ा होती रहे, हाय कैसे आगे बढ़ें? कैसे आगे बढ़ें? स्थाई साधक हुए बिना जो सेवा करता है वह भोगी है। स्वामी जी महाराज का वाक्य है। स्थाई हुए बिना सेवा करने का क्या मतलब है? जो अधिकार-लोलुपता से मुक्त नहीं हो सका, जो सेवा करने के लिए सभी को अपना नहीं मान सकता, जो वस्तुओं के प्रति अपनी ममता नहीं तोड़ सका, उसके द्वारा सेवा होती नहीं है।

जो सम्मान के लिए सेवा करता है, जिसको अपना कल्याण अभीङ्ख नहीं है, वह स्थाई साधक नहीं है। स्थाई शब्द केवल इसलिए उसमें जोड़ा गया कि दो तरह के लोग समाज में पाए जाते हैं, कुछ लोग तो ऐसे हैं कि जो इस चिरंतन विचार धारा को पसंद करके और अपने कल्याण की दिशा में आगे बढ़ते चले जाते हैं, उनके लिए मानव सेवा संघ में आना, मानव सेवा संघ ज्वाइन करना, विधि के अनुसार सदस्य बनना, स्थाई साधक होने का व्रत लेना, आजीवन कार्यकर्त्ताहोना अनिवार्य नहीं है।

आप मनुष्य है। आपके भीतर शांति, स्वाधीनता और पे्रम की माँग है, तो उस माँग की पूत्रि के लिए मानव सेवा संघ जो सलाह देता है, उस सलाह को मान लिया और अपना कल्याण कर लिया। इस दृष्टि से आप भी हमारे लिए बड़े सहयोगी हो गए। कुछ लोग ऐसे हैं जिनके भीतर यह लालसा जगती है, कि ऐसा अच्छा स्वतन्त्र

विचार कि जिसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है, गरीब हो तो क्या, अमीर हो तो क्या, और पढ़े लिखे हो तो क्या, और बिना पढ़े लिखे हो तो क्या? कुछ परवाह की बात नहीं है। शरीर रोगी हो तो क्या, स्वस्थ हो तो क्या, उच्च वर्ण में जनमें हों तो भी,निम्न वर्ण में जनमें हो तब भी मनुष्य यदि मनुष्य है तो उसकी बनावट ही ऐसी है कि वह शान्ति, स्वाधीनता, पे्रम की माँग अनुभव करेगा और जिसमें यह माँग पैदा हो जाएगी, उसकी उन्नति आरम्भ हो जाएगी। माँग पैदा होने से उन्नति आरम्भ हो जाती है, और माँग तीव्र होने से जीवन पूर्ण हो जाता है। तो इसमें स्वाधीनता है, पूरी स्वाधीनता है।

जब ये चर्चा हो रही थी तो किसी ने स्वामी जी महाराज से पूछा कि हम तो घर छोड़ कर अभी निकल नहीं सकते हैं और कमाई हुई सम्पत्ति की अभी हमारे परिवार को भी बहुत जरूरत है तो समाज की सेवा कर नहीं सकते हैं तो हम कैसे आगे बढ़ें? तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि तुम धन कमाओ ईमानदारी से और मर्यादा पूर्वक काम भी करो और उदारता पूर्वक परिवार के साथ रहो भी लेकिन तुम्हारे भीतर लगन उठनी चाहिए। कौन-सी लगन? कि सोेते, जगते, उठते, बैठते, काम धाम करते हुए भीतर एक लगन लगी रहे कि मैं कैसे साधना में आगे बढ़ूँ? मैं कैसे आध्यात्मिक विकास में आगे बढ़ूँ? मैं कैसे ईश्वर में आगे बढ़ूँ? तुम्हारे भीतर की यह जो लगन है, कि हम कैसे आगे बढ़ें कैसे आगे बढ़े इस लगन में ही तुम्हारी उन्नति आरम्भ हो जाएगी। साहित्य में आपने पढ़ा होगा स्वामी जी महाराज ने जो साहित्य हम लोगों के सामने रखा है, उसमें आपने पढ़ा होगा कि मनुष्य के जीवन में माँग की जागृति से ही माँग की पूर्तिहो जाती है। इसी आधार पर कहा गया कि उसमें काल और स्थान का कोई भेद नहीं है। बाहरी परिस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सब बातों से कुछ मतलब नहीं है। और अब मैंने जीवन का विश्लेषण करके देखा है, तो मुझे लगता है कि हम सभी भाई-बहनों को जो परिस्थिति मिली है, वही हमारे जीवन को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त है, जो मिला है सो। कितनी बड़ी बात है, सोच करके देखिए। मुझे एक बहन मिली थी, बरेली में सत्संग होता था, प्रतिवर्ष जाती थी मैं। अबकी मैं नहीं गई थी, समय नहीं था। कई वर्ष पहले की बात है तो मैं ऐसे ही बोल रही थी कि भई सत्य की अभिव्यक्ति का शरीर की दशाओं से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तो सुना उन्होंने, जब में सत्संग से बाहर निकली तो उन्होंने मुझे पकड़ लिया और खूब गले से लिपट गई और रोने लगी। मैंने कहा कि क्या बात है भाई? आप क्यों रो रही हैं? तो उस महिला ने कहा कि आप तो कह रही हैं कि भगवान तो रोगी को भी मिलते हैं, निरोगी को भी मिलते हैं तो क्या यह सच्ची बात है? हमने कहा बात तो सच्ची है, सच्ची जान करके ही मैं कह रही हूँ। तो फिर उसके बाद उसने कहा कि कई वर्षों से मेरा शरीर अस्वस्थ है, सास और पति सेवा करते रहते हैं और मैं बहुत दुःखी रहती हूँ कि मेरी जिन्दगी बेकार हो गई, सास की सेवा मुझे करनी चाहिए, पति की सेवा मुझे करनी चाहिए। ये दोनों हमारे शरीर की देखभाल में लगे रहते हैं, तो मुझे तो जिन्दगी भार मालूम होती है। ऐसा लगता है कि जल्दी से जल्दी यह शरीर खत्म हो जाए तो अच्छा है। तो कई वर्ष इस दशा में बीत गए। पता नहीं आज मुझे क्या हो गया सवेरे से ही मेरे दिल में एक बात लगी और मैंने इन माँ, बेटे दोनों से कहा कि आज मुझे आश्रम में ले चलो, सत्संग हो रहा है, आज मैं सुनने जाऊँगी। ले आए तोकहे कि आप

तो ऐसे कहे रहे हैं हमने कहा कि हाँ भई ठीक है, अनुभवी संत के मुख से मैंने सुना है और मैं विश्वास करती हूँ कि यह सत्य है, इसलिए मैं कह रही हूँ। तो कहने लगी कि बहुत अच्छी बात है। अब तो मैं मरने को नहीं सोचूँगी, अब तो मैं सोचूँगी कि भगवान अगर बीमार को भी मिल सकते हैं, तो बहुत अच्छी बात है, तो हम घर काम काम नहीं कर सकते, सास और पति की सेवा नहीं कर सकते हैं लेकिन भगवान को तो पा सकते हैं? मैंने कहा हाँ पा सकते हैं। तो बातचीत करके वह चली गई। मैं भी भूल गई, उसके बाद क्या ध्यान रहे। फिर कई वर्षों के बाद वह महिला मिली मुझे खुब हड्ढ-पुड्ढ तन्दुरस्त शरीर और आकर के फिर हमसे लिपटी और कहने लगी कि माता जी पहचाना मुझे आपने। हमने कहा कि मुझे याद तो नहीं है। उसने अपनी सब कथा सुनाई और कहा कि देखिए मुझे तो बहुत आराम मिल गया, बहुत आराम मिल गया, तो शरीर भी अच्छा हो गया और सास और पति की सेवा न करने का दुःख भी मिट गया ओर ईश्वर-विश्वास भी मिल गया।

वे तो आनन्दित हो गईं। तो यह तो एक स्वाधीन पथ है कि कोई इस दिशा में पराधीन नहीं है। एक विशेष सम्प्रदाय की महिला स्वामी जी महाराज के सत्संग में आ करके बहुत आनन्दित हो गई, अब तो उनका सारा परिवार ही मानव सेवा संघ में हैं। वे कहती थीं कि मैंने अपने यहाँ किसी सम्प्रदाय में यह सुना था कि स्त्री शरीर में आदमी की मुक्ति नहीं होती है। बहुत दुःख की बात। अब शरीर तो भगवान ने दिया है सो दिया है क्या करें उसका? तो मैं ऐसे एक-दो उदाहरण अपने लोगों के सामनेप रख रही हूँ कि मानव सेवा संघ में इस प्रकार की पराधीनता मनुष्य के सामने नहीं रहने दी कि स्त्री शरीर होने के कारण से तुम मुक्ति से निराश हो जाओ कि बीमार होने के कारण तुम ईश्वर-भक्ति से निराश हो जाओ। ऐसा नहीं है कि पढ़ा लिखा नहीं है तो ज्ञान से निराश हो जाए, ऐसा नहीं है। शरीर की और बाहर की परिस्थितियों से सत्य की अभिव्यक्ति में कोई भेद नहीं पड़ता है, इस बात को हम सब भाई-बहन जान लें और अपने कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहें। तो मैंने महाराज जी के मुख से ऐसा सुना है और बात बिल्कुल पक्की लगती है मुझे, कि प्रभु की ड्डपालुता और संत की सद्भावना सदैव सभी साधकों के साथ रहती है। और सचमुच जो अपनी दशा से असंतुड्ढ होकर अविनाशी जीवन की आश लेकर आगे बढ़ता है, जीवन का मंगलमय विधान इतना सुन्दर है कि उसके जीवन में पूर्णता अवश्य आती है।

अपना कल्याण अभीड्ढ हो, सत्संग की महिमा में निष्ठा हो और सत्संग के द्वारा साधन का निर्माण करना चाहे और यथा सम्भव यथा शक्ति जहाँ पर है, वहीं पर सुख की दासता और स्वार्थ को छोड़ करके सेवा पंसद करें तो आप मानव सेवा संघ के स्थाई साधक हो सकते हैं और आगे बढ़ सकते हैं। जैसे-जैसे आपके जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति होने लगेगी, शरीर और संसार की दासता कट जाएगी, तो आप का यह कल्याणमय जीवन ही मानव सेवा संघ का जीता जागता चित्र बन जाएगा और उसके प्रभाव से समाज में बहुत अच्छे भावों और विचारों का प्रसार होगा।

प्रवचन(11)

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ बहनो और भाइयो!

एक यह प्रश्न है। जीवन राग-द्वेष से रहित हो और सुख-दुःख से अतीत जीवन में प्रवेश होने का कृपया सरल उपाय बताने की कृपा करें।

उत्तर- तो पहली बात जो स्वामी जी महाराज की याद आ रही है। इतना बड़ा प्रश्न आप हल करने चले हैं, सुख-दुख से अतीत के जीवन में प्रवेश चाहते हैं और इतने बड़े काम के लिए सरल उपाय खोज रहे हैं। स्वामी जी महाराज ने एक सज्जन को ऐसे ही उत्तर दिया था कि भैया तुमने रोटी कमाने का सरल उपाय नहीं पूछा? दिन-रात एक कर दिया दुनिया का काम करने के लिए दिन-रात परिश्रम करके एड़ी-चोटी का पसीना बहा करके तुमने किया और दुनिया के पार पहुँचना चाहते हो और कहते हो सरल उपाय चाहिए, तो तुमको नहीं मिलेगा।

इसका अर्थ क्या है? महाराज जी की भाषा तो विनोद की होने पर भी उसमें बहुत गहन सत्य है। इसका अर्थ यह है कि जो सरल उपाय खोज रहा है कि अगर कोई सरल उपाय मिल जाएगा तो हम कर लेंगे तो इसका अर्थ यह है कि अगर सरल उपाय नहीं मिलेगा तो हमको उसकी खास जरूरत नहीं है। तो सत्य की अभिव्यक्ति में शर्त क्या है? सत्य की अभिव्यक्ति में शर्त बिल्कुल इसके विपरीत है। वह सत्य क्या है कि जिसके बिना तुम किसी भी प्रकार से रह ही न सके। जिनके भीतर सत्य की जिज्ञासा जगती है, जिनके भीतर देहातीत जीवन में प्रवेश पाने की आवश्यकता जगती है, वे सरल और कठिन कुछ देखते ही नहीं हैं और जब तक इस प्रकार की गुंजाइश है, किस बात की कि देखें कोई सरल उपाय मिल जाए तो करलें नहीं तो रहने दो भई, यह बात जब तक है तब तक किसी भी प्रकार से इस दिशा में प्रगति होने वाली नहीं है, कभी नहीं होगी। पहले तो यह बात दिमाग से निकालना पड़ेगा कि भई सरल उपाय मिले। क्यों मिले सरल उपाय? जो धन आप जीवन के मध्य में कमाना शुरू करते हैं जन्म से तो कमाया नहीं। कितने दिनों तक माता-पिता और समाज के खिलाने से खाया। किसी समय योग्यता आई, बल आया, अवसर आया तब कमाना शुरू किया और आखिर में फिर छूट भी जाएगा। तो थोड़े दिनों के लिए जो धन है उसके लिए आप कभी नहीं सोचते हैं सरल। कठिन से कठिन काम करने के लिए आदमी तैयार होता है।

भूख छोड़ता है, नींद छोड़ता है। सब छोड़ करके जी-जान लगा के करता है। तो थोड़े दिन के लिए जो आपके पास आने वाला है, उसके लिए आप सरल बात नहीं सोचते हैं, जो सदा रहे सब प्रकार की समस्याओं का समाधान करने वाला है, उसके लिए आप कहते हैं, सरल उपाय बताओ। इसका मतलब है कि आप को उस जीवन की अभी आवश्यकता नहीं है। उसके बिना भी आप अच्छी तरह से खा-पी करके सो करके दिन काट रहे हैं, इसलिए नहीं है। तो किसको मिलता है, जो उसके लिए सब कुछ छोड़ने को तैयार है। अभी थोड़े दिन पहले की बात है वृन्दावन में ही आश्रम में ही हमको बताया था हमारी लड़कियों ने। तो यह बताया था कि यहाँ कोई एक बूढ़ा आदमी ईश्वर-विश्वासी रहता है और बहुत दिनों से कृष्ण भगवान की आराधना में वह सज्जन ब्रजवासियों के टुकड़े खा करके भगवान के भजन में लग करके, घर-बाहर छोड़ करके सब प्रकार की सुख-सुविधा छोड़ करके उन्होंने बहुत समय बिताया वहाँ। फिर भी उनको भीतर से ऐसा लगा कि कन्हैया तो हमको मिला ही नहीं, जिन्दगी तो खत्म होने वाली है। इतना तो मैं वृद्ध

हो गया अब कब तक शरीर रहेगा, अब कब तक मैं क्या करूँगा? भीतर से इतने व्याकुल हो गए परेशान हो गए तो उन्होंने कहा अब क्या करे ब्रज छोड़कर कही जाऊँगा भी नहीं और कन्हैया तो मिलता ही नहीं है उसके बिना किसी प्रकार से रहा जाता ही नहीं है तो चलें जमुना जी में छलाँग लगा कर शरीर छोड़ ही दें, अब क्या करें रख कर? नहीं मिलेगा तो चले गए शाम के समय धुँधलके में जमुना जी के तट पर वंशी वट के नीचे और सोच ही रहे थे कि एकदम से कूद पड़ें धारा में और शरीर त्याग दें तो उसी समय ग्वाल बाल का एक नौ दस वर्ष का छोकरा आया हाथ में लाठी लिए और जल्दी से पकड़ लिया उस बूढ़े का हाथ, अरे बाबा यह क्या करता है?

यह क्या करता है तू, कौन है कहाँ से आया है? तो वह बूढ़ा भी अपनी परेशानी में था। लाला तू छोड़ मेरा हाथ कहाँ से आया है कौन है तू? तो छोड़, कह कर यह छुड़ाने लगा कि पकड़ लिया उसने कसकर के और कहने लगा कि आत्महत्या का पाप तू मेरे ही नाम पर करेगा क्या? तू कौन है? तब पूछा बूढ़े ने कि कौन है तू? जिसके नाम पर तुम मरने जा रहे हो, वही तो हूँ मैं। तो सत्य का सौदा सिर का सौदा है, ऐसा गाँधी जी ने लिखा है। यह बुजदिलों का काम नहीं है। खाने-पाने के लिए सुख से रहने के लिए सब कठिनाई उठा सकते हैं हम लोग और अविनाशी जीवन के लिए सरल उपाय खोजते हैं? तो स्वामी जी का कहना बिल्कुल सत्य था कि इस मनोवृत्ति से जो सत्य का मार्ग खोज रहा है, उसको कभी मिलेगा नहीं। ऐसे तो विनोद की तरह कह दिया और सब लोग हँस पड़े, पर बात बिल्कुल सही है। लोक और परलोग सब उस पर न्यौछावर करो तो सौदा करो। और जिन लोगों ने सचमुच उस जीवन के लिए सब कुछ तुच्छ समझा और सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार हो गए, उनके लिए अत्यन्त सरल है।

उससे अधिक सरल कुछ हो ही नहीं सकता आपने सुना ही होगा, कई जगह महाराज जी ने ऐसे कहा है कि भई फूल के तोड़ने में देर लगती है, सत्य से अभिन्न होने में देर नहीं लगती है। घोड़े की रकाब में पाँव रखने में देर लगती है, सत्य से अभिन्न होने में देर नहीं लगती। सरल है तो इतना सरल है कि उसमें कुछ करना ही नहीं है। एक बार उस तरह की भी चर्चा चली थी, तो कहा महाराज जी ने कहा कि देखो तो दुनिया की जितनी भी वस्तुएँ है जो भी कुछ तुमको चाहिए, सबके लिए मूल्य चुकाना पड़ता है और हीरा-मोती जवाहरात रत्न इत्यादि का जितना मूल्य है अन्न और जल के लिए उस से कम मूल्य रखा गया है, जो जीवन के लिए आवश्यक है। हीरा-मोती के बिना बहुत से लोग रह सकते हैं, अन्न जल के बिना कोई नहीं रह सकता है, इसलिए उसका कुछ कम मूल्य लगता है और हवा का उससे भी कम और ऐसे करते-करते उन्होंने कहा कि जो सबका अपना है, अपने में है, सबके लिए अनिवार्य है वह थ्तमम मिलता है। उसका कोई इस प्रकार का मूल्य नहीं है कि आप चुका सकें। तो ऐसा भी कहिए कि अनमोल है और ऐसा भी कहिए कि बेमोल है। किसके लिए जो उसके बिना किसी प्रकार से रह ही नहीं सकता उसके लिए। यह तो हो गई बात।

अब साधना की बात देखिए जहाँ पर हम खड़े हैं और जहाँ से अपने को लगता है कि आगे बढ़ना है तो उसी जगह से विचार करिए कि हम कैसे उस दिशा में आगे बढ़े तो सुख-दुख के पार पहुँचना है अपने को । मानव

सेवा संघ की पद्धति में बहुत व्यावहारिक उपाय बताया गया है, कि तुम्हारे पास सुख आए तो तुम उसके भोगी मत बनो, उदारता पूर्वक उस आए हुए सुख के द्वारा दुखियों की सेवा करो। सुख के पार जाना है न? जब तक उसके भोगी बने रहेंगे, भोग न भी करें और उसका महत्त्व माने ऐसे भी लोगों को मैंने देखा है कि पैसे उनके पास खूब हैं और उनको वे अपने लिए उपयोगी भी नहीं मानते, जानते हैं कि अब इस जीवन में इतना पैसा हम खर्च नहीं कर सकेंगे तो मेरे लिए यह उपयोगी नहीं है और फिर भी उस धन का इतना महत्व है उनके जीवन में कि देने की बात सोचते ही सोचते जिन्दगी निकल जाती है, उनसे दिया नहीं जाता है। ऐसा भी होता है। तो सुख के भोगी भी नहीं बनना है और सुख का महत्व ही नहीं मानना है।

भोगी नहीं बनेंगे तो उसका राग नहीं बनेगा और महत्त्व नहीं मानेंगे तो उदारता पूर्वक सेवा में लगा सकेंगे। नहीं तो काम में न आने पर भी उस वस्तु का इतना महत्त्व लोग मानते हैं कि खर्च ही नहीं कर सकते हैं, दे ही नहीं सकते, किसी के काम में लगा ही नहीं सकते, दिया ही नहीं जाता है। रखे ही रहो, रखे ही रहो तो उसकी ममता में भी फँसे रहे, उसके संग्रह का भार भी ढोते रहे, उपयोग भी नहीं कर सके और फिर सोचें कि सुख के पार पहुँचने का कोई सरल उपाय मिले, तो मिल ही नहीं सकता। इसलिए जिस स्तर पर हम लोग खड़े हैं अभी, भीतर झाँक करके देखो कि अपने अंदर की दशा क्या है और उस दशा में से निकलने का उपाय अपने को करना है तो सरल और कठिन की बात छोड़ करके, जो उपाय कर सकते हैं वह करना आरम्भ करिए। तो मिले हुए सुख को समाज की सेवा में लगाना सुख-दुःख के पार पहुँचने का पहला स्थूल उपाय है। एक बात हो गई। ऐसा करने में सहायता कैसे मिलेगी?

जब उसका महत्त्व हम नहीं मानेंगे, तब मिलेगी। अगर सुविधापूर्वक रहने का महत्त्व हम मानते हैं, तो आए हुए सुख को बाँटा नहीं जा सकेगा। और यदि उसको हम अपने लिए महत्त्वपूर्ण मानेंगे तो उसमें से हमारा ध्यान नहीं हटेगा, चिंतन नहीं हटेगा, शरीर का मोह नहीं मिटेगा। तो पहली परीक्षा तो यहीं पर कर लेना अपनी अपने द्वारा। जो कुछ भी अनुकूलता है, उसको हम उदारता पूर्वक दे सकते हैं कि नहीं दे सकते। एक बात हो गई। दूसरी बात यह है कि किसी प्रकार की कठिनाई सामने आ गई तो आई हुई कठिनाई को देख करके घबरा जाना और जल्दी-जल्दी दूसरों से सहायता ले करके उस कठिनाई को मिटा लेना, इस प्रकार की चेष्टा से भी चेतना नहीं आती है।

मानव सेवा संघ की सलाह यह है कि किसी प्रकार की कठिनाई आए, तो उससे घबराना नहीं चाहिए। मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि कठिनाई आने से अगर आदमी घबरा जाए, तो वस्तुतः कठिनाई से जितना कष्ट हो सकता था उससे अनेक गुणा अधिक कष्ट हो जाएगा घबरा जाने से। जैसे धन घट जाए कि परस्पर का प्रेम और विश्वास घट जाए कि किसी प्रिय-जन का वियोग हो जाए, तो यह घटना अपने में उतनी हानिकाक नहीं है। अगर हम इस घटना के सामने घबरा जाएँ, अधीर हो जाएँ तो हमारी बहुत बड़ी क्षति हो जाएगी। तो सुख-दुःख के पार जाने वाले साधक क्या करते हैं कि सुख आए तो अपने को उस सुख में अलग रखकर के सुख के द्वारा दुखियों की सेवा करने की सोचते है और कोई कठिनाई आ गई तो उस कठिनाई के सामने

झुकते नहीं है, उससे डरते नहीं है उससे घबराते नहीं है। सोचते हैं कि ऐसी कठिनाई का प्रभाव जो है वह मेरे जीवन में कैसे उतरेगा।

अनुभवी संत ने अपनी तमेमंतबी (खोज) के आधार पर हम लोगों को सलाह दे दी कि भई जिस अंश में दुःख आए उस अंश में त्याग करो तो हमें अंधेरे में टटोलना नहीं है कि कठिनाई आ गई तो उससे हम उबरे कैसे? अनुभवी जनों ने अनुभव की बात हम लोगों के सामने रख दी और कहा कि भई कठिनाई आए तो त्याग करो। महाराज जी ने अपने लिए कहा कि भई कठिनाई आए तो त्याग करो। महाराज जी ने अपने लिए कहा कि जैसे आँखें चली गई तो आँखों के चले जाने से अगर मैं दुखी रहूँ, तो मेरा दुःख सारी सृष्टि मिल करके नहीं मिटा सकती है। लेकिन अगर मैंने दखने की वासना का त्याग कर दिया, निर्वासना को स्वीकार लिया तो सदा के लिए मुक्त हो गए। फिर तो आँखों की जरूरत ही नहीं रही। रोशनी है कि नहीं है कोई बात नहीं है। है तो काम आ गई, अरे नहीं है तो नहीं सही अपने को कोई चिंता ही नहीं है।

एक बार ट्रेन में बैठे थे स्वामी जी महाराज, अकेले ही यात्रा किया करते थे। तो एक सज्जन कहने लगे कि बाबा जी आपकी आँखों से दिखता तो है ही नहीं है। अकेले आप सफर कर रहे हैं, तो स्टेशन आएगा तो गाड़ी में से उतरिएगा कैसे? आपके पास आँखें तो है ही नहीं। तो स्वामी जी महाराज एकदम ही हल्के से और बहुत सच्ची बात उनको सुना दी, अरे भैया तेरी आँखें कब काम आएँगी किसी के? एक शरीर में आँखें नहीं हैं तो अनेकों शरीरों में आँखें हैं। तो जिन शरीरों में आँखें हैं वे अगर नेत्रहीन के काम नहीं आई तो किस काम की हैं। तो बताते थे कि वे सज्जन इतने शर्मा गए, ऐसे लज्जित हो गए कि फिर तो कुछ कहना ही नहीं पड़ा। पकड़ करके नीचे उतारा भी, जहाँ मुझे जाना था उधर पहुँचाया भी। टिकट खरीदकर भी लाकर हाथ में पकड़ाया, अगली ट्रेन में बैठा कर तब गए। तो व्यक्तिगत ममता को छोड़ दो तो सारी सृिष्ट एक है। एक शरीर में एक तरह की कमी है तो दूसरे शरीर द्वारा उसकी पूर्ति होती है। लेकिन व्यक्तिगत शरीर का अभिमान लेकर भी बैठो, प्राप्त सामर्थ्य से सुख भोगना भी पसंद करो तो आया हुआ दुःख तुमको अधीर जरूर बनाएगा। तो सुख-दुःख से अतीत का जो परमानन्दमय जीवन है, उस जीवन से अभिन्न होने के लिए प्राप्त सुख-दुःख का सदुपयोग करना, यह सबसे बढ़िया उपाय है।

मैं ब्रह्म हूँ, मैं निराकार हूँ, मैं निर्विकार हूँ, मैं ऐसा हूँ एक चिंतन की पद्धति भी चलती है। मैंने सुना है कि इस प्रकार का चिन्तन करते-करते वृत्ति तद्ाकर हो जाती है। जाने कैसे-कैसे लोग बताते हैं उसका मुझको ज्ञान नहीं है। उस प्रणाली में प्रवेश करके मैंने देखा नहीं है कि कैसा होता है लेकिन ऐसा सुना है। तो उसके लिए मुझको कुछ मालूम नहीं है परन्तु सर्वसाधारण एक मनुष्य जो सुख-दुख के प्रभाव से प्रभावित है, जो सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रभाव से प्रभावित है, जो सुख-दुःख के कारण से अपने को बँधा हुआ, फँसा हुआ पाता है। इस कोटि का व्यक्ति अगर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न होना चाहता है तो सारे विधि-विधान को अलग रखकर के उसको बिल्कुल इस च्तंबजपबंस द्धव्यावहारिकद्ध साधना में लग जाना चाहिए।

सुख मालूम होगा तब हम उसको बाँटने की सोचेंगे और दुःख सामने आएगा तब हम त्याग को अपनाएँगे तो सुख और दुःख दोनों साधन-सामग्री हैं, ऐसा स्वामी जी ने बताया। जैसा कि हम

लोग मानते हैं कि भई मैंने पुण्य कर्म किया था तो हमारे सामने सुख आ गया और मैंने अपराध किए थे तो मेरे सामने दुख आ गया। ऐसा होता होगा यह भी बात बहुत प्रचलित है स्थापित है, इसके भी ना कहने का मेरा साहस नहीं है लेकिन स्वामी जी महाराज ने मानव-जीवन के मंगलमय विधान को सामने रखा तो उसके अनुसार यह बताया कि प्रकृति के विधान से सुख-दुःख व्यक्ति के सामने उसके उत्थान के लिए आता है। तो सुख आता है, तो उदार बनाने के लिए आता है। यह भी आदमी के भीतर एक शौक होता है, शुभ संकल्प होता है कि हमारे पास कुछ सामर्थ्य हो तो हम दूसरों के काम आएँ। तो उदारता को बढ़ाने के लिए प्रकृति ने मेरे सामने अनुकूलता को भेज दिया और अनुकूलता को लेकर उदारतापूर्वक मैंने हृदय की सीमा को बड़ा नहीं किया तो हमारे हित के लिए अनुकूलता चली गई और प्रतिकूलता आ गई। तो प्रतिकूलता आने से अपने को भाग्यहीन नहीं मानना चाहिए।

यह भाग्यहीनता का लक्षण नहीं है यह तो केवल मुझको सजग बनाने के लिए आया, सचेत बनाने के लिए आया। एक रोगी व्यक्ति से मिलने गए महाराज जी तो वह अधीर होकर के रोने लगा कि महाराज जी हम क्या बताएँ अब तो हम बिस्तर में पड़े हैं, अब कैसे यह करे, तो खैर दुखी के हृदय से संत का हृदय द्रवित होता ही है लेकिन उन सज्जन को उत्तर देने में स्वामी जी ने बड़ी जोरदार झिड़कियाँ दी उनको कि भला आदमी बिस्तर में लेट कर रो रहा है, झींक रहा है, भाग्य की आसक्ति को छोड़ नहीं सकता। तपस्या करने का अवसर दे दिया प्रकृति ने। बेकार को रो रहा है। खूब कसके डाँट लगा दी। हम लोग सब सुनते रहे। उनका ऐसा ही मानना है कि अनुकूलता आने पर यदि हम अनुकूलता की दासता को छोड़कर के, सुख की दासता को छोड़ करके उसको वस्तुतः साधन-सामग्री मान करके हृदय को उदार बनाने में न लग जाएँ, चित्त को शुद्ध करने में न लग जाएँ। वस्तुओं को संग्रहित करने की मनोवृत्ति को बदल न डालें, वितरण करने का आनन्द न लें, दुखियों के दुःख में भाग लेने का अवसर न लें, तो इसी जड़ता का ताड़ने के लिए अनुकूलता प्रतिकूलता में बदल जाती है। तो इस तरह से प्रतिकूलता का अर्थ हम लेंगे, तो अपने लिए बड़ा हितकारी होगा। पहली बात तो यह होगी कि अपने को भाग्यहीन समझने का दुःख मिट जाएगा। बड़ा भारी दुःख होता है। एक तो धन चला गया तो तरह-तरह की कठिनाई पैदा हो गई फिर भीतर-भीतर अपने को भाग्यहीन समझने लगे तो और दिल टूट गया। धन के घटने से उतना दुःख नहीं होता और अपने को भाग्यहीन मानने से बड़ा दुःख होता है। दोनों तरह की बातें खत्म हो जाती है। तो सुख-दुःख से पार जिसको जाना है उसको क्या करना चाहिए कि प्रतिकूलता आ जाए, किसी तरह का कष्ट अपने पर आ जाए तो शान्ति पूर्वक बैठ करके धीरज से व्यावहारिक स्तर पर उसका प्रतिकार सोचो कि ऐसी कठिनाई आ गई तो अब कैसे करना चाहिए और आन्तरिक स्तर पर अध्यात्म दृष्टि से उसका सदुपयोग करना है। जिस अंश में यह आ गया है, उस अंश में मुझे त्यागी होना है, त्याग करके सचेत हो करके रहना है और आस्तिकता की दृष्टि से प्यारे प्रभु की कृपा का दर्शन करो।

और कभी-कभी मैं जब घबराती हूँ तरह-तरह की बातें जीवन में होती ही रहती हैं। तो कभी-कभी मैं जब घबराती हूँ तो पहले तो पुरानी आदत के अनुसार बुद्धि काम करने लगती है। तो

सोचने लगती हूँ कि अब कैसे करना चाहिए, अब कैसे करना चाहिए थोड़ी देर के बाद याद आता है कि अरे भई सर्व समर्थ अपना मालिक भी तो है उसकी शरण में रहने वाले को सारी जिम्मेदारी अपने पर नहीं लेनी चाहिए। तो फिर पूछने लगती हूँ कि महाराज अब बताओ इस प्रतिकूलता के द्वारा आप मुझे क्या सिखलाना चाहते हो? तो बैठ जाती हूँ। तो बड़ा आनन्द आने लगता है, शान्ति आने लगती है। तो सोचने लगती हूँ कि महाराज मुझे बताइए तो, मेरी समझ में नहीं आ रहा कि इस प्रतिकूलता के द्वारा आप कौन-सा पाठ मुझे पढ़ाना चाहते हैं। तो अगर उनकी याद आ गई, उनकी सामर्थ्य याद आ गई, उनकी महिमा याद आ गई, उनके संरक्षण में मैं हूँ यह बात याद आ गई तो फिर कठिनाई का भार अपने पर रहता कहाँ है? ऐसा मजा आ जाता है, इतना हल्कापन आ जाता है जैसे कि कभी कुछ हुआ ही नहीं।

यह आस्तिकता की दृष्टि से है दुःख के सदुपयोग की बात। तो ऐसे आप यहीं से शुरू करिए। छोड़ दीजिए देह की असंगता को, छोड़ दीजिए और ऊँची-ऊँची बातों को यहीं से शुरू करिए, कि मुझे देहातीत जीवन से अभिन्न होना है, तो संसार में आने वाली अनुकूलता और प्रतिकूलता का सदुपयोग करना है। इतनी बढ़िया साधना है और इस प्रकार से निरन्तर चलने वाली है कि इसके समान और दूसरी कोई प्रणाली आपको नहीं मिलगी। देहातीत जीवन का चिन्तन करो कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, इस सत्य को अपने में स्थापित करो। बहुत-सी बातें हैं, बहुत उपाय द्धषियों मनिषियों ने बताए हैं लेकिन चैबीस घण्टे में से घण्टे दो घण्टे के लिए बैठ करके हम विशेष प्रकार का चिन्तन करेगे, विशेष प्रकार की धारणा करेंगे, विशेष प्रकार की स्वीकृति करेंगे और घंटे दो घंटे की साधना करके उठेंगे तो फिर जैसे रहते हैं वैसे रहेंगे। अगर ये भ्रम अपने में है, तो कभी भी सुख-दुःख के पार पहुँचना सम्भव नहीं होगा।

मानव सेवा संघ के प्रणेता संत ने मनुष्य के स्वभाव को, उसके व्यक्तित्व को, उसके जीवन के दर्शन को, उसकी आस्तिकता को दृष्टि में रखकर के हम लोगों को साधना बताई। जब कभी इस तरह की चर्चा होती है और मैं कहती हूँ कि भाई ऐसे-ऐसे उपाय करने से यह काम बनेगा तो लोग सोचते हैं कि यह तो व्यवहार की बात हो गई कि सुख आएगा तो उसको बाँटेंगे और दुःख आएगा तो दुःख में त्याग करेंगे। तो यह तो व्यवहार की बात हो गई तो साधना के रूप मे तो कुछ बताया नहीं मानव सेवा संघ ने। तो सब सुनने के बाद कभी-कभी तो ऐसा मेरा दिल बैठ जाता है, घण्टा भर खूब जी-जान लगार करके कोशिश करके जितनी सच्ची बात मुझे मालूम हैं, परिश्रम पूर्वक सुना देती हूँ। बहुत लोग बहुत प्रसनन होकर उठकर चले जाते हैं। चलते समय कोई-कोई आकर कहेंगे कि बहनजी अब क्या करें, कोई साधना भी बता दो। बस मेरी हिम्मत हार जाती है, ठण्डा हो जाता है सब जोश। अरे बहन जी इतनी देर तक घण्टे भर मैंने आपको सुनाया तो सुनाया क्या? जो मैंने सुनाया वह साधना नहीं है क्या?

तो बड़ा एक अजीब तरह का विचार फैल गया है समाज में किसी साधना माने कोई विधि-विधान जो घण्टे दो घण्टे के लिए बैठ कर विशेष रूप से विशेष स्थान में विशेष प्रकार से करो तो उसका नाम साधना है और जो तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को बदल डाले, कभी भी जिससे

आपका साथ छूटे ही नहीं, उसको पता नहीं क्या मानते हैं?

अब सोच कर देखों कितनी बड़ी बात है। अगर सुख की दासता से मुक्त होना है तो सदैव आए हुए सुख को बाँटने के लिए तैयार रहो। यह साधना घण्टे दो घण्टे की है कि हमेशा की है? हमेशा की है। तो साधना जब अखण्ड होगी तभी न आपके अहम् का परिवर्तन कर सकेगी, नहीं तो कैसे करेगी? एक विदेशी महिला वृन्दावन आश्रम में आई, बहुत दिनों तक रही कुछ दिन माँ के यहाँ भी रही, कुछ दिन कहाँ रही, कहाँ रही। ऐसा होता रहा। तो उस महिला के मुख से मैंने सुन लिया। भारत में ही खास करके वृन्दावन में ही लोगों ने बताया होगा।

कोई उसको बढ़िया तरह से खाना खिला दे, तो वह बड़ी प्रसन्न होकर के कहे कि परमात्मा कितने दयालु है, बड़ी कृपा है उनकी। कोई उसके पसंद के लायक कपड़े लाकर पहना, दे तो बहुत आनन्दित हो जाए कितने दयालु हैं। और वह रहना चाहती थी यहाँ। प्दकपंद ळवअमतदउमदज ने उनको यहाँ रहने नहीं दिया। पूछा गया कि किसलिए रहना चाहती है, कैसे क्या है? उनसे प्दजमतअपमू लिया गया तो मालूम हुआ कि वे सुख-सुविधा बहुत पसंद करती है तो मगचमतज लोगों ने अपना विचार दे दिया सरकार को, सरकार ने उनको विदा कर दिया। तो कृपालुता, दयालुता जो भगवान की उन पर जमी हुई थी, सब खत्म हो गई बहुत दुखी हो गई, अधीर हो गई और चली गई।

तो आस्तिक होने के नाते आप सोचकर देखिए। अनुकूलता की घड़ी में अपने को प्रभु की कृपालुता का दर्शन होता है और जब वे परमहितकारी मेरे हित के लिए, मुझको सचेत बनाने के लिए, मुझको और अधिक कड़ी कसौटी पर कसने के लिए जब प्रतिकूलता के रूप में दर्शन देते हैं, तो आदमी घबरा जाता है। हाय भगवान ने ऐसा नहीं किया, हाय भगवान ने यह भी नहीं किया, हाय भगवान ने यह भी नहीं सुना। तो वे तो जैसे हैं वैसे हैं। मेरी तरह-तरह की भावनाओं से उनके स्वरूप में कोई फर्क नहीं आता और उनका जो एक अपने-पन का सम्बन्ध है हम लोगों के प्रति, उसमें कोई घाटा नहीं आता। वे अपनी तरफ से वैसे ही रहते हैं हमेशा लेकिन अपनी आस्तिकता की जाँच तो करो कि कहाँ तक हम आस्तिक हैं। अगर प्रतिकूलता आ गई और आस्तिकता के सत्य पर हम सब लोग अपने को सुख-दुःख के पार पहुँचाना चाहते हैं, तो उस प्रतिकूलता में भी कृपालु की कृपा का दर्शन नहीं करना चाहिए? जी करना चाहिए। तो उन पर आस्था अगर जम जाती, उनकी सामर्थ्य पर आस्था जम जाती, उनकी मंगलकारिता पर आस्था जम जाती, तो आई हुई प्रतिकूलता अपने को खटकती नहीं। तो मुझे खटके नहीं ऐसा तो नहीं होता है दुःख तो लग जाता है लेकिन जब चेतना आती है, तब मैं इन्तजार करती हूँ बैठ कर प्रतीक्षा करती हूँ कि महाराज किसी भी तरह से मुझे सुझाइए तो सही की यह किसलिए ऐसा वेश बनाया आपने, किसलिए यह परिस्थिति बनाई, इसमें मुझको क्या करना चाहिए? ऐसे संभाषण की तरह ध्वनि तो नहीं सुनाई देती है। कुछ साधक मुझसे पूछने लग जाते है आपने सुना क्या? आपको बताया क्या? कितने विविध प्रकार के साधक होते हैं कुछ कहा नहीं जा सकता। सो तो नहीं होता है लेकिन वे अंतःवासी, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ परमात्मा किसी न किसी रूप में रास्ता खोल ही देते हैं, हमें प्रकाश मिल ही जाता है कि अच्छी ऐसी

प्रतिकूलता मेरे सामने आई तो क्यों आई और इसके द्वारा मुझकों किस स्तर वे से मंगलकारी प्रभु और ऊपर उठाना चाहते हैं। यह बात अपने को मालूम हो जाती है और ऐसा करने का बल भी आ जाता है और आई हुई कठिनाई पर से दृष्टि भी हट जाती है।

मंगलमय प्रभु की मंगलकारिता पर दृड्ढि चली जाती है तो आनन्द भी भर जाता है और बहुत बार तो परिस्थिति भी बदल जाती है। महाराज जी ने कई बार इस बात का पूरा जोरदार विश्वास दिलाया है कि भैया तुम बदल जाओगे, तुम्हारी दृड्ढि बदल जाएगी तो सृड्ढि भी बदल जाएगी यह भी कहा है कि तुम्हारी दृड्ढि बदल जाएगी तो सृड्ढि भी बदल जाएगी। क्योंकि उनके संकल्प के बिना उनके संकेत के बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तो प्रतिकूल बन करके मेरे सामने कोई खड़ा हो गया है और मेरे हृदय में आस्तिकता है, मेरे जीवन में आस्तिकता है, प्रभु की मंगलकारिता में विश्वास हे तो जहाँ उस पर दृड्ढि गई नहीं तो उनको किसी को भी सद्प्रेरणा देने में क्या देर लगती है? जरा-सा इधर से उधर हुआ, बस बदल गई तो परिस्थिति भी बदल जाती है, आदमी भी बदल जाता है। सामने वाले का भाव और विचार भी बदल जाता है, बहुत सी बातें हो जाती हैं।

हम लोग कार में बैठकर यात्रा कर रहे थे, थोड़े दिन पहले की बात है तो बड़ी तेजी से गाड़ी चल रही थी और ऐक्सीडेंट हो गया गाड़ी का कुछ नहीं हुआ लेकिन एक आदमी को बुरी तरह से चोट लग गई। बस, हम तो एकदम घबरा गए गाड़ी जिसकी थी वे खुद ही हाँफ रहे थे। नए आदमी थे, युवक थे बिल्कुल 1.1 द्ध ने साल पहले विवाह हुआ था उनका, इंजीनियर थे तो वे भी नर्वस हो गए होंगे ऐसा मैंने अन्दाज लगाया और डर लगा मुझे कि ये घबराकर और 2-4 ंबबपकमदज न कर दें।

तो घबराहट में और कोई दूसरा उपाय तो था नहीं। हे दीन बन्धु, हे दीन बन्धु जितने लोग थे हमारे साथ, सब चिल्लाने लगे। 5 जने हम लोग थे 2 मानव सेवा संघ के कार्यकर्त्ता युवक लोग वे लोग मुझको पहुँचाने जा रहे थे और तीन जने हम लोग थे सो पाँचों चिल्लाने लगे, हे दीन बन्धु हे दीन बन्धु। उसको हम लोगें ने धीरे से कहा कि भैया घबराओ मत तुम गाड़ी चलाते ही चलो, रुको मत। नर्वस हो गया रोकने लग गया कि अब कुछ करना चाहिए तो हमने कहा कि चुपचाप तुम चलाते जाओ। सामने ही लोगों ने देखा कि स्त्री-पुरूष सड़क के किनारे-किनारे ईंट के पत्थर के टुकड़े जमा किए रहते हैं सड़क बनाने के लिए ढ़ेर लगा था और वहाँ कुछ लोग खड़े थे और हाथ में इतना-इतना पत्थर उठा कर वे लोग खड़े थे गाड़ी को मारने के लिए। हम ने कहा कि गाँव के लोगें ने यहीं पर टण्टा किया कि अब पार नहीं होने देंगे तो अब उपाय क्या? हे दीन बन्धु हे दीन बन्धु सब पुकारते रहे।

खूब एक स्वर में पाँचों पुकार रहे थे और मैंने देखा कि वेलोग निशाना लगा-लगाकर क्रोध के आवेश में आकर पत्थर लेके खड़े थे। सामने से गाड़ी निकली और किसी ने पत्थर डाला नहीं, हो गया। ऐसा होता है सुख-दुःख के पार जाना बहुत बढ़िया बात है। और सचमुच ऐसा न हो तो अविनाशी जीवन का कोई अर्थ ही नहीं निकलता, साधना और सत्संग का कोई अर्थ ही नहीं निकलता। ऐसे उच्चतम जीवन पर जिसकी दृष्टि जम जाए, उसको अपनी वर्तमान दशा को देख करके वहीं से आरम्भ करना चाहिए और बाहर

की कठिनाइयों में आकर के जैसे ही हम दीन बन्धु को पुकारते है, करुणा सिंधु को पुकारते हैं, उसी तरह से भीतर में भी कठिनाई आने पर आस्तिक अगर आप हैं तो उन परम कृपालु को याद करिए, उनकी कृपालुता की आवश्यकता अनुभव करिए, तो वे भीतर ही कठिनाइयों से ऐसे ही पार करते हैं। जैसे कोई बहुत बड़ी अनुकूलता अपने सामने आ गई, सुख अपने सामने आ गया और उसको छोड़ने में भीतर फिर दुर्बलता लग रही है। मौके आते हैं, जबकि सुविधा को आदमी पसंद कर लेता है तो व्यवहार के आदर्श को छोड़ देता है।

ऐसा हो जाता है कभी-कभी तो ऐसी संकट की घड़ी आए कि समझ में आए कि सत्य तो यह है और सुविधा यह है, तो विचार यह कहे कि सत्य आ अनुसरण करते जाइए और सुख की दासता खींच ले सुविधा की ओर, तो इस प्रकार का द्वन्द भी जब व्यक्ति के भीतर पैदा हो तो मैंने ऐसी कठिन घड़ियों में भी उन कृपालु की कृपा का प्रभाव देखा है। बाहर की कठिनाइयों को पार करना, यह तो अनेकों के जीवन में अनेकों प्रकार से होता रहता है। उससे ज्यादा महत्वपूर्ण भीतर के द्वन्द्व को मिटाने में उनको पुकारना। अपने भीतर का जो द्वन्द्व है उसका पता अपने को चलता है कि नहीं चलता है? चलता है। विवेक के प्रकाश में दिखाई देता है, कि सही बात यह है और सुख-सुविधा के आकर्षण में लगता है कि अगर इस सही बात का अनुसरण किया तो सुख-सुविधा चली जाएगी तो द्वन्द्व में पड़ जाता है आदमी।

ऐसे अच्छे-अच्छे उदाहरण और प्रत्यक्ष चित्रण मनोविज्ञान में व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति के है कि एक बार सत्य का प्रकाश जोर मारता है तो व्यक्ति उसकी ओर झुकता है और फिर उसकी सुविधा चली जाएगी तो कष्ट सहन करना मुश्किल लगता है, तो कहता है अच्छा रहने दो। ठीक है यह तो सिद्धान्त की बात है व्यवहार तो कुछ इससे अलग भी हो सकता है, तब इधर की ओर झुकता है तो ऐसे जब भीतर में द्वन्द्व हारे कि कभी-कभी जी चाहे कि अरे रहने दो, छोड़ दो उसको। सुविधापूर्वक दिन कट रहे हैं, कौन संकट में पड़े और कभी ऐसा लगे कि अरे भई अपने पास तो साधन हैं हमको तो सुविधा के पीछे नहीं जाना चाहिए हमें तो सत्य का पल्ला पकड़ना चाहिए तो इधर की ओर लगे।

तो इस तरह की जब भीतर में दुविधा है किसी भी साधक में और सबके मन में होती होगी। यह बात नहीं है कि किसी के हो किसी के न हो। साधारण स्तर के लोग है हम लोग। दुनिया में रहते हैं शरीर को लेकर के तो कोई अवसर ऐसा आता होगा। आपने भी इस तरह की द्वन्द्वात्मक मनोस्थिति का अनुभव किया होगा। आपने भी इस तरह की द्वन्द्वात्मक मनोस्थिति का अनुभव किया होगा। तो ऐसे कठिन संकट में भी जबकि दुविधा पैदा हो जाए भीतर, तब भी उस सामर्थ्यवान की शरण लेने से अपने को बल मिल जाता है, दुविधा मिट जाती है और सत्य का अनुसरण करने का बल आ जाता है। दोनों ही बातें होती है। तो किसी भी हालत में दुःख में किसी को घबराना नहीं चाहिए।

कठिनाइयों को साधन-सामग्री मानना चाहिए। और कठिनाइयों को साधन-सामग्री मान करके आप चलेंगे तो दिल छोटा नहीं होगा, दुर्बलता नहीं आएगी, घबराहट नहीं पैदा होगी, सही प्रतिक्रिया सूझेगी और वह दुर्बलता वह कठिनाई जो आई है वह आपको सुख-भोग से बचा करके, आपको शक्तिहीनता से बचा करके चेतना की ओर आगे बढ़ा देगी। तो

प्रारम्भिक उपाय तो यह है भाई। जो सुख-दुःख के चक्कर में पड़ा हुआ है, वह पार जाना चाहता है तो उसका यहाँ से आरम्भ करना चाहिए। और शक्ति बढ़ती चली जाएगी तो ज्ञान के पंथ का साधक होगा तो उसमें असंगता का बल बढ़ जाएगा और प्रेम-पंथ का साधक होगा तो उसमें समर्पण का बल बढ़ जाएगा। बढ़ जाएगा, रूकेगा नहीं दुर्बल से दुर्बल साधक भी। और वह जो ऐसा सोचे और भीतर यह चीज हो कि भई हम जो अब किसी न किसी प्रकार से सब तरह से उनके हुए बिना रह ही नहीं सकते हैं और उनके प्रेम के बिना इस जीवन को मैं सह ही नहीं सकता जो ऐसी अगर बात पैदा हो जाए, तो परमात्मा उसकी साधना की गणना नहीं करते है कि इसने कितनी साधना की ओर कितना बाकी है। और कितना पुरूषार्थ किया और कितना और चाहिए। यह हिसाब वे छोड़ देते है। जैसे ही आवश्यकता तीव्र हुई नहीं कि वे अपनी अहैतुकी कृपा से ही साधन को पूरा भी करा देते हैं, और वे उसको सिद्धि भी दिला देते हैं, उसको विश्राम भी दे देते हैं, उसको अपनी कृपा का दर्शन भी करा देते हैं, और फिर अपनी ही महिमा से उसे अपने प्रेम का पात्र बनाकर प्रेम के आदान-प्रदान का आनन्द लेते व देते हैं, ऐसा होता है। ऐसा अनुभवी जनों का अनुभव है।

ऐसा हम लोगों को भी अनुभव करके देखना चाहिए। स्वामी जी महाराज ने अपने पर अनुभव किया था और उन्होंने मानव सेवा संघ की प्रणाली में अमूर्त सत्य को मूर्तिमान करके एक प्रयोगशाला के रूप में मानव सेवा संघ संस्था बनाई। अनेक दुखी जीवन को इस प्रयोगशाला में डाल करके उनको दुःखरहित देखकर आनन्दित हुए। तो कोई भी कारण नहीं है कि हम सफलता से निराश हो अथवा सत्यपथ से कदम पीछे हटाएँ। ऐसा कोई कारण नहीं है।

स्वामी जी ने अपने पर भी प्रयोग किया अपना दुःख मिटाया और हमारी तरह न जाने कितने दुखी जीवन को अपने प्रयोग में लिया, उन पर सत्य का प्रयोग किया, प्रेम का प्रयोग किया, प्रभु-विश्वास का प्रयोग किया और उनके दुःखरहित आनन्दमय जीवन को देखकर आनन्द लिया। दोनों ही प्रकार की बातें हमारी जानी हुई हैं। अतः हम में से किसी भी भाई को, किसी भी बहन को देहातीत, दुःख-सुख से अतीत, आनन्द मय, प्रेममय जीवन से निराश नहीं होना चाहिए, कदम पीछे नहीं हटना चाहिए। इसके लिए सरल उपाय नहीं खोजना चाहिए। अपनी वर्तमान स्थिति में सरल-कठिन जो भी सम्भव हो सब सम्भावित पुरूषार्थ अपनी ओर से पूरा करो और जितना बाकी रहेगा वह मंगलमय प्रभु अपनी ओर से पूरा कर देंगे। समय हो गया, अब शान्त हो जाइए।

प्रवचन(12)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ बहनो और भाइयो!

हम सब लोग मानव-जीवन की मौलिक समस्या का समाधान कैसे हो, इस विषय पर विचार कर रहे हैं। बड़ी समस्या, मौलिक समस्या जिसके समाधान के बाद और कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। वह कौन-सी है? पहली बात यह है कि जीवन में हमने दुःख भी देखा और सुख भी देखा। दुःख को हमने नापसंद किया, सुख को पंसद किया परन्तु आज तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसको केवल सुख ही सुख मिला हो दुःख न मिला हो। तो दुःख की निवृति मानव-

जीवन की एक बड़ी समस्या है। सब प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाए, एक बात हो गई।

दूसरी बात क्या है, कि जन्म-मरण की बाध्यता अपने को पराधीन बनाती है, विवश बनाती है। असमर्थता सताती है इस सम्बन्ध में। मरना अच्छा नहीं लगता और अगर ऐसी प्रतिकूलता आ गई कि कोई मरना ही पसंद करता हो तो वह भी उसके वश में नहीं है। जीना चाहो तो अपनी खुशी से जी न सको, मरना चाहो तो अपनी खुशी से मर न सको। इस प्रकार की पराधीनता मनुष्य के जीवन में आती है, जिसको कि वह मिटाना चाहता है, पसंद नहीं करता है।

तो पराधीनता हमारी कैसे मिटे, यह एक मौलिक समस्या है। और तीसरी बात है प्रेम-पक्ष की। जीवन में रस का घट जाना, नीरसता का भर जाना किसी मनुष्य को पसंद नहीं है। तो क्या चाहिए अपने को? तो ऐसा जीवन चाहिए ऐसा जीवन चाहिए जिसमें किसी प्रकार को दुःख न हो? तो दुःखरहित जीवन की माँग है। परम स्वाधीनता की मांग है, सरस जीवन की मांग है और इन्हीं बातों को लेकर हम सब लोग अपने को साधक स्वीकार करते हैं और सत्संग के प्रकाश में आगे बढ़ना चाहते हैं। भूल क्या हो गई, क्यों हमें दुःख को सहन करना पड़ता है? तो इसलिए जो अपना होकर सदा के लिए रह नहीं सकता, उसको हमने अपना माना। इसको मानव सेवा संघ की भाषा में कहा जाता है विवेक-विरोधी सम्बन्ध। जो सदा के लिए अपना होकर नहीं रह सकता, उसको अपना मान लेना बहुत बड़ी भूल है।

इसी भूल से हमें संयोग में सुख मालूम होता है तो संयोग के साथ वियोग में बड़ा भारी दुःख मिलता है। विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो भी कोई व्यक्ति संयोग-जनित सुख को पंसद करेगा, उसे वियोग-जनित दुःख लेना ही पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है कि उससे वह बच सके। तो करना क्या चाहिए? विवेक के प्रकाश में जीवन की घटनाओं का अध्ययन करना चाहिए और यदि अपने को यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि जो सदा के लिए अपने साथ नहीं रह सकता, उसको अपना मानना भूल है। यह बात अगर मालूम हो जाती है, तो इस भूल को निवारण करना चाहिए अर्थात् इसका त्याग चाहिए। जो जानी हुई भूल का त्याग करना विकास का एक महामंत्र है।

बहुत बड़ी बात है। आपने और दूसरी-दूसरी साधन-प्रणालियों के बारे में भी सुना होगा, ऐसे साधन करो, ऐसे साधन करो। स्वामी जी महाराज ने साधन करने की बात नहीं कही। स्वामी जी महाराज ने कहा सत्संग करो। तो सत्संग करने से साधन अपने आप होगा। अर्थात् अपनी जानी हुई भूल का त्याग करो तो निर्भूल जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति होगी। निर्भूल जीवन में दुखों की निवृत्ति होगी। तो इस तरह से अपने लोगों को बहुत ही सामान्य ढंग से जीवन का आरम्भ करना है। निज विवेक के प्रकाश में अपना अध्ययन करना, यह मानव सेवा संघ का पहला नियम है। अपने आप को अपने विवेक के प्रकाश में देखिए और विवेक के प्रकाश में देखकर अपनी जो भूल मालूम होती हो, उस को छोड़िए तो ऐसी साधना दुर्बल-सबल, धनवान- धनहीन, बहुत पढ़ा-लिखा और बेपढ़ालिखा सबके किए यह सम्भव है।

इसमें बाहरी योग्यता और सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है। विवेक का प्रकाश मनुष्य के साथ जन्मजात है। जिन्होंने हमें जन्म दिया, जिन्होंने हमें जीवन प्रदान किया, उन्होंने विवेक

का प्रकाश आरम्भ से दिया ही है। उसी विवेक के प्रकाश में अपने को देखना और की हुई भूल को पुनः न दोहराना बहुत स्वाभाविक बात अपने लिए हो सकती है। तो यह एक उपाय है, जहाँ से हम जीवन में उत्थान आरम्भ करते हैं। तो दुःख-रहित जीवन मिले, इसके लिए अपने को इस ढ़ग से आगे बढ़ना चाहिए। पराधीनता का नाश कैसे हो? तो है तो बहुत बड़ी बात मुझमें, मैंने अनेक प्रकार के संकल्पों को रखा तो संकल्पों के परिणाम से मुझे शरीर धारण करना पड़ा। प्रकृति के विधान ने उदारता पूर्वक मुझे शरीरधारी बनाया।

किसलिए कि जिन संकल्पों को लेकर मुझे जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा है, उन संकल्पो को त्याग करके निःसंकल्प होकर जन्म-मरण की बाध्यता को मिटा सकें। तो जगह-जगह पर ऐसा वचन है महाराज जी का, कि भई अब सोच के देखो तो सही। आज हम लोग बैठे हैं, सब अपनी-अपनी उम्र का हिसाब लगा लो। किसी का कितना बीता किसी का कितना बीता और फिर ऐसा सोचिए कि जिन संकल्पों को रखने से मुझे जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा और जितना बड़ी जिन्दगी हमने बिताई, उसमें कमाया क्या? क्या उन संकल्पों का त्याग हमने कर दिया? आज क्या स्वयं अपना जीवन निःसंकल्प हो गया? ऐसा पूछिए और लगता है, कि अभी तक निःसंकल्पता नहीं आई है, तो फिर लम्बी जिन्दगी बिता करके अर्थ क्या निकला? अर्थ यही निकला कि संकल्पों को लेकर पैदा हुए थे, उन्हीं संकल्पों को रखे रहेंगे तो शरीर में से प्राण-शक्ति का ट्रास हो जाएगा, शरीर का नाश हो जाएगा और वह चक्र ज्यों को त्यों चलता रहेगा।

शरीरों के नाश से केवल स्थूल शरीर का नाश होता है, सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता है। मन का नाश नहीं होता और जो अतृप्त इच्छाएँ है और अनेक संकल्प हैं, वे मृतक प्राणी के साथ रह जाते हैं। स्थूल शरीर के नाश होने के बाद भी फिर क्या होता है? उन्हीं संकल्पों से प्रेरित होकर पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। यह विचार ऐसे तो अपनी परम्परा में हम लोगों को पहले ही से मालूम है। एक बिल्कुल भिन्न परम्परा के विचारक के साहित्य में पढ़ा मैंने। खलील जिब्रान एक बड़े दाशर्निक हो गए। उनके देश को नाम अब मैं भूल गई हूँ। तो उनके साहित्य में पढ़ा मैंने। विदाई की घड़ी में अर्थात् शरीर-त्याग करने के समय वे सत्संगी नगर निवासियों से बात कर रहे थे। तो बात करते-करते कहने लगे कि देखो भई, अगर हमने यहाँ पर, संसार में रहकर दुनिया में रहकर अपना काम पूरा कर लिया है, तो बहुत अच्छी बात है। बहुत शान्ति में हम रहेंगे और अपना काम हमने पूरा नहीं किया है, तो मेरी इच्छा-शक्ति पुनः मिट्टी-पानी इकट्ठा करेगी और फिर हम यहाँ आ जाएँगे। तो मुझे इतना आश्चर्य हुआ, मैं सोचा करती थी कि पुर्नजन्म की बात केवल अपनी ही परम्परा में है। ऐसा मैं सोचती थी। लेकिन उस साहित्य को पढ़ कर ऐसा लगा कि कोई भी विचारक, कोई भी दार्शनिक जिसको जीवन के सत्य का कुछ अनुभव हुआ है, वह इस बात को जानता है।

तो आज इस सन्ध्या-काल की इस बैठक में इसी विषय पर विचार कर लीजिए पूरा। हम लोगों ने पैदा होने के बाद से बहुत योग्यता भी सम्पादित की, बहुत प्रकार के काम भी किए, बहुत परिश्रम भी किया, कुछ सुख भी पाया, कुछ दुःख भी पाया। और आए थे बिल्कुल अकेले, नंग धड़ंग दुनिया में पैदा हुए थे और बहुत कुछ सामान अपने पास अब इकट्ठा हो गया है, बहुत मित्र हो

गए हैं, बहुत परिचित हो गए हैं, बहुत सम्बन्धी हो गए और अब धीरे-धीरे ढलान की ओर चल रहे हैं।

अब यह दशा हो रही है। अब क्या है, कैसे दिखाई देता है। तो जैसे उस एक लेखक की बात में गुनगुनाती हूँ कभी-कभी, याद आ जाता है मुझे। प् उमंद जीम चमंा ीपहीमेज चमंा व िउल सपमि ंदक दवू वदूंतके जीमतम ंतम कवूद ेसवचमे वद मअमतल ेपकम तो कवूद ेसवचम ेपकम दिखाई दे रहा है। अब सब तरफ से गिरावट आरम्भ हो गई है। अब भी सोच विचार कर देखिए, दुनिया में इतना हमने जो कुछ किया, उस करने-धरने का परिणाम अब अन्तिम घड़ी में क्या मिलेगा? अगर संकल्पों का त्याग नहीं किया, अगर निःसंकल्प नहीं हुए, निर्मम, निष्काम नहीं हुए तो क्या होगा? जिन संकल्पों को लेकर पैदा हुए थे, उन्हीं संकल्पों को लेकर शरीर का नाश हो जाएगा, तो उस संकल्प से प्रेरित हो करके फिर शरीर धारण करना पड़ेगा और इसी क्रम को पुनः पुनः दोहराना पड़ेगा।

बात समझ में आती है यह? जी! अब सोचो तो ऐसे देखने से बड़ी धूम-धाम लगती है कि हम बड़े कर्मठ हैं, कि हम बड़े सेवक हैं, हम बड़े गुणवान हैं, हम बड़े विद्वान हैं, हम बड़े श्रीमान हैं। ऐसे तो बाहर से बहुत धूमधाम लगती है लेकिन सचाई की दृष्टि से देखा जाए तो इन सारे वैभव में और धूमधाम के भीतर सचमुच में अपने को कुछ उपलब्ध हुआ क्या? अगर ऐसा विचार करेंगे तो लगता है कि निःसंकल्पता नहीं आई, शरीर धारण करने की आवश्यकता खत्म नहीं हुई, शरीर के माध्यम से संसार का सुख भोगने की वासना का अन्त नहीं हुआ, तो क्या हुआ फिर? जी, कुछ नहीं हुआ और दूसरी एक ओर बात है। स्वामी जी महाराज के मुख से भी मैंने सुना है और दूसरे संतों के मुख से भी सुना है कि केवल इतना ही नहीं है कि निःसंकल्पता नहीं आने से, संकल्पों का त्याग न करके, शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ने से फिर से जन्म लेना पड़ेगा, फिर सब प्रकार के सुख-दुःख का भोग करना पड़ेगा, फिर मरना पड़ेगा इतना ही नहीं है।

इसके भीतर एक और रहस्य है। और वह रहस्य यह है कि अनुभवी संतजन यह बताते हैं कि इस बार जो हम लोगों को परिस्थितियाँ मिली, जैसा शरीर मिला, जितनी समझ-बूझ मिली, जितनी चेतना मिली यह सब लेकर के अगर निर्मम, निष्काम होना, निःसंकल्प होना और जन्म-मरण की बाध्यता को छोड़कर स्वाधीन होना इस दिशा में अगर हमने कदम आगे नहीं बढ़ाया तो आगे इतनी सामर्थ्य भी मिलेगी कि नहीं मिलेगी। घट जाती है। महाराज जी ने बारम्बार इस वाक्य को दोहराया है और उनके साहित्य में भी लिखा है कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करोगे तो परिस्थिति बदल जाएगी।

प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करोगे, तो सामर्थ्य घट जाएगी और ऐसी ही चर्चा एक बार हो रही थी बलरामपुर में और मैं यूँ ही बोल रही थी। सत्संग-सप्ताह हो रहा था, तो महाराज जी के साथ एक-दूसरे संत भी बैठे सुन रहे थे। जब मेरा बोलना खत्म हो गया, बहुत प्रसन्न हो गए। बेटा खूब बोलो, खूब कहो, खूब बताओ ऐसा करके प्यार देने लगे, आशीर्वाद देने लगे और उसके बाद कहने लगे कि बात बिल्कुल सही है अगर आज इस वर्तमान में जितनी चेतना है, जिनती शक्ति है उसका सदुपयोग करके अविनाशी स्वाधीन जीवन की ओर आगे बढ़ जाएगा तो घुन लग जाएगी। धुन उनकी अपनी भाषा है, उसका अर्थ यह था कि

जड़ता बढ़ जाएगी, मानवता घट जाएगी, पशुता बढ़ जाएगी ऐसा उन्होंने कहा। और भी एक दार्शनिक प्रणाली जो महाविद्यालय में पढ़ाई जाती थी हमारे समय में, उसमें भी इस तरह की बात आई थी। तो ऐसी भी यह बात सूझती है अपने को कि अपने पास सचमुच अपना करके कुछ नहीं है।

विवेक का प्रकाश है, वह भी अनन्त प्रकाशवान में से आ रहा है। हृदय में प्रेम का भाव है, तो प्रेम का भाव भी हम लोगों ने किसी फैक्ट्री में उपजाया नहीं है, दूकानों से खरीदा नहीं है, अपना बनाया हुआ नहीं है। वह भी जो संसार को बनाने वाला है, वह भी जो सृष्टि का मालिक है, उस प्रेमस्वरूप परमात्मा में से ही यह प्रेम का भाव भी अपने पास आया है। और कुछ करने की सामर्थ्य अपने पास है, तो वह भी अनन्त सामर्थ्यवान परमात्मा में से ही अपने को मिला है। तो विवेक का प्रकाश एक मौलिक तत्त्व है, जो हर व्यक्ति के साथ है। प्रेम का भाव एक अविनाशी तत्त्व है, जो हर व्यक्ति में विद्यमान है।

और कुछ न कुछ करने की सामर्थ्य सबके पास है, वह भी अनन्त सामर्थ्यवान का ही है। तो सच पूछिए तो भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीरों में भी हम लोगों का अपना करके कुछ नहीं है। यह सब मिला हुआ है। और विवेक का प्रकाश, प्रेम का भाव और सामर्थ्य यह सब भी जीवनदाता और जन्मदाता का दिया ही हुआ है। तो कभी-कभी मेरे ध्यान में आता है कि सचमुच जिन्होंने सृष्टि बनाई, जिन्होंने मुझे बनाया उनके दिए हुए तत्त्वों का सदुपयोग करके अपना दुःख मिटा लेना, अपनी पराधीनता मिटा लेना, अपना उद्देश्य पूरा कर लेना यह सब अपने लोगों के लिए बहुत जरूरी बात है। नहीं तो दाता ने दिया और उस पर मेरा ध्यान नहीं गया, दाता ने दिया मेरी सब समस्याओं का समाधान करने के लिए और मैंने लापरवाही की, तो दिया हुआ अवसर निकल गया, समस्या मेरी जैसे के तैसे रह गई तो इसी के लिए महाराज जी ने कहा कि अगर प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करोगे, तो सामर्थ्य घट जाएगी।

तो बात मुझको ठीक लगती है। उन संत ने कहा कि घुन लग जाएगी, तो उसका अर्थ मैंने ऐसे ही निकाला। इसलिए सत्संग में शामिल होकर हम सब लोग स्वामी जी महाराज के वचन को सुन रहे हैं और बहुत अच्छी-अच्छी बातें सामने आती हैं, जिनको सुनकर, जिनको समझ कर बहुत आराम लगता है भीतर। इसी प्रकार से यह चर्चा जब पूरी हो जाए और रात्रि के समय भोजन आदि सब जो काम जरूरी है सब खत्म करके आप अपनी-अपनी जगह पर विश्राम के लिए बैठें तो एक बार सोच करके देखिए तो सही। यह जो जीवन की यात्रा हमने पूरी की 60 की, 70 की, 80 की, 90 की या 100 बरस की और 60 से नीचे भी समझ लो तो थोड़ा भी समझ लो, वैसे भी समझ लो जिस-जिस मात्रा में भी हमने जीवन की यात्रा पूरी की उस-उस क्रम के बीच में अगर यह उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तो फिर बहुत सजगता आती है इस बात पर ध्यान जाने से। एकदम से चेतना आती है, कि वस्तुतः अभी तो कुछ भी नहीं हुआ।

तो इच्छाओं का, कामनाओं का नाश करना, ममता को मिटाना, सब तरह के संकल्पों से निःसंकल्प होना अपने को आवश्यक मालूम होता है कि नहीं? जी, होता है, और बड़े दुःख की बात है, आप भाई-बहन तो अपना हाल आप जाने लेकिन मैं अपना हाल स्वयं जानता हूँ कि अभी भी कोई बात सामने आ जाए तो संकल्प-पूर्ति के लिए अनुकूलता हो परिस्थिति में, तो पूर्ति पर ध्यान

पहले जाता है, निवृत्ति पर पीछे जाता है अगर अनुकूलता है तो, अनुकूलता न हो तो बात दूसरी है। तब भले ज्ञान के सहारे अपने को समझा कर, शान्त करके, नहीं-नहीं छोड़ो, ऐसे संकल्प को रखने से कोई फायदा नहीं है। तो संकल्प दिमाग में रहेगा तो शान्त नहीं रहने देगा, भगवान् की याद नहीं आने देगा। तो समझा लो तो अच्छी बात है, बुरी नहीं है। लेकिन अगर संकल्प-पूर्ति की परिस्थिति दिख रही है, तो पहले इस बात पर ध्यान जाता है कि संकल्प पूरा हो जाए और फिर बाद में सोच समझ कर याद आता है कि भई एक संकल्प की पूर्ति तो न जाने कितने संकल्पों को जन्म देगी तो भई उसकी पूर्ति के महत्त्व को छोड़ो, तो निवृत्ति की बात पीछे आती है, पूर्ति की बात पहले आती है।

बड़ा घाटा है, बहुत बड़ा घाटा है। इसकी जगह पर यदि हम लोग सावधान रहें किस दिशा में, तो स्वामी जी महाराज ने बहुत सहज बना दिया कि ज्यादा इसके छानबीन में मत लगे रहो। हर समय इसी के पीछे पड़े रहो, सोचते रहो तो बहुत कठिन हो जाएगा। तो उन्होंने सहज बना दिया, कहा कि परिवार में रहना हो अथवा समाज में रहना हो अथवा आश्रमों में रहना हो, चाहे कहीं भी रहो तो अगर निकटवर्ती जनसमुदाय के साथ मिलकर रहने में सकल्प उठते हैं, तो विचार कर लो कि कोई संकल्प ऐसा है, जो हमारे व्यक्तिगत सुख से संबंध रखने वाला है और कोई संकल्प ऐसा है जो सामूहिक हित से सम्बन्ध रखने वाला है। इतना तो मालूम हो ही जाएगा। तो अगर अपने व्यक्तिगत सुख का संकल्प है तो उसकी पूर्ति के लिए उसका समर्थन कभी नहीं करना चाहिए साधक को।

यहाँ से हमारा काम आरम्भ होगा। अब देखिए भूखे नंगे रहने की बात नहीं है कि खाना छोड़ दो, कि कपड़ा छोड़ दो, कि घर में रहना छोड़ दो, इससे काम नहीं बनेगा लेकिन जब सवेरा हुआ, सो करके जगे और प्रवृत्ति की ओर आगे बढ़े, तो विविध प्रकार के संकल्प आते हैं साधक के जीवन में। बुरे संकल्पों का तो कोई स्थान ही नहीं है कि किसी को नुकसान पहुँचा दे, कि किसी का कुछ बिगाड़ दे ऐसी बात साधक के जीवन में आती ही नहीं है। जिसको अपना कल्याण अभीष्ट है वह कैसे किसी को हानि पहुँचाने की सोचेगा? वह तो सोचेगा ही नहीं लेकिन जहाँ तक हानि नहीं पहुँचाने वाले संकल्प हैं ऐसे संकल्पों की पूर्ति का सुख की साधक को उसके लक्ष्य से दूर कर देता है। तो महाराज जी ने बताया कि भई सामूहिक-हित का संकल्प हो तो उसकी पूर्ति के लिए प्रयास करो। हो जाएगा तो बहुत अच्छा है, नहीं होगा तो कोई चिंता की बात नहीं है। और व्यक्तिगत सुख-सम्मान के लिए किसी संकल्प को लेकर चलोगे, तो उस संकल्प में तुम बँध जाओगे।

तो कहाँ से आरम्भ करना पड़ेगा संकल्पों का त्याग? तो हम विचार करेंगे ही कि कैसे-कैसे हमारे संकल्प पूरे हो सकते हैं। इस फेर में पड़े रहे काम करते समय, व्यवहार करते समय, परिस्थितियों को देखते समय इस बात पर ध्यान रहे और सुबह शाम 1/2-1/2 घण्टे के लिए चुपचाप बैठकर समाधि का आनन्द लेना चाहे तो कभी सम्भव है? नहीं होता है, होता ही नहीं है, किसी प्रकार होगा ही नहीं। इसलिए मानव सेवा संघ में सम्पूर्ण जीवन को बदलने का उपाय आरम्भ से ही बताया महाराज जी ने। शरू में ही करने के लिए कहा कि भाई देखो, अपने संकल्पों को रखकर ही जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा

और फिर उन्हीं संकल्पों की पूर्ति का सुख पसंद करते रहोगे, तो उन्हीं संकलपों को लेकर मरना पड़ेगा तो वही क्रम चलता रहेगा। जन्म-मरण की बाध्यता समाप्त हो नहीं सकती है। यह दूसरी बात हो गई।

अब तीसरी बात क्या है? जीवन में रस की अभिव्यत्तिळ और सफलता घट गई तो क्यों? जो अपना नहीं है, उसको मानने से संतुष्टि नहीं होती है। जिसको अपना माना उससे कुछ चहाने से असंतोष रहता है। एक जगह पर महाराज ही ने ऐसा वाक्य लिखा है, कि चाहने वाले को चाहना पशुता है। एक सज्जन यह वाक्य लेकर मेरे पास आए, कहने लगे कि बहन जी, महाराज जी इस वाक्य का अर्थ समझ में नहीं आता है कि चाहने वाले को चाहना पशुता है यह लिखा है। तो फिर मैंने उनसे बातचीत की, उनको बताया कि व्यत्तिळयों से सम्बन्ध हम बनाते हैं, क्यों बनाते हैं। भई? तो अपने में अधूरापन लगता है, ऐसा लगता है कि शरीर को लेकर संसार में रहना है तो 2-4 दस बीस से सम्बन्ध बनाए बिना, उनका सहयोग लिए बिना निर्वाह होगा नहीं। तो सम्बन्ध बनाया ही मैंने इस उद्देश्य को लेकर कि जिससे सम्बन्ध बनाएँगे उससे कुछ ले करके अपना निर्वाह करेंगे तो चाहना हो गया न। अच्छा, अब जिससे सम्बन्ध जोड़ा वह भी हमारी ही तरह से चाह से और कामना से इच्छाओं से प्रेरित है, तो वह चाहता है कि आज से सम्बन्ध बनाएँगे तो आप उसकी जरूरत पूरी करेंगे और आप सोचते हैं कि उससे सम्बन्ध बनाएँगे तो उससे कुछ लेंगे, तो हमारा काम चलेगा। तो दोनों ही फँसे और मेरी ही तरह जो अधूरेपन से पीड़ित है, मेरी ही तरह जो कामनाओं से, आसनाओं से पीड़ित है, वह क्या हमारी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है? जी, नहीं कर सकता है।

इसलिए स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि चाहने वाले को चाहना पशुता है। बहुत तीखी बात है और सजग साधकों के दिल को हिलाने वाली बात है। सजगता रहनी चाहिए इस प्रकार की। तो इसलिए नीरसता का नाश ही नहीं होता क्योंकि हम आशाएँ करते रहते हैं और निकटवर्ती प्रिय कुटुम्बी जन, निकटवर्ती समाज के लोग उन आशाओं की पूर्ति में असमर्थ प्रमाणित होते हैं, तो कभी क्रोध आ गया, कभी क्षोभ आ गया, कभी दीनता आ गई, कभी परेशानी हो गई और इन सब विकारों के फलस्वरूप हृदय का जो रस है वह सूखता चला जाता है। हृदय शुष्क और कठोर बनता चला जाता है। तकलीफ बढ़ती जाती है, शान्ति घटती जाती है, स्थिरता घटती जाती है और इतनी अधिक गतिशीलता भीतरी और बाहरी सभी शत्तिळयांे से आ जाती है कि व्यत्तिळ बेचैन हो जाता है।

स्वामी जी महाराज ने सलाह दी हम लोगों को कि भई तुम इस प्रकार से विचार करो कि यह सारी सृष्टि मिलकर के तुम्हारी जो जरूरत है, उसको पूरी करने में असमर्थ है। तुम्हारी जरूरत क्या है? तुमको चाहिए अनन्त रस। तुमको ऐसा रसरूप जीवन चाहिए कि जिस रस का कभी नाश न हो, कभी घटे नहीं ऐसा रस चाहिए, तो ऐसा रस संसार नहीं दे सकेगा। जो खुद ही नीरसता से पीड़ित है, वह कहाँ तक तुमको सरसता दे सकेगा। जो खुद ही कामनाओं से पीड़ित है, वह कहाँ तक तुम्हारी इच्छाओं की पूर्ति कर सकेगा। इसलिए संसार से उसकी आशा मत करो। तब किससे करें, भई, कौन कर सकता है? अपने आप में तो बहुत ही नीरसता सता रही है।

तो विश्वासी जन ने जिसे परमात्मा कह कर सम्बोधित किया, वह जो नित्य तत्त्व है, अविनाशी तत्त्व है, वह जो परमात्मा है वही रस का भण्डार है, वह ही रस का अगाध सागर है, उसी से विमुख हो जाने के कारण जीवन में नीरसता सता रहीं है। यह बात बहुत दिनों के बाद मेरी समझ में आई। बहुत दिनों के बाद यह समझ में आया कि नीरसता क्यों हैं?

तो पहले पहल जब अपनी दशा का परिचय मुझे मिलने लगा तो मैं बनाने वाले पर बहुत नाराज रहती थी, कि तुमने कैसा बनाया है कि किसी प्रकार से भीतर से संतुष्टि होती ही नहीं है। कितना भी पहन लो, कैसा भी खा लो, कितना भी खेलो और कितना भी मंनोरजन का उपाय करो किसी तरह से संतुष्टि होती ही नहीं है। छोटी उम्र की बात है। सखी सहेलियों का साथ झूलाझूल रही हूँ, गुड़िया खेल रही हूँ और उसमें भी जितना मजा आए तो थोड़ी देर बाद भीतर से ऐसा लगे कि बस हो गया, इतना ही मजा है और इसके आगे तो नहीं है तो एकदम धरती पर पाँव रोक करके झूला को रोक कर बीच में और भीतर-भीतर मैं सोचने लगती कि पूरा आनन्द तो नहीं आया। बस झूला में इतना ही सुख है इससे ज्यादा तो है नहीं।

और कहाँ है इससे ज्यादा सुख और कहाँ है? पता ही नहीं कहाँ है? तो फिर बनाने वाले पर क्रोध कि तुमने कैसा बनाया कि किसी भी उपाय से प्रसन्नता होती ही नहीं है, मजा आता ही नहीं है। तो यह नीरसता की जो अपनी घड़ी है, इसका परिचय सभी भाई-बहनों को होता है। स्वामी जी महाराज के पास आने के बाद मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिला, कि भई जो अपना नहीं है, जो सदा के लिए अपने साथ रह नहीं सकता है, उसकी संगति से तुम रस चाहते हो। कभी होगा नहीं। समस्या स्पष्ट हो गई, अपनी भूल का पता चल गया। उपाय क्या है?

तो उपाय यह है कि जो अपना नहीं है, अपना होकर रह सकता नहीं है, उससे सरसता की आशा मत करो। फिर बिना देखे, बिना जाने रस स्वरूप परमात्मा विद्यमान है, उससे बिछुड़ जाने के कारण, उसको भूल जाने के कारण, उससे विमुख हो जाने के कारण भीतर-भीतर यह हृदय की प्यास जो है वह सताती रहती है। रस की अभिव्यत्तिळ के बिना नीरसता का नाश होता नहीं है। तो क्या करना चाहिए? करना यह चाहिए कि जो सृष्टि दिखलाई दे रही है, उसकी तो सेवा करो और सेवा के बदले में उससे कुछ चाहो मत और जो परमात्मा सुनने में आया, देखने में नहीं आया, जानने में नहीं आया। है तो सही, लेकिन अपने पास उसको देखने के लिए जो प्रीति-भरी दृष्टि चाहिए वह दृष्टि नहीं है। इसलिए उपस्थित होते हुए भी वह दिखता नहीं है। तो नहीं दिखता है, तो इसकी चिंता मत करो। अनुभवी जनों का वाणी को स्वीकार करो गुरु के वाक्य को स्वीकार करो, वेद के वाक्य को स्वीकार करो कि वह है और रस स्वरूप वही है और वही रस का स्त्रोत है, वही जीवन का आधार है। तो जब उसे अपना मानना स्वीकार करो तो इससे तुम्हारे भीतर रस की अभिव्यत्तिळ होगी। और जब परमात्मा के सम्बन्ध से जीवन में रस की अभिव्यत्तिळ होती है तो नीरसता का नाश होता है। तो नीरसता का नाश कैसे हो इसका उपाय उन्होंने बताया कि रस स्वरूप परमात्मा को अपना मानो। वही अपना है और कोई अपना हो ही सकता है।

पराधीनता का नाश कैसे हो इसका उपाय बताया कि अपने को निर्मम, निष्काम और निःसंकल्प बना लो और सर्वदुखों की निवृत्ति कैसे

हो इसका उपाय बताया कि नाशवान के संयोग-जनित सुख का त्याग करो तो उनका दुःख भी मिट जाएगा, पराधीनता भी मिट जाएगी, नीरसता भी मिट जाएगी। और ऐसा कह रहे हैं महाराज कि जैसे दूसरों के काम आए बिना करने का राग मिटता नहीं है, अचाह हुए बिना शान्ति मिलती नहीं है और प्रभु को अपना माने बिना प्रेम-रस की अभिव्यत्तिळ होती नहीं है। तो ये ऐसे मंत्र है जो किसी भी युग में, किसी भी देश में, किसी भी मजहब के मानने वाले व्यत्तिळ को सफलता दे सकते हैं।

और अगर इन बातों को ग्रहण नहीं किया जाए, इसके अनुसार अपने को चलाया न जाए तो किसी और विधि-विधान से ये बातें पूरी हो जाएँगी, सम्भव नहीं है। तो कहाँ-कहाँ आदमी अटकता रहता है, किस-किस विधि-विधान में फँसा रहता है और जीवन की समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रह जाती है और घड़ियाँ जल्दी-जल्दी निकल जाती हैं और काम रह जाता है शेष। तो हम लोगों को ऐसी असफलता न देखनी पड़े, इस बात के लिए स्वामी जी महाराज को बहुत चिन्ता थी। आखिरी क्षणांे में जब हम प्रार्थना करते उनसे, कि महाराज विश्राम लीजिए, अब तकलीफ मत कीजिए, अब मत बोलिए तो अत्यंत अधीर होकर, बिल्कुल व्याकुल होकर गदगद कंठ से भरे हुए कंठ से कह देते, कि मेरे चारों ओर खड़े हुए मित्रों में से एक भी पराधीन दिखाई देता है, तो मैं विश्राम कैसे लूँ, ऐसा कह देते। उन संत की सद्भावना हम लोगों के साथ है और यही अवसर है, यही वर्तमान है, इसी में निकल चलें तो बात बन जाए और नहीं तो जो हो रहा है सो तो हो ही रहा है। अब शान्त हो जाएँ।

प्रवचन(13)

कुछ प्रश्न हैं मेरे पास। एक-एक करके सब प्रश्न सुना दूँगा। कर्त्तव्य से योग की प्राप्ति क्या सम्भव है? तथा कर्त्तव्य करने के लिए किन-किन तथ्यों का आवश्यक रूप से पालन अनिवार्य है, कृपया करने के लिए विवेचन करें। किसके विश्वास भरोसे हूँ, कैसे पता चले, मेरा विश्वास किसमें है? मैं किसके भरोसे हूँ, आप बताइए मुझको। पूज्य दीदी, मूक सत्संग में बैठे हुए काल में अभ्यास वश अगर अपने इष्ट मंत्र का स्मरण होने लगे अथवा अपने इष्ट का श्री विग्रह सामने आ जाए तो उस क्षण क्या करना चाहिए, कृपया इस समस्या का समाधान करें। असाधन क्या है? असाधन के त्याग में साधन की अभिव्यत्तिळ है कृपया दृष्टान्त सहित इसका स्पष्टीकरण कीजिए। साधक के लिए असाधन का त्याग या साधन का ग्रहण इनमें कौन अधिक महत्त्व का है, इसे कहाँ से प्रारम्भ करना चाहिए। साधन शब्द प्रयत्न का द्योतक है फिर साधक को अप्रयत्न होने का उपदेश क्यों?

पूज्यनीया माता जी, सादर प्रणाम। मन और विषय निर्गुणात्मक होने के कारण ऐसे मिले हुए है कि इनका पृथक् होना नितान्त कठिन है। विषय वासनाएँ मन में ओत प्रोत है और मन समाया हुआ है विषयों में। जब तक इनकी पृथकता न हो तब तक जीवांे को सुख-शान्ति मिलनी क्योंकर सम्भव है? अतः कृपया यह बताने का कष्ट करें कि यह मन विषयों से पृथक् कैसे हा? यदि भौतिक अभाव के कारण जो मन के अन्दर मूढ़ता, काम, क्रोध, मोह, लाभ, मद, मत्सर अथवा राग-द्वेष आदि है। अतः भौतिक अव्यवस्था के कारण जो अभाव है, उसका अभाव कैसे हो? श्री

स्वामी जी महाराज ने एक स्थल पर जीवन-दर्शन में लिखा है सूत्र रूप कि सुख का भोगी दुःख से नहीं बच सकता है। इस पर प्रकाश डालने की कृपा करें। ठीक है। सब प्रश्नों के प्रश्नकर्त्ता मौजूद हैं?

स्वामी जी महाराज ने एक स्थल पर कहा है कि सुख का भोगी दुःख से नहीं बच सकता, तो इसको मैं स्पष्ट करूँगी, मैं प्रमाणित करूँगी, कि आपका अपना जीवन इसका प्रमाण है। जिन अंशो में सुख लिया है और सुख लेना चाहते हैं तो उन अंशो में कभी दुःख मिला कि नहीं मिलाा? तो मुझसे प्रमाण क्यों माँगते हो भाई। संत की वाणी प्रमाणित हो गई कि जो भी कोई किसी प्रकार का सुख लेना पसंद करेगा उसको दुःख भोगना ही पड़ेगा। उदाहरण मैं दे दूँ भई। आप स्पष्ट करवाना चाहते हैं तो उदाहरण यह है कि शरीरों की सहायता से ही सुख लेते है हम लोग। सब प्रकार का सुख शरीरों की सहायता से ही सम्भव होता है। तो जो लोग सुख भोगते हैं शरीर के माध्यम से, उनको शारीरिक रोग, शारीरिक वृद्धावस्था और शरीर के नाश का, जिसका नाम मृत्यु है, इसका दुःख सहना पड़ता है कि नहीं? रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु इन तीनों की पीड़ा से सुख भोगने वाला बच सकता है? नहीं बच सकता। तो प्रमाणित हो गया कि सुख का भोगी दुःख से नहीं बचेगा। ठीक है न? तो अब इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लोग हमेशा के लिए दुःख के भोगी ही बने रहें। इसका अर्थ यह है कि सुख भोगना बन्द कर दें और देह की पराधीनता मिट जाए, तो दुःख का दर्शन नहीं होगा।

कैसे नहीं होगा? जिन महापुरुषों ने विचार के आधार पर शरीरों से असंगता प्राप्त कर ली और जिन महापुरुषों ने विश्वास के आधार पर प्रभु से आत्मीयता प्राप्त कर ली तो जिन्होंने ऐसा कर लिया उनके सामने रोग, मृत्यु और वृद्धावस्था का दुःख नहीं आया। आप कहेंगे कि अमर हो गए? तो शरीर अमर नहीं हो गया वे स्वयं प्रेमस्वरूप होकर के अमर हो गए और उस प्रम-रस में उनको इतना आनन्द था कि कहाँ नाड़ी छूट रही है, कहाँ हृदय-गति बन्द हो रही है, कहाँ शरीर ठण्डा हो रहा है इनको पता नहीं चला। तो शरीर का नाश हम लोग नहीं रोक सकते हैं, शरीर के नाश के भय का नाश कर सकते हैं। समझ में आया कि कर्त्तव्य से योग की प्राप्ति क्या सम्भव है। तो अब तक आपने जो कर्त्तव्य-विज्ञान सुना मानव सेवा संघ का और योग की बड़ी ही प्रामाणिक पुस्तिका है पातंजलि योग-सूत्र उसमें महर्षि पातंजलि ने योग के बारे में बहुत-सी बातें लिखी है। उसमें उन्होंने भी चर्चा की है कि कार्य-कुशलता योग है। अगर आप शास्त्रीय बातों का आधर लेते होंगे तो महर्षि पातंजलि का वाक्य सुन लीजिए पढ़ लीजिएगा। और मानव सेवा संघी है तो संघ का सिद्धान्त सुन लीजिए और मानस के प्रेमी है तो गोस्वामी तुलसीदास जी के वचन याद कर लीजिए। कर्म से विरति लिखा है उन्होंने। मनुष्य के जीवन में कर्त्तव्य की प्रधानता है और सचमुच जो कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है, उसमें शान्त रहने की क्षमता पैदा हो जाती है। आप कहते हैं कि क्या सम्भव है? तो मैं कहती हूँ कि सम्भव है। और कर्त्तव्य करने के लिए किन-किन तथ्यांे का आवश्यक रूप से पालन अनिवार्य है, तो मानव सेवा संघ में 4 तथ्य बताए के विज्ञान में।

एक तो यह बताया कि लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करो। दूसरा यह बताया कि भाव की पवित्रता रखो। और तीसरा यह बताया कि फलासक्तिळ का त्याग करके कर्म करो। और चैथा

यह बताया कि पूरी शक्तिळ लगा कर ठीक विधि से करो। तो विधि-पूर्वक काम करना, पवित्र भाव से काम करना, निष्कामता पूर्वक काम करना और लक्ष्य पर दृष्टि रखकर काम करना। इन चारों बातों का पालन करते हुए जो लोग अपना कर्त्तव्य निभाते हैं, उनको कर्त्तव्य के अन्त में स्वतः अन्दर से शान्ति अनुभव में आती है और उस शान्ति में वे स्थित हो जाते हैं। यह सच्ची बात है। प्रश्न-कर्त्ता में और कोई संदेह पैदा हो तो बताएँ। संतोष हुआ कि और कुछ जानना चाहते हो? जलचम करने बैठो तो जो शब्द जिस ढंग से करना है उसके बदले में उलटे पुलटे अक्षर के बटन दबाते रहो तो यह गलत विधि है। खेती करने चलो तो जिस मौसम में, जिस समय पर, जिस ढंग से खेत की सफाई, बीज डालना चाहिए, उल्टा-सीधा करते रहो तो यह गलत ढंग है। और ठीक समय पर पूरा श्रम लगाकर ठीक तरह से उसका सम्पादन करो, तो वह सही विधि है। तो विधि तो हर जगह ठीक तरह से काम करने की है ही। जो काम जिस विधि से करना चाहिए उसको ठीक विधि कहते हैं। भाव की पवित्रता का कर्त्तव्य से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। और वह क्या है, कि हर एक काम को करने में भाव की पवित्रता सुरक्षित रखो। इसका अर्थ है कि काम करते समय इस बात का ध्यान रखो कि मेरे इस कर्म से किसी को कष्ट तो नहीं पहुँचेगा। छल-कपट वाली बात तो तुम्हारी व्यक्तिळगत हो गई । निश्छल होकर के , निष्कपट होकर के करोगे। ऐसे काम का सम्बन्ध हमेशा समाज से होता है। ठीक है न? जैसे मैं बैठ कर बोेल रही हूँ तो बोलने की जो क्रिया है, इसका सम्बन्ध व्यक्तिळगत नहीं है।

अकेला आदमी अपने को क्या बोलेगा। तो बोलने की जो क्रिया है, उसका सम्बन्ध सारे समाज से है। हाॅल में सत्संग होगा। कल से यहाँ हम लोग बैठेंगे तो इसकी सफाई करनी है, इसकी बिछाई करनी है मामूली सा काम है न, तो इस काम का सम्बन्ध सफाई और बिछाई करने वाले के व्यक्तिळगत जीवन से नहीं हैं, समूह से है। बहुत से लोग आएँगे बहुत से लोग बैठेंगे, सत्संग होगा तो तुम देखोगो कि मनुष्य के जीवन में प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध अन्य व्यक्तिळयों से होता है, अन्य शरीरों से होता है। तो इसलिए मानव सेवा संघ ने नियम बनाया कि जो कर्त्तव्यनिष्ठ होकर के योग प्राप्त करना चाहता है, उसको प्रत्येक कर्त्तव्य के पीछेे भाव की पवित्रता रखनी चाहिए। क्या करना चाहिए? काम करते समय याद रखना चाहिए कि मेरे इस काम से किसी को तकलीफ तो नहीं होगी। अगर तुम कष्ट नहीं दोगे किसी को अपने काम से, तो तुम्हारे काम के द्वारा हमेशा दूसरों को आराम मिलेगा, सहायता मिलेगी। तो भाव की पवित्रता का अर्थ यह है कि अहितकर काम मत करो, कभी मत करो। किसी के लिए अहितकर काम मत करो। ऐसी आशा है कि ऐसा करने वाले आप लोग नहीं है, साधक काटि के लोग हैं। अपनी साधना की दृष्टि से सेवा करते हैं। फिर भी उनके भीतर इतनी सी आशा है कि जब सत्संगी भाई-बहन लोग आएँगे और कहेंगे कि वाह हाॅल की सफाई तो बहुत बढ़िया है, करने वाले लोगों ने तो बहुत अच्छा किया है, बहुत अच्छी बिछाई की है तो अगर इतनी सी प्रशंसा सुनने की आशा भी उनके भीतर है तो इस काम के बदले में योग नहीं होगा। समझ में आया। ईश्वर- विश्वास भरोसे हैं, यह कैसे पता चले। अब मैं क्या बताऊँ, तुम्हारे में किस पर विश्वास है, तुम्हारे में किस पर भरोसा है, तुम ही जानोगे हम कैसे कहेंगे।

मूक सत्संग में बैठे हुए इष्ट मंत्र की याद आ जाए और इष्ट का विग्रह सामने आ जाए तो इसमें थोड़ी सी चतुराई मालूम होती है साधक की। यह प्रचलित प्रथा है कि शान्ति-काल में जब मन में इधर-उधर के विचार आने लग जाएँ तो जल्दी-जल्दी इष्ट-मंत्र का जाप करो और इष्ट का ध्यान करो, तो इधर-उधर की बातें हट जाएगी। तो अब मानव सेवा संघ कहता है कि नहीं भई कुछ मत करो। तो कुछ न करने का, कुछ न करने की तैयारी लेकर जो साधक बैठते हैं उनको पुराने अभ्यास के कारण से मंत्र की याद आने लगती है। इष्ट का ध्यान दिखाई आ जाता है तो इसमें उनको थोड़ा सा विराम मिलता है। वे सोचते है कि अच्छा है। अन्ट शंट के आने से इष्ट का विग्रह सामने आ गया तो अच्छा है।

मैं इसका समर्थन इसलिए नहीं करूँगी कि यदि अपने आप आ गया तब तो बढ़िया बात है। उसका सहारा पकड़ कर आप व्यर्थ चिंतन को हटाना चाहते हैं, तो वह गलत बात है। अब आप अपना फैसला कर लीजिएगा कि सही पथ पर हैं। यह गलत पथ पर है और अपने आप आए तो कुछ नहीं करना चाहिए। न उसकी विशेषता मानो न उससे क्षति मानो। आए तो आ जाए और हटे तो हट जाए और सच्ची बात तो यह है कि अगर अपने इष्ट में आपकी इतनी प्रियता होती, तो मूक सत्संग कब का सिद्ध हो गया होता। प्रियता होती तो ध्यान रहता ही नहीं, जाम की विस्मृति होती ही नहीं तो प्रियता तो नहीं है और अभ्यास है जोरदार, तो अभ्यास वश अगर मंत्र और इष्ट का ध्यान आ रहा है तो आने दो लेकिन उसका महत्व भी नहीं है, प्रियता तो नहीं है, उसको पकड़ों भी मत, उसको हटाओ भी मत। जो स्वभाव से आ रहा है, तो स्वभाव से चला भी जाएगा और मूक सत्संग पक्का रहेगा।

अब साधक क्या है? तो मुझे तो आश्चर्य होता है कि यह भी किसी से पूछने की बात है। चिंतन किया जाता है और चिंतन होता है। याद किया जाता है और याद आती है। तो मानव सेवा संघ होने वाले चिंतन को और आने वाली याद को महत्त्व देता है, करने वाले को नहीं। मन को दोष देना और मन को प्राकृतिक मान लेना और मन विषयों में फँसा हुआ है, ऐसा जो मान लेगा, उसको तो कभी भी पृथक्करण का अनुभव ही नहीं होगा। बड़ा भारी गहन दार्शनिक विषय है और पूर्ण माथापच्ची इस विषय पर की जाती है। मानव सेवा संघ ने एक साथ छुट्टी दिला दी। कहा कि भैया, देखो ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती और जड़ जगत् में ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती। मन में मन के विषय-लोलुप होने का प्रश्न नहीं है और विषय के मन में होने का प्रश्न नहीं है, ठीक है न।

इसलिए प्रश्न है मुझमें, और फैसला लेना पड़ेगा मुझको और मुझे अपने को पृथक् करना पड़ेगा मन से भी और विषयों से भी! तो आप तो पृथक् हो सकते हैं। मन से भी पृथक् हो जाएँगे, विषयों से भी पृथक् हो जाएँगे। जैसे मान लीजिए कि यह एक यन्त्र है और मैं उससे काम ले रही हूँ तो जब तक मुझमें ध्वनि को विस्तार करने का संकल्प है तब तक मैंने इसको पकड़ रखा है। तो यह बेचारा यंत्र है इसको मैंने पकड़ लिया और इसकी सहायता से ध्वनि का विस्तार कर रही हूँ। तो ध्वनि जैसे भौतिक तत्त्व है यह यन्त्र भी वैसे ही भौतिक तत्त्व है। इसलिए दोनों का सहयोग बन गया। अब अगर मैं ध्वनि-विस्तार की क्रिया से बचना चाहूँ, तो इस यन्त्र को तोड़-फोड़ कर फेंकना पउ़ेगा कि अपना संकल्प छोड़ना पड़ेगा?

अपना संकल्प छोड़ना पड़ेगा। तो जब आदमी शरीर की सहायता से संसार के विषयों का सुख भोगना नापसंद कर देता है, तो उसका मन जो है वह संसार की ओर से कमजंबी हो करके उस उद्गम में चला जाता है, जहाँ से आया था। जिसमें से भारी प्रकृति पैदा हुई। उसी में से मन पैदा हुआ। ठीक है न? तो जब इस मशीन से काम लेने का संकल्प मेरा छुट जाएगा, तो संकल्प छूट जाने से मैं मशीन से मुक्त हो जाऊँगी। और यह मशीन ध्वनि-विस्तार के कार्य से मुक्त हो जाएगी। ठीक है न? इसकी कोई अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। मेरी सत्ता से इसको सत्ता मिली और मेरे संकल्प से ही इसमें कार्य आरम्भ हुआ।

मेरा संकल्प खत्म हो गया तो कार्य भी खत्म हो गया और कार्य करने का जो माध्यम यन्त्र है, उसकी भी जरूरत खत्म हो गई। ऐसे में हमारे भीतर, आपके भीतर जो मन है यह प्राकृतिक तत्त्व है और जब व्यक्ति इस मन के द्वारा संकल्प-पूर्ति के साधनों को संसार में जुटाने के फेर में पड़ना छोड़ देता है, जब उसका संकल्प बन्द हो जाता है तो मन के साथ सम्पर्क टूट जाता है। और जो लोग तन से और मन से असंग हो जाते हैं उनके मन की शक्ति जो है वह जाकर के उसमें विलीन हो जाती है जिसमें से निकली थी।

तो साधक जो है, उसको पता ही नहीं चलता है कि मन कहाँ गया? मन भी गया और विषय भी गया। उस स्थिति को लाने के लिए क्या करें? कि आज से ही अपने संकल्प का त्याग करें। मैं अपने व्यक्तिगत सुख के लिए कुछ नहीं करूँगा, कुछ नहीं चाहूँगा। शरीर है, उसमें शक्ति है तो पर-हित के लिए जो करते बनेगा करूँगा और जैसे ही करने का समय खत्म होगा, मैं तीनों शरीरों से असंग होकर अपने आप में स्थित रहूँगा। तो मन से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। तन से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। तो विचारक आप है, जिनके सामने तन-मन की उलझन लगी हुई है। उसको स्वीकार करना पड़ेगा। अभी-अभी अपने को ब्रह्म स्वरूप मत मानो। ब्रह्म स्वरूप को असंगता की असाधना नहीं करनी पड़ती है। ब्रह्म स्वरूप में मन और विषय का प्रश्न नहीं उठता है। तो हम सचमुच ब्रह्म स्वरूप है लेकिन ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी अपनी भूल से ब्रह्म से भिन्न जो दृश्य जगत् है, उससे नाता जोड़ लिया। तो जिसने नाता जोड़ लिया, उसको तोड़ना पड़ेगा, ब्रह्म को नहीं। खूब सुना है मैंने स्वामी जी महाराज के पास बैठकर के वेदान्त लोगों की चर्चा करते हुए।

मानव सेवा संघ में महाराज जी ने बहुत स्पष्टीकरण कर दिया। आपने जैसे प्रश्न किया न वैसे हम खूब सुने हैं और सब महाराज जी की बातें ही दोहरा रही हूँ, अपनी बातें नहीं कह रही हूँ। आप सोच कर देखिएगा आपके भीतर जो आत्म ज्ञान है उसने आकर के प्रश्न पैदा कर दिया। शरीरों से असंग कौन होगा? अब आप सोच रहे हैं कि मैं तो ब्रह्म स्वरूप हूँ, तो ब्रह्म स्वरूप को शरीरों से असंग नहीं होना पड़ेगा। लेकिन शरीरों से संग करके जो मन विषयों के फेर में पड़ गया है उसको शरीरों से असंग होना पड़ेगा। इसलिए मानव सेवा संघ के दर्शन में ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं होता है। आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं होता। मनुष्य शब्द का प्रयोग होता है। मैं मनुष्य हूँ मेरा आकर्षण संसार की ओर है, मुझमें सत्य की जिज्ञासा है, मुझमें परम प्रेम की अभिलाषा है। तो परमात्मा में प्रेम की अभिलाषा माननी नहीं पड़ेगी। ब्रह्म में ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होगी। अविनाशी में नाश का भय

नहीं होगा। ठीक है न? तो इसीलिए स्वामी जी महाराज ने सारे दार्शनिक विवेचन का आधर 'मैं' को माना। इस 'मैं' का स्वरूप क्या है? तो 'मैं' का स्वरूप है, कि इसी 'मैं' में जगत् का बीज भी है और इसी 'मैं' के सत्य की जिज्ञासा भी है। और इसी 'मैं' में परम प्रेम की प्यास भी है। तो करना क्या होगा कि संसार के प्रति जो आकर्षण है, उस आकर्षण को मिटा देने से सत्य की जिज्ञासा पूरी हो जाएगी, परम प्रेम से तृप्ति हो जाएगी, प्रेम की अनुभूति हो जाएगी आपको, तो ज्ञान और प्रेम से सम्पन्न हो करके आपकी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। तो आप ऐसा सोच कर देखिए कि मैं मनुष्य हूँ और मुझमें मन के विषय-लोलुप होने की पीड़ा है, तो मुझ पर इनसे असंग होने का दायित्व है।

तो पीड़ा भी मुझ में है और उस पीड़ा को दूर करने की क्षमता भी मुझ में है और पीड़ा को दूर करने का पुरुषार्थ करने का दायित्व भी मुझ पर है। तो जिस पर दायित्व है, वह मनुष्य है, जिसमें पीड़ा है वह मनुष्य है जो पीड़ा-मुक्त होना चाहता है वह मनुष्य है। ऐसा अपने स्वरूप का निरूपण करके आप प्रयत्न आरम्भ करिए। यह मत पूछिए कि मन से और तन से असंग किसको होना है। अरे भई जो फँसा अनुभव करता है उसको होना है। अब किस तरीके से होगा उपाय क्या है? तो असंग होने का तरीका यह है कि इसका संग, अब मैं थोड़ा अंग्रेजी ज्मतउ और भौतिक विज्ञान का प्रयोग करूँ आप समझ लेंगे कि छोड़ कर कहूँ?

अब देखिए छमनतवसवहल है मनुष्य के स्नायु-मण्डल का विज्ञान तो उसमें ऐसा वर्णन है कि जैसे एक स्नायु की बनावट है उसकी ये शाखाएँ हैं फिर दूसरे स्नायु की बनावट है उसकी ये शाखाएँ हैं और स्नायु ऐसे वअमतसंचचपदह बवदकपजपवद में यह पड़े रहते हैं। तो इनके दोनों में रचनात्मक योग नहीं है, अलग-अलग है बिल्कुल। अब क्या होता है जब इधर से कोई स्नायु प्रवाह आया और इधर से स्नायु प्रवाह को पकड़ना है तो दोनों में थ्नदबजपवदंस तमसंजपवद हो जाता है। उस में ेजतनबजनतंस तमसंजपवद नहीं है। बस इतना ही सम्बन्ध है देह का संगता और असंगता में। चूंकि मैं ने शरीर की सहायता से संसार का सुख भोगना पसंद किया, तो मेरा, अविनाशी तत्त्व का नाशवान शरीर से एक ेजतनबजनतंस तमसंजपवद तो त्रिकाल में हो ही नहीं सकता लेकिन थ्नदबजपवदंस तमसंजपवद बन गया। मै।ने इससे सुख भोगना पसंद किया तो मेरा तादात्म्य हो गया। मेरे संकल्पों के फलस्वरूप मेरे सामने दृश्य जगत् दिखाई देने लगा।

इतना ठोस सत्य है यह कि किसी भी दर्शन का और किसी भी सम्प्रदाय का मानने वाला साधक, मनुष्य के जीवन के इस वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य से इन्कार कर ही नहीं सकता है। आप द्वैतवादी है या अद्वैतवादी हैं कि विशिष्टाद्वैती हैं कि क्या आपका दर्शन है आप जानिए। मैंने तो आपको विज्ञान के विद्यार्थी की तरह जीवन के सत्य को पढ़ा और आपके सामने में प्रकट कर रही हूँ। और आपकी पृष्ठभूमि है इसलिए आप पकड़ रहे हैं। ेजतनबजनतंस तमसंजपवद कभी हुआ ही नहीं भाई, अविनाशी और नाशवान में यह रचनात्मक सम्बन्ध सम्भ कैसे हो। कभी नहीं हुआ, त्रिकाल में नहीं हुआ। लेकिन मैंने अब मैं कह कर

संबोधित करूँ अपने को, शरीर की सहायता से बढ़िया-बढ़िया वचन बोलकर के श्रोताओं को सुनाना पसंद किया तो स्वर यन्त्र से मेरा तादातम्य जुट गया।

यह निदबजपवदंस तमसंजपवद है। जिस दिन बोलने की वासना खत्म हो जाएगी, उस दिन वाणी मूक हो जाएगी। जब बोलना मैं बन्द कर दूँगी तो जैसे ही बोलने की वासना छूटेगी, स्वर-यंत्र से तादात्म्य भी तत्काल टूट जाएगा। तो गया तो सब एक साथ गया फिर कर्म की वासना गई तो कारक अंगों से सम्बन्ध टूट गया। चिंतन की आवश्यकता खत्म हुई तो सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध टूट गया। फिर कारण शरीर की स्थिति की शान्ति में भी ठहरना मैंने पसंद नहीं किया तो सीमित अहं भाव की सीमा भी समाप्त हो गई। तो 'मैं' की, अहं की परिछिन्नता का नाश हो जाता है तो वहाँ शुद्ध अद्वैत रह जाता है फिर दृश्य जगत् की स्थिति ही वहाँ नहीं होती। रहता ही नहीं है ऐसा लुप्त होता है कि जैसे कि कभी था ही नहीं। जब ऐसा हो गया आपको प्रश्न करने की जरूरत नहीं रहेगी।

पापा, देखिए वहाँ चित्रकूट की सभा है और भरत लाल जी दिल में कितनी बातें भरके गए हैं, कि रघुनाथ जी को सुना दूगाँ। और तो कोई बूझेगा नहीं। नगर के लोग तो कहेंगे कि इसी ने षड़यंत्र किया होगा, अब झूठमूठ के रो रहा है, तो नगर के लोग तो यह कहेंगे। तो जो जिसके जी में आए कहे, भाड़ में जाए संसार, मेरे तो एक रघुनाथ जी अपने हैं और उनके बिना मेरे जी की बात कोई समझेगा-पूछेगा नहीं, इसलिए मैं जाता हूँ मैं उनको सब सुना दूँगा। चले गए, पहुँच गए, दण्ड प्रणाम कर लिया। दोनों भाई मिले तो गोस्वामी जी कहते हैं 'परम प्रेम पूरन दोऊ भाई मन चित बुधि अहमिति बिसराई, खत्म हो गया न।'

मूक सत्संग हो गया। मन, चित्त, बुधि अहमिति बिसराई। अहं भी दूर हो गया। परम प्रेम पूरन दोऊ भाई दोनों भाई परम प्रेम से पूर्ण है और जब एक-दूसरे को मिले तो क्या हो गया मन, चित, बुधि अहमिति बिसराई सब खत्म हो गया। बड़ी देर लग गई इसमें। उसके बाद जब दोनों बैठे हैं तो गोस्वामी जी कह रहे हैं -

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछाû

योग हो गया, मूक सत्संग हो गया। तो आसन लगा कर दरवाजा बन्द करके कि खिड़की बन्द करके ेवनदक चतवव ितववउ बना कर करना पड़ा? न। हृदय में रस उमड़ा और हो गया। कोऊ किछु कहहि न कोऊ किछु पूँछा। भरत लाल को कितना कहना था रघुनाथ जी से और रघुनाथ जी को कितना पूछना था भरत लाल से। भैया कुशल समाचार बताओ, भैया नगर की बात बताओ, भैया माता-पिता की बात बताओ कितना समाचार उनको पूछना था। कोऊ किछु कहहि न कोऊ किछु पूँछा न कोई कुछ कह रहा है न कोई कुछ पूछ रहा है।

क्या हो गया? प्रेम-भरा मन निज गति छूँछा। वहाँ गति है नहीं, वहाँ नित्य योग है। प्रेमी और प्रेमास्पद मिलकर के उस रस में खो गए। गोस्वामी जी तो बड़े मर्मज्ञ है न। तो पहले ही कह रहे हैं, मन चित बुधि अहमिति बिसराई। अहमिति बिसर गई तो अब कौन कहेगा, कौन पूछेगा। तो मूक सत्संग सिद्ध हो गया। अगर कुछ करने की चेष्टा करिएगा तो अप्रयत्न नहीं हो सकिएगा। प्रयत्न रहेगा तो अहं का नाश नहीं होगा। इसलिए चेष्टा मत करो। अरे भई मन के पीछे क्यों पड़ते हो, साँस तो लेने दो उस बेचारे को। और बार-बार तरह-तरह के चित्र सामने आते हैं तो आएँगे, चले जाएँगे। आप परवाह मत करिए छोड़ दीजिए। थोड़ी देर के लिए अकेले तो होइए। तो अभी जैसे उन भाई के प्रश्न के उत्तर में कहा मैंने कि अनेक

प्रकार के संकल्पों को अपने भीतर रखकर के मन को हम लोग शान्त करना चाहते हैं। कैसे होगा भई? पहले तुम अपने संकल्पों का त्याग तो करो। संकल्प नहीं रहेंगे तो मन का कार्य खत्म हो गया। मन का कार्य नहीं रहा तो बुद्धि का कार्य खत्म हो गया तो अपने आप करिए। शक्तियाँ शान्त हो जाएगी। तो होने देते नहीं और कहते हो कि होता नहीं है। होने कहाँ देते हो, होने दीजिए।

महाराज जी का बोलना न बोलने के समान था। बोलते हुए भी वे भीतर से एकदम निष्क्रिय होते थे। क्रिया से उनका कोई संबंध नहीं होता था। स्वामी जी महाराज जब स्वराज्य के आन्दोलन में खूब नारा लगा रहे थे, विदेशी शासन को हटाने के लिए और पिकेटिंग कर रहे थे और जेल जा रहे थे। तो स्वामी जी महाराज की उम्र तो बहुत छोटी थी, जल्दी सन्यास ले लिया था तो महाराज जी के गुरू महाराज के एक मित्र थे, उन्होंने देखा कि यह लड़का क्या कर रहा है? तो उनके पास आए उनकी पीठ सहलाई, खूब प्यार किया और कहा कि बेटा, क्या तुमने इसीलिए सन्यास लिया था? तो महाराज जी ने कहा, नहीं महाराज। तो यह तू क्या कर रहा है? तो कहा, कि देश की सेवा का राग नहीं छोड़ सका, तो करके मिटा रहा हूँ। अब तुम्हारी दशा क्या है? तो एकदम अट्टहास करके कहते हैं, कि मैं त्रिकाल में भी कुछ नहीं करता हूँ। मैं अपनी अखण्डता में विराजमान हूँ।

तो हमारे भीतर जो बोलने का संकल्प है वह तो मेरे राग के परिणाम से है और श्रोता के रूप में उन्होंने ही मुझे अवसर दिया उपस्थित होकर के कि बोल लो, हितकर वाणी बोल लो, प्रिय वाणी बोल लो, सत्य वाणी बोल लो और बोलने का राग खत्म करके न बोलने की स्थिति में पहुँच जाओ। तब क्या होगा? कि मुझे बोलने की आवश्यकता नहीं रहेंगी, तो शरीर से तादात्मय टूट जाएगा। कुछ करने के राग ने मुझ पर शरीर से बाँध रखा है। करने का राग समाप्त हुआ, तो शरीर से तादात्म्य टूट गया। मैंने महापुरूषों को देखा है कि वे अपनी असंगता में आप मस्त रहते हैं और जब किसी दुखी जन की पीड़ा में शामिल होना होता है, तो शरीर के रूप में इस यंत्र को पकड़ लेते हैं। काम कर लिया और छोड़ कर फिर अपनी असंगता में डूब गए। राग-निवृत्ति के बाद अगर प्रवृत्ति होती है तो वह केवल पर-पीड़ा से द्रवित होकर होती है, दूसरों के संकल्प में शामिल होने के लिए होती है। इन प्रवृत्तियों का त्रिगुणातीत पुरूष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

प्रवचन(14)

दो प्रश्न है। जीव का सहज स्वरूप क्या है? कुछ समयपूर्व आपने गोस्वामी जी की चैपाई मम दर्शन फल परम अनूपा, जीव पाव निज सहज स्वरूपा में आपने सहज स्वरूप का संक्षेप में निरूपण किया था। कृपया कुछ और प्रकाश डालें। और दूसरा प्रश्न है अचाह से क्या तात्पर्य हैं? जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरी करनी ही पड़ती है। तो जीव शब्द का प्रयोग मानव सेवा संघ की पद्धति में हम लोग नहीं करते हैं। इसके स्वरूप में बहुत तरह-तरह की बातें हैं और वह इस तरह की ध्यान की पुस्तकों में लिखी हुई हैं। मानव सेवा संघ की पद्धति में 'मैं' के स्वरूप का वर्णन् होता है। तो मैं का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में प्रातःकाल बहुत अच्छी तरह चर्चा हुई थी। मैं में संसार का आकर्षण भी है, मैं में सत्य की खोज भी है और उसमें परम प्रेम की प्यास भी है। तो जो सत्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखता हो, जो

अनन्त परमात्मा के प्रेम की अभिलाषा रखता हो और साथ ही संसार के सुखों की ओर भी आकर्षित रहता हो, उसका नाम है मैं। यह मैं का स्वरूप है। अब साधना के फल से क्या होता है तो साधना के फल से विशेष बात यह होती है कि भूल से उत्पन्न हुआ संसार के प्रति जो आकर्षण है, उस आकर्षण का नाश हो जाता है। तो संसार की आसक्ति खत्म हो जाती है, तो सत्य की जिज्ञासा पूरी हो जाती है, तो प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञान और प्रेम हमारा निजस्वरूप है, ज्ञान से अभिन्न होकर, प्रेम से अभिन्न होकर सीमित अहभाव का लोप होता है। सीमित अहभाव के मिटने के बाद हमारी स्व स्वरूप से अभिन्नता हो जाती है। तो यह है साधना का फल। और गोस्वामी जी के वचनों को जो मैंने दोहराया तो उसमें यह उद्देश्य था बताने का, कि ज्ञान स्वरूप से अभिन्न होकर, प्रेम स्वरूप से अभिन्न होकर सीमित अहंभाव का लोप हो जाता है। जब में हूँ, ऐसे जो अपना एक भास हो रहा है तो जब तक यह भास बना रहता है कि मैं हूँ, तब तक दिखाई देता है कि यह जगत् है, तब तक खोज रहती है कि सत्य क्या है। तो संसार की आसक्ति के त्याग के बाद जब जब अहं शुद्ध होता है, आसक्ति से उपजने वाले विकारों का नाश हो जाता है, तो उस शुद्ध अहं में यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपनी सीमा को तोड़कर, अहं-भाव का नाश करके ज्ञान स्वरूप और प्रेम स्वरूप से अभिन्न हो जाए।

तो जब ज्ञान स्वरूप सत्य से, जब प्रेम-स्वरूप परमात्मा से अभिन्नता हो जाती है, तब वह अपने सहज स्वरूप में स्थित हो जाता है। वहाँ क्या होता है? तो यह तो अनुभव की बात है। वर्णन करने की चर्चा केवल इतनी-सी है कि संसार की आसक्ति मिटी नहीं कि दृश्य जगत् मुक्त हो जाता है। यह मैं हूँ और यह संसार है यह द्वैत का भास खत्म हो जाता है। तो जो ज्ञान-पंथ के साधक होते हैं वे ज्ञान स्वरूप में ही हूँ ऐसा करके मान लेते हैं। तो जो सत्य है, नित्य तत्त्व है, जो ब्रह्म तत्त्व है, जो परमतत्त्व है वह मुझमें ही है, मैं ही हूँ ऐसा करके वे लोग मान लेते हैं। और जो ईश्वर-विश्वासी हैं वे अपने सहज स्वरूप को प्रेम की धातु में परिवर्तित हुआ पा करके प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाते हैं। तो चाहे ज्ञान स्वरूप होकर सत्य से अभिन्न हो जाओ, चाहे प्रेम स्वरूप होकर सत्य से अभिन्न हो जाओ, अहं की सीमा खत्म हो जाती है। यह होता है सहज स्वरूप।

अचाह से क्या तात्पर्य है? अचाह का अर्थ है कुछ नहीं चाहना। तो हम लोग जब संसार से कुछ चाहते है तो इसका नाम चाह होता है। जैसे आराम से रहने की जगह चाहिए, ठीक समय पर भोजन चाहिए, प्रेम पूर्वक गप-शप करने के लिए मित्र-मण्डली चाहिए, मुझको आदर सम्मान देने के लिए समाज चाहिए। यह सब मनुष्य की भूख है। स्थूल शरीर को खुराक चाहिए अन्न, जल इत्यादि-इत्यादि चाहिए। सूक्ष्म शरीर को मान, बढ़ाई, प्रशंसा सब चाहिए, चिंतन चाहिए, संगति चाहिए चाहिए, मित्रता इत्यादि और इन शरीरों में फँसे हुए को सुख-सुविधा सम्मान सब चाहिए। तो इन तीनों का सम्बन्ध, सुख का, सम्मान का, सुविधा का, इन तीनों का सम्बन्ध संसार से है। तो संसार से कुछ चाहिए तो वह चाह कहलाता है। और संसार से अपने को कुछ-कुछ मिला हुआ है। तो संसार ने जो दिया है, उसका सदुपयोग करो तो वह साधन कहलाता है। तो प्राप्त सुख-सुविधा परिस्थिति का सदुपयोग करो तो वह साधन कहलाता है और अप्राप्त की चिंता में लगे रहे तो

वह चाह कहलाती है? प्रश्नकर्त्ता भाई सुन रहे हैं। प्रश्न कर्त्ता कौन है?

तो यह चाह हो गई। अब कहा जा रहा है कि अचाह हो जाओ। अर्थात् अप्राप्त का चिंतन छोड़ दो, अप्राप्त का। जितना खाने-पीने को शरीर की सेवा के लिए उपलब्ध है उसमें से उचित मात्रा में शरीर की सेवा की दृष्टि से शरीर को अर्पण कर दो, तो इसमें कोई भूल नहीं है। लेकिन जो ले नहीं रहा है, उसके लिए भीतर से रह-रह कर बात उठती है कि क्या बताएँ ऐसा भोजन मिलता तो ठीक था। ऐसा होता तो अच्छा होता तो यह कहलाता है अप्राप्त का चिंतन। तो जो परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग साधन है और जो प्राप्त नहीं है, उसके बारे में सोचते रहना, कि उसकी आवश्यकता अनुभव करना यह चाह है। तो चाह को छोड़ देना है। तो भाई हमारे कह रहे हैं कि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ तो पूरी करनी ही पड़ेंगी। तो देखिए कि अप्राप्त के चिंतन से भी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती हैं, कर्त्तव्य-पालन से शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती है।

तो परिवार में रहो, चाहे समाज में रहो, चाहे दुनिया के किसी हिस्से में भी रहो निकटवर्ती जन-समुदाय के काम आने की सोचो तो शरीर की न्यूनतम आवश्यकताएँ विधान के अनुसार स्वतः ही पूरी होंगी। और काम आने की बात न सोचो तो मस्तिष्क में से न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता मिटेगी नहीं। और सच्ची बात यह है जो अचाह हो गए, तो उन अचाह पुरुषों की न्यूनतम आवश्यकताओं शरीर की, अपनी तो क्या करेगा कोई, उन आवश्यकताओं की पूर्ति का इन्तजाम प्रकृति की ओर से होता है, विधान की ओर से होता है, समाज की ओर से होता है। अचाह पुरूषों को सोचना नहीं पड़ता है कि अब संध्या समय मुझे भूख लगेगी तो क्या होगा? जो अचाह होते हैं, वे शरीर की जो बहुत ही आवश्यक बातें हैं, उनकी पूर्ति की भी परवाह नहीं करते हैं।

क्यों नहीं करते हैं? क्योंकि उनको उसमें भी अपने अविनाशी जीवन की साधना में बाधा मालूम होती है। इसीलिए वे परवाह नहीं करते हैं। क्या करते हैं? वे सोचते हैं कि भाई इस शरीर को रखना प्रकृति को मंजूर होगा तो भोजन आएगा ही समय पर और आएगा तो हम अर्पण कर देंगे। अगर इस शरीर को रखना समाज के लिए उपयोगी होगा तो समाज खुद ही इसकी फिक्र करेगा। परिवार के लिए अगर यह शरीर आवश्यक है, तो परिवार के लोग खुद ही चिंता करेंगे, खिला देंगे, तो खा लिया जाएगा, लाकर के दे देंगे तो शरीर को अर्पण कर दिया जाएगा। और नहीं तो अपने को कोई जरूरत नहीं है। इतना साहस आरम्भ में रखना पड़ेगा और पीछे तो मैंने देखा है, कई संतों के बारे में देखा है सुना है कि वे चाहते कुछ नहीं है। यहाँ तक कि शरीर को भूख के समय भोजन देना चाहिए, इसके बारे में भी वे सोचना पसंद नहीं करते। क्योंकि उनका जो अपने जीवन का लक्ष्य है, अविनाशी स्वरूप में स्थित रहने का जो लक्ष्य है, उसमें बाधा पड़ेगी तो वे परवाह ही नहीं करते हैं।

सोचते ही नहीं हैं सचमुच ऐसे जो अचाह पुरुष होते हैं, उनकी चाह उनके शरीर की जरूरतों की पूर्ति प्रकृति स्वयं करती है, परमात्मा स्वयं करते हैं, ऐसा मैंने संतों-भक्तों के जीवन में सुना है, पढ़ा है। तो महाराज जी के लिए तो मालूम ही है, ऐसा होता ही था। सुमत प्रकाश सिंघल दिल्ली के रहने वाले सज्जन हैं। स्वामी जी

महाराज के साथ शुरू-शुरू में यात्रा किया करते थे। तो गऊ के सम्बन्ध में, गऊ-सेवा के सम्बन्ध में कुछ बात एक बार हुई थी। तो महाराज जी ने वृन्दावन से अहमदाबाद की ओर जाते हुए ट्रेन में यह तय कर लिया, कि अब हम केवल गऊ के दूध का प्रयोग करेंगे, भैंस का दूध नहीं लेंगे। नियम बना लिया। तो सुमत भाई कह रहे थे कि हमने कहा कि स्वामी जी रास्ते में जितने भाई लोगों को पत्र लिखा गया है पहले से कि महाराज के लिए दूध-फल ले आना तो किसी को नियम नहीं लिखा गया, क्योंकि पहले तो आपका नियम था ही नहीं।

तो अब रास्ते में आपने नियम ले लिया तो अब कैसे बनेगा यह तो ठीक नहीं हुआ। अब पहुँच जाए हम लोग जगह तक, तो हम सबको बता देंगे, तब वैसा आप निभाइएगा। तो महाराज जी ने कहा तुम चुपचाप रहो। जाकर बैठो प्दक बर्सेे में, बोलो मत। भेज दिया उनको, चले गए तो सुमत जी कहें कि मेरे जी में तो ऐसी तकलीफ पैदा हुई कि आज मैं स्वामी जी महाराज को भूखा कैसे रखूँगा पिलाऊँगा, कैसे दूध रास्ते में आएगा? तो पता नहीं गाय का आएगा कि भैंस का आएगा। किसी से कुछ कहा नहीं गया है। तो चुपचाप जाकर बैठ तो गए लेकिन बेचारे को बहुत छटपटी कि अब क्या करें महाराज जी तकलीफ में रहेंगे। कैसे दूध पीना होगा। तो कह रहे थे कि महासाना एक स्टेशन है। उस स्टेशन पर जब ट्रेन रूकी तो उस ट्रेन में दूसरी जगह पर दूसरे-दूसरे संत लोग बैठे थे। दूसरे 1ेज बर्सेे बवउचंतजउमदज में। और भक्तों के यहाँ से घर की गाय का दूध खूब केसर, मेवा और मिश्री डाला हुआ सब पकाया हुआ इतना बड़ा-बड़ा चाँदी का लोटा पात्र, उसमें भर-भर के स्टेशन पर आया होगा, इनको क्या पता ये तो प्दक बर्सेे में से छोड़कर के आकर स्वमी जी महाराज के पास खड़े थे। अब सोच रहे थे अब क्या करेंगे। अब दूध पीने का समय है क्या पिलाएँगे। तो दूसरे लोग लेकर आए दूसरे संतों को पिलाने के लिए तो उन संतों ने कहा कि एक काम करो। यहाँ से थोड़ी दूर आगे बढ़ो दूसरा एक 1ेज बर्सेे बवउचंतजउमदज है, उसमें एक प्रज्ञाचक्षु संत बैठे हैं यह पात्र लेकर के जाओ और उनको पहले पिलाओ और जितना वे पी सकें उतना पिला देना, जो बाकी बचे सो वापस ले आना तब हम लोग पिएँगे। ऐसा कह कर उन संतों ने भेज दिया। तो सुमत जी स्वामी जी महाराज के पास खड़े थे और असमंजस में थे कि अब कैसे करें क्या करें। इतनी देर में उस स्टेशन पर संतों के भेजे हुए लोग लोटे में रतन घर की गाय का दूध और पकाया हुआ सब लाकर हाजिर किया, तो स्वामी जी महाराज ने पूछा कि आप लोगों को कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ बैठा हूँ, कहाँ से आए हो भाई? किसने भेजा है तो 3-4 जने थे। वे लोग संत के भक्त थे उन्होंने कहा कि हमारे महाराज जी उधर दूसरे बवउचंतजउमदज में बैठे हैं, वे लोग जा रहे हैं। तो उनका नियम है केवल गाय का दूध पीने का, उनके लिए हम लोग घर की गाय का दूध बना कर लाए थे। और उनको पिलाने के लिए जब पहुंचे हम, तो उन्होंने आपके पास भेज दिया। तो स्वामी जी महाराज तो समझ गए किसने भेज दिया, कैसे आ गया उनके लिए कोई नई बात तो थी नहीं। तो अपना गिलास निकलवाया सुमत जी से और जितना पीने का था पी लिया और बाकी भेज दिया। दूध इतना ज्यादा था कि वे 4-5-6 संत जितने थे उनको पिला करके भी खत्म होने वाला नहीं था, बहुत था। तो उन्होंने कहा कि महाराज

जी हम लोगों के पास बहुत दूध है, इस लोटे में जो बचा है आप और ले लीजिए।

तो स्वामी जी महाराज ने सुमत जी को पहले खूब चिटकाया कहने लगे कि कहो बेटा कहाँ से इंतजाम किया? ऐसे-ऐसे बात बनाएँ फिर कहा कि तुमने जाकर के उन लोगों को कुछ कह तो नहीं दिया तो सुमत जी बोले- नहीं महाराज, मुझको तो कुछ पता ही नहीं हम तो इसी चिंतन में बैठे थे कि अब कहाँ से लाएँ गाय का दूध। तो कहा कि अच्छी बात, अब तुम भी पिओ। अब तो सरकारी इंतजाम है न, उसमें कमी क्या है, हो ही नहीं सकता है। तो सुमत जी बताते हैं कि गिलास भर-भर कर के स्वामी जी महाराज ने मुझको भी पिला दिया। उस दूध में जो स्वाद था, जो मिठास था वह जिंदगी में कभी मैंने पिया ही नहीं था न उसके बाद न उसके पहले, आज तक कभी मिला ही नहीं।

तो सुमत जी को भी पिला दिया आपने भी पी लिया बाकी लेकर के वे लोग चले गए और जो संत लोग दूसरी जगह बैठे हुए थे। प्ेाज बसंे में उनको पिला कर खत्म कर लिया काम। एक उदाहरण नहीं ऐसे में अनेक उदाहरण रख सकती हूँ। स्वामी जी महाराज को तो हमने नजदीक से देखा ही है, जाना ही है। बाइबल में महात्मा ईसा के जीवन में पढ़ा है कि जब उनको दीक्षा दी गई उनका बपतिस्मा कराया गया। भगवान के साथ, पिता का सम्बन्ध जोड़ने का एक रस्म होता था। गाँव में जो नदी की धारा बहती थी उस नदी में शिष्य होने वाले को स्नान करवाया जाता था और यहाँ पर तिलक कराया जाता था जल से, जो भी कुछ होता था सब हो गया तो उन्होंने कहा कि अब ठीक बात है, अब पिता का काम करने की घड़ी आ गई है तो पहले मैं उससे प्रार्थना तो कर लूँ, पहले उससे पूछ तो लूँ कि मुझे क्या-क्या करना है, वह कैसे-कैसे कराएगा। ऐसा सोचकर के वे सुनसान निर्जन स्थान में एक पर्वत की चट्टान के नीचे घुटने टेक करके प्रार्थना करने बैठे। तो प्रार्थना में पिता के सान्निध्य में वे ऐसे मस्त हो गए कि 40 दिनों तक उनका ध्यान ही नहीं टूटा। तो यह लिखा हुआ है कि वे घुटने टेककर के और अपने पिता के अनुराग में जो-जो जी में आता था, सब भगवान को सुनाते जाते थे, सुनाते जाते थे और प्रेम के आवेश में अश्रुपात होता रहा था। बातें होती रही थीं, जो-जो जी में आता कहते रहते थे। ऐसा करते-करते सुबह से शाम हो जाए, शाम से सवेरा हो जाए, तो गाँव से, नगर से, बस्ती में से कौआ पक्षी घरों से रोटी के टुकड़े मुख में चोंच में पकड़कर ले आते और ईसा के पास रखकर चले जाते थे।

तो ऐसा नहीं होता है कि अगर हम अविनाशी जीवन के लिए अचाह पद को स्वीकार करेंगे तो शरीर का भरण-पोषण नहीं होगा। ऐसा नहीं होता है। होगा और बढ़िया से होगा और सहज भाव से होगा। अपने लिए एक परीक्षा की घड़ी होती है, कि हम धीरज पूर्वक इस सत्य में विश्वास करें कि मैंने अगर शरीर को अपना मानना छोड़ दिया तो जैसे आप अनाथ नहीं है, वैसे यह शरीर भी अनाथ नहीं है। ठीक है? किसी की चतवचमतजल है न भई, अब आप बीच में दखल जमा कर बैठिएगा कि मेरी है, तो देखभल करने का भार आप पर आना चाहिए कि नहीं चाहिए, आना चाहिए। जब आप लेकर बैठ जाइएगा कि भई यह तो मेरा है यह तो हमारे ही काम आएगा। इसको तो संँभालने वाला मैं ही हूँ। तो दूसरे की चतवचमतजल है, उस पर आप अपने नाम का

ेजंउच लगा कर अपने कब्जे में रखिएगा तो उसको सँभालने का भार भी तुम ढोओ। समझ में आ रहा है। लेकिन जो त्रिगुणातीत पुरुष होना चाहते हैं, जो देहातीत निज स्वरूप में स्थित होना पसंद करते हैं, उनका पहला पुरुषार्थ होता है कि शरीर के सहित सारे संसार में ममता का समबन्ध तोड़ दो। यह मेरा नहीं है तो मेरा नहीं है तो जगत् का है, तो मेरा नहीं है तो परमात्मा का है, मेरा नहीं है ऐसा करके जो सम्बन्ध तोड़ लेता है, तो जिसकी सम्पत्ति है, जिसकी चतवचमतजल है, वह उसको सँभाले बिना छोड़ कैसे देगा।

तो वह छोड़ता ही नहीं है, वह सँभालना है। अब ईश्वर-विश्वासी जो होते हैं वे देह-देही विभाजन के ज्ञान में नहीं फँसते उस रास्ते में नहीं सोचते है। ईश्वर-विश्वासी जो होते है वे सर्वस्व अपने सहित अपने पास जो कुछ है, सब भगवान के समर्पित कर देते है। समर्पित मैं क्या करूँगी? वह तो उनका था ही पहले से। तो जब साधक अपनी ओर से उस पर से अपनी ममता हटा लेता है तो जिसके नाम पर उसने छोड़ दिया वह मालिक अपनी चीज को संभालेगा कि नहीं संभालेगा जी। संभालेगा तो वह संभालने लग जाता है। और साधक जो है वह बिल्कुल शरीर की बिल्कुल न्यूनतम आवश्यकताओं की भी बिल्कुल परवाह नहीं करता। स्वामी जी महाराज ने कहा है एक जगह टेप किया हुआ है कि भई अचाह पुरुष कुछ चाहते नहीं हैं और भोजन के सम्बन्ध में भी उनको कुछ सोचना नहीं पड़ता और किसी बात में सोचना नहीं पड़ता। क्यों?

क्योंकि उनको पूरा पक्का विश्वास है कि शरीर को भोजन चाहिए तो यह कभी हो सकता है कि शरीर को भोजन की आवश्यकता हो और शरीर का मालिक उसको भोजन न दे। ऐसा कभी नहीं हो सकता। जैसे मान लीजिए कि आप अपने साथ कोई सहायक ले लेते हैं, नौकर कहने का दिन तो अब चला गया, कोई सहायक आप ले लेते हैं कि चलो हमारे साथ हम यात्रा करने जा रहे हैं, मेरी सहायता करना। तो जब भोजन का समय होता है तो वह क्या खाएगा उसकी चिंता उसे होती है कि आपको होती है। ले जाने वाले को होती है। उसे सोचना पड़ेगा कि अब भोजन का समय आ गया है तो उसको क्या खिलाया जाएगा वह क्या खाएगा वह कैसे सुरक्षित रहेगा वह कहाँ सोएगा उसका क्या इन्तजाम करना है तो आप सोचिए कि इस संसार में 5 दिन 10 दिन, थोड़े दिन की अवधि में माने हुए सम्बन्ध का अगर यह परिणाम होता है कि जिसको आप अपनी सहायता के लिए अपने संग में लेते हैं तो उसके भोजन और उसके शयन और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था की चिंता आपको होती है, होती है कि नहीं होती है? होती है। तो वह जो अनन्त परमात्मा है, जो सारी सृष्टि का मालिक है। वही इसका भी मालिक है। तो अगर मैं इसको ममता के बंधन से मुक्त कर दूँ कि यह मेरा नहीं है तो जिसका है वह इसको बहुत अच्छी तरह से सँभाल लेता है। केवल अपने में धीरज चाहिए, विश्वास चाहिए और सत्य की और प्रेम की लगन चाहिए। तो लगन वाले साधकों को तो याद ही नहीं आता है कि भोजन का समय हुआ है कि नींद का समय हुआ है कि कौन-सा समय हुआ है, उनको तो याद ही नहीं रहता है। वह धुन ऐसी मीठी होती है, वह लगन ऐसी तीव्र होती है कि जो निष्ठावान साधक है वह देह-धर्म से ऊपर उठ जाता है तो कुछ जरूरत ही नहीं रहती कुछ ध्यान ही नहीं रहता है। और जिन साधकों को ईश्वर समर्पण का बल है कि हमने सब कुछ प्रभु को समर्पित कर

दिया है। तो उनको यह पक्का विश्वास रहता है कि जब भोजन का समय आएगा और शरीर को भोजन देने की जरूरत पड़ेगी, तो अगर भोजन देना जरूरी है तो मेरे मालिक जरूर देंगे। उनको बड़ा जबरदस्त विश्वास रहता है। वे कहते हैं कि कभी हो ही नहीं सकता कि भोजन का समय आ जाए और शरीर को भोजन की जरूरत हो और न मिले, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। और कई अनुभवी संतों के मुख से मैंने सुना। उन्होंने कहा, किशोरी जी के गुरू जी महाराज कार्तिकेय जी महाराज जी का वचन है, कि भई जब से मैं साधु हुआ तब से आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि भूख का समय आ गया हो और भोजन न आया हो। तो यह सच्ची बात है, यह जीवन, का सत्य है और इसका अनुभव करना चाहिए, इसको धारण करना चाहिए और ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि जब हम अचाह हो जाएँगे तो शरीर की जरूरत कैसे पूरी होगी। एक बार करके देखो तो। और सोचते ही रहने से और चाहते ही रहने से सब जरूरतें पूरी हो जाती है क्या? जी, संसार में कितने बीमार ऐसे हैं, जो परेशान है कि मेरी बीमारी के लिए उचित इलाज जो जाए, दवाई मिल जाए, पथ्य मिल जाए तो सब बीमारों को आवश्यक दवाइयाँ मिल जाती है, चिकित्सा हो जाती है, पथ्य मिल जाता है? नहीं मिलता। चाहते रहने पर भी नहीं मिलता है और न चाहने पर भी बहुत आवश्यक बातें ऐसे ही पूरी हो जाती हैं। तो स्वामी जी महाराज ने अपने द्वारा इन बातों को करके दिखलाया हम लोगों को। अन्य सन्तों ने अपना अनुभव कह कर सुनाया है। और मानव सेवा संघ की बात जो है वह केवल सिद्धान्त के आधार पर नहीं है, जीवन का अनुभूत सत्य है। और जिन्होंने अनुभव किया पहले उन्होंने सिद्धान्त बनाया पीछे, पहले यह सत्य उनके अनुभव में आया और पीछे उन्होंने सिद्धान्त बनाकर हम लोगों के लिए रखा।

इसलिए साहस रखना चाहिए, डरना नहीं चाहिए और क्या करना है

शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करके। करते-करते भी आखिर एक दिन

तो यह जाएगा ही। समय का सदुपयोग कर लिया जाए। किसी के जी में कोई

बात हो तो पूछिए इस प्रश्न में एक बड़ा रहस्य है। और प्रश्न बड़ी सच्चाई का है। ऐसा अनुभव अन्य साधकों को भी होता है, मैंने भी समय-समय पर ऐसा अनुभव किया है।

अपने आराध्य के प्रति चिंतन, भजन, ध्यान उनको याद करना, उनके प्रेम की भिक्षा माँगना तरह-तरह की बातें हैं। जिस किसी साधक को जैसे सूझता है वह अपने आराध्य में फँसा रहना चाहता है। ये सब मेरी भाषा है अपने को समझाने के लिए, आप लोग भी यह सहज भाषा है समझ सकेंगे कि बड़ा एक शौक होता है साधक का और खास करके नए-नए जो बनते हैं उनको शौक और भी जोर से होता है कि हम तब अब 24 घण्टे निरन्तर अपने आराध्य में ही लगे रहेंगे, अपने साध्य में ही उलझे रहेंगे। ऐसा एक शौक होता है। क्योंकि हम लोग सुनते हैं कि भई निरन्तर भजन करते रहने से परमात्मा मिल जाते हैं। तो ऐसी एक बात साधक के जी में होती है फिर एक दूसरी बात भी होती है। और दूसरी बात क्या होती है? कि अलग-अलग साम्प्रदायिक विधि-विधान के अनुसार जो लोग वैष्णव मत में दीक्षित होते हैं और परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। तो उन साधकों के लिए अनेक प्रकार के नियम बनाए जाते हैं कि इस प्रकार से आपको अपने आराध्य का चिंतन करना है, ध्यान

करना है, भजन करना है, याद करना है, मंत्र जपना है इत्यादि। तो साधकों का यह अनुभव है कि किसी-किसी समय परमात्मा में उनका खूब मन लगता है, बड़ा उत्साह आता है, बड़ा अच्छा लगता है, बहुत मस्ती आती है और किसी-किसी समय शिथिलता आ जाती है, उतना अच्छा नहीं लगता कुछ, दूसरी-दूसरी बातों में ध्यान चला जाता है।

तो इसके सम्बन्ध में अनुभवों संत के द्वारा एक बड़ा ही रहस्यमय वचन मैंने सुना था। बहुत रहस्यमय वचन है वह और साधकों के रास्ते से शिथिलता का पत्थर हटाने के लिए बहुत बढ़िया उपाय है। वह क्या है? कि जब ईश्वर-विश्वासी साधक परमात्मा को अपना आराध्य मान करके और उनको लाड़ लड़ाते रहना पसंद करने लगता है कि भई जैसे भी हो हम तो उन्हीं में लगे रहेंगे। ऐसा करने में साधक को कभी-कभी बहुत आनन्द आता है खूब मन लग जाता है, बड़ा आनन्द आता है। तो अनुभवी संत ने मुझे यह सलाह दी कि भई वह जो रस का प्रवाह तुम्हारे भीतर उमड़ा परमात्मा के संबंध से, तो भजन में मन लग जाने का रस जो उपजा है, उस रस का तुम भोग मत करना यह रहस्य है। तो साधक को अच्छा लगने लगता है। और अच्छा लगने लगता है इस हद तक कि वह सोचने लगता है कि अब क्या, अब तो मैं परमात्मा में लग गया, अब तो मेरा मन परमात्मा में बहुत लगने लगा।

अब तो हम अच्छे भक्त हो गए। ऐसा जो उसके भीतर एक अच्छाई का भास होने लगता है, तो जो रस भक्त में उपजा था अपने आराध्य को अर्पित करने के लिए, उस रस का भोगी वह भक्त स्वयं बन जाता है तो भाव में शिथिलता आ जाती है। बड़ी भीतरी बात है बड़ी गहरी बात है। लेकिन अपने तो लैक्चरार ठहरे हमेशा के तो कुछ खास नहीं मालूम होता है। गहरी बात हो, रहस्य की बात हो छिपी हुई बात हो तो लाओ भई बैठे हैं साधक लोग सुनने के लिए, तो इनको सुना दो। तो जो लोग इस पथ में चलने वाले साधक है, उनको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब अशान्ति हटकर के शान्ति आए तो उस शान्ति के रस का भी भोग न किया जाए। मानव सेवा संघ के साहित्य में जगह-जगह ऐसा लिखा गया है, कि शान्ति में रमण मत करो।

तो बड़ी शान्ति आ गई, बड़ा अच्छा लग रहा है। बड़ी शान्ति आ गई, बड़ा अच्छा लग रहा है तो मुझको याद आता है कि बड़ी शान्ति आ गई बड़ा अच्छा लग रहा है तो कई बार मैंने महाराज जी को निवेदन किया कि महाराज एक जन्म की तो कौन कहे अनेक जन्मों का थका हुआ साधक, किन-किन बातों से थक गया है, लोभ से थक गया है, मोह से थक गया है काम, क्रोध से थक गया है और संसार की प्रतिकूलता से संघर्ष करते-करते थक गया है। यह थकान अपने को आती है कि नहीं? जी! आती है। तो मैंने महाराज जी को कहा अपने लिए कि एकदम से तो थका हुआ जो साधक है। काम, क्रोध, मोह, लोभ से छुट्टी भी नहीं मिली और इन विकारों को लेकर संसार में चलने में भीतर भी संघर्ष करना पड़ता है अपने विकारों को दबा करके कंट्रोल में रखने के लिए और बाहर की प्रतिकूलताओं के साथ भी जूझना पड़ता है।

आपने क्या ऐसे अनुभव नहीं किया? किया है। जी, भीतर बाहर दोनों ओर संघर्ष है तो इसमें आदमी थक जाता है और थके हुए साधक को अपने आराध्य की शरणागति लेने पर भीतर में जब विराम मिलता है तो उसको बड़ा

अच्छा लगता है। अच्छा तो लगेगा ही। तो अच्छा लगता है तो हम उसमें से 2-3 प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। एक तो उसको यह मिमस होता है कि अच्छा लगता है फिर उसको यह चमत्कार मालूम होता है कि भई सत्संग तो बड़ी बढ़िया बात है और साधना तो बड़ी ऊँची चीज़ है। आज तक जीवन में कभी भी मुझे चैन नहीं मिली थी अब इस साधना के फल से तो बड़ा आराम लग रहा है। यह बड़ी ऊँची चीज है और उसके बाद पीछे से बहुत ही सूक्ष्म पतला सा वेश बना करके अहंकार जगता है कि मैं तो बहुत अच्छा साधक हूँ। यह नहीं आता कि गुरु महाराज ने कह दिया और मैंने मान लिया और मैंने जीवन में प्रयोग करके देख लिया और परिणाम में यह शान्ति मेरे हाथ में आ गई। तो थोड़ा सा भीतर में यह भी भास अपने में जगता है कि दूसरे लोग तो सोचते रहते हैं, पूछते रहते हैं, करते धरते कुछ नहीं है, हम तो औरों से कुछ अच्छे हैं। क्या किया-संत ने जो कहा सो सुन लिया और वैसा कर लिया तो हमको तो फल देखने में आ गया। बस जहाँ यह भास आया कि दूसरे लोगों से मैं कुछ अच्छा साधक हूँ। मैंने सच्चाई से भगवत् समर्पित किया अपने को। मैंने सच्चाई से कर्त्तव्य-पालन किया, मैंने सच्चाई से शरीरों से संग छोड़ा जहाँ यह भास आया तो वह जो प्रेम का भाव उमड़ रहा था, मन, चित्त, बुद्धि सब जिसमें भीग-भीग करके मधुर रस से तर हो रहे थे वह अहंकार जगा नहीं कि रस का दरवाजा बन्द हुआ। यह है। तो सावधानी क्या रखी जाएगी? सावधानी यह रखी जाएगी कि कर्त्तव्य-निष्ठा के उपरान्त आने वाली शान्ति यह भी मंजिल नहीं है, यह रास्ते पर जाने का बढ़िया सा पड़ाव है। उसके बाद और बढ़ रहा है और उमंग बढ़ रहा है। तो महाराज जी समय-समय पर मेरी दशाओं का उनको तो परिचय ज्यादा अच्छा था, मैं तो केवल ऊपरी-ऊपरी सतह का वर्णन करती थी। महाराज हमारे भीतर प्रवेश करके अन्तर की दशा का परिचय करते और मुझको बता देते।

तो 1-2 बार उन्होंने संकेत दिया और यह कहा कि देखो जिस रस का प्रवाह साधक के हृदय में आता है उस प्रेमास्पद को अर्पण करने के लिए, उसका तुम्ही भोग करने लग जाओ, तो प्रगति शिथिल हो जाएगी। तो मैं भोग करने लग गई इसका मतलब क्या है कि बड़ा अच्छा लग रहा है यह भी एक भोग हो गया। उसके बाद मैं बहुत सावधान साधक हूँ तो यह भी उसका एक भोग हो गया। तो समर्पण-भाव के कारण से अहं थोड़ा कोमल नरम हुआ था और अपने को विशेष मान लेने से वह फिर कठोर हो गया तो जब कोमल बना था तो उस रस में भीग रहा था, रस से वह तर हो रहा था और अहं आ गया तो कठोर बन गया इसलिए शिथिलता आ गई। इन्द्रियों से संबंध रखने वाला साधक, उसको इन्द्रियों के स्तर पर अनुभव करता है, इसलिए उसकी यह स्थिति बन जाती है।

प्रश्न दोनों बढ़िया हैं पापा! अपनी-अपनी योग्यता अपनी-अपनी बनावट। और बात ऐसी है कि एक तो होता है कि गुरु महाराज ने मुझे दीक्षित किया और परमात्मा से मेरा सम्बन्ध दिलवा दिया। तो समझा बुझा कर किसी तरह से मैंने माना कि प्रभु से ही मेरा नित्य सम्बन्ध है लेकिन जिस दिन हम मानते हैं उसी दिन यह मेरा माना हुआ सम्बन्ध इतना सजीव नहीं होता कि स्मृति मात्र से मुझे रस से तर कर दे। ऐसा नहीं होता। तो महाराज जी कहते हैं कि जब तुम संसार से संबंध तोड़ोगे तो प्रभु से सम्बन्ध तुम्हारा जुड़ जाएगा। तो जुटा हुआ तो पहले से था ही और

गुरु के कहने से मैंने स्वीकार भी किया लेकिन मेरी स्वीकृति जो है, वह मेरे जीवन को रसरूपा बनाएगी। कब बनाएगी? जब इधर से तोड़ेगे तब बनाएगी।

तो दोनों बाते एक संग चलती है इधर से तोड़ो भी उधर से मानो भी। तो नहीं को इंकार करो और है को स्वीकार करो। यह दोनों साथ-साथ चलता रहता है और कोई-कोई साधक ऐसे हुए कोमल भावनाओं के कि जिन्होंने एक ही साथ मान लिया तो सबको छोड़ देता है। कोई पहले परमात्मा मानकर संसार को छोड़ता है तो परमात्मा को मानकर के संसार को छोड़ देता है और परमात्मा को मान लेता है। इसमें कोई उपाय बढ़िया और कोई उपाय घटिया ऐसा नहीं है। जिससे जैसे बने इतना ही करना है बस। इस प्रश्न के उत्तर में प्रारम्भ में मुझे सूझी थी, व्याख्या करते-करते मैं भूल गई थी बहुत जरूरी बात है वह यह है। महाराज जी ने साधकों को ध्यान इस ओर बहुत दिलाया कि जब तुम्हारे भीतर आराध्य की आराधना में भाव की वृद्धि होने लगे तो उसको बाहर प्रकट मत होने दो।

यह बड़ा रहस्य है। क्या कहा उन्होंने? उन्होंने यह कहा कि आराध्य की आराधना में जब उनकी कृपा से तुम्हारे भीतर भाव बहने लगे, तो उन भावों को अगर तुम क्रिया के रूप में प्रकट कर दोगे तो भीतर से वह निकल कर खर्च हो जाएगा तो शिथिलता आ जाएगी। तो जहाँ तक हो सके छिपाओ उसको भीतर उपभोग भी मत करो, उसको खुराक भी मत बनाओ और भीतर से उठने वाले भाव को क्रिया में प्रकट भी मत होने दो। तो जैसे भक्तों के, विश्वासी साधकों के आँसू आने लगते हैं तो कई साधकों को मैंने देखा है कि आँसू बहाने को ही वे लोग खुराक बना लेते हैं और सोचते हैं कि यह बड़ी अच्छी साधना है, हमारे तो बहुत आँसू आ रहे हैं। तो महाराज जी ने कहा कि भीतर पचाओ भई। यह बह जाएगा तो खर्च हो जाएगा। तो भाव को क्रिया में व्यय मत करो। भाव को भीतर एकदम छुपा के रखो। खुद भी भोग मत करो और बाहर प्रकट भी मत होने दो। किसी को प्रकट मत होने दो दिखाओ मत किसी को, बताओ मत किसीको। छिपा के रखो अन्दर एकदम बड़ी कीमती चीज है।

प्रवचन(15)

उपस्थित संत महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनों और भाइयों!

मानव सेवा संघ की दृष्टि से मनुष्य के जीवन में ईश्वर-विश्वास का क्या महत्त्व है, इस पर हम लोग विचार कर रहे हैं। ईश्वर-विश्वास एक ऐसा विलक्षण तत्त्व है हमारे जीवन का, कि जिस किसी भाई-बहन ने इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि परमात्मा है और इन्हीं से मेरा नित्य सम्बन्ध है, केवल इतनी बात मान लेने से ही चमत्कार पूर्ण परिवर्तन अपने आप में आता है।

महाराज जी का एक छोटा सा छवजम एक दिन मेरे पास मिला। बड़ी बढ़िया भाषा में है। दो चार पंक्ति सुना करके फिर चर्चा करती हूँ। कह रहे हैं परमात्मा है, यह सुनने के लिए कितनी भूमिका तैयार चाहिए। अब आप सोच करके देखो कि हम लोग भूमिका तैयार करके सुनने आए हैं क्या? मैंने ऐसा सुना है कि पुराने समय में अनुभवी संतजन वन में निर्जन में रहा करते थे और नगरों में से कोई-कोई जिज्ञासु जब सभ्य की जिज्ञासा से अथवा प्रभु-प्रेम की अभिलाषा से व्याकुल होता तो भाग-भाग करके वन में संतों के पास चला जाता और अपनी बात बताता उनको, तो कई उदाहरण

ऐसे सुने गए कि वे संत उनको कोई न कोई सेवा बता देते। यह तो ठीक है तुमको इस प्रश्न का उत्तर चाहिए, मिल जाएगा। कैसे मिलेगा महाराज? तो महाराज ने उस आदमी की दयनीय दशा देखकर के कोई सेवा बता दी, करते रहो।

करते रहे, करते रहे, करते रहे बड़ी लगन से 2 महीनें 4 महीनें, साल दो साल बीते, बीच-बीच में जाकर के फिर पूछते। महाराज मेरे प्रश्न का उत्तर? अच्छा मिल जाएगा। चलो, करते रहो, करते रहो, तो अर्थ क्या है? कि अनुभवी संतजन साधक को कोई सत्य सुनाने के लिए पहले उसको तैयार किया करते थे। सुख का भोग छूट गया, आलस्य छूट गया, सुविधा पूर्वक रहना छूट गया और तन-मन सब शक्ति, सब योग्यता संत की सेवा में लग गई। तो अपनी स्वाधीनता चली गई। अपने संकल्प से काम करना खत्म हो गया। यह सारी तैयारी संत जन जिज्ञासु की करा लेते थे और तब मैंने सुना है, उनको कोई वाक्य सुनाया जाता था। तैयारी के बाद खास विधि विधान से, खास समय पर।

ऐसा मैंने सुना है। तो उस दिन जब मैं देख रही थी महाराज जी के प्रवचन का जो एक छवजम मेने पास है, तो उसमें यह गद्य-खण्ड मिला मुझे। वे कह रहे हैं कि परमात्मा है, यह सुनने के लिए कितनी भूमिका तैयार चाहिए। पहले से कितनी तैयारी करोगे, तब इस वाक्य को सुनने के अधिकारी बनोगे। नहीं तो क्या होता है, कि हम सुनते जाते हैं, सुनते जाते हैं और जाकर के भीतर में कहीं पर ेजंउच लगाता ही नहीं है। कहा हुआ, सुना हुआ, भीतर पता नहीं क्या-क्या कूड़ा-कबाड़ भरा हुआ है। संत की आणी सुन लेते हैं हम कान से, लेकिन अहं पर जाकर वह ेजंउच लगाता ही नहीं है। उठ जाता है तो फिर उसी को सुनने के लिए दुबारा आते हैं। तो फिर उसी को सुनने का प्रयास करते हैं। तो मुझे यह वाक्य बड़ा अच्छा लगा।

महाराज जी ने उत्तर क्या दिया है? अपने से, अपनी ओर से बताया है। परमात्मा है, यह सुनने के लिए वह तैयारी चाहिए, जिसमें सारा संसार दुःख रूप मालूम होने लगाता है। तो सोचा मैंने तो हमने कहा कि तब तो हम अधिकारी ही नहीं हुए क्योंकि सारा संसार अभी तो दुःख रूप मालूम नहीं हो रहा। अभी क्या हो रहा है? कि मन के प्रतिकूल कोई-कोई परिस्थिति दुःख रूपिणी लग रही है। ठीक है न, मन के प्रतिकूल कोई-कोई परिस्थिति के साथ रहना दुःख रूप मालूम हो रहा है। सारा संसार तो दुःख रूप हुआ ही नहीं, इसलिए परमात्मा है यह वाक्य मेरे व्यक्तित्व पर ेजंउच नहीं लगा पाता है।

दूसरा चवपदज है इसी में, अपनी असमर्थता की गहरी पीड़ा होनी चाहिए। दो बातं हो गईं न। ऐसे तो बहुत कुछ हो सकता है। लेकिन यह उनकी मौज थी किस लहर में बोल रहे थे, पता नहीं। हमारे पास इतना ही लिखा हुआ है और यह है 9.5.73 गीता भवन में वट वृक्ष के नीचे बातचीत हो रही थी, उसमें से इतना मैंने लिखा है। 1973 के मई महीने 9 तारीख की वार्ता है यह। अपनी असमर्थता की गहरी पीड़ा होनी चाहिए। तो यह भूमिका तैयार होजाए तब हम इस वाक्य को सुनने के अधिकारी बने कि परमात्मा है।

इतनी तैयारी के साथ परमात्मा को सुनने से उसे मान लिया जाता है। इतनी तैयारी करके सुनने चलेंगे, तो मानने की सामर्थ्य आ गई, फिर परमात्मा उसका अभाव मिटा देते हैं। बहुत बढ़िया बात है। परमात्मा उसका अभाव मिटा देते हैं, फिर उसका दुःख मिटा देते हैं, फिर उससे

मिल भी लेते हैं। शरणगति स्वीकार करते ही मोह का नाश हो जाता है। भक्त तत्त्व-ज्ञानी हो जाता है करते-करते। अभी हम लोग इस विषय पर बातचीत कर रहे हैं कि ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्या है? ईश्वर को मानने में अपने लोगों को तैयारी कितनी चाहिए? तो कुछ बातें साधन-काल की आपकी सेवा में निवेदन करूँ। अगर मैं पूछूँ आप भाई-बहनों में से कितने साधक ऐसे हैं, जो ईश्वर को मानते हैं।

ऐसा मैं पूछूँ तो बहुत ही तत्परता के साथ हमारे सभी भाई-बहन हाथ उठा देंगे। ठीक है न? इसमें कोई झूठी बात नहीं है, कोई गलत बात नहीं है। हम सब लोग उनको मानकर के बैठे हैं। लेकिन अब इसके साथ ही अपनी दशा को देखें। ईश्वर को मानने वाले का जीवन कैसा होना चाहिए? कैसा होना चाहिए तो सबसे पहली बात है कि उसके जीवन में से अभाव खत्म हो जाना चाहिए। जी! ठीक है न? जीवन में अभाव सताता है, इस बात का अनुभव आप सभी अपने-अपने ढंग से करते होंगे, मुझे पता नहीं है कि कैसा-कैसा अपने लोगों को लगता है लेकिन अपनी बात मैं जानती हूँ।

अपना पता मुझे है। छोटी उम्र से खूब खेल रहे हैं, खूब पढ़ रहे हैं, खूब मित्र-मण्डली में सखी सहेलियों के साथ, तो किसी भी प्रकार से मुझको भीतर से उतनी प्रसन्नता लगती ही नहीं थी कि जितनी लगनी चाहिए। तो खेलते-खेलते मैं रूक जाती और सोचती कि बस हो गया। इतना ही मजा है, इससे तो मेरा जी भरा नहीं और मिलना चाहिए। और मजे की खोज में चलो और खेलों और खाओ और पहनों ऐसा करते ही करते थोड़े समय में इतनी घनी प्रतिकूलता सामने आ गई। सब प्रेम का जो वातावरण माता-पिता के लाड़-प्यार दुलार का, खेलने का, कूदने का वह सब एकदम एक भयंकर घोर दुःखद परिस्थिति में समय बदल गया, तो अब उसके बाद अभाव की पीड़ा का क्या कहना?

तो वह बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया और जब मैं संत के पास पहुँची तो इस प्रश्न को लेकर पहुँची कि क्या मनुष्य सारी जिंदगी अभाव की पीड़ा को सहते रहने ही के लिए पैदा हुआ है? क्या मनुष्य हमेशा अभाव में पड़ा ही रहेगा। यह अभाव मिटता नहीं है तो मैं अपने ढंग से साहित्यिक भाषा में बोला करती स्वामी जी से महाराज जी, मैं तो अभाव का अभाव करने आई हूँ। अभाव का अभाव कैसे होता है, यह मुझे सिखाओ, बताओ। तो अभाव की पीड़ा को जिन हमारी भाई-बहनों ने अनुभव किया है, उनको इस बात का प्रत्यक्ष आनन्द आ गया होगा कि ईश्वर हैं और मेरे अपने हैं। इस स्वीकृति मात्र से कैसे वह भीतर की कसक एक बेबसी की पीड़ा, अभाव का एक दुःख कैसे मिट जाता है, यह उन भाई-बहनों से अनुभव की बात होगी। मैं समझती हूँ कि साधरणतः साधक लोग क्या मान लेते हैं कि हम खूब आँख बन्द करके जप करेंगे, ध्यान करेंगे, नाम लेंगे। ऐसे करेंगे ऐसा करेंगे। तो क्या होगा? तो उसका परिणाम यह होगा कि किसी दिन भगवान प्रत्यक्ष रूप में मेरे सामने खड़े हो जाएँगे, मुझ को दर्शन मिल जाएगा। मैं देख लूँ कि यह है भगवान। ऐसी बात, ऐसी कल्पना, ऐसा चिंतन भाई-बहनों के दिल-दिमाग में रहता है। साधकों से ऐसी चर्चा मैंने सुनी है। लेकिन जीवन का विश्लेषण करने की आदत जो मेरी थी पुरानी, उसमें मानव सेवा संघ का सिद्धान्त जो है वह एकदम बमदज चमतबमदज पिज बैठ गया। उसका मतलब यह है कि किसी क्षण में भगवान

तुम्हारे सामने प्रकट दिख गए, दर्शन मिल गया तो इसको तुम साधक की सफलता मानो यह बेकार की बात होगी। क्यों? क्योंकि इसी पर साधक की दृष्टि अटक जाएगी।

वह हर समय ऐसे ही सोचता रहेगा। फिर क्या होगा? कि उसके संकल्प से उसके मानस की बनावट के अनुसार कभी कुछ ऐसा हो भी गया तो क्या हुआ? कभी-कभी एक झलक मिल गई और फिर वह छिप गई, तो कहाँ गया तुम्हारा ईश्वर-प्राप्ति का अनुभव? ठीक है न। सो नहीं है, ऐसा नहीं होता है। जीवन का विश्लेषण करके, व्यक्तित्व का विश्लेषण ंदंसलेपे की जो एक पृष्ठ भूमि थी मेरी उसमे महाराज की वाणी और साधन एकदम पिज बैठ गया। क्या हो गया कि मैंने यह जाना कि जब साधक अपनी स्वेच्छा से जीवन की आवश्यकता को सामने रखकर परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लेता है और उनको अपना मान लेता है, तो उसके भीतर अपने मैं जो कमी महसूस होती थी, अभाव-अभाव हर समय सताता रहता था, वह अभाव तत्काल ही मिट जाता है।

यह किसका फल हुआ? यह ईश्वर-विश्वास और सम्बन्ध को स्वीकार करने का फल हुआ। यह तो साधक की दृष्टि से हो गई और ऊपर से देखो तो और क्या हुआ? तो और क्या हुआ कि जब सत्य की स्वीकृति आपने अपने लिए कर ली तो जो परमात्मा नित्य निरन्तर आप ही में विद्यमान रहते आए है, सदा से उन विद्यमान परमात्मा का एक प्रभाव आपके अनुभव में आ गया। उनके तो और बहुत से प्रभाव हैं लेकिन जहाँ से अपने ईश्वर-विश्वास का प्रभाव आरम्भ हुआ था, जो श्रीगणेश हुआ था वह मैंने आपकी सेवा में निवेदन किया। महाराज जी ने कहा न कि इतनी तैयारी के पश्चात परमात्मा को सुनने से उसे मान लिया जाता है। परमात्मा उसका अभाव मिटा देते हैं। तो पहले अभाव मिट जाता है, फिर जीवन सरस भी हो जाता है।

तो आज अपने लोगों के लिए कौन-सा पाठ लेना है। हम सब लोगों को पाठ भी तो लेना है न, केवल सिद्धान्त तो नहीं सुनना है। ऐसा-ऐसा होता है, यह अनुभवी संत ने कह दिया। अब मैं क्या करूँ? मैं कैसे उस अनुभव को ग्रहण करूं? तब आप सोच करके देखिए कि जिस समय से आपने प्रभु की सत्ता को स्वीकार किया, उनकी आत्मीयता को स्वीकार किया, अपने को उनके प्रेमी बनाकर रखना पसंद किया, उस समय से लेकर अब तक आपके जीवन की जो वर्तमान की दशा है, उसमें परिवर्तन आया है कि नहीं आया है? देखने की बात है, अभाव सताता है कि अभाव मिट गया? भीतर-भीतर भरा हुआ लगता है, कि सूना-सूना लगता है? ऐसा देखना। तो जब वस्तु और व्यक्तियों की आसक्ति में आदमी फंस रहता है तो आसक्ति का प्रभाव है नीरसता और अभाव तथा ईश्वर-विश्वास और भक्ति का प्रभाव है सरसता और पूर्णता। तो अगर भीतर-भीतर सूना-सूना लग रहा है, खाली-खाली लग रहा है, बाहर की वस्तुओं से मिलने-जुलने, बोलने की आवश्यकता मालूम हो रही है, व्यक्तियों से बातचीत करने की आवश्यकता मालूम हो रही है तो उसका मतलब यह है कि मेरा ईश्वर-विश्वास मेरे जीवन में सजीव नहीं हुआ। ठीक है न, बिल्कुल सच्ची बात है। कभी-कभी मुझे इतना दुःख होता है। किसी साधक के दुःख से मैं जब सुनती हूँ। एक साधक पति-पत्नि आए और दोनों ही बहुत अच्छे पढ़े लिखे, समझदार और पैसे वाले भी, उन्होंने कहा कि हम आप के पास रहेंगे और

एकान्त में रहेंगें, अपनी साधना में रहेंगे। पति ने बताया मुझे कि साधना के लिए मैंने घर-बार छोड़ दिया है और बहुत अच्छी नौकरी थी बसंे वदम चवेज थी ळवअमतदउमदज में। जो दे सकते थे सो मैंने दे दिया। 2-4 दिन वे लोग मेरे पास नहीं आए, रहे अपनी साधना में। उसके बाद वह महिला निकल कर आई मेरे पास और कहने लगी, माता जी अकेले-अकेले तो रह कर आदमी पागल हो जाएगा। तो मैंने मन में सोचा कि अरे मेरी बहन, मैंने कब कहा था कि तू अकेले बैठ। हमने कब कहा था। फिर मैंने उन लोगों को बैठा कर बातचीत की। हमने कही कि इसका अर्थ यह है कि जिस सम्य को तुमने स्वीकार किया, जिस साधना की सपदम को तुमने पकड़ा, उसने तुम्हारे जीवन का स्पर्श नहीं किया है। नहीं तो अकेलापन कैसे सिद्ध होगा, क्यों मालूम होगा कि मैं अकेले हूँ। वह तो व्यक्तियों और वस्तुओं का सम्बन्ध जो है वह व्यक्ति के भीतर हृदय में नीरसता, शुष्कता, अकेलापन भर देता है।

आसक्ति के कारण तुमको भीतर-भीतर सूना लगता है, तो भ्रम वश तुम बाहर-बाहर से बातचीत करके, काम-धाम करके धूम फिर करके अपने को बहलाना पसंद करते हो। नहीं तो सच्ची बात क्या है? सच्ची बात यह है कि जिसने सत्य को स्वीकार किया, उसकी स्वीकृति मात्र से उसके जीवन में ऐसी लगन लग जाती है कि अपने से भिन्न किसी की आवश्यकता ही नहीं रहती है। तो एक कसौटी मैं यह रखती हूँ अपने भाई-बहनों के लिए। बहुत आत्मीयता की बात है, बहुत ही प्रियता की बात है कि आलोचना की दृष्टि से नहीं, किसी साधक को छोटा समझ कर नहीं। हम सभी प्रभु-प्रेम-पंथ के पथिक है। बड़ा अच्छा होगा कि हम सबका सामूहिक संकल्प एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करता रहेगा और अपने रास्ते पर हम जहाँ भी रहेंगे सब एक साथ आगे बढ़ते रहेंगे।

आज संत धाम में हम सब इस पवित्र उद्देश्य से इक्ट्ठे हुए हैं। 22 तारीख को समारोह पूरा जो जाऐगा, ये सारी मूर्तियाँ बिखर जाएँगी। जगह-जगह पर चली जाएगी तो शरीर से भले हम एक-दूसरे से दूर हो जाएँ परन्तु एक संत की कृपा की छाया में हमने अपने को साधक करके स्वीकार किया। एक परमात्मा की प्रेम की गोद में हम लोगों ने जीवन धारण किया है। और उसी की कृपालुता उसी की मंगलकारिता के आधार पर हम आगे बढ़ना चाह रहे हैं। सृष्टि में हम सब भाई-बहन एक है और हम सबके हृदय में यह भाव होना चाहिए कि हे परमात्मा, हे मेरे प्यारे, हे मेरे प्रभु हम सब भाई-बहनों का कल्याण करो। तो इस सद्भावना में शरीर की दूरी से कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

ठीक है न? तो इसी भाव से मैं यह कह रही हूँ कि हम लोगों को अकेले बैठ करके अपना नंगा चित्र अपने सामने रखकर के देखना चाहिए कि मेरी स्वीकृति और मेरी साधना ने मेरे हृदय को स्पर्श किया कि नहीं किया कि प्रभु हैं। हम कहेंगे कि आप इन्कार करिए कह दीजिए कि नहीं है तो आप लोग कहेंगे यह कैसी बात कह रही हैं बहन जी यह कैसे हो सकता है। हम न कैसे कह दें। तो कहने के लिए तो हम न नहीं कहेंगे लेकिन मेरा जीवन इस बात की ओर संकेत करता है कि नहीं।

अकेले-अकेले इन सब बातों पर मैं विचार करती रहती हूँ, तरह-तरह की बातें सूझती हैं। अब देखिए कितने प्रकार के लोगों से व्यवहार करना पड़ा। अगर आप किसी से झूठमूठ को बात बना रहे हैं, मन में है कुछ और मुख से बोल रहे हैं कुछ। क्या यह नहीं कहा जाएगा कि उस समय

आपने उस सर्वव्यापी परमात्मा के अस्तित्व को इन्कार कर दिया होगा। जी! ठीक है न? और नहीं तो भक्त क्या करता है? अपनी ही भूल से पीड़ित हो करके, अधीर हो करके भक्त कहता है- का मुख ले विनती करूँ, का मुख ले विनती लाज आवत है मोहि, तू देखत अवगुण कियो कैसै भाँऊ ताहि। अब हृदय पर हाथ रखकर सोचो। तो सत्य से भटक कर के, सत्य से भिन्न होकर करके जब हम लोग कुछ करते हैं तो उस समय याद रहता है क्या, कि मेरा सर्वज्ञ प्यारा, सर्वव्यापी प्यारा देख रहा है, याद आता है? अगर याद आता है तो हम लोग सत्य से हट करके कुछ कर ही नहीं सकते हैं और अगर याद नहीं आता है, अपने को बुद्धिमान सोच करके दूसरे की अजानकारी का अनुचित लाभ उठा रहे हैं तो जिस समय ऐसी प्रवृत्ति में लगा है कोई, उस समय ईश्वर के अस्तित्व को उसने इन्कार कर दिया कि नहीं कर दिया? जी! कर दिया। आप भक्त हो गए कि नहीं। प्रभु का नाम सुन कर आपके अश्रुपात हो रहा है कि नहीं कि भाव-समाधि में आप डूबे हैं कि नहीं कि आपके अहं का लोप हो गया है कि नहीं।

यह तो पीछे की बात है। देखा जाएगा विकास होगा तब यह बातें होंगी। लेकिन आज की अपनी प्रारम्भिक दशा तो देखो कि हम सब लोग ईश्वर विश्वास बन कर बैठे हैं और सत्य वचन की जगह मिथ्या वचन का प्रयोग कर रहे हैं तो जिस किसी से हम झूठ बोल रहे हैं, उसके भीतर हमारा सर्वज्ञ प्यारा मौजूद है कि नहीं है? है, तो उस भक्त की भाँति क्या मेरा हृदय फटना नहीं चाहिए इस अपनी भूल से। का मुख ले विनती करूँ लाज आवत है मोहि, तुम देखत अवगुण कियो कैसे भाऊँ तोहि। यह पीड़ा होती है क्या? अगर होती है तो समर्थ तत्काल ही उसे परम पवित्र बना लेता है।

देर थोड़े लगती है, देर नहीं लगती है। जहाँ भीतर में अन्दर में ग्लानि पैदा हुई कि हाय-हाय यह मैंने क्या किया, अपने प्यारे के देखते-देखते मैंने ऐसे वचन मुँह से निकाले जो कि नहीं निकालने चाहिए थे। अपने प्यारे की उपस्थिति में उनके इस प्राणी का तिरस्कार किया मैंने, क्या समझा मैंनंे, कड़े वचन सुनाए मैंने। हाय-हाय मैंने यह क्या किया। तो जिस समय ईश्वर-विश्वासी के हृदय में ग्लानि उत्पन्न होती है कि हाय मैंने तो, जो नहीं करना चाहिए था, वह कर डाला, अब क्या करूँ?

तो जिस समय अन्तर में अपनी भूल के लिए ग्लानि पैदा होती है, उसी समय वह अन्र्तयामी प्रभु उसको साधु के समान पवित्र बना देते हैं। पता नहीं, ईश्वर-वाद का क्या अर्थ लिया जा रहा है? खास वेशभूषा हो गई तो ईश्वरवादी हो गए। खास प्रकार का रहन-सहन बना लिया तो ईश्वर-वादी हो गए। तो वेश-भूषा, रहन-सहन का तरीका यह सब तो बाद की बात है, बाहर की बात है। अन्तर की दशा तो देखो कि जिस विश्वासी का विश्वास मैंने धारण किया, उसने मेरे हृदय को स्पर्श किया कि नहीं। अगर उस विश्वास से मेरा हृदय जुट गया है, अगर मेरे विश्वास में इतनी सजीवता है तो मेरे हृदय में कोमलता आ जानी चाहिए थी, मधुरता आ जानी चाहिए थी, गौरियत की भावना मिट जानी चाहिए थी। अहं का अभिमान गल जाना चाहिए था। हृदय की कठोरता घट जानी चाहिए थी कि नहीं?

एक भोली भाली साधक महिला बहन हमारी, एक दिन आकर के मुझे कहने लगी किसी संत के बारे में। चर्चा हम लोगों ने की थी तो संत की घटना ऐसी है कि वे प्रभु की आराधना में भोर में 4 बजे बैठे थे। तो जिनके हृदय का तार

परमात्मा के साथ जुट गया है, उनकी याद में इतना प्रेम उमड़ता है कि समय और स्थान का भास खत्म हो जाता है। शरीर का भास नहीं रहा तो ज्पउम - चसंबम रहेगा कैसे? काल और स्थान खत्म हो गया। बहुत देर हो गई जो काम प्रतिदिन किया करते थे वह नहीं कर सके। तो जब उनके ध्यान में आया तो वह दौड़ करके गए कि आज मुझे बड़ी देर हो गई। मुझे समय पर पहुँचना चाहिए था। जो काम मेरे जिम्मे था मुझे करना चाहिए था तो सबको बड़ी तकलीफ हुई होगी। दौड़कर के गए देखने पूछने कि किसने किया होगा, कैसे काम हुआ होगा? तो वहाँ के लोगों ने बताया कि तुमको हो क्या गया? तुम ठीक समय पर आए तो थे। तुमने सब काम किया तो। तो वे समझ गए, वे व्याकुल हो गए कि अरे, यह कैसी मेरी पूजा? मेरे प्यारे को मेरी जगह पर झाड़ू लगाना पड़ा, बिस्तर बिछाना पड़ा, टोकरी उठानी पड़ी बहुत व्याकुल हो गए। यह कथा मेरी उस बहन ने सुन ली थी तो एक दिन आई मेरे पास और कहने लगी दीदी एक बात बताओ मुझे।

मैंने कहा बोलो भाई क्या बात है? तो उन्होंने कहा, उस संत का नाम लिया हम लोग जानते हैं खूब परिचित संत हैं, उनका नाम लिया और कहने लगी कि वे भूल गए थे, तो भगवान ने उनकी जगह झाड़ू लगा लिया सब काम कर दिया और दीदी मैं तो सो गई थी, तो मेरा काम तो भगवान ने किया ही नहीं। हृदय का भोेलापन है। लेकिन हँसी आ गई मुझे भी, जैसे आप सभी हँस रहे हो। भक्ति का अगर यह अर्थ कोई लगाए कि मैं सो जाऊँ, मुझे नींद आ जाए और भगवान मेरी जगह पर सब काम कर दे तो यह बड़ी भारी भूल होगी। भक्त तो ऐसा नहीं कहते हैं, भक्त तो ऐसा नहीं चाहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी के लिए आप लोगों ने सुना होगा कि रामायण की प्रतियाँ लिख-लिख करके वे रखते थे कुटिया में। तो पुराने उस समय के पंडित लोग जो थे, उनमें बड़ा द्वेष पैदा हो गया कि इसका बड़ा नाम हो रहा है तो उन्होंने चोरों को भेज दिया रात में कि जाकर के उनकी कुटिया में से लिखी हुई प्रति चुरा लाओ। तो चोर जब वहाँ गए, तो जैसे ही वे लोग पहुँचे तुलसीदास जी तो सो रहे थे और कुटिया के दरवाजे पर दोनों ओर श्याम-गौर दोनों भैया पहरा दे रहे थे। बड़ा प्रकाश फैला था। सच्ची घटना है यह कल्पना नहीं है। बड़ा प्रकाश फैला था तो चोर वहाँ जाए कैसे? वहाँ तो जा नहीं सकते थे, पहुंच नहीं सकते थे। उस प्रकाश को देख करके सहन नहीं कर सकते थे ये कौन है? यह कैसा प्रकाश है। तो वे लौट गए, दूर ही से लौट गए और उनके ध्यान में कुछ आया ही नहीं।

अब उस दर्शन का एक प्रभाव हुआ कि उनके भीतर से बुरी भावनाएँ मिट गई होंगी कि नहीं। सूर्य का उदय होगा तो प्रकाश से अन्धकार मिटेगा ही। तो वे चोर गलत उद्देश्य लेकर आए थे तब भी उस परम प्रकाशक प्रभु का प्रकाश जो उनके देखने में आ गया तो उससे ही उनका हृदय बदल गया। दूसरे दिन वे दोनों गोंसाई जी के पास आए, आम नागरिकों के वेश में आए और आकर के उनके चरणों में गिर गए कि महाराज हम लोगों को क्षमा करिए, बड़ी भूल हो गई बड़ी भूल हो गई। क्या हो गया भई? क्या भूल हो गई?

तो उन्होंने सब कथा सुना दी कि अमुक-अमुक पंडित ने हम लोगों को ऐसा कहा था और हम लोग चोरी करने आए, तो महाराज क्या बताएँ आपकी इस कुटिया के दरवाजे पर तो बड़े सुन्दर-सुन्दर श्याम-गौर दो बालक खड़े थे और इतना

प्रकाश फैल रहा था, इतना प्रकाश फैल रहा था कि पंडित जी, गोस्वामी जी, कि हम लोगों से तो सहन ही नहीं हुआ और हम लोग भाग गए, तो आज से हम लोग कभी भी चोरी नहीं करेंगे। गोस्वामी जी हमको अपना शिष्य बनाइए। तो गोस्वामी जी शिष्य तो क्या बनाएँगे? अरे, अरे-अरे मेरे सरकार को इन पोथियों के लिए कष्ट उठाना पड़ा, पहरा देना पड़ा। अब क्या करेंगे इसको रख के, अब क्या करेंगे इसको रखकर। इतने अधीर हो गए इतने व्याकुल हो गए कि उन्होंने उस समय बादशाह थे अकबर, उनके मंत्री थे राजा टोडरमल। उनसे गोस्वामी जी की मित्रता थी और वे बादशाह के मंत्री थे तो उनके पास सुरक्षा का बहुत इंतजाम था। गोस्वामी जी ने एकदम अपनी प्रति लिपियों को लिखी हुई रामायण की प्रतिलिपियों को राजा टोडरमल को दे दिया। कह दिया मित्र को कि इनको संभाल करके रखना। और कुटिया एक दम खाली कर दी।

कितना विरह उपजा, कितनी व्याकुलता हुई, उस भक्त हृदय को कितनी पीड़ा हुई, कि हाय-हाय यह मैंने क्या किया? इनके लिए सरकार को पहरा देना पड़ा, कष्ट उठाना पड़ा अत्यन्त व्याकुल हो गए। तो भक्त का जो हृदय होता है, वह अपने प्यारे को प्यार देने के लिए होता है। ऐसा नहीं कि मैं सो गई, तो तुम क्यों नहीं आए पहरा देने। सो नहीं है, यह भक्ति की बात नहीं है। तो मैं आपकी सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि खास प्रकार की धारणाएँ बनाकर बैठ जाते हैं जो भाई-बहन कि मेरी भक्ति का यह फल होगा। तो वह अपनी बनाई हुई धारणा जो है वह भक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पहुँचाती है।

इसलिए धारणा बनाकर मत बैठो, उनके होकर रहना पंसद करो। फिर देखो उनकी क्या मौज होती है, बड़ा आनन्द होगा जब हम लोग अपनी तरफ से अपने को बिल्कुल उनकी प्रसन्नता पर छोड़ देंगे कि महाराज अब इस दीन-हीन, तुच्छ, नगण्य जीवन को आप जैसे चाहें वैसे अपनी विभूतियों से सम्पन्न करें। अपनी प्रसन्नता के लायक बनाएँ तो अपना संकल्प छोड़ दो, अपनी कल्पना छोड़ दो और महाराज मुझको समझाने के लिए मेरी भाषा का प्रयोग करते तो कहते देवकी जी, दिमाग में भगवान का कार्टून मत बनाना, कार्टून। अखबारों में आपने कार्टून देखा होगा न? व्यंगय चित्र कार्टून का अर्थ होता है। देवकी जी, तुम दिमाग में भगवान का कार्टून मत बनाना। प्यारे बड़े रसिक हैं। प्यारे बड़े कौतुकी हैं, प्यारे बड़े कृपालु हैं, बड़े प्रेमी हैं तुम अपनी तरफ से केवल एक बार अपने को छोड़ दो, फिर देखो कि इस मिट्टी से वे कितना सुन्दर खिलौना गढ़ लेंगे फिर उससे खुद को रिझाएँगे।

ईश्वर-भक्ति का यह अर्थ है जो स्वामीजी महाराज के अनुभव से सिद्ध है और जो मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुरूप है। अब समय तो खत्म हो गया, कथा तो खत्म हो होती नहीं है। हरि अनन्त हरि कथा अनन्त। तो सरस कथा जीवन को पवित्र करे, इसी भावना से अब सब भाई-बहन थोड़ी देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाओ।

प्रवचन(16)

स्वामी जी महाराज के साथ बातचीत.... सत्संग की बैठक में बातचीत चल रही है। स्वर्गाश्रम में वट वृक्ष के नीचे बातचीत हो रही थी तो प्रश्न उठा है उसमें, परमात्मा की याद आने की बात से। तो स्वामी जी महाराज यह सलाह दे रहे हैं कि भई, मरे हुए कुटुम्बी जनों की याद आती है

और मौजूद परमात्मा को याद करना पड़ता है और उसमें भी सफलता नहीं मिलती है। ऐसा क्यों? तो ऐसा सोचो, तो सोचने से साफ विदित होता है कि जिनको हमने अपना माना, उनकी याद स्वभाव से आती है। इसलिए ईश्वर-विश्वासी साधक, जो उनकी स्मृति को जीवन बनाना चाहते हैं उनकी याद में ही रहना जिनको पसंद है, उनको क्या करना चाहिए? तो उनको यह ही करना चाहिए कि परमात्मा को अपना मानो, पसंद करो। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में बातचीत होती है तो यह कहा जाता है कि जहाँ-जहाँ हमारा पदजमतमेज है, अभिरूचि है वहीं-वहीं मन जाकर ठहराता है। इसको तो आपने स्वयं अनुभव किया होगा।

जो-जो बातें अपने लोगों को रूचिकर लगती हैं, रूचिकर बातों में जा करके मन ठहरता है कुछ समय के लिए और जिसमें आपकी रूचि नहीं है, उसमें मन नहीं जाता। तो जो पसंद आए, जो रूचिकर लगे, जहाँ हमारा पदजमतमेज हो, उसी में जाकर के मन ठहर जाएगा, टिक जाएगा। तो स्वामी जी महाराज कह रहे हैं कि परमात्मा को पसंद करना, उनको अपना मानना यह तो हमारा आपका अपना पुरूषार्थ है, स्वधर्म है। और मेरी इस पसंदगी से उनकी याद स्वभाव से आने लग जाएगी, यह उस पुरूषार्थ का, उस स्वधर्म के पालन का फल है। तो उनको हम पसंद करे, यह मेरा स्वधर्म है।

उनकी सत्ता को स्वीकार करके उनसे आत्मीय सम्बन्ध मानें, यह हमारा स्वधर्म है और मेरी इस मान्यता और पसंदगी की मान्यता से उनकी याद आने लग जाए, यह स्वधर्म पालन का फल है। ऐसा वे बता रहे हैं। तो यह बात सही है। आपने देखा होगा, मैंने बहुत अच्छी तरह से इसका अनुभव किया है कि सचमुच जो अपना नहीं है और अपने में नहीं है सदैव और सर्वत्र नहीं है, सब काल सब स्थान में ऐसा जो नहीं है, उसकी याद आने पर मनुष्य के जीवन में अभाव और नीरसता उपजती है। जो प्राप्त नहीं है, मौजूद नहीं है, अपने में नहीं है, उसकी याद अगर आएगी तो अपने में अभाव का अनुभव होगा। क्या करें, वह कब मिलेगा, कहाँ है कैसा है जो अपना नहीं है, उसकी याद का यह फल होता है। और परमात्मा जो सभी का अपना है और सभी में नित्य निरन्तर विद्यमान है, उसे जब आदमी पसंद कर लेता है और उसकी याद जब आती है तो बड़ा चमत्कार होता है ईश्वर-विश्वासी के व्यक्तित्व में।

यह तो मनोविज्ञान की भाषा है, मैं व्यक्तित्व बोल रही हूँ और दूसरी भाषा बोलूँ तो कहेंगे उसका बड़ा चमत्कार पूर्ण प्रभाव होता है हमारे आपके अहं में। क्या होता है? कि जो नित्य विद्यमान है, उसको जब पसंद किया जाता है, उसकी पसंदगी से, आत्मीयता के सम्बन्ध से जब उसकी स्मृति जाग्रत होती है तो जो नित्य विद्यमान है उसकी याद आने मात्र से उसकी उपस्थिति से जीवन भरने लगता है। तो एक तो है अप्राप्त और उसकी याद आई तो अपने में सूनापन आ गया और एक है नित्य विद्यमान, भीतर-बाहर सब तरफ हर तरह से भरपूर, तो उसकी याद आ गई तो उसकी याद आने मात्र से जीवन भरने लगता है, अभाव मिटने लगता है, सरसता बढ़ने लगती है। और वह रस जो कि जीवन-रस है, अविनाशी रस है, हमारी अपनी आवश्यकता के अनुरूप है। इसलिए उस रस की वृद्धि से शेष सबकी विस्मृति हो जाती है। महाराज जी ने एक जगह पर एक वाक्य लिखा है। एक दिन हम विवेचन कर रहे थे कि संसार के साथ रहने

पर भगवान की याद आती है। और भगवान के साथ रहने पर संसार को भूल जाता है आदमी। तो ऐसा तो उसका एक सहज प्रभाव बताया। बहुत सच्ची बात है और अनुभव करने के योग्य बात है। जिन अनुभवी जनों ने अनुभव किया, उन्होंने अपना इसी प्रकार का अनुभव बताया है। तो बीच में एक भाई ने प्रश्न कर दिया कि परमात्मा को पसंद करने में और उनको अपना मानने में और उनकी स्मृति में रहने में जो हमारे पुराने संस्कार हैं, वे बाधा डालते हैं। तो इस पर प्रश्न-उत्तर हो रहा है। महाराज जी ने कहा, कि यह बात नहीं है, ऐसा नहीं है, संस्कार बाधा नहीं डाल सकते हैं।

पुराने किए-कराए का जो निशान बन जाता है स्नायु में ेजंउच बन जाते हैं। भोगे हुए सुखों का प्रभाव, अतृप्त वासनाओं का प्रभाव, नए पुराने जो वहाँ पर अंकित हैं तो उनका तमअपअंस होता रहता है, उनकी पुनरावृति होती रहती है, बार-बार वे सामने आते रहते हैं, इस प्रलोभन से कि पुनः उसी सुख को दोहराया जाए। तो स्वामी जी महाराज ने कहा, कि अगर कोई पुराना संस्कार, भोग हुए सुख के प्रभाव से जो राग अंकित हो गया है वह अगर तुम्हारे सामने आ भी जाए तो अगर तुम उसका समर्थन नहीं करोगे तो जबरदस्ती तुम्हारे सिर पर नहीं चढ़ेगा। और उदाहरण के लिए बता दिया कि जैसे चाय पीने की आदत है। बहुत मामूली उदाहरण लेना चाहिए। चाय पीने की आदत है और तुमको अभी नहीं पीना है तो अगर कोई एक प्याला लाकर के तुम्हारे सामने रख दे तो पीने का जो नुकसान है, वह चाय को देखने से तो नहीं हो जाएगा? जी! नहीं हो जाएगा। तो जैसे बाहर दिख रहा था वैसे अगर भीतर दिख गया तो घबराते क्यों हो? बाहर वाला दृश्य ही न भीतर अंकित होगा। अभी देख रहे हैं तो अथवा पहले का देखा हुआ था कभी का। किसी भी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से किसी प्रकार का सुख भोगा हुआ है, अथवा भोगने की इच्छा रखते हैं तो उसी का चित्र बनता है, बाहर देखो अथवा भीतर देखो। तो महाराज कह रहे हैं कि अगर कोई चित्र तुम्हारे मस्तिष्क में आ गया प्रकट सामने चेतन स्तर पर और तुम्हें दिख गया तो उसका समर्थन नहीं करोगे और उस प्रवृति में पुनः अपने को नहीं लगाओगे, तो फिर वह तुम्हारा कोई नुकसान कर सकता है? नुकसान तो नहीं करेगा। तो दीखेगा और उसे इन्कार कर दो, उसे पकड़ों मत, उसे रखो मत सँभाल करके तो बीच-बीच में भगवत्-भजन के बीच में, याद के बीच में अगर ऐसी कोई बात होती है, तो उससे साधक-समाज को घबराना नहीं चाहिए।

यह कह रहे हैं। और तीन वाक्य अभी महाराज जी ने बताए। समर्थन नहीं करोगे, हाँ नहीं भरोगे यह कहा और लड़ोगे नहीं उससे, यह कहा। तो उससे लड़ो मत और उसका समर्थन मत करो, हाँ भी मत करो और उससे संघर्ष भी मत करो, तो वह अपने आप से नाश हो जाएगा। ऐसा उन्होंने बताया और आगे उसी में प्रश्न करने वाले प्रश्न करते जा रहे हैं, स्वामी जी महाराज उत्तर देते जा रहे हैं। जो खास बात है, वह मैंने आपकी सेवा में निवेदन कर दिया। यह ही वे कह रहे हैं कि बीच-बीच में अगर पुरानी बातें याद आती हैं तो उनके आने से कोई नुकसान नहीं होता है। अगर उनको आने से रोकना चाहोगे तब नुकसान होगा। अगर उनके उठने पर उनका समर्थन करोगे फिर उस प्रवृति में सम्मिलित होकर भोग-जनित सुख लेना पसंद करोगे, तब नुकसान होगा और हाँ भी मत करो और उनसे लड़ो भी मत, संघर्ष भी मत करो, तब कोई

नुकसान नहीं हो सकता है और उनके डर से डरना भी नहीं चाहिए।

अब जब उन प्रवृत्तियों को अपने को दोहराना ही नहीं है तो जो उनका उमउवतल ेजंउच पड़ा हुआ है स्नायु मण्डल में, वह अपने आप से आ भी जाएगा चेतन स्तर पर, और अपने आप से खत्म भी हो जाएगा। आगे फिर उसी में कह रहे हैं कि कभी-कभी साधक-जन से भूल होती है। क्या भूल होती है, कि पुरानी जो मेरी पसंदगी थी सुख-भोग की, उस पसंदगी के कारण से अनेक प्रकार के राग अंकित हो गए। और जब शान्ति-काल में वे उठ-उठ कर मस्तिष्क में आते हैं और मन में हलचल मालूम होती है। तरह-तरह के विचारों के चित्र सम्मुख आते हैं, तब क्या करता है आदमी? अपने आप से आने वाले उन चिन्तनों को, करने वाले चिन्तन से दबा करके मिटा करके उसको खत्म करना चाहता है। तो व्यर्थ चिंतन उठता है मन में तो कोई-कोई साधक उसको सार्थक चिंतन से दबा देने की चेष्टा करते हैं। तो संसार की याद आ रही है, तो जल्दी-जल्दी भगवान का नाम ले करके संसार की याद को दबा दो। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य के विरूद्ध बात है। यह महाराज जी ने कहा कि होने वाली क्रियाको किसी करने वाली क्रिया से मिटाना चाहते हो, तो यह सम्भव नहीं है। बिना चाहे, बिना किए अपने आप व्यर्थ चिंतन उपज रहा है, तो अपने आप जो उपज रहा है उसको करने वाले चिंतन से तुम दबा सकते हो, थोड़ी सी देर के लिए, अल्पकाल के लिए, लेकिन मिटा नहीं सकते हैं।

तो होना क्या चाहिए? तो होना तो चाहिए था उल्टा। कौन-सी बात होनी चाहिए थी? कि सत्य की स्वीकृति के आधार पर, स्वधर्म के पालन के आधार पर, प्रभु की पसंदगी और उनके प्रेम की अभिलाषा के आधार पर, उनके माने हुए आत्मीय सम्बन्ध के आधार पर, उनका चिंतन, उनका ध्यान, उनकी याद स्वतः आनी चाहिए थी। और जैसा कि मैंने पहले निवेदन किया आपको कि उनका ध्यान, उनका चिंतन, उनकी याद आने मात्र से उसमें इतनी सजीवता और इतनी सरसता होती है कि उस रस के प्रभाव से पहले से सब जमे हुए राग और विचार खत्म हो जाते हैं।

तो होना चाहिए था स्वभाव से यह कि हमने सत्संग किया होता, सत्य को स्वीकार किया होता, स्वधर्म का पालन किया होता तो आज जिनकी याद करने पर भी याद नहीं आती है, उनकी स्मृति स्वतः जाग्रत हो गई होती। स्वभाव से यह होना चाहिए था। लेकिन भूल के परिणाम से क्या हो गया? कि मैंने भूतकाल में वस्तुओं को महत्त्व दिया, व्यक्तियों को महत्त्व दिया और दृश्य के संयोग के सुख को भोगना पसंद किया, उनके प्रभाव से अनेक राग अंकित हो गए तो उनका उपजना, उनका चेतन स्तर पर आना, उसके कारण से मस्तिष्क में हलचल मचना, यह मालूम होता है कि स्वभाविक हो गया है। है यह भूल का परिणाम। तो क्या करना चाहिए? कि भूतकाल में जो हो गया, उसको पकड़ कर बैठे मत रहो। भूतकाल कैसे भी बीता हो अब वर्तमान में आगे से किसी प्रकार के सुख-भोग की प्रवृति में अपने को शामिल नहीं होना है। तो क्या होगा? फिर नया कोई राग उत्पन्न नहीं होगा।

दूसरी बात क्या होनी चाहिए? कि जो सदा-सदा से अपना है, उसके अपने-पन को स्वीकार करना चाहिए। और पसंदगी की बात ज्यादा जोरदार बताई महाराज जी ने फिर क्या होता है? कि ईश्वर-विश्वास के

साधकों में एक संदेह रहता है कि परमात्मा दिखाई तो देते नहीं है, कि समझ में आता नहीं है, जान-पहचान कभी हुई नहीं, प्रमाण कुछ मिलता नहीं तो उनको पसंद कैसे करें। तो पसंदगी की बात और उनके आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने की बात और उनके होकर रहने की बात, उनके प्रेम को ही जीवन मानने की बात-यह है तो बहुत आवश्यक, इसके बिना विश्वास-पंथ के साधक के जीवन में ईश्वर-विश्वास सजीव नहीं होता है। इसकी बहुत जरूरत है लेकिन कहने लग जाता है आदमी कि कैसे करें? तो एक दिन की चर्चा है, स्वामी जी महाराज का कुछ लिखा हुआ वाक्य मैं तुम लोगों को सुना रही थी जिसमें उन्होंने लिखा है कि परमात्मा है और उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है। इन वाक्यों को सुनने के लिए कितनी तैयारी चाहिए, कितनी भूमिका चाहिए अपने जीवन में और तब फिर उन्होंने बताया कि इसकी भूमिका में क्या होना चाहिए, कि सारा संसार अपने को दुःख रूप दिखाई देना चाहिए। अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, वे केवल व्यक्तिगत दुःख तक ही सीमा नहीं रखते हैं। तो जहाँ भी कहीं दुःख दिखाई देता हो तो सब दुःख को सामूहिक रूप से ग्रहण करके और अर्थ निकालते हैं।

तो जहाँ भी कहीं निर्माण, परिवर्तन, विनाश का क्रम चल रहा है, काल की अग्नि में सब जल रहा है, ऐसा जिन सचेत महापुरूषों ने अनुभव किया, जिनको सारा संसार दुःख रूप दिखाई दिया, ऐसी जिनकी तैयारी है, उनको यह सुनने का अधिकार है कि केवल उसी की सत्ता है और केवल उसी से ही मेरा नित्य सम्बन्ध है। तो सुनते तो हम सभी है, आरम्भ तो हम सभी करते हैं लेकिन एक सुनना ऐसा होता है कि वह अविनाशी परमात्मा को बिना देखे, बिना जाने भी स्वीकार कर लेता है और जो अपनी असमर्थता से अत्यन्त पीड़ित हो गया है, वह भी सुने हुए सर्वसमर्थ परमात्मा को अपना कह कर, अपना हितैषी कह कर, अपना सम्बन्धी कह कर, अपना मित्र-साथी कह कर स्वीकार कर लेता है।

तो कुछ पृष्ठ भूमि में विशेषता होनी चाहिए, कि जिस पर यह स्वीकृति सजीव हो जाती है और इसकी सजीवता में बड़ी विलक्षणता है। क्या विलक्षणता है? कि मैं जो इस क्षण में यहाँ पर बैठकर आप सभी भाई-बहनों से बातें कर रही हूँ, तो मैं कह रहीं हूँ आप सुन रहे हैं। हम सब लोग यहाँ बैठे हुए है। कहने-सुनने की क्रियाएँ चल रही हैं लेकिन इसी समय में, इसी काल में, इसी स्थान पर अन्तर्यामी रूप से भीतर-बाहर रह कर परमात्मा विद्यमान तो है लेकिन नित्य विद्यमान की विद्यमानता का अनुभव अपने लोगों को नहीं हो रहा है। तो बहुत प्रकार की चर्चा चल रही है। स्वामी जी महाराज ने किसी सत्संग का प्रसंग एक बार सुनाया। एक बड़े महात्मा परमात्मा के बारे में बहुत बढ़िया-बढ़िया बातें बता रहे थे। टेप में है, उस दिन हम लोगों ने सुना था। बता रहे थे कि परमात्मा ऐसे हैं, परमात्मा ऐसे हैं, और ऐसे सब बातें हो रही थी तो स्वामी जी महाराज कह रहे थे, कि अरे भई जो नित्य विद्यमान है, उसका वर्णन करोगे कि उससे मिलोगे। मिलना चाहिए न? जो नित्य विद्यमान है, उसका चिंतन करोगे कि उससे प्यार करोगे। चिंतन तो उसका करो, जो अप्राप्त है। भई कब मिलेगा, कहाँ मिलेगा, कैसे मिलेगा, यह करना है, वह करना है, वह करना है। तो उसका चिंतन क्या करोगे भाई? जो नित्य विद्यमान है उसको तो प्यार करना है, उसका चिंतन क्या करना है।

और जो सर्वकाल में सर्वत्र विद्यमान है तो उसको ढूँढ़ने जाओगे? ढूँढ़ने जाने की बात नहीं है। तो उसका वर्णन करोगे, कि उससे मिलोगे। कोई अपना परम मित्र बहुत दिनों के बाद कभी सामने आ जाए, तो आ जाएगा तो प्रेम पूर्वक उससे मिलिएगा कि उसके बारे में सोचिएगा कि वह ऐसा है, ऐसा है, कैसा है, कैसा है तो वर्णन तो तब तक हो सकता है कि जब तक मिलने वाला न हो। सोचते रहें ऐसा है, ऐसा है, कैसा है? तो बड़ी आवश्यक बात यह है कि उनकी सत्ता की स्वीकृति। और वह भी अधूरा ही रह जाता है केवल सत्ता की स्वीकृति मात्र से। यह बात तो मैं अपने द्वारा, अपने उदाहरण से अच्छी तरह से जानती हूँ, आप भी इसको अनुभव कर सकेंगे कि केवल सत्ता स्वीकृति मात्र से काम नहीं बनता है। वह है और भले ही उसकी महिमा जानो अथवा न जानो है और अपना है। सत्ता की भी स्वीकृति होगी और नित्य सम्बन्ध की भी स्वीकृति होगी। तो इस स्वीकृति का सजीव परिणाम अपने लोगों के जीवन पर होना चाहिए।

और वह जब होगा, तब चिंतन करना ही नहीं पड़ेगा, अपने आप उसकी याद आएगी। और जो सत्य है वह रस रूप भी है और हमारे मस्तिष्क की जो विकृत दशा है, यह विकृत दशा मैं कहती हूँ, क्यों कहती हूँ? कि जो वस्तुएँ कभी भी किसी को सन्तुष्ट कर नहीं सकतीं उन वस्तुओं को महत्त्व देना और उनके बारे में सोचना यह तो विकृति ही कही जाएगी और क्या कहा जाएगा। जिसकी याद मात्र में सारी सृष्टि डूब जाती है, वह तो दूर मालूम होता है, कठिन मालूम होता है और जिसको याद कर-कर के, जिसका चिंतन कर-कर के अनेक जन्म बरबाद कर दिए फिर भी उसी के पीछे पड़े रहे तो यह दवतउंसपजल तो नहीं है, यह विकृति मालूम होती है। तो इस तरह की बातें जो है जीवन में वे अपनी भूल से उत्पन्न हो गई हैं।

यह भूल का ही परिणाम है, स्वाभाविकता नहीं है। स्वाभाविकता ऐसी नहीं होती कि जो आपको अप्रिय लगे, जो आपको पराधीन बना दे, जो आपको असमर्थ बना दे, जो जीवन में नीरसता को भर दे और उसी के परिणामस्वरूप यह चित्त की और मन की चंचलता, अस्वस्थता, दुर्बलता सब पैदा होती रहती है। तो संत ने यह परामर्श दिया कि अपनी भूल हम लोग मिटाएँ। भूल क्या है? जिस संसार की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, जो तुम्हारे पास तक पहुँच ही नहीं सकता, उसको महत्त्व मत दो। आता है सामने, दिखता है तो जब तक दिखाई देता है, तब तक उसकी सेवा करो, उसका भला मनाओ। दिखता है, यह भी एक अस्वाभाविक दशा ही है। क्यों? क्योंकि मुझमें राग है, तब तक दिख रहा है संसार। जब तक मुझ में संकल्प है, तब तक दिख रहा है। तो यह साधन-काल की बात है कि दिखाई दे तो उसे अपने लिए न मानना, अपना न मानना, और फिर भी उसके प्रति सद्भाव रखना और सेवा करना। तो इससे तो पुराना जमा हुआ राग मिटेगा और जो सदा-सदा से है, उसको पसंद करना, उसको अपना मानना तो उसकी स्मृति जाग्रत होगी। तो राग की निवृति से शान्ति मिल जाती है और भगवत्-स्मृति की जागृति से रस की अभिव्यक्ति हो जाती है फिर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। ऐसा यह एक विवेचन है।

भूल हो जाती है हम लोगों से। एक जगह पर महाराज जी ने बड़ा सुन्दर वाक्य लिखा है, जिसमें पढ़ रही थी मैं। ऐसे ही

प्रवचन के बीच में से मैंने छवजम कर लिया होगा हमारे पास रखा हुआ है। तो कई वाक्य थे, अपने लोगों के लिए बहुत बढ़िया हैं। याद रखने से काफी सहायता मिलगी। एक हिस्सा है, जो पूर्ण है, उसी में प्रेम प्रवाहित होता है। जो अचाह है, जिसमें भोग और मोक्ष की चाह नहीं है उसी में प्रेम ठहरता है। प्रेमियों में जो प्रेम भासता है वह पूर्ण के प्रेम की छाया है। मनुष्य अचाह होने के कारण अपूर्ण होते हुए भी पूर्ण के प्रेम का पात्र बन जाता है। तभी उस पर पूर्ण के प्रेम की छाया पड़ती है।

प्रेमी अर्थात् जिसके जीवन में अपना सुख न हो, जहाँ अपने सुख की गंध नहीं, वहाँ दुःख कहाँ से सताएगा। जो अचाह है, जिसमें भोग और मोक्ष की चाह नहीं है, उसी में प्रेम ठहरता है। और आगे बताया कि प्रेमियों की भाषा में चाहने वाले को चाहना पशुता है। प्रेमियों की भाषा में चाहने वाले को चाहना पशुता है। अब जिस समय वह वाक्य मेरी दृष्टि में आया तो एकदम ऐसा लगा कि अटकने वाले सब इसी चवपदज पर अटके हुए हैं। चाहने वाले को चाहना, जिसमें अपूर्णता है जिसमें कामनाएँ हैं जो खुद ही कुछ चाहता है उसको अगर मैं पसंद करूँ तो यह पशुता है। यह उनकी भाषा है। भई उनको कौन मना करे वे तो कह ही सकते हैं। तो अब ऐसा सोच करके देखिए कि विश्वास को हम लोगों ने पसंद किया। जो विश्वास सदा के लिए निभ नहीं सकता, उसकी जगह पर ईश्वर-विश्वास को हम लोगों ने पसंद किया। और चाहते हैं कि मन की चंचलता और चित्त की विकृतियाँ सब मिट जाएँ और वहाँ पर केवल ईश्वर का ध्यान रह जाए, उन्हीं की याद रह जाए, उन्हीं के प्रति प्रियता रह जाए तो महाराज जी सलाह देते हैं कि अगर ऐसा तुम पसंद करते हो तो पुरूषार्थ करो, स्वधर्म का पालन करो। और उस रूप में क्या करना है? कि अरे भई और कुछ पसंद करने के लायक नहीं है, और किसी से जीवन की पूर्ति नहीं होती है और बिना किसी आधार के अपने से रहा नहीं जाता है तो संत जनों की वाणी सुनकर गुरु के वाक्य सुनकर, ग्रन्थ के वाक्य पढ़कर उस बिना देखे, बिना जाने अनन्त परमात्मा को अपने जीवन का आधार बनाना पसंद कर लो।

तो यह बिल्कुल सच्ची बात है, कि अहं रूपी अणु में अपने को परिवर्तित करके वस्तुओं की आसक्ति की जगह पर भगवत्-अनुराग में परिवर्तित होने की क्षमता उसमें है और वह क्षमता काम करती ही रहती है। आरम्भ कहाँ से होता है? उस जीवन की पसंदगी से। सजीवता कैसे आती है उसके निकट जो बातें है उसको छोड़ देने से। बस इतनी-सी बात है। अब जिसको जैसे सूझे, जहाँ पसंद आए, जैसे पिज बैठे, वैसे करो भाई। जोर-जबरदस्ती करने से पुराने व्यर्थ-चिंतन दब जाएँगे और ईश्वर की स्मृति जाग्रत हो जाएगी?

यह जोर-जबरदस्ती की बात नहीं है, यह बिल्कुल स्वभाविकता की बात है। और बड़ा अच्छा लगता है, मुझे बहुत आशा रहती है जीवन में, आप सभी भाई-बहनों के लिए बहुत उपयोगी बात है कि आप सिद्ध महापुरुष कब बनेंगे यह तो भविष्य बताएगा अपनी-अपनी आवश्यकता की तीव्रता बढ़ाएँ लेकिन सच्ची बात यह है कि ईश्वर-तत्त्व के समान और कुछ ठोस बात मनुष्य के जीवन में हो नहीं सकती है।

उनमें विश्वास करना और उनकी आत्मीयता को स्वीकार करना, इसके समान और कोई साधना बन नहीं सकती है, कुछ नहीं हो सकता। किस आधार पर मैं कहती हूँ? कि

सम्पूर्ण अहं गल करके प्रेम के धातु में परिवर्तित हो जाए, उसके पहले साधन के पथ पर कदम रखने मात्र से, इस स्वीकृति और विश्वास को स्वीकार करने मात्र से, अपने ही भीतर में ऐसा अद्‌भुत परिवर्तन आरम्भ हो जाता है कि भगवान अपना विविध रूप धारण करके आपकी आँखों के सामने खड़े हो जाएँगे। कब खड़े हो जाएँगे, किस रूप में आएँगे, यह तो वे जाने, हमको नहीं मालूम है। लेकिन जो साधक इस विश्वास और आत्मीयता को धारण करेगा जीवन में, तत्काल ही एक प्रतिक्रिया तो यह होती है, कि उसका अनाथपन मिट जाता है। फिर उसे कभी किसी काल में ऐसा भासित नहीं होता कि मैं अकेला हूँ, असहाय हूँ, यह हो जाता है अपने आप। आदमी की बहादुरी नहीं है, यह उनकी उपस्थिति का प्रभाव है। आप कहेंगे कि पहले क्यों नहीं था? तो पहले इसलिए नहीं था, कि आपने माना नहीं था। तो न मानो तो अत्यन्त रहस्यमय, ऐसे छिपे हुए कि बुद्धि लगा-लगा कर थक जाओ कहीं कुछ पता ही नहीं चलेगा। बड़ा विचित्र खेल है मनुष्य के जीवन का। बड़ी सुन्दर रचना है बड़ी अच्छी चसंददपदह है, योजना बड़ी सुन्दर है। क्या है? कि अगर आप इस बात को स्वीकार करने लग जाएँ तो तत्काल परिवर्तन आरम्भ हो जाएगा। कैसे हो गया? कि जिसको आपने स्वीकार किया, वह नित्य विद्यमान है, पहले ही से है। जो है, सत्य है, समर्थ है, सर्वज्ञ है और प्रेमस्वरूप है। अब ये सब बातें अपने को चाहिए कि नहीं चाहिए। दुनिया के सुख-दुःख की लहरों में जो भीग रहा है, डूब रहा है, घबरा रहा है उसको अगर ऐसा मालूम हो जाए, कि मेरा कोई समर्थ नाथ है, जो नित्य विद्यमान है, अभी है, इसी समय है ता उसे धीरज मिलेगा कि नहीं? मिलेगा। वह मेरा अपना है उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है, तो अनाथपन मिटेगा कि नहीं। और उसमें 2-4 दिन का समय लगेगा कि जैसे ही स्वीकार करेगा वैसे ही तत्काल होता है। तो बहुत छोटी-छीटी बातें हैं, जिन पर कि ध्यान नहीं जाता। लेकिन मुझे तो इन बातों पर ध्यान देने की जरूरत पड़ती थी। क्यों पड़ती थी? कि पहले से परमात्मा को मान कर चलने की मेरी आदत नहीं थी। इसलिए हमारे भीतर इस तरह की कोई धारणा ही नहीं थी कि भगवत्-भक्ति का क्या अर्थ होता है? दर्शन का क्या अर्थ होता है? मिलना कैसा होता है? उनका स्वरूप कैसा होता है? इसके सम्बन्ध में हमने कुछ कभी सोचा ही नहीं था। और महाराज जी ने मना ही कर दिया, जैसे मैं आपको सुना रही थी, देवकी जी, परमात्मा का कार्टून मत बनाना। तुम्हारा बनाया हुआ चित्र जो होगा, वह तुमको जीवन नहीं दे सकेगा।

यह उस परम प्रेमास्पद, उस परम कौतुकी पर छोड़ दो वे किस रूप में पसंद करेंगे, वे कैसे तुमको सँभालेंगे उनकी मर्जी पर छोड़ दो। तुम कोई रूप मत बनाना तो, हम सावधान हो गए। हमने कहा अच्छी बात महाराज जी, हम नहीं बनाएँगे। तो उस आधार पर मैं कहती हूँ कि कोई रूप विशेष को देखने की बात तो मेरे भीतर थी नहीं। और कल्पना करूँ और चिंतन करूँ और धारणा करूँ ये सब बातें मुझको स्वभाव से भी पसंद नहीं थी और महाराज जी ने यह सब सिखाया भी नहीं। इसलिए मैं कह रही हूँ कि आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति, सत्ता की स्वीकृति, महिमा की स्वीकृति, उनको अपने जीवन के आधार के रूप में स्वीकार करना है। ये सारी बातें जो हैं, वे तत्काल ही अहं रूपी अणु में परिवर्तन आरम्भ कर देती हैं और घबराए हुए आदमी को धीरज मिल जाता है, नीरसता से

पीड़ित व्यक्ति को स्वतः ही भीतर से भरा-भरा सा हृदय लगने लगता है। अपने को असमर्थ, अनाथ, असहाय समझने वाले को भीतर से ही यह बात ऐसी भर देती है कि किसी भी क्षण में इस बात की विस्मृति नहीं होती कि मेरे नाथ हैं और वे समर्थ हैं। तो जिस समर्थ नाथ का संरक्षण मेरे साथ है, उसकी विस्मृति कभी नहीं होती। तो आप क्या सोचते हैं यह सब अपनी बहादुरी है कि उनकी उपस्थिति का परिणाम है? क्योंकि वह है यह मानते ही वह सब लगने लगता है अपने को।

करने से नहीं होता। जबरदस्ती करो तो, नहीं बनेगा। लेकिन वह भीतर से ही ऐसे प्रकाशित होने लग जाता है, धीरज आने लग जाता है, रस बढ़ने लग जाता है, विश्वास बढ़ने लग जाता है। और कैसे-कैसे करके प्रत्येक साधक को परमात्मा पूरी तरह से आश्वास्त का देते हैं कि तुम्हारे गुरू ने जो कहा था, ठीक बात है। देखो मैं तुम्हारे पास हूँ। बहुत बढ़िया-बढ़िया ढंग से इस बात को वे साधक को दिखा देते हैं, समझा देते हैं और पुराने रोगों की निवृति के काल में थोड़ा-थोड़ा ऊपर-नीचे, ऊपर-नीचे होता रहता है। कभी व्यर्थ चिंतन और कभी शान्ति और कभी कुछ सभी तरह की बातें होती रहती है लेकिन जो लोग करने के आधार पर करते हैं तो उनको तो घबराहट हो जाती है कि अब क्या करें। अब तो फिर विकार आ गया, अब तो फिर संसार का चिंतन आ गया। और जो लोग उनके समर्पित होने के आधार पर चलते हैं, उनको चिंता नहीं होती है।

अब आ रहा है तो आ रहा है, जा रहा है तो जा रहा है। अब मेरी जिम्मेदारी है नहीं, तो मैं ऐसा कहती, स्वामी जी महाराज ने सिखाया था मुझको, तो मैं ऐसा सोचती कि हे महाराज आपने दिया था बहुत बढ़िया-बढ़िया सब कुछ शुद्ध रूप में अच्छा-सा दिया था, मैंने अपनी भूल से सब बिगाड़ दिया। मन, चित्त और इन्द्रियाँ और बुद्धि से सब तो भौतिक शक्तियाँ है, भौतिक तत्त्व हैं ये क्रियाएँ है सूक्ष्म-सूक्ष्म। तो मिलती है सबको शुद्ध रूप में। उनके पास थोड़े ही अशुद्ध है। वे तो सब अच्छा ही अच्छा देते हैं, अपनी भूल से हमने इसको विकृत कर लिया। तो मेरी भूल से जो विकृति आ गई तो उसको अपने आप तो हम मिटा ही नहीं पाते और जिसने सर्व समर्थ ही शरण ली और उसकी कृपा-शक्ति के भरोसे अपने को छोड़ दिया तो उसको निश्ंिचतता आ जाती है। महाराज जी कभी-कभी मुझे कहते कि देखकर डरती हो काहे के लिए, अपना करके स्वीकार करती हो काहे के लिए, उन्हीं को कह के देख लो महाराज, तुम्हारी ही वस्तु है। देख लो कैसा है, अब तुम जानो, तुम सँभालो मेरा क्या है। तो एक बार समर्पण के बाद पुनः-पुनः मन की, बुद्धि की, चित्त की, इन्द्रियों की विकृति देख करके चिन्तित होना, दुखी होना, भार ढोना, सँभालने की चेष्टा करना बिल्कुल अपनी विकास-बाधा के समान है। खूब अच्छी तरह से इस चीज को भर दिया। कभी-कभी मैं परेशान होऊँ महाराज, अभी तक ऐसा नहीं हुआ, अभी तक ऐसा नहीं हुआ, तो शान्त कर देते, पीठ पर हाथ फेर के, सिर पर हाथ फेरके बस-बस-बस चुप रहो शान्त रहो और फिर कहते देवकी जी, यह दोनों तरफ प्रयास चलेगा? यह कैसे होगा? तुमने उनसे भी कहा है सँभालने के लिए और फिर अपनी ओर से लड़ती रहोगी। दोनों तरफ से रस्साकस्सी चलेगी? तुम अपना बन्द कर दो, तुम छोड़ दो। वे बड़े शक्तिशाली है।

वे हर प्रकार से समर्थ है। वे सब कुछ जानते हैं। वे सब कुछ कर सकते है। ऐसे समर्थ स्वामी के हाथ में सौंप देने के बाद फिर

तुम अपनी चेष्टा क्यों आरम्भ करती हो। यह दोनों तरफ नहीं चलेगा, तुम अपना बन्द करो। तो इतना आराम मिलता था एकदम तत्काल। स्वामी जी महाराज के मुख से बात निकली और बेचैनी जिसको होती है, उसके लिए दवाई बहुत ही गुणकारी हो जाती है। तो बेचैनी में, परेशानी में यह आवाज मेरे कान में पड़ती और सुनकार के मैं बिल्कुल शान्त हो जाती। पता नहीं उस क्षण के बाद फिर उस तरह की परेशानी कभी मैंने अनुभव नहीं की इसलिए मैं इस बात को जानती हूँ। आप सभी भाई-बहनों की सहायता के लिए मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि डरने की बात नहीं है। संदेह करने की बात नहीं है, उतावलेपन की बात नहीं है, वह सब नहीं है। बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से, सहज भाव से सत्य की स्वीकृति से अहं में परिवर्तन होता है, सत्य की स्वीकृति से साधक के व्यक्तित्व में से साधन की अभिव्यक्ति होती है और साधन की अभिव्यक्ति से ही साध्य से अभिन्नता होती है।

प्रवचन(17)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी, माताओं, बहनों और भाईयांे।

हम सब लोग साधक हैं। साधक होने के नाते अपने साध्य से भी परिचित है। क्या चाहते हैं? तो जीवन को ऐसा देखना चाहते हैं, जिसमें मृत्यु का भय न हो, आनन्द और प्रेम का रस कभी घटे नहीं, ऐसा हम लोग चाहते हैं। पहली बात तो यह है कि वास्तविक जीवन कहते ही है उसको, कि जिसमें दुःख न हो, भय न हो, मृत्यु न हो, अभाव न हो और सामर्थ्य, ज्ञान और प्रेम से भरपूर हो। उसी को जीवन कहते हैं। उसके विपरीत इस वर्तमान क्षण में अपना जो परिचय हम पा रहे हैं, यह जीवन का परिचय नहीं है, यह तो एक दशा का परिचय है, जो आगे चलकर बदल जाने वाली है। इस दशा का परिचय है। दशा क्या है? बहुत दुःखी हूँ यह दशा है, वास्तविकता नहीं है। दशा क्या है? मैं बहुत सुखी हूँ तो यह जीवन नहीं है, यह आगे चलकर बदल जाने वाला है। तो जिसमें परिवर्तन होता रहे, जो बनता-बिगड़ता रहे, उसको अवस्था कहते हैं, दशा कहते हैं, उसको जीवन नहीं कहते है। और सचमुच हमारे भीतर जिसकी माँग है, उसी को जीवन कहते हैं। तो अब अपनी-अपनी ओर देख लीजिए।

अपने भीतर क्या माँग है? तो अवश्य ही प्रत्येक भाई-बहन यह कहेंगे कि भई मुझे तो दुःख-रहित जीवन चाहिए, भय-रहित जीवन चाहिए, सामर्थ्य, ज्ञान और पे्रम से सम्पन्न जीवन चाहिए। ऐसा आप बताएँगे क्योंकि यह मानव-मात्र की माँग होती है। स्वामी जी महाराज ने जीवन की खोज की, उस खोज के आधार पर उन्होंने हम लोगों को बताया कि भाई तुम्हारे भीतर वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जिनकी तुम माँग अनुभव करते हो। सत्य भी विद्यमान है ज्ञान और प्रेम भी विद्यमान है। शान्ति और सामर्थ्य भी विद्यमान है। सब तुम्हारे भीतर है, जिसकी तुम माँग अनुभव करते हो।

तो अब प्रश्न क्या आएगा हम लोगों के सामने? कि हमारे ही भीतर वह सब सुख कुछ है, जिसकी हमें जरूरत है, तो फिर हम अपने को उससे दूर क्यों अनुभव करते हैं? उससे वंचित क्यों अनुभव करते हैं? उसके बिना परेशान क्यों रहते हैं? उसके विपरीत हमारी गतिविधियाँ क्यों होती हैं? यह प्रश्न बनेगा तो उत्तर क्या मिलेग? कि मनुष्य के जीवन में एक होती है माँग और एक होती हैं इच्छा। ये दो भाग हैं उसके। तो माँग कहते हैं उसको, जो सत्य से मिला दे, स्वाधीनता कर दे,

जीवन को भरपूर कर दे। और इच्छा कहते हैं उसको जो संसार से जुटा दे, पराधीनता कर दे और जिसका अन्त अभाव तथा बेबसी में हो जाए।

अब बड़े दुःख की बात है, कि इन तथ्यों को अच्छी तरह से जान लेने के बाद भी, मैं अपने को देखकर बोल रही हूँ दूसरा कोई भाई-बहन श्रोता समाज में से ऐसा बैठा हो कि जिसकी यह दशा खत्म हो गई हो, वह बुरा न मानें। मैंने जो देखा है साधन-काल की अपनी दुर्दशा। उसमें क्या देखा है कि माँग और इच्छा के स्पष्ट अन्तर को जानते हुए भी अगर इच्छा-पूर्ति का कोई चांस दिखाई देता है, तो अपने को उससे बचा कर नहीं रखते हैं। परिस्थिति नहीं बने तो बात दूसरी है तब तो हम ज्ञानी बन के अपना काम चलाएँगे ही, होता है ऐसा। कोई संकल्प उठा और उसके पूरी होने का उम्मीद नहीं है तब तो हम ज्ञानी बनकर काम चलाते हैं, छोड़ो संकल्प को, संकल्प-पूर्ति मेरा जीवन नहीं है। संकल्प-पूर्ति से सत्य नहीं मिलता। मैंने खुद किया है यह सब, अन्दाजी बात मैं नही बोल रही हूँ। जिस किसी को लगाना हो, घटाना हो अपने पर घटा दो। और जिसको बचना है इससे बच के रहो।

लेकिन सच्ची बात है कि जब संकल्पों की पूर्ति का अवसर नहीं दिखाई देता है तो बड़ी चेतना रहती है। कुछ परवाह की बात नहीं है, मैं तो साधक हूँ, मेरा अमुक संकल्प पूरा नहीं हुआ, तो उस संकल्प का त्याग ही अच्छा है। संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। तो उस समय भीतर से एक बहुत बढ़िया बल दिखाई देता है और किए हुए, सुने हुए सत्संग का एक प्रकाश दिखाई देता है। लेकिन समय-समय पर मैंने ऐसा पाया है कि जहाँ संकल्प-पूर्ति की अनुकूल परिस्थितियाँ दिखाई देती हों, वहाँ हम संकल्पों से बच के रहें, यह सावधानी कभी-कभी खत्म हो जाती है।

जब दिखाई देता है कि कोई ऐसा सहायता करने के लिए खड़ा हो गया, जो कह रहा कि आपको जो चाहिए बताइए। हम से कुछ काम ले लीजिए, हमारे से कोई मदद ले लीजिए, हमारी कोई सेवा स्वीकार कर लीजिए, तो अहम का पोषण भी हो गया, हमने थोड़े ही कहा था कि आप हमारी मदद कीजिए वे सज्जन तो खुद ही आए। तो अहम का भी पोषण हो गया कि मैंने कहा नहीं था। वे तो अपनी खुशी से आकर मेरे सामने खड़े हुए और उन्होंने कही कि कोई काम बताओ, कोई सेवा बताओ, तो मैंने बता दिया। तो अहम् का भी पोषण हो गया और संकल्प-पूर्ति का भी पोषण हो गया। कह दिया मैंने अच्छी बात आपको मेरा काम करने में हर्ष होता है, तो कर लाओ अमुक काम। तो संकल्प की पूर्ति भी हो गई, अह्म का पोषण भी हो गया और निःसंकल्पता की शान्ति कुछ काल के लिए खत्म हो गई। क्या खत्म हो गई? अब मैं और बताऊँ आपको कच्चा चिट्ठा खोलना ही है, तो डरने की क्या बात है?

अब क्या हो गया कि किसी आदमी ने मेरे संकल्प की पूर्ति में कुछ करने को कहा और मैंने हाँ कह दिया और वह करने के लिए चला गया। तो जब तक वह करके लौटेगा नहीं तब तक शान्ति और समाधि तो गई। अब थोड़ी-थोड़ी देर पर ध्यान आ रहा है। मेरी अमुक इच्छा की पूर्ति के लिए वह सज्जन गया है, अब देखो करके आता है कि नहीं, पूरा होता है कि नहीं? पूरा हो गया तो अच्छा। क्या हो गया? इस दुर्बलता को अपने लोगों को पकड़ के रखना चाहिए। पकड़ के रखना चाहिए। इसका क्या मतलब है? कि इसका नाश करने के लिए सदैव सावधान रहना चाहिए। भाई

प्रतिकूलता में झख मारकर या ज्ञान पूर्वक या प्रसन्नता पूर्वक अपने संकल्पों का त्याग सब को करना ही पड़ता है। प्रतिकूलता की घड़ी में छोड़ना ही पड़ता है। बिना छोड़े काम नहीं चलता। लकिन संकल्पों की पूर्ति की अनुकूलता सामने आए और उस समय भी सावधानी पूर्वक मै निःसंकल्प रह सकूँ, तो कदम आगे बढ़ सकता है।

योगवित होने में बाधा क्या है? संकल्प-पूर्ति का सुख और संकल्प अपूर्ति का दुःख और कुछ बाधा नहीं है। योगवित होने में यह ही बाधा है। और तत्त्ववित होने में यह ही बाधा है और भगवत् भक्त होने में यही बाधा है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है। अब अपने-अपने अध्ययन की बात है, अध्ययन करके देखिएगा आप। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि बहुत ही शान्त और निश्ंिचत होकर बैठ गया है आदमी भगवत्-शरणागति लेकर के, अप्रयत्न होने के लिए, अहंकृति-शून्य होने के लिए, अच्छी बात है। उसी समय, उसी बीच में कहाँ तो आप जा रहे थे देहातीत जीवन की ओर, अप्रयत्न होना मतलब देहातीत जीवन में पहुँचना। सब प्रकार के प्रयत्नों से अपने को बचा लेना। स्थूल कर्म नहीं है, चिंतन नहीं है, किसी प्रकार की गतिशीलता नहीं है, यहाँ तक कि संकल्प-रहित होते ही अहम्-स्फूर्ति भी बन्द हो जाती है। अहम् में किसी प्रकार का स्फुरण भी नहीं होता है। अब जब ऐसा हो जाता है एक क्षण के लिए भी कि अहम् में किसी प्रकार का स्फूरण न हो, तो उसी समय अपने में ही विद्यमान सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है। यह तो आनन्दायी माता जी के शब्द हैं सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है और स्वामी जी महाराज की भाषा यह है कि सत्य के संग में होने का आनन्द आ जाता है। दोनों संतो के दो वाक्य मैंने अपने लिए याद करके रखे। जिस क्षण में आप थोड़ी देर के लिए सही अहम्-स्फूर्ति से शून्य हो जाएँ, कोई संकल्प नहीं है, मुझे कुछ नहीं करना है, मुझे कुछ नहीं चाहिए तो संकल्प खत्म हो गया तो संकल्पों का स्फुरण भी खत्म हो गया। तो सारी गतियाँ सब शक्तियाँ जा करके अहम् में शान्त हो जाती हैं। अहम्-स्फूर्ति जिस समय बन्द हो गई, उसी समय सत्य के स्पर्श का अनुभव। तो स्पर्श के अनुभव से मैंने क्या अर्थ लगाया कि शान्ति-काल में जिन भाई-बहनों को अनुभव है, उनको मालूम है और जिनको अनुभव नहीं है, वे अनुभव ले सकते हैं। क्या होता है? सत्य के स्पर्श का अर्थ क्या है? कि भीतर से एक ऐसी आनन्ददायिनी लहर उठती है, कि जिसमें पहले तो रोम-रोम मालूम होगा कि मानो बहुत पुलकित हो रहा है और थोड़ी देर के बाद इस प्रकार का अनुभव करने वाला सम्पूर्णता से उस अनुभव से एक हो जाएगा। फिर पता नहीं चलेगा कि क्या हो रहा है। तो अपने ही भीतर से एक आनन्ददायिनी अनुभूति की स्फूर्ति होती है। एक भाव प्रधान व्यक्तित्व में प्रेम के भाव का उद्रेरक होता है। रस से सारी क्रियाएँ शरीर की बिल्कुल शान्त और शिथिल हो जाती हैं और इतना अच्छा लगता है, इतना अच्छा लगता है कि उस क्षण की तुलना संसार के किसी भी ऊँचे सुख-भोग की प्रवृत्ति से नहीं की जा सकती है। इतना ही इससे ज्यादा मुझे नहीं मालूम है। आनन्दमयी माता जी के साहित्य में लिखा है कि अहम् के स्फुरण बन्द होने से तत्काल ही सत्य से स्पर्श का अनुभव होता है।

सत्य का स्पर्श अनेक रूपों में हो सकता है। सामर्थ्य के रूप में हो सकता है, आनन्द के रूप में हो सकता है, प्रेम के रूप में हो सकता है,

चिर शान्ति के रूप में हो सकता है। अनेक रूपों में हो सकता है। और उसकी कोई परिभाषा नहीं बनायी जा सकती। कोई परिभाषा नहीं बनाई जा सकती। जो अनुभव करता है, वही करता है। और वह जब भाषा बना के कहने लगता है तो सचमुच वह क्या अनुभव करता है पूरी-पूरी बात भाषा में प्रकट नहीं हो सकती। ऐसा है वह अनुभव। यह किसको होता है? यह सिद्ध पुरूष की चर्चा नहीं है। यह साधक के जीवन की चर्चा है। जिसने प्रवृत्ति-काल में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भगवत्-समर्पण का भाव लेकर के शान्त रहने की चेष्टा की उस साधक के जीवन की चर्चा यह है। तो ऐसा होता है। और स्वामी जी महाराज ने कहा देखो भाई, सत्य के संग मैं तुम नित्य निरन्तर रहते ही हो।

जब तक तुम शरीरों का तादात्म्य लेकर के घोर प्रवृत्ति में रत हो रहे हो, उतनी देर तक तुम्हें उसका पता नहीं चलता। और जब सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति में आ जाओ, तो उस समय का जो तुम्हारा जीवन है, उसमें सत्य के संग में होने का अनुभव हो जाएगा, पता चल जाएगा। तो एक ही बात है, सत्य के स्पर्श का अनुभव कहो या सत्य के संग में होने का अनुभव कहो। मैं अविनाशी हूँ, मेरा नाश नहीं होगा, इस बात का पता चल जाता है आदमी को, शरीर के तादत्मय के टूटते ही। यह भी साधन-काल की चर्चा है, यह सिद्ध जीवन की चर्चा नहीं है। सिद्ध जीवन में क्या होता होगा, सो सिद्ध महापुरूष जाने। मैंने तो ऐसा सुना है कि जब सब तरह से जीवन में पूर्णता आ जाती है, तो उसके बाद जो भी कुछ अनुभव होता होगा उसको शब्दों में बाँध सकना सम्भव नहीं होता है। तो अनुभवी संत जन जगत्-कल्याण के लिए सांकेतिक भाषा में कुछ-कुछ कह दिया करते हैं। पूरी तरह से तो कोई कह ही नहीं सकता है।

इस दृष्टि से अपने लोगों के लिए ध्यान देने की बात यह है कि भाई प्रत्येक दशा में हम सभी भाई-बहनों को अपने संकल्पों की पूर्ति से अपने को बचाना चाहिए। आप कहंेेगे कि प्यास लगी है और जल चाहिए अपने को तो कैसे नहीं जल की आवश्यकता अनुभव करें? और कैसे नहीं जल उठा कर पिएँ, ऐसा आप कह सकते हैं। संकल्प-रहित होने का अर्थ यह नहीं होता है कि शरीर की सेवा को छोड़ दिया जाए, ऐसा नहीं होता है। लेकिन बात केवल इतनी सी है, कि वर्तमान परिस्थिति में प्यास बुझाने के लिए जल अगर उपलब्ध है, तो उसे लेकर के अवश्य ही शरीर की सेवा कर दीजिए, इसमें तो कोई संकल्प की बात नहीं है। और आप सोच कर देखिए कि शरीर की सेवा के लिए जो जरूरत मालूम हुई, उसकी पूर्ति की सामग्री अगर आपके सामने हैं तो वह कार्य रूप में बदल जाएगा कि संकल्प के रूप में बैठा रहेगा? जी? कार्यरूप में बदल जाने पर उसको संकल्प नहीं कहते हैं। वह तो वर्तमान कर्त्तव्य कर्म हो गया लेकिन जैसा मिल रहा है और जो उपलब्ध है, उससे संताष न करके उसको पीते भी जाओ और भीतर-भीतर चिंतन में भी पड़े रहो। फ्रीज होता तो बड़ा अच्छा था, ठण्डा-ठण्डा जल पीते। यह क्या हो गया? यह संकल्प हो गया। अब होता तब न, अब है नहीं तो उसके चिंतन में क्यों पड़े हो? चिंतन में मत रहो। जो उपलब्ध है, काम करके खत्म करो। क्यों? क्योंकि तुम्हारे चिंतन में वह सत्य रहना चाहिए। तुम्हारे चिंतन में पर-पीड़ा से द्रवित सेवा का कार्य रहना चाहिए। तुम्हारे चिंतन में तुम्हारा परम प्रेमास्पद रहना चाहिए। अब ठण्डा जल मिट्टी के ृर्र्र्र्रघड़े में से रखा

मिल गया तो उससे संतोष न करके फ्रीज में क्यों पड़े हो? क्या ऐसा हो सकता है? कि फ्रीज का पानी जो है, वह तुम्हारी प्यास बुझा दें, आवश्यकता समाप्त कर दे। ऐसा हो सकता है नहीं हो सकता है और अनेक बार तो नुकसान पहुँचाते देखा गया है।

मैं तो कभी पी ही नहीं सकती। डर लगता है, गला खराब हो गया तो सब मजा ही चला जाएगा, अपना तो बोलना ही काम है। इस यन्त्र को ठीक-ठाक रखने के लिए में फ्रीज का पानी कभी पीती ही नहीं हूँ डर के मारे। तो वह अनिवार्य तत्त्व नहीं है न? अनिवार्य तत्व न होने पर भी उसके चिंतन में पड़े रहना यह भूल है। उसके संकल्प में बन्धे रहना यह भ्रम है। तो एक उदाहरण मैंने अपने लोगों के सामने रखा, कि जिससे अपनी चेतना बनी रहे तो आगे काम हो जाएगा। केवल संकपों की उत्पत्ति मात्र से मनुष्य के व्यक्तित्व के मूल में जो अविनाशी शान्ति विद्यमान है, वह शान्ति भंग हो जाती है। केवल संकल्पों की उत्पत्ति मात्र से शान्ति भंग हो जाती है। और पूर्ति हो गई तो राग बढ़ गया और आपूर्ति नहीं हुई तो क्षोभ बढ़ गया। तो उत्पत्ति में मेरी शान्ति चली गई और पूर्ति में मेरी स्वाधीनता चली गई।

राग बढ़ गया तो स्वाधीनता चली गई न? जिस व्यक्ति ने मेरी इच्छा-पूर्ति में सहयोग दे दिया तो मेरे भगवान की जगह पर, वो मेरे इष्ट की जगह पर उस व्यक्ति का चित्र मुझे दिखाई देने लग गया, तो स्वाधीनता हुई कि पराधीनता हुई? जी? पराधीनता हुई। तो देख लो तमाशा उसका। संकल्पों की उत्पत्ति हुई तो बैलेन्स चला गया, सन्तुलन चला गया, मौलिक शान्ति खत्म हो गई। मनोविज्ञान में साइकलाॅजीकल टर्म काम में लेते हैं, कहते हैं, इक्लूब्रियम। पर्सनैलिटी में से, व्यक्तित्व में से इक्लूब्रियम चला गया।

इक्लूब्रियम का अर्थ क्या है? कि जिस समय किसी प्रकार की आवश्यकता बाहर से आपको मालूम नहीं होती है बाहर से वस्तु लेने की उस समय आप अपनी स्वाभाविकता में स्थित होते हैं और जैसे कोई संकल्प उठा वह इक्लूब्रियम बदल गया, बिगड़ गया। क्या हो गया कि अब मैं अपने स्वरूप में, अपनी स्वाभाविकता में न रहकर के वस्तुओं की ओर खिंच गया। वृत्ति चली गई संसार की वस्तुओं में तो आप अपनी जगह पर स्थित नहीं रहे। संकल्प-उत्पत्ति ने मुझको अपनी स्वाभाविक शान्ति से दूर कर दिया। और कहीं उस संकल्प की पूर्ति हो गई तो पूर्ति ने मुझको सुख-भोग की जड़ता में डुबा दिया। आदमी किसी भी प्रकार के सुख-भोग की प्रवृत्ति में जब लग जाता है, तो वह जड़ता में आबद्ध हो जाता है। स्वरूप की विस्मृति हो जाती है, परमात्मा की विस्मृति हो जाती है और वस्तु के संयोग का सुख आदमी को बिल्कुल जड़ बना देता है।

एक युवक स्वामी जी महाराज के पास आया करते थे। जो महाराज जी को इस बात में बड़ा आनन्द आता था, गीता भवन में उन दिनों में शुद्ध घी की बनी हुई गरम-गरम जलेबियाँ स्वामी जी के पास बहुत आती थी। महाराज जी तो खाते नहीं थे लेकिन सब को मालूम था कि उनके पास बहुत लोग रहते हैं, तो उनके लिए दे जाते। स्वामी जी महाराज उस युवक को जब गरम जलेबियाँ खिलाते तो चार बजे भोर में किया हुआ सत्संग उसे याद आता और कहता, कि महाराज नित नव रस तो इन जलेबियों में है। प्रातः काल चर्चा हुई थी प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच में नित्त नव रस का आदान-प्रदान चलता है।

नित नव रस का क्या मतलब है? कि वह रस ऐसा अद्‌भूत है कि प्रत्येक क्षण में नया-नया, नया-नया आनन्द देता है। प्रेमी को भी, प्रेमास्पद को भी, भक्त को भी, भगवान को भी। आप लोगों ने सुना भी होगा और महाराज जी के साहित्य में पढ़ा भी होगा। नित नव रस उसको बताया है महाराज जी ने। तो युवक जब तब गरम-गरम जलेबी खाए मीठा-मीठा स्वादिष्ट और कहे कि महाराज जी नित नव रस तो इन जलेबियों में है। क्या होता है कि सुख-भोग काल में व्यक्ति जड़ हो जाता है। चेतना से अलग हट करके, वस्तु से, शरीर से और विषय भोगने वाली इन्द्रियों से इतना उसका तादात्मय हो जाता है, कि वह निज स्वरूप को भी भूल जाता है, निज परमात्मा को भी भूल जाता है।

तो संकल्प की पूर्ति हुई तो परिणाम क्या हुआ? कि हम चेतना से जड़ता के स्तर पर आ गए। स्वाधीनता से पराधीनता में बँध गए। किस प्रकार की पराधीनता हो गई? कि आज किसी ने बढ़िया-बढ़िया भोग्य वस्तु ला कर दे दी तो रह-रह कर उस वस्तु की याद आ रही है। रह-रह कर उस सहयोग देने वाले की भी याद आ रही है। निज स्वरूप की विस्मृति हो गई, परमात्मा की याद तो बड़ी दूर चली गई। बड़ा सज्जन आदमी है, बड़े मौके पर काम आ जाता है, बड़ा सुख दिया उसने, अब कर लो ध्यान उसका? तो स्वाधीनता है कि पराधीनता है? पराधीनता है। तो संकल्प पूरे हुए, तो आप पराधीन हो गए, संकल्पों की उत्पत्ति हुई, तो आप शान्ति से विचलित हो गए और कहीं प्रकृति के विधान से संकल्प पूरे नहीं हुए तब तो क्रोध और क्षोभ का कोई अन्त ही नहीं है।

पहले अपने पर बिगड़ता है आदमी, मैंने बड़ी बेवकूफी की। फिर कहता है, कि मेरे साथी बड़े नालायक हैं, मेरा साथ नहीं देते हैं। फिर कहते हैं कि समाज बड़ा बिगड़ गया और नाराज होते हैं तो कहते हैं कि परमात्मा किसी लायक नहीं है। क्यों? क्योंकि मैंने जो चाहा सो पूरा नहीं किया। सब नालायक हो गए, सब बेकार हो गए। अपना भी कुछ मूल्य नहीं रहा। क्यों नहीं रहा भाई? क्योंकि हमने चाहा सो तो पूरा हुआ ही नहीं। यह दशा जो है, यह दशा मेरे कहने से आपको मालूम हो रही है, कि जीवन के इस लम्बी अवधि में आपने अपने द्वारा अनुभव किया है?

अनुभव किया हुआ है। अनुभव किया हुआ है न? ग्रन्थ पढ़ने की जरूरत नहीं है। तो सत्संग का क्या अर्थ है? सत्संग का अर्थ यह है कि अपनी दशा का अध्ययन करो और जो त्याज्य प्रमाणित हो चुका है, एक बार नहीं अनेक बार जो त्याज्य प्रमाणित हो चुका है, उसका त्याग कर दो। तो आज का पाठ क्या रहा? अपने संकल्पों का त्याग, समाज के लिए हितकारी संकल्प का त्याग नहीं। अपने संकल्पों का त्याग, जिन संकल्पों का सम्बन्ध मेरे व्यक्तिगत सुख से है, उन संकल्पों का त्याग कर दो।

जिन संकल्पों का सम्बन्ध कुटुम्ब, परिवार और समाज के हित से है, उन संकल्पों को समष्टि की शक्ति के आधार पर समष्टि के संकल्प से मिला करके वर्तमान में काम हो सके, तो काम कर दो। और नहीं हो सके तो उस संकल्प का भी त्याग कर दो। तो मैंने स्वामी जी महाराज को करते हुए देखा है। महाराज के पास सब तरह के लोग आते थे। गृहस्थ लोग भी आते थे, लड़कों की बच्चों की पढ़ाई है, लड़कियों की शादी है तो माता-पिता का काम है तो खेल उलझा हुआ है। तो ये सब समस्याएँ आती थी और उससे भी ऊँचे समाज सेवक आते थे। संस्थाओं की सेवा करने वाले आते

थे। तो क्या बताएँ, कमेटी के लोग समझते नहीं है? क्या बताएँ गृहस्थी वालों के समझ में नहीं आ रहा है, यह मामला गड़बड़ हो रहा है, वह मामला गड़बड़ हो रहा है। तरह-तरह की समस्याएँ आती तो महाराज जी कहते देखो भाई इस समस्या में तुम उलझे क्यों? सेवक का काम तो उलझना नहीं है। अगर तुम्हारे में सामर्थ्य है तो समझा करके इस काम को पूरा करो और नहीं है तो समष्टि के संकल्प में मिला कर छोड़ दो। तुम्हारे द्वारा नहीं होगा यह काम और सचमुच यह काम संस्था के लिए हितकारी है, तो समष्टि की शक्ति में इस संकल्प को मिला दो।

कह दो अगर यह संकल्प संस्था के लिए शुभ है, समाज के लिए शुभ है, संसार के लिए शुभ है, तो मेरी सामर्थ्य नहीं है, समष्टि की सामर्थ्य से यह काम हो जाएगा। कह करके तुम छोड़ दो। तुम छोड़ दोगे तो जगत् के संकल्प में वह संकल्प मिल जाएगा और समष्टि की शक्ति से काम होने लग जाएगा। तो तुम्हारी ट्रस्टी उसमें बाधा नहीं बन सकेंगे। ट्रस्टी तो पाँच-सात होते है न। तो समष्टि की शक्ति से यह सब काम होने लग जाएगा तो दो चार जन, पाँच जन, दस जन का विरोध कोई काम नहीं करेगा।

बहुत बार मैंने सुना स्वामी जी महाराज से कि तुम उलझते क्यों हो? तो आदमी कब उलझता है? समाज-सेवा का नाम लेकर के अपने संकल्प को उसमें रखता है, तब उलझता है। अगर शुद्ध सेवा का संकल्प है, तो सेवक कभी उलझ नहीं सकता है। प्रेम पूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करके जो करना चाहिए सो करेगा।

प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र पसाद जी के सम्बन्ध में सुना था मैंने और महात्मा गांधी के सम्बन्ध में सुना था और गणतंत्र का विधान जब बन रहा था, तो विधान सभा के अध्यक्ष थे सच्चिदानन्द सिन्हा तो उनके जीवन के सम्बन्ध में मैंने सुना था, कि आ जाएँगे लोग जब, वह कौन कमीशन आया था शायद क्रिप्स मिशन जब आया था, तो उसके जो लोग थे तो बुला करके घर में उनका आतिथ्य किया उनको भोजन करवाया और उसके बाद काले झण्डे के साथ खड़े होकर क्विट इंडिया भारत छोड़ो कहा। तो प्रेम से व्यवहार करो, नम्रता पूर्वक व्यवहार करो, उसको खिलाओ, पिलाओ और फिर अगर उसका विचार अपने लिए अहितकर है तो कहो कि यह हम नहीं मानेंगे।

प्यार क्यों घटाते हो? अगर किसी का विचार गलत है, तो उसके गलत विचार को उससे हम छुड़ा दें, यह जरूरी है, लेकिन उससे दुश्मनी करें, यह जरूरी नहीं है। प्रेमपूर्वक मिलना और एक बार नहीं तो दस बार। डा॰ राजेन्द्र प्रसाद का भी यही स्वभाव था। एक बार में समझ में नहीं आया तो थोड़ी देर बाद फिर वही उथल-पुथल मचेगी तो फिर हाथ जोड़ कर खड़े हो जाएँगे। आइए इस बार और हम लोग बात करें देखें शायद सुलझ जाए। फिर से बात करें। गाँधी जी के जीवन में भी यही है। कभी हार नहीं मानते थे। दस बार तुम उनसे लड़कर के चले जाओ, ग्यारहवीं बार फिर बुलाएँगे, आओ भाई, बैठो बात करेंगे हम लोग।

प्रेम पूर्वक मिलो, प्रेम पूर्वक बात करो, अगर ना समझी अथवा किसी व्यक्तिगत कम्पलीकेशन से तुम्हारी सत्य की आवाज उसकी समझ में नहीं आ रही है, तो भी हार मत मानो। बुलाते रहो, बार-बार उससे मिलते रहो। वह न आये तो तुम उसके पास जाते रहो। दुनिया के जो बड़े आदमी हुए, उन लोगों ने विरोधियों पर विजय

प्राप्त की, तो प्रेम और आत्मीयता और अपने सौजन्य से विजय प्राप्त की। और अपने सत्य में उनको अटूट विश्वास था कि यह बात जो मैं समाज के सामने रख रहा हूँ, इसमें मेरा व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ नहीं है। तो ऐसे संकल्प अगर हमारे जीवन में हों कि जिनसे सचमुच संस्था का हित होने वाला है, तो उस संकल्प को बारम्बार प्रकट करने में कोई हर्ज नहीं है।

लेकिन अगर दूसरे लोग नहीं समझ रहे हैं, कि जल्दी से मान नहीं रहे है तो अभियान के मारे हम क्रोधित हो जाएँ, तो जाओ चूल्हे भाड़ में, तुम्हारे हित के लिए मैं कह रही थी, तुम नहीं समझ रहे हो, तो जाओ तुम्हारा जो भी कुछ हो जाए। तो बड़े आदमी ऐसा नहीं करते हैं। वे किसी को भी गैर नहीं मानते, सबको अपना आत्मीय मानते हैं। इसलिए गलत रास्ते पर जाने वाला, आघात भी कर दे, आक्रमण भी कर दे, गाली भी दे दे, अपमानित भी कर दे, तब भी वे बड़े आदमी हैं वे उसको अपना मानना छोड़ते नहीं हैं। गले लगाते ही रहेंगे, प्यार करते ही रहेंगे, समझाते ही जाएँगे, हार नहीं मानेंगे और फिर भी उनका वश नहीं चला तो वे उस संकल्प में उलझे हुए नहीं रहते हैं। क्यों नहीं उलझे हुए होते हैं? जगत है प्रकृति का तो प्रकृति के संकल्प में मिला कर छोड़ देते हैं। कि भई मैं तो अकिंचन हूँ, मेरा तो अपना कोई बल नहीं है। मेरा यह शुभ संकल्प समाज के लिए हितकारी है, तो हे प्रकृति तुम जानो तुम्हारा काम जाने। फ्री हो गए। फिर चिंतन नहीं आएगा। जो भगवत् भक्त होते हैं वे क्या करते है कि अगर शुभ संकल्प उनमें उठते हैं, तो वे परमात्मा के संकल्प में मिला देते हैं। हे प्यारे, यह आपकी सृष्टि हैं, यह आपकी पूजा के रूप में संकल्प उठा है, यह संकल्प मैं आपके संकल्प में मिला करके मैं छोड़ता हूँ।

तो अपने यहाँ भी यह चीज है कि कोई भी हितकारी संकल्प उठे तो भगवत्-संकल्प में उसको मिला दो अर्थात् प्रभु को समर्पित करके काम आरम्भ कर दो। पूरा हो जाए, तो श्रेय परमात्मा को और पूरा न हो जाए, तो योजना उनकी। अपने फ्री रहेंगे। बन गया काम तो बड़े आनन्द की बात और नहीं बना तो इसमें भी कोई हित छिपा होगा। भगवत्-विश्वासी साधक जो होते हैं, वे भी संकल्प में फँसते नहीं हैं। क्रिश्चियनिटी में संत ईसा और उनकी माता उन दोनों के जीवन का मूल मंत्र है, यह उसकी इच्छा है, यह प्रभु का संकल्प है, हे प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो।

हे प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। ये माँ-बेटे दोनों ऐसे भगवत्-विश्वासी हुए कलियुग के भक्तांे में कि दुनिया के लोग आकर के क्राइष्ट की अभ्यर्थना करने लगे, आरती करने लगे, पूजा करने लगे, चरण का स्पर्श करने लगे, तब भी क्राइस्ट उस सम्मान से बिल्कुल अलग रहते थे। संसार के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से, भागों से लोग आकर के मरियम के आगे नत मस्तक होने लगे कि ये माता धन्य हैं, जिसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया, जो सबको ईश्वर के प्रेेम की ओर लगाने वाला निकला, जो सबके जीवन का अंधकार मिटाने वाला निकला तब भी माता जी को कुछ लगता नहीं था।

जब लोग उनकी अभ्यर्थना करते, तो आसमान की ओर देखने लग जाती और हाथ जोड़कर कहती, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो रही है। हे परमात्मा यह तुम्हारी योजना पूरी हो रही है, तुम जो चाह रहे है सो हो रहा है। ऐसा करके भगवान की प्रार्थना करते है। और जिस समय ईसा मसीह

को सलीब पर लटका दिया गया, तब भी माँ-बेटों ने कहा, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो, कोई शिकायत नहीं है। प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। तो लोगों को ईश्वरीय-प्रेम का पाठ पढ़ाते और लोगों ने ध्यान नहीं दिया, उनके अपने नगर में विरोध हुआ। बाकी तो सारे संसार में जहाँ-जहाँ उनकी पहुँच थी, सब जगह ईश्वरीय प्रेम का पाठ पढ़ा करके आनन्द से चले आए। बड़ा सम्मान हुआ, बहुत खातिरदारी हुई बहुत से चेले बन गए। जब अपने पुराने नगर में, जहाँ वे जन्में थे बालक थे, वहाँ आए तो विरोध शुरू होने लगा। तो विराध जब शुरू होने लगा तो एक दिन अधीर होकर के एकांत में परमात्मा से उन्होंने कहा-पिता मैं क्या करूँ? आपका दिया हुआ सम्वाद, संसार को सुनाने का काम आपने मुझे दिया, सो मैं कर रहा हूँ। कोई सुनता ही नहीं, मैं क्या करूँ? और मुझे क्या करना है? तो उनको अंतर से आवज मिली कि मेरे मिशन को पूरा करने के लिए अभी तूने प्राणों का बलिदान कहाँ किया, अभी और बाकी है। तो सुन लिया, अच्छी बात है। अगर मेरे प्राणों के बलिदान से ही पिता का काम होने वाला है तो बलिदान ही सही। तो प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। जिस रात्रि में गर्वनर के सिपाही आने वाले थे जिसेस को पकड़ने के लिए। तो भगवत्-भक्त जो होते हैं, उनको परमात्मा के ही सम्मान सर्वज्ञता की शक्ति मिल जाती है। अब क्या होने जा रहा है, अब क्या होने वाला है, वे सब जानते हैं। तो इनको पता चल गया कि आज रात को गर्वनर के सिपाही आएँगे तो दस बजे रात तक खाना, पीना सब काम हो गया, जंगल में जाकर बैठ गए और प्यारे का गुणगान हो रहा है, दूसरा कोई काम ही नहीं था। करते-करते आधी रात उठ गए और कहने लग गए कि आज की रात तो नींद की रात नहीं है, आज की रात तो प्रार्थना की रात है। आप सब लोग बैठिए प्रार्थना करिए और मैं थोड़ी देर एकान्त में रहूँगा। अकेले में चले गए और जाकर पिता से कहने लगे प्यारे पिता, तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है। आपकी इच्छा सब प्रकार से पूर्ण हो जाए। इस जीवन के प्रति आपकी जो योजना है, सब सफल हो जाए, मुझे कुछ इन्कार नहीं है। लेकिन हे मेरे प्यारे, जो शारीरिक कष्ट आने वाला है, उससे मुझको डर लग रहा है। क्या जाने, कितना कष्ट होगा मैं कैसे झेल पाऊँगा। इनको तो सब दिख रहा था कि ऐसे क्रॉस बना होगा। उस पर हाथ में पाँव पर सब कील ठोके होंगे सिर पर काँटों का ताज पड़ा होगा, ऐसे रक्त-पात होगा, इस प्रकार का कष्ट होगा। एक राइटर ने अंग्रेजी में कविता में ग्रंथ लिखा है ईसा मसीह का, तो बहुत गहराई से मैंने उसको पढ़ा शुरू से अन्त तक, तो उसमें लिखा था कि क्रॉस जो जमीन पर लकड़ी का बना करके रखा हुआ था, उस पर इनको लिटा करके कीलें ठोंक दी गई। वह राइटर लिखता है कि बेदर्द काम करने वालों ने वह खम्भा उठाया और जमीन में जो गड्ढा बनाया हुआ था उसमें ले जा करके ऐसे धम से रख दिया। इमेजिन करो, हृदय में फील करो, कि जीसस को कितना कष्ट हुआ होगा।

बेदर्द सजा देने वालों ने उस सलीब को उठाया और गड्ढे को उठाया और गड्ढे में धम से डाल दिया। सारे शरीर में जगह-जगह पर कीलें ठुकी हुई है, उसमें जब जर्किंग हुई होगी तो कितनी पीड़ा हुई होगी? सो यह सब उनको दिख रहा है कि अब यह सब होने वाला है। तो अधीर होकर पुकार रहे हैं, हे पिता तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं सब करूँगा आपका काम। तो आपकी इच्छा पूर्ण हो उसमें इन प्राणों का बलिदान हो जाए। इस आहुति के लिए मैं तैयार

हूँ। लेकिन मेरे समर्थ पिता, मुझे शक्ति दे देना वह कष्ट मैं झेल सकूँ, इतनी शक्ति मुझे दे देना। प्रार्थना कर लिया, आश्वासन मिल गया और अतुलित सामर्थ्य से सम्पन्न होकर के वहाँ से उठ करके चले आए। और घोड़ों पर सवार होकर हाथ में टार्च लेकर हथियार और हथकड़ी लेकर आधी रात को जंगल में गर्वनर के सिपाही आ रहे थे, तो परम कारुणिक संत हैं, हृदय में बड़ी करुणा है तो सोचो हमारे भक्त लोग सब कुछ लोग लुढ़क गए थे नींद में और कुछ लोग चिंता में बैठे हुए थे कि स्वामी को क्या हुआ? आज क्या हो रहा है? आज कैसे-कैसे कर्म हो रह हैं? ऐसे चिंता में पड़े कुछ लोग बैठे हुए थे और बहुत से लोग सो गए थे। उसी जगह जंगल में मसीहा चले गए आगे, कि घोड़ों की टोपों को सुन करके और सिपाहियों की तलवारों की, हथियारों की झन्कार सुन करके, ये बच्चे लोग, बालक लोग, सब सो रहे हैं भक्त लोग इनकी नींद खुल जाएगी। अचकचा कर उठेंगे तो घबरा जाएँगे, तो जल्दी से बढ़ ककेे आगे चले गए सिपाहियों के पास और फिर कहते हैं कि अरे भाई आप लोगो ने आधी रात को कष्ट क्यों किया? कल शाम को 10 बजे रात तक नगर के चैराहे पर बाजार में मैं अपने पिता के प्रेम की कथा खुले आसमान के नीचे कर रहा था। उस समय आप लोगों ने मुझे पकड़ लिया होता, तो आधी रात को आपको नींद खराब नहीं करनी पड़ती।

उस करुणा की तो कथा मैं क्या कहँू? मैं यह कहने जा रही थी कि हम सब लोगों के भीतर अपने संकल्प का आग्रह होता है और उस आग्रह को लेकर के कभी समाज पर स्थापित करते हैं कभी संस्था पर स्थापित करते हैं और हमारे आग्रह के कारण, मेरे अभिमान के कारण मेरी बात जब दूसरों को समझ में नहीं आती है, तो कहते हैं जाओ चूल्हे-भाड़ में, नहीं मानते हो तो मत मानो, तुम्हारे हित के लिए मैंने कहा था। तो यह हृदय की ऊँचाई नहीं है, यह नीचता है। यह अपने संकल्प का आग्रह है। नहीं तो जिन महापुरुषों ने जगत् की पीड़ा से पीड़ित होकर के समाज की सेवा करने का बीड़ा उठाया, उन्होंने कभी भी किसी को गैर नहीं माना। विरोध करने वाले को प्यार ही करते रहे यह मैंने देखा है।

प्रवचन(18)

पहले उन्होंने द्धमहाराज जी नेद्ध कहा, योग का भोग मत करो और उसके अर्थ में यह बताया कि जब स्वतः अभिव्यत्तळ होने वाले योग में, प्रतिपादित योग में नहीं, अभ्यास के द्वारा मन को वश में करना, चित्त को स्थिर करना, इन्द्रियों को विषय-विमुख करना। इन सब बातों का जब तक अभ्यास चलता है तो अभ्यास-वश जो बाह्य और आन्तरिक वृत्तियों में थोड़ी से शान्ति मिलती है उसको महाराज कह रहे हैं प्रतिपादित, अभ्यास से प्राप्त किया हुआ। और निष्कामता पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठा के अन्त में स्वभाव से जो शान्ति आती है, उसको अभिव्यक्त होने वाला, स्वतः होने वाला योग कह रहे हैं।

शरीरों से असंगता में एक शान्ति की अभिव्यत्तिळ होती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सर्वस्व समर्पण में शरण्य की कृपा में एक शान्ति आती है। और इस प्रकार से जो अपने आप आने वाली शान्ति है, उसको महाराज कह रहे हैं कि उसका भी भोग मत करो। क्या होता है? इसमें तो हूम प्रायः अनेक साधक इसमें शामिल हो जाएँगे। हम सब लोग जब मूक सत्संग की चर्चा करते हैं, तो समय-समय पर ऐसा वर्णन करते हैं। इतनी देर तो इतना अच्छा लगा, ऐसी शान्ति रही, कोई

हलचल नहीं थी अपने में। किसी प्रकार का चिंतन नहीं था और इतनी देर के बाद तो ऐसा होने लगा, ऐसा होने लगा।

तो हम शान्त रह सकते हैं, वृत्तियों को अंतर्मुख कर सकते हैं, इस प्रकार का भास जो है, उसके सम्बन्ध में महाराज कह रहे हैं कि योग का भोग है। कैसे? कि शान्ति की जो अभिव्यत्तिळ होती है, वह एक प्राकृतिक तथ्य है। गुण जितने हैं वे या तो प्राकृतिक मानिए, दैवी मानिए अथवा विश्वास की दृष्टि से अन्नत परमात्मा का स्वभाव मानिए। उसके साथ अहम् को लगा देना योग का भोग है। अब क्या किया जाए? प्रारम्भ में मुझे ऐसा सूझता था और मैंने अनेक बार महाराज जी से निवेदन भी किया था कि महाराज जन्म-जन्मांतर का थका हुआ आदमी। पुरानी बात तो याद नहीं है, पिछले-पिछले जन्म में किन-किन बातों से थके थे, सो तो याद नहीं है, लेकिन इस बार की याद है।

यह क्या है? कि अंतर के सघर्ष और बाहर के संघर्ष दोनों ही में पड़ा हुआ आदमी बुरी तरह से थक जाता है। क्रोध करना नहीं चाहते हैं, क्रोध आ ही गया, लोभ के वश दूसरों के साथ दुव्र्यवहार नहीं करना चाहते हैं, उससे प्रेरित होकर कर ही बैठे। तो कहीं क्रोध सता रहा है, कहीं लोभ सता रहा है, कहीं अभिमान सता रहा है, कहीं इन्फ्यूरिटी का दुःख है, कहीं सुपरयिटी का मद है। तो सब विकार जो हैं, वे व्यत्तिळ को थकाते है। साधक कोटि के लोग जो होते हैं, सत्संगी जो होते हैं, वे अंतर में उठने वाले विकारों पर विजय पाने की चेष्टा में लगे रहते है। कितनी देर लगेगी किसको, वह तो अपनी तैयारी की बात है भाई? कौन कितनी जल्दी पार करेगा? लकिन जो साधक कोटि के लोग होते हैं, वे अंतर उठने वाले विकारों को सँभालते रहते हैं, कन्ट्रोल में रखने की कोशिश करते हैं कि भाई उनके अनुसार हम काम तो नहीं करेंगे। तो यह अंतर का संघर्ष है। मन चाहता है कुछ, विवेक कहता है कुछ, परिस्थिति कहती है कुछ। बड़ा फर्क होता है सबमें, तो इनके संघर्ष में भी काफी शत्तिळ खर्च होती है और आदमी थकता है। और बाहर का भी संघर्ष है। बाहर से अभियोजन में, परिस्थितियों की प्रतिकूलता में, निकटवर्तीय प्रिय जनों की प्रतिकूलता में बहुत ही आदमी को डूबना पड़ता है, थकना पड़ता है।

तो पहले-पहल सत्संग के प्रभाव से भीतर-भीतर से आराम होने लगा, तो मैंने महाराज जी को बताया कि महाराज जी जीवन भर का और जन्म-जन्मांतर का इन सब बातों से थका हुआ आदमी, उसको जब शान्ति मिलेगी, तो उसको तो बहुत अच्छा लगता है। अब कैसे निकलेगा उसमें से। उसमें समाएगा, तो उसको जो बहुत प्रिय लगेगा। तो क्या करें? तो स्वामी जी महाराज ने सुझाव दिया था, बहुत स्वास्थयकर और बहुत ही उपयोगी सुझाव है। उन्होंने कहा था कि देखो शान्ति का आना तो स्वाभाविक है साधक के जीवन में और अनिवार्य भी है। क्योंकि उसके बिना उसके आगे किसी प्रकार का कोई विकास होता नहीं है। तो उसका आना अनिवार्य भी है और स्वाभाविक भी है। लकिन तुम एक काम करो कि जब शान्ति आए उसमे विश्राम मिलेगा अपने को, आराम लगेगा तो उतना हिस्सा तो जरूरी है।

शुरू-शुरू में ले लो तो आराम, लेकिन भाई, तुम पड़ाव को मंजिल समझ कर बैठ जाओगी, तो आगे नहीं बढ़ना होगा। अब रास्ते की चीज हैं न? शान्ति के बाद तो देह से तादात्मय टूटने का प्रश्न उठेगा फिर शान्ति के बाद निज स्वरूप से अभिन्न होने का प्रश्न आएगा। फिर

शान्ति के बाद भगवद्-भक्ति और भाव की वृद्धि का प्रश्न आएगा। तो महाराज जी ने कहा कि अगर इस पड़ाव को, साधन के रास्ते में एक जो पड़ाव है, उसी को अगर मंजिल समझ कर बैठ जाओगे, तो आगे का विकास नहीं होगा। अच्छी बात, तो बैठें नहीं कैसे? तो शान्ति तो इतनी मीठी लगती है और मैं नहीं जानती हूँ कि अनुकूल और सुखद परिस्थितियों में पड़े हुए लोगों को कैसा लगता होगा, वह तो मुझे पता नहीं है, लेकिन मैं अपनी बात अच्छी तरह से जानती हूँ कि प्रतिकूलता और कठिनाईयों में जो लोग पले हैं, उनकों वह शान्ति कितनी प्यारी लगती है।

भीतर और बाहर का थका हुआ आदमी जब एकदम से रोम-रोम बिल्कुल शान्त, स्निग्ध हो जाता है, न भीतर से कोई चिंतन है न बाहर से कोई संघर्ष है। बहुत अच्छा लगता है, बहुत मीठा लगता है, जैसे कि गर्मी में धूप में तपा हुआ कोई व्यक्ति हो और वृक्ष की शीतल छाया उसे मिल जाए तो उस छाया में कितनी सुखद अनुभूति है। यह उसे ही पता चलेगा, एयर कन्डीशन्ड में बैठे हुए को पता नहीं चलेगा, कि वृक्ष की छाया कैसी मीठी होती है। यह उदाहरण दिया मैंने, अपने-अपने ढंग से आप लोग अर्थ लगा लेंगे। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि कोई चीज हर्ज नहीं है वह तो प्रभु का मंगलकारी विधान है। थके हुए को विराम देने ही के लिए शान्ति की अभिव्यक्ति पहला कदम है, साधक के जीवन में सफलता का। वह तो ठीक ही है, आएगा कोई बात नहीं है, लेकिन अगर तुम प्रारम्भ से उस बात को जानते हो कि शान्ति जो अभिव्यक्त हुई है, उसके आगे भी मेरा जीवन है, तो अगन लक्ष्य पर दृष्टि तुम्हारी रहेगी तो वह शान्ति जो है, तुम्हें बाँध नहीं सकेगी। उसको जो काम करना है सो कर देगी। थकावट मिटा देगी और लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों की वृद्धि करा देगी इतना काम शान्ति का है। लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार शक्तियों का कैसे? कि शान्ति के सम्पादन से कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन में स्फूर्ति आती है, जिससे वह कर्त्तव्यपालन कर सके। शान्ति की अभिव्यक्ति से अहम् में से विचार का उदय होता है, जो सत्-असत् का विभाजन कराता है। शांति की अभिव्यक्ति में से भाव की वृद्धि होती है, जो विश्वास को सुदृढ़ बनाती है, सजीव बनाती है। भगवत-प्रेम से अभिन्न कराती है। तो इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन भी भाई-बहनों के लिए, सब प्रकार के साधकों के लिए, एक अनिवार्य पथ है।

तो महाराज जी कह रहे हैं कि उस शान्ति में अद्भुत-अद्भुत गुणों का विकास होता है। बहुत से भौतिक गुणों का भी विकास होता है और बहुत से अलौकिक गुणों का भी विकास होता है। तो साधक यदि उन स्वतः विकसित होने वाले गुणों को अपनी विशेषता मान ले, तो उसका विकास रुक जाएगा। यह योग का भोग हो जायेगा। जैसे कि आप बैठे है शान्तिपूर्वक और शान्ति-सम्पादन के आधार पर आपकी अन्तः इन्द्रियाँ निस्तेज हो गयी हैं, थक गयी हैं, मान लीजिए ऐसा हो गया है, तो दूर से बैठा हुआ कोई व्यक्ति किसी प्रकार की कोई उलझन में पड़ा हुआ है तो उसके मन की बात आपको मालूम हो जाएगी, अगर और किसी भाव से कोई आकर के बैठ गया, तो उसके चित्त में क्या भाव है, यह सब आपको पता चल जाएगा। तो दूर की बातों को जान लेना दूर की वस्तुओं को नजदीक प्रस्तुत कर देना और आकृति को गायब कर देना, दृश्य को अदृश्य कर देना इस तरह की बहुत सी शक्तियाँ आती है। शान्ति-सम्पादन के बाद योग में। तो

सचमुच जो नित्य योग के उपासक होते हैं, वे लोग इस प्रकार के चमत्कार को कुछ गिनते नहीं हैं। वे लोग इस प्रकार के चमत्कार को कुछ गिनते नहीं हैं, कुछ नहीं गिनते, सुनते नहीं, मानते नहीं, देखते नहीं, ऐसा चलता है। और जो कच्चे साधक इसको अपनी विशेषता मान लेते हैं, कि मुझसे इतनी बड़ी विशेषता आ गयी कि दुसरों की थॉट-रीडिग कर सकते हैं, अदृश्य को दृश्य कर सकते हैं, संकल्प से दूर की वस्तु को नजदीक प्रस्तुत करा सकते हैं तो योग का भोगी हो जाएगा। उसका विकास रुक जाएगा। एक बात बतायी महाराज जी ने।

दूसरी बात जो इससे भी अधिक गूढ़ है वह उन्होंने कहा यह वाक्य मैंने आज ही सुना। इस प्रकार की व्याख्या 'मूक सत्संग और नित्य योग' में तो खूब है। पहले से सब दिया हुआ है लेकिन यह वाक्य मैंने आज सुना। वे कह रहे हैं कि इसके विपरित जो साधक भोग का भोग नहीं करते हैं अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक ये जो शक्तियाँ अभिव्यक्ति हुई, उनके साथ वे अपने अहम् को नहीं मिलाते हैं। समझ में आता है। ये मेरी विशेषता है, ऐसा करके भी नहीं मानते हैं। कैसा मानते हैं, कि यह तो अनन्त का स्वभाव है, यह तो प्राकृतिक तथ्य है, ऐसा मानते हैं। अपने को उसके साथ मिलाते नहीं हैं। तो ऐसे जो साधक होते हैं, अपने को उसके साथ मिलाते नहीं हैं, तो इन साधकों की एक बड़ी विशेषता होती है। क्या विशेषता होती है? तो महाराज जी कहते है कि स्वभाव से अभिव्यक्त होने वाला यह जो योग है उसमें एक गति होती है। कैसी विपरीत बात है देखिये। सब प्रकार से कर्म और चिंतन को छोड़कर, सब प्रकार से शान्त हो जाना, यह मेरा पुरुषार्थ हुआ। कर्मेन्द्रियों से कोई कर्म न करूँ और ज्ञानेन्द्रियाँ से कुछ देखना सुनना सोचना न करूँ। सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं में किसी प्रकार के संकाल्प-विकल्प अथवा चिंतन को प्रवेश न करने दूँ। संत कबीर ने कहा-''तन थिर, मन थिर वचन थिर, सुरति निरति थिर होय, कहे कबीर वा क्षणक को कहव न पावे कोय।'' तो एक ओर तो योगी के लिए पुरूषार्थ में यह बताया गया कि तुम सब प्रकार से अप्रयत्न हो जाओ अकिंचन हो जाओ, अचाह हो जाओ, अप्रयत्न हो जाओ, कोई किसी प्रकार का प्रयत्न तुम्हारे अहम् में से स्फुरित हो न हो, इसको योग कहा गया।

सब प्रकार की शान्ति तो बड़ी विचित्र बात है। मनुष्य के अहम् रूपी अणु की विलक्षणता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की बड़ी विलक्षणता है कि अपनी ओर से वह सब प्रकार से शान्त हो जाए। स्वामी जी महाराज ने बढ़िया शब्द चुना है- अप्रयत्न कहीं भी नहीं पढ़ा होगा आपने इस शब्द को अप्रयत्न हो जाओ कुछ मत करो। ऐसा मत करो, ऐसा मत करो, शान्त हो जाओ, मन को वश में करो, चित्त को वश में करो, कुछ नहीं कहा। कहा अप्रयत्न हो जाओ। सब अप्रयत्न तुम्हारे शेष हो गए। अब कुछ भी करणीय रहा नहीं है। सब खत्म हो गया।

तो बड़ी विलक्षणता है, मनुष्य के अहम् में और वह क्या है? कि साधक जब ज्ञान के प्रकाश में विश्वास के आधार पर, कर्त्तव्य-निष्ठा के परिणाम में जब सब प्रकार से अपने को अप्रयत्न कर लेता है, अप्रयत्न हो जाता है, उसके अहम् में किसी प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं का भी स्फुरण नहीं होता। सब बन्द हो गया। यह नहीं कि मन के स्तर पर आया तो मैंने उसको दबाया। वह अहम् में से स्फुरण ही समाप्त हो गया। वह अप्रयत्न हो गए, तो देखिए कैसी विलक्षणता है। महाराज जी कह रहे हैं कि योग में जो स्वाभाविक गति होती है,

जो आपको देहातीत जीवन में ले जाएगी। यह योग की जो शक्ति है, जिसमें यह अलौकिक गति है, उसका आरम्भ कब होगा? जब हम हर प्रकार से अप्रयत्न हो जाएँगे तब होगा। उधर से सारा बन्द हो गया तो वहाँ से आरम्भ हो गया। 'मूक सत्संग नित्य योग' वाले ग्रन्थ में स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि उसके बाद जबकि साधक को कुछ भी करणीय शेष नहीं है, हर प्रकार से वह अप्रयत्न होकर के बिल्कुल शान्ति में अवस्थित हो गया, तब उसके बाद उस योग में एक अलौकिक गति पैदा होती है और वह इतनी तीव्र होती है, कि उसमें साधक को फिर कुछ सोचना, करना नहीं पड़ता। वह स्वतः ही सम्पूर्ण अहम् को ले जाकर के उसके उद्गम में मिला देती है। तो शान्ति की अभिव्यक्ति क्या हुई। शान्ति की अभिव्यक्ति वह केन्द्र बिन्दु है, जहाँ कि मौलिक जगत् में बहने वाली हमारी सारी वृत्तियों की शक्तियाँ एक जगह पर आ करके केन्द्रित हो जाती है।

तो यह आधा हिस्सा योग का हुआ। योग का यह पूर्व पक्ष है। जहाँ पर भीतरी, बाहरी, कर्मेन्द्रियों की, ज्ञानेन्द्रियों की, स्थूल शरीर की, सूक्ष्म शरीर की सब वृत्तियाँ, सब शक्तियाँ जहाँ पर आ करके के बिल्कुल शान्त हो जाती हैं, केन्द्रीभूत हो जाती हैं, यह योग का पूर्व पक्ष है। उसके बाद बड़ी विकट घड़ी आती है साधक के सामने कि उस शक्ति में जो अलौकिकता, विलक्षणता पैदा होती है, बहुत से साधक लोग बेचारे उसी में उलझ कर रह जाते हैं। मानते हैं कि हम बड़े सिद्ध हो गए और सिद्धि के उसमे लोभ में उसको खर्च करने लग जाते हैं, चमत्कार दिखाने लग जाते हैं।

और वह ही है व्यक्तित्व की पूजा। मैं जब अपने सत्संगी भाई-बहनों के बीच में कभी-कभी बात करती, तो मैं स्त्रियों के लिए, पुरूषों के लिए दोनों के लिए कहती, देखो भाई, कोई खास फर्क नहीं पड़ता। एक दिन था जब हीरा, मोती के द्वारा शरीर को सजा करके हम समझते थे कि बड़े आदमी है, होता है न ऐसा? एक दिन ऐसा भी होता है, बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनों, कीमती कीमती आभूषण पहनों तो लगता है कि हम बड़े आदमी है। वह ही व्यक्तित्व की पूजा वहाँ तक भी जाती है अब हीरा मोती का त्याग कर दिया, अब मामूली-मामूली पहनने लगे अब मामूला-मामूली खाने लगे और बहुत सादगी अपना ली। अब टाट बिछा कर सोते हैं, हम गद्दी चादर तकिया नहीं लगाते। अब ऐसा करते हैं, अब एक ही कमण्डल रखते हैं। उसी में सब सब्जी, रोटी, दाल सब मिला कर खा लेते हैं। अलग-अलग पात्र नहीं रखते, अब जल पीने का पात्र नहीं रखेंगे, अब चूल्लू से भरकर पेट भर लेंगे बहुत अच्छी बात है। जहाँ तक जरूरत कम रहेगी तो शरीर की गुलामी से ज्यादा अवसर मिलेगा तो अच्छा रहेगा, फुरसत रहेगी आगे बढ़ने के लिए। लेकिन वहाँ पहुँच करके भी वही व्यक्तित्व की पूजा शुरू हो जाती है।

क्या हो गया? तो हम तो ऐसा कर सकते है, हम तो बिमारी दूर कर सकते हैं, हम तो यह कर देंगे, वह कर देंगे। बस सब चला गया। किसी दिन हीरा-मोती से सजा कर सोचते थे कि हम बहुत बड़े हैं, किसी दिन कारण शरीर की स्थिति की शान्ति में अभिव्यक्त होने वाले चमत्कारों से व्यक्तित्व को सजा लिया जाता है और कहा जाता है हम तो बड़े शक्तिशाली। तो महाराज कहते हैं- योग का भोग हो गया।

सुखों का भोग तो आदमी सहज से त्यागता है। जिस साधक के चित्त में अविनाशी जीवन की लगन लगती है, सुखों का भोग तो वह सहज से छोड़ देता है, लेकिन योग की अभिव्यक्ति

में भोग को त्यागना बहुत विकट घाटी है, कठिन बात है। लेकिन उसमें स्वामी जी महाराज ने उसको कितना सहज कर दिया हम लोगों के लिए, कहते हैं कि अगर तुम सावधान रहोंगे, योग का भोग नहीं करोंगे तो क्या होगा, कि उस शान्ति में से , उस योग की शक्ति में से एक स्वाभाविक गति पैदा होगी। यह वाक्य आज सुनायी दिया और इसके पहले मैंने सुना था कि अलौकिक गति पैदा होती है। तो उसमें और इसमें ज्यादा अन्तर नहीं है। स्वाभाविक भी होगी अलौकिक भी होगी। अलौकिक इस अर्थ में कि उसमें किसी प्रकार के करण शामिल नहीं हैं, इसलिए वह अलौकिक है। हाथ, पाँव, आँख, नाक, इच्छा, संकल्प, सूक्ष्मतिसूक्ष्म अहम्-स्फूर्ति कुछ भी उसमें शामिल नहीं है, उस गति में, इसलिए वह स्वाभाविक भी है और आलौकिक भी है। वह गति अपने आप पैदा होती है, साधक को करना नहीं पड़ता है। साधक को पता नहीं चलता है कि कब क्या हुआ? और वह जो योग की शक्ति है उसमें स्वाभाविक रूप से गति आती है।

वह गति साधक के अहम् को ले जाकर के उद्गम में विलीन करती है, यह स्वामी जी महाराज ने कहा। यह शब्द भी महाराज का अपना ओरिजनल है, उद्गम में जाकर विलीन होना। इसका अर्थ क्या है? कि अब शब्दों के पचड़ों में कौन पड़े? कोई कहेगा परम तत्त्व में, कोई कहेगा ब्रह्म में, कोई कहेगा कुछ, कोई कहेगा कुछ। अलग-अलग शब्द है, कहीं पर निर्वाण कहलाता है कहीं पर सिद्ध शिला कहलाता है, कहीं परमतत्त्व कहलाता है, कहीं ब्रह्म तत्त्व कहलाता है। बहुत से नाम है उसके। तो स्वामी जी महाराज ने वे छोड़ दिए, इनमें तो बहस हो सकती है। सिद्ध-शिला की धारणा क्या है? निर्वाण की धारणा क्या है? ब्रह्म का रूप निरूपण करते-करते शास्त्रकारों ने बहुत समय-शक्ति खपाया, उनके पचड़े में कुछ नहीं। स्वामी जी कहते हैं कि उद्गम में ले जाकर मिला देती है। तो उद्गम में तो कोई झगड़ा हो ही नहीं सकता। उद्गम का अर्थ क्या है? कि जहाँ से आपके अहम् रूपी अणु की उत्पत्ति हुई थी, जिसमें से आप निकले थे, उस अलौकिक गति ने ले जाकर आपको उसमें शामिल कर दिया। तो अब चाहे इसको किसी भी रूपक से समझो और किसी भी मत-मजहब-पंथ की शब्दावली में समझो, यह अपनी-अपनी रूची, अपनी-अपनी बनावट और अपनी-अपनी शिक्षण की बात है, भाई। लेकिन सच्ची बात तो यही है।

'उद्गम' शब्द ऐसा निरापद है, निर्विवाद है, कि जिसमें किसी प्रकार का कोई मत-भेद उठा ही नहीं सकता है। नाम कुछ भी रख लो। नित्य योग किससे होगा? तो उसी से होगा जिसमें से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है और किससे होगा? जी! और तो किसी से हो ही नहीं सकता। जिसमें से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है, उसमें जाकर के तुम जुट गए, तो नित्य योग हो गया। तो अविनाशी, आनन्दमय स्वतंत्र अस्तित्व का संकेत दिया है। तो संकेत ही है। असलियत तो, जो इस जीवन से अभिन्न हो जाता है, उसको पता चलता है। हम लोगों को क्या पता चले। लेकिन पंथ के पथिक जो हैं, इस रास्ते से चलने वाले साधक जो हैं, उनकों सावधान करने के लिए ये बातें बहुत आवश्यक हैं और अच्छी है और बहुत आशा देने वाली भी हैं। जैसे के अहम् का शुद्धीकरण होता है पहले। सबसे पहले अहम् की शुद्धी होती है।

शुद्धी कैसे होती है भाई? तो सत्संग के प्रभाव से होती है। सत्संग का अर्थ क्या होता है? तो अपने जाने हुए असत् से संग का त्याग करो।

मेरा जाना हुआ असत् क्या है? मेरी जानी हुई बात यह है कि शरीर जो मेरे पास है, वह पहले ऐसा था नहीं, जैसा आज है, आगे वैसा रहेगा नहीं। इस पर मेरा अपना स्वतन्त्र नियंत्रण चलेगा नहीं। इसलिए यह जानी हुई बात है, कि शरीर मेरा नहीं है। उस जानी हुई बात को हम मानते नहीं हैं। इस शरीर को अपना मानते हैं, इसके बल पर अपने को बलशाली समझते हैं, इसको अपना मानकर इसके संयोग से सुख भोगना पसंद करते हैं। यह असत् का संग है। इस असत् के संग का त्याग कहलाता है। अर्थात् अपनी जानी हुई बात का आदर किया मैंने। तो आदर किया तो उसका अर्थ क्या निकलेगा? कि इस शरीर पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, यह मेरा नहीं है? तो किसका है? प्रकृति का है, परमात्मा का है, जिसका भी मानो। जगत् का है तो उसके लिए इसका उपयोग करेंगे। जो लोग असत् के संग का त्याग कर देते हैं, उनके अहम् की अशुद्धि मिटने लगती है। शरीर के प्रति ममता मिटेगी पहले फिर उसके बाद शरीर की सहायता से सुख भोगने की कामना का भी नाश करने का नम्बर आएगा। ममता का भी नाश करना है, कामना का भी नाश करना है। तो इस प्रकार से सत्संग के प्रकाश में क्रमशः साधक के जीवन में से विकारों का नाश होने लगता है।

तो यह अहम् की शुद्धि कहलाती है। अहम् शुद्ध होता है। मैंने वैज्ञानिक स्तर पर भी देखा और स्वामी जी महाराज के पास विवेचन करके बैठ करके भी देखा। तो मुझे यह पता चला कि जिस अहम् को आप उस ब्रह्म से अभिन्न करना चाहते हैं जिस अहम् हो आप उस परम प्रेमास्पद के प्रेम में विनीत करना चाहते हैं उस अहम् में जब तक अशुद्धि रहेंगी, किसी प्रकार भी यह मेल बैठेगा नहीं।

पकड़ में आती है बात? क्योंकि उद्गम हमारा शुद्धातिशुद्ध है, निर्विकार है, उसमें किसी प्रकार कोई मिलावट नहीं है। हम जो यहाँ बैठे-बैठे अहम् की मिलावट की दशा में उससे अभिन्नता की बात सोचते हैं, तो कोई साधना फलित होती नहीं। महाराज जी ने कहा कि पहले सत्संग करो। सत्संग के फल से क्या होगा? तो अहम् शुद्ध होगा। फिर शुद्ध अहम् जब विशेषताएँ आएँगी, उनके अभिमान का त्याग करो। उनको अपना मत मानों, तो योग का भोग नहीं होगा। क्यों? वे विशेषताएँ अनन्त की है, तुम्हारी नहीं हैं।

ये सब जो रास्ते की तैयारियाँ है, ये कहाँ तक ले जाएँगी हम लोगों को? आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर भगवत्-समर्पण के भाव तक ले जाएँगी और विचार के आधार पर तीनों शरीरों से असंगता तक ले जाएँगी। विचार-पथ के साधक शरीरों की असंगता के लिए ये सारी तैयारी करते हैं और विश्वास-पथ के साधक सर्वस्व समर्पण भाव में अहम्-शून्य होने की तैयारी करते हैं। तो होती है तैयारी और जिसकी लगन जैसी है, उसको उतना समय लगता है। सबको एक समान समय नहीं लगता है।

जो बहुत परेशान है, जो बहुत तीव्रता से अपने उद्गम में मिलना चाहता है, अपने प्रेमास्पद से अभिन्न होना चाहता है, अपने निल स्वरूप का बोध चाहता है। जो लोग जितनी तीव्रता से उस लक्ष्य से अभिन्न होना चाहते हैं, उनको उतना ही कम समय लगता है। और अपने जैसे लोग, जिनको थोड़ी दुनिया भी अच्छी लग रही है, अच्छी तरह से खाने, पीने, जीने की सुविधा बन गई है, समाज में थोड़ा सा स्थान बन गया है, दस लोग अच्छी दृष्टि से देखते हैं तो यह भी अपनी खुराक बन गई। तक तो देर लगेगी। जी। यह भी अपनी

खुराक बन जाती है। मैं क्या बताऊँ? पदाधिकारी होना, धन कमाना और सुख वैभव में रहना, वह आदमी को पकड़ता ही है।

यह साधक कोटि के लोगों के लिए और भी संकट की बात हो जाती है। इसलिए उनको देर लगती है। क्यों? क्योंकि इसी दशा में, मैं अपने लिए कहूँ कि इसी दशा में अच्छा लगने लगता है। तो लक्ष्य अभी दूर है, मिला नहीं, पता नहीं, रास्ते में कौन घड़ी में कौन-सा व्यवधान आ जाएगा। कितने दिनों के लिए मेरा यह निष्क्रमण रूक जाए। पता नहीं है, कब क्या हो जाए कुछ नहीं मालूम है। फिर भी महाराज अभी ठहरो, अभी थोड़ी देर में आएँगे तुम्हारे पास, ऐसा होता है। क्यों? अभी तक अच्छा लग रहा है। तो जिसको थोड़ी-थोड़ी साधना, थोड़ा-थोड़ा साधना का फल, थोड़ी-थोड़ी भीतर की शान्ति, थोड़ी-थोड़ी अपनी विशेषताएँ अच्छी लगने लगती हैं, खुराक बन जाती है। ठीक तरह से नींद आने लगती हैं, अच्छी तरह से भूख लगने लगती हैं, तो ऐसे लोगों को ऐसे साधकों को देर लगती है। जल्दी से वह पोइंट नहीं आता कि शुद्धातिशुद्ध अहम् जो है सब प्रकार के विकारों के नाश करने के बाद वह शुद्ध अहम् रह गया है। वह तत्काल ही जाकर के उस अलौकिक गति के साथ जाकर के उद्गम में मिल जाए। इसमें देर लगती है। रूकावट हो गई, कहीं भी जाकर के।

तो महाराज जी बारम्बार-बारम्बार इस बात को हम लोगों को याद दिलाते रहते हैं। और मुझे तो सब तरह की बातों को निवेदन करने का एक शौक भी था और जरूरत भी थी कि भई सब बात उनको बताई जाए। तो जब अपनी तकलीफ बताओ, कि महाराज ऐसे कैसे हो सकता है। मुझे तो जब विद्या-अध्ययन करने की आवश्यकता थी, तो एक यूनिवर्सिटी एक्जामिनेशन पास किया और आगे के लिए और चलना है तो रात-रात को नींद नहीं आती थी, अब कैसे करेंगे। अब कैसे करेंग? तो मालूम था कि उससे अपने में कोई भी विशेषता नहीं आने वाली है, तब भी उसके लिए इतनी व्याकुलता थी और अब जब जीवन का प्रश्न सामने आया, तो एकदम कभी आज ही और कभी ना। अभी की अभी सिद्धि और अभी की अभी असिद्धि।

मानव सेवा संघ के साहित्य में खूब लिखा है, महाराज जी ने भर दिया है। जब चाहो तब, अभी तो अभी, तो जिज्ञासा की तीव्रता, माँग की तीव्रता और माँग की पूर्ति युगपद है। बार-बार लिखा है एक साथ हो जाता है। तो मैं कभी-कभी बताऊँ स्वामी जी महाराज को महाराज ऐसा कैसे? अभी तो मैं बहुत नींद लेकर सो जाती हूँ, अच्छी नींद आ जाती है, कभी ऐसा नहीं होता कि बीच रात में नींद खुल जाए और उठ करके मैं बैठूँ और सोचूँ कि अभी तक तो लक्ष्य तक पहुँचे नहीं, गहरी नींद कैसे आ गई। जब संत मिलन नहीं हुआ था तब यह बात थी कि बीच-बीच में रात में नींद खुल जाए और घड़ी की टिकटिक आवाज सुनाई दे, तो हृदय की गति तीव्र हो जाए। उठ करके बैठ जाऊँ बिस्तर में और सोचूँ कि अच्छा? घड़ी टिकटिक कर रही है। एक-एक टिक के साथ जिन्दगी का एक-एक पल निकला जा रहा है और अभी तक मुझे जीवन का पंथ नहीं मिला तो उस समय तो यह दशा थी। बीच-बीच में उठ-उठ करके रात को बैठ जाती थी अकेले-अकेले और सोचती रहती थी, अब क्या होगा, अब क्या होगा? और संत-मिलन हुआ और सच्चा मार्ग मिल गया और अपने सामने किसी प्रकार की कोई बाधा

नहीं है। फिर भी सत्य से मिले बिना बढ़िया भूख लगती है, बढ़िया नींद आती है।

तो ऐसा क्यों? वह तीव्रता क्यों नही है? कहाँ सो गई है कैसे शिथिलता आ गई। ऐसे-ऐसे मैं बहुत प्रश्न किया करती। तो महाराज तरह-तरह से मेरी मनोदशा को जानते। जान-जान कर समय पर हमको सब सलाह दे दिया करते। तो एक बार उन्होंने मुझ से यह बताया कि अरे भाई अभी मौज लो दुनिया की, अभी मौज लो। तो इसी में शिथिलता होती है। और अपनी कथा बताई थी। उन्होंने कहा कि देवकी जी, तुम लोगों को तरह हम पढ़े-लिखे तो थे नहीं भाई। हम तो जीवन की घटनाओं से सीखते थे। एक घटना उन्होंने सुनाई अपने जीवन की। कहा कि खेत में गाँव के बाहर एकान्त में रात्री को मैं कहीं पर बैठा था। कहते थे महाराज जी कि गुरू के पास जाने के बाद यह कभी ऐसा याद नहीं है कि 2ः30 बजे रात के बाद हम लोग कभी सोते थे। केवल अपने बारे में नहीं, महात्मा जी के पास जितने नए-नए लड़के गुरू के शिष्य बन कर आए जीवन के उत्थान के लिए। कहते थे, तुम लोग क्या सत्संग करोंगे? उन दिनों में तो बड़ी व्याग्रता थी स्वामी जी महाराज को। सन्यासी हुए पीछे और लक्ष्य की प्राप्ति का आनन्द आ गया उनको पहले। स्वामी विवेकानन्द जी जानते हैं, वे ही हम लोगों को कुछ-कुछ बता दिया करते हैं। इनको मालूम है।

तो महाराज जी ने एक घटना सुनाई कहा कि एक रात को मैं ऐसे ही अपनी व्यग्रता में गाँव के बाहर खेत की मेड़ पर अकेले कहीं बैठा था। तो रात में जो खेत में जगह-जगह पर मचान बना-बना करके जानवरों से अनाज को बचाने के लिए रखवाले जगाया करते हैं आपस में एक दूसरे को। तो उनकी आवाज सुनाई देती थी और किसी की नहीं। तो कहें स्वामी जी महाराज कि ऐसी कलेजे में हलचल मचे उनकी ध्वनि को सुन करके। एक-दूसरे को पुकार-पुकार कर चिल्ला रहे थे और टीन में कनस्तर में कुछ डाल करके हिलाते हैं, जिससे कि जानवर आकर के पौधों को काटे नहीं, भागते रहें। तो स्वामी जी महाराज कहें कि मेरे भीतर ऐसी बात उठी, मैं कहूँ कि अच्छा मुट्ठी भर अन्न के लिए, ये रखवाले सारी रात जग रहे हैं और तुम प्रेमास्पद से मिलना चाहते हो और तुम्हें नींद आती है? मुट्ठी भर अन्न के लिए ये रखवाले सारी रात जग रहे हैं और तुम प्रभु से मिलना चाहते हो और तुम्हें नींद आती है?

जीवन की कथा बड़ी ही सरस हैं और जहाँ से हमने यात्रा को आरम्भ किया है, वहीं से इस रस की वृद्धि आरम्भ हो गई है। उसमें सम्पूर्णता में व्यक्तित्व को थाम करके रखा है। जब परिस्थितियों का परिवर्तन साधक भाई-बहनों को उस पंथ पर से डिगा नहीं सकता लेकिन अफसोस है अपने लिए, कि जो कदम-कदम पर इतना सावधान करता रहता है और महाराज जी के कहने के अनुसार जो प्रेमी जनों से मिलने के लिए तुमसे अधिक आतुर है, उसकी प्रियता, उसकी छत्र-छाया, उसका संरक्षण, उसकी तत्परता अनुभव करने के बाद भी, अगर उससे मिला बिना मुझसे रहा जाता है, तो मैं अपने लिए कहूँगी कि धिक्कार है इस जीवन को। अपने लिए कहूंगी, क्योंकि मेरे लिए उनके अतिरिक्त और कोई है नहीं। श्रोता के रूप में वे स्वंय ही विद्यमान है मेरी राग की निवृत्ति के लिए। इसलिए अब हमारे ध्यान में आ रहा है कि मुझे चुप होकर देखना चाहिए, कि बोलने का राग खत्म हुआ कि नहीं? शान्त रहा जाता है, कि नहीं बिना बोले। जो अनमोल जीवन है, उसमें हमारी स्थिति होती है कि

नहीं। ऐसा अब मुझे देखने का जी हो रहा है। अब शान्त हो जाइए थोड़ी देर के लिए।

प्रवचन(19)

पहले उन्होंने ब्रह्ममहाराज जी नेब्रह्म कहा, योग का भोग मत करो और उसके अर्थ में यह बताया कि जब स्वतः अभिव्यक्तळ होने वाले योग में, प्रतिपादित योग में नहीं, अभ्यास के द्वारा मन को वश में करना, चित्त को स्थिर करना, इन्द्रियों को विषय-विमुख करना। इन सब बातों का जब तक अभ्यास चलता है तो अभ्यास-वश जो बाह्य और आन्तरिक वृत्तियों में थोड़ी से शान्ति मिलती है उसको महाराज कह रहे हैं प्रतिपादित, अभ्यास से प्राप्त किया हुआ। और निष्कामता पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठा के अन्त में स्वभाव से जो शान्ति आती है, उसको अभिव्यक्त होने वाला, स्वतः होने वाला योग कह रहे हैं।

शरीरों से असंगता में एक शान्ति की अभिव्यक्तिळ होती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सर्वस्व समर्पण में शरण्य की कृपा में एक शान्ति आती है। और इस प्रकार से जो अपने आप आने वाली शान्ति है, उसको महाराज कह रहे हैं कि उसका भी भोग मत करो। क्या होता है? इसमें तो हूम प्रायः अनेक साधक इसमें शामिल हो जाएँगे। हम सब लोग जब मूक सत्संग की चर्चा करते हैं, तो समय-समय पर ऐसा वर्णन करते हैं। इतनी देर तो इतना अच्छा लगा, ऐसी शान्ति रही, कोई हलचल नहीं थी अपने में। किसी प्रकार का चिंतन नहीं था और इतनी देर के बाद तो ऐसा होने लगा, ऐसा होने लगा।

तो हम शान्त रह सकते हैं, वृत्तियों को अंतर्मुख कर सकते हैं, इस प्रकार का भास जो है, उसके सम्बन्ध में महाराज कह रहे हैं कि योग का भोग है। कैसे? कि शान्ति की जो अभिव्यक्तिळ होती है, वह एक प्राकृतिक तथ्य है। गुण जितने हैं वे या तो प्राकृतिक मानिए, दैवी मानिए अथवा विश्वास की दृष्टि से अन्नत परमात्मा का स्वभाव मानिए। उसके साथ अहम् को लगा देना योग का भोग है। अब क्या किया जाए? प्रारम्भ में मुझे ऐसा सूझता था और मैंने अनेक बार महाराज जी से निवेदन भी किया था कि महाराज जन्म-जन्मांतर का थका हुआ आदमी। पुरानी बात तो याद नहीं है, पिछले-पिछले जन्म में किन-किन बातों से थके थे, सो तो याद नहीं है, लेकिन इस बार की याद है।

यह क्या है? कि अंतर के सघर्ष और बाहर के संघर्ष दोनों ही में पड़ा हुआ आदमी बुरी तरह से थक जाता है। क्रोध करना नहीं चाहते हैं, क्रोध आ ही गया, लोभ के वश दूसरों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहते हैं, उससे प्रेरित होकर कर ही बैठे। तो कहीं क्रोध सता रहा है, कहीं लोभ सता रहा है, कहीं अभिमान सता रहा है, कहीं इन्फ्यूरिटी का दुःख है, कहीं सुपरयिटी का मद है। तो सब विकार जो हैं, वे व्यक्तिळ को थकाते है। साधक कोटि के लोग जो होते हैं, सत्संगी जो होते हैं, वे अंतर में उठने वाले विकारों पर विजय पाने की चेष्टा में लगे रहते है। कितनी देर लगेगी किसको, वह तो अपनी तैयारी की बात है भाई? कौन कितनी जल्दी पार करेगा? लकिन जो साधक कोटि के लोग होते हैं, वे अंतर उठने वाले विकारों को सँभालते रहते हैं, कन्ट्रोल में रखने की कोशिश करते हैं कि भाई उनके अनुसार हम काम तो नहीं करेंगे। तो यह अंतर का संघर्ष है। मन चाहता है कुछ, विवेक कहता है कुछ, परिस्थिति कहती है कुछ। बड़ा फर्क होता है सबमें, तो इनके संघर्ष में भी काफी शक्तिळ खर्च होती है और आदमी थकता है। और बाहर का भी

संघर्ष है। बाहर से अभियोजन में, परिस्थितियों की प्रतिकूलता में, निकटवर्तीय प्रिय जनों की प्रतिकूलता में बहुत ही आदमी को डूबना पड़ता है, थकना पड़ता है।

तो पहले-पहल सत्संग के प्रभाव से भीतर-भीतर से आराम होने लगा, तो मैंने महाराज जी को बताया कि महाराज जी जीवन भर का और जन्म-जन्मांतर का इन सब बातों से थका हुआ आदमी, उसको जब शान्ति मिलेगी, तो उसको तो बहुत अच्छा लगता है। अब कैसे निकलेगा उसमें से। उसमें समाएगा, तो उसको जो बहुत प्रिय लगेगा। तो क्या करें? तो स्वामी जी महाराज ने सुझाव दिया था, बहुत स्वास्थयकर और बहुत ही उपयोगी सुझाव है। उन्होंने कहा था कि देखो शान्ति का आना तो स्वाभाविक है साधक के जीवन में और अनिवार्य भी है। क्योंकि उसके बिना उसके आगे किसी प्रकार का कोई विकास होता नहीं है। तो उसका आना अनिवार्य भी है और स्वाभाविक भी है। लकिन तुम एक काम करो कि जब शान्ति आए उसमे विश्राम मिलेगा अपने को, आराम लगेगा तो उतना हिस्सा तो जरूरी है।

शुरू-शुरू में ले लो तो आराम, लेकिन भाई, तुम पड़ाव को मंजिल समझ कर बैठ जाओगी, तो आगे नहीं बढ़ना होगा। अब रास्ते की चीज हैं न? शान्ति के बाद तो देह से तादात्मय टूटने का प्रश्न उठेगा फिर शान्ति के बाद निज स्वरूप से अभिन्न होने का प्रश्न आएगा। फिर शान्ति के बाद भगवद्-भक्ति और भाव की वृद्धि का प्रश्न आएगा। तो महाराज जी ने कहा कि अगर इस पड़ाव को, साधन के रास्ते में एक जो पड़ाव है, उसी को अगर मंजिल समझ कर बैठ जाओगे, तो आगे का विकास नहीं होगा। अच्छी बात, तो बैठें नहीं कैसे? तो शान्ति तो इतनी मीठी लगती है और मैं नहीं जानती हूँ कि अनुकूल और सुखद परिस्थितियों में पड़े हुए लोगों को कैसा लगता होगा, वह तो मुझे पता नहीं है, लेकिन मैं अपनी बात अच्छी तरह से जानती हूँ कि प्रतिकूलता और कठिनाईयों में जो लोग पले हैं, उनकों वह शान्ति कितनी प्यारी लगती है।

भीतर और बाहर का थका हुआ आदमी जब एकदम से रोम-रोम बिल्कुल शान्त, स्निग्ध हो जाता है, न भीतर से कोई चिंतन है न बाहर से कोई संघर्ष है। बहुत अच्छा लगता है, बहुत मीठा लगता है, जैसे कि गर्मी में धूप में तपा हुआ कोई व्यक्ति हो और वृक्ष की शीतल छाया उसे मिल जाए तो उस छाया में कितनी सुखद अनुभूति है। यह उसे ही पता चलेगा, एयर कन्डीशन्ड में बैठे हुए को पता नहीं चलेगा, कि वृक्ष की छाया कैसी मीठी होती है। यह उदाहरण दिया मैंने, अपने-अपने ढंग से आप लोग अर्थ लगा लेंगे। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि कोई चीज हर्ज नहीं है वह तो प्रभु का मंगलकारी विधान है। थके हुए को विराम देने ही के लिए शान्ति की अभिव्यक्ति पहला कदम है, साधक के जीवन में सफलता का। वह तो ठीक ही है, आएगा कोई बात नहीं है, लेकिन अगर तुम प्रारम्भ से उस बात को जानते हो कि शान्ति जो अभिव्यक्त हुई है, उसके आगे भी मेरा जीवन है, तो अगन लक्ष्य पर दृष्टि तुम्हारी रहेगी तो वह शान्ति जो है, तुम्हें बाँध नहीं सकेगी। उसको जो काम करना है सो कर देगी। थकावट मिटा देगी और लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों की वृद्धि करा देगी इतना काम शान्ति का है। लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार शक्तियों का कैसे? कि शान्ति के सम्पादन से कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन में स्फूर्ति आती है, जिससे वह कर्त्तव्यपालन कर सके। शान्ति की

अभिव्यक्ति से अहम् में से विचार का उदय होता है, जो सत्-असत् का विभाजन कराता है। शांति की अभिव्यक्ति में से भाव की वृद्धि होती है, जो विश्वास को सुदृढ़ बनाती है, सजीव बनाती है। भगवत-प्रेम से अभिन्न कराती है। तो इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन भी भाई-बहनों के लिए, सब प्रकार के साधकों के लिए, एक अनिवार्य पथ है।

तो महाराज जी कह रहे हैं कि उस शान्ति में अद्भुत-अद्भुत गुणों का विकास होता है। बहुत से भौतिक गुणों का भी विकास होता है और बहुत से अलौकिक गुणों का भी विकास होता है। तो साधक यदि उन स्वतः विकसित होने वाले गुणों को अपनी विशेषता मान ले, तो उसका विकास रुक जाएगा। यह योग का भोग हो जायेगा। जैसे कि आप बैठे है शान्तिपूर्वक और शान्ति-सम्पादन के आधार पर आपकी अन्तः इन्द्रियाँ निस्तेज हो गयी हैं, थक गयी हैं, मान लीजिए ऐसा हो गया है, तो दूर से बैठा हुआ कोई व्यक्ति किसी प्रकार की कोई उलझन में पड़ा हुआ है तो उसके मन की बात आपको मालूम हो जाएगी, अगर और किसी भाव से कोई आकर के बैठ गया, तो उसके चित्त में क्या भाव है, यह सब आपको पता चल जाएगा। तो दूर की बातों को जान लेना दूर की वस्तुओं को नजदीक प्रस्तुत कर देना और आकृति को गायब कर देना, दृश्य को अदृश्य कर देना इस तरह की बहुत सी शक्तियाँ आती है। शान्ति-सम्पादन के बाद योग में। तो सचमुच जो नित्य योग के उपासक होते हैं, वे लोग इस प्रकार के चमत्कार को कुछ गिनते नहीं हैं। वे लोग इस प्रकार के चमत्कार को कुछ गिनते नहीं हैं, कुछ नहीं गिनते, सुनते नहीं, मानते नहीं, देखते नहीं, ऐसा चलता है। और जो कच्चे साधक इसको अपनी विशेषता मान लेते हैं, कि मुझसे इतनी बड़ी विशेषता आ गयी कि दुसरों की थॉट-रीडिग कर सकते हैं, अदृश्य को दृश्य कर सकते हैं, संकल्प से दूर की वस्तु को नजदीक प्रस्तुत करा सकते हैं तो योग का भोगी हो जाएगा। उसका विकास रुक जाएगा। एक बात बतायी महाराज जी ने।

दूसरी बात जो इससे भी अधिक गूढ़ है वह उन्होंने कहा यह वाक्य मैंने आज ही सुना। इस प्रकार की व्याख्या 'मूक सत्संग और नित्य योग' में तो खूब है। पहले से सब दिया हुआ है लेकिन यह वाक्य मैंने आज सुना। वे कह रहे हैं कि इसके विपरित जो साधक भोग का भोग नहीं करते हैं अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक ये जो शक्तियाँ अभिव्यक्ति हुई, उनके साथ वे अपने अहम् को नहीं मिलाते हैं। समझ में आता है। ये मेरी विशेषता है, ऐसा करके भी नहीं मानते हैं। कैसा मानते हैं, कि यह तो अनन्त का स्वभाव है, यह तो प्राकृतिक तथ्य है, ऐसा मानते हैं। अपने को उसके साथ मिलाते नहीं हैं। तो ऐसे जो साधक होते हैं, अपने को उसके साथ मिलाते नहीं हैं, तो इन साधकों की एक बड़ी विशेषता होती है। क्या विशेषता होती है? तो महाराज जी कहते है कि स्वभाव से अभिव्यक्त होने वाला यह जो योग है उसमें एक गति होती है। कैसी विपरीत बात है देखिये। सब प्रकार से कर्म और चिंतन को छोड़कर, सब प्रकार से शान्त हो जाना, यह मेरा पुरुषार्थ हुआ। कर्मेन्द्रियों से कोई कर्म न करूँ और ज्ञानेन्द्रियाँ से कुछ देखना सुनना सोचना न करूँ। सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं में किसी प्रकार के संकाल्प-विकल्प अथवा चिंतन को प्रवेश न करने दूँ। संत कबीर ने कहा-''तन थिर, मन थिर वचन थिर, सुरति निरति थिर होय, कहे कबीर वा क्षणक को कहव न पावे कोय।'' तो एक ओर तो योगी के लिए पुरूषार्थ में यह बताया गया कि तुम

सब प्रकार से अप्रयत्न हो जाओ अकिंचन हो जाओ, अचाह हो जाओ, अप्रयत्न हो जाओ, कोई किसी प्रकार का प्रयत्न तुम्हारे अहम् में से स्फुरित हो न हो, इसको योग कहा गया।

सब प्रकार की शान्ति तो बड़ी विचित्र बात है। मनुष्य के अहम् रूपी अणु की विलक्षणता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की बड़ी विलक्षणता है कि अपनी ओर से वह सब प्रकार से शान्त हो जाए। स्वामी जी महाराज ने बढ़िया शब्द चुना है- अप्रयत्न कहीं भी नहीं पढ़ा होगा आपने इस शब्द को अप्रयत्न हो जाओ कुछ मत करो। ऐसा मत करो, ऐसा मत करो, शान्त हो जाओ, मन को वश में करो, चित्त को वश में करो, कुछ नहीं कहा। कहा अप्रयत्न हो जाओ। सब अप्रयत्न तुम्हारे शेष हो गए। अब कुछ भी करणीय रहा नहीं है। सब खत्म हो गया।

तो बड़ी विलक्षणता है, मनुष्य के अहम् में और वह क्या है? कि साधक जब ज्ञान के प्रकाश में विश्वास के आधार पर, कर्त्तव्य-निष्ठा के परिणाम में जब सब प्रकार से अपने को अप्रयत्न कर लेता है, अप्रयत्न हो जाता है, उसके अहम् में किसी प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं का भी स्फुरण नहीं होता। सब बन्द हो गया। यह नहीं कि मन के स्तर पर आया तो मैंने उसको दबाया। वह अहम् में से स्फुरण ही समाप्त हो गया। वह अप्रयत्न हो गए, तो देखिए कैसी विलक्षणता है। महाराज जी कह रहे हैं कि योग में जो स्वाभाविक गति होती है, जो आपको देहातीत जीवन में ले जाएगी। यह योग की जो शक्ति है, जिसमें यह अलौकिक गति है, उसका आरम्भ कब होगा? जब हम हर प्रकार से अप्रयत्न हो जाएँगे तब होगा। उधर से सारा बन्द हो गया तो वहाँ से आरम्भ हो गया। 'मूक सत्संग नित्य योग' वाले ग्रन्थ में स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि उसके बाद जबकि साधक को कुछ भी करणीय शेष नहीं है, हर प्रकार से वह अप्रयत्न होकर के बिल्कुल शान्ति में अवस्थित हो गया, तब उसके बाद उस योग में एक अलौकिक गति पैदा होती है और वह इतनी तीव्र होती है, कि उसमें साधक को फिर कुछ सोचना, करना नहीं पड़ता। वह स्वतः ही सम्पूर्ण अहम् को ले जाकर के उसके उद्गम में मिला देती है। तो शान्ति की अभिव्यक्ति क्या हुई। शान्ति की अभिव्यक्ति वह केन्द्र बिन्दु है, जहाँ कि मौलिक जगत् में बहने वाली हमारी सारी वृत्तियों की शक्तियाँ एक जगह पर आ करके केन्द्रित हो जाती है।

तो यह आधा हिस्सा योग का हुआ। योग का यह पूर्व पक्ष है। जहाँ पर भीतरी, बाहरी, कर्मेन्द्रियों की, ज्ञानेन्द्रियों की, स्थूल शरीर की, सूक्ष्म शरीर की सब वृत्तियाँ, सब शक्तियाँ जहाँ पर आ करके के बिल्कुल शान्त हो जाती हैं, केन्द्रीभूत हो जाती हैं, यह योग का पूर्व पक्ष है। उसके बाद बड़ी विकट घड़ी आती है साधक के सामने कि उस शक्ति में जो अलौकिकता, विलक्षणता पैदा होती है, बहुत से साधक लोग बेचारे उसी में उलझ कर रह जाते हैं। मानते हैं कि हम बड़े सिद्ध हो गए और सिद्धि के उसमे लोभ में उसको खर्च करने लग जाते हैं, चमत्कार दिखाने लग जाते हैं।

और वह ही है व्यक्तित्व की पूजा। मैं जब अपने सत्संगी भाई-बहनों के बीच में कभी-कभी बात करती, तो मैं स्त्रियों के लिए, पुरूषों के लिए दोनों के लिए कहती, देखो भाई, कोई खास फर्क नहीं पड़ता। एक दिन था जब हीरा, मोती के द्वारा शरीर को सजा करके हम समझते थे कि बड़े आदमी है, होता है न ऐसा? एक दिन ऐसा भी होता है, बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनों, कीमती कीमती आभूषण पहनों तो लगता है कि हम बड़े आदमी

है। वह ही व्यक्तित्व की पूजा वहाँ तक भी जाती है अब हीरा मोती का त्याग कर दिया, अब मामूली-मामूली पहनने लगे अब मामूला-मामूली खाने लगे और बहुत सादगी अपना ली। अब टाट बिछा कर सोते हैं, हम गद्दी चादर तकिया नहीं लगाते। अब ऐसा करते हैं, अब एक ही कमण्डल रखते हैं। उसी में सब सब्जी, रोटी, दाल सब मिला कर खा लेते हैं। अलग-अलग पात्र नहीं रखते, अब जल पीने का पात्र नहीं रखेंगे, अब चूल्लू से भरकर पेट भर लेंगे बहुत अच्छी बात है। जहाँ तक जरूरत कम रहेगी तो शरीर की गुलामी से ज्यादा अवसर मिलेगा तो अच्छा रहेगा, फुरसत रहेगी आगे बढ़ने के लिए। लेकिन वहाँ पहुँच करके भी वही व्यक्तित्व की पूजा शुरू हो जाती है।

क्या हो गया? तो हम तो ऐसा कर सकते है, हम तो बिमारी दूर कर सकते हैं, हम तो यह कर देंगे, वह कर देंगे। बस सब चला गया। किसी दिन हीरा-मोती से सजा कर सोचते थे कि हम बहुत बड़े हैं, किसी दिन कारण शरीर की स्थिति की शान्ति में अभिव्यक्त होने वाले चमत्कारों से व्यक्तित्व को सजा लिया जाता है और कहा जाता है हम तो बड़े शक्तिशाली। तो महाराज कहते हैं- योग का भोग हो गया।

सुखों का भोग तो आदमी सहज से त्यागता है। जिस साधक के चित्त में अविनाशी जीवन की लगन लगती है, सुखों का भोग तो वह सहज से छोड़ देता है, लेकिन योग की अभिव्यक्ति में भोग को त्यागना बहुत विकट घाटी है, कठिन बात है। लेकिन उसमें स्वामी जी महाराज ने उसको कितना सहज कर दिया हम लोगों के लिए, कहते हैं कि अगर तुम सावधान रहोंगे, योग का भोग नहीं करोंगे तो क्या होगा, कि उस शान्ति में से , उस योग की शक्ति में से एक स्वाभाविक गति पैदा होगी। यह वाक्य आज सुनायी दिया और इसके पहले मैंने सुना था कि अलौकिक गति पैदा होती है। तो उसमें और इसमें ज्यादा अन्तर नहीं है। स्वाभाविक भी होगी अलौकिक भी होगी। अलौकिक इस अर्थ में कि उसमें किसी प्रकार के करण शामिल नहीं हैं, इसलिए वह अलौकिक है। हाथ, पाँव, आँख, नाक, इच्छा, संकल्प, सूक्ष्मतिसूक्ष्म अहम्-स्फूर्ति कुछ भी उसमें शामिल नहीं है, उस गति में, इसलिए वह स्वाभाविक भी है और आलौकिक भी है। वह गति अपने आप पैदा होती है, साधक को करना नहीं पड़ता है। साधक को पता नहीं चलता है कि कब क्या हुआ? और वह जो योग की शक्ति है उसमें स्वाभाविक रूप से गति आती है।

वह गति साधक के अहम् को ले जाकर के उद्गम में विलीन करती है, यह स्वामी जी महाराज ने कहा। यह शब्द भी महाराज का अपना ओरिजनल है, उद्गम में जाकर विलीन होना। इसका अर्थ क्या है? कि अब शब्दों के पचड़ों में कौन पड़े? कोई कहेगा परम तत्त्व में, कोई कहेगा ब्रह्म में, कोई कहेगा कुछ, कोई कहेगा कुछ। अलग-अलग शब्द है, कहीं पर निर्वाण कहलाता है कहीं पर सिद्ध शिला कहलाता है, कहीं परमतत्त्व कहलाता है, कहीं ब्रह्म तत्त्व कहलाता है। बहुत से नाम है उसके। तो स्वामी जी महाराज ने वे छोड़ दिए, इनमें तो बहस हो सकती है। सिद्ध-शिला की धारणा क्या है? निर्वाण की धारणा क्या है? ब्रह्म का रूप निरूपण करते-करते शास्त्रकारों ने बहुत समय-शक्ति खपाया, उनके पचड़े में कुछ नहीं। स्वामी जी कहते हैं कि उद्गम में ले जाकर मिला देती है। तो उद्गम में तो कोई झगड़ा हो ही नहीं सकता। उद्गम का अर्थ क्या है? कि जहाँ से आपके अहम् रूपी अणु की

उत्पत्ति हुई थी, जिसमें से आप निकले थे, उस अलौकिक गति ने ले जाकर आपको उसमें शामिल कर दिया। तो अब चाहे इसको किसी भी रूपक से समझो और किसी भी मत-मजहब-पंथ की शब्दावली में समझो, यह अपनी-अपनी रूची, अपनी-अपनी बनावट और अपनी-अपनी शिक्षण की बात है, भाई। लेकिन सच्ची बात तो यही है।

'उद्गम' शब्द ऐसा निरापद है, निर्विवाद है, कि जिसमें किसी प्रकार का कोई मत-भेद उठा ही नहीं सकता है। नाम कुछ भी रख लो। नित्य योग किससे होगा? तो उसी से होगा जिसमें से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है और किससे होगा? जी! और तो किसी से हो ही नहीं सकता। जिसमें से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है, उसमें जाकर के तुम जुट गए, तो नित्य योग हो गया। तो अविनाशी, आनन्दमय स्वतंत्र अस्तित्व का संकेत दिया है। तो संकेत ही है। असलियत तो, जो इस जीवन से अभिन्न हो जाता है, उसको पता चलता है। हम लोगों को क्या पता चले। लेकिन पंथ के पथिक जो हैं, इस रास्ते से चलने वाले साधक जो हैं, उनकों सावधान करने के लिए ये बातें बहुत आवश्यक हैं और अच्छी है और बहुत आशा देने वाली भी हैं। जैसे के अहम् का शुद्धीकरण होता है पहले। सबसे पहले अहम् की शुद्धी होती है।

शुद्धी कैसे होती है भाई? तो सत्संग के प्रभाव से होती है। सत्संग का अर्थ क्या होता है? तो अपने जाने हुए असत् से संग का त्याग करो। मेरा जाना हुआ असत् क्या है? मेरी जानी हुई बात यह है कि शरीर जो मेरे पास है, वह पहले ऐसा था नहीं, जैसा आज है, आगे वैसा रहेगा नहीं। इस पर मेरा अपना स्वतन्त्र नियंत्रण चलेगा नहीं। इसलिए यह जानी हुई बात है, कि शरीर मेरा नहीं है। उस जानी हुई बात को हम मानते नहीं हैं। इस शरीर को अपना मानते हैं, इसके बल पर अपने को बलशाली समझते हैं, इसको अपना मानकर इसके संयोग से सुख भोगना पसंद करते हैं। यह असत् का संग है। इस असत् के संग का त्याग कहलाता है। अर्थात् अपनी जानी हुई बात का आदर किया मैंने। तो आदर किया तो उसका अर्थ क्या निकलेगा? कि इस शरीर पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, यह मेरा नहीं है? तो किसका है? प्रकृति का है, परमात्मा का है, जिसका भी मानो। जगत् का है तो उसके लिए इसका उपयोग करेंगे। जो लोग असत् के संग का त्याग कर देते हैं, उनके अहम् की अशुद्धि मिटने लगती है। शरीर के प्रति ममता मिटेगी पहले फिर उसके बाद शरीर की सहायता से सुख भोगने की कामना का भी नाश करने का नम्बर आएगा। ममता का भी नाश करना है, कामना का भी नाश करना है। तो इस प्रकार से सत्संग के प्रकाश में क्रमशः साधक के जीवन में से विकारों का नाश होने लगता है।

तो यह अहम् की शुद्धि कहलाती है। अहम् शुद्ध होता है। मैंने वैज्ञानिक स्तर पर भी देखा और स्वामी जी महाराज के पास विवेचन करके बैठ करके भी देखा। तो मुझे यह पता चला कि जिस अहम् को आप उस ब्रह्म से अभिन्न करना चाहते हैं जिस अहम् हो आप उस परम प्रेमास्पद के प्रेम में विनीत करना चाहते हैं उस अहम् में जब तक अशुद्धि रहेंगी, किसी प्रकार भी यह मेल बैठेगा नहीं।

पकड़ में आती है बात? क्योंकि उद्गम हमारा शुद्धातिशुद्ध है, निर्विकार है, उसमें किसी प्रकार कोई मिलावट नहीं है। हम जो यहाँ बैठे-बैठे अहम् की मिलावट की दशा में उससे अभिन्नता की बात सोचते हैं, तो कोई साधना फलित होती नहीं। महाराज जी ने कहा कि पहले

सत्संग करो। सत्संग के फल से क्या होगा? तो अहम् शुद्ध होगा। फिर शुद्ध अहम् जब विशेषताएँ आएँगी, उनके अभिमान का त्याग करो। उनको अपना मत मानों, तो योग का भोग नहीं होगा। क्यों? वे विशेषताएँ अनन्त की है, तुम्हारी नहीं हैं।

ये सब जो रास्ते की तैयारियाँ है, ये कहाँ तक ले जाएँगी हम लोगों को? आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर भगवत्-समर्पण के भाव तक ले जाएँगी और विचार के आधार पर तीनों शरीरों से असंगता तक ले जाएँगी। विचार-पथ के साधक शरीरों की असंगता के लिए ये सारी तैयारी करते हैं और विश्वास-पथ के साधक सर्वस्व समर्पण भाव में अहम्-शून्य होने की तैयारी करते हैं। तो होती है तैयारी और जिसकी लगन जैसी है, उसको उतना समय लगता है। सबको एक समान समय नहीं लगता है।

जो बहुत परेशान है, जो बहुत तीव्रता से अपने उद्गम में मिलना चाहता है, अपने प्रेमास्पद से अभिन्न होना चाहता है, अपने निल स्वरूप का बोध चाहता है। जो लोग जितनी तीव्रता से उस लक्ष्य से अभिन्न होना चाहते हैं, उनको उतना ही कम समय लगता है। और अपने जैसे लोग, जिनको थोड़ी दुनिया भी अच्छी लग रही है, अच्छी तरह से खाने, पीने, जीने की सुविधा बन गई है, समाज में थोड़ा सा स्थान बन गया है, दस लोग अच्छी दृष्टि से देखते हैं तो यह भी अपनी खुराक बन गई। तक तो देर लगेगी। जी। यह भी अपनी खुराक बन जाती है। मैं क्या बताऊँ? पदाधिकारी होना, धन कमाना और सुख वैभव में रहना, वह आदमी को पकड़ता ही है।

यह साधक कोटि के लोगों के लिए और भी संकट की बात हो जाती है। इसलिए उनको देर लगती है। क्यों? क्योंकि इसी दशा में, मैं अपने लिए कहूँ कि इसी दशा में अच्छा लगने लगता है। तो लक्ष्य अभी दूर है, मिला नहीं, पता नहीं, रास्ते में कौन घड़ी में कौन-सा व्यवधान आ जाएगा। कितने दिनों के लिए मेरा यह निष्क्रमण रूक जाए। पता नहीं है, कब क्या हो जाए कुछ नहीं मालूम है। फिर भी महाराज अभी ठहरो, अभी थोड़ी देर में आएँगे तुम्हारे पास, ऐसा होता है। क्यों? अभी तक अच्छा लग रहा है। तो जिसको थोड़ी-थोड़ी साधना, थोड़ा-थोड़ा साधना का फल, थोड़ी-थोड़ी भीतर की शान्ति, थोड़ी-थोड़ी अपनी विशेषताएँ अच्छी लगने लगती हैं, खुराक बन जाती है। ठीक तरह से नींद आने लगती हैं, अच्छी तरह से भूख लगने लगती हैं, तो ऐसे लोगों को ऐसे साधकों को देर लगती है। जल्दी से वह पोइंट नहीं आता कि शुद्धातिशुद्ध अहम् जो है सब प्रकार के विकारों के नाश करने के बाद वह शुद्ध अहम् रह गया है। वह तत्काल ही जाकर के उस अलौकिक गति के साथ जाकर के उद्गम में मिल जाए। इसमें देर लगती है। रूकावट हो गई, कहीं भी जाकर के।

तो महाराज जी बारम्बार-बारम्बार इस बात को हम लोगों को याद दिलाते रहते हैं। और मुझे तो सब तरह की बातों को निवेदन करने का एक शौक भी था और जरूरत भी थी कि भई सब बात उनको बताई जाए। तो जब अपनी तकलीफ बताओ, कि महाराज ऐसे कैसे हो सकता है। मुझे तो जब विद्या-अध्ययन करने की आवश्यकता थी, तो एक यूनिवर्सिटी एक्जामिनेशन पास किया और आगे के लिए और चलना है तो रात-रात को नींद नहीं आती थी, अब कैसे करेंगे। अब कैसे करेंग? तो मालूम था कि उससे अपने में कोई भी विशेषता नहीं आने वाली है, तब भी उसके लिए इतनी व्याकुलता थी और अब जब जीवन का प्रश्न सामने

आया, तो एकदम कभी आज ही और कभी ना। अभी की अभी सिद्धि और अभी की अभी असिद्धि।

मानव सेवा संघ के साहित्य में खूब लिखा है, महाराज जी ने भर दिया है। जब चाहो तब, अभी तो अभी, तो जिज्ञासा की तीव्रता, माँग की तीव्रता और माँग की पूर्ति युगपद है। बार-बार लिखा है एक साथ हो जाता है। तो मैं कभी-कभी बताऊँ स्वामी जी महाराज को महाराज ऐसा कैसे? अभी तो मैं बहुत नींद लेकर सो जाती हूँ, अच्छी नींद आ जाती है, कभी ऐसा नहीं होता कि बीच रात में नींद खुल जाए और उठ करके मैं बैठूँ और सोचूँ कि अभी तक तो लक्ष्य तक पहुँचे नहीं, गहरी नींद कैसे आ गई। जब संत मिलन नहीं हुआ था तब यह बात थी कि बीच-बीच में रात में नींद खुल जाए और घड़ी की टिकटिक आवाज सुनाई दे, तो हृदय की गति तीव्र हो जाए। उठ करके बैठ जाऊँ बिस्तर में और सोचूँ कि अच्छा? घड़ी टिकटिक कर रही है। एक-एक टिक के साथ जिन्दगी का एक-एक पल निकला जा रहा है और अभी तक मुझे जीवन का पंथ नहीं मिला तो उस समय तो यह दशा थी। बीच-बीच में उठ-उठ करके रात को बैठ जाती थी अकेे ले-अकेले और सोचती रहती थी, अब क्या होगा, अब क्या होगा? और संत-मिलन हुआ और सच्चा मार्ग मिल गया और अपने सामने किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। फिर भी सत्य से मिले बिना बढ़िया भूख लगती है, बढ़िया नींद आती है।

तो ऐसा क्यों? वह तीव्रता क्यों नही है? कहाँ सो गई है कैसे शिथिलता आ गई। ऐसे-ऐसे मैं बहुत प्रश्न किया करती। तो महाराज तरह-तरह से मेरी मनोदशा को जानते। जान-जान कर समय पर हमको सब सलाह दे दिया करते। तो एक बार उन्होंने मुझ से यह बताया कि अरे भाई अभी मौज लो दुनिया की, अभी मौज लो। तो इसी में शिथिलता होती है। और अपनी कथा बताई थी। उन्होंने कहा कि देवकी जी, तुम लोगों को तरह हम पढ़े-लिखे तो थे नहीं भाई। हम तो जीवन की घटनाओं से सीखते थे। एक घटना उन्होंने सुनाई अपने जीवन की। कहा कि खेत में गाँव के बाहर एकान्त में रात्री को मैं कहीं पर बैठा था। कहते थे महाराज जी कि गुरू के पास जाने के बाद यह कभी ऐसा याद नहीं है कि 2ः30 बजे रात के बाद हम लोग कभी सोते थे। केवल अपने बारे में नहीं, महात्मा जी के पास जितने नए-नए लड़के गुरू के शिष्य बन कर आए जीवन के उत्थान के लिए। कहते थे, तुम लोग क्या सत्संग करोंगे? उन दिनों में तो बड़ी व्याग्रता थी स्वामी जी महाराज को। सन्यासी हुए पीछे और लक्ष्य की प्राप्ति का आनन्द आ गया उनको पहले। स्वामी विवेकानन्द जी जानते हैं, वे ही हम लोगों को कुछ-कुछ बता दिया करते हैं। इनको मालूम है।

तो महाराज जी ने एक घटना सुनाई कहा कि एक रात को मैं ऐसे ही अपनी व्यग्रता में गाँव के बाहर खेत की मेड़ पर अकेले कहीं बैठा था। तो रात में जो खेत में जगह-जगह पर मचान बना-बना करके जानवरों से अनाज को बचाने के लिए रखवाले जगाया करते हैं आपस में एक दूसरे को। तो उनकी आवाज सुनाई देती थी और किसी की नहीं। तो कहें स्वामी जी महाराज कि ऐसी कलेजे में हलचल मचे उनकी ध्वनि को सुन करके। एक-दूसरे को पुकार-पुकार कर चिल्ला रहे थे और टीन में कनस्तर में कुछ डाल करके हिलाते हैं, जिससे कि जानवर आकर के पौधों को काटे नहीं, भागते रहें। तो स्वामी जी महाराज कहें कि मेरे भीतर ऐसी बात उठी, मैं कहूँ कि अच्छा मुट्ठी भर

अन्न के लिए, ये रखवाले सारी रात जग रहे हैं और तुम प्रेमास्पद से मिलना चाहते हो और तुम्हें नींद आती है? मुट्ठी भर अन्न के लिए ये रखवाले सारी रात जग रहे हैं और तुम प्रभु से मिलना चाहते हो और तुम्हें नींद आती है?

जीवन की कथा बड़ी ही सरस हैं और जहाँ से हमने यात्रा को आरम्भ किया है, वहीं से इस रस की वृद्धि आरम्भ हो गई है। उसमें सम्पूणता में व्यक्तित्व को थाम करके रखा है। जब परिस्थितियों का परिवर्तन साधक भाई-बहनों को उस पंथ पर से डिगा नहीं सकता लेकिन अफसोस है अपने लिए, कि जो कदम-कदम पर इतना सावधान करता रहता है और महाराज जी के कहने के अनुसार जो प्रेमी जनों से मिलने के लिए तुमसे अधिक आतुर है, उसकी प्रियता, उसकी छत्र-छाया, उसका संरक्षण, उसकी तत्परता अनुभव करने के बाद भी, अगर उससे मिला बिना मुझसे रहा जाता है, तो मैं अपने लिए कहूँगी कि धिक्कार है इस जीवन को। अपने लिए कहूंगी, क्योंकि मेरे लिए उनके अतिरिक्त और कोई है नहीं। श्रोता के रूप में वे स्वंय ही विद्यमान है मेरी राग की निवृत्ति के लिए। इसलिए अब हमारे ध्यान में आ रहा है कि मुझे चुप होकर देखना चाहिए, कि बोलने का राग खत्म हुआ कि नहीं? शान्त रहा जाता है, कि नहीं बिना बोले। जो अनमोल जीवन है, उसमें हमारी स्थिति होती है कि नहीं। ऐसा अब मुझे देखने का जी हो रहा है। अब शान्त हो जाइए थोड़ी देर के लिए।

प्रवचन(20)

जिस समय अपने भीतर किसी प्रकार की कमी सताती है, तो उसी समय तत्काल कामनाओं की उत्पत्ति होती है। भीतर-भीतर नीरसता का रहना मनुष्य के लिए एक बहुत बड़ी तकलीफ की बात है क्योंकि वर्तमान की नीरसता से ही संसार की ओर व्यक्ति आकर्षित होता है, तो उसमें कई प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छाओं से पीड़ित होकर वह बाह्य जगत् में प्रेरित होता है और किसी न किसी प्रकार से वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितियांे का आश्रय लेकर भीतर की नीरसता की पीड़ा को भगाना चाहता है, उससे छूटना चाहता है। इस प्रयास में उसे सफलता नहीं मिलती। यह बिल्कुल सच्ची बात है, हमारी आपकी जानी हुई बात है। कामनाओं की पूर्ति की चेष्टा में व्यक्ति को सफलता नहीं मिलती है।

लेकिन अपने भीतर अभाव भरा है नीरसता भरी है और वह अपने से सहन नहीं होती है, तो घबरा-घबरा करके व्यक्ति बाह्य जगत् की ओर दौड़ता है। जीवन को जानने वाले अनुभवी जन सलाह देते हैं कि तुम्हारे भीतर जो कमी महसूस होती है, वह बाहरी वस्तुओं की, परिस्थितियों की सहायता से कभी दूर नहीं होगी। उसके लिए आवश्यक क्या है? उस अभाव को मिटाने के लिए आवश्यक यह है, कि अपने ही में सहज आनन्द स्वरूप, सहज ही रस स्वरूप जो विद्यमान है, उस पर ध्यान रखो। उसकी आवश्यकता है तुमको, उससे अभिन्न होने का पुरुषार्थ करो। यह बताते हैं। अपने लोगों की वर्तमान दशा क्या है? तो दशा तो यह है कि अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति के बिना न अभाव मिटेगा न नीरसता मिटेगी। लेकिन भीतर-भीतर अभाव और नीरसता से पीड़ित रहने पर भी हम पराश्रय और पराधीनता के द्वारा ही समस्या का समाधान करना चाहते हैं। तो बड़ी कठिनाई हो जाती है।

अब आप अपनी ओर से सोच कर देखिए अगर संसार की सहायता से हमारा यह काम होने वाला होता तो जितना भी समय आपने बिताया है, उस समय के भीतर संसार की ओर से इच्छा-पूर्ति का सामान हम लोगों को मिला है कि नहीं मिला है? कभी नहीं मिला है, ऐसा तो हो नहीं सकता। इच्छापूर्ति का सामान संसार ने कभी दिया कि नहीं दिया? कभी-कभी तो दिया होगा न भई? जी! अनक बार हम लोगों की इच्छाएँ संसार की सहायता से पूरी हुई है और उनकी पूर्ति का सुख लेने के बाद भी हम अपने को भीतर से अतृप्त ही अनुभव करते हैं। आदर्श जीवन की बात अब आगे करेंगे। वर्तमान की दशा को देखो, तो उस दषा से आपको स्वयं ही अपने ही जीवन में यह बात दिखाई देगी। अनेक बार भूख लगने पर, भूख की पीड़ा मिटाने में संसार सहायक हुआ है कि नहीं हुआ है? अनेक बार नींद आने पर नींद को आराम आने में सुरक्षित जगह देकर सोने का अवसर संसार ने दिया है कि नहीं दिया है? अनेक बार शरीरों में रोग बीमारी होने पर उस रोग के कष्ट से छूटने के लिए संसार ने औषधि की सहायता दी है। जी! इतना काम तो किया न। संसार के करने का जो हिस्सा है उतना तो संसार ने किया और कई बार बीमार हो गए फिर शरीर ठीक हो चुका है। जी! हो चुका है न? मृत्यु का भय मिट गया क्या? नहीं मिटा! मृत्यु का भय मिटाने में संसार सहायक नहीं हो सका। लेकिन भूख मिटाने के लिए, प्यास मिटाने के लिए, नींद के लिए, सुरक्षित स्थान दिलाने में, बाल-बच्चेदार कहलाने में संसार ने सहायता की और उस सहायता को लेकर के हम सब लोगों का कुछ विशेष उपकार नहीं हुआ।

क्यों नहीं हुआ? कि जैसे संसारिक सुखों के लिए भूखे-प्यासे हम पैदा हुए थे, आज भी उसी तरह से भूखे-प्यासे है और मैंने तो मानव-जीवन का जो अध्ययन किया सूक्ष्म शरीर के आधार पर, तो मुझे अध्ययन में इस बात का पता चला, कि इच्छाओं की पूर्ति का जितना अधिक अवसर आपको मिलेगा, भीतर-भीतर उतनी ही इच्छा-पूर्ति के दास आप बनते चले जाते हैं। सुख की दासता बढ़ती जाती है सुख भोगने की शक्ति घटती जाती है। इच्छाओं की पूर्ति के अवसर निकल जाते हैं और इच्छा पूर्ति के सुख की तृष्णा भीतर-भीतर बढ़ती चली जाती है।

तो अर्थ क्या निकाला? तो अर्थ यह निकाला कि भीतर की नीरसता को छोड़कर हम बाहर सरसता खोजने चले थे। सुख-भोग की प्रवृत्तियों में जीवन का रस सूख गया, जीवन का रस खर्च हो गया, घट गया। जो आप में बीज रूप में विद्यमान है, उसमें से जो जीवनी-शक्ति निरन्तर प्रवाहित हो करके हम लोगों को मिलती रहती है, वह जीवनी-शक्ति ही खर्च होती चली गई।

किस बात में? इच्छाओं की पूर्ति के सुख भोगने में। आगे चल कर दशा कैसी हो गई? कि दशा ऐसी हो गई कि सुख भोगने की शक्ति अब नहीं है? लेकिन भोगने का लालच पहले से भी ज्यादा मजबूत है और भी ज्यादा प्रबल हो गई। तो लाभ हुआ कि हानि हुई? जी! हानि हुई। 20 वर्ष की उम्र में जिस प्रकार से खाने का सुख ले सकते थे, 70-75 की उम्र में वह सुख है, कि घट गया? तो शरीरों की दशा बदलती गई, दुर्बलताएँ बढ़ती गई, असमर्थतता बढ़ती गई और साथ-साथ तृष्णा खत्म हुई नहीं, इच्छा खत्म हुई नहीं तो नई उम्र में जितना अच्छा लगता था,

वृद्धावस्था की असमर्थतता में उससे अधिक अच्छा लग रहा है कि बुरा लग रहा है? बुरा लग रहा है। इस बात को जानने के लिए ग्रंथ पढ़ना पड़ेगा? नहीं। एक-एक दिन जो जीवन की घटनाएँ घटित हो रही हैं, अपनी जिन्दगी के पन्ने उल्टो, तो यह सब बातें उसमें साफ दिखाई देती है।

एक बार एक मानसिक रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार हो रहा था, तो विदेश के लोगों ने ऐसा सोचना आरम्भ किया कि भारतवर्ष के लोग गरीब भी हैं, उनमें शिक्षा की भी कमी है, अनेक प्रकार के भौतिक सुखों से वे वंचित है फिर भी वृद्धावस्था में डिप्रैशन कम है। यह एक रोग है, भारतवर्ष के लोगों के जीवन में वह बीमारी कम दिखाई इेती है। क्यों कम दिखाई देती है? इस पर विचार हो रहा था। बाहर से लोग हिन्दुस्तान में देखने आए थे, जानने आए थे, पढ़ने आए थे कि क्या कारण है? ऐसा-ऐसा होता है तो बहुत सी बातें सोची गईं, बहुत सी बातें देखी गईं। उन लोगों ने अपनी सीमित दृष्टि से विचार किया। सत्य का ज्ञान तो है नहीं और अविनाशी जीवन का इस नाशवान शरीर के रहते-रहते कोई बंम मिल सकता है कोई चवेपइपसपजल है उसकी ऐसा वे सोच भी नहीं सकते हैं। तो इस आधार पर उन्होंने अध्ययन करके देखा और जो उत्तर उनको मिला, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने चर्चा की, वह हमारे आपके लिए बहुत अच्छी बात है। सारांश में कहती हूँ। उनकी भाषा मैं नहीं बोल रही हूँ, अपनी भाषा में बोल रही हूँ।

सारांश यह है कि भारतीय संस्कृति में मनुष्य के जीवन को असफलता से बचाने का बड़ा प्रबन्ध किया गया है। क्या प्रबन्ध किया गया है? कि हर ेजंहम पर, जीवन की हर अवस्था में, बाल्यावस्था में, युवावस्था में, प्रौढ़ावस्था में, वृद्धावस्था में ऐसा इन्तजाम रखा गया है अपनी संस्ड्डति में, कि जैसे-जैसे आपकी शारीरिक दृष्टि से उम्र बढ़ती चली जाए वैसे-वैसे आप नाशवान उपलब्धियों को छोड़कर अविनाशी के पुरूषार्थ में लगते चले जाएँगे। यह बात पकड़ में आती है? जी! नाशवान की ओर से आपकी दृष्टि हटती जाएगी और शरीर जा रहा है नाश की ओर और शरीर धारी आप भाई-बहन जा रहे हैं अविनाशी की ओर, अपनी संस्ड्डति में ऐसा विधान है। ऐसा है कि युवावस्था में विवाह के अवसर पर पति-पत्नी की गाँठ को बाँधने का विधान किया जाता है। तो जहाँ गाँठ बाँधने का विधान है वहाँ 2-4 दिनों के बाद ग्रन्थि खोलने का विधान भी है। सारी जिन्दगी बँधे रहो, ऐसी संस्कृति आपकी नहीं है। राग-निवृत्ति के लिए, बाल-बच्चे होने का राग है, तो विवाह कर लो और विधि-विधान से, धार्मिक अनुष्ठान से माता-पिता बन जाओ और बाल-बच्चों का पालन-पोषण करो ईमानदारी से परिश्रमपूर्वक, धर्मानुष्ठान के द्वारा माता-पिता की सेवा के द्वारा, गुरूजनों के आदर के द्वारा, संत जनों की सेवा के द्वारा कमाई हुई सम्पत्ति को पवित्र करते हुए, बाल-बच्चों का पालन करते हुए जैसे ही बच्चे बड़े होते हैं वैसे ही गृहस्थी की मान्यता अस्वीकार कर दो।

तो शत्तिळ घटेगी पीछे और तपस्वी बनेंगे आप पहले राग-रंग में दिल बहलाने के अवसर आपके सामने हैं। सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट भोजन खा करके अब सहने की ताकत अपने में है पर हमारे द्धषि-मनीषियों ने इस बात को जाना था, क्या जाना था कि व्यत्तिळ शारीरिक दृष्टि से असमर्थ होगा, इसके पहले उसके भीतर अविनाशी तत्त्वों का विकास जाना चाहिए, जिससे कि वह इतना बलिष्ठ हो जाएगा कि नाशवान के

नाश होने का उसको कोई दुःख नहीं होगा। तो हमारे जीवन-विधान बनाने वालों ने शरीर विज्ञान, मनाविज्ञान, समाजविज्ञान और जीवन का दर्शन तथा आस्तिकता सब मिला करके संस्ड्डति की रचना की।

एक बार मैं दार्जलिंग में थी, उन्हीं दिनों की बात है, पढ़ाई के ही दिनों की बात है। एक सज्जन कहने लगे कि आप लोग आजकल जो मनाविज्ञान का अध्ययन करते हैं, वह तो सब पाश्चात्य विज्ञानों का चतवकनबज है अर्थात् उन्हीं लोगों ने खोज किया है, उन्हीं लोगों ने बताया है, तो उसको आप भारतीय मनोविज्ञान से मिलाते कैसे है? कैसे उसको मिलाएँगे कैसे उसको अलग करेंगे? तो मैंने कहा कि अगर आप भारतीय है, तो आपके जीने का जो तरीका है, मनुष्य के जीवन का जो ढंग बनाया है हमारे मनिषियों ने, तो प्रतिदिन के दैनिक जीवन में, न उन्होंने मनोविज्ञान का छोड़ा न उन्होंने दर्शन को छोड़ा और न उन्होंने आस्तिकता को छोड़ा।

आज रविवार है, तो नमक नहीं खाएँगे और आज एकादशी है तो ऐसा नहीं करेंगे और अब इतनी उम्र हो गई, तो गृहस्थ नहीं रहेंगे। तो अदृश्य नहीं रहेंगे, तो वनस्थ हो जाएँगे। और वनस्थ हो गए तो अब सन्यासी हो जाएँगे। तो ऐसा करके उन्होंने एक ऐसा बढ़िया साँचा बना दिया कि जिस साँचे में ढ़लते हुए सही ढंग से मनुष्य जीवन बिताए तो अनेक प्रकार की अतृप्ति तथा वासनाओं को लेकर पैदा हुआ था परन्तु अपने जीवन के क्रम का अनुसरण किया तो मरने से पहले वह हर प्रकार से तृप्त होकर जाएगा।

असमर्थता आएगी पीछे, नाशवान शत्तिळयों का नाश होगा पीछे और अविनाशी शत्तिळयों की अभिव्यत्तिळ से आनन्दमय हो जाएँगे आप पहले। तो क्या होगा? कि यहाँ के वृद्ध-जन नाशवान शरीरों की परवाह नहीं करते। यहाँ यह वृद्ध जन किस बात में लगे होते हैं? वे कहते हैं कि बहुत दिन हो गए भाई संसार का यह तमाशा बहुत देख लिया बहुत खा-पी लिया, बहुत मौज कर लिया अब क्या करें? भई अब तो उसको याद करो जो सदा-सदा का साथी है। अब तो उसको याद करो जो सब कुछ करने वाला है। अब तो उसको याद करो जो आनन्द स्वरूप है, जो शान्ति स्वरूप है, जो प्रेम स्वरूप है, अब उसको याद करो। तो जीवन के क्रम में हम सभी भाई-बहनों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जब से अपने को होश आए कि मैं मनुष्य हूँ, उसी समय से इस दिशा में हम लोगों को लग जाना चाहिए कि हम असत्य के संग पर आश्रित रहना छोड़कर, अविनाशी के आधार पर जीवित रहना पसंद करे। तो सम्पत्ति के सहारे जीना छोड़कर के सत्य के सहारे जीना आरम्भ करें। संगी-साथी, कुटुम्बी-जनों को अनुकूल बनाए रखने की चिंता छोड़कर सत्य के आश्रित रहना पसंद करें, परमात्मा के आश्रित रहना पसंद करें। यह बात हमारे जीने की शैली में मनीषियों ने हर प्रकार से भर दिया है। और मैं जब अपनी छात्राओं को मनोविज्ञान और जीने की कला यह सब पढ़ाती थी तो उनको यह सब याद भी दिला देती थी। ेलससंइने जितना पूरा करना है वह तो करवा दिया, तो ठीक है इतना तुम इम्तिहान पास करने के लिए पढ़ लो और आखिर में 10-20 लेक्चर में बचा कर रख लेती थी, कि भई बढ़िया उत्तम जीवन, सफलता पूर्वक जीने की कला भी सीखते जाओ।

तो मेरे ध्यान में आ जाता, कि देखो हमारे द्धषियों-मनीषियों ने, मानव को सुन्दर

जीवन-कला सिखाने वालों ने जीवन को विभिन्न भागों में बाँट दिया। तो सारी जिन्दगी परिश्रम के लिए नहीं है, सारी जिन्दगी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाने के लिए नहीं है। अगन गृहस्थ बनना है तो इतना बढ़िया गृहस्थ बनो कि तुम्हारे भीतर गृहस्थ बनने की वासना खत्म हो जाए। बाल-बच्चे पैदा करो तो इतने बढ़िया माता -पिता बनो, कि तुम्हारे भीतर माँ-बाप बनने का राग खत्म हो जाए। तो बाल-बच्चों के लिए माता-पिता बनोगे तो मुत्तळ हो जाओगे और अपनी खुराक बनाने के लिए बाल-बच्चे पैदा करोगे तो वासना में फँस जाओगे।

अब माँ-बाप का हाल देखें। अपनी रूचि के अनुसार बच्चों को चलाने की चेष्टा करने वाले माँ-बाप हार जाते हैं और बच्चों के कल्याण की दृष्टि से अपना सब कुछ उनकी सेवा में लगाने वाले माँ-बाप जीत जाते है। समझ में आता है? तो जो गृहस्थ बनता है सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने के लिए, उसको आसत्तिळ का रोग नहीं होता है। उस रोग का लक्षण क्या है? बहुत लम्बा चैड़ा विवरण है, आपको पढ़ाने नहीं बैठी हूँ मैं। एक-दो बात छोटी बता दूँ। क्या हो गया? कि इन्द्रियों की शत्तिळयाँ घटती चला जा रही है तो अब बाहर की वस्तुओं का सुख लेने में जो मन बहलाव हो रहा था, उसका दरवाजा बन्द हो रहा है। जी! ठीक है न? तो इन्द्रिय-लोलुपता से प्ररित होकर के, वस्तुओं के संयोग का सुख लेने में अपने को थोड़ा अच्छा-अच्छा लग रहा था, तो वह सब जब घटने लगा तो भीतर की नीरसता थोड़ी और बढ़ गई। युवावस्था में जब कमाने की सामर्थ्य थी तो परिवार के सब लोग आप पर ंजजमदजपवद देते थे, ध्यान देते थे न? अरे मालिक आ रहे हैं, उनका सामान ठीक कर दो, उनका बिस्तर ठीक कर दो, उनको नाश्ता ठीक कर दो, उनका खाना ठीक कर दो। जिस प्रकार से खुश रहें, सो करो। तो बाल-बच्चे, स्त्री, माता-पिता, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर, कर्मचारी, संगी-साथी, मित्र-मण्डली सब आपकी खातिरदारी में लगे रहते थे। अब जमाना आपका खत्म हो गया। सरकार ने दे दिया ंितमूमससए बींपत वापिस ले लिया, आपका समय बीत गया आप जाइए। तो आगे-पीछे चैकीदार, चपरासी जो थे, उन्होंने सलात कर लिया, कि बाबू अब जा रहे हैं, हो गया। अब शान-शौकत में जो अच्छा-अच्छा लग रहा था, छूट गया। बाल-बच्चे जिनको पैदा करके आपने बड़े किए, उन्होंने सब कारोबार सँभाल कर अपने हाथ में ले लिया। बाबू जी, अब ठीक है, अब आप राम-राम जपिए। तो वह अधिकार भी गया। अब देखो आदमी भीतर से कितना अधीर होता चला जा रहा है।

तो जब शरीर की असमर्थतता बढ़ गई, जब अधिक सहायता करने वालों की जरूरत पड़ी, तो सब सहायता करने वाले बिखर गए। जी! असल में भूखे रहने की ताकत थी तो 2-4 घंटे भूख भी आप सह सकते थे लेकिन उस समय आपका मुख देखने वाले बहुत लोग खड़े थेे, कब इनको भूख लगती है, कब इनके आगे रखा जाए। वृद्धावस्था आ गई तो भूख सहने की आदत घट गई और ठीक-ठीक समय पर आपको भोजन देने वालों का ध्यान भी हट गया।

मैंने यह हालात देखी है। मेरे कलेजे में, मेरे दिल में इसका बड़ा एक दर्द रह गया है। मैंने देखा है, माता-पिता का देहान्त जल्दी हो गया था। भाई लोगों की शादियाँ हो गईं थी, भौजाइयाँ घर में भरी थी। 3 भाई बड़े, 3 भाई

मुझसे छोटे, छः भाईयों का परिवार घर में भरा था। वृद्धावस्था में पिता जी भोजन के समय पर अपने पात्र में जल भर के रखेंगे, नियम था उनका। स्नान करेंगे, बर्तन साफ करेंगे, साफ जल भर के ले आएँगे, रखेंगे नाश्ता जलपान। इधर-उधर की चीज कभी नहीं खाई उन्होंने। एक समय पर ठीक समय पर भोजन करते थे। कितनी बार मैं देखती थी कि भोजन के लिए लोटे में जल भर के तैयार, वृद्धावस्था में भूख ही कितनी? भाभी कहती कि बाबूजी अभी थोड़ी देर है, चले जाएँगे वापिस। ऐसी चोट लगती थी दिल में। क्योंकि मैनें दादी को देखा था, माँ को देखा था कि ये लोग बाबू जी का मुख देखतीं रहती थीं। किसी दिन उन्होंने जरा-सा कम खाया तो, दादी तो माँ की मुसीबत कर देती थी कि तुमने ठीक रसोई नहीं बनाई,आज ऐसे ही उठ गए, आज उसकी थाली में रोटी बच क्यों गई?

रसोई बनाने वाली माँ और चाची की मुसीबत हो जाती, दादी इतना हैरान कर देती उन लोगों को। दूसरे समय उनको निकाल देती रसोई में से। हटो तुम लोग, मैं बनाऊँगी मैं खिलाऊँगी। सवेरे उसकी थाली में रोटी बच क्यों गई। आफत हो जाती आँगन में। उनको मैंने देखा बार-बार लोटे में जल भर के ले के आँगन में आ रहे हैं और बहू लोग कहती है बाबू जी अभी थोड़ी देर है। लौट के वापिस जा रहे हैं। तो वृद्धावस्था में भूख अति तीव्र हो गई और समय पर भोजन देने वाले का ध्यान भटक गया, तो असमर्थतता बढ़ गई। तकलीफ बढ़ गई। सहारे सब एक-एक करके छूट गए। तो क्या होता है ऐसी हालात में, व्यत्तिळ भीतर-भीतर निराधार होता जाता है। तोहतारे आचार्य जो हम लोगों को पढ़ाते, वे कहते कि संसार जब इस प्रकार से हमारे ऊपर से अपना ध्यान हटा लेता है, तो हमको लगता है कि हाय-हाय मैंने कुछ नहीं किया मैंने कुछ नहीं पाया।

महसूस द्धमिमसद्ध करता है, यही ेलउजवउ द्धलक्षणद्धहै निराशा का। हाय मैंने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया, तो उस समय मैं पढ़ती थी जब, तब तो बड़ी दया आती थी। अब जब मैं सोचती हूँ कि कितना अच्छा अवसर है हम लोगों के लिए, कितना अच्छा अवसर है कि संसार मुझको छोड़गा, उसके पहले मैं संसार को छोड़ दूँ। जी! आप देखिए अपने जीवन में कि माता-पिता ठीक समय पर सामर्थ्य के रहते-रहते साधना में लग जाते हैं, सत्संग में लग जाते हैं, भजन में लग जाते हैं, परोपकार के सामाजिक कार्य में लग जाते हैं, उनके बाल-बच्चों का ध्यान आपकी ओर अधिक आता है कि कम आता है? अधिक आता है। पूजा करने आएँगे, आर्शीवाद लेने आएँगे, सलाह लेने आएँगे। आप कहेंगे कि भैया, जाओ तुम लोग अपना-अपना काम करो, हमको छोड़ दो। तो नहीं बाबूजी आपकी सलाह के बिना हम कैसे चलेंगे। तो घर में जाओ, तो कहेंगे नहीं-नहीं हमको उससे कोई मतलब नहीं हैं। हम तो अब सत्संग में हैं, हम तो अपने कल्याण में लगे हैं, जाओ तुम लोग करो संसारिक काम। तो पोता कहेगा नहीं-नहीं दादा जी जब तक आएँगे नहीं, मैं तो घोड़ी नहीं चढूँगा, मैं तो चंतजल नहीं करूँगा तो आप जब अपने आसत्तिळ लेकर भीतर बैठेंगे, आप जब अपने भीतर बाल-बच्चों पर अधिकार जमा कर बैठेंगे तो भगवान का कितना सुन्दर विधान है, कि संसार आपको ठुकराता है।

बड़ा ही शुभचिंतक है संसार। बड़े ही शुभचिंतक हैं व बाल-बच्चे, जो आसत्तिळ में बँधे माँ-बाप को ठुकरा करके भगा

देते हैं। जाओ, जाओ-जाओ, तुमसे अब कोई मतलब नहीं है, तुम्हारे दिन बीत गए। तुम्हारा काम खत्म हो गया। ये ठोकरें भी अगर सचेत न बनाएँ, तो मेरा मानव होना तो कहाँ गया, कौन क्या कहे? इसीलिए मैं बिल्कुल ही आपको स्थूल व वैज्ञानिक रहस्य बताती हूँ जीवन का कि आप अगर भीतर के अभाव का बाहर की सहायता से भरने की चेष्टा में रहेंगे तो मानसिक रोगी बनना ही पड़ेगा। हाय मैंने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया। इस प्रकार की मिमसपदह में पीड़ा में, तड़प के प्राण छोड़ना पड़ेगा। और आपने समय के रहते-रहते सचेत होकर के, छूटने वाला छोड़गा मुझको पीछे और मैं उसको छोड़ दूँगा अपनी स्वेच्छा से। यह बहादुरी आप करेंगे तो सम्मान भी सुरक्षित रहेगा और वैसे ही असत्य का सहारा छोड़ कर सत्य की अभिव्यत्तिळ में कृत्तुत्य हो जाता है व्यत्तिळ। अपनी आन्तरिक शान्ति की अभिव्यक्ति में आनन्दित हो जाता है। अभी यहीं की बात है इसी साल की। एक सत्संगी महिला मुझको मिली, तो सत्संग की चर्चा होने लगी। तो कहने लगी हमारे जान-पहचान की एक लड़की है, हमारे नगर में रहती है, तो वह सत्संग में आती थी। संत जनों की वााणी उसको अच्छी लगी, तो वह लग गई भजन में। परमात्मा की लगन उस में लग गई। अब जब थोड़ी बड़ी हुई 18-20 बरस की, शादी का इन्तजाम होने लगा, तो माता-पिता तो इस धुन में थे कि इसकी शादी कर देंगे, समय हो गया है और लड़की सत्संग में थी। तो एक दिन सत्संग की चर्चा सुनते-सुनते प्रभु की महिमा, प्रभु का प्यार, सत्य की विशेषता, महत्ता, संत कोई बता रहे होंगे, वह बैठ कर सुन रही थी। सुनते-सुनते उसको बड़ा आनन्द आ गया उसकी समाधि लग गई प्रभु की महिमा को सुनते-सुनते। तो सत्संग का कार्यक्रम खत्म हो गया और समाधि उसकी लगभग 6 घण्टे के बाद टूटी। तो जहाँ बैठी थी वहाँ बैठी ही रही। अब लोग सब उठ गए, वह बैठी रही समाधि में, आनन्द में। 5-6 घंटे हो गए तब उसकी समाधि टूटी, तो बड़े आनन्द में थी। बहुत मस्ती में थी, फिर तो घर के सब लोग तो उसके आस-पास बैठे ही थे। सयानी लड़की सत्संग में गई थी और लोग भी गए थे। समाधि लग गई उसकी और सब लोग चले गए उसकी माँ और घर वाले कुछ लोग बैठे रह गए। बहुत अच्छा है आनन्द में है उसे रहने दो जब इसकी समाधि खुलेगी तो ले चलेंगे।

तो जब उसकी समाधि खुली तो इतने आनन्द में थी वह लड़की कि न उसका घर जाने का मन हो न बात करने का मन हो, अपने अनुपम के रस में खूब भरी हुई थी, तो कैसे ले जाएँ उसको उठे ही नहीं, चले ही नहीं। दो रिक्शे ले आए घर वाले लोग और बहुत कह सुन करके उसको उठा करके बिठाया ले आए घर। घर आ गई, अपनी उसी आनन्द की मस्ती मेंहै, खाए-पिए कुछ नहीं, बातचीत कुछ न करे। जब थोड़ी देरी के बाद और कुछ समय बीता और जब थोड़ा और स्वाभाविक हुई, तब कहने लगी कि आहा! भगवान के भजन में इतना आनन्द है, संत के संग मे इतना आनन्द है, सत्संग इतना बढ़िया है। अब इसके आगे मुझको कुछ नहीं चाहिए। तो उसने एकदम इन्कार करके विवाह-सम्बन्ध बनाने का सब कार्यक्रम बन्द करवा दिया। नहीं, नहीं, नहीं, इससे बढ़िया और कोई दूसरा कोई जीवन हो ही नहीं सकता। अपने में इतना रस है, अपने में इतना आनन्द है, अब उसके आगे और क्या चाहिए और किस बात के लिए संसार से सम्बन्ध बनाओगे? और क्या है संसार के पास?

अपने भीतर जो अविनशी तत्त्व विद्यमान है, उसके प्रकट हो जाने में जो जीवन है, वह संसार से सम्पर्क बनाने में है नहीं। कहीं नहीं है। कभी नहीं मिला, किसी को कभी नहीं मिलेगा। समझ में आया। अब अभी भी देखो अबकी भी सोचो। तो वह तो 18-20 बरस की लड़की। अभी उसने जीवन आरम्भ ही किया है अब इसी काल में सत्संग के प्रभाव से ही उसके अन्तर में विद्यमान सत्य की अभिव्यत्तिळ से इतना आनन्द आ गया। इतना आनन्द आ गया कि सचमुच जीवन में जो अनमोल रस है वह संसार की धूल फाँकने में नहीं है। तो कितने जन्म हम लोग गँवा चुके और अब भी जो समय हमारा बीत रहा है, उसी समय में हमको कितना सावधान होना चाहिए?

किस तरह से अपनी दृष्टि को बदल देना चाहिए, किस तरह से अपने ही में विद्यमान उस वास्तविक जीवन की अभिव्यत्तिळ में प्राण-तन से लग जाना चाहिए कि भाई असमर्थता की घड़ी आएगी पीछे और अनन्त सामर्थ्यवान से अभिन्न हो करके सदा-सदा के लिए कृत्-कृत्य हो जाएँगे पहले। अब सोच करके देखो उस लड़की की युवावस्था खत्म हो जाएगी वृद्धावस्था आएगी, तो सउकी कोई चिंता उसको होगी? उसका कोई दुःख उसको पीड़ित करेगा? कुछ नहीं।

सत्य का आनन्द जो है, सत्य का आश्रय जो है, अविनाशी परमात्मा की शरणागति में निश्ंिचतता, निर्भयता जो है, उनकी प्रीति में अनन्त मधुर रस जो है, उसकी तुलना संसार की किन्ही स्थूल वस्तुओं के संयोग में हो सकती हैं? नहीं हो सकता। तो कितने दुःख की बात है कि हम लोग यहाँ बैठकर, चर्चा करें सत्य की और जीवन में महिमा रखें असत्य की? कितने दुःख की बात है! भाई, हम लोग चर्चा करने बैठे हैं सत्य की, तो जीवन में महिमा भी सत्य की रखनी चाहिए। चर्चा करने बैठे हैं भगवान की, तो जीवन में महिमा भी भगवान की रखनी चाहिए। मनुष्य होने के नाते इज्जत पूर्वक, सम्मान पूर्वक दुनिया में जीवन बिताना चाहते हैं, तो सचमुच अपने में मनुष्यता भी बढ़ानी चाहिए कि नहीं बढ़ानी चाहिए? तो सत्संग के प्रकाश में रहकर अपने भीतर के अभाव को क्षण भर की मधुरता से भर लेना पसंद कर लेता है, उसका मानव-जीवन सफल हो जाता है। फिर से दोहराती हूँ इस वाक्य को, इस संसार में रहते हुए भीतर-भीतर जो अभाव सताता है, हम लोग को नीरसता सताती है, उसको अगर क्षण भर की प्रियता से भरना चाहते हैं तो मानव जीवन सफल हो गया। अगर हीरा-मोती से भरना चाहते है, तो चैपट हो गया। अगर ईंट-पत्थर के बनाए हुए बड़े महल के अभाव की मिटाना चाहते हो, तो गया। गया न? तो जड़ता की महिमा स्वीकार करूँगी मैं, तो भीतर मे जड़ता भर जाएगी। अनन्त परमात्मा की महिमा करूँगी मैं, तो उनकी विभूतियाँ मेरे भीतर भर जाएँगी।

तो ईश्वरीय विभूतियों से मनुष्य का अभाव मिटता है। परमात्मा के मधुर प्रेम-रस से मनुष्य का हृदय भरता है, न कि सोना-चाँदी, हीरा-मोती से भरेगा। आप जड़ नहीं है, कि जड़ता की सहायता से काम चलेगा। समझ में आता है? आप जड़ होते, तो जड़ता की सहायता से काम चल जाता। आप जड़ नहीं है, आपको चेतन स्वरूप ने अपना ही प्रतिरूप बनाया, आपको परमात्मा ने अपनी ही धातु से रचा। इसलिए आप चेतनस्वरूप होने के कारण नाशवान शरीर को लेकर नाशवान जगत् में रहते

हुए भी उसके चिंतन में लगे रहते हैं, उसकी खोज में लगे रहते हैं, उससे मिलने के लिए व्याकुल रहते है। तो यह प्रोग्राम होना चाहिए हमारा कि हम असत् के महत्त्व को अपने में से हटा देंगे, परमात्मा के महत्त्व को स्वीकार करके सदा-सदा के लिए उनका प्रेमपात्र हो जाएँगे। यह प्रोग्राम कब पूरा करेंगे हम लोग? अभी करना चाहिए न? अभी करना चाहिए? ऐसा स्वीकार करके उठो, तो पूरा हो ही जाएगा। अब शान्त हो जाएँ।